भारतीय प्रतीकविद्या

डॉ. जनार्दन मिश्र

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

बिहार के मुख्यमंत्री डॉक्टर श्रीकृष्ण सिंह

पुरातत्त्व और भारतीय सभ्यता के अनन्य प्रेमी,
देश के स्वातंत्र्य-महायज्ञ में सर्वस्व होमनेवाले
महातपस्वी, मूर्धन्य मनीषी एवं निर्भीक सेनानी

बिहार-केसरी डॉक्टर श्रीकृष्ण सिंह

के

कर-कमलों में

सादर सस्नेह समर्पित

वक्तव्य

हिन्दी-साहित्य में काव्यगत प्रतीकों का आध्यात्मिक सौन्दर्य अन्तश्चक्षुओं से निरीक्षण करने योग्य है। किन्तु धातुओं और पाषाण-खण्डों से निर्मित मूर्त्तियों तथा भावोद्बोधक चित्रों में आध्यात्मिक प्रतीकों का जो कलात्मक सौन्दर्य है, वह चर्मचक्षुओं से भी द्रष्टव्य है—यद्यपि उसके रहस्य-दर्शन के लिए भी सूक्ष्मदर्शिता की ही आवश्यकता है। इस पुस्तक में काव्यगत प्रतीकात्मक सौन्दर्य का दिग्दर्शन प्रसंगानुसार कराया गया है, पर अधिकतर पाषाण-काव्य में प्रच्छन्न प्रतीकों के गूढ़ मर्म का ही उद्घाटन बड़ी विशद रीति से किया गया है।

भारतीय मूर्त्तिकला और चित्रकला में निहित प्रतीकों का भावात्मक विवेचन शास्त्रीय पद्धति से करके लेखक ने कला-भाण्डार के अतिशय रमणीय सौन्दर्य-कक्ष का द्वार खोल दिया है। स्वर्गीय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने भी अपनी 'मूर्त्तिपूजा' नामक पुस्तक में हिन्दू-देव-देवी-विग्रहों के प्रतीक-तत्त्व समझाने में अध्यात्म-शास्त्र के तथ्यों का बड़ा ही हृदयग्राही विश्लेषण किया है। पर वह पुस्तक अब अप्राप्य है। उसके अतिरिक्त यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं के कितने ही लेखों में भी भारतीय स्थापत्यकला एवं शिल्पकला में संश्लिष्ट प्रतीकों के संकेत मिलते रहे हैं, पर कोई ऐसी पुस्तक अबतक देखने में नहीं आई, जिसमें कला और अध्यात्म के गंठबन्धन का इतना सरस और मनोज्ञ वर्णन मिलता हो।

परिषद् से ही एक पुस्तक (हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ) पहले निकल चुकी है, जिसके 'वक्तव्य' में हमने प्रकरणोल्लेखपूर्वक संकेत किया था कि भारतीय साहित्य में रूपकों और प्रतीकों के वर्णन-बाहुल्य की कोई सीमा नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक वाङमय से आधुनिक साहित्य तक के प्रमाणों से भारतीय प्रतीकविद्या का जो वैभव वर्णित है, वह पाठकों की अध्ययन-शीलता को तो आकृष्ट करेगा ही, एतद्विषयक अनुसन्धायकों को भी शोध-पथ का पथिक बनने की प्रेरणा देगा।

प्रतीक चाहे कविता में हो या कथा में, मूर्त्ति में हो या चित्र में अथवा यंत्र-तंत्र में, जहाँ भी हो, उसका तात्पर्य समझ लेने पर अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। प्रतीकों के अध्ययन का विषय वास्तव में मन को रमाने के लिए बड़ा आकर्षक और सुहावना है। विष्णुपुराण के प्रथम अंश के बाईसवें अध्याय में भगवान् विष्णु की विभूति का वर्णन प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है, जिसमें इस जगत् के निर्लेप तथा निर्गुण और निर्मल आत्मा को कौस्तुभ मणि, बुद्धि को गदा, तामस और राजस अहंकार को शंख एवं शार्ङ्ग-धनुष, मन को चक्र, वैजयन्तीमाला को पंचतन्मात्राओं और पंचभूतों का संघात, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को बाणसमूह, अविद्यामय कोश से आच्छादित विद्यामय ज्ञान को खड्ग कहा है। इसी तरह उपर्युक्त व्यासजी ने शेषशायी नारायण को सत्त्वगुण का प्रतीक, ब्रह्मा को रजोगुण और शेषनाग को तमोगुण का प्रतीक तथा क्षीरसागर को भगवान् की विश्वम्भरता का प्रतीक बतलाकर बड़ा मनोरम प्रसंग उपस्थित कर दिया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी के श्रीरामचरितमानस में भी प्रतीकात्मक स्थलों की कमी नहीं है। लंकाकाण्ड में विभीषण से भगवान् रामचन्द्र ने जिस विजय-रथ का सांगोपांग वर्णन किया है, वह गहन अनुभूति का ही विषय है। गोसाईंजी की 'विनयपत्रिका' में भी अनेक प्रतीकात्मक पद हैं, जो चिन्तनशील पाठक के मन को सहसा तल्लीन कर देनेवाले हैं। सूरदास और कबीरदास के ऐसे पदों से भी सुविज्ञ पाठक परिचित ही होंगे। साहित्य और कला के अन्तर्गत जितने भी प्रतीकात्मक स्थल और संकेत हैं, वे जहाँ-कहीं भी मिलें, सबका यदि विधिवत् संग्रह कर हिन्दी-पाठकों के लिए सुलभ कर दिया जाय, तो उन (पाठकों) की सूझ-बूझ में बड़ी कुशाग्रता आ जायगी। तब वे किसी स्थूल वस्तु का साक्षात्कार होने पर उसके सूक्ष्म तत्त्व-तल तक पहुँचने के अभ्यासी बन जायेंगे।

इस पुस्तक के लेखक डॉक्टर जनार्दन मिश्रजी बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सदस्य हैं। संस्कृत, अंगरेजी और हिन्दी के विद्वान् तथा जर्मन, बंगला, गुजराती, पाली और प्राकृत के भी मर्मज्ञ हैं। आप भागलपुर-जिले के निवासी हैं। हिन्दी के आप पुराने साहित्यसेवी हैं। आपकी तीन हिन्दी-पुस्तकें विद्वन्मण्डली में विशेष आदर पा चुकी हैं—(१) विद्यापति, (२) हिन्दू-संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना, (३) गुरु-दक्षिणा (नाटक)। संस्कृत-साहित्य का इतिहास आपने अंगरेजी में लिखा है, जो प्रकाशित होकर लोकप्रियता प्राप्त कर चुका है। सन् १९२५ ई० से १९४९ ई० तक आप बिहार-नेशनल (बी० एन्०) कॉलेज में संस्कृत-हिन्दी-विभागाध्यक्ष थे। इसी अवधि के मध्य सन् १९४४-४५ ई० में आप गया के डिग्री-कॉलेज के सर्वप्रथम प्राचार्य हुए थे। फिर सन् १९३३ ई० में आपने योरप-यात्रा करके जर्मनी के म्यूनिक-विश्वविद्यालय में वैदिक भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी शोधकार्य किया। वहीं के कोयनिग्सबर्ग-विश्वविद्यालय में 'मध्यकालीन हिन्दू-संस्कृति' विषय पर आपका अनुसन्धान चलता रहा, जिसके अन्तर्गत 'रिलिजस पोयट्री ऑफ् सूरदास' नामक थीसिस तैयार कर आपने डॉक्टरेट की उपाधि पाई। यह थीसिसवाली अंगरेजी-पुस्तक भी प्रकाशित हो चुकी है। सन् १९४९ ई० में आप भागलपुर के तेजनारायण-बनैली-कॉलेज के प्राचार्य होकर पटना से चले गये। वहाँ उसी पद पर सन् १९५७ ई० तक रहकर गत वर्ष अवसर-ग्रहण किया। इस साल दरभंगा के मिथिला-संस्कृत-विद्यापीठ के संचालक (डाइरेक्टर) के पद पर आपकी नियुक्ति हुई है। आपके पाण्डित्य और अनुभव से शिक्षण-संस्थाओं और साहित्य को जो लाभ हुआ है, वह सादर स्मरणीय रहेगा।

पुस्तक-गत विषय पर डॉक्टर मिश्रजी का भाषण, परिषद् का भाषणमाला के अन्तर्गत सन् १९५७ ई० में, २५ सितम्बर को हुआ था। वही लिखित भाषण इस पुस्तक में सचित्र प्रकाशित है। चित्रों के चुनाव और उनकी चमत्कार-चर्चा में मिश्रजी की दार्शनिक दृष्टि की विलक्षण क्षमता का परिचय मिलेगा। आशा है, यह पुस्तक मस्तिष्क और हृदय के साथ-साथ अध्येता के नेत्रों का भी तृप्त करेगी।

रंगभरी एकादशी, शकाब्द १८८०

शिवपूजनसहाय
(संचालक)

आत्मनिवेदन

सन् १९०९-१० ई० की बात है। मैं प्रारम्भिक कक्षा का छात्र था। मैं जिस मिड्ल स्कूल में पढ़ता था, उसके प्रधानाध्यापक महोदय बड़े हरिभक्त और कीर्त्तनप्रिय थे। सन्तसमागम और हरि-कीर्त्तन के साथ-साथ तुलसी के राम, कबीर के राम, ब्रह्म राम आदि की चर्चा होती रहती थी। उस समय ये बातें मेरी समझ से बाहर की थीं। अध्यापक रामायण की इन पंक्तियों को दुहराया करते थे—

जग पेखन तुम देखनिहारे। विधि हरि शम्भु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुमहिं को जाननिहारा॥
सोइ जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई॥

सुनकर मन में यह सन्देह उठा करता था कि जब राम हरि के अवतार हैं, तब हरि के नचानेवाले कैसे हुए। 'विष्णु कोटि सम पालनकर्त्ता, रुद्रकोटिशत सम संहर्त्ता' आदि से यह सन्देह और भी बढ़ता गया। मैं इसके पीछे पड़ गया। ज्यों-ज्यों अध्ययन और समझ बढ़ती गई, त्यों-त्यों यह सन्देह हटता गया। सन् १९३२-३३ ई० तक इस विषय की थोड़ी-बहुत झलक मिल चुकी थी। युरोप जाने के पहिले मैंने सन् १९३३ ई० में इस विषय पर एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी। उसका नाम था हिन्दू-संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना। आशा थी कि यदि और किसी अधिकारी विद्वान् का इस विषय से सम्पर्क हो और वे इसपर और कुछ लिखें, तो इस विषय का ज्ञान आगे बढ़े। तबसे देख रहा हूँ, इस विषय पर न कोई लेख और न कोई पुस्तक लिखी गई है। भारतीय मूर्त्तिविद्या (Indian Iconography) पर जो दो-एक ग्रन्थ और लेख निकले भी हैं, उनका क्षेत्र मेरे विषय से सर्वथा भिन्न है।

मैं सन् १९३३ और ३४ ई० में युरोप के विश्वविद्यालयों और नगरों में घूमता रहा। देखा कि अपने संस्कारानुसार लोगों ने अपनी भावनाओं के प्रतीक वहाँ भी बना रखे हैं, किन्तु वे हमसे कितने भिन्न हैं। युनिवर्सिटी-जैसी सर्वसाधारण संस्थाओं के बरामदे पर, नगर के उद्यानों में और अन्यत्र स्त्री-पुरुषों की नंगी मूर्त्तियों और चित्रों का रहना एक साधारण-सी बात है। इसे कोई बुरा नहीं मानता। ऊँचे-से-ऊँचे विचारों के साथ नर-नारियों के नग्न रूप का चित्रण एक साधारण धर्म है। यह भारत से कितना भिन्न है। इन्हें

यथार्थ रूप में समझने में भारतीयों का देर अवश्य लग जाती है और तब भी वे इन्हें ठीक-ठीक समझकर वहाँ के निवासियों की तरह इन्हें निरपेक्ष दृष्टि से देख सकते हैं वा नहीं, इसमें सन्देह है।

इन मानस-मन्थनों के साथ-साथ अपने शास्त्र और विषयों का अध्ययन चल रहा था और प्रतीक-तत्त्व पर बराबर दृष्टि थी।

मैं सन् १९४० ई० में संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिख रहा था। जब मैं वेद और तन्त्र पर लिखने लगा, तब देखा कि युरोपीय और तदनुगामी भारतीय 'विद्वानों' ने वेद की और विशेषतः तन्त्र की असंयत शब्दों में घोर निन्दा की है और गालियाँ तक दी हैं, और घर में देखा कि, वेदज्ञ का तो कुछ कहना ही नहीं देवतुल्य बड़े-बड़े तान्त्रिक सिद्ध महापुरुष हो गये हैं, जिनकी प्रतिदिन पूजा होती है। इन विपरीत बातों का देखकर 'विद्वानों' की उक्तियों से मेरा समाधान न हुआ। मैं वेद और तन्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ और दिन-दिन इसकी तृषा बढ़ती रही।

वेदाध्ययन से मेरा यह विश्वास दृढ़ हो गया कि सभी प्रतीक वेद पर आश्रित हैं और वेदविहित सिद्धान्तों पर इनका निर्माण हुआ है। ये प्रतीक ब्रह्मविद्या की साधना के एक प्रधान अङ्ग हैं और इनके तथा वैदिक सिद्धान्तों के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं है। मैंने वेद-प्रतीक-प्रकरण में इस पर विचार किया है। यह प्रकरण कुछ विस्तृत हो गया, किन्तु लाचारी थी।

मैं तन्त्र के वैभव को देखकर चकित और स्तम्भित रह गया। मैंने देखा कि भारतीय आध्यात्मिक साधनाओं का व्यावहारिक रूप तन्त्र ने ही स्पष्ट किया है और सभी भारतीय साधकों ने शाक्तदर्शन के सिद्धान्तों पर साधना कर सिद्धि पाई है। रूप-कल्पना और रूप-व्यवहार की जितनी प्रणालियाँ शाक्तमार्ग में हैं, उतनी कहीं नहीं, और सभी मार्गों ने सिद्धि पाने के लिये शाक्तसिद्धान्त और साधना को किसी-न-किसी रूप में अपनाया है।

एक वेद सबका आदिगुरु और आदिस्रोत है, इसलिये शाक्त, शैव, बौद्ध, वैष्णव, जैनादि में रूप-कल्पना और साधना में कहीं अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल बाह्याचार में। स्थूल आचार से सूक्ष्म भावना की ओर बढ़ते ही भेद मिटने लगता है और 'पर' अथवा 'कारण' रूप में सभी एकाकार हो जाते हैं।

गत चालीस वर्षों की अवधि में बहुत-सी सामग्रियाँ एकत्र हुईं और भावनाओं में बहुत-से परिवर्तन हुए। इच्छा थी कि इन्हें लिपिबद्ध कर दिया जाय, किन्तु अनेक कारणों से विवश था। सबसे बड़ी कठिनता थी कि लिखने का अभ्यास छूट गया था और जीविका के कामों से अवकाश भी कम मिलता था।

जुलाई, १९५६ ई० में श्रीशिवपूजन सहायजी से राष्ट्रभाषा-परिषद् के कार्यालय में भेंट हुई। आपने इसे लिख डालने का आग्रह किया। बन्धुवर श्रीकृपानाथ सिंहजी (एडवोकेट, भागलपुर) के अनुरोध ने तो कब हठ का रूप ग्रहण कर लिया था। शिवजी ने लिखने के पहिले ही इसका नामकरण भी कर दिया। दिन में समय न मिलने के कारण रात को जगकर लिखने

लगा। ४ अगस्त, सन् १९५६ ई०, को लिखना आरम्भ हुआ और दिसम्बर, १९५६ ई० में मूल-ग्रन्थ समाप्त हुआ। परिशिष्टादि लिखते जनवरी बीत गई और श्रीपञ्चमी सं० २०१३ को ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

कार्यकाल की अवधि पूर्ण कर मैं जून, १९५७ ई० में पटना चला आया। मैंने यहाँ के पुरातत्त्वसंग्रहालय में अन्यान्य बहुमूल्य संग्रहों के साथ कुर्किहार और नालन्दा से प्राप्त संग्रह भी देखा। मेरा विश्वास है कि बौद्धधर्म-सम्बन्धी इतना सुन्दर और मूल्यवान् संग्रह संसार में और कहीं नहीं है। प्रिय मित्र और शिष्य श्रीपरमानन्द दोषी भारत-सरकार के पटनावाले पुरातत्त्व-विभाग के पुस्तकाध्यक्ष हैं। उनकी कृपा से यहाँ के पुस्तकालय में बहुत-से अनमोल और दुष्प्राप्य ग्रन्थ और चित्र देखने को मिले। बिहार नेशनल कौलेज के पुस्तकालय से बहुत-से मूल्यवान् ग्रन्थ मिले। इनसे मेरे विचारों में उथल-पुथल-सी मच गई और ग्रन्थ में अनेक प्रकरणों में आमूल परिवर्त्तन करना पड़ा। प्रेस के लिये सारा ग्रन्थ दो बार तो लिखा ही गया, कई अध्यायों को तीन-तीन बार लिखना पड़ा। संग्रहालयों में घूमते समय मैंने देखा कि मूर्त्तियों को देखने से जितनी बातें समझ में आती हैं, चित्रों से उनका केवल अंश भर समझ में आता है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ का विषय ही संग्रहालयों की वस्तुओं को एक नई दृष्टि से देखना था। इसके लिये सारे भारत में घूमकर सभी सुरक्षित मन्दिर, संग्रहालय इत्यादि को देखकर अपनी आवश्यकता के अनुसार चित्र लेना था। यह काम व्ययसाध्य होने के कारण मेरे लिये असम्भव था। इसलिये इसको भविष्य पर टालकर और सुलभ सामग्रियों से जितना हो सका, लिपिबद्ध कर दिया।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की स्थापना कर उसके संचालन करने के लिये बिहार-सरकार का जितनी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी होगी। यदि आज परिषद् नहीं रहती, तो यह पुस्तक प्रकाशित नहीं होती। पुस्तक में जितने चित्रों की आवश्यकता थी, परिषद् ने बड़ी उदारता से सबके ब्लॉक बनवा लिये। श्रीशिवजी से लेकर नीचे तक के सभी कार्यकर्त्ताओं ने बड़े स्नेह और उदारता से इसके प्रकाशन में सहायता की। उन सभी के लिये मेरा हृदय श्रद्धा और प्रेम से भरा हुआ है।

जब मैं उलटकर जीवन के इन चालीस वर्षों को देखता हूँ, तब मुझे महात्मा फरगुसन के ये शब्द याद आते हैं—

"ऐसा कोई मनुष्य न होगा, जो किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में चालीस वर्षों तक अपनी शक्ति लगा दे और असंख्य ऐसी बातों से परिचित न हो जाय अथवा ऐसा ज्ञान न प्राप्त कर ले, जिसे दिक्काल और सारा वाङ्मय भी पूरा-पूरा प्रकाशित करने में असमर्थ न हो जाय।"[१]

---

१. "No man can direct his mind for forty years to the earnest investigation of any department of knowledge and not become acquainted with a host of particulars, and acquire a species of insight which neither time, nor space, nor perhaps the resources of language will permit him to reproduce in their fulness".

महात्मा फरगुसन का यह कथन बहुत यथार्थ है। आज मैं देखता हूँ कि जितनी बातें और जिस रूप में मेरे मन में हैं, उनका सार-अंश भी मैं शब्दों में प्रकाशित नहीं कर सकता। इस काम को और भी पूर्णता दी जा सकती है, यदि स्लाइड की सहायता से व्याख्यान दिये जायँ। किन्तु यह तो 'यदि', अर्थात् वर्त्तमान परिस्थिति में अप्रस्तुत योजना है।

इस विषय पर यदा-कदा व्याख्यान सुनकर पंडित-समाज ने बड़ा संतोष प्रकट किया। इससे मुझे बहुत प्रोत्साहन मिला।

इन सब के लिये परमात्मा का मैं भक्तिपूर्वक स्मरण करता हूँ। यह उनकी कृपा थी, जिससे यह सब कुछ सम्भव हुआ और यह कार्य पूर्ण हुआ।

श्रीपञ्चमी
विक्रमाब्द २०१४

जनार्दन मिश्र

विषय-प्रस्ताव

प्रतीक-निर्माण की प्रवृत्ति कितनी पुरानी है, यह कहना कठिन है। विचारने से बोध होता है कि जब से मनुष्य में बुद्धि हुई और उसकी बुद्धि ने रेखा खींचना या लीपापोती करना सीखा, तभी से वह अपने भावों का प्रतीक-निर्माण करने लगा। आदिम मनुष्यों की गुहाओं में भी नाना भावों को प्रकाशित करनेवाले, उनके द्वारा अंकित चित्र और मूर्त्तियों के ढाँचे पाये जाते हैं। जिस देश के लोगों का जैसा संस्कार और जैसी बुद्धि रहती है, वे वैसे ही प्रतीकों का निर्माण करते हैं। भारतीयों ने अपने संस्कार और अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार निश्चित सिद्धान्तों पर और निश्चित उद्देश्य से प्रतीकों का निर्माण किया और युग-युगान्तर से उसमें काट-छाँट, परिमार्जन और परिवर्त्तन कर इन्हें ऐसा रूप दिया, जो किसी भी अतिसभ्य जाति के लिये उचित गौरव का विषय हो सकता है।

भारतीय प्रतीक स्पष्ट और सरल होने पर भी जटिल और दुरूह जान पड़ते हैं अथवा बन गये हैं। इसके अनेक कारण हैं। आधुनिक युग में इस विषय के पठन-पाठन का काम एक भिन्न सभ्यता के विदेशियों ने अपने हाथ में ले लिया। भिन्न संस्कारवश इन वस्तुओं को ठीक-ठीक समझने की इनमें योग्यता नहीं है। जो दो-एक सहृदय समझने की भी चेष्टा करते हैं, वे संस्कृत से पूर्ण परिचित नहीं रहने के कारण इन वस्तुओं को समझने में बड़ी कठिनता का अनुभव करते हैं। भारत में शताब्दियों से मूलग्रन्थों का स्वतन्त्र रीति से पठन-पाठन अथवा निर्माण प्रायः बन्द-सा हो गया है। लोग केवल दूसरों की टीका-टिप्पणी और व्याख्यानों पर आश्रित हो गये हैं। जिसने जितना-सा और जिस तरह समझा, उसे जनता के सामने उसी रूप में रखा और लोगों ने भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि मूल भावनाओं से लोग दूर पड़ते गये और अनुमान द्वारा कुछ-का-कुछ समझने लगे। उदाहरण के लिये हम दिक् और काल को ले सकते हैं। दिक् और काल, इन दो शब्दों का व्यवहार होता रहा, किन्तु दिक्काल दो शक्तियाँ हैं। इसे लोग, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, भूलते गये और पीछे अहोरात्रादि काल-मान को ही काल समझने लगे। नैयायिकों ने कहा—'जन्यानां जनकः कालः'—अर्थात्, उत्पन्न होने योग्य वस्तुओं का उत्पादक काल है। इस परिभाषा के अनुसार काल के स्थान में भगवान् कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जन्य का जनक भगवान् है। पर यह सभी जानते हैं कि

काल और भगवान् भिन्नार्थवाची शब्द हैं। उसी प्रकार दिक् को लोग साधारणतया आकाश का पर्यायवाची शब्द मान लेते हैं, पर दिक् आकाश से भिन्न एक शक्ति है। दार्शनिक दिक् और काल को मानते हैं, पर उनकी यथार्थ भावनाओं से दूर निकल गये हैं। इन शब्दों के मूल भावों को महाभारत और पुराणों ने अपने यथार्थ रूप में सुरक्षित रखा है। हमारी यह कठिनता और भी विकट हो जाती है, जब टाइम और स्पेस जैसे विदेशी शब्दों द्वारा हम इनके भावों को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा करते हैं। इन स्वदेशी और विदेशी शब्दों के भीतर दो भिन्न भावनाएँ काम करती हैं। उन्हें एक समझने से हमारे विचार और भी उलझ जाते हैं।

अपने विषयों को समझने में हमारी सबसे बड़ी कठिनता है—विदेशियों को इस विषय का गुरु बना लेना और उनका मानसिक दासत्व स्वीकार कर लेना। वर्त्तमान अँगरेजी-शिक्षा पाये हुए ऐसे लोगों को सर जॉन उडरफ 'इंगलैंड का मानसपुत्र' कहते हैं। वर्त्तमान विश्वविद्यालयों की दूषित शिक्षा के कारण हम सूत्र की तरह रटते रहते हैं कि मि० अमुक ने ऐसा कहा और मि० अमुक ने ऐसा कहा। अपनी वस्तुओं का ज्ञान नहीं रहने के कारण, यह समझने की शक्ति नष्ट हो गई है कि देखें मि० अमुक ने अमुक भारतीय विषय को ठीक-ठीक समझा वा नहीं। युरोप की सभ्यता का आरम्भ ग्रीस से होता है। ग्रीस की सभ्यता का आरम्भ ईसा से पूर्व सातवीं या आठवीं शताब्दी में होता है। उपेक्षणीय अपवादों को छोड़कर युरोप के विद्वान् साधारणतः मान लेते हैं कि भारतीय सभ्यता इससे पुरानी हो नहीं सकती। इस समय या इसके पहिले जैसे ग्रीक भेड़ चराया करते थे, प्राचीन भारतीय भी वैसा ही करते होंगे। बस, इसी अटकल पर वेद बकरी और भेंड़ी चरानेवाला घुमक्कड़ जातियों का लोकगीत बन गया और ईसा से पूर्व २०० वर्ष पहिले वाल्मीकि ने रामायण की रचना की। एक ने तो यहाँ तक कह डाला कि यजुर्वेद के मन्त्रों में और पागलखाने के पागलों के प्रलाप में अद्भुत साम्य है। यदि ऐसे लोगों को गुरु बनाकर उनकी आँखों से हम अपनी वस्तुओं को देखने लगें, तो जैसा अपना विकृत रूप हमें दिखाई पड़ेगा, वह प्रत्यक्ष है। ऐसे भारतीयों के अज्ञान और दुःशीलता से दुःखी होकर सर जॉन उडरफ ने लिखा था—

"ऐसा इसलिये होता है कि कुछ अँगरेजी पढ़े-लिखे भारतीय इस विषय (मन्त्रशास्त्र) से ऐसे ही अनभिज्ञ हैं, जैसे युरोप के ऐसे साधारण लोग होते हैं, जिनकी नकल पर वे सोचना सीखते हैं और अपने विचार बनाते हैं। ऐसे भारतीयों में से एक प्रतिष्ठित सज्जन मिले, ये कहते थे कि मन्त्र 'निरर्थक अगड़म-बगड़म' है। भारतीय सिद्धान्तों को विदेशियों ने इतने दिनों से गलत समझा है और इसका गलत प्रचार किया है। मुझे यह सदा बड़ा दयनीय बोध हुआ कि जो लोग इस पुण्यभूमि के हैं, वे भी गलत समझने के कारण, विना कारण ही अपनी वस्तुओं को गालियाँ देते फिरें। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे व्यर्थ की वस्तुओं को स्वीकार करते फिरें; क्योंकि ये भारतीय हैं। किन्तु किसी वस्तु को व्यर्थ कहने के पहिले उसे समझने की चेष्टा करें।

"जब मैंने पहिले-पहिल इस शास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया, तो मैंने यह समझकर किया कि अन्य देशों की अपेक्षा इस देश में अधिक मूर्ख नहीं हैं। किन्तु इसके विपरीत इसने ऐसे बुद्धिमानों को उत्पन्न किया है, जो (कम-से-कम) अन्यत्र पाये जानेवाले किसी भी देश के विद्वानों के समकक्ष थे।"[१] इत्यादि।

आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न इस दुःखद परिस्थिति से खिन्न होकर सन् १९१३ ई० में डॉ० आनन्दकुमारस्वामी ने लिखा—

"यह समझ में आना बड़ा कठिन है कि भारतीय जीवन का सूत्र किस प्रकार काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया है। एक पुश्त का अँगरेजी पढ़ना सभी आचार-विचार की परम्पराओं के सूत्र को विच्छिन्न कर इसकी जड़ों को नाश कर देने के लिये और एक प्रकार के मानसिक कोढ़ियों को पैदा करने के लिये यथेष्ट है, जो न पूर्व के हैं और न पश्चिम के और जिनका न कोई भूत है, न भविष्य। सब से बड़ी विपत्ति है उनके आध्यात्मिक जीवन का बिगड़ना। सभी भारतीय समस्याओं में सब से कठिन और दुःखद है शिक्षा की समस्या।"[२]

सर जॉन और श्रीआनन्दकुमारस्वामी ने जो कुछ कहा है, भारतीय विषयों के सम्बन्ध में अँगरेजी पढ़े भारतीयों की साधारणतः यही अवस्था है। आधुनिक युग में अँगरेजी पढ़े भारतीयों ने भारतीय विचारों का नेतृत्व अपने हाथों मे ले लिया। इससे अपने विषयों के ठीक-ठीक समझने की कठिनाई और जटिल हो गई। जहाँ भारतीय सिद्धान्तानुसार वेद-मन्त्र शब्द-ब्रह्म का पूर्ण रूप है, वहाँ युरोपीय पद्धति से लोग उनमें भारत का इतिहास और भूगोल ढूँढने लगे। परिणाम प्रत्यक्ष है। युरोपनिवासियों के साथ भारतीय भी अपनी प्रशंसनीय

---

१. "It is because some English-educated Indians are as uninstructed in the matter as that other common type of Western, to whose mental outlook and opinions they mould their own, that it has been possible to find a distinguished member of this class describing mantra as 'meaningless gabber'. Indian doctrines and practice have been so long and so greatly misunderstood and misrepresented by foreigners, that it has always seemed to me a pity that those who are of this Punyabhumi should, through misapprehension, malign without any reason, anything which is their own. This does not mean that they must accept, what is in fact without worth because it is Indian, but they should at least first understand what they condemn as worthless.

When I first entered upon the study of this Shastra, I did so in the belief that India did not contain more fools than exist amongst other peoples, but had on the contrary produced intelligences which (to say the least) were equal to any elsewhere found. etc. etc."

२. "It is hard to realise how completely the continuity of Indian life has been severed. A single generation of English Education suffices to break the threads of tradition and to create a non-descript and superficial being deprived of all roots—a sort of intellectual pariah who does not belong to the East or the West, the past or the future. The greatest danger for India is the loss of her spiritual integrity. Of all Indian problems the educational is the most difficult and most tragic."

—Dance of Shiva, Bombay, 1952; Page 170.

और श्रद्धास्पद वस्तुओं की निन्दा करने लगे और उन्हें समझने की चेष्टा करने के बदले अपशब्दों का व्यवहार करने लगे। प्रतीकों के समझने में भी हमने वैसी ही भूल की है। युरोपीय विद्वानों ने कहा कि भारतीय शिवलिंग के रूप में शिश्न की पूजा करते हैं, तो एक शिश्नमूर्त्ति मिलने पर श्रीगोपीनाथ राव ने प्रतिपादन करने की भरपूर चेष्टा की कि यहा भारतीय शिवलिंग का आदिरूप है। गत पैंतीस-चालीस वर्षों से निरन्तर अनुसन्धान करने पर मैं ने यही पाया कि भारतीय सभ्यता का प्राचीन से प्राचीन रूप अत्यन्त उच्चकोटि का है, जिसकी चरम सीमा वेद में पहुँची हुई है, और इसके प्रारम्भिक रूप का पता लगाना मानव-शक्ति से बाहर है। यदि डारविन का क्रम-विकास का सिद्धान्त मान लिया जाय कि तिर्यग्योनि का विकसित रूप मनुष्य शरीर है और सभी वस्तुओं का आदिरूप बेढंगा होता है और कालक्रम से उसमें सुन्दरता आती है, तो भारतीय सभ्यता के आदिरूप का पता नहीं लगेगा। किन्तु, यदि भारतीय क्रम-विकास का सिद्धान्त मानें कि सृष्टि की रचना ऊपर से होती है नीचे से नहीं, अर्थात् ब्रह्मा के मानसपुत्र हुए, उनसे सप्तर्षि, फिर मनु और इस प्रकार सृष्टि का विस्तार नीचे की ओर होकर तिर्यग्योनि की पीछे सृष्टि हुई या एक साथ ही हुई, तो इसके आदिरूप का विवरण पुराणों में दिया हा हुआ है। सारांश कि वेद में असभ्य चरवाहों के समाज का विवरण नहीं है।

वेद विशुद्ध ब्रह्मविद्या है। इसमें ऋषियों की ब्रह्मविद्या की स्वानुभूति का विवरण है। जो ब्रह्मविद्या की साधना करते हैं, वे इसे स्वानुभूति के रूप में पाते हैं। इसे तर्कमूलक और संकल्पविकल्पात्मक लेख, साहित्य या दर्शन की तरह पढ़ने से सर्वदा भ्रान्ति होगा। वेदमंत्र साधना और ब्रह्मानन्द के विषय हैं। वेद और शास्त्रों के इन स्वरूपों को ध्यान में रख-कर कहा गया है कि 'ये त्वतार्किका भावा न तांस्तर्केण योजयेत्', अर्थात् जो तर्क-वितर्क के बाहर (अनुभव) की वस्तुएँ हैं, उन्हें तर्क के क्षेत्र में न लावें। इसलिये भारतीय संस्कृति के समझने में जो लोग सभी कार्यों के कारण खोजने में अटकल लगाते फिरते हैं, वैसे लालबुझक्कड़ों को हेतुवादी कहकर उसकी निन्दा की गई है।

एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न भावनाओं से देखने से उसके भिन्न-भिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं। वेदाध्ययन में या भारतीय सभ्यता के अनुशीलन में अभारतीयों के भाव वेदानुयायी के भावों से अवश्य भिन्न होंगे और अनेक स्थलों पर विपरीत भी होंगे। यह सब कुछ होने पर भी सौ वर्षों तक वैदिक विषयों और साहित्य का अध्ययन कर युरोप के विद्वानों ने जो सामग्री की विशाल राशि एकत्र कर दी है, वह सभी वेदानुयायी पण्डितों की अमूल्य सम्पत्ति है और परीक्षण के लिये अवश्य पठनीय है।

इस पुस्तक के विषय में कई मित्रों ने कई प्रकार से प्रश्न किये। एक ने पूछा कि क्या आपने किसी सिद्धान्त को मानकर उसके प्रमाण ढूँढ निकाले। ऐसा प्रश्न करना स्वभाविक है; क्योंकि प्रायः लोग ऐसा करते देखे जाते हैं। इसलिये इसको स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

मैंने अपने अनुशीलन और अनुसन्धान के विषय में निम्नलिखित प्रणाली का अवलम्बन किया। पहिला प्रश्न हुआ कि साँप विष्णु, शिव, कृष्ण, देवी आदि प्रतीकों के साथ है।

यह तो सभी जानते हैं कि इन देव-देवियों की आराधना विभुशक्ति के रूप में होती है, इसलिये साँप किसी न किसी गुण वा शक्ति का प्रतीक हो सकता है। शिव के विषय में और विष्णु तथा देवी के विषय में भी पुराण और तन्त्र-ग्रन्थों में मिला कि यह काल का प्रतीक है। फिर प्रश्न उठा कि काल क्या वस्तु है; क्योंकि काल का निर्णय करनेवाला अहोरात्र कल्पित कालमान-मात्र है और काल कल्पना नहीं, कोई द्रव्य है। दर्शन, पुराण और तन्त्र-ग्रन्थों में खोजने से पता लगा कि काल गति-शक्ति है, जो किसी को स्थिर नहीं रहने देता।[1] इसी प्रकार मैंने त्रिशूल को महादेव के हाथ में त्रिगुण का प्रतीक समझा। किन्तु बुद्ध-प्रतिमा के साथ इसका अत्यन्त निकट सम्पर्क देखकर खोजने पर पता चला कि शाक्तों ने इसे त्रिशक्ति का प्रतीक मानकर ग्रहण किया है। यह त्रिशक्ति का सिद्धान्त तन्त्र और पुराणों में तो भरा पड़ा है ही, खोजने पर वेद में भी मिला। आगे बढ़ने पर मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त पशुपति-मूर्त्ति पर त्रिशक्ति का त्रिशूल मिला। इससे आगे बढ़ने की सामग्री नहीं रहने के कारण रुक जाना पड़ा। बौद्ध प्रतीकों में इसे ढूंढते समय पता लगा कि महमूद गज़नवी की कब्र पर त्रिशक्ति के दोनों त्रिकोण बने हुए हैं और बीजापुर में महम्मद शाह की कब्र पर शाक्त या योग का चक्र बना हुआ है, जिसमें मूलाधार के सभी लक्षण हैं। गजनी में शिवलिंगाकार स्तम्भों का भी पता लगा। इन सब पर यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इस्लाम ने त्रिशक्ति इत्यादि के इन प्रतीकों को किस रूप में ग्रहण किया। इसके लिये मूलग्रन्थों के अनुशीलन के हेतु प्राचीन और आधुनिक अरबी और फारसी के ज्ञान की आवश्यकता हुई। इस जन्म में यह असम्भव समझकर इस विचार को यहीं रोक देना पड़ा। इसी तरह स्वस्तिक वैदिक प्रतीक है। मोहन-जो-दड़ो के उत्खनन में यह बहुत बड़ी संख्या में मिला है। बुद्ध का यह प्रिय प्रतीक है। यह त्रिशूल का प्रतिरूप है और वैष्णव तथा बौद्ध प्रतिमाओं में त्रिशूल और स्वस्तिक के स्थान में क्रॉस (+) बना हुआ है। प्रश्न उठता है कि क्या क्रिस्तानों ने बौद्ध स्रोत से त्रिशूल को क्रॉस के रूप में ग्रहण किया। यदि नहीं, तो क्रॉस आया कहाँ से और इसका केवल फाँसी के तख्ते का रूप भर ही है या इसके पीछे कोई सूक्ष्म विचार भी है। महात्मा ईसा के पहिले ख्रिस्तधर्म में क्रॉस था या नहीं, इत्यादि। किन्तु यह अनुसन्धान का एक विभिन्न विषय हो जाता है। इसलिये इसे यहीं छोड़ देना पड़ा। इससे यही कथन अभीष्ट है कि मैं किसी सिद्धान्त को मानकर न चला। अनुसन्धान के विषयों की खोज में जो सत्य मिले, उनसे अनुसन्धान के सिद्धान्त बनते गये। कल्पित सिद्धान्त को मानकर उसका प्रमाण ढूंढते फिरना प्रायः हठधर्म होता है, सत्य की खोज नहीं।

प्रतीकों की खोज में पता लगा कि इनके मूलरूप भिन्न शब्दों और रूपों में वेद में वर्त्तमान हैं। कभी इनका रूप पूर्ण है और कभी केवल संकेत-मात्र है, किन्तु हैं सभी। पौराणिकों, बौद्धों और जैनों ने कभी ज्यों-का-त्यों और कभी थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन के साथ इन्हें ग्रहण कर अपनी साधनाओं में इनका व्यवहार किया। जैसे, ऋग्वेद में है—'यस्येमाः

---

१. जीवनिष्ठा या नित्यता तस्या आच्छादने सति सैव नित्यता अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यतीति षड्भावयोगात् संकुचिता कालपदवाच्या दशमं तत्त्वम्। —परशुरामकल्पसूत्रम्। १·४।

प्रदिशो यस्य बाहू'। दो से लेकर सहस्रभुजा तक पौराणिकों और बौद्धों ने अपने प्रतीकों में बनाया। जैनों ने भी देव-देवियों की अनेक भुजाओं के सिद्धान्त को माना।

सिद्धान्त-प्रकरण में उन सिद्धान्तों को सरल रूप में दे दिया गया है, जिन पर प्रतीकों का जटिल, किन्तु मनोहर संसार बनकर खड़ा हुआ है। पाठक देखेंगे कि इनमें सबसे सरल यंत्र और शिवलिंग, और सबसे जटिल श्रीचक्र है, और दोनों एक-से-एक मनोहर हैं।

मैंने इसमें श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्र, बौद्ध और जैन शास्त्रों का स्वच्छन्दता से प्रयोग किया है; क्योंकि ये एक दूसरे के परिपूरक हैं। तन्त्र के विषय में बड़े भ्रान्त विचार प्रचलित हैं और जो लोग इस शास्त्र से परिचित नहीं हैं, वे ही इसके विरुद्ध अधिक प्रचार करनेवाले हैं। तन्त्र को मैंने श्रुति से भिन्न न पाया और न मैं मानता हूँ। इसे मैं श्रुति और स्मृति का प्रधान अंग और प्राणस्वरूप मानता हूँ। तन्त्र का मैंने जितना ही अनुशीलन किया है, मेरा यह विचार उतना ही दृढ़ और परिपुष्ट होता गया है। मैं इस उक्ति को सच मानता हूँ कि,

दुर्बोधा वैदिकाः शब्दाः प्रकीर्णत्वाच्च तेऽखिलाः।
तथैत एव स्पष्टार्थाः स्मृतितन्त्रे प्रतिष्ठिताः॥

"वैदिक शब्द दुर्बोध हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध नहीं मालूम होने के कारण वे कठिन मालूम होते हैं। स्मृति और तन्त्र में उनका अर्थ स्पष्ट किया गया है।"

यथार्थ में श्रुति, स्मृति, और तन्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। जो इनके तत्त्वार्थ को नहीं समझते, उन्हें ये भिन्न मालूम होते हैं।

युरोपीय पद्धति से पढ़ने पर उस वस्तु के उद्गम और विकास का काल-निर्णय करके उसके इतिहास को जानने की इच्छा होती है। किन्तु इससे केवल कौतूहल की शान्ति होती है। कोई सत्य जब मिल जाता है, तब यह जीवन को बल देता है। किसने इसे पाया, कब पाया, कैसे पाया, इत्यादि से कौतूहल की निवृत्ति-मात्र होती है, इस सत्य की उपादेयता नहीं बढ़ती। यदि इन बातों का पता लग जाय, तो अच्छा है, अन्यथा इससे कुछ आता-जाता नहीं। प्रतीकों के इतिहास का पता लगाना और भी कठिन है। जब प्राचीन-से-प्राचीन ज्ञानस्रोत में ये प्रतीक पूर्ण रूप में पाये जाते हैं, तब इसके इतिहास और क्रम-विकास का पता कैसे लगाया जा सकता है। पशुपति की जो भावना आज वर्त्तमान है, इसी रूप में वह मोहन जो-दड़ोवाली मूर्त्ति में पाई जाती है। इसके इतिहास का पता क्या और कैसे लगे। ऐसे निरर्थक प्रयत्नों के पीछे समय नष्ट करना मैंने उचित नहीं समझा। ऐसे अवसरों पर इतिहास के नाम पर अटकलबाजी करके लोग स्वयं धोखा खाते हैं और दूसरों को धोखा देते हैं। दूसरे, आधुनिक इतिहास की विश्लेषणात्मक पद्धति किसी भावना के संहार के लिये बहुत उपयुक्त है। जबतक वस्तुओं को मिलाकर संश्लिष्ट रूप में न देखा जाय, तबतक किसी सृष्टि-क्रिया का रूप देखने में नहीं आता। इसलिये इस ओर जाना मुझे निरर्थक प्रयास-सा मालूम हुआ।

इस ग्रन्थ में मैंने भारतीय ज्ञानसागर के तट पर बिखरे हुए रत्नों को एकत्र करने की चेष्टा की है। इस की छटा देखने योग्य है। साधकों और आध्यात्मिक प्रवृत्तिवाले महानुभावों के लिये यह अनमोल रत्नाकर है।

पुस्तक पढ़ने की रीति

इस ग्रन्थ के प्रस्तुत करने का प्रधान उद्देश्य है कि जो लोग भक्ति के आवेश में प्रतीकों के निर्माण में सर्वस्व अर्पण किये हुए हैं और इसे अवलम्ब बनाकर जीवन के चरम उद्देश्य को सिद्ध कर शान्ति लाभ करते हैं, वे इनके यथार्थ रूप को जान जायँ और ज्ञानपूर्वक इनका सदुपयोग करें। इसलिये इसके विषय को हृदयंगम करने के लिये इसके पढ़ने की रीति की चर्चा कर देता हूँ। यद्यपि विद्वान् पाठकों के सम्मुख यह धृष्टता होगी, तथापि विनयपूर्वक इस विषय में कुछ निवेदन कर देना आवश्यक मालूम पड़ता है —

१. पहिले प्रत्येक शब्द और वाक्य पर ध्यान देकर और उनके अर्थ को भली-भाँति समझकर पुस्तक को आदि से अन्ततक पढ़ जाइये। यदि संस्कृत न जानते हों, या इसका अल्पज्ञान हो, तो संस्कृत उद्धरणों के केवल हिन्दी-रूपान्तर पढ़ जाइये। आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत उद्धरणों से भी इन्हें मिलाते जाइये। पढ़ते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शब्दों का व्यवहार व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में हुआ है। रूढार्थ में वहीं इसका व्यवहार हुआ है, जहाँ व्युत्पत्ति से ठीक अर्थ प्रकट नहीं होने की आशंका हुई है। जैसे, स्व-गत अपनी बात, नाटकों का स्वगत नहीं। स्व-भाव-अपनी स्वतःसिद्ध स्थिति। इत्यादि।

२. इसके सभी प्रकरण एक दूसरे से गुँथे हुए हैं और एक प्रकरण की बात दूसरे में स्पष्ट हो जाती है। इसलिये आद्यन्त पढ़ लेने से सभी प्रकरण समझ में आ जाते हैं। बीच से उठाकर कोई प्रकरण पढ़ने से वह प्रायः समझ में नहीं आवेगा। इसलिये धैर्य से सारा ग्रन्थ पढ़ जाना चाहिये।

३. इसके बाद चित्रों को ध्यान से देखिये। ये भिन्न-भिन्न गुणों के तत्त्वज्ञ कलाकारों की कृतियाँ हैं। इन प्रतीकों के प्रत्येक अवयव निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर बने हैं, जिनसे सौन्दर्य और शक्ति फूट-फूटकर निकल रही है।

४. ग्रन्थ को फिर एक बार पढ़ जाइये और संस्कृत के उद्धरणों को मूल रूप में समझने की चेष्टा कीजिये। देववाणी के माधुर्य और शब्द-शक्ति का अनुवाद नहीं हो सकता। मूल के पाठ से ही इसके आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। बारम्बार पढ़कर इसका जितना ही मनन करेंगे, उतना ही आनन्द आयगा और अपने महान् पूर्वजों की शक्ति का बोध होगा।

महाशिवरात्रि
विक्रमाब्द २०१४

जनार्दन मिश्र

विषयानुक्रम

भूमिका क—ट

सिद्धान्त-प्रकरण १—२५

प्रतीक-प्रक्रिया १; ब्रह्म ३; माया ४; वाक् ८; काल ११; संगृहीतसार १७; गुण १६; धर्म २०; परमात्मा, आत्मा और जीवात्मा २३; अवतार २३; सारोद्धार २५।

व्यवहार-प्रकरण २६—३४२

ॐकार २६; ॐकार गणेश ३६; नटेश गणेश ४३; सरस्वती ४३; गायत्री ४८; ब्रह्मा ५०; विष्णु ५४; गरुड़ ६५, शेष ६६; शिव ७२; नटराज ८३; त्रिमूर्ति ६१; हरिहर ६७; मृत्युञ्जय ६६; स्कन्ध ६६; क्षेत्रपाल १००; बटुक १०१; शरभ १०१; लिङ्ग १०२; मुखलिङ्ग ११६; श्रीराम १२२; नारायणराम १२२; नर राम १३२; रावण १३३, एक मुख १३४; द्विनेत्रत्व १३५; द्विकर्णत्व १३६; द्विभुजत्व १३६; सागर संतरण १३८; सेतु-निर्माण १३६; श्रीलंका १४०; वानर १४१; गरुड़, वायु और हनुमान् १४२; राक्षस १४३; द्राविड़ रामायण-कथा १४४; रामायण की मूल भावना १४६; श्रीकृष्ण १४७; नारायण कृष्ण १४८; स्त्री-पुरुष और जाव-ब्रह्म १५७; सूर्य १६२; कामदेव १६६, दुर्गा १६६; दुर्गा सप्तशती १७६; दशमहाविद्या १८०, काली १८३; कामकला १६७; तारा २०२; त्रिपुरा २०७, आयुध २१६; यंत्र-प्रतीक २२२; श्रीचक्र २२४; छिन्नमस्ता २२८; धूमावती २३३; बगलामुखी २३४; भुवनेश्वरी २३५; भैरवी २३६; मातङ्गी २३७; कमला २३८; नटेश्वरी २४०; कुण्डलिनी २४३; जैन-प्रतीक २४६;

बुद्ध २५३; बुद्धोपदिष्ट धर्म २५४; बौद्ध प्रतीक २५८; चक्र और त्रिशूल २६०; पार्श्व देवता २६१; स्तम्भ २६१; स्तूप; २६४; देवी-देवता २६६; त्रिरत्न २६७; प्रासाद-पुरुष अर्थात् मन्दिर-प्रतीक २६९; चेतन-प्रतीक २८२ त्रिशक्ति का प्रतीक भारतवर्ष २८६; यज्ञसूत्र २८९; शिखा २९२; तिलक २९६; एक ब्रह्म के अनेक रूप २९७; प्रतीकों का प्रयोजन ३०१; वेद और प्रतीक ३०७; सिंहाव-लोकन ३३९।

परिशिष्ट ३४५—४१०

नटराज ३४५; सिद्धान्तसारोपनिषद् ३५२; हिन्दी ३५३; लिङ्गाष्टक ३५४; गोविन्दाष्टक ३५५; राधोपनिषत् ३५७; साम रहस्योपनिषत् ३६३; सामरहस्योपनिषत् (हिन्दी) ३६५; काली ३६७; गुह्यकाल्युपनिषत् ३६८; गुह्यकाली-उपनिषत् (हिन्दा) ३७३; नियतिनृत्यवर्णनम् ३७८; काल-रात्रिनृत्यम् ३८२; हिन्दी ३९३; एक आध्यात्मिक अनुभव ४०२; सप्तव्याहृति और प्रतीक ४१०।

चित्र-परिचय ४१५—४४२

गणेश ४१५; विष्णु ४१९; शिव ४२२; शिवलिङ्ग ४३०; कृष्ण ४३४; शक्ति ४३५; काली ४३६; नटेश्वरी ४३९; जैन ४४१; बुद्ध ४४२।

अनुक्रमणिका ४४३

चित्र-सूची

चित्र-संख्या			पृष्ठ
१	ॐकारस्वरूप ब्रह्म-गणेश	....	१
२	गणेश (जावा)	....	२
३	गणेश (जावा)	....	३
४	ॐकार गणेश (नृत्य-मुद्रा में)	....	४
५	ॐकार गणेश	....	४
६	सिंह-वाहन गणेश	....	५
७	नटराज गणेश	....	५
८	नटेश गणेश	....	६
९	नटेश गणेश	....	७
१०	विष्णु की शयन-मूर्त्ति	....	७
११	महाकाल या महाप्रलय	....	८
१२	यज्ञपुरुष विष्णु	....	९
१३	विष्णु	....	१०
१४	विष्णु	....	११
१५	विष्णु	....	१२
१६	दशावतार	....	१३
१७	सुदर्शन-चक्र	....	१३
१८	सुदर्शन चक्र	....	१३
१८(क)	सुदर्शन चक्र	....	१४
१९	विष्णु	....	१४
२०	पूजन-यंत्र वा चक्र	....	१५
२०(क)	पूजन-यंत्र वा चक्र	....	१५
२१	मुरतजीगंज की पत्थर की थाली	....	१५
२२	बोध गया की वेष्टनो	....	१६
२३	शिवशक्ति	....	१६

चित्र-संख्या			पृष्ठ
२४	शिव पोलान्नरुव (लंका)	....	१७
२५	नटराज (दक्षिणापथ)	....	१८
२६	नटराज (दक्षिणापथ)	....	१९
२७	नटराज	....	२०
२८	अर्द्धनारीश्वर (नटेश-नटेशी)	....	२१
२९	हर-पार्वती (नटेश-नटेशी)	....	२१
३०	देवी शिवा	....	२२
३१	देवी-शिवा	....	२२
३२	देवी-शिवा	....	२३
३३	महा सदाशिव	....	२४
३४	नटराज (उत्तरापथ, ढाका)	....	२४
३५	शिव-परिवार	....	२५
३६	नटेश, चतुर नृत्य में	....	२६
३७	गजासुर-वध	...	२७
३८	हरगौरी (दक्षिणापथ)	....	२८
३९	वटुक (लंका)	....	२९
४०	शरभ (नेपाल)	....	२९
४१	काशी-विश्वनाथ	....	३०
४२	नटेशशिवलिङ्ग	....	३०
४३	एकमुख लिङ्ग	....	३१
४४	बुद्ध	....	३२
४५	त्रिमूर्त्ति या चौमुखी महादेव	....	३३
४६	चौमुखो महादेव	....	३३
४७	शिवज्योति स्तम्भ । मूल स्तम्भ (राजस्थान)	....	३४
४८	त्रिमूर्त्ति (हाथी गुम्फा)	....	३४
४९	महाकाल	....	३५
५०	मृत्युञ्जय शिव	....	३५
५१	मृत्युञ्जय शिव	....	३६
५२	मूलस्तम्भ या शिवलिङ्गाकार मन्दिर (उत्तरा पथ, बंगाल)	....	३६
५३	शिवलिङ्गाकार मन्दिर (बंगाल)	....	३६
५४	शिवलिङ्गाकार मन्दिर (बंगाल)	....	३६
५५	शिवलिङ्गाकार मन्दिर (बंगाल)	....	३७
५६	शिश्नमूर्त्ति गुडीमल्लम्, (मद्रास)	....	३७
५७	शिश्नमूर्त्ति का ऊर्ध्वभाग	....	३८

चित्र-संख्या			पृष्ठ
५८	एक प्राचीन शिवलिङ्ग (उत्तरापथ, उत्तर प्रदेश)	....	३९
५९	चित्र ५८ का दूसरा दृश्य	...	३९
६०	बाल कृष्ण । कालिय मर्दन	....	४०
६१	श्रीकृष्ण । उत्तरापथ (बंगाल)	....	४०
६२	श्रीकृष्ण (नेपाल)	....	४०
६३	दुर्गा (नेपाल)	....	४१
६४	दुर्गा-महिषमर्दिना	....	४२
६५	दुर्गा—महिषमर्दिनी	...	४२
६६	दुर्गा—महिषमर्दिनी	....	४३
६७	काली (नेपाल)	...	४३
६८	काली (बंगाल)	...	४४
६९	काली (बंगाल)	....	४४
७०	तारा	...	४४
७१	षोडशी वा त्रिपुरा (बंगाल)	....	४५
७२	देवी (कामाख्या) असमदेश	....	४५
७३	छिन्नमस्ता (नेपाल)	....	४६
७४	छिन्नमस्ता (बंगाल)	...	४६
७५	धूमावती (नेपाल)	...	४७
७६	श्रीयन्त्र	...	४७
७७	नटेश्वरी । तारा (नेपाल)	...	४८
७८	नटेशी । नैरात्मा (नेपाल)	...	४८
७९	आदिनाथ ऋषभनाथ	...	४८
८०	नेमिनाथ (ग्वालियर)	...	४९
८१	आदिनाथ वा ऋषभनाथ (महेत, जिला गोंडा)	...	४९
८२	महावीर	....	५०
८३	जैन चौमुखी अथवा सर्वभद्र प्रतिमा	...	५०
८४	चक्रेश्वरी और यक्ष गोमुख । गण्डवाल (ग्वालियर राज्य)	...	५१
८५	आदि बुद्ध (नेपाल)	...	५१
८६	बुद्ध	...	५२
८७	बुद्ध । गान्धार शिल्प । ई० को दूसरी या तीसरी शताब्दी	....	५२
८८	बुद्ध	....	५३
८९	धर्मचक्र-प्रवर्त्तन	....	५३
९०	साँची का पूर्वद्वार	....	५४
९१	मोहनजोदड़ो की पशुपति-मूर्त्ति	....	५५

चित्र-संख्या | पृष्ठ

९२ बुद्ध ५५
९३ साँची के द्वार का एक भाग ५५
९४ साँची-द्वार का एक भाग, चक्र और त्रिशूल ५६
९५ भरहुत । चक्र-त्रिशूल ५६
९६ बुद्ध (नेपाल) ५६
९७ बुद्ध (नालन्दा) ५७
९८ बुद्ध ५७
९९ बुद्ध ५८
१०० बुद्ध ५८
१०१ बुद्ध (पटना) ५८
१०२ बुद्ध (पटना) ५८
१०३ तारा (पटना) ५९
१०४ बुद्ध (पटना) ५९
१०५ शिवलिंगाकार स्तूप को अर्चना ६०
१०६ बुद्ध ६०
१०७ सिंहारूढ़ बुद्ध ६१
१०८ बुद्ध (नेपाल) ६१
१०९ यव-युग्म अथवा जगन्माता-पिता नेपाल ६१
११० यव-युग्म (जगन्माता-पिता) । नेपाल ६१
१११ चितिपति ६२
११२ बुद्ध । परमाश्व मूर्त्ति । नेपाल ६२
११३ त्रैलोक्य-विजय (ढाका) ६२
११४ त्रैलोक्य-विजय (पटना) ६३
११५ अवलोकितेश्वर ६३
११६ बुद्ध । श्यामदेश ६४
११७ मञ्जुश्री । जावा ६४
११८ मैत्रेय बुद्ध (पटना) ६५
११९ अवलोकितेश्वर (पटना) ६५
१२० प्रज्ञापारमिता ६५
१२१ तारा (पटना) ६६
१२२ तारा (पटना) ६६
१२३ तारा (पटना) ६७
१२४ तारा (पटना) ६७
१२५ श्यामा (कुर्किहार, पटना) ६७

चित्र-संख्या			पृष्ठ
१२६	तारा (कुर्किहार, पटना)	....	६८
१२७	मारीचि	....	६८
१२८	त्रैलोक्य-विजय (पटना)	....	६९
१२९	महासितवती (नेपाल)	...	६९
१३०	वज्रतारा (उड़ीसा)	....	६९
१३१	त्रिरत्न	....	६९
१३२	त्रिरत्न	....	७०
१३३	त्रिरत्न, अर्थात् बुद्ध, धर्म, संघ	....	७०
१३४	(हयग्रीव ?) भैरव । पटना	...	७१
१३५	स्तूप	....	७१
१३६	स्तूप	....	७१
१३७	स्तूप (नालन्दा, पटना)	...	७२
१३८	साँची का स्तूप	....	७२
१३९	स्तूप । अमरावती ।	....	७३
१४०	श्रीचक्र पर निर्मित बोरोबुदूर का स्तूप	....	७३
१४०(क)	स्तूप-स्तम्भ, (अमरावती)	....	७४
१४१	स्तूप-स्तम्भ (अमरावती)	....	७४
१४२	चैत्यभवन (कार्ले)	....	७५
१४३	चैत्यभवन के स्तम्भ (कार्ले)	....	७५
१४४	एकसिंह शिखर (बिहार)	....	७५
१४५	एकगज शिखर (बिहार)	....	७५
१४६	एकवृष शिखर (रामपुरवा, बिहार)	...	७६
१४७	चार वृष-शिखर (बिहार)	...	७६
१४८	चार अश्व-शिखर	....	७७
१४९	चार सिंह-शिखर	....	७८
१५०	कन्दर्प महादेव का प्रासाद (खजुराहो)	....	७९
१५१	मंदिर (ग्वालियर)	....	८०
१५२	बोधगया का मंदिर	....	८०
१५३	स्वयंभूनाथ (नेपाल)	....	८१
१५४	स्तूप-मंदिर (नेपाल)	....	८१
१५५	प्रासाद-पुरुष (बैंकोक)	....	८२
१५६	श्री । राजस्थान	....	८३
१५७	चक्र-त्रिशूल	....	८३
१५८	चक्र-त्रिशूल	....	८३

चित्र-संख्या | | | पृष्ठ

१५९	बुद्ध का चरणन्यास	....	८३
१६०	अमोघभूति का सिक्का	....	८३
१६१	महमद गजनवी की कब्र पर यन्त्र । गजनी	....	८४
१६२	गजनी के स्तम्भ	....	८४
१६३	बीजापुर के मुहम्मद शाह की कब्र पर यन्त्र	....	८५
१६४	प्रतीकात्मक संकेत वा यन्त्र	....	८५
१६५	चक्रों के प्रतीक	....	८६
१६६	षट्चक्र के प्रतीक	....	८६

भारतीय प्रतीकविद्या

१. प्रतीक-प्रक्रिया

सूक्ष्म विचारों को नामरूपात्मक जगत् में लाकर उन्हें स्थूल रूप देना मनुष्य का स्वभाव है। इसकी उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ की जाती हैं। भारतीय दार्शनिकों का सिद्धान्त है :—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्[1] ॥

"ब्रह्म और माया का स्वरूप अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम—इन पाँच अंशों में (विभक्त) है। प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और शेष दो माया के रूप हैं।"

दार्शनिक पद्धति को छोड़कर, यदि लौकिक रीति से, इसे समझने की चेष्टा की जाय तो सीधे शब्दों में इसका अर्थ इस प्रकार होगा—कोई वस्तु है (अस्ति), उसका हमें बोध होता है (भाति), वह हमें अच्छी लगती है (प्रिय), उसके रूप की हम कल्पना करते हैं और उसे नाम देते हैं। यदि कोई वस्तु हो ही नहीं, होने पर भी समझ में न आये अथवा समझ में आने पर भी अच्छी न लगे, तो उससे हम दूर ही रहते हैं और रूप-नाम का प्रसंग ही नहीं उठता। गुहा-निवासी आदिम मनुष्य भी, अच्छे लगनेवाले मृग-पक्षियों के रूप, रङ्गवाले पत्थरों या कड़ी वस्तुओं से दीवार-चट्टान आदि पर अङ्कित करता था। यही प्रतीक का आरम्भ है। ज्यों-ज्यों मनुष्य के विचार विकसित होते गये, त्यों-त्यों उनके प्रतीकों के रूप भी विकसित होते गये और उनकी संख्या बढ़ती गई।

आध्यात्मिक बुद्धि विवेचना और साधना करते-करते स्वानुभूति के जगत् में प्रवेश करती है और कूटस्थ निराकार पर जाकर स्थिर हो जाती है। किन्तु केवल निराकार से साकार जगत् का काम नहीं चलता है। इस पन्थ की दुरूहता पर सभी एकमत हैं :—

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन[2] ।

"इसकी क्रीडाभूमि (आराम) जगत् को सभी देखते हैं, उसे कोई नहीं देख सकता।"

---

१. (क) सरस्वती रहस्योपनिषत्। श्लोक २३।

(ख) यदस्ति सन्मात्रम्। यद्विभाति चिन्मात्रम्। यत्प्रियमानन्दम्। तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी।

—बह्वृचोपनिषत्।

२. शुक्लयजुः। ३१. २२। बृहदारण्यकोपनिषत्। ४.३.१४।

क्लेशो ऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गति दुःखं देहवद्भिरवाप्यते[1] ॥

"अव्यक्त में आसक्त चित्तवाले को बड़ा क्लेश होता है। निराकार की प्राप्ति में देहधारियों को बड़ी कठिनता होती है।"

वस्तुमात्रं तु यद्दृश्यं संसारे त्रिगुणं हि तत् ।
दृश्यं च निर्गुणं लोके न भूतं न भविष्यति ।
निर्गुणः परमात्मासौ न तु दृश्यः कदाचन[2] ॥

"संसार में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह त्रिगुण (का परिणाम) है। निराकार, जगत् में न कभी दिखाई पड़ा है और न पड़ेगा। निर्गुण परमात्मा कभी देखने में नहीं आता है।"

'दुर्गासप्तशती' के प्राधानिक रहस्य में दुर्गा को—लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपासौ व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता—कहा गया है। इस पर टीका में टीकाकार 'नीलकंठ' ने लिखा है—

"तत्र सर्वदेवतानां रूपद्वयं सूक्ष्मं स्थूलञ्चेति। सूक्ष्मं तत्तदुपाधिविशिष्टचैतन्यरूपं मन्त्रवाच्यम् । स्थूलं तु तत्तत्सूक्ष्मरूपोपासकभक्तानुग्रहार्थं तेनैव सूक्ष्मरूपेण स्वीकृतं करचरणादिविशिष्टं तन्त्रविदां स्पष्टमेतत् ।......लक्ष्यं लक्षणीयं मायारूपमलक्ष्यं ब्रह्मरूपं तदुभयस्वरूपा त्रिगुणमायाशबलब्रह्मरूपा इत्यर्थः ।"

"अर्थात् सभी देवताओं के दो रूप होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म, शुद्ध चेतना है जो मन्त्रद्वारा कही जाती है और उसमें वे ही (मन्त्रोक्त) गुण लगाये जाते हैं। उस सूक्ष्म रूप की उपासना करनेवाले भक्तों पर अनुग्रह के लिए उसी सूक्ष्म रूपद्वारा स्वीकृत कर चरणादियुक्त स्थूल रूप हैं। तन्त्रवित् इसे अच्छी तरह जानते हैं।......लक्ष्य, लक्ष्य लगाने योग्य माया का रूप है और अलक्ष्य ब्रह्म का रूप हैं। इन दोनों रूपोंवाली, त्रिगुण-माया-युक्त, ब्रह्मरूपिणी है। यही इसका अर्थ है।"

इन उद्धरणों से प्रतीक-निर्माण की प्रक्रिया और उद्देश्य का किञ्चित् निर्देश मिलता है।

यह सृष्टि कहाँ से आती है, कहाँ चली जाती है, कैसे बढ़ती-घटती रहती है, इसके भीतर कोई शक्ति काम करती है या नहीं, इत्यादि प्रश्नों के जो उत्तर भारतीय ऋषियों और मुनियों ने ढूँढ़ निकाले, उन्हें इन्होंने दर्शन और तत्त्वज्ञान की संज्ञा दी। वे ही सिद्धान्त भारतीय प्रतीकविद्या के आधार हैं। उन सिद्धान्तों पर ही भारतीय प्रतीकों का निर्माण हुआ है। जबतक उन सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप हमारे सामने न आ जाय, तब तक इन प्रतीकों का रहस्य समझ में न आवेगा। उन सिद्धान्तों को सरल-से-सरल और संक्षिप्त रूप में हम यहाँ ग्रहण करने की चेष्टा करेंगे।

---

१. गीता। १२.५

२. देवीभागवत। ३.५.६६,७०।

२. ब्रह्म

सृष्टि के रहस्यों के विचार में प्रथम स्थान ब्रह्म का है। यह बृहि (बृंह्) धातु में औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है।

बृंह् का अर्थ है—बढ़ना। इसलिए ब्रह्म का अर्थ हुआ, बड़ा। ब्रह्म शब्द से एक ऐसे तत्त्व का कथन अभीष्ट है, जो सबसे बड़ा, सर्वव्यापी और सबसे शक्तिमान है।[1] इससे किसी तरह भी कुछ भी बड़ा नहीं है। सारी सृष्टि इसके भीतर है और सारी सृष्टि में यह समाया हुआ है। इससे बाहर कुछ भी नहीं है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इस तरह कहा जा सकता है कि जिस तरह ईथर'[2] एक अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है जिसके विस्तार की कहीं सीमा नहीं है। वह दीवार, पहाड़ वा सारी पृथ्वी के भीतर से उसी तरह चलता है जैसे चिड़िया हवा के भीतर से चलती है। उसी तरह ब्रह्म, एक सर्वव्यापी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, जो सब के भीतर-बाहर रहकर सबको चलाता है और जिसके आदि, मध्य और अन्त का कहीं ठिकाना नहीं है। इसे जाननेवाले लोग अलंकृत भाषा में कहते हैं कि यह एक ऐसा 'वृत्त' है जिसका 'केन्द्र' सर्वत्र है और 'परिधि' कहीं नहीं। यह शुद्ध चेतना है और आनन्द इसका स्वभाव है। चेतन अर्थात् ज्ञानमय होने के कारण इस इच्छा होती है और इच्छा, क्रिया बनकर विश्व के रूप में प्रकट होती है। इसलिए कहा जाता है कि ज्ञानमय विभु की इच्छा और क्रिया, स्वभाव है।

लोग इसे प्रजापति (सारी सृष्टि का अधीश्वर), आत्मभू (आप से आप होनेवाला), परमेष्ठी[3] (परमाकाश में, चेतना क आकाश में, अथवा ब्रह्म बनकर रहनेवाला) इत्यादि नाना नामों से पुकारते हैं। चेतना और आनन्द (चिदानन्द) ही इसका रूप है। साधनाद्वारा इसे कवल अनुभव[4] किया जा सकता है। विवरणद्वारा इसको जानने की चेष्टा करना निरर्थक प्रयास है। स्वानुभूति का विषय शब्दों में नहीं आ सकता। अनुभव करने से ही उसका ज्ञान हो सकता है। जिसने कभी नमक वा मिठाई नहीं खाई है, व्याख्यानद्वारा उसे इनके स्वाद का बोध कराना जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार व्याख्यानद्वारा ब्रह्मानन्द का बोध करना या कराना असम्भव है।

---

१. शारीरिक उन्नति के लिए क्रियाओं के बारम्बार अभ्यास का नाम व्यायाम है। कलाओं को सीखने के लिए क्रियाओं के बार-बार करने का नाम अभ्यास है। आध्यात्मिक सिद्धि के लिए क्रियाओं के निरन्तर अभ्यास का नाम साधना है।

२. वेदान्त ने भी इसी प्रकार के उदाहरण का आश्रय लिया है—आकाशस्तल्लिङ्गात् (वे. सू० १.१.२२)। 'आकाश ही उसका बोधक है।' इस पर शाङ्कर भाष्य है—विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति। 'सर्वव्यापित्वादि बहुत से गुणों के कारण ब्रह्म आकाश जैसा है।

३. परमेष्ठी—परमे व्योमनि चिदाकाशे ब्रह्मपदे वा तिष्ठति। आकाश में, चेतना-रूपी अवकाश में, अथवा ब्रह्म बनकर रहनेवाला।

४. दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकसाराय नमः शान्ताय तेजसे ॥भर्तृहरिशतक। १.१
"दिक्काल आदि की सीमा जिस पर नहीं है, चेतनामात्र जिसकी मूर्ति है, अपना अनुभव ही जिसका सार है, उस शान्त तेज को नमः।"

इस विभु (सर्वव्यापी) चेतना की इच्छा ही क्रिया-रूप ग्रहण कर सृष्टि और संहार का कार्य करती रहती है। इसके अनन्त रूप में कार्य के साधन हस्तपादादि की कल्पना करने से इसके असंख्य और विशाल हस्तपादादि की कल्पना करनी पड़ती है। इससे जीव की व्याकुलता बढ़ती है। आत्मोद्धार के लिए वह प्रभु (सर्वशक्तिमान्) के निकट जाने के लिए उसे इच्छानुकूल लघुरूप में ग्रहण करता है।

३. माया

माया शब्द मा[1] धातु से बनता है और इसका अर्थ है—नापना अर्थात् सीमाबद्ध करना। जिस क्रिया के द्वारा असीम निराकार ब्रह्म, आकार ग्रहण कर अपने को सीमाबद्ध कर लेता है, वही माया है। नित्य ज्ञानमय नित्य ब्रह्म में स्वेच्छा से आत्म-स्फुरण अथवा स्पन्दन होता है और इस गतिद्वारा वह आकार ग्रहण करता है जिसे सृष्टि कहते हैं। यह आत्मस्फुरण अथवा स्पन्दन मायाशक्ति है। स्फुरण करनेवाले और स्फुरण में, स्पन्दन करनेवाले और स्पन्दन में, अर्थात् ब्रह्म और माया में, कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार अग्नि और उसका ताप, सूर्य और उसकी किरणें, बलवान और उसका बल एक ही वस्तु के दो नाम हैं, उसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान्, माया और ब्रह्म एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

स भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते ।
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥
यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा ।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥
स्पन्देन लक्ष्यते वायुर्वह्निरौष्ण्येन लक्ष्यते ।
चिन्मात्रममलं शान्तं शिव इत्यभिधीयते ॥
तत्स्पन्दनायाशक्त्यैव लक्ष्यते नान्यथा किल ।
शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ॥
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा ।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पना पुरम् ॥
करोत्येव शिवस्येच्छा करोतीदमनाकृतेः ।
सैषा चितिरिति प्रोक्ता जीवनाज्जीवितैषिणाम् ॥
प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता ।
दृश्याभासानुभूतानां करणात्सोच्यते क्रिया ॥
वडवाग्निशिखाकाराच्छोष्याच्छुष्केति कथ्यते ।
चण्डित्वाच्चण्डिका प्रोक्ता सोत्पलोत्पलवर्णतः[2] ॥ इत्यादि ।

---

१. मा माने=माति ।

२. योगवाशिष्ठ महारामायण। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई. १९३७। पृष्ठ १२५४। सर्ग ८४, श्लोक २—९ ।

"चेतना के विस्तार (चिदाकाश) का नाम शिव है। उसका मन रूप स्पन्दशक्ति वही है ॥ २ ॥ जिस प्रकार पवन और उसका हिलना (स्पन्द) एक हैं, जिस प्रकार अनल और उसकी उष्णता एक हैं। उसी प्रकार चित् (चेतनामात्र—शुद्ध चेतना) और स्पन्दशक्ति भी सर्वदा एक हैं ॥ ३ ॥ स्पन्द से वायु और उष्णता से अग्नि लक्षित होता है। निर्मल शान्त चित्-मात्र शिव कहलाता है ॥ ४ ॥ वाक्सिद्ध लोगों के लिए, अकथनीय शान्त शिव, ब्रह्म हैं। वे स्पन्द-रूप मायाशक्तिद्वारा ही लक्षित होते हैं और किसी तरह नहीं ॥ ५ ॥ उनकी इच्छा ही स्पन्दशक्ति है। दिखाई पड़नेवाले इस जगत् को वह उसी तरह फैलाती है; जिस प्रकार आकारवाले पुरुष की इच्छा कल्पित (planned) नगर का निर्माण और विस्तार करती है ॥ ६ ॥ निराकार शिव की इच्छा इसे (जगत् को) बनाती है। जीवधारियों का प्राणस्वरूप होने के कारण वही चित् कहलाती है ॥ ७ ॥ सृष्टि का आकार (प्र + कृति = प्रति + कृति = आकार) स्वयं प्रकृति का रूप (आकार) बन जाता है। दिखाई पड़नेवाले (दृश्याभास) के अनुभव का कारण होने के कारण इसे क्रिया कहते हैं ॥ ८ ॥ बड़वाग्नि की ज्वाला की तरह सोखने-वाली होने के कारण इसे शुष्का कहते हैं। क्रोध के कारण चण्डिका और कमलवर्ण होने के कारण उत्पला कहते हैं ॥ ९ ॥ इत्यादि"

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्त्यपरमार्थतः ।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः[1] ॥
पावकस्योष्णतेवायं भास्करस्येववीधितिः ।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवायं शिवस्य सहजा शिवा[2] ॥
ब्रह्मणोऽभिन्नशक्तिस्तु ब्रह्मैव खलुनापरा ।
तथा सति वृथा प्रोक्तं शक्तिरित्यविवेकिभिः ॥
शक्तिशक्तिमतो विद्वन्! भेदाभेदस्तु दुर्घटः[3] ॥

"शक्ति और शक्तिमान् में भेद कहना सच नहीं है। तत्त्वचिन्तक योगी इसमें अभेद (भेद नहीं) पाते हैं। आग के ताप, सूर्य की किरण और चन्द्र की चन्द्रिका की तरह, शिवा शिव का स्वभाव है। ब्रह्म की अभिन्न शक्ति ब्रह्म ही है, कोई दूसरी नहीं। ऐसी स्थिति में अविवेकियों ने वृथा ही 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया। शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद दुर्घट है।"

निष्क्रिय ब्रह्म का ही सक्रिय रूप माया है। निराकार ब्रह्म जब स्वभाव से, अपनी इच्छा से, अपनी मनःशक्ति से आकार ग्रहण करता है तो उसे माया कहते हैं। इसलिये तत्त्वज्ञों ने माया और मायिन् में कोई भेद नहीं देखा।

---

१. ललिता सहस्रनाम (सौभाग्यभास्कर भाष्य) निर्णयसागर प्रेस, १९३५ ई०, पृ० ६५।
२. तत्रैव—पृ० ३६।
३. तत्रैव—पृ० ११५। (सौरसंहिता से उद्धृत)।

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ॥
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिँश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्[१] ॥

छन्द, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भव्य इत्यादि वेद जिसकी बातें कहते हैं, उसी (अक्षर) से मायी विश्व की सृष्टि करता है। उसी में सभी माया से बँधे हैं। प्रकृति को माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायी। इसका (महेश्वर का) अवयव बनी हुई सृष्टि से यह सारा संसार परिव्याप्त है[२] ॥

माया को लेकर विद्वानों ने बहुत बड़ी वितण्डा खड़ी कर दी है। इसके दो कारण हो सकते हैं। (१) मूलावस्था में शब्दकारों ने धातु-प्रत्यय के प्रयोग से, जिस निश्चित अर्थ को प्रकाशित करने के लिए ऐसे शब्दों का निर्माण किया, पीछे के लोग उनसे बहुत दूर पड़ते गये और उन शब्दों के अर्थ-सम्बन्धी उनके भाव धुँधले होते गये। अन्त में अपने पाण्डित्य के बल से वे मनमाने अर्थ पर उतर आये। (२) भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों ने अपने मतों को परिपुष्ट करने के लिए मनमाना अर्थ किया। इससे स्पष्ट अर्थ भी विकृत हो गये। पौराणिकों ने मूलार्थ की रक्षा की है और उनके भाव स्पष्ट हैं। बोध होता है, इसी परिस्थिति की कल्पना कर वेदव्यास जैसे तत्त्वज्ञों ने कहा था—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति[३] ॥

"जो ब्राह्मण, उपनिषत् और अङ्गसहित चारों वेदों को जानता है, किन्तु पुराणों को भलीभाँति नहीं जानता, वह विचक्षण नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञान (वेद) को इतिहास (रामायण और महाभारत) और पुराण (के अध्ययन और मनन) से परिपुष्ट करता रहे। कम पढ़ने और सुननेवालों से वेद डरते हैं कि यह (मुझे समझ तो सकेगा नहीं, उलटा) मेरे ऊपर प्रहार करेगा।"

माया के सम्बन्ध में आधुनिक दार्शनिकों के निम्नलिखित उद्धरण पठनीय हैं—

"माया का अर्थ है, जिससे नापा जाय अर्थात् सीमाबद्ध किया जाय—'मीयते अनया इति माया'। वह क्रिया जो निराकार को साकार करती है। कोई इसका अर्थ करते

१. श्वेताश्वतरोपनिषत्। ४. ९, १०।
२. यह दिक्काल-प्रकरण में और भी अधिक स्पष्ट होगा।
३. ब्रह्माण्डपुराण (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः ; पूना)—१·६, २४५·६, २१, २७, ३१। वायुपुराण (आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलिः ; पूना)—शाके १८२७। १०४·२१।

है—मा (नहीं) या (जो) अर्थात् जो निर्गुण निराकार सत् नहीं है[१] ।"

"माया अर्थात् परम सत् का किञ्चित्मात्र भी संकोच का प्रथम स्पर्श इसे काल और (दिश् वा आकाश ?) शून्य में निक्षेप के लिए यथेष्ट है; यद्यपि यह 'टाइम्स' और 'स्पेस' उस परम संकोच और चिरन्तनता के जितना निकट होना सम्भव है, उतना निकट होगा। परम सत् किसी शून्य (space) में वर्तमान, सृष्टि करनेवाले ईश्वर (गोड) में परिवर्त्तित हो जाता है, जो अपने स्थान से बिना हिले भीतर से ही सभी वस्तुओं को गतिशील बनाता रहता है। ईश्वर (गोड) कोई वस्तु और कहीं पर है, जो वस्तु बना हुआ परम सत् है। यह एकशक्ति (spirit) है जो सभी वस्तुओं के भीतर घुस जाती है। यह है—सत्-असत्, ब्रह्म-माया, कर्तृ-कर्म, चिरन्तन शक्ति, 'अरिस्टॉटल' का स्थिर चलानेवाला, 'हेगेल' की परमशक्ति, 'रामानुज' का विशिष्टाद्वैत, और जो विश्व का कारण है। विश्व अनादि और अनन्त है; क्योंकि ईश्वर की शक्ति के विकास का कभी न आरम्भ हो सकता है और न अन्त। सर्वदा चंचल रहना इसका स्वभाव है[२] ।"

'सर जॉन' माया शब्द की व्युत्पत्ति का सहारा लेकर मूल भाव तक पहुँचे हैं; किन्तु 'श्री राधाकृष्णन्' यथार्थ के आस पास चक्कर काटते दिखाई पड़ते हैं। ये कहते हैं कि यह 'टाइम' और 'स्पेस' में फेंका जाता है। 'यह' (it) से यह स्पष्ट नहीं होता है कि यह माया है अथवा सत् (Being) है। इससे यह भी बोध होता है कि 'टाइम' और 'स्पेस' सत् और माया से भिन्न वस्तुएँ हैं जिनमें इन दोनों में से कोई एक फेंका जाता है और जो परम संकोच और चिरन्तनता के अत्यन्त निकट होगा। इन तथा अन्यान्य उक्तियों से कोई निश्चित सिद्धान्त अथवा भाव स्पष्ट नहीं होता।

---

१. Maya means that by which a thing is 'measured'. That is 'limited' मीयते अनेन (अनया ?) इति माया, the principle, which imposes form on the formless. Some explain it as Mā (not) yā (that), i. e. that which is the contrary of the infinite That without attributes.

—Sir John Woodroff. World as Power, causality and continuity. Madras. 1923. Foot-note page. 31

२. The first touch of Maya, the slightest diminution of absolute being is enough to throw it into space and time, though this space and this time will be as near as possible to the absolute unextendedness and eternity. The absolute one is converted into the creator God existent in some space, moving all thing from within without stirring from his place. God is the absolute objectivised as something somewhere, a spirit that pushes itself into everything. He is being non-being, Brahma-Maya, Subject-object, eternal force, the Motionless mover of Aristotle, the Absolute spirit of Hegel, the Vishishtadvaita (Absolute relative) of Ramanuja, the efficient as well as the final cause of the universe. The world is beginningless and endless, since the energising of God could not have began and could never come to an end. It is its essential to be ever at unrest.

—Sir S. Radhakrishnan. Indian Philosophy. Vol. I., Page 39.

४. वाक्

वाक् शब्द वच् धातु से बनता है। वाक् से ध्वनि और सार्थक शब्द—दोनों का ही बोध होता है। अर्थ है—विषय, और उसके बोध होने को प्रत्यय कहते हैं। जैसे—गो का अर्थ अथवा विषय है—एक प्रकार का जन्तु ; और उसके रूप, रंग, गुण आदि का बोध होना प्रत्यय है। प्रत्येक विषय के तीन रूप होते हैं—पर, सूक्ष्म और स्थूल। भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों पर इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं—

पर (कारण)	सूक्ष्म	स्थूल
प्राज्ञ	तैजस्	विश्व
ईश्वर	हिरण्यगर्भ	विराट्
परा-पश्यन्ती	मध्यमा	वैखरी

'परा' वाक् कारण-रूप है। जब यह रूप ग्रहण करती हुई सूक्ष्मरूप मध्यमावस्था की ओर अभिमुख होती है तब इसका नाम 'पश्यन्ती' (देखती-दिखाती हुई) होता है। इस अवस्था में योगीजन दिव्य चक्षु से इसे देख सकते हैं। 'मध्यमा' वाक् ही हिरण्य-गर्भ शब्द है। इसी स्थिति में वाक्, मातृका-शब्द-रूप ग्रहण करती है। तत्पश्चात् स्थूल रूप ग्रहण कर 'वैखरी' नाम से, स्थूल ध्वनि अर्थात् कण्ठरव के रूप में प्रकट होती है।

निष्क्रिय ब्रह्म के, परमात्मा, परशिव, परमशिव, पराशक्ति, परमाशक्ति, अव्याकृता प्रकृति आदि नाम हैं। निष्क्रियावस्था में यह अशब्द, निर्विषय और प्रत्यय-हीन रहता है ; किन्तु सक्रियावस्था में यह शब्द, अर्थ और प्रत्यय-रूप ग्रहण करता है। निष्क्रिय ब्रह्म की अनंत शान्ति में, इसकी स्वेच्छा से, इसमें शक्ति का स्फुरण अथवा स्पन्दन आरम्भ होता है। इससे नाद उत्पन्न होता है और घनीभूत शक्ति ही बिन्दु रूप ग्रहण करती है और इसका प्रसार होने लगता है अर्थात् सृष्टि-कल्पना का विस्तार होने लगता है। शक्ति की यह लीला चेतना के विस्तार (चिदाकाश) में होने लगती है। स्पन्दन के साथ-साथ, ध्वनि और बिन्दु उत्पन्न होते हैं। स्पन्दन के अनन्त होने के कारण ध्वनि और रूप भी अनन्त हैं। इस स्पन्दन की ध्वनि का परिणत वा परिपक्व रूप, शब्दब्रह्म अथवा वेद है। इसकी मध्यमावस्था में पचास ध्वनि, पचास मातृकावर्ण (अ से क्ष तक) की ध्वनि के रूप में प्रकट होकर वैखरी रूप में श्रुतिगोचर होती हैं। इनके कल्याणमय और प्रपंच तथा परमार्थसिद्धिप्रद होने के कारण, तत्त्वज्ञ इन्हें मातृका (प्यारी मैया) कहते हैं—

> शब्दराशेर्भैरवस्य यानुच्छूनतयान्तरी।
> सा मातेव भविष्यत्वात् तेनासौ मातृकोदिता॥
> अनुच्छूनतया भविष्यत्वात्[1] ॥

"शब्दराशि भैरव (शब्दब्रह्म) के अन्तर्गत (अन्तरी) शक्ति, निस्पन्द होने के कारण (अनुच्छूनतया) माता की तरह होनेवाली है। अर्थात् संसार को उत्पन्न करनेवाली है, इसीलिए इसे मातृका (मैया) कहा गया है।"

---

१. तन्त्रालोकः (काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः), श्रीनगर। १६२२, चतुर्थो भागः। Vol. IX, 1938, आह्निक १५।

परा-शक्ति अथवा परब्रह्म की इन पचास ध्वनि-वर्ण-रूप आत्मशक्ति की ही, ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूपों में, विभिन्न प्रकार की मात्राओं के रूप में परिकल्पना की जाती है। शैव और शाक्त-रूप में इसे 'मुण्डमाल' और वैष्णव बौद्ध तथा अन्य मार्गों में, इसे 'पद्ममाल' कहते हैं। यह सारी सृष्टि का प्रतीक है। आनन्दमय ब्रह्म का उल्लास[1] ही वाक्प्रवर्तन का कारण है। जब यह उल्लास अपने उद्गम-स्थान में लीन होने लगता है, तब उसके साथ मातृका या सारी सृष्टि परावाक् (अर्थात् कूटस्थ ब्रह्म) में विलीन हो जाती है। इसी का नाम महाप्रलय है।

तत्त्वज्ञों का कहना है कि ब्रह्म के अनन्त विस्तार में, शक्ति-स्फुरण और शक्ति-संकोच अर्थात् सृष्टि और प्रलय का कार्य चलता रहता है। जिस समय एक ब्रह्माण्ड विलीन होता रहता है, उस समय दूसरा प्रकट होता रहता है। इसका उदाहरण समुद्र से दिया जाता है। स्थिर समुद्र में किसी कारण से चंचलता उत्पन्न होती है और तरंग उठती है। इसके ऊपर बहुत-से फेन और बुलबुले प्रकट होते हैं। कुछ काल तक स्थिर रहकर फेन और बुलबुलों को लेती हुई तरंग पुनः सागर में लीन हो जाती है। जब एक तरंग उठती रहती है, तब दूसरी लीन होती रहती है। ब्राह्म-समुद्र में सृष्टि और प्रलय का यह क्रम निरन्तर-रूप से चलता रहता है।

ब्रह्म की इस स्पन्दन-क्रिया में नाना प्रकार की ध्वनियाँ उठती रहती हैं। उनमें सबसे व्यापक ध्वनि 'ॐ' है। यह अत्यन्त शक्तिशाली, परम पवित्र और स्वयं ब्रह्म-स्वरूप है और वेदों का मूल है। इसी प्रकार 'हूँ', 'ह्रीं'[2] आदि शक्तिशालिनी शुद्ध चेतनामयी ध्वनियों का उत्थान होता रहता है, जिनके भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं।

वैदिक और पौराणिक साहित्य में 'वाक' के इस स्वरूप का विस्तृत विवरण पाया जाता है—

"प्रजापतिर्वै इदमासीत्। तस्य वाग्द्वितीयासीत्। वाग्वै परमं ब्रह्म।"

"आरम्भ में केवल प्रजापति थे। उनके साथ वाक् थी। वाक् ही परम ब्रह्म है।"

यहाँ वाक् और ब्रह्म को अभिन्न माना गया है।

"प्रजापतिर्वै इदमासीत्। तस्य वाग्द्वितीयासीत्। तं मिथुनमभवत्। सा गर्भमधत्त। सा अस्मात् अपक्रामत्। सा इमाः प्रजाः असृजत। सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत्[3] ॥

"पहले केवल प्रजापति थे। उनके साथ वाक् थी। उनका संग हुआ। उसने गर्भ धारण किया। वह इससे (ब्रह्म से) निकल पड़ी। उसने जीव-जगत् की सृष्टि की। फिर वह प्रजापति में प्रवेश कर गई।"

उपनिषदों में इस अलंकृत उक्ति को और भी स्पष्ट किया गया है—

"स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्[4]।"

---

१. शाक्त दर्शन में इसे इच्छा और क्रिया-शक्ति कहते हैं।

२. तान्त्रिक भाषा में इन्हें 'बीज' कहते हैं। ये बहुत-सी क्रियाओं के कारण अर्थात् बीज हैं, इसलिए इनका नाम 'बीज' है।

३. काठक०, १२.५। २७.१

४. बृहदारण्यक०, २.४।

"उसने मनसा (मन द्वारा) वाक् का संग किया अर्थात् अपनी इच्छाशक्ति से वाक् में क्रिया या गति उत्पन्न की।"

"यस्येच्छा लोके प्रजापतिर्लोके यस्मै वासि तस्मै वासीत् यद्वा संजातं यत्सर्वमीशमाशिषे स्वाहा।"

"यस्य परमात्मन: इच्छा लोके प्रजानाम् आयतिः सृष्ट्यादिकं सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय इत्यादि श्रुतेः। मनसैव जगत्सृष्टिसंहारौ करोति यः तस्यां पचपयो क्रियान् विस्तर इति लोके[1] ॥

"जिसकी इच्छा ही संसार में प्रजा की आयति (सृष्टि का विस्तार) करती है। जो है, था और होगा; जो सबका शासनकर्त्ता है, उसे नमस्कार है। अर्थात् केवल उसकी मानसिक इच्छा से सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रिया होती है।"

जो परब्रह्म की इच्छा को जन्तुओं की शारीरिक क्रियाएँ समझ कर, पुराणों की 'ब्रह्मा का कन्या-गमन' इत्यादि कथा का पशु-धर्मवाला अर्थ लगाते हैं, उनकी भ्रान्ति हटाने के लिए कहा गया है—

"न भूतसंघसंस्थानं देवस्य परमात्मनः।
न तस्य प्राकृता मूर्त्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्मिता ॥
सर्वभूतमयं देहं त्रैलोक्ये सर्वजन्तुषु[2] ॥"

"देव परमात्मा का आधार पञ्चतत्त्वों का समूह नहीं है और न मांस, चर्बी और हड्डीवाली, उनकी संसारी प्राणियोंवाली मूर्ति ही है। सभी तत्त्वों और सभी जीवों के भीतर तीनों लोकों में काम करनेवाली उनकी शक्ति ही उनका रूप है।"

वैदिक वाङ्मय में इसी भाव को नाना रूप से प्रकट किया गया है—

"स उ एव बृहस्पतिर्वाग्वैबृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः[3] ॥"

"वही बृहस्पति है। वाक् बृहती है, यह उसका अधीश्वर है, इसलिए बृहस्पति है।"

"एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः[4] ॥"

"यही ब्रह्मणस्पति है। वाक् ब्रह्म है; उसका यह पति है, इसलिए यह ब्रह्मणस्पति है।"

"गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च[5] ॥"

"यह जो कुछ है, वह सब गायत्री है। वाक् ही गायत्री है। वाक् ही इस सारी सृष्टि को प्रकट करती है (गायति) और उसकी रक्षा करती है।" शतपथ ब्राह्मण पञ्चविंश ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषत्, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों

१. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास) सन् १९३३। परमात्मिकोपनिषत्—पृ० २०६-७। श्लोक ८।
२. अप्रकाशिता उपनिषदः। मद्रास—१९३३। परमात्मिकोपनिषत्—पृ० २०३।
३. बृहदारण्यकोपनिषत्—अध्याय १, ब्राह्मण ३, श्लोक २०।
४. तत्रैव—१.३.२१।
५. छान्दोग्योपनिषत्—३.१२.१।

में ये ही वाक्य और ये ही भाव बार-बार दुहराये गये हैं। पुराणों ने भी इसका अनुमोदन किया है—

"शब्दब्रह्म परं ब्रह्म नानयोर्भेद इष्यते।
लये तु एकमेवेदं सृष्टौ भेदः प्रवर्त्तते॥
अन्योन्यापेक्षिणौ भूप शब्दार्थौ हि परस्परम्।
अर्थाभावे न शब्दोऽस्ति शब्दाभावे न बुध्यते[1]॥"

"शब्दब्रह्म और परब्रह्म में कोई भेद नहीं है। लयकाल में यह एक ही है। सृष्टि में (दोनों में) भेद होता है। शब्द और अर्थ एक दूसरे पर आश्रित हैं। अर्थ नहीं रहने से शब्द नहीं है और शब्द नहीं रहने से कुछ बोध नहीं हो सकता।"

कोषग्रन्थों में भी वाक् के नाम ब्राह्मी, ब्रह्मशक्ति सरस्वती इत्यादि हैं।

सरस्वती का अर्थ है—गतिवाली।[2] अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्म की स्पन्दन-शक्ति या क्रिया-शक्ति।

५. काल

काल शब्द से, साधारणतः, पल-विपल, दिन-रात, शताब्दी-सहस्राब्दी आदि का बोध होता है। अंग्रेजी शब्द 'टाइम' से भी यही बोध होता है। किन्तु यह कालमान या काल के नापने की रीति है, यह स्वयं काल नहीं है। जिस प्रकार धरती नापने का मानदण्ड भूमि नहीं है, उसी प्रकार कालमान काल नहीं है।

यूरोप के दार्शनिक और जड़ विज्ञानवेत्ता भी इस विषय पर चुप हैं। वे कालमान को ही 'टाइम' अथवा 'त्साइट' (Zeit) कहते हैं। कालतत्त्व पर उन्होंने अपना कोई मत प्रकट नहीं किया है।

कालमान को यदि काल मान लिया जाय तो नाना प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता है। कालमान का प्रथम आधार प्रकाश और अन्धकार है। प्रकाश को दिन और अन्धकार को रात कहा जाता है। फिर इसके घंटा, मिनट आदि में विभाग किये जाते हैं। मेरीडियन रेखा जो भारत में उज्जयिनी और यूरोप में ग्रिनविच से खींची जाती है, उसके आधार पर दिन-रात को चौबीस घंटों में विभक्तकर काल-गणना की जाती है। किन्तु यह रेखा भी सर्वथा कल्पित है। इसका किसी निश्चित तत्त्व से सम्बन्ध नहीं है।

भारतीय दर्शन के अनुसार काल एक द्रव्य अथवा तत्त्व है।

"पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि[3]।"

"पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन—ये द्रव्य हैं।" इस भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"अपरस्मिन् अपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि[4]।"

---

१. स्कन्दपुराण (विष्णुखण्ड)—२८.४०,४१।
२. सरस्=गति। सृ गतौ+असुन् औणादिक। सरस्+वती=गतिवाली, गतिशीला।
३. वैशेषिक सूत्र, १.५
४. तत्रैव, २.६

"ये काल के चिह्न हैं—परले पदार्थों में आगे होनेवाले का बोध कराना; एक साथ, देर से और शीघ्र होने का बोध कराना।"

"नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति[1]।"

"नित्य (परमात्मा) में नहीं रहने के कारण, अनित्य (सृष्टि) में रहने के कारण, कारण को काल कहते हैं।"

इन उक्तियों से काल के लिङ्ग (चिह्न) और आख्या (नाम) का बोध होता है, इसके यथार्थ रूप का नहीं।

न्याय के मत से—उत्पन्न होने योग्य वस्तु को उत्पन्न करनेवाला—काल है[2], किन्तु साधारण बुद्धि से, उत्पन्न होने योग्य वस्तु को उत्पन्न करनेवाला भगवान् है। इसलिये इससे भी यथार्थ तत्त्व का बोध नहीं होता है।

वेद, महाभारत और पुराणों में इसका विस्तृत विवरण मिलता है—

"कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वितिष्ठते॥
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
कालादापः समभवन्[3]॥"

"काल ने इस द्युलोक और इन पृथ्वियों को उत्पन्न किया। काल में भूत, वर्तमान (इषित) और भविष्य सभी स्थित हैं। काल ने प्रजाओं की रचना की। प्रजापति से पहले काल था। काल से अप् उत्पन्न हुई।"

"कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे।
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः॥
संहरन्तं प्रजा कालं कालः शमयते पुनः।
कालो विकुरुते भावान् सर्वांल्लोके शुभाशुभान्॥
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजाः विसृजते पुनः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः।
अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम्।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां[4] हातुमर्हसि[5]॥"

"सृष्टि-संहार, सुख-असुख—इन सबके मूल में काल है। काल प्रजा (अव्यक्त महदादि) की सृष्टि करता है। सृष्टि का संहार करते हुए काल को काल ही शान्त करता है। सृष्टि में काल ही सभी शुभाशुभ भावों में परिवर्त्तन करता है। काल

१. वैशेषिक सूत्र, २.६।
२. जन्यानां जनकः कालः—न्यायमुक्तावली।
३. अथर्व वेद, १६, ५३, ५ और १० एवं १६, ५४, १।
४. संज्ञा—ज्ञाननिष्ठा (नीलकण्ठ) = होशहवास।
५. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय—१, श्लोक—२७२-२७६।

सारी सृष्टि को समेटता है और इसका संहार करता है। जब सभी सोये रहते हैं, काल जगता रहता है। यह एक-सा (आत्मा की तरह) अबाध गति से घूमता रहता है। भूत, भविष्य और वर्तमान—सारी सृष्टि को काल-निर्मित समझकर व्याकुल न होना चाहिये।"

इन उक्तियों का भाव है कि काल एक शक्ति है, जिसका कार्य सृष्टि और संहार करना, अर्थात् बनाना और बिगाड़ना है।

> "अनादि भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।
> अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः॥
> स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तम।
> स संकोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः[१]॥"

"हे द्विज! भगवान् काल का आदि-अन्त नहीं है। उनके द्वारा ही सृष्टि, स्थिति और संहार का नियम निरन्तर चल रहा है। हे पुरुषोत्तम! वे ही क्षोभ्य और क्षोभक हैं एवं संकोच-विकासद्वारा प्रधान (महत् या प्रकृति) का काम कर रहे हैं।"

इसका सारांश यह है कि काल एक निरन्तर गतिशील शक्ति है, जो स्वयं गतिशील रहता है और सबको गतिमान् बनाये रहता है। सृष्टि में संकोच और विकास अर्थात्, ह्रास और वृद्धि, जन्म और मरण इसका धर्म है। श्रीमद्भागवत में भी काल का विस्तृत विवरण है—

> "भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु।
> विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा[२]॥
> रूपमेवास्यदं विश्वं काल इत्यभिधीयते।
> भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम्॥
> योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः।
> स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः॥
> न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
> आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत्॥
> यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
> यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्॥
> यद्वनस्पतयो भीताः लताश्चौषधिभिः सह।
> स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च॥
> स्रवन्ति सरितो भीताः नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
> अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्॥
> नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः।
> लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम्॥
> गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात्।
> वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम्॥

१. विष्णु पुराण (जीवानन्द); कलकत्ता; १.२.२६—३१।
२. श्रीमद्भागवत, ३.११.१७।

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।
जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तकम्[1] ॥"

"नाना रूपों का दिव्य आधार काल कहलाता है। महदादि और भिन्न दृष्टिवाले सभी जीव इससे त्रस्त रहते हैं। जो (काल) सबका आधार है, वह सब जीवों में प्रवेश कर जीवों द्वारा ही जीवों को खाता है। उसीका नाम विष्णु (सर्वव्यापी) है। वही यज्ञों का अधिष्ठाता है और समेटनेवालों में सबसे प्रबल काल है। इसका न कोई प्रिय है, न द्वेष्य है और न कोई बन्धु (अपना) है। अन्त करनेवाला यह असावधान लोगों में निरन्तर प्रवेश करता रहता है। जिसके भय से यह वायु बहता रहता है, जिसके डर से सूर्य गर्मी देता है, जिसके भय से मेघ बरसता है, जिसके भय से नक्षत्र चमकते हैं, जिसके भय से लता-ओषधि सहित वनस्पति भीत हैं और अपने-अपने समय पर फूल और फल ग्रहण करते हैं, जिसके भय से नदियाँ बहती हैं, समुद्र सीमा से बाहर नहीं जाता, जिसके डर से आग जलती है, और पर्वत समेत पृथ्वी डूब नहीं जाती, यह आकाश, जिसके डर से श्वास लेनेवालों को स्थान देता है, महान् और सातों लोकों से आवृत लोक अपनी देह को फैलाते हैं और जिसके भय से चराचर जगत् को वश में रखनेवाले गुणाभिमानी देवगण (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), युगानुसार सृष्टि इत्यादि में लगे रहते हैं, वह अन्त करनेवाला अनन्त काल है। वह अनादि और अव्यय है एवं सबका आदिकृत् (प्रवर्त्तक) है। लोगों से लोगों की उत्पत्ति कराता है और मारनेवाले को भी मृत्यु द्वारा मारता रहता है।"

इस विवरण के अलंकारों को छोड़ देने पर इसका सारांश इस प्रकार होगा— काल एक शक्ति है जो अनन्त और सर्वव्यापी है। यह नाम-रूपात्मक जगत् में सबसे शक्तिशाली है और सब में व्याप्त है। यह सबको गतिशील रखता है। कोई चाहे भी तो यह उसे स्थिर नहीं रहने देता, चाहे वे ब्रह्मा, विष्णु या कोई कीड़ा ही क्यों न हो। यह सबको आगे बढ़ाता है और समेट लेता है। अर्थात् यह गतिशक्ति है जो सृष्टि में सभी वस्तुओं को उत्पत्ति की ओर चलाती है, उन्हें परिपक्वावस्था में पहुँचाती है और फिर समेट लेती है। जो आज अङ्कुर है, वह कल्ह पौधा होगा, फूलेगा, फलेगा, पुराना पड़ेगा और लुप्त हो जायगा। जो आज गर्भस्थ है, वह कल्ह भूमिष्ठ होगा; बाल, किशोर, युवा और वृद्ध होगा तथा लुप्त हो जायगा। यही दशा नाम-रूप के भीतर आनेवाले सभी पदार्थों की तरह ब्रह्मा, विष्णु आदि की भी होगी।

काल परमात्मा की इच्छा और क्रिया-शक्ति का सम्मिलित रूप है। इच्छा होना ही क्रिया का प्रवर्त्तन है। इसलिए परमात्मा की गति-शक्ति, जिसका नाम काल है, वह उसकी इच्छा और क्रिया-शक्ति है।

"क्रमाक्रमात्मा कालश्च सर्वः (परः) संविदि वर्त्तते।
कालो नाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते[2] ॥

१. श्रीमद्भागवत, ३.२९.३७—४५।

२. अभिनवगुप्तकृततन्त्रालोक:; काश्मीर संस्कृतग्रन्थावलि: (श्रीनगर); १६२२; चतुर्थो भाग: आह्निक ६। श्लोक ७।

तत्त्वमध्यस्थितात् कालादन्योऽयंकाल उच्यते ।
एष कालो हि देवस्य विश्वाभासनकारिणी ॥
क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः ।
एतदीश्वरतत्त्वं तच्छिवस्य वपुरुच्यते ॥
एतदीश्वररूपत्वं परमात्मनि यत्किल ।
तत्प्रमातरि मायीये कालतत्त्वं निगद्यते[1] ॥"

"क्रम और अक्रमवाला काल संवित् (चेतना) के अन्तर्गत है। देव की उसी पराशक्ति (काल) का नाम काली है। तत्त्व के भीतर काम करनेवाले काल से यह काल भिन्न है। यह काल, देव की क्रियाशक्ति है, जो सभी तत्त्वों को शरीर और विश्व को रूप प्रदान करनेवाली है। यही ईश्वर-तत्त्व है और इसे ही शिव का शरीर कहते हैं। यह जो प्रमाता, मायावान्, परमात्मा में ईश्वररूप है, उसी को कालतत्त्व कहते हैं।"

"विवर्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः[2] ॥"

"जगत्-जाल को लगातार उलट-पुलट करता रहनेवाला काल इसका द्वारपाल है।"

"कलाकाष्ठादिरूपेण[3] परिणामप्रदायिनि ।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तु ते[4] ॥"

"कला, काष्ठा आदि के रूप में जो विश्व को परिणाम (परिणत अर्थात् परिपक्वावस्था) प्रदान करती है और उसे समेट ले सकती है, उस (काल-स्वरूपिणी) नारायणी को प्रणाम है।"

यहाँ परिणाम और उपरति काल के धर्म कहे गये हैं, जिन्हें विष्णु पुराण में विकास-संकोच और महाभारत में विक्षेप-संक्षेप कहा गया है।

जैन दर्शन में काल की परिभाषा इस प्रकार है—

"वर्तनापरिणामक्रियाः परापरत्वे च कालस्य[5] ।"

वर्त्तना (लगातार होते रहना), परिणाम (परिणत करना) की क्रिया, पर-अपरत्व (आगे-पीछे होने का बोध कराना)—ये काल के धर्म हैं।

इसमें 'योगवासिष्ठ' का 'विवर्तितजगज्जालः' 'मार्कण्डेय पुराण' का 'परिणाम-प्रदायिनी' और परापरत्व में 'अभिनवगुप्त' का 'क्रमाक्रमात्माकालः' सम्मिलित है; किन्तु मार्कण्डेय पुराण की 'उपरति' क्रिया छूट गई है। इन बिखरे हुए शब्दों और भावों को एकत्र करने से इसका रूप होगा—

विवर्तन, परिणाम और उपरति रूप में कार्य करनेवाली विभु की गति-शक्ति का नाम काल है। वह पर-अपर अर्थात् क्रम-अक्रम का बोध कराता है।

---

१. अभिनवगुप्तप्रकृततन्त्रालोकः; काश्मीर संस्कृतग्रन्थावलिः (श्रीनगर); १९२२; चतुर्थो भागः। श्लोक ३८-४०।

२. योगवासिष्ठ (बम्बई); निर्वाण प्रकरण, पूर्वार्ध, ३८-१६।

३. कलाकाष्ठादि काल के सूक्ष्म विभाग हैं।

४. दुर्गासप्तशती—११.८

५. उमास्वामी। तत्त्वाधिगमसूत्र, ५.२२।

काल और समय शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ भी यही है। काल, कल धातु से बनता है और प्रेरण, क्षेप, गति और संस्थान के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। जो स्वयं गतियुक्त रहे, सबको चलाता रहे, किसी को स्थिर न रहने दे, उसे काल कहते हैं। समय[1] 'इ' धातु से बनता है। 'इ' का अर्थ है गति। जो बराबर गतिमान् रहे, अर्थात् चलता-चलाता रहे, उसे समय कहते हैं।

काल और दिक् के सम्बन्ध में सर जॉन उडरफ का मत है—

"न्याय-वैशेषिक—आत्मा, मन, परमाणु और आकाश में—काल को भी जोड़ता है। जो हिन्दुओं के साधारण मतानुसार विश्वव्यापिनी गतिशक्ति है, जो वस्तुओं को उत्पन्न करती है, उनमें परिवर्तन लाती है और उन्हें समेट लेती है। इस प्रकार देखनेवालों में यह समय की भावना उत्पन्न करती है। दिक् वह शक्ति है, जो काल की गति-शक्ति के विरुद्ध, वस्तुओं को, अपने-अपने सापेक्ष स्थानों में 'यहाँ-वहाँ' 'दूर-निकट' अवकाश में स्थिर रखती है। इस पद्धति में काल और दिक् केवल भावना-मात्र नहीं हैं। वे द्रव्य हैं, अर्थात् ऐसी कोई वस्तु हैं जो यथार्थ तत्त्व हैं और जिनकी स्वतन्त्र सत्ता है[2]।

"पादटिप्पणी—'पाञ्चरात्रतन्त्र' में भी काल को एक अव्यक्त शक्ति कहा गया है, जो सभी वस्तुओं को चलाती रहती है और परिणत वा परिपक्व करती रहती है। यह तीन प्रकार की है—पर, सूक्ष्म और स्थूल। अपरोक्ष काल की उत्पत्ति का पता वेद से लगता है

१. सम् + इ + अच् = सम्यक् पतीति = समयः। इण् गतौ (पचाद्यच्)

२. To these (आत्मा, मन, परमाणु, आकाश) it (न्याय-वैशेषिक) addsKāla, the principle of universal movement bringing according to general Hindu ideas—things into existence, subjecting them to change and carrying them out of existence, giving rise in the percipient to the notions of time : and Dik the principle which notwithstanding the impulse of the former, holds things together in their various relative positions as "here and there", "near and far" in Space. In this system, however, neither Time nor Space are mere notions. They are Dravya or Entities, that is something that is independently real and self-subsisting.

Foot-note—In the Panchratra Tantras also time is defined "as the mysterious power, which urges on and matures everything." It is three-fold as Supreme, Subtle, Gross. Transcendental time is traced back to Veda and is referred to in the saying कालः काले नयति माम् Time leads me in time. This is अखण्डकाल or time without sections.

The World as Power : Reality, Madras; 1953; Page—46.

According to the Nyaya-Vaisheshika Darshan, Kāla is a general principle of movement and Dik is a power which acts in exactly a contrary way, that is, by holding things together in a particular position. It is not space in the sense of room and is in the nature of spatial direction.

Foot-note—This is Ākāsh in which Dik operates. Space as extension or locus of finite body (स्थित्याधार) is called देश*। — Ibid, Page—47.

*दिक्प्रकरण में इसपर विचार किया जायगा।

और कहा जाता है कि—कालः काले नयति माम्—काल मुझको काल में ले जाता है। यह अखण्ड काल है।"

"न्याय-वैशेषिक दर्शन के मतानुसार काल एक गत्यात्मक शक्ति है और दिक् एक शक्ति है जो विपरीत रीति से काम करती है; अर्थात् किसी विशेष स्थिति में वस्तुओं को स्थिर रखती है। अवकाश के अर्थ में आया हुआ 'स्पेस' इसका अर्थ नहीं है। इसका अर्थ है—अवकाश में उद्देश्य।"

"पाद-टिप्पणी—आकाश में दिक् के कार्य होते हैं। स्थित्याधार का नाम ही देश है[1]।

काल—गति की साधारण शक्ति। दिक्—वस्तुओं को एकत्र रखनेवाली शक्ति।[1]

संगृहीत सार

ज्ञानेच्छा क्रियात्मक विभु की क्रिया-शक्ति के दो प्रधान रूप हैं—गति और स्थिति[2]।

गत्यात्मक शक्ति का नाम काल है। यह स्वयं गतिशील रहता है और सारी सृष्टि में किसी को स्थिर नहीं रहने देता। सबको विकास द्वारा, परिणत या परिपक्वावस्था में पहुँचाकर उन्हें समेट लेता है। इसकी क्रिया का यही स्वभाव है। इसलिये सारी सृष्टि विवश होकर इसके वश में पड़ी हुई है और इसकी निरपेक्ष क्रियाशीलता से त्रस्त रहती है; क्योंकि अपनी अबाध गति में यह, छोटे-बड़े और अच्छे-बुरे, किसी का विचार नहीं करता। इसके चक्कर या लपेट में सारी सृष्टि पड़ी हुई है। इसलिए चक्र[3] या नाग[4] के रूप में इसके प्रतीक की कल्पना की जाती है।

क्रियाशक्ति या शक्ति का आश्रय और उद्गम स्थान परमात्मा है। जब तत्त्वों के भीतर संकुचित वा लघुरूपों में उसकी क्रिया-शक्ति काम करती है, तो उसका नाम काल वा काली है; किन्तु समस्त क्रिया-शक्ति के रूप में वह स्वयं महाकाल वा महाकाली है, जिससे निकलकर लघुकाल के असंख्य रूप भिन्न-भिन्न तत्त्वों और भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डों में काम करते रहते हैं। इसलिए इसका नाम अनन्त है।

---

१. Kāla general principle of movement and Dik, a principle, which holds things together.

Power of Mind, Madras. 1922. Page—62.

२. दिक्प्रकरण में इसपर विचार किया जायगा।

३. एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्त्तते। महाभारत; विराट् पर्व, ५२·१।

४. लिङ्गं पुरुष इत्युक्तो योनिस्तु प्रकृतिः स्मृता।
नागः कालः समाख्यातः संबन्धस्तु तयोः द्वयोः॥

—प्राधानिक रहस्य की टीका में भुवनेश्वरी संहिता से उद्धृत।

पुरुष (ब्रह्म) का नामलिङ्ग और प्रकृति का नाम योनि है। नाग, काल है जो दोनों के सम्बन्ध का बोधक है। पुरुष और प्रकृति—दोनों निराकार शक्तियाँ हैं। लिङ्ग और योनि का भी इसी अर्थ में प्रयोग होता है। इन शब्दों का जन्तुओं के नर-नारी और जननेन्द्रियों के अर्थों में समझने से तत्त्वार्थ लुप्त हो जाते हैं और एक विचित्र बीभत्स दृश्य उपस्थित हो जाता है। पुरुष, प्रकृति और काल हैं—शक्तिमान्, शक्ति और उसकी गति है।

६. दिक्

काल के यथार्थ रूप के समझने में जो कठिनाई है, दिश् या दिक् के यथार्थ रूप के समझने में वही कठिनाई है। अंग्रेजी शब्द 'स्पेस' (space) को दिक् का पर्याय शब्द मानकर जब इसे समझने की चेष्टा की जाती है, तब यह और भी जटिल हो उठता है; क्योंकि दिश् और स्पेस की भावनाओं में मौलिक भेद है।

आकाश के अवकाश या शून्य स्थान को 'स्पेस' कहते हैं। साधारणतया लोग आकाश और 'स्पेस' को पर्यायवाची शब्द मानते हैं। बहुत-से दर्शनशास्त्र के पण्डित भी दिक् और आकाश में कोई भेद नहीं मानते। वे इन्हें एकार्थक शब्द मानते हैं, पर भारतीय दर्शन और पुराणों के अनुसार आकाश और दिक् दो भिन्न तत्त्व हैं। वैशेषिक ने आकाश और दिक् को दो भिन्न द्रव्य माना है[१]। श्रीमद्भागवत ने दिश् को एक शक्ति माना है। यह जड़ आकाश नहीं है। यह सृष्टि में काम करनेवाली अनेक शक्तियों में से एक है।

"देवा वैकारिका दश।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ॥[२]"

"दिक्, वायु, सूर्य, वरुण, अश्वी, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र—ये विकारोत्पन्न दस देव हैं।"

विकार का अर्थ है—परिवर्तन। कूटस्थ ब्रह्म में क्षोभ होने से सृष्टि-प्रवर्तन के लिए जो शक्तियाँ प्रकट होती हैं, दिक् उनमें से एक शक्ति है।

"दिशो वायुश्च सूर्यश्च वरुणश्चाश्विनावपि।
ज्ञानेन्द्रियाणां पञ्चानां पञ्चाधिष्ठातृदेवता[३] ॥"

"दिक्, वायु, सूर्य, वरुण और अश्वी—पाँच ज्ञानेन्द्रियों के ये पाँच देवता हैं।"

कोषकार भी दिक् और आकाश को एक नहीं मानते। अमरकोष की 'व्याख्या-सुधा' नामक टीका में भानुजी दीक्षित ने दिश् का अर्थ 'दिशति अवकाशम्' किया है, अर्थात् जो अवकाश को बतावे। इससे बोध होता है कि अवकाश को बतानेवाला और अवकाश दो हैं, एक नहीं।

'बौद्धधर्म-दर्शन में'[४] आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी दिक् पर विचार किया है। वे आकाश और अनन्त दिक् को पर्याय समझते हैं। फिर 'धर्मकीर्त्ति' के मतानुसार अर्थों[५] के देशस्थ होने को वे दिक् कहते हैं। आकाश का अवकाश और विषयों का देशस्थ[६] होना दो वस्तुएँ हैं। वहीं इसी प्रसंग में वे कहते हैं कि "दैशिक अर्थों की सन्तति का कोई कारण होना चाहिए, जो कालवर्ती भावों की परम्परा के सदृश हो........ दिक् से स्वतन्त्र एक आकाश है।"

---

१. पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशंकालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि—वैशेषिक सूत्र, १.५
२. श्रीमद्भागवत—३,५,३०।
३. तत्रैव—३,७,३५-३६।
४. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना। विक्रम संवत् २०१३। पृ० ५८५
५. अर्थ—विषय।
६. देशस्थ—स्थिर होना।

आचार्यजी ने यहाँ दिक् के मूलार्थ के निकट पहुँचने की चेष्टा की है। दिश् धातु का सीधा परिवर्तित रूप देश, इसका अन्वर्थक है। देश का अर्थ है स्थिति। इसलिए दिश् सृष्टि में काम करनेवाली स्थिति-शक्ति है। सृष्टिकार्य के लिए गति के साथ स्थिति आवश्यक है। यदि किसी प्राणी में भी केवल गति ही काम करती रहे तो उसके अवयव भी टूटकर छिटकते रहेंगे और कोई कार्य असम्भव हो जायगा। जगत् के कार्यों को सम्पादित करने के लिए अवयवों का एकत्र रहना उतना ही आवश्यक है जितना इनमें गति का रहना।

जिस तरह काल गति शक्ति है—किसीको स्थिर नहीं रहने देता, सबको चलाता रहता है—उसी तरह दिक् भी गति का अवरोध करती रहती है और सबको स्थिरता देती रहती है। इस गति और स्थिति की खींचाखींची में सृष्टि चक्कर काटती रहती है। यहाँ स्थिति-शक्ति दिक् है। प्रकृति-विकृति, साधु-असाधु, स्थावर-जंगम आदि की तरह दिक्काल विपरीतार्थबोधक युग्म शब्द है[1]।

७. गुण

दार्शनिक अर्थ में गुण कहने से रज, सत्त्व और तम का बोध होता है। विभु की क्रिया-शक्ति में प्रवर्त्तन का नाम रज, स्थिति का नाम सत्त्व और सिमटकर लय होने का नाम तम है। सृष्टि-क्रिया के प्रारम्भ का ही नाम माया है। यह क्रिया इन तीनों स्थितियों में उलटती-पुलटती रहती है। इसलिए इसे त्रिगुणात्मिका कहते हैं।

रजोगुण से सृष्टि-क्रिया का प्रवर्तन होता है, सत्त्वगुण से यह स्थिर रहती है और तमोगुण से इसका लय होता है। स्थिर सागर चंचल हो उठता है और जल, तरंग का रूप ग्रहण करता है, जिस पर फेन और बुलबुले निकल आते हैं। यह रजोगुण है। फेन और बुलबुलों के साथ तरंग की स्थिति सत्त्वगुण के कारण है और उसका फिर सागर में विलीन हो जाना तमोगुण का परिणाम है। अशेष कारण रूप चिदानन्द के विस्तार में, उसकी अपनी इच्छा से क्रिया उत्पन्न होती है और इसके तीन रूप होते हैं—बनना, बने रहना और बिगड़ जाना। क्रिया के इन तीन रूपों का नाम त्रिगुण है। अशेष कारण चिदानन्द जब अपने आनन्द में विभोर निष्पन्द पड़ा रहता है, तब उसे निष्क्रिय ब्रह्म कहा जाता है; किन्तु जब वह सृष्टि, स्थिति, विनाश की क्रिया में प्रवृत्त होता है तब वह सक्रिय ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म के इन सक्रिय और निष्क्रिय रूपों को नाना प्रकार की संज्ञा दी गई है—निर्गुण-सगुण, निष्क्रिय-सक्रिय, निष्कल-सकल, निराकार-साकार आदि। निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। यह एक ही वस्तु के दो नाममात्र हैं।

कला, साहित्य और उपासना—शास्त्र में इन सिद्धान्तों का बड़ी स्वच्छन्दता से प्रयोग किया गया है।

---

१. दिक् पर सर जॉन वडरफ का मत काल-प्रकरण में देखिये। काल के साथ उन्होंने दिक् की भी विवेचना की है।

८. धर्म

वर्तमान युग में, लोग, साधारणतः धर्म शब्द का अर्थ, मजहब, रेलिजन इत्यादि लगा लेते हैं और धर्म शब्द तथा इसके अर्थ में सन्निहित व्यापक सिद्धान्त को समझ नहीं पाते और जहाँ धर्म को शान्तिप्रद शक्ति के रूप में प्रकट होना चाहिए, वहाँ यह भ्रान्ति, घृणा और बड़े-बड़े उपद्रवों का कारण बन जाता है।

महाभारत, रामायण और पुराणादि प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों में यह सिद्धान्त रूप में पाया जाता है कि जब-जब धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होने लगती है तब-तब परमात्मा कोई रूप ग्रहणकर अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा या संस्थापना करते हैं। यदि धर्म का अर्थ 'रेलिजन' वा मजहब मान लिया जाय तो एक धर्मावलम्बी की वृद्धि के लिए, परमात्मा दूसरे धर्मवालों का, और दूसरे की वृद्धि के लिये, तीसरे का संहार करता रहे तो अल्प काल में ही सारी पृथ्वी मनुष्यों से सूनी हो जाय। (पशुओं से नहीं; क्योंकि पशुओं के साथ ऐसे धर्म का बखेड़ा नहीं है।) इस प्रकार समझने से धर्म के सिद्धान्त और उनके प्रचलित अर्थ मेल नहीं खाते।

धर्म की परिभाषा वैशेषिक और कर्ममीमांसा-सूत्रों में पाई जाती है—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः।[१] जिससे अभ्युदय (उन्नति) और उसके निःश्रेयस् (कल्याण) की सिद्धि हो, उसे धर्म कहते हैं, अर्थात् जो ऊपर उठाता जाय और उन्नति को बनाये रखे, कभी नीचे आने न दे, वही धर्म है। जैमिनि की परिभाषा है—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।[२] प्रेरणा ही जिसके प्रयोजन (अर्थ) का लक्षण है, उसे धर्म कहते हैं। अर्थात् जो आगे बढ़ने की ही प्रेरणा देता रहे (नीचे गिरने की नहीं), वही धर्म है।

यह एक बहुत बड़ा और व्यापक सिद्धान्त हुआ, जिससे धर्म के यथार्थ रूप का निश्चयात्मक बोध नहीं होता है। इसके व्यावहारिक रूप के विषय में मनु ने इसके लक्षण को इस प्रकार बताया है—

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥[३]"

"धृति (किसी भी परिस्थिति में न घबड़ाना), क्षमा (अपने तथा दूसरों के मन की चंचलताओं को यथार्थ रूप में देखना), दम (प्रलोभनों के रहते भी मन की दृढ़ता), अस्तेय (दूसरे की वस्तुओं को अग्राह्य समझना), शौच (आभ्यन्तरिक और बाह्य पवित्रता), इन्द्रिय-संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध (क्रोध न करना), ये दश धर्म के लक्षण हैं।"

किसी व्यक्ति-विशेष, समाज-विशेष या देश-विशेष के लिये ये नियम नहीं हैं। ये सार्वजनिक, सार्वभौम और चिरन्तन सिद्धान्त हैं, जो सृष्टि में विकास के कारण और आधार हैं।

---

१. वैशेषिकदर्शनम्—१·२। वैशेषिक धर्मविशेष को ही आदिकाल मानता है। वै० सू० १·४। बुद्ध का नाम धर्मराज है। ये सब एक ही सिद्धान्त के भिन्न नाम और रूप हैं।
२. पूर्वमीमांसादर्शनम्—१·२।
३. मनुस्मृतिः—६·९२।

दिक्कालादि की तरह, धर्म सृष्टि-क्रिया में काम करनेवाली एक शक्ति है, जिस पर लक्ष्यालक्ष्य सृष्टि स्थित है, अर्थात् धर्म के नियमों से ही सृष्टि में उत्पत्ति होती है, इसका विकास होता है और यह बनी रहती है। धर्म से इसकी स्थिति है और अ-धर्म (धर्म के नहीं रहने से) इसका नाश हो जाता है। मानव-समाज में भी ये ही नियम काम करते हैं। जो धर्म को अपना अवलम्ब बनाता है, उसे यह नीचे गिरने नहीं देता, ऊपर की ओर उठाये ही रहता है और उठाता जाता है। इसलिये कहा गया है कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः'—धर्म को बचाये रहने से अर्थात् धर्मानुसारी नियमों के अनुसार काम करते रहने से, धर्म रक्षा करता रहता है। गिरने नहीं देता।

धर्म का अर्थ 'रेलिजन' या मजहब करने से भ्रान्ति होती है। धर्म और 'रेलिजन' या मजहब की भावनाओं में बड़ा अन्तर है। 'रेलिजन' या मजहब का आधार, गॉड, खुदा या ईश्वर है। यदि गॉड या खुदा को निकाल दिया जाय तो रेलिजन आदि का अस्तित्व ही विपन्न हो जाता है। किन्तु ध्यान देने की बात है कि धर्म के सिद्धान्त में अथवा व्यावहारिक लक्षण में ईश्वर का नाम ही नहीं है। धर्म ईश्वर-भावना पर आश्रित नहीं है।

धर्म के विरुद्ध जो कुछ है, वह अधर्म है। जिस प्रकार जीवन को आगे बढ़ाना और बनाये रखना धर्म का अटल सिद्धान्त है, उसी प्रकार जीवन को पीछे ढकेलना और गिरा देना अधर्म (धर्म के अभाव) का अटल परिणाम है। धीर और सत्यवादी का कभी पतन हो नहीं सकता। उसी प्रकार बात-बात में पिनकनेवाले चंचल और झूठे आदमी का उत्थान कभी नहीं होता।

आचार, अर्थात् धर्म के नियमों के व्यवहार का धर्म समझ लेने से, धर्म के सच्चे स्वरूप के समझने में भ्रम होता है। धर्म के सिद्धान्त निश्चित हैं; किन्तु देश, काल, पात्रानुसार इसके एक ही सिद्धान्त के आचरण भिन्न-भिन्न होते हैं। शुचि रहना धर्म का सिद्धान्त है। ठंढे देशों के लोगों को शुचि रहने के लिए उतनी बार स्नान करने या अपने अवयवों को धोने की आवश्यकता नहीं होती, जितनी गर्म देश के लोगों को। उसी प्रकार नीरोग मनुष्य के लिए शीतल जल से त्रिकाल स्नान शुचिकर हो सकता है; किन्तु रुग्ण व्यक्ति के शौच का आचार इससे भिन्न होगा। कभी-कभी बहुत दिनों तक स्नान नहीं करना ही उसके लिए हितकर होगा। स्नान करना धर्म है, किन्तु देश, काल, पात्रानुसार ही। धर्मशक्ति के एकत्व और उसके आचरण की भिन्नता को लक्ष्यकर ही वेदव्यास ने कहा है—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'। धर्म का यथार्थ रूप अन्धकार में है। जिन्होंने 'आचारः प्रथमो धर्मः' कहा, उनका तात्पर्य था कि धर्म के नियमों का आचरण करना ही धर्म का सबसे उत्तम रूप है।

धर्म के सिद्धान्त पर भारत में सामाजिक व्यवस्था की संस्थापना की गई है। प्राणिमात्र की प्रथम आवश्यकता है—भोजन, और तत्पश्चात् काम-वासना, अर्थात् इन्द्रियतृप्ति। इन दोनों के पल्लवित और पुष्पित रूप ही सामाजिक विकास का विशाल रूप ग्रहण करते हैं। भोजन के विकसित रूप ही धन-सम्पत्ति, सुख-समृद्धि और वैभव हैं, जिन्हें अर्थ कहते हैं। उसी प्रकार सन्तान, परिवार, ग्राम, देश और अपने-पराये की नाना प्रकार की भावनाएँ, काम की क्रियाओं के अन्तर्भुक्त हैं। इसलिये अर्थ और काम के आधार पर समाज-व्यवस्था

हुई। अर्थ और काम को स्थिरता और संयत रूप देने के लिये, धर्ममूलक अर्थ और धर्ममूलक काम का विधान हुआ। अर्थात्—लोगों के अर्थ-सम्बन्धी उद्यम ऐसे हों, जिनसे अपनी और दूसरों की उन्नति हो और वह उन्नति बनी रहे। काम-सम्बन्धी उद्यम और चेष्टाएँ भी ऐसी हों, जिनसे अपनी और पड़ोसियों की उन्नति हो और वह स्थिर रहे। इसका नाम हुआ त्रिवर्ग—धर्मार्थकाम। इन्हें व्यावहारिक रूप देकर, समाज को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का निर्माण हुआ। ये तीनों जीवन में अलग-अलग तो काम करते नहीं—एक साथ गुँथे रहकर काम करते हैं। इसलिये धर्मशास्त्र में अर्थ-काम की, अर्थशास्त्र में धर्म-काम की और कामशास्त्र में धर्मार्थ की व्यवस्था पाई जाती है।

धर्म के नियम चिरन्तन हैं और उनका व्यवहारिक रूप, देश-काल-पात्रानुसार बदलता रहता है। इसलिये अर्थ और काम के व्यावहारिक नियम भी देशादि के अनुसार भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं और उनमें परिवर्त्तन भी होता रहता है। अर्थशास्त्र के जो नियम दो-तीन सौ वर्ष पूर्व प्रचलित थे, उनमें के बहुत-से नियमों से आज काम नहीं लिया जा सकता। काम-सम्बन्धी भावनाओं में भी इसी प्रकार के परिवर्त्तन हो गये हैं और होते रहते हैं। त्रिवर्ग की सिद्धि अर्थात् उन्नतिमूलक अर्थ और काम की व्यवस्था, भारतीय आदर्श के अनुसार, मानव-समाज का चरम लक्ष्य रहा है। चतुर्थ वर्ग अर्थात् मोक्ष, जिसमें आत्मा-परमात्मा और तत्त्व की बातें आती हैं, सबको न उसकी आवश्यकता है और न सबमें उसे ग्रहण करने की योग्यता ही रहती है तथा न सभी उसके पात्र ही हैं। वह ब्रह्मविद्या, थोड़े-से विकसित महामानवों में सिद्ध और प्रकट होती है, जो सारी मानवता का मार्ग-दर्शन करते रहते हैं।

अशेष कारणभूत ब्रह्मशक्ति पर सारी सृष्टि की बाह्य और आभ्यन्तरिक क्रियाओं के आश्रित रहने के कारण मोक्षशास्त्र या ब्रह्मविद्या का त्रिवर्ग से आप-से-आप सम्बन्ध हो जाता है। किन्तु त्रिवर्ग की उपेक्षा कर ब्रह्म और मोक्ष पर गाल मारते रहना, प्राणी की अधोगति का द्योतक है। त्रिवर्ग के मूल धर्म की साधना से मोक्ष पर आप-से-आप अधिकार हो जाता है।

भाव को स्पष्ट करने के लिये फिर एक बार कहना पड़ता है कि दिक्कालादि की तरह धर्म आगे बढ़ानेवाली और स्थिर रखनेवाली एक स्वतन्त्र चिरन्तन शक्ति है, जो सारी सृष्टि में काम करती रहती है। इस शक्ति के जितने रूप और कर्म हैं, उनका आदिरूप या उद्‌गम-स्थान महाधर्म अथवा धर्मराज ब्रह्म है।

भगवान् बुद्ध ने महाधर्म या धर्मराज के रूप में परब्रह्म को ग्रहण किया और धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन के रूप में ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) के बुद्ध और धर्म का यही स्वरूप है। धर्मराज, तथागत आदि बुद्ध के नाम हैं, जिनसे यह भावना स्पष्ट हो जाती है[१]। जैनों ने भी धर्म के पूर्ववर्त्ती रूप को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है[२]।

१. यह बुद्ध-प्रकरण में और भी अधिक स्पष्ट होगा।
२. यह जैन-प्रकरण में और भी अधिक स्पष्ट होगा।

९. परमात्मा, आत्मा और जीवात्मा

परमात्मा

विश्वव्यापी चित् और आनन्दरूप ब्रह्म, परम आत्मा है।

आत्मा

आत्मन् शब्द 'अत्' धातु में बनता है। 'अत्' का अर्थ है—सतत गमन। इसका अर्थ है—जो स्वयं गतिधर्मा हो और जिसके संसर्ग से सभी वस्तुएँ गतिशील बन जायँ। परमात्मा ही जब संकुचित रूप में पिण्डों में काम करता है, तब इसका नाम आत्मा हो जाता है और विश्वव्यापी रूप में वह परमात्मा है। जैसे—वायु विश्वव्यापी है। इसका जितना अंश साँस से प्राणियों के शरीर के भीतर जाता है, उतना उस पिण्ड का वायु हुआ। छूटते ही वह विश्ववायु के साथ एकाकार हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्माण्डस्थ और पिण्डस्थ परमात्मा और आत्मा की स्थिति है, इनमें कोई अन्तर नहीं है।

जीवात्मा और मोक्ष

आत्मा जब अविद्या-माया के मोह में पड़कर अपने को जड़ प्रकृति अर्थात् शरीर समझने लगता है, तब कर्मबन्धन में पड़कर यह जीवात्मा हो जाता है। जिस प्रकार किसी घर में रहनेवाला मनुष्य यह समझने लगे कि मैं ही घर हूँ और घर की दीवार के टूटने से यह समझे कि मेरा ही हाथ-पैर टूट गया और रोने-चिल्लाने लगे, उसी तरह जड़-शरीर की इन्द्रियों के कार्य (काम-क्रोध, सुखदुःखादि) को जब आत्मा अपना सुख-दुःख समझकर रोने हँसने लगता है, और तदनुसार कर्म में लीन हो जाता है तब यह कर्मबद्ध आत्मा, जीवात्मा कहलाता है। इस कर्मबन्धन से छुटकारा ही मोक्ष (छुटकारा) है। यह तत्त्वज्ञान से प्राप्त होता है। तत्त्व (तत् + त्व) का अर्थ है—उपाधिरहित असली रूप। यहाँ जीवात्मा की उपमा उस सिंह से दी जा सकती है जो गदहे की खाल ओढ़ कर अपने को गदहा समझ ले और गदहे की तरह बोलने तथा अन्य व्यवहार करने लगे। किन्तु उसे मालूम हो जाय कि मैं सिंह हूँ तो खाल फेंक कर सिंह की तरह गरजने और अन्य व्यवहार करने लगे, उसी तरह जीवात्मा का, अर्थात् गदहे की खाल में सिंह को अपने यथार्थ रूप का ज्ञान हो जाय तो वह बन्धन से छूट कर, अपना रूप अर्थात् आत्मा-परमात्मा का रूप ग्रहण कर लेता है। इस बन्धन का मूल कारण अविद्या है। अविद्या से तृष्णा, तृष्णा से कर्म और कर्म से बन्धन होता है। यदि भगवत्कृपा अथवा गुरु-कृपा से साधनाओं द्वारा अविद्या का नाश हो जाय तो तृष्णा और कर्म आप-से आप नष्ट हो जाते हैं।

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।"

"हे अर्जुन! ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है।"—इसीका नाम मोक्ष है।

१०. अवतार

विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार परमात्मा का खेल है। सृष्टि में जब उपद्रव और विनाश की क्रिया बढ़ जाती है तब इसकी रक्षा के लिए, अर्थात् धर्म-संस्थापना के

लिये परमात्मा प्रकट होते हैं, ऐसा भारतीय संस्कारवालों का विश्वास है। सनातन मत के सभी सद्ग्रन्थ इस सिद्धान्त को मानते हैं। यही परमात्मा का अवतार है।

अवतार दो प्रकार के हैं—खण्डावतार और पूर्णावतार। साधारण या छोटे उपद्रवों की शान्ति के लिए जब परमात्मा विभूति के रूप में प्रकट होता है तब यह खण्डावतार कहलाता है और जब रावणादि—जैसे बड़े-बड़े उपद्रवों को शान्त करने के लिए शक्तिव्यूह अर्थात् नाना प्रकार की शक्तियों के साथ प्रकट होता है तो यह पूर्णावतार कहलाता है। परमात्मा अपने सारे रूप को प्रकट नहीं कर सकता। किन्तु जब अपने शक्तिव्यूह को लेकर प्रकट होता है तब यह पूर्णावतार कहा जाता है। जैसे—राम, कृष्ण।

परमात्मा का ही नियम है कि जीव माता-पिता से शरीर ग्रहण करे। यह भी माता-पिता का आश्रय ग्रहण कर शरीर धारण करता है।

"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।"

'अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी माया से प्रकट होता हूँ।"

जिस पर परमात्मा की बड़ी कृपा होती है, उसे सत्कर्म करने की शक्ति और प्रेरणा प्राप्त होती है। जिन भाग्यवानों पर उसकी कठोर तपश्चर्या के कारण भगवान् की असीम कृपा होती है, उसे यह माता-पिता के रूप में ग्रहण करता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार अवतारी पुरुष, मनुष्य होने पर भी परमात्मा है और परमात्मा होने पर भी मनुष्य है। प्रपंचसिद्धि के लिए लोग उनके मनुष्य रूप को ग्रहण करते हैं और आध्यात्मिक सिद्धि के लिए परमात्म-रूप को। वे साकार अर्थात् मनुष्य रूप और निराकार अर्थात् परमात्म रूप द्वारा प्रपंच और परमार्थ दोनों सिद्धि प्राप्त करते हैं। यह जिज्ञासु साधक की प्रवृत्ति और योग्यता पर आश्रित है।

जैनों ने भी इस मत का थोड़ा-सा अन्तर देकर ग्रहण किया है। जैन तीर्थंकर मनुष्य होकर जन्म ग्रहण करते हैं और तपश्चर्या द्वारा देवत्व प्राप्त करते हैं। वहाँ भी देव के मनुष्यत्व और मनुष्य के देवत्व में सनातन मत से कोई सिद्धान्त का भेद नहीं है[1]। तीर्थंकर का अर्थ है—भवसागर से पार होने के लिए जो तीर्थ (सीढ़ी) बनावे। सनातन मत से अवतार का भी यही काम है। अवतार जगदुद्धार के लिए होता है।

---

१ यह एक अत्यन्त प्राचीन वैदिक सिद्धान्त है; इस पर योगी अरविन्द का मत माननीय है—

It is supposed that men by the right use of their mental action in the inner sacrifice to the gods can convert them into their true and divine nature, the mortal can become immortal. Thus the Ribhus, who were at first human beings or represented human faculties, became divine and immortal powers by perfection in the work सुकृत्यया स्वपस्यया। —On the Veda, Pondicherry, 1956, Page 77.

"ऐसा अनुमान किया जाता है कि अपनी आन्तरिक क्रियाओं के उचित उपयोग द्वारा और उनसे देवताओं का यज्ञ करके मनुष्य अपने को अपने सच्चे और दैवी रूप में परिवर्तित कर सकता है और मर्त्य अमर हो जा सकता है। इस प्रकार ऋभु जो पहिले मनुष्य थे अथवा मनुष्यों के प्रतीक थे, वे सुकृत और सुदृष्टि द्वारा देव और अमर हो गये।"

बौद्धमत में भगवान् बुद्ध पूर्णब्रह्म हैं। अवलोकितेश्वर उनके खण्डावतार हैं। जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न द्वारा वे पूर्ण बुद्धत्व प्राप्त करते हैं।

अवतार के सिद्धान्तानुसार साधारण जीव और अवतार में यही अन्तर है कि जीव पर कर्म-बन्धन रहता है और अवतार स्वतंत्र है, इसलिए आवागमन से भी मुक्त है।

"परवश जीव स्ववश भगवन्ता।
जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥"

सारोद्धार

इन्हीं भावनाओं और विचारों के आधार पर भारतीय सनातन, जैन और बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्त्ति, चित्र, मन्दिर, स्तूप, स्तम्भादि के रूपों में प्रतीकों का निर्माण हुआ है। इन भावों को ठीक-ठीक समझ लेने से प्रतीकों का समझना सरल और आनन्दप्रद हो जाता है। प्रतीक मनुष्यों के स्वभाव के साथ लगा हुआ है। इसके विना वह जी नहीं सकता। जो जाति जितनी असभ्य है, उसके प्रतीक उतने ही सरल और टेढ़े-मेढ़े होते हैं और जो जाति जितनी सभ्य है, तदनुसार उसके प्रतीक भी उसके समुन्नत विचारों के अनुसार मनोहर और जटिल होते हैं तथा श्रमपूर्वक अनुशीलन करने से समझ में आते हैं। भारतीय प्रतीक उपर्युक्त भावनाओं के आधार पर बड़ी सरलता और सिद्धि से बनाये गये हैं। एक बार उन्हें समझ लेने से, उनसे आनन्द का स्रोत उमड़ता रहता है और अपने महान् पूर्वजों की विद्या, बुद्धि तपश्चर्या एवं परिमार्जित भावनाओं के आधार पर बने हुए ये प्रतीक चकित कर देते हैं तथा अपने पूर्वजों के चरणों में श्रद्धा से हमारा मस्तक बार-बार झुकने लगता है।

अब आगे प्रतीकों के रूप में इन्हीं सिद्धान्तों के व्यवहार की आश्चर्यमयी लीला का विवरण है।

व्यवहार-प्रकरण

१. ॐकार

परब्रह्म शुद्ध चेतना है, इसलिये वह ज्ञानमय है। वह ज्ञान है, इसलिये उसे इच्छा होती है और इच्छा होने के कारण क्रिया होती है। इस इच्छा और क्रिया का नाम काम (इच्छा)-कला है, जो जगत् का मूल कारण है तथा नित्यज्ञान, नित्य-इच्छा और नित्यक्रिया इस नित्यतत्त्व का स्वभाव है।

वाक्प्रकरण में इसकी चर्चा हो चुकी है कि पराशक्ति या परमात्मा की निष्क्रियावस्था में उसके स्व-भाव से स्पन्दन होता है, जिससे ध्वनि अथवा शब्द उत्पन्न होता है, जो नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में परिणत या परिवर्त्तित होता है। यह स्पन्दन दो प्रकार का है—सामान्य स्पन्द और विशेष स्पन्द। सामान्य स्पन्द से स्वाभाविक व्यापक ध्वनि उठती रहती है जो सारी सृष्टि का आदि और मूल कारण है। विशेष ध्वनि व्यापक न होकर, सीमित होने के कारण, विशिष्ट नाम-रूप की सृष्टि करती रहती है।

सामान्य स्पन्द की आदि और व्यापक ध्वनि ॐकार है जो शब्द या ध्वनि के रूप में ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप है। विशेष ध्वनि नाना प्रकार के बीजों और वर्णों का रूप ग्रहण कर, सूक्ष्म और स्थूल जगत् में काम करती रहती है। यही 'अ, आ' इत्यादि वर्णों के नाम से तथा श्रीं, ऐं इत्यादि बीजों के नाम से लोक और वेद में प्रचलित है।

ॐकार के दो रूप हैं– समस्त और व्यस्त। समस्त रूप में यह ब्रह्म या पराशक्ति का वाचक है और अर्द्धमात्रा-समेत ॐ, ब्रह्म का वाच्य और वाचक—दोनों ही है। अर्धमात्रा-सहित ॐ का, शब्द ब्रह्म का, प्रत्यक्ष रूप होने के कारण इसमें और परब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता।

अ, उ, म के व्यस्त रूप में, यह नामरूपात्मक सृष्ट जगत् का वाचक बन जाता है और यह त्रिगुण तथा गुणाभिमानी त्रिदेव (रजस् = ब्रह्मा, सत्त्व = विष्णु, तमस् = महेश) आदि का द्योतक बन जाता है। त्रिगुण तथा त्रिदेव के, ब्रह्म के भिन्न रूप होने के कारण, यह प्रणव, समस्त और व्यस्त रूप में ब्रह्मवाची है।

> "त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान्
> अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृतिः।
> तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
> समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्॥"[१]

[१] महिम्नः स्तोत्रम्, श्लो० २७

ॐकार, अकारादि वर्णों के द्वारा त्रयी तीन वृत्ति (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) त्रिभुवन और त्रिदेव के रूप में आपके व्याकृत (व्यस्त = अलग किये हुए) रूप का बोध कराता हुआ, हे शरणद ! सूक्ष्म-से-सूक्ष्म ध्वनि द्वारा आपके चतुर्थ स्थान (तुरीय धाम) का बोध कराने में असमर्थ है और आपके समस्त और व्यस्त रूप का कथन करता है।

यहाँ शिवमहिमन्कार ने ॐ को ब्रह्म का वाच्य और वाचक दोनों कहा है। व्यस्त रूप में ॐ ब्रह्म का वाचक रहता है, पर समस्त रूप, में वाच्य और वाचक एकाकार हो जाते हैं।

शाक्त दर्शन में भी परमतत्त्व के समस्त और व्यस्त रूप की विवृति में इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है—

"गिरामाहुर्देवीं द्रुहिण[illegible]गृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि चिदानन्दमहिषी ॥"[1]

"तन्त्र के जाननेवाले तुम्हें ब्रह्मा की गृहिणी गिरा देवी, हरि की पत्नी पद्मा और हर की सहचरी पार्वती कहते हैं; पर तुम (इन तीनों के अतिरिक्त) कोई चौथी हो, जिसकी महिमा की सीमा नहीं है और जिसके निकट जाना कठिन है। तुम चेतना और आनन्द की स्वामिनी और संसार को घुमानेवाली महामाया हो।"

महिम्नःस्तोत्र का तुरीय ही शाक्तों की तुरीया है।

"य[illegible]काम[illegible]स्वात्मप्रभावं महा-
जाड्यध्वान्तविदारणैकतरणिज्योतिः प्रबोधप्रदम्।
यद्वेदेषु च गीयते श्रुतिमुखं मात्रात्रयेणोमिति
श्रीविद्ये तव सर्वराजवश[illegible]त्कामराजं भजे ॥"[2]

"जो (बिन्दुत्रयात्मक) कामराज अपने प्रभाव से भक्तों की सभी कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, जो महामूर्खता के अन्धकार को विदीर्ण करने के लिए सूर्य की ज्योति जैसा है, ज्ञानदाता है, जो वेदों में वेदों का आरम्भ और तीन मात्राओं द्वारा ओम् कहा गया है, जो सबको और राजाओं को भी वश में करनेवाला है, श्रीविद्ये ! (संकेतसारे !) मैं उसकी वन्दना करता हूँ।

शाक्तों के कूटत्रय अथवा कामकला के बिन्दुत्रय और ॐकार के मात्रात्रय एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस भाव को इस प्रकार और भी स्पष्ट किया गया है—

"आद्यैरग्निरवीन्[illegible] बिम्बनिलयैरम्ब त्रिलिङ्गात्मभि-
र्मिश्रा [illegible]भिः।
स्वात्मोत्पा[illegible]वस्थामरादित्रयै —
स्तु त्वं त्रिपुरेति नाम कथयेयस्ते स धन्यो बुधः ॥"[3]

1. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ९८
2. शक्तिमहिम्नः स्तोत्रम्, श्लोक ८
3. तत्रैव, श्लो० १८

"हे अम्ब ! जा आद्य (अकथ) अग्नि, सूर्य, चन्द्रमण्डलों के आधार, त्रिलिङ्ग (स्वयंभू, बाण, इतर), श्वेत, रक्त और इसके मिश्रित वर्ण द्वारा और तुम्हारे चरणों की प्रभा के कारण अनुपम, त्रिस्थानस्थ, स्वयं त्रिकाल, त्रिलोक, त्रिवेद, तीन अवस्था आदि से प्रकट किया हुआ त्रिपुरा (आदि कारण का संकेतमात्र) नाम जो समझ लेता है, वह धन्य है, वही बुद्धिमान् है।"

उपनिषदों का भी ॐ के सम्बन्ध में यही विचार है—

"ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम् ॥"[1]

"ओम ब्रह्म है। ओम् ही यह सब कुछ है।"

नाद के साथ बिन्दु का अभिन्न सम्बन्ध है। ये दोनों एक भाववाची युग्म शब्द हैं।

"नादेन बिन्दो रैक्यम्, बिन्दुना कलाया ऐक्यम्, कलायाश्च नादेनैक्यम्, एवं त्रितयं; कलया बिन्दो रैक्यम्, कलया नादस्यैक्यम्।"[2]

"नाद से बिन्दु का ऐक्य है, बिन्दु से कला का ऐक्य है, कला से नाद का ऐक्य है, इस प्रकार ये तीनो हैं। कला से बिन्दु की एकता और कला से नाद की एकता है।"

जैसे शान्त सागर में किसी कारण से क्षोभ उत्पन्न हो, तो शब्द होने लगता है और तरंग बनने लगता है। ये दोनों क्रियाएँ एक साथ होती हैं। इसमें पूर्वापर-क्रम निश्चित नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार ब्रह्म या शक्ति के आत्म-विस्तार में, उसकी स्वाभाविक इच्छा से स्पन्दन आरम्भ होता है। इससे नाद उत्पन्न होता है और नाद की प्रवृत्ति के साथ-साथ शक्ति घनीभूत होकर रूप ग्रहण करती है, जिससे त्रिगुणात्मक सृष्टि का विकास होता है। इसलिए शक्ति, नाद और बिन्दु में कोई भेद नहीं है। शक्ति के ही बिन्दु और नाद के तीनों बिन्दुओं को मिलाकर त्रिकोण बनता है, जो ॐ का प्रतिरूप है। इसीका नाम योनि या महायोनि भी है; क्योंकि यह सारी सृष्टि का उत्पत्तिस्थान है। ॐ के अ, उ, म की तरह योनि की तीन भुजाएं भी त्रिगुण, त्रिदेव, त्रयी आदि के बोधक हैं। इसलिए कहा जाता है—

"नाद एव घनीभूतः क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्।"[3]

"नाद ही घनीभूत होकर बिन्दु बन जाता है।" इस भाव का विस्तार इस प्रकार किया गया है—

"निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥
सच्चि[illegible]रात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्[illegible] समुद्भवः ।
पर[illegible]ः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः ॥[4]"

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, १·८
२. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ९९ पर लक्ष्मीधर की टीका।
३. शारदातिलक।
४. तत्रैव।

"सर्वदा स्थिर रहनेवाला शिव, साकार और निराकार है। वह प्रकृतिरहित निराकार है और कला (प्रकृति) सहित साकार (सगुण) है। सत्, चित् और आनन्दवाले पूर्ण परमेश्वर से शक्ति, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु प्रकट हुए। नाद और बिन्दु, परशक्ति-स्वरूप हैं—पुनः इसके तीन भेद होते हैं।" तीन भेद के अर्थ, त्रिगुण त्रिदेवादि हैं।

यही ॐ का स्वरूप है, जो ब्रह्मविद्या का आधार है। वाक् ही ॐकार है। इसीके नाम माया, प्रकृति इत्यादि हैं।

"सैव वागब्रवीद्देवी प्रकृतिर्याभिधीयते।
विष्णुना प्रेरिता माता जगदीशा जगन्मयी॥
ॐकारभूता या देवी मातृकल्पा जगन्मयी॥"[१]

"वही दैवी वाक, जो प्रकृति कहलाती है, जो माता जगदीशा, जगद्रूपिणी है, जो ॐकार बनी हुई है, उसने विष्णु से प्रेरित होकर कहा।"

अ, उ, म गुणाभिमानी अर्थात् सगुण ब्रह्म (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के द्योतक हैं और इनका समस्त रूप, अर्धमात्रासहित अक्षर (निराकार) ब्रह्म हैं। ये सभी महाशक्ति के विकारमात्र हैं।

"सुधा त्वमक्षरेनित्येत्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः॥"[२]

"तुम अमृत हो, अक्षर (अविनाशी) हो, नित्या हो, तीन मात्राओं (अ, उ, म) का प्राण हो, तुम अर्धमात्रा बन कर स्थित हो, जिसका विशेषतः उच्चारण हो नहीं सकता और नित्या (सनातनी) हो।"

वेद, ॐ या वाक् के परिणत रूप हैं। इसलिये वेद और ब्रह्म अभिन्न हैं और वेद का विकास ॐ से कहा जाता है।

'पुरा ह्येकार्णवे वृत्ते दिव्ये वर्षसहस्रके।
स्रष्टुकामः प्रजाः ब्रह्मा चिन्तयामास दुःखितः।
तस्य चिन्तयमानस्य प्रादुर्भूतः कुमारकः।
दिव्यगन्धः सुधापेक्षी दिव्यां श्रुतिमुदीरयन्॥
अशब्दस्पर्शरूपां तामगन्धां रसवर्जिताम्।
श्रुतिं ह्युदीरयन्देवो यामविन्दच्च[illegible]खः॥
ततस्तु ज्ञानसंयुक्तस्तप आस्थाय भैरवम्।
चिन्तयामास मनसा त्रितयं कोऽन्वयमित्विति॥
तस्य चिन्तयमानस्य प्रादुर्भूतं तदक्षरम्।
अशब्दस्पर्शरूपञ्च रसगन्धविवर्जितम्॥
अथोत्तमं सलोकेषु स्वमूर्तिञ्चापि पश्यति।
ध्यायन्वै स तदा देवमथैनं पश्यते पुनः॥

१. ब्रह्मपुराण, आनन्दाश्रम, पूना; अध्याय १६१, श्लोक १४, १८
२. मार्कण्डेयपुराण, जीवानन्द, कलकत्ता; ८१.५५

तं श्वेतमथ रक्तञ्च पीतं कृष्णं तथा पुनः।
वर्णस्थं तत्र पश्येत न स्त्री न च नपुंसकम् ॥
तत्सर्वं सुचिरं ज्ञात्वा चिन्तयन्हि तदक्षरम्।
तस्य चिन्तयमानस्य कण्ठादुत्तिष्ठतेऽक्षरः ॥
एकमात्रो महाघोषः श्वेतवर्णः सुनिर्मलः।
स ॐकारो भवेद्वेदः अक्षरं वै महेश्वरः ॥
ततश्चिन्तयमानस्य त्वक्षरं वै स्वयंभुवः।
प्रादुर्भूतं तु रक्तं तु स देवः प्रथमः स्मृतः।
ऋग्वेदं प्रथमं तस्य त्वग्निमीळे पुरोहितम् ॥"[1]

"प्राचीनकाल में देवताओं के सहस्रों वर्षों तक जब जल ही जल था, तब सृष्टि की इच्छा से दुःखित होकर ब्रह्मा सोचने लगे। जब वे सोच ही रहे थे, उसी समय शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरहित, दिव्य श्रुति को उच्चारण करता हुआ अमृततुल्य और दिव्य गन्धवाला एक कुमार प्रकट हुआ। उस श्रुति को ब्रह्मा ने ग्रहण किया। इसके बाद ज्ञान द्वारा भयङ्कर तप में लीन होकर तीन बार उन्होंने मन में सोचा, यह कौन है। जब वे सोच ही रहे थे, उसी समय शब्द-स्पर्श-रूप-गस-गन्ध-विहीन वह अक्षर (अविनाशी तत्त्व) प्रकट हुआ। तब जगत् में उन्हें अपनी उत्तम मूर्त्ति दिखाई पड़ी और ध्यान करके उन्होंने इसे फिर देखा। देखते हैं कि यह न स्त्री, न पुरुष और न नपुंसक है। उजला, लाल, पीला, और काला भी है और वर्णों में (वर्णस्थं = अक्षरों के आकार में) है। बहुत देर तक सोच-समझ कर ये अक्षर की चिन्ता करने लगे। सोचते-सोचते उनके कण्ठ से एक मात्रावाला महाघोष, श्वेतवर्ण का निर्मल अक्षर (ब्रह्म) निकला। वह ॐकार, वेद हुआ। अक्षर ही महेश्वर है। स्वयंभू जब अक्षर के विषय में विचार रहे थे, उसी समय वह अक्षर रक्तवर्ण में प्रकट हुआ। वह पहिला देवता हुआ। उसका सबसे पहिला ऋग्वेद हुआ—'अग्निमीडे पुरोहितम्'।"

इस उद्धरण में ये तीन पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

"तस्य चिन्तयमानस्य प्रादुर्भूतं तदक्षरम्।
अशब्दस्पर्शरूपंच रसगन्धविवर्जितम्।
अथोत्तमं सल्लोकेषु स्वमूर्तिञ्चापि पश्यति ॥"

इनसे ज्ञात होता है कि ॐकार में ब्रह्मा को अपना रूप दिखाई पड़ा। यह शब्दब्रह्म का आत्मरूप है, जिसका दूसरा नाम वाक् या वाग्देवता है। पुराणों में इस विषय का विस्तृत विवरण मिलता है—

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गुहायां निहितं पदम्।
ओमित्येतत्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः।
विष्णुक्रमास्त्रयस्त्वेते ऋक्सामानि यजूंषि च।
मात्राश्चात्र चतस्रस्तु विज्ञेयाः परमार्थतः।

1. वायुपुराण, आनन्दाश्रम, पूना; अध्याय २६, श्लोक १६-२७।

तत्र युक्तश्च यो योगी तस्य सालोक्यतां व्रजेत् ।
अकारस्त्वक्षरो ज्ञेय उकारः स्वरितः स्मृतः ।
मकारस्तु प्लुतो ज्ञेयस्त्रिमात्र इति संज्ञितः ।
अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारो भुव उच्यते ।
सव्यंजनो मकारश्च स्वर्लोकश्च विधीयते ।
ॐकारस्तु त्रयो लोकाः शिरस्तस्य त्रिविष्टपम् ।
भुवनान्तं च तत्सर्वं ब्राह्मं तत्पदमुच्यते ।
मात्रापदं रुद्रलोको ह्यमात्रन्तु शिवं पदम् ॥
एवं ध्यानविशेषेण तत्पदं समुपासते ।
तस्माद्ध्यानरतिर्नित्यममात्रं हि तदक्षरम् ॥"[1]

"ॐ एकाक्षर ब्रह्म है, जिसका स्थान गुहा में है । ॐ तीनों वेद, तीनों लोक, तीनों अग्नि और त्रिदेव है । यथार्थ में इसमें चार मात्राएँ जाननी चाहिये । उसमें जो योगी लग जाता है, वह सालोक्यता प्राप्त करता है । आकार को अक्षर, उकार को स्वरित और मकार को प्लुत जानना चाहिये । इसी का नाम त्रिमात्र है । अकार भूर्लोक, उकार भुवर्लोक और व्यञ्जनसहित मकार स्वर्लोक कहलाता है । ॐकार तीनों लोक है । उसका मस्तक त्रिविष्टप (स्वर्ग) है । जगत् के भीतर जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी ब्रह्मलोक कहलाती हैं । मात्रापद रुद्रलोक कहलाता है और मात्राहीन शिवस्वरूप है । इस प्रकार नाना रीति से ध्यान कर उसकी उपासना की जाती है । वह अक्षर मात्राहीन है । इसलिये उसमें, ध्यान में आनन्द आता है ।"

"त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रैलोक्यं पावकत्रयः ।
त्रैकाल्यं त्रीणि कर्माणि त्रयो वर्णास्त्रयोगुणाः ॥"[2]

"(ॐकार के) तीन वर्ण, तीन लोक, तीन वेद, तीन अग्नि, तीन काल, तीन कर्म और तीन गुण हैं ।" यह ॐकार के व्यस्तरूप का विवरण है। समस्त रूप में ॐकार परमतत्त्व है ।

"सूक्ष्मं परं ज्योतिरनन्तरूपमोंकारमात्रं प्रकृतेः परं यत् ।
चिद्रूपमानन्दमयं समस्तमेवं वदन्तीश मुमुक्षवस्त्वाम् ॥"[3]

"हे ईश ! आप चित्, आनन्द और सूक्ष्मज्योतिस्वरूप हैं । आप प्रकृति के परे ॐकारमात्र हैं । मुमुक्षुगण आपका ऐसा ही वर्णन करते हैं ।" यहाँ ॐ को ब्रह्म का वाच्य और वाचक—दोनों ही कहा है इस भाव को अन्यत्र इस प्रकार पल्लवित और पुष्ट किया गया है—

"अकारं ब्रह्मणो रूपमुकारं विष्णुरूपवत् ।
मकारं रुद्ररूपं स्यादर्धमात्रं परात्मकम् ॥
वाच्यं तत्परमं ब्रह्म वाचकः प्रणवः स्मृतः ।
वाच्यवाचकसम्बन्धस्तयोः स्यादौपचारिकः ॥"[4]

---

१. वायुपुराण, आनन्दाश्रम, पूना ; अध्याय २०, श्लो० ६-१२ ।
२. ब्रह्मपुराण, आनन्दाश्रम, पूना ; अध्याय १७६, श्लो० ३७ ।
३. ब्रह्मपुराण, आनन्दाश्रम, पूना; अ० १२२, श्लो० ७४ । हरिहर स्तुति में बृहस्पति की उक्ति ।
४. बृहन्नारदीय, ललितासहस्रनाम (सौभाग्यभास्करव्याख्या, बम्बई, शाके १८५७), पृष्ठ २१में उद्धृत ।

"अकार, उकार और मकार क्रमशः ब्रह्म, विष्णु और रुद्र के रूप हैं। अर्धमात्रा परात्मा है। वाच्य परम ब्रह्म है और वाचक प्रणव (ॐ) है। वाच्य-वाचक का सम्बन्ध केवल उपचारमात्र है, अर्थात् यथार्थ में एक ही हैं।"

"प्रणवो हि परं तत्त्वं त्रिवेदं त्रिगुणात्मकम्।
त्रिदेवतं त्रिधामं च त्रिप्रज्ञं त्रिरवस्थितम्॥
त्रिमात्रं च त्रिकालं च त्रिलिङ्गं कवयो विदुः।
सर्वमेतत्त्रिरूपेण व्याप्तं हि प्रणवेन तु॥
अग्निः सोमश्च सूर्यश्च त्रिधामेति प्रकीर्त्तितम्॥
अन्तःप्रज्ञं बहिःप्रज्ञं घनप्रज्ञमुदाहृतम्॥
हृत्कण्ठे तालुके चेति त्रिस्थानमिति कीर्त्यते।
अकारोकारमकारैस्त्रिमात्र उच्यते स तु॥
कर्मारम्भेषु सर्वेषु त्रिमात्रं तं प्रकीर्त्तयेत्।
स्थित्वा सर्वेषु शब्देषु सर्वं व्याप्तमनेन हि॥
न तेन हि विना किञ्चिद्वक्तुं याति गिरा यतः॥"[1]

"प्रणव परम सत्य है, त्रिवेद, त्रिगुणात्मक, त्रिदेवता, त्रिधाम, त्रिप्रज्ञ, तीन अवस्था, त्रिमात्र, त्रिकाल और त्रिलिङ्ग है। बुद्धिमान् इसे जानते हैं। तीन रूप में ये सभी प्रणव से व्याप्त हैं। यह अग्नि, सोम, सूर्य, त्रिधाम, अन्तःप्रज्ञ, बहिःप्रज्ञ और घनप्रज्ञ है। हृदय, कण्ठ और तालु त्रिस्थान कहलाते हैं और अकार, उकार, मकार, त्रिमात्र हैं। सभी कर्मों के आरम्भ में त्रिमात्र का उच्चारण करना चाहिए। यह सभी शब्दों में व्याप्त है। इसके बिना वाणी से कुछ भी नहीं बोला जा सकता है।"

पुराणकारों ने इस सिद्धान्त को एक मनोहर कथानक का रूप दिया है। एक समय शङ्खासुर नामक दैत्य वेदों को चुराकर पाताल ले गया। विष्णु ने उसको मारकर उसकी हड्डी शङ्ख को फूँका। उससे ॐ निकला, जिससे चारों वेद निकले। तात्पर्य यह कि शङ्ख का शब्द वेदयोनि ॐ है। इसलिये सर्वकर्म में शङ्खनाद माङ्गलिक कर्म हैं। गीता का भगवद्वाक्य है—

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥"[2]

"ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म को बोलता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़ता है, वह परमगति प्राप्त करता है।" ॐ के इस स्वरूप के कारण शैव-शाक्त, जैन-बौद्ध-वैष्णव, योगी-तान्त्रिक—सभी बड़ी श्रद्धा और स्वच्छन्दता से इसका प्रयोग करते हैं।

---

१. तत्रैव बृहत्पाराशरस्मृति; पृ० २७ में उद्धृत
२. गीता; ८.१३।

२. गणेश

सभी प्रधान देवताओं की तरह दो रूपों में गणेश की उपासना होती है—(१) आदिशक्ति परमात्मा ब्रह्म और (२) गुणाभिमानी तथा निमित्ताभिमानी देवता के रूप में। स्तोत्रों में इन्हें परब्रह्म कहा गया है—

"परब्रह्मरूपं चिदानन्दरूपं परेशं महेशं गुणाब्धिं गुणेशम्।
गुणातीतमीशं मयूरेशवन्द्यं गणेशं नताः स्मो नताः स्मो नताः स्मः ॥"[१]

"परब्रह्मरूप, चिदानन्दरूप, परेश, महेश, गुणसागर, गुणेश, गुणातीत, ईश, मयूरेश के पूज्य गणेश को मेरा बारम्बार नमस्कार।" यहाँ गणेश को चिदानन्दस्वरूप, परब्रह्म और गुणातीत कहा गया है।

"अजं निर्विकल्पं निराकारमेकं निरानन्दमानन्दमद्वैतपूर्णम्।
परं निर्गुणं निर्विशेषं निरीहं परब्रह्मरूपं गणेशं भजेम ॥"[२]

"अजन्मा, कल्पना से रहित, निराकार, एक, आनन्दस्वरूप किन्तु स्वयं आनन्दरहित, द्वितीयरहित अर्थात् अकेला, पूर्ण, पर (कारणस्वरूप) निर्गुण, विशेषताहीन, इच्छारहित और परब्रह्मरूप गणेश की मैं वन्दना करता हूँ।"

इसके परवर्ती दश श्लोकों का ध्रुवपद है—'परब्रह्मरूपं गणेशं भजेम'।

"सदात्मरूपं सकलादिभूतममायिनं सोऽहमचिन्त्यबोधम्।
अनादिमध्यान्तविहीनमेकं तमेकदन्तं शरणं व्रजाम ॥"[३]

"सत्स्वरूप अर्थात् सत्तामात्र रूपवाले, आत्मा के रूप में वर्तमान, मायारहित, सोऽहं-भाव से भी अचिन्त्य, आदि-मध्य-अन्त-विहीन, मैं एकदन्त का शरणापन्न हूँ।"

"स्वबिम्बभावेन विलासयुक्तं बिम्बस्वरूपा रचिता स्वमाया।
तस्यां स्ववीर्यं प्रददाति यो वै तमेकदन्तं शरणं व्रजाम ॥"[४]

"अपनी लीला के लिए अपने प्रतिरूप की तरह बिम्बरूपवाली अपनी माया की जिसने रचना की और उसमें जो अपना वीर्य (सामर्थ्य, शक्ति) प्रदान करता है, हम उस एकदन्त की शरण में जाते हैं।"

"त्वदीयवीर्येण समर्थभूता माया तया संरचितं च विश्वम्।
नादात्मकं ह्यात्मतया प्रतीतं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥"[५]

"तुम्हारे सामर्थ्य से समर्थ बनकर अपने ही रूप नाद से माया ने विश्व की रचना की। हम उस एकदन्त की शरण में जाते हैं।" यहाँ गणेश की शक्ति को ही माया और नाद कहा गया है, अर्थात् गणेश ही माया और नादरूप से विश्व की रचना करते हैं।

१. मयूरेश्वरस्तोत्रम्, श्लोक १।
२. गणपतिस्तवः श्लोक १।
३. एकदन्तस्तोत्रम्, श्लोक ३।
४. तत्रैव, श्लोक ६।
५. तत्रैव, श्लोक ७।

गणेश की सत्ता से उद्बोधित होकर त्रिगुण, त्रिदेव का रूप ग्रहण करते हैं। इनकी प्रेरणा से प्रेरित होकर नाद विश्व की रचना करता है—

"त्वदीयसत्ताधरमेकदन्तं गणेशमेकं त्रयबोधितारम्।
सेवन्तमापुस्तमजं त्रिसंस्थास्तमेकदन्तं शरणं व्रजामः॥
ततस्त्वया प्रेरित एव नादस्तेनेदमेवं रचितं जगद्वै।
आनन्दरूपं समभावसंस्थं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः॥"[1]

"तीनों (त्रिगुण या शक्ति, नाद, विन्दु) को जगानेवाले अज, एकदन्त और अपनी सत्ता को धारण करनेवाले गणेश की सेवा से तीनों ने (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) अपनी संस्था प्राप्त की। उस एकदन्त के हम शरणापन्न हैं।"

"तब तुमसे प्रेरित होकर नाद ने इस प्रकार आनन्दरूप और समभाव स्वरूप भाववाले इस जगत् की रचना की। हम उस एकदन्त की शरण में जाते हैं।"

गणेश की आज्ञा से ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं।

"त्वदाज्ञया सृष्टिकरो विधाता त्वदाज्ञया पालक एव विष्णुः।
त्वदाज्ञया संहरको हरोऽपि तमेकदन्तं शरणं व्रजामः॥"[2]

तुम्हारी आज्ञा से विधाता सृष्टि, विष्णु पालन, और हर संहार करते हैं। हम उस एकदन्त की शरण में जाते हैं।" तन्त्र-ग्रन्थों और उपनिषदों में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—

"यं वदन्त्यमलात्मानः पुरुषं प्रकृतेः परम्।
चिद्रूपं परमानन्दं वन्दे देवं विनायकम्॥"[3]

"विमल बुद्धिवाले लोग जिन्हें प्रकृति के भी कारण, चिद्रूप, परमानन्द और पुरुष कहते हैं, उस देव विनायक की मैं वन्दना करता हूँ।"

"मोदन्ते स्वे-स्वे पदे पुण्यलब्धे सर्वैर्देवैः पूजनीयो गणेशः।
प्रभुः प्रभूणामपि विघ्नराजः सिन्दूरवर्णः पुरुषः पुराणः॥
लक्ष्मीसहायोऽथ कुञ्जराकृतिश्चतुर्भुजश्चन्द्रकलाकलापः।
मायाशरीरो मधुरस्वभावस्तस्य ध्यानात् पूजनात्तत्स्वभावाः॥
संसारपारं मुनयोऽपि यान्ति स वा ब्रह्मा स प्रजेशो हरिः सः।
इन्द्रः स चन्द्रः परमः परात्मा स एव सर्वो भुवनस्य साक्षी॥"[4]

"अपने पुण्य से प्राप्त अपने पदों पर सभी प्रसन्न रहते हैं। गणेश सभी देवताओं के पूज्य हैं। ये प्रभुओं के भी प्रभु (शक्तिमान्) विघ्नराज हैं। ये सिन्दूरवर्ण के, पुराने और पुरुष हैं। चन्द्रकलाधारी, चतुर्भुज, कुञ्जराकृति ये एक हैं और लक्ष्मी इनकी सहचरी हैं।

---

१. एकदन्तस्तोत्रम्, श्लो० ८,९।
२. एकदन्तस्तोत्रम्, श्लोक १७।
३. गन्धर्वतन्त्रम्, श्रीनगर, १९३४; १.१।
४. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास १९३३); हेरम्बोपनिषत्, श्लोक ५, ६, ७।

माया ही इनका शरीर है और स्वभाव मधुर है। इनके ध्यान और पूजन से ऐसा ही स्वभाव हो जाता है। मुनि भी संसार को पार कर जाते हैं। वे ही प्रजेश ब्रह्मा, हरि, इन्द्र, चन्द्र और परम परमात्मा हैं। वे ही सभी भुवनों के साक्षी हैं।"

यहाँ लक्ष्मी को गणेश की सहचरी कहा है। इससे गणेश और विष्णु का अभिन्नत्व व्यक्त होता है।

"हरिः ॐ। नमस्ते गणपतये। त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्त्तासि। त्वमेव केवलं धर्त्तासि। त्वमेव केवलं हर्त्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि नित्यम्। ऋतं वच्मि। सत्यं वच्मि। अव त्वं माम्। अव वक्तारम्। अव श्रोतारम्। अव दातारम्। अव धातारम्। अवानूचानमव शिष्यम्। अव पश्चात्तात्। अव पुरस्तात्। अव चोत्तरात्तात्। अव दक्षिणात्तात् अव चोर्ध्वात्तात्। अवाधरात्तात्। सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात्। त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः। त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः। त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि। त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि। सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते। सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति। सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति। सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति। त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः। त्वं चत्वारि वाक्पदानि। त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतः। त्वं देहत्रयातीतः। त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम्। त्वं शक्तित्रयात्मकः। त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम्। त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्मभूर्भुवः सुवरोम्।.........

एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्।
अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्॥
रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्।
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम्॥
भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्।
आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम्॥
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः॥"[1]

"ॐकार हरि है। गणपति को प्रणाम। आप प्रत्यक्ष तत्त्व हैं। केवल आप ही कर्त्ता, धर्ता, हर्ता हैं। आप ही यह सब कुछ और ब्रह्म हैं। आप साक्षात् नित्य आत्मा हैं। मैं सच कहता हूँ, ठीक कहता हूँ। आप मेरी और वक्ता की रक्षा कीजिये। श्रोता की रक्षा कीजिये। दाता की रक्षा कीजिये। धाता की रक्षा कीजिये। उपाध्याय की रक्षा कीजिये, शिष्य की रक्षा कीजिये। पीछे से रक्षा कीजिये, आगे से रक्षा कीजिये। उत्तर से रक्षा कीजिये, दक्षिण से रक्षा कीजिये। ऊपर से रक्षा कीजिये, नीचे से रक्षा कीजिए। सर्वत्र और सब ओर से रक्षा कीजिये। आप वाङ्मय और चिन्मय हैं। आप आनन्दमय और ब्रह्ममय हैं। आप एक और सत्-चित्-आनन्द हैं। आप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आप ज्ञानमय और विज्ञानमय हैं। यह सारा जगत् आपसे उत्पन्न होता है। यह सारा जगत् आपसे ही ठहरा हुआ है। यह सारा जगत् आप में ही लीन हो जायगा। यह सारा जगत् आपसे ही

१. गणपत्युपनिषद्।

निकलता है। आप भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। आप वाक् के चार स्थान हैं। आप तीनों गुण से बाहर हैं। आप तीनों काल से बाहर हैं। आप तीनों देह से बाहर हैं। आप नित्य और मूलाधार में स्थित हैं। आप तीन शक्ति स्वरूप हैं। योगी आपका नित्य ध्यान करते हैं। आप ब्रह्मा हैं, आप विष्णु हैं, आप रुद्र हैं, आप इन्द्र हैं, आप अग्नि हैं, आप वायु हैं, आप सूर्य हैं, आप चन्द्रमा हैं, आप ब्रह्म हैं, आप भूः भुवः सुवः और ओम् हैं।

एक दाँत, चार हाथ, पाश-अंकुश धारण करनेवाले, अभय वरद हस्तवाले, मूषक ध्वजवाले, रक्तवर्ण, लम्बोदर, शूर्पकर्ण, रक्त वस्त्रवाले, रक्तगन्धविलेपित अङ्गवाले, लाल फूल से पूजित, भक्त पर दया करनेवाले, जगत् के कारण, अच्युत देव, सृष्टि में सबसे पहिले प्रकट होनेवाले, प्रकृति और पुरुष से भी आगे हैं। इस प्रकार जो (गणेश का) ध्यान करते हैं, वे योगियों में श्रेष्ठ हैं।"

ॐकार गणेश

ॐ गणेश का प्रतीक है। इसमें ॐ का ऊपरवाला भाग मस्तक का वृत्त, नीचेवाला भाग उदर का विस्तार, सूँड़ नाद और लड्डू बिन्दु है। इस रूप में गणेश की कल्पना की गई है और इस प्रकार की मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं।

शिवमानस-पूजा[1] में इन्हें 'प्रणवाकृते' कहा गया है।

"जयदेव गजानन प्रभो जय सर्वासुर गर्वभेदक।
जय संकटपाशमोचन प्रणवाकार विनायकाऽव माम्॥"[2]

"प्रभो! गजानन! देव! आपकी जय। सभी राक्षसों के गर्व का नाश करने वाले! आपकी जय। दुःख के बन्धन खोलनेवाले! आपकी जय। प्रणवरूपवाले विनायक! मेरी रक्षा कीजिये।

सत्त्वप्रधान रूप में गणेश का रंग श्वेत माना जाता है—

"सत्त्वात्मकं श्वेतमनन्तमाद्यम्।"[3]

"आदि, अनन्त और सत्त्वात्मक देव (गणेश) श्वेत हैं।"

रजः प्रधान रूप में इनका रंग लाल है—

"खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरम्।
विघ्नेशं मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतगण्डस्थलम्॥
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरम्।
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कामदम्॥"[4]

"सिद्धि देनेवाले और इच्छा पूर्ण करनेवाले पार्वती पुत्र गणपति की मैं वन्दना करता हूँ। ये नाटे, मोटे शरीरवाले, सुन्दर हाथी के मुखवाले, बड़े पेटवाले और सुन्दर हैं।

१. श्लोक ४२।
२. गजानन स्तोत्र, श्लोक १।
३. एकदन्तस्तोत्रम्, श्लोक ११।
४. प्रचलित ध्यानश्लोक।

ये विघ्नेश हैं और मधु के गंध के लोभ से भौंरे इनके गालों के पास पंख चालन करते रहते हैं। दन्त के प्रहार से शत्रुओं को इन्होंने चीर दिया है और उनके रुधिर से इनके (शरीर पर) सिन्दूर की शोभा बन गई है।" — यहाँ दन्त एक प्रकार का छुरा है। रुधिर और सिन्दूर का रक्त वर्ण तथा अरि का संहार, रजःप्रधान कर्म और वर्ण हैं।

त्रिगुणाधार होने के कारण तमःप्रधान रूप में इनका वर्ण श्याम होना चाहिए; किन्तु ऐसा ध्यान मिलता नहीं है। ये बुद्धि, सिद्धि, ऋद्धि आदि के देवता हैं और तमः प्रधानता इनकी विरोधी है। बोध होता है कि इसीलिये साधारणतः इस रूप में इनकी उपासना नहीं होती है। किन्तु घोर आभिचारिक क्रियाओं में इस रूप का प्रयोग हो सकता है।

गणेश की भुजाए चार हैं। एक में पाश और दूसरे में अंकुश है। तीसरा अभय और चौथा वरद मुद्रा में है—

"गजेन्द्रवदनं नौमि रक्तं विघ्नविदारकम्।
पाशांकुशवराभीतिलसद्भुजचतुष्टयम् ॥"[१]

"रक्तवर्ण, विघ्नविदारक गजानन को मैं प्रणाम करता हूँ, जिनके चारो हाथों में पाश, अंकुश, वर और अभय सुशोभित हैं।"

इनकी चार भुजाएँ चार दिशाओं के प्रतीक हैं।[२] यह सर्वव्यापित्व का लक्षण है। पाश और अंकुश की नाना प्रकार से व्याख्या की गई है।

"रागः पाशः, द्वेषोऽङ्कुशः।"[३]

"राग पाश है, द्वेष अंकुश है।"

"इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।"[४]

"इच्छाशक्ति पाश है और अंकुश ज्ञान है।"

"इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एव तदाज्ञया पाशादिस्वरूपमापन्नास्तदुपासनमाचरन्ति।"[५]

"इच्छा ज्ञान और क्रियाशक्तियाँ ही उसकी आज्ञा से पाशादि-स्वरूप धारण कर उसकी उपासना करती हैं।"

गणेश मोदकप्रिय हैं। ॐकार स्वरूप में सूँड़ नाद का और मोदक विन्दु का प्रतीक है। अन्यथा मोदक असंख्य जीव हैं, जो इनके आकाशरूपी विशाल उदर में निवास करते हैं। सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा इनके तीन नेत्र हैं।

"शशिभास्करवीतिहोत्रदृक्।"[६]

कभी काल-सर्प और कभी त्रिगुणात्मक प्रणव इनका यज्ञोपवीत है।

"यज्ञोपवीतं त्रिगुणस्वरूपं सौवर्णमेवं ह्यहिनाथभूतम्।"[७]

---

१. श्यामारहस्यम्, जीवानन्द, कलकत्ता, १८९६; पृ० ९२। कालिकाकवचम्, श्लोक २।
२. विष्णु और शिव-प्रसंग में यह स्पष्ट होगा।
३. भावनोपनिषत्।
४. वामकेश्वरतन्त्रम्।
५. कामकलाविलास, श्लोक ३८ पर टीका।
६. गणेशस्तवराज, श्लोक ८।
७. गणेशमानस-पूजा, श्लोक २१।

"त्रिगुणात्मक यज्ञोपवीत ही सोने के शेषनाग बने हुए हैं।"

"उपवीतं गणाध्यक्ष गृहाण च ततः परम्।
त्रैगुण्यमयरूपं तु प्रणवग्रन्थिबन्धनम् ॥"[1]

"हे गणाध्यक्ष ! उपवीत ग्रहण कीजिये। यह त्रिगुण है, जिसमें प्रणव (ॐकार) की ग्रन्थि लगी हुई है।" गणेश का वाहन मूषिक, वृष, सिंह, गरुड और मयूर है।

मूषिक, वृष, सिंहादि की तरह धर्म का प्रतीक है—

"अधुना सम्प्रवक्ष्यामि रहस्यं मूषिकस्य च।
वृषाकारमहाकाय वृषरूप महाबल।
धर्मरूप वृषस्त्वं हि गणेशस्य च वाहनम्
नमस्करोम्यहन्त्वाखो पूजासिद्धिं प्रयच्छ मे ॥"[2]

"अब मैं मूषिक का रहस्य कहता हूँ। वृष की तरह विशाल शरीरवाले वृषरूपधारी, महाबलवान्, धर्मरूप वृषभ आप ही गणेश के वाहन हैं। हे मूषिक ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मुझे पूजा की सफलता प्रदान कीजिये।" यहाँ शिव के वृषभ और दुर्गा के सिंह की तरह मूषिक को धर्म का रूप कहा गया है।

"ध्यायेत्सिंहगतं विनायकममुं दिग्बाहुमाद्ये युगे।
त्रेतायां तु मयूरवाहनममुं षड्बाहुकं सिद्धिदम् ॥
द्वापारे तु गजाननं युगभुजं रक्ताङ्गरागं विभुम्।
तुर्ये तु द्विभुजं सिताङ्गरुचिरं सर्वार्थदं सर्वदा ॥"[3]

"आदि (सत्य) युग में, सिंह पर बैठे हुए, चार अथवा आठ (दिक्) भुजाओंवाले विनायक का ध्यान करना चाहिये। त्रेता में मयूरवाहन पर, छः बाहुवाले सिद्धिदाता का ध्यान करना चाहिये। द्वापर में हाथी के मुख, दो हाथ और रक्तविलेपनवाले सर्वव्यापी का ध्यान करना चाहिये। चतुर्थ (कलियुग) में सुन्दर उज्ज्वल अङ्गों और दो भुजाओंवाले सर्वार्थदाता का सर्वदा ध्यान करना चाहिये।"

"रहस्यं शृणु वक्ष्यामि मयूरस्य यथोचितम्।
नाना चित्रविचित्राङ्ग गरुडाज्जननं तव ॥
अनन्तशक्तिसंयुक्त कालाहेर्भक्षणं ततः।"[4]
"गरुडस्त्वं महाभाग सदा त्वां प्रणमाम्यहम् ॥"[5]

"मयूर के उचित रहस्य को बताता हूँ, सुनो ! नाना प्रकर के चित्रविचित्र अङ्गों वाले आप हैं और गरुड से आपका जन्म हुआ है। अनन्त शक्तिवाले हैं, इसलिये कालसर्प का भक्षण करते रहते हैं। हे महाभाग ! आप गरुड हैं। आपको मैं सदा प्रणाम करता हूँ।"

१. गणेशबाह्यपूजा, श्लोक २६।
२. कालीविलासतन्त्रम् (लण्डन, १६१७ ई०); पटल १८, श्लोक १०-११।
३. गणेश कवच का ध्यानश्लोक।
४. पा० कालाहेर्भक्षणम्।
५. कालीविलासतन्त्रम्, पटल १८, श्लोक ८, ६।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि मूषिक, मयूर, वृषभ[1], सिंह, गरुडादि धर्म के प्रतीक हैं और सर्वाधार ब्रह्म, साकार रूप में, सारी सृष्टि को धारण करनेवाली अपनी ही शक्ति धर्म पर आरूढ़ रहता है। मयूर रूप में धर्म काल से भी प्रबल कहा गया है, जो काल सर्प का भक्षण करता है। काष्ठजिह्वा स्वामी की उक्ति से भी इसकी पुष्टि होतीःहै। कृष्ण के मयूरपंख के सम्बन्ध में इन्होंने कहा है—

"मोरपख ये ही दरसावत सर्प काल को काल
श्याम ब्रह्म श्रुतिबोलत सो देवकिसुत गोपाल
ताको तुम भजन करो॥"

शक्ति और शक्तिमान् की अभिन्नता के सिद्धान्त पर मायाशक्ति को सिद्धि और बुद्धि के रूप में इनकी सहचरी कहा गया है—

"वामाङ्के शक्तियुता गणेशं सिद्धिस्तु नानाविध सिद्धिभिस्तम्।
अत्यन्तभावेन सुसेवते तु मायास्वरूपा परमार्थभूता॥
गणेश्वरं दक्षिणभावसंस्था बुद्धिः कलाभिश्च सुबोधिकाभिः।
विद्याभिरेवं भजते परेशं मायासु सांख्यप्रदचित्तरूपा॥"[2]

"बाईं ओर[3] नाना प्रकार की सिद्धियों और शक्तियों के साथ सिद्धि एकान्त भाव से गणेश की सेवा करती है। यथार्थ में यह माया का ही अपना रूप है। अनेक सुबोध कलाओं और विद्याओं के साथ बुद्धि दक्षिण भाव से[4] परेश गणेश की सेवा करती है। मायाओं में ज्ञान देनेवाली ये (शुद्ध) चेतन हैं।"

बाह्य अर्थात् लौकिक दृष्टि से गणेश का वाहन मूषिक विघ्न का प्रतीक है। सारी सृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति, समाज, राष्ट्र इत्यादि क प्रत्येक कार्य के साथ विघ्न लगा रहता है और बुद्धि से यह वश और विवश किया जाता है। जितना विशाल कार्य होता है, उतना ही विशाल विघ्न भी होता है और उसे शान्त रखने के लिये उतनी ही बड़ी बुद्धि की भी आवश्यकता होती है। सारी सृष्टि के विघ्नों का नाश करने के लिये विशाल बुद्धि का प्रतीक गणेश का विशाल शरीर है। इस महाबुद्धि की शक्ति के सामने सभी विघ्न चूहे-से बन जाते हैं और विवश रहते हैं।

गणेश के गजानन में भी कुछ इसी तरह की कल्पना दिखाई पड़ती है। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शरीर के लक्षणों में लम्बी नाक प्रखर बुद्धि का लक्षण है। मालूम होता है कि इसी भाव का अनुसरण कर बुद्धि के अधीश्वर और महाबुद्धि रूप गणनायक को संसार की सबसे लम्बी हाथी की नाक देकर इन्हें गजानन बना दिया गया। चाहे जिस रूप की कल्पना की जाय, यह स्पष्ट है कि इन रूपों में एक अखण्डित सत्ता की उपासना होती है और तदनुरूप नाना रूपों का निर्माण किया जाता है।

---

१. शिव और बुद्ध-प्रकरण में वृषभ का और दुर्गा-प्रकरण में सिंह के धर्मत्व का विस्तृत विवरण है।
२. गणेश-मानस-पूजा, श्लोक ६१, ६२।
३. उदारभाव से।
४. दाहिनी ओर।

नटेश गणेश

विभु के स्पन्दन का ही नाम उसकी इच्छा और क्रिया है। उसकी इच्छा से उसमें जो स्पन्दन होते हैं, वे सृष्टि में नाना प्रकार की क्रियाओं का रूप ग्रहण करते हैं। यही विभु की लीला है। कला की भाषा में इसको ही विश्वात्मा का नृत्य कहते हैं। विश्वात्मा की जितने रूपों में कल्पना की गई, उन सभी का नृत्तरूप है। नटेश गणेश का एक वर्णन इस प्रकार है—

"शेषाहेः फणाभङ्गभीरुरवनौ मन्दं निधत्ते पदं
चीत्कारं जगदण्डसम्पुटभिदा भीत्या विधत्ते मनाक्।
नोड्डीयेत जगज्जवादिति शनैः कर्णाञ्चलं दोलय—
त्येवं योऽखिललोकरक्षणचणः पायाद्गणेशः स वः॥"[1]

"शेषनाग के फण न टूट जायँ, इसलिये पृथ्वी पर धीरे-धीरे पर रखते हैं, संसार-गोलक फट न जाय, इसलिये संक्षिप्त चीत्कार करते हैं, वेग में पड़कर संसार उड़ न जाय, इसलिये बड़े-बड़े कानों को धीरे-धीरे हिलाते हैं, इस प्रकार संसार की रक्षा में चतुर गणेश हमारी रक्षा करें।"

नृत्त गणेश की मूर्तियाँ सर्वत्र पाई जाती हैं। असम प्रदेश में कामाख्या देवी के मन्दिर पर भी यह मूर्त्ति बनी हुई है। इसके अतिरिक्त इन्हीं भावों के आधार पर पुराणों में गणेश के सम्बन्ध में नाना प्रकार की रोचक कथाओं की रचना की गई है। इसके गजानन और एकदन्त होने की कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है।

पुराणों में एक प्रकार के प्रेत या क्षुद्रदेवयानि वालों को गण[2] कहा गया है और उनके नेताओं को भी गणेश (गण + ईश) और विनायक[3] गण कहा गया है। ब्रह्मप्रतीक गणेश और भूत-प्रेतों के नायक गणेश और विनायक दो भिन्नार्थक शब्द हैं। उनका कोई पारस्परिक सम्पर्क नहीं है।

३. सरस्वती

सरस्वती शब्द का अर्थ है - गतिमती[4]। वाग्देवता या सरस्वती, आध्यात्मिक पक्ष में, निष्क्रिय ब्रह्म का सक्रिय रूप है। इसलिये यह ब्रह्मविष्णुशिवादि सभी को गति प्रदान करनेवाली शक्ति है। इसलिये इसे ब्राह्मी, हरिहरदयिते इत्यादि कहा जाता है। ध्यान श्लोकों में सरस्वती को, ब्रह्मविचारसारपरमा, आद्या, जगदव्यापिनी इत्यादि कहा है—

---

१. मुद्राराक्षस (काले का संस्करण बम्बई, शाके १८३८) ढुण्ढिराज की टीका, पृ० ६।

२. गणेशैर्विविधाकारैर्हासं संजनयन् मुहुः।
देवीं बालेन्दुतिलको रमयंश्च रराम च॥
—ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना) अ० ३८. श्लो० २२।

३. पूतना नाम भूतानां ये च लोकविनायकाः।
सहस्रशतसंख्यानां मर्त्यलोकविचारिणाम्।
एवं गणशतान्येव चरन्ति पृथिवीमिमाम्॥
—वायुपुराण (आनन्दाश्रम, पूना) अ० ६९, श्लो० १६२-१६३।

४. वाक्प्रकरण देखिये।

"शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीम्
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थिताम् ।
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥"

"शुक्ल वर्णवाली, ब्रह्मविद्या का अन्तिम सार, आद्याशक्ति, जगत् में व्याप्त, वीणा और पुस्तक धारण करनेवाली, अभय देनेवाली, जड़ता रूपी अन्धकार का नाश करनेवाली, हाथ में स्फटिक की माला धारण करनेवाली, पद्मासन पर बैठी हुई, बुद्धि देनेवाली उस परमेश्वरी भगवती शारदा की मैं वन्दना करता हूँ।" यहाँ आद्या, जगद्व्यापिनी, ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी आदि शब्दों से सरस्वती को ब्रह्मस्वरूपिणी कहा गया है। दूसरा प्रचलित ध्यान श्लोक इस प्रकार है—

"या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या [illegible]ता।
या वीणावरद[illegible] या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा माम्पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥"

"कुन्द, चन्द्रमा, हिमपंक्ति-जैसा जिनका उज्ज्वल वर्ण है, जो उजले वस्त्रों से आवृत हैं, सुन्दर वीणा से जिनका हाथ अलंकृत है, जो श्वेतकमल पर बैठी हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देवगण सर्वदा जिनकी स्तुति करते रहते हैं, जो सभी प्रकार की जड़ताओं का विनाश करनेवाली हैं, वही सरस्वती देवी मेरी रक्षा करें।"

सरस्वती का उज्ज्वल वर्ण, ज्योतिर्मय ब्रह्म का प्रतीक है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पूज्या होना भी यही सिद्ध करता है।

दुर्गासप्तशती के प्राकृतिक रहस्य में[1] इन्हें महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, महाधेनु, वेदगर्भा (अर्थात् ॐकार की तरह वेदमाता) सुरेश्वरी इत्यादि कहा है। उपनिषत् में महाधेनु का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

"वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारस्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च। हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरः। तस्याः प्राण ऋषभो मनोवत्सः ॥"[2]

"वाग्धेनु की उपासना करे। उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार, स्वधाकार। स्वाहाकार और वषट्कार—ये दो स्तन देवताओं के उपजीव्य हैं। हन्तकार मनुष्य के और स्वधाकार पितरों के। प्राण उसका वृषभ है और मन बछड़ा है।" निम्नलिखित उपनिषद्वाक्यों में भी सरस्वती के ब्रह्मरूप का विस्तृत विवरण मिलता है—

"या वेदान्तार्थतत्त्वैकस्वरूपा परमार्थतः।
नामरूपात्मनाव्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥
या साङ्गोपाङ्गवेदेषु चतुर्ष्वेकैव गीयते।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती ॥

१. प्राकृतिकरहस्यम्, श्लोक १५।
२. बृहदारण्यकोपनिषत्, ५, ८, १ ।

या वर्णपदवाक्यार्थस्वरूपेणैव वर्त्तते ।
अनादिनिधनानन्ता सा मां पातु सरस्वती ॥
अन्तर्याम्यात्मना विश्वं त्रैलोक्यं या नियच्छति ।
रुद्रादित्यादिरूपस्था यस्यामावेश्य तां पुनः ।
ध्यायन्ति सर्वरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥
या प्रत्यग्दृष्टिभिर्जीवैर्व्यज्यमानानुभूयते ।
व्यापिनी ज्ञप्तिरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥
नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा या विकल्पिता ।
निर्विकल्पात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥
नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्य तां पुनः ।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥"[1]

"जो यथार्थ में वेदान्त के अर्थ (विषय) के तत्त्व हैं और नामरूप से प्रकट हैं वे सरस्वती मेरी रक्षा करें। साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों में जिनका गान होता है, जो ब्रह्म की अभिन्न शक्ति हैं, वे सरस्वती मेरी रक्षा करें। जो आदि और अन्तरहित अनन्ता, वर्ण, पद, वाक्य और अर्थ के रूप में वर्त्तमान हैं, वे सरस्वती मेरी रक्षा करें।"

अन्तर्यामी आत्मा द्वारा सम्पूर्ण त्रैलोक्य का जो नियन्त्रण करती है, जो रुद्र आदित्य इत्यादि के रूप में वर्त्तमान है, जिसमें प्रवेश कर लोग उस एक और सर्वरूपिणी का ध्यान करते हैं, वह सरस्वती मेरी रक्षा करे।

जिसे अन्तर्दृष्टिवाले जीव अनुभव और प्रकट करते हैं, जो व्यापिनी, एक और ज्ञान (ज्ञप्ति) रूपिणी है, वह सरस्वती मेरी रक्षा करे। नाम, जाति आदि भेदों द्वारा आठ प्रकार से जिनकी कल्पना की जाती है और कल्पनारहित होने के कारण आप-से-आप जो प्रकट होती है, वह सरस्वती मेरी रक्षा करे।

नामरूपात्मक सब कुछ जिसमें प्रवेश कर (जिसके भीतर रहकर) उसका ध्यान करते हैं, वह सरस्वती मेरी रक्षा करे।"

स्तोत्रों में इनके स्थूल और सूक्ष्म रूप को और भी अधिक स्पष्ट किया गया है—

"सरस्वतीं नमस्यामि चैतन्यां हृदि संस्थिताम् ।
कण्ठस्थां पद्मयोनेश्च ह्रीं ह्रींकारप्रियां सदा ॥
मतिदां वरदां चैव सर्वकामफलप्रदाम् ।
केशवस्य प्रियां देवीं वीणाहस्तां वरप्रदाम् ॥
ऐं ऐं मन्त्रप्रियां देवीं कुमतिध्वंसकारिकाम् ।
स्वप्रकाशां निरालम्बामज्ञानतिमिरापहाम् ॥
मोक्षप्रदां शुभां नित्यां शुभाङ्गीं शोभनप्रियाम् ।
पद्मसंस्थां कुण्डलिनीं शुक्लवस्त्रां मनोहराम् ॥

१. सरस्वतीरहस्योपनिषद् ।

[illegible] वीणां प्रणमामि जनप्रियाम् ।
ज्ञानाकारां जगद्दीपां भक्तजाड्यविनाशिनीम् ॥
इति सा संस्तुता देवी वागीशेन महात्मना ।
आत्मानं दर्शयामास रविबिम्बसमप्रभाम् ॥"[1]

"सरस्वती को मैं नमस्कार करता हूँ। वे हृदय में रहनेवाली चेतना हैं। पद्मयोनि (ब्रह्मा) के कण्ठ में सदा रहती हैं और ह्रींह्रींकार उनको प्रिय है। मति, वर और सभी उद्यमों के फल देनेवाली हैं। देवी केशव की प्रिया हैं, हाथ में वीणा है और वरद (मुद्रा में) हैं। देवी को ऐं-ऐं मन्त्र प्रिय है, दुर्बुद्धि का नाश करनेवाली हैं। स्वतः प्रकाशवाली हैं, अवलम्बविहीन (अर्थात् अशेष कारण स्वरूपा) हैं और अज्ञान के अन्धकार का नाश करनेवाली हैं। मोक्षप्रद, शुभ स्वरूपा, नित्या, शुभाङ्गी और शोभन (अच्छे विचारवालों) को प्रिय हैं। (षट्चक्रों के) पद्मों में निवास करनेवाली कुण्डलिनी हैं और इनका मनोहर शुक्लवर्ण है। सबको प्रिय हैं और आदित्यमण्डल (गगनलिङ्ग)[2] में लीन हैं। मैं इन्हें प्रणाम करता हूँ। ज्ञानस्वरूप संसार (को दृष्टि देनेवाली) दीप हैं। भक्त की जड़ता का नाश करनेवाली हैं। महात्मा बृहस्पति ने जब इस प्रकार स्तुति की, तब देवी ने रविबिम्ब की प्रभा की तरह अपने को दिखलाया।"

यहाँ सरस्वती को चित्, स्वप्रकाश, नित्य-निरालम्ब और ज्ञानस्वरूप कहा गया है। यह वेदान्त का 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है। ये तान्त्रिकों की कुण्डलिनी हैं। केशव की प्रिया हैं और ब्रह्मा के मुख में निवास करती हैं।

एक अन्य स्तोत्र का कुछ अंश इस प्रकार है—

"ह्रीं ह्रीं ह्रीं हृद्यबीजे, शशिरुचिकमले कल्पविस्पष्ट शोभे।
भव्ये भव्यानुकुले, कुमतिवनदवे विश्ववन्द्यांघ्रिपद्मे।
पद्मे पद्मोपविष्टे, प्रणतजनमनोमोदसम्पादयित्री।
प्रोत्फुल्लज्ञानदीपे, हरिहरदयिते देवि-संसारसारे॥
ध्रीं ध्रीं ध्रीं धारणाख्ये धृतमतिनुतिभिर्नामभिः कीर्तनीये।
नित्ये नित्ये निमित्ते मुनिजननमिते नूतने वै पुराणे।
पुण्ये पुण्यप्रवाहे हरिहरनमिते पूर्णतत्त्वे सुवर्णे।
मात्रे मात्राधंतत्त्वे मतिमतिमतिदे माधवि प्रीतिनादे॥
सौं सौं शक्तिबीजे कमलभव[illegible]म्भोजभूतिस्वरूपे।
[illegible]रूपप्रकाशे सकलसुरमये निर्गुणे निर्विकल्पे
नो स्थूले नैव सूक्ष्मेऽप्यविदितविभवे जाप्यविज्ञानतत्त्वे।
विश्वे विश्वान्तराले सकल गुणमये निष्कले नित्यशुद्धे॥"

"ह्रींकार के रूप में हृदयबीज हो, चन्द्रमा जैसी (शीतल और आह्लाददायिनी) कमला हो, सृष्टि, तुम्हारी प्रत्यक्ष शोभा है, भव्य हो, भव्य लोगों पर तुम्हारी कृपा

१. बृहस्पतिकृतं सरस्वतीस्तोत्रम्।
२. लिङ्ग-प्रकरण में इसका विवरण है।

रहती है, कुमति-वन के लिए तुम दावानल हो, सभी तुम्हारे चरणों की वन्दना करते हैं, तुम पद्मा हो, पद्म पर तुम्हारा आसन है, प्रणत लोगों के मन को प्रसन्नता प्रदान करनेवाली हो, प्रोत्फुल्ल ज्ञानप्रदीप हो, हरि और हर की प्रिया हो और संसार का सार हो।

ध्रीं रूप में तुम्हारा नाम धारणा है, तुम्हें ही लोग धृति, मति, नुति इत्यादि कहते हैं। तुम नित्या हो, (संसार का) नित्य (चिरन्तन) कारण हो, मुनिजनों के प्रणम्य हो और नवीन तथा प्राचीन हो। पुण्य हो, पुण्यप्रवाह हो, हरि और हर की पूज्या हो, तुम पूर्णतत्त्व (ब्रह्म) हो और मनोहर वर्णवाली हो। तुम मात्रा हो, अर्धमात्रा का तत्त्व हो, हे महाबुद्धि देनेवाली ! बुद्धि दो। हे माधवि ! तुम ही प्र म का स्वर हो।

सौ रूप में शक्तिबीज हो, ब्रह्मा के मुख की विभूति हो, साकार और निराकार का प्रकाश हो, सभी देवताओं के रूप में तुम्हीं हो, निर्गुण और रूपरहित हो। न स्थूल और न सूक्ष्म (किन्तु कारणस्वरूपा) हो, तुम्हारा वैभव जाना नहीं जा सकता और जपविज्ञान के तत्त्व तुम्हीं हो। विश्व और विश्वव्यापिनी तुम्हीं हो, सभी गुणों में तुम व्याप्त हो, निराकार हो और नित्य शुद्ध हो।"

इन श्लोकों में सरस्वती को पद्मा कमला हरिहरदयिते, और हरिहरनमिते कहा गया है। ये कमलभवमुखाम्भोजस्वरूपा हैं। इससे यही स्पष्ट है कि ये व्यस्त रूप में ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर की शक्ति और समस्त रूप में परब्रह्ममयी ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्ति हैं। नित्य, निमित्त, मात्रार्धतत्त्व, निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार, कारणस्वरूपादि विशेषणों से इनका ब्रह्मरूप ही स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मा, बुद्ध और त्रिपुरा की तरह सृष्टिपद्म इनका आसन है। इसे तांत्रिक सप्त-कमल पर निवास करनेवाली कुण्डलिनी कहते हैं।

सरस्वती का गौर उज्ज्वल वर्ण है। इनके वस्त्राभूषणादि सभी उजले हैं— 'सर्वशुक्ला सरस्वती'। ज्ञान की देवी होने के कारण इनका परमोज्ज्वल शुभ्र वर्ण है। अध्यात्म-पक्ष में यह 'ज्ञानं ब्रह्म' का ज्योतिर्मय रूप है।

इनकी चार भुजाएँ हैं। ये चारो दिशाओं के प्रतीक हैं जो सर्वव्यापित्व के लक्षण हैं। एक हाथ में पुस्तक है। स्थूल रूप में यह ज्ञान प्राप्ति का प्रधान साधन है और अध्यात्म-पक्ष में सर्वज्ञानमय वेद का लक्षण है। दूसरे हाथ में माला है। यह स्थूल रूप में एकाग्रता का चिह्न है। अध्यात्म पक्ष में यह विष्णु की वैजयन्ती काली और महाकाल की मुण्डमाला और बुद्ध की पद्ममाला की तरह विश्वजननी मातृका वर्णशक्ति की माला[1] है। इनके दो हाथों में वीणा है। यह स्थूल रूप में जीवन-संगीत का प्रतीक है। हमारी जितनी क्रियाए और विचार हैं, उनका सर्जनात्मक नादरूप पुञ्जीभूत होकर महाविश्व संगीत के रूप में काम करता है। यही इनकी वीणा है। अध्यात्म-पक्ष में ऐं और ह्रीं बीज इनके सूक्ष्मरूप हैं और इनका नाद सरस्वती का पर, अर्थात् कारण रूप है। इन बीजों की अभिव्यक्ति वीणा के नाद में होती है, जो साधकों को सिद्धि और निर्वाण प्रदान करते हैं।

---

१. माला के विशेष विवरण के लिए वाक्, विष्णु और काली-प्रकरण देखना चाहिये।

सरस्वती कमल पर ज्ञान-मुद्रा[1] में बैठी रहती हैं। कमल, सृष्टि का प्रतीक है। इस रूप से यही अभीष्ट है कि यह शक्ति सारी सृष्टि में सर्वव्यापिनी है।

मयूर[2] और सिंह[3] भी सरस्वती के वाहन माने जाते हैं; पर इनका प्रसिद्ध वाहन राजहंस है। इसका निष्कलंक उज्ज्वल वर्ण और नीरक्षीरविवेक, सरस्वती के उपासकों के निष्कलंक चरित्र और गुण-दोष को जानकर गुण को ग्रहण करने का प्रतीक है।

अध्यात्म-पक्ष में हंस जीव का प्रतीक है। जीव, प्राणशक्ति के द्वारा काम करता है, जिसका लक्षण निःश्वास और प्रश्वास की क्रिया है। निःश्वास से 'हं' और प्रश्वास से 'सः' ध्वनि निकलती है। यही निःश्वास-प्रश्वास का आवागमन 'हंसः' है, जिसके द्वारा चिद्रूपिणी सरस्वती क्रिया निष्पादन करती है। यह हंस निर्विकल्प समाधि में अशेषकारण की जलराशि में तैरता रहता है। यही शाक्तों की सहस्रार-गत कुण्डलिनी और बौद्धों का शून्यगत परमानन्दमय निर्वाण है।

उपनिषत् में आत्मा का नाम हंस है—

> "स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
> शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः॥
> प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतं चरित्वा।
> स ईयतेऽमृतो यत्रकामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥"[4]

"स्वयं असुप्त है; किन्तु निद्रावस्था में शरीर को छोड़कर भी निद्रितों को जीवित रखता है और तेज को ग्रहणकर फिर अपने स्थान (शरीर) में आ जाता है, वही हिरण्यमय पुरुष एक हंस है।

प्राण (निःश्वास-प्रश्वास से लक्षित) द्वारा अवर कुलाय (घोंसला-शरीर) की रक्षा करता हुआ कुलाय (शरीर) से बाहर इच्छापूर्ण अमृत-पानकर जो पुनः आ जाता है, वह हिरण्यमय पुरुष एक हंस है।"

ब्रह्ममयी सरस्वती के ये नाना नाम और रूप हैं।

४. गायत्री

शैवों और वैष्णवों के तुरीय तथा शाक्तों की तुर्या वा तुरीया ही ब्रह्ममयी गायत्री हैं। गायत्री के नाम हैं—

> "विश्वा तुर्या परा रेच्या निघृंणी यामिनी भवा।"[5]

"विश्वा (विश्वरूपिणी), तुर्या (त्रिगुण और त्रिदेव से परे चतुर्थ), परा (सृष्टि का कारण), रेच्या, निघृंणी, यामिनी और भवा।"

१. इसमें एक पैर ऊपर समेट कर और दूसरा आसन से नीचे लटका कर बैठा जाता है। विष्णु, बुद्ध, शिव आदि की प्रतिमाएँ ऐसी मुद्रा में पाई जाती हैं।

२. मयूर का विवरण गणेश के प्रसंग में दिया जा चुका है।

३. सिंह का विवरण दुर्गा-प्रकरण में देखिये।

४. बृहदारण्यकोपनिषत्, ४,३,११-१२।

५. गायत्रीनामाष्टाविंशतिस्तोत्रम्, श्लोक २०।

इन नामों से गायत्री के ब्रह्मस्वरूप को व्यक्त किया गया है। मातृशक्ति के रूप में ब्रह्म की उपासना गायत्री के रूप में की जाती है। गायत्री का ही नाम सावित्री है।

गायत्री का साधारण ध्यान इस प्रकार है—

"श्वेतवर्णा समुद्दिष्टा कौशेयवसना तथा।
श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलङ्कारैश्च भूषिता॥
आदित्यमण्डलस्था च ब्रह्मलोकगताऽथवा।
अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा॥"[1]

"इनका वर्ण श्वेत है, रेशमी वस्त्र हैं, श्वेत विलेपन, पुष्प और अलंकार से विभूषित हैं, सूर्यमण्डल या ब्रह्मलोक में हैं, शुभ देवी पद्मासन पर हैं और हाथ में अक्षसूत्र अर्थात् (वर्ण) माला है।"

ब्रह्मरूपिणी होने के कारण इनका वर्ण प्रकाशमय (श्वेत) है और आदित्यमण्डल में भी इनका ध्यान किया जा सकता है।

अक्षसूत्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"आदिक्षान्तसबिन्दुयुक्तसहितं मेरुं क्षकारात्मकम्।
व्यस्ताव्यस्तसमस्तवर्गसहितं पूर्णं शताष्टोत्तरम्॥"[2]

"अ से क्ष तक बिन्दुसहित (सभी वर्ण) और क्ष मेरु हो। सीधा और उल्टा ये (५० + ५० = १००) और वर्गाष्टक (अ, क, च, ट, त, प, य, श) मिलकर १०८ होते हैं।"

"अकारः प्रथमो देवो क्षकारोऽन्त्यस्ततः परम्।
अक्षमालेति विख्याता मातृका वर्णरूपिणी।
शब्द ब्रह्मस्वरूपेऽयं शब्दातीतं तु जप्यते॥[3]"

"देवि ! प्रथम अक्षर अकार है और अन्तिम क्षकार है। यही अक्षमाला के नाम से प्रसिद्ध है। यह मातृ-वर्ण का अपना रूप है। यह माला शब्द-ब्रह्ममयी है। इसके द्वारा शब्दातीत का जप किया जाता है।"

उपर्युक्त ध्यान श्लोक में मस्तक और हाथों की संख्या नहीं देने से बोध होता है कि गायत्री का एक मस्तक, दो हाथ, और दो पैरवाला साधारण रूप ही अभीष्ट है। जिस हाथ में अक्षसूत्र रहेगा, वह अभय-मुद्रा में और दूसरा वरद-मुद्रा में रहेगा।

गायत्री का चतुर्मुख, चतर्भुज, पञ्चमुख, अष्टभुज, रक्त-श्वेत-श्याम वर्णादि—किसी भी रूप में ध्यान किया जाता है। बाला, युवती और वृद्धारूप में भी इनका ध्यान किया जाता है। चतुर्मुख चारों वेद के प्रतीक हैं। चतुर्भुज और अष्टभुज, दिशाओं के प्रतीक हैं। इससे इनके सर्वव्यापित्व का बोध होता है।

---

१. गायत्री का प्रचलित ध्यान।

२. गायत्रीस्तवराज, श्लो० २०।

३. ज्ञानार्णवतन्त्रम् ललितासहस्रनाम के १६७ श्लोक की टीका में भास्करराय द्वारा उद्धृत।

इनके पाँच मस्तक की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"व्याकरणमस्याः प्रथमशीर्षं भवति, शिक्षा द्वितीयं, कल्पसूत्रस्तृतीयं, निरुक्तं चतुर्थं, ज्योतिषामयनं पञ्चमम् ।"[1]

"व्याकरण इनका प्रथम मस्तक है, शिक्षा दूसरा, कल्पसूत्र तीसरा, निरुक्त चौथा, और ज्योति के अयन पञ्चम ।"

सिंह, वृषभ, गरुड, मृग हंस—सभी इनके वाहन हैं ।

"मृगेन्द्र वृषपक्षीन्द्रमृगहंसासने स्थिताम् ।"[2]

एक ही शक्ति का नाम गायत्री और कुण्डलिनी है —

"मूले तु कुण्डलीशक्तिर्व्यापिनी केशमूलगा ।"[3]

"(गायत्री ही) मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति हैं, जो केशमूल तक व्याप्त हैं ।"

"आरोहावरोहतः क्रमगता श्रीकुण्डलीत्थं स्थिता ॥"[4]

"(गायत्री) श्रीकुण्डली के रूप में आरोह और अवरोह के क्रम से अवस्थित है ।"[5]

५. ब्रह्मा

सभी प्रधान देवों के प्रतीकों के निर्माण में ब्रह्म, वाक, माया, दिक, काल, त्रिगुण और धर्म के सिद्धान्तों का प्रधानतया प्रयोग होता है । कोई विशेष प्रयोजन ध्यान में रहने से, इनके अतिरिक्त, अन्य सिद्धान्तों के आधार पर भी प्रतीक की कल्पना की जाती है ।

विष्णु और शिव की तरह ब्रह्मा के भी दो रूप हैं— पूर्णब्रह्म और रजोगुण के अधिष्ठाता गुणाभिमानी देव ।

ब्रह्मा, ब्रह्म हैं, आत्मभू (आप-से-आप उत्पन्न होनेवाले) हैं । ये स्वयंभू हैं और सारी सृष्टि के धाता (बनानेवाले) हैं । ये सृष्टिस्वरूप हैं, अर्थात् इनमें और सृष्टि में कोई अन्तर नहीं है—

"जगद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव ।
जगदात्म विराडेव यो विराट् तज्जगत्स्मृतम् ।
जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥"[6]

"पवन और उसके स्पन्दन की तरह जगत् और विराट् एक ही सत्ता हैं, जो जगत् है, वही विराट् है, जो विराट् है, वही जगत् है । जगत्, विराट् और ब्रह्मा ये तीन पर्यायवाची (एकार्थक) शब्द हैं ।"

---

१. गायत्रीहृदयस्तोत्रम् ।
२. सावित्रीपञ्जरस्तोत्रम्, श्लोक ४८ ।
३. गायत्रीस्तोत्रम्, श्लोक २ ।
४. गायत्रीस्तवराजः, श्लोक ११ ।
५. इसके अधिक ज्ञान के लिये सर जौन उडरफ के Garland of Letters में गायत्री पर निबन्ध देखना चाहिए ।
६. योगवासिष्ठ (निर्णय-सागर, बम्बई, शाके, १८५१, सन् १९३७), निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्द्ध, सर्ग ७४, श्लोक २४, २५ ।

इनके चतुर्मुखादि की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"ऋग्वेदादिप्रभेदेन कृतादियुगभेदतः ।
विप्रादिवर्णभेदेन चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम् ॥"[1]

"ऋग्वेदादि चारों वेद, कृत इत्यादि चारों युग और ब्राह्मणादि चार वर्णों के प्रतीक इनके चारों मुख और चारों भुजाएँ हैं ॥"

"अरुणादित्यसंकाशं चतुर्वक्त्रं चतुर्मुखम् ।
चतुर्वेदमयं देवं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥"[2]

"ब्रह्मा के बालसूर्य के समान लाल वर्ण, चार शिर और चार मुख, चारों वेदमय और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के देनेवाले हैं ।"

लाल रंग रजोगुण का संकेत है ।

मायाशक्ति ही वाक्, वाणी या सरस्वती हैं, जो ब्रह्म के भिन्न-भिन्न कल्पित रूपों के साथ संलग्न हैं ।

"लक्ष्मीर्मेधा धरा पुष्टिर्गौरी तुष्टिः प्रभा मतिः ।
एताभिः पाहि चाष्टाभिस्तनुभिर्मां सरस्वति ॥"[3]

"देवि सरस्वति ! लक्ष्मी, मेधा, धरा, पुष्टि, गौरी, तुष्टि, प्रभा और मति—इन आठ रूपों से आप मेरी रक्षा करें ।"

इनका वाहन राजहंस है[4], जो शान्ति, पवित्रता इत्यादि का प्रतीक है। यह हंसः सोऽहं अजपाजप करनेवाले जीव और प्राणशक्ति का भी प्रतीक है, जिसके द्वारा ब्रह्मा सृष्टि का संचालन करते हैं ।

रजोगुणाभिमानी ब्रह्म के प्रतीक होने पर ये सत्त्व और तम—दोनों गुणों को क्रियाशील करनेवाले रजोगुण के अधीश्वर हैं और विधाता और स्रष्टा हैं ।

इनका नाम अब्जयोनि है । ये कमल से उत्पन्न होते हैं और उस पर बैठे रहते हैं । यह कमल विष्णु की नाभि से निकलता है ।

विश्वव्यापी और अविनाशी तत्त्व में जब स्पन्दन होता है तब यह बिन्दु का रूप ग्रहण करता है । इससे शैवों के मूलस्तम्भ, शाक्तों के नाद-बिन्दु और वैष्णव तथा शाक्तों के कमलनाल और कमल का उत्थान होता है ? इस पद्म का रूप है—

"प्रकृतिमयपत्रविकारमयकेसरसंविन्नालादिविशेषणशीलं पद्मम् ।"[5]

"प्रकृति इसके पत्ते हैं, परिवर्तन या विवर्त इसका केसर है और चेतना इसका नाल है । इस पद्म के ऐसे ही विशेषण हैं ।" इसलिये कहा गया है—

"पद्मं विश्वं करे स्थितम् ॥"[6]

१. रूपमण्डन ।
२. कालीविलास-तन्त्रम् (लण्डन, १९१७ ई०), पटल २०, श्लोक १२ ।
३. मत्स्यपुराण (आनन्दाश्रम, पूना) ६६.९६ ।
४. हंस के लिये वाक् और सरस्वती-प्रकरण भी देखिये ।
५. ललितासहस्रनाम (सौभाग्य-भास्करभाष्य, बम्बई, १९३५), पृ० ८१ ।
६. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्, श्लोक २६ ।

"विष्णु के हाथ में पद्म के रूप में विश्व है।" यही चेतना का पद्मनाल बौद्धों का स्तूप और स्तम्भ है। यही शैवों का शिवलिङ्ग और जैनों की दण्डायमान तीर्थंकर-प्रतिमा है।

पद्म के विषय में हैवेल का अनुमान इस प्रकार है—

"हमलोग देख चुके हैं कि अरबों का धार्मिक आदर्श और दर्शन कोणवाले मेहराब में एकत्रित था। मुसलमानों के लिये जो मेहराब है, हिन्दुओं और बौद्धों के लिए वही कमल है। तालों के प्रशान्त काले जल पर तैरते हुए और झलमलाते हुए कमल, प्रभात-काल में बाल-सूर्य की किरणों के प्रथम स्पर्श से उनके असंख्य दलों का खुल पड़ना, और सूर्यास्त के समय फिर बन्द हो जाना और नीचे कीच में छिपे हुए कन्द में, सृष्टि का पूर्ण प्रतीक दिखाई पड़ता था। इसमें आकाश की स्थिरता में अन्धकारमय शून्य की विसृष्टि (chaos) से सृष्टि की दिव्य पवित्रता और सुन्दरता थी। उनके लाल, उज्ज्वल और नील वर्ण त्रिमूर्ति के प्रतीक थे, जो एक के ही तीन रूप थे। लाल ब्रह्मा, स्रष्टा; उजला शिव, परमात्मा; नीला विष्णु, जगत् के त्राता। घंटे के आकार का पुष्कर (उनके लिये) रहस्यमय हिरण्यगर्भ था, जो जगत् का उत्पत्ति-स्थान है और जिसमें अजात अनेक जगत् के बीज पड़े हुए हैं। कमल देवताओं का आसन और पादपीठ था, जो जड़ जगत् और अण्डकटाह (heavenly spheres) का प्रतीक है। यह सारे हिन्दूधर्म का उसी प्रकार प्रतीक था, जिस प्रकार सारे इसलाम के लिए मेहराब था।[१]"

ब्रह्मा के एक हाथ में पुस्तक और दूसरे में कभी स्रुव और कभी माला रहती है। एक में कमण्डल और एक में चरुपात्र रहता है। चरुपात्र और स्रुव यज्ञ के चिह्न हैं।

१. "We have already seen that the religious idealism and philosophy of the Arabs were summed up in the pointed arch. What the mihrab was to the Musalman, the lotus was to the Buddhist and the Hindu. The shining lotus flowers floating on the still dark surface of the lake, their manifold petals opening as the sun's rays touched them at break of day, and closing again at sunset, the roots hidden in the mud beneath, seemed perfect symbols of creation, of divine purity and beauty, of the cosmos, evolved from the dark void of chaos and sustained an equilibrium by the cosmic ether, Akash. Their colours red, white and blue, were emblems of the Trimurti, the three aspects of the One—red for Brahma, the creator; white for Shiva, the Divine Spirit; blue for Vishnu, the preserver and upholder of the universe. The bell-shaped fruit was the mystic Hiranyagarbha, the womb of the universe, holding the germ of world's innumerable still unborn. The lotus was the seat and footstool of the gods, the symbol of the material universe, and of the heavenly spheres above it. It was the symbol for all Hinduism as the mihrab was for all Islam".

—Indian Architecture, E.B. Havell, London, 1913, chapter II.

पुस्तक वेद है। कमण्डल अमृत से भरा हुआ पात्र है, जो उपनिषदों का अमृतत्व, बौद्धों का निर्वाण और वेदान्तियों का आनन्द-तत्त्व है।

कलश के विषय में हैवेल कहते हैं —

"कमल के प्रतीक के साथ लोटा, कलश या कुम्भ का निकट सम्बन्ध है, जिसमें सृष्टि-तत्त्व अर्थात् अमृत भरा हुआ है, जिसे देव और दानवों ने विराट् उदधि को मथ कर निकाला था। भारत के गृह-निर्माण और कला में, निर्माण और सजावट में असंख्य रीति से इन दोनों प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। विकसित पद्म सूर्य के प्रतीक की तरह भरहुत, साँची और अमरावती के बौद्ध घेरों पर बनाये गये हैं। जिसे घोड़े के नाल-जैसा मेहराब कहा गया है आर जो झुकाये हुए बाँस से बनाये जाते थे तथा बौद्ध गृहों के छज्जों के पास और झरोखों में पाये जाते हैं, वे भी कमल-दल के प्रतीक हैं। बौद्ध तथा हिन्दू-गुम्बज की बनावट भी बाँस की नकल पर होती थी और उसमें पुष्कर का अनुकरण किया जाता था। यह कमल-दल के साथ पत्थरों पर अंकित किया जाता था। अधिकांश हिन्दू-मन्दिरों के स्तम्भ, पद्म, पुष्कर और कलश को मिलाकर बनाये जाते थे। इनका मूल रूप काम की हुई लकड़ी के बने हुए यूपस्तम्भ थे, जो यज्ञ-स्थल के चिह्न थे और जिनसे बलि-पशु बाँधे जाते थे।[१]"

बौद्धों ने पुष्कर, माला, पुस्तक, कमण्डल वा कलश, पद्म आदि का बड़ी स्वच्छन्दता से प्रयोग किया है।

१. "Closely connected with symbolism of the lotus was that of the water-pot—the Kalash or Kumbha—which held the creative element, or the nectar of immortality, churned by gods and demons from the Cosmic Ocean. These two pregnant symbols were employed in Indian architecture and art, both structurally and decoratively, in an infinite variety of ways. The open lotus-flower is used as a sun-emblem on the Buddhist rails of Bharhut, Sanchi and Amaravati, the so-called 'horse-shoe' arch of the early Buddhist gables and the windows, derived from bent bamboo, suggested the lotus-leaf; Buddhist and Hindu domes, constructively derived from the bamboo also, were made to imitate the bell-shaped lotus fruit and sculptured with the petals of the flower. The combination of the lotus-flower, the bell-shaped fruit, and the water-pot forms the basis of the design of most Hindu temple pillars, the prototypes of which were doubtless the carved wooden posts marking the sacrificial area in the ancient Vedic rites, to which the victims were bound".

६. विष्णु

विष्णु शब्द विष् धातु से बनता है[1]। इसका अर्थ है—व्याप्त होना। जो विश्व में सर्वत्र परिव्याप्त है, वह विष्णु है।

"यस्माद्विष्टमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥"[2]

"क्योंकि उस महात्मा की शक्ति से यह सम्पूर्ण विश्व है, जिसमें वह प्रविष्ट है, इसलिये वह विष्णु कहलाता है।

विष्णु ब्रह्म है और ब्रह्म ही विष्णु है। इसलिये ब्रह्म, विष्णु, महेशादि में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। भेद है केवल कल्पित रूपों में।

"ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै।
रूपैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेकस्तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे।"[3]

"कोई शिव का ध्यान करने कहते हैं और कोई शक्ति का, कोई गणेश का और कोई सूर्य का। किन्तु शङ्खपाणे! एक तुम्हीं इन रूपों में प्रकट हो, इसलिये केवल तुम्हीं मेरे रक्षक हो।"

"चिदंशं विभुं निर्मलं निर्विकल्पं निरीहं निराकारमोंकारवेद्यम्।
गुणातीतमव्यक्तमेकं तुरीयं परं ब्रह्म यं वेद तस्मै नमस्ते॥"[4]

"जो (विश्वव्यापी) चेतना का अंशस्वरूप, विभु (सर्वव्यापी), निर्मल, निर्विकल्प, निरीह, निराकार, ॐकार द्वारा जानने योग्य, गुणातीत, अव्यक्त, एक, चतुर्थ और परब्रह्म है, उसे प्रणाम है।"

अक्रूर श्रीकृष्ण की स्तुति करते हैं—

"भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान्।
आत्मा च परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्थितः॥
प्रसीद सर्व सर्वात्मन् क्षराक्षरमयेश्वर।
ब्रह्मविष्णुशिवाद्याभिः कल्पनाभिरुदीरितः॥
अनाख्येयस्वरूपात्मन् अनाख्येयप्रयोजन।
अनाख्येयाभिधानं त्वां नतोऽस्मि परमेश्वर॥
न यत्र नाथ विद्यन्ते नामजात्यादिकल्पनाः।
तद्ब्रह्म परमं नित्यमविकारि भवानज॥
न कल्पनामृतेऽर्थस्य सर्वस्याधिगमो यतः।
ततः कृष्णाच्युतानन्तविष्णुसंज्ञाभिरीड्यसे॥

१. विष्लृ व्याप्तौ।
२. विष्णुपुराण, ३. १. ४६।
३. श्रीहरिशरणाष्टकम्, श्लोक १।
४. विष्णुभुजंगप्रयातस्तोत्र, श्लोक १।

सर्वार्थास्त्वमज विकल्पनाभिरेतत्
देवाद्यं जगदखिलं त्वमेव विश्वम् ।
विश्वात्मंस्त्वमिति विकारभावहीनः
सर्वस्मिन् नहि भवतोऽस्ति किञ्चिदन्यत् ॥
त्वं ब्रह्मा पशुपतिरर्यमा विधाता
धाता त्वं त्रिदशपतिः समीरणोऽग्निः ।
तोयेशो धनपतिरन्तकस्त्वमेको
भिन्नार्थैर्जगदपि पासि शक्तिभेदैः ॥"[1]

"आप ही भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा तथा परमात्मा—इन पाँचों रूपों में स्थित हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि कल्पनाओं द्वारा आप ही कहे जाते हैं। आप क्षर और अक्षर हैं। हे सर्व ! हे सर्वात्मन् ! आप प्रसन्न हों। आप के स्वरूप, प्रयोजन और नाम के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। हे परमेश्वर ! मैं आप को नमस्कार करता हूँ। हे नाथ जहाँ नाम और जाति आदि की कल्पना भी नहीं है, आप वही अज, अविकारी, नित्य परम ब्रह्म हैं। विना कल्पना के कोई विषय समझ में नहीं आ सकता। इसलिए कृष्ण, अच्युत, अनन्त, विष्णु नाम से आप पूजे जाते हैं। हे अज ! ये सभी कल्पित विषय आप ही हैं। देवों से लेकर सारा विश्व आप ही हैं। हे विश्वात्मन् ! आप परिवर्त्तन से रहित हैं। सब में आप को छोड़कर और कुछ नहीं है। आप ब्रह्मा, पशुपति, अर्यमा और विधाता हैं। आप धारण करनेवाले, देवताओं के स्वामी, वायु और अग्नि हैं। एक आप ही, वरुण, कुबेर और यम हैं। भिन्न-भिन्न प्रयोजनवाली शक्तियों द्वारा संसार की भी आप ही रक्षा करते हैं।"

"सृष्टिस्थित्यन्तकरणात् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः ॥
स्रष्टा सृजति चात्मान विष्णुः पाल्यश्च पातिच ।
उपसंह्रियन्ते चान्ते च संहर्त्ता च स्वयं प्रभुः ॥"[2]

"सृष्टि, स्थिति और संहार करने के कारण, एक भगवान् जनार्दन ही, ब्रह्मा, विष्णु और शिव के नाम और रूप धारण करते हैं। अपने को ही स्रष्टा बनाकर सृष्टि करते हैं, विष्णु बनकर पाल्य बनते हैं और पालन करते हैं। प्रभु स्वयं ही संहर्त्ता बनकर उपसंहार करते हैं।"

अनन्त आकाश के रंग से ही विष्णु के श्यामवर्ण की कल्पना की जाती है। श्रुति कहती है—'आकाशशरीरं ब्रह्म'।[3] ध्यानश्लोक में विष्णु का गगन-सदृश मेघ वर्ण कहा गया है। —

---

१. विष्णुपुराण (जीवानन्द, कलकत्ता, अंश ५) अध्याय ६, श्लोक ५०—५६। श्लोक ५०—५४ तक ज्यों-के-त्यों ब्रह्म और वायुपुराण में भी मिलते हैं।

२. तत्रैव, १. २. ६२-६३।

३. तैत्तिरीयोपनिषद्, १. ६. २।

"शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥"

साधारणतः श्यामवर्ण में इनकी कल्पना की जाती है। पर निमित्त-भेद से अर्थात् मोहन, वशीकरण, शान्ति कर्मादिकों के लिये इनका रंग श्वेत, पीत और रक्त भी होता है।

"शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये॥"

इस ध्यान-श्लोक में विष्णु को शशिवर्णवाला और शुक्लाम्बरधारी कहा गया है। यह शान्तिकर्म के लिये है।

"उद्यदादित्यसंकाशं पीतवाससमच्युतम्।
शङ्खचक्रगदापाणिं ध्यायेल्लक्ष्मीपतिं हरिम्॥"[1]

"बालसूर्य की तरह, पीतवस्त्रधारी, हाथ में शंख, चक्र और गदा—इस प्रकार लक्ष्मीपति हरि का ध्यान करना चाहिये।" यहाँ रजोगुण का चिह्न लाल विष्णु का रंग कहा गया है।

स देवो भगवान् सर्वं व्याप्य नारायणो विभुः।
चतुर्धा संस्थितो ब्रह्म सगुणो निर्गुणस्तथा॥
एका मूर्तिरनुद्देश्या शुक्लां पश्यन्ति तां बुधाः।
ज्वालामालावनद्धाङ्गी निष्ठा सा योगिनां परा॥
दूरस्था चान्तिकस्था च विज्ञेया सा गुणातिगा।
वासुदेवाभिधानासौ निर्ममत्वेन दृश्यते॥
रूपभावादयस्तस्या न भावाः कल्पनामयाः।
आस्ते च सा सदा शुद्धा सुप्रतिष्ठैकरूपिणी॥
द्वितीया पृथिवीं मूर्ध्ना शेषाख्या धारयत्यधः।
तामसी सा समाख्याता तिर्यक्त्वं समुपागता॥
तृतीया कर्म कुरुते प्रजापालनतत्परा।
सत्त्वोद्रिक्ता तु सा ज्ञेया धर्मसंस्थानकारिणी॥
चतुर्थी जलमध्यस्था शेते पन्नगतल्पगा।
रजस्तस्या गुणः सर्गं सा करोति सदैव हि॥
या तृतीया हरेर्मूर्तिः प्रजापालनतत्परा।
सा तु धर्मव्यवस्थानं करोति नियतं भुवि॥
प्रोद्धतानसुरान् हन्ति धर्मव्युच्छित्तिकारिणः।
पाति देवान् सगन्धर्वान् धर्मरक्षापरायणान्॥[2]

"वही सगुण और निर्गुण देव, भगवान्, सर्वव्यापी नारायण, विभु, ब्रह्म, चार रूपों में

१. नारायणहृदयम्।
२. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना); अध्याय १८०, श्लोक १७-२६।

अवस्थित हैं। एक मूर्त्ति का पता नहीं है। बुद्धिमानों को वह ज्वाला की लपटों से घिरी हुई[1] शुक्लवर्ण की दिखाई पड़ती है, जिस पर योगियों की परम श्रद्धा है। उसे गुणरहित दूरस्थ तथा निकटस्थ अर्थात् सर्वव्यापी जानना चाहिए। इसका नाम वासुदेव मूर्त्ति है। अनासक्त लोग इसे देख सकते हैं। कल्पनामय नामरूपादि उसके नहीं हैं। वह स्वस्थ (अपने पर ही स्थित) और सदा शुद्धरूप हैं। दूसरी मूर्त्ति शेष है, जो नीचे से पृथ्वी को माथे पर धारण करती है। यह तिर्यक् (वक्रगति) रूप धारण करने के कारण तामसी कही जाती है। तीसरी प्रजापालन-कर्म में तत्पर रहती है। यह धर्म का आधार और सत्त्व-प्रधान है। चौथी जल में सर्पशय्या पर सोती है। वह रजोगुणवाली है और सदा सृष्टि करती रहती हैं। हरि की जो तीसरी प्रजापति-मूर्त्ति है, वह संसार में धर्म की व्यवस्था करती है। वह उद्धत और धर्म के नाश करनेवाले असुरों का संहार करती है और धर्म-रक्षापरायण देवगन्धर्व की रक्षा करती है।"

"पितामहादपि परः शाश्वतः पुरुषो हरिः।
कृष्णो जाम्बुनदाभासो बभ्रे सूर्य इवोदितः॥
दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिषूदनः।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेश सर्वदैवतयूथपः॥"[2]

"ब्रह्मा के भी कारण, चिरन्तन, पुरुष, हरि, कृष्ण ने उदयकालीन सूर्य-जैसे सोने का प्रकाश धारण किया। राक्षसों के संहर्त्ता, अत्यन्त तेजवान्, दशभुजाओंवाले, श्रीवत्स चिन्हवाले सभी देवताओं के नायक हृषीकेश थे।"

यहाँ विष्णु का रंग उदित सूर्य और सोने-जैसा कहा गया है।

"पीतवर्णं तु देवानां रक्तवर्णं भयानकम्।
नारसिंहो भवेद्देवो मोक्षदं च प्रकीर्त्तितम्॥"[3]

"देवताओं का पीला[4] और रक्तवर्ण भयानक होता है। ऐसा नृसिंह का रूप है। इस रूप में भगवान् को मोक्षदाता कहा गया है।"

आकाश ही विष्णु का मस्तक है—'नभः शिरस्ते देवेशं।'[5]

चन्द्र और सूर्य इनके नेत्र हैं—'शशिसूर्यनेत्रम्॥'[6]

दिक् के अंशों के रूप में कल्पित पूर्वादि दिशाएँ ही विष्णु की भुजाएँ हैं। जब आगे और पीछे अथवा दोनों पार्श्वों में दिशाओं की संख्या दो मानी जाती है, तब भुजाओं की संख्या भी दो होती है। जब पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के रूप में दिशाओं की संख्या चार मानी जाती है, तब भुजाओं की संख्या चार होती है। अग्निकोणादि चार उप-दिशाओं के मिला देने से दिशाओं की संख्या आठ होने पर भुजाओं की संख्या भी आठ हो

१. यहाँ नटराज, बुद्ध आदि की मूर्त्तियों की तरह प्रभामण्डल का वर्णन है।
२. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना), २२६. ११-१२
३. शालग्रामस्तोत्रम्।
४. बगला का भी यही वर्ण है और कार्य शत्रुशमन है।
५. स्कन्दपुराण (विष्णु खण्ड), २७. ४०
६. गीता, ११. १६

जाती है। ऊर्ध्व और अधः को मिला देने से दिशाओं की संख्या दस हो जाती है, और तिल-तिल कर दिश् का सब ओर विभाग करने से दिशाओं की संख्या असंख्य होने के कारण भुजाओं की संख्या भी असंख्य हो जाती है।

ऋग्वेद में दिशाओं को बाहु मानने का उल्लेख है।

"यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।"[१]

पुराणों में इसी भाव को पुष्ट और स्पष्ट किया गया है।

"बाहवः ककुभो नाथ।"[२]

'नाथ ! दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं।' इसके अतिरिक्त भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

"दिशश्चतस्रोऽव्ययबाहवस्ते।"[३]

'हे अविनाशी ! चारों दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं।

"दिशा दश भुजास्ते वै केयूराङ्गद भूसित:।"[४]

'दस दिशाएँ केयूर और अङ्गद से भूषित आपकी भुजाएँ हैं।'

"उग्राय च नमो नित्यं नमस्ते दशबाहवे।"[५]

'दस बाहुवाले उग्र को नित्य मेरा नमस्कार।'

वेदान्त-ग्रन्थों में भी इस सिद्धान्त को मान्य समझा गया है—

"अनन्तदिक्तटाभोगभुजमण्डलमण्डितम्।"[६]

"अनन्त दिशाओं के विस्तार रूपी भुजाओं से मण्डित।"

"दिग्दोषौ यस्य।"[७]

"दिक् जिनकी भुजाएँ हैं।"

साधारणतः विष्णु के चार हाथों की ही कल्पना की जाती है। ये चारो दिशाओं के ही प्रतीक हैं, और इनसे यही अभीष्ट है कि विष्णु की शक्ति सर्वत्र फैली हुई है।

तमोगुणाभिमानी विष्णु की आभिचारिक क्रियाओं में दो भुजाओंवाले प्रतीक का भी विधान है, और वस्त्र का रंग काला होता है। इसे आभिचारिकासन-मूर्त्ति कहते हैं—

"देवं वेदिकासने समासीनं द्विभुजं चतुर्भुजं वा नीलाभं श्यामवस्त्रधरं तमोगुणान्वितमूर्ध्वाक्षम्। इत्यादि।"[८]

"देव (विष्णु) को वेदिकासन पर बैठा हुआ, द्विभुज अथवा चतुर्भुज, नीलवर्ण का, काले वस्त्रोंवाला, तमोगुणयुक्त, ऊपर देखता हुआ— इत्यादि।"

---

१. ऋग्वेद। १०.१२१.४।
२. स्कन्दपुराण। विष्णुखण्ड। २७.४२।
३. विष्णुपुराण। ५.४.९६।
४. वायुपुराण। पूना। २४.१५३।
५. यह उक्ति शिव के सम्बन्ध में है। वायुपुराण। पूना। ३०.१९१।
६. योगवासिष्ठ। बम्बई। पूर्वार्द्ध। निर्वाणप्रकरण। ३८.६।
७. पारमात्मिकोपनिषत्। अप्रकाशिता उपनिषदः। मद्रास। १९३३। पृ० १७७।
८. Elements of Hindu Iconography, Madras, 1914, Vol. I, Pt. 1 पृ० २२ में प्रतिमालक्षणानि से उद्धृत।

आभिचारिकशयनमूर्त्ति का विवरण इस प्रकार है —

शेषशयनं लक्षणहीनं द्विफणं द्विवलयसमुन्नतं शिरःपार्श्वे देवनीलाभं द्विभुजं चतुर्भुजं वा समनयनं महानिद्रासमायुतं शुष्कवस्त्रं शुष्काङ्गं श्यामवस्त्रधरं सर्वदेवैर्विहीनं कारयेत् ।[1]

"देव (विष्णु) को शेष पर पड़ा हुआ, लक्षणहीन, नीलवर्ण, द्विभुज अथवा चतुर्भुज, दो आँखोंवाला (विषम = तीन) महानिद्रा में पड़ा हुआ, सूखे वस्त्रोंवाला, सूखे अङ्गोंवाला, काले वस्त्रोंवाला, सभी देवताओं से रहित (और शेष को) दो फणोंवाला, दो वलय ऊँचा (देव के) मस्तक के निकट बनावे ।"

इनके प्रत्येक हाथ में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं। शङ्ख, वाक् या शब्द ब्रह्म का प्रतीक है, जो सृष्टि का कारण होने के कारण रजोगुण का चिह्न है। चक्र रक्षाशक्ति का चिह्न है। यह अधर्म का संहारक और धर्म का रक्षक भी है। इसलिये सत्त्वगुण का प्रतीक है। गदा तमोगुणात्मक संहारशक्ति है।

चेतना के विस्तार में स्पन्दन स्थान अर्थात् नाभि-बिन्दु है, जिससे सृष्टि-पद्म का नाल और शैवों का मूलस्तम्भ प्रकट होता है। सृष्टि के साकाररूप ब्रह्मा इस कमल पर प्रकट होते हैं।

"सिसृक्षायां ततो नाभेस्तस्यपद्मं विनिर्ययौ ।
तन्नालं हेमनलिनं ब्रह्मणो लोकमद्भुतम् ॥
तत्त्वानि पूर्वरूपाणि कारणानि परस्परम् ।
समवायाप्रयोगाच्च विभिन्नानि पृथक्-पृथक् ॥
चिच्छक्त्या सज्जमानोऽथ भगवानादिपूरुषः ।
योजयन् मायया देवो योगनिद्रामकल्पयत् ॥
योजयित्वा तया चैव प्रविवेश स्वयं गुहाम् ।
गुहां प्रविष्टे तस्मिँस्तु जीवात्मा प्रतिबुध्यते ॥
स नित्योऽनित्यसंबद्धः प्रकृतिश्च परैव सा ।
एवं सर्वात्मसम्बन्धं नाभ्यं पद्मं हरेरभूत् ॥
तत्र ब्रह्माऽभवद्भूयश्चतुर्वेदो चतुर्मुखः ॥"[2]

"तब (विष्णु ने) सृष्टि की इच्छा की और उनकी नाभि से पद्म निकला। उसके नाल पर सोने का अद्भुत कमल निकला, जो ब्रह्मलोक है। मिले रहने और प्रयुक्त नहीं होने के कारण, तत्त्व, उनके पूर्वरूप, और परस्पर कारण, जो मिले हुए थे, वे टूटकर पृथक् हो गये। भगवान् आदिपुरुष ने चित्-शक्ति से माया द्वारा मिलाये जाने पर योगनिद्रा की कल्पना की। उससे मिलकर, उन्होंने गुहा-प्रवेश किया। गुहा में उनके प्रविष्ट होने पर, जीवात्मा जग उठता है। यह नित्य का अनित्य से सम्बन्ध हुआ और जो परा है, वही प्रकृति है। इस प्रकार हरि की नाभि से सब का सबसे सम्बन्धवाला पद्म उत्पन्न हुआ। उसपर चारों वेद-रूपी चार मुखवाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए।"

---

१. तत्रैव, पृ० २५

२. योगशास्त्र, ब्रह्मसंहिता (वसुमती प्रेस, कलकत्ता, बंगाक्षर), पृ० ३११, श्लोक १८-२२ पद्म-प्रतीक के लिये ब्रह्मा और त्रिपुरा-प्रकरण भी देखना चाहिये।

इस प्रकार ये चारों अस्त्र त्रिगुणात्मक चार शक्तियों के प्रतीक हैं। ये स्थूल अस्त्र नहीं हैं। ये चैतन्य शक्ति हैं और विभु की इच्छानुसार काम करते रहते हैं।

"ज्ञानाहङ्कारैश्वर्यंशब्दब्रह्मासि केशव।
चक्रपद्मगदाशङ्खपरिणामानि धारयन् ॥"[1]

"हे केशव ! ज्ञान, अहङ्कार, ऐश्वर्य और शब्दब्रह्म का परिवर्तित रूप चक्र, पद्म, गदा और शङ्ख आप धारण किये रहते हैं।"

उपनिषत् में आयुध-तत्त्वों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"श्रीवत्सस्य स्वरूपं तु वर्त्तते लाञ्छनैः सह ॥
श्रीवत्सलक्षणं तस्मात्कथ्यते ब्रह्मवादिभिः।
येन सूर्याग्निवाक्चन्द्रतेजसा स्वस्वरूपिणा ॥
वर्त्तते कौस्तुभाख्यमणिं वदन्तीशममानिनः।
सत्त्वं रजस्तमइति अहङ्कारश्चतुर्भुजः ॥
पञ्चभूतात्मकं शङ्खं करे रजसि संस्थितम्।
बालस्वरूपमत्यन्तं मनश्चक्रं निगद्यते।
आद्या माया भवेच्छाङ्गं पद्मं विश्वं करे स्थितम् ॥
आद्या विद्या गदा वेद्या सर्वदा मे करे स्थिता ॥
धर्मार्थकामकेयूरै दिव्यैर्विरचितैः।
कण्ठं तु निर्गुणं प्रोक्तं माल्यते आद्ययाऽजया ॥
मात्रा निगद्यते ब्रह्मंस्तव पुत्रैस्तु मानसैः।
कूटस्थं सत्त्वरूपं च किरीटं प्रवदन्ति माम् ॥
क्षरोत्तरं प्रस्फुरन्तं कुण्डलं युगलं स्मृतम् ॥"[2]

"श्रीवत्स (विष्णु) का लक्षणों सहित रूप है। इसलिए ब्रह्मवादी गण श्रीवत्स के लक्षण का विवरण देते हैं। मानरहित पुरुष कहते हैं कि सूर्य, अग्नि, वाक् और चन्द्र शक्तिस्वरूप तेज ही कौस्तुभ नामक मणि है। सत्त्व, रज, तम और अहंकार ही चारों भुजाएँ हैं। रजःस्वरूप हाथ में पञ्चभूतात्मक शङ्ख है। मन ही बालरूप में (छोटे और मनोहर रूप में) चक्र है। आदिमाया शाङ्गं धनुष है, हाथ में पद्मरूप सृष्टि है। आदि विद्या को गदा जानना चाहिए। यह सर्वदा मेरे हाथ में रहती है। मेरे द्वारा प्रयुक्त धर्मार्थकाम ही दिव्य केयूर हैं। निर्गुण कण्ठ है जिसमें आद्या अजया (शक्ति) लिपटी रहती है।[3] हे ब्रह्मन् ! आपके मानसपुत्र (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार) उसे मात्रा कहते हैं। कूटस्थ सत्त्व मेरा किरीट कहलाता है। क्षर और अक्षर—ये दोनों चमकते हुए मेरे दो कुण्डल हैं।"

दिक् विष्णु का वस्त्र, पीताम्बर है—

---

१. स्कन्दपुराण (विष्णुखण्ड) १०, ३२
२. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्, श्लोक २२-२८
३. यह मन्दिरों की मिथुनमूर्ति है।

"अनन्तपादं बहुहस्तनेत्रम् ।
अनन्तकर्णं ककुभौघवस्त्रम् ॥"[१]

"(विष्णु के) असंख्य पैर, बहुत-से हाथ और आँखें तथा असंख्य कान हैं। दिशाओं का समूह (समस्त रूप में दिक्) उनका वस्त्र है।"

दिक् स्थिति-तत्त्व है और स्थिरता के लिये उसमें भार का होना आवश्यक है। पाँच तत्त्व जगत् के निर्माण के उपादान हैं। इनमें आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से अप् और अप् से पृथ्वी, क्रमशः अधिकतर स्थूल और भारी हैं। इन तत्त्वों में पृथ्वी-तत्त्व सबसे अधिक स्थूल और भारी है। स्थिरता के लिये इसके साथ विशालकाय दिग्गज लगे हुए हैं। यह स्थिति-तत्त्व का प्रतीक पृथ्वी के रूप में शेषनाग के मस्तक पर है। ये दोनों अर्थात् शेष और पृथ्वी गति और स्थिति-शक्ति के प्रतीक हैं, जिनके द्वारा लीलामय अपनी लीला करता रहता है।

तत्त्व और तत्त्व के किसी प्रकट रूप का अन्तर ध्यान में रखने योग्य है। आकाश-तत्त्व का कोई स्थूल रूप देखने में नहीं आता। इसकी शून्यता और विस्तार के भीतर भरा हुआ ईथर इसका स्थूल रूप कहा जा सकता है। सृष्टि में जितने वायवीय पदार्थ हैं, वे मरुतत्त्व के स्थूलरूप है। वायु उनमें से एक है। तेजस् तत्त्व के स्थूल रूप अग्नि, सूर्य इत्यादि हैं। जितने तरल पदार्थ हैं, वे अप्-तत्त्व के अन्तर्गत हैं। जल उसके अनेक रूपों में एक रूप है। सृष्टि में जितने ठोस पदार्थ काम कर रहे हैं, वे पृथ्वी-तत्त्व के रूप हैं। पृथ्वी उसका एक रूप है। तत्त्व का स्थूलरूप एकदेशीय होता है; किन्तु तत्त्व सारी सृष्टि में काम करता है। जैसे, सौरमण्डल आकाश की एक निश्चित सीमा के भीतर घूमता और काम करता है; किन्तु क्षिति-तत्त्व इसके बाहर भी क्रियाशील रहता है। अन्य तत्त्वों की क्रियाएँ भी इसी प्रकार होती हैं। इसका विवरण इस प्रकार दिया गया है—

"तारकासन्निवेशस्य दिवि यावद्धि मण्डलम् ।
पर्यासः सन्निवेशस्य भूमेस्तावत्तु मण्डलम् ॥
पर्यासपारिमाण्येन भूमेस्तुल्यं दिवं स्मृतम् ।
सप्तानामपि लोकानामेतन्मानं प्रकीर्त्तितम् ॥
पर्यासपारिमाण्येन मण्डलानुगतेन च ।
उपर्युपरि लोकानां छत्रवत् परिमण्डलम् ॥
संस्थितिर्विहिता सर्वा येषु तिष्ठन्ति जन्तवः ।
एतद्ब्रह्माण्डकटाहस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम् ॥"[२]

"आकाश में तारकामण्डल का जहाँ तक विस्तार है और विस्तार की जहाँ तक स्थिति है, वहाँ तक भूमिमण्डल है। विस्तार के परिमाण से भूमि के तुल्य आकाश भी है। सप्तलोकों का भी इतना ही मान (विस्तार) है। मण्डल के अनुसार स्थिति के परिमाण से, लोकों के ऊपर, यह छाते की तरह मण्डलाकार फैला हुआ है। यह सब प्रकार की

---

१. स्कन्दपुराण (विष्णुखण्ड), नृसिंह-स्तुति, अध्याय १६, श्लोक ४४
२. वायुपुराण, ५०. ७५-७८

स्थिति का विधान है जिसमें जीव ठहरे हुए हैं। यही अण्डकटाह (अण्डे और कड़ाही की तरह दिखाई पड़ने वाली सृष्टि) का प्रमाण (विस्तार) कहा गया है।"

तत्त्वज्ञ, स्थिति के प्रतीक पृथ्वी-तत्त्व का रंग पीला बताते हैं। यही विष्णु का पीताम्बर है। शिव के नाम दिगम्बर (दिक्+अम्बर) में यह और भी स्पष्ट हो गया है।

विष्णु के गले में वैजयन्ती नामक माला है। इसका विवरण इस प्रकार दिया गया है—

"पञ्चरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः।
सा भूतहेतुसंघाता भूतमाला च वै द्विज॥"[1]

"गदाधर की पाँचरूपोंवाली वैजयन्ती माला तत्त्वों के हेतु का समूह है और हे ब्रह्मन्! वह भूतमाला है।"

"नानारत्नमयी माला विद्युत्कोटिसमप्रभा।
पञ्चाशन्मातृकावर्णसहिता विश्वमोहिनी॥
तत्राश्चर्यं महेशानि वर्णितुं नहि शक्यते।
अकारादिक्षकारान्ता पञ्चाशन्मातृकाव्यया॥
अव्यया चा परिच्छिन्ना त्रिपुरा कण्ठसंस्थिता।
ककारात् परमेशानि कोटि ब्रह्माण्डराशयः॥
प्रसूय तत्क्षणात् सर्वं संहारं च तथापि वा।
एवं क्रमेण देवेशि पञ्चाशन्मातृका सदा॥
सृष्टिस्थितिं च कुरुते संहारं च तथा प्रिये।
रहस्यं परमं गुह्यं पञ्चाशत्तत्त्वसंयुतम्॥
कलावती महामाला मम कण्ठे सदा स्थिता॥"[2]

"करोड़ों बिजली की चमकवाली, पचास मातृकावर्णमयी, विश्वमोहिनी नानारत्नमयी माला है। महेशानि! उसके आश्चर्य का वर्णन नहीं हो सकता है। अकार से क्षकार तक पचास अक्षर मातृका, अव्यया और सीमा-रहित है और त्रिपुरा के कण्ठ में पड़ी हुई है। परमेशानि! ककार से कोटि ब्रह्माण्डों को उत्पन्न कर साथ-साथ संहार भी करती है। इस प्रकार हे देवेशि! पचास मातृका सदा सृष्टि, स्थिति और संहार करती रहती है। पञ्चाशत् तत्त्ववाला यह रहस्य अत्यन्त गोपनीय है। यह कलावती महामाला मेरे कण्ठ में सदा स्थित है।

"वासुदेवस्य कण्ठे या माला सा च कलावती।
पञ्चाशदक्षरश्रेणी कलारूपेण साक्षिणी॥
अव्यया अपरिच्छिन्ना नित्यरूपा परात्परा।
पञ्चाशदक्षरं देवि मूर्तिविग्रहधारिणी॥"[3]

१. विष्णुपुराण, १.२२.७०
२. राधातन्त्र, पटल ३, श्लोक २१-२७, ३५
३. तत्रैव, श्लोक ९, १०

"वासुदेव के कण्ठ की माला भी कलावती है। पचास अक्षरों की श्रेणी कला (सृष्टि) रूप से साक्षिणी है। यह अव्यय, असीम, नित्या, परा और अक्षर है। हे देवि ! पचास अक्षर, मूर्त्त और प्राणमय शरीरवाली है।"

कला सृष्टि का नाम है। इसलिये निराकार और साकार ब्रह्म का नाम निष्कल और सकल ब्रह्म है। इसलिये कलावती माला और भूतमाला (वैजयंती) एक ही वस्तु है।[१]

विष्णु के विग्रह के साथ एक और कभी-कभी दो स्त्री-मूर्त्तियाँ रहती हैं। यह माया-शक्ति है। इसीके नाम श्री, लक्ष्मी, सरस्वती, वाक्, गौरी, उमा आदि हैं। इसलिये लक्ष्मी, सरस्वती आदि विग्रहों का व्यवहार, त्रिदेव के साथ बड़ी स्वच्छन्दता से किया जाता है।

विष्णु के विषय में उक्ति है—

"बिभ्रत्सरस्वतीं वक्त्रे सर्वज्ञोऽसि नमोऽस्तु ते।
लक्ष्मीवान् अस्यतो लक्ष्मीं बिभ्रद् वक्षसि चानघ ॥"[२]

"सरस्वती को मुख में धारण करके आप सर्वज्ञ हैं। आपको नमः। लक्ष्मी को हृदय पर धारण कर आप लक्ष्मीवान् हैं।" यहाँ लक्ष्मी और सरस्वती, दोनों को ही विष्णु की सहचरी कहा गया है।

"वामपार्श्वगता लक्ष्मीः संश्लिष्टा पद्मपाणिना।
वल्लकीवादनपरा भगवन्मुखलोचना ॥"[३]

"वामपार्श्व में लक्ष्मी (विष्णु के) कमलवाले हाथ के अन्तर्गत हैं। वे वीणा बजा रही हैं और उनकी आँखें भगवान् के मुख पर लगी हैं।" यहाँ लक्ष्मी को वल्लकीवादनपरा कहा गया है।

शिव का नाम श्रीकण्ठ और विष्णु का नाम श्रीधर है—

---

१. The Vaijayanti is a necklace composed of a successive series of groups of gems, each group wherein has five gems in a particular order; it is described in the Vishnu Purana thus—"Vishnu's necklace called Vaijayanti is five formed, as it consists of the five elements, and therefore it is called the elemental necklace. 'Here five formed points to five different kinds of gems, namely the pearl, ruby, emerald, blue stone and diamond'. The Vishnu Rahasya also says—'From the earth comes the blue gem, from water the pearl, from fire the Kaustubh, from air the cats-eye and from ether the Pusparaga'."

Elements of Hindu Iconography, Madras, 1914; Vol. 8, Pt. I, page 26.

अर्थात्—"वैजयन्तीमाला रत्नसमूह की श्रेणियों की बनी होती है। प्रत्येक समूह में पाँच रत्न एक क्रम से गुँथे रहते हैं। विष्णुपुराण में इसका विवरण इस प्रकार दिया गया है—विष्णु की वैजयन्तीमाला पञ्चरूपा है। यह पञ्चतत्त्व की बनी है। इसलिये यह तत्त्वमाला कहलाती है। यहाँ पञ्चरूपा पाँच प्रकार के रत्नों की ओर संकेत करती है। जैसे मोती, लालमणि, गोमेध, नीलमणि और हीरा। विष्णुरहस्य में भी लिखा है—पृथ्वी से नीलमणि, जल से मोती, तेज से कौस्तुभ, वायु से गोमेध और आकाश से पुष्पराग।"

२. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना), १२२-७१

३. स्कन्दपुराण (विष्णुखण्ड), १०-१४

"मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा
दुर्गासि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा।
श्रीकैटभारिहृदयैककृताधिवासा
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥"[१]

"देवि ! आप सभी शास्त्रों का तत्त्व जाननेवाली मेधा हैं, दुर्गम भवसागर की अकेली नौका होने के कारण आप दुर्गा हैं, विष्णु के हृदय पर अकेली निवास करनेवाली श्री आप ही हैं, तथा शङ्कर द्वारा प्रतिष्ठित गौरी आप ही हैं।" यहाँ एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम को मेधा (सरस्वती), दुर्गा, श्री और गौरी कहा गया है।[२]

शुक्लयजु: के उत्तर पुरुष-सूक्त में श्री और लक्ष्मी को पुरुष अर्थात् परमात्मरूप विष्णु की पत्नी कहा गया है—

"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।"[३]

इससे सिद्ध होता है कि वैदिक युग में ही इन भावनाओं का पूर्ण विकास हो चुका था।

श्री और लक्ष्मी से लोग साधारणतः धन समझ लेते हैं और धनवान् पुरुष को श्रीमान् और लक्ष्मीवान् कहते हैं; किन्तु यह मूलभाव का संकुचित रूप है। धन, श्री का एक लघु प्रतीक अथवा संकेत-मात्र है। धन रहने पर भी लोग श्रीहीन हो सकते हैं और धन नहीं रहने पर भी लोग श्रीमान् हो सकते हैं। धन श्रीमान् के उद्देश्यों का साधन है, साध्य नहीं। वह धन अर्जन करता है और उसके द्वारा ऊँचे उद्देश्यों की पूर्त्ति करता है, उसे पकड़कर उससे चिपका नहीं रहता।। धनशक्ति, ज्ञानशक्ति, बल और सत्त्वशक्ति इत्यादि के रहने से किसी में जो योग्यता, आत्मविश्वास, कान्ति, योग्यता आदि प्रकट होती है, वही श्री है। श्री की जो पराकाष्ठा है, वह उसके उद्गम-स्थान परमात्मा में अपने पूर्ण रूप में वर्तमान रहती है। इसलिये उसका नाम श्रीपति है। परमात्मा की जिस पर कृपा होती है, उसमें श्री चमकने लगती है और उसका खेल उस मनुष्य के द्वारा होने लगता है।

ऋग्वेद के श्रीसूक्त में श्री का वर्णन मिलता है। श्रीसूक्त की कुछ ऋचाएँ इस प्रकार हैं —

"अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम्।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम् ॥"

१. दुर्गासप्तशती, ४.११

२. यह CXII के प्रथम चित्र सरस्वती के विषय में श्री गोपीनाथ राव कहते हैं—It is obviously intended here that Saraswati is to be looked upon as a Shakti of Shiva. She is also sometimes conceived as a Shakti of Vishnu. Indeed Lakshmi, Saraswati and Parwati are all identified with one Devi.

—Elements of Hindu Iconography, Madras, 1914;
Vol. II, Pt. I, p. 378.

अर्थात्—"यह स्पष्ट है कि यहाँ सरस्वती शिव की शक्ति हैं। कभी-कभी इन्हें विष्णु की शक्ति भी माना गया है। यथार्थ में लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती एक ही देवी के रूप हैं।"

३. शुक्लयजुः, ३१.२२

कांसो स्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् ।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥"

"आगे अश्व, मध्य में रथ और हाथियों के चिंघाड़ से जगानेवाली श्रीदेवी का मैं आह्वान करता हूँ। श्रीदेवी मुझे सम्प्राप्त हों।"

ब्रह्मस्वरूपिणी, स्फुटस्मितवाली, सरसा, तेजोमयी स्वयं तृप्ता और दूसरों को तृप्त करनेवाली, पद्मस्थिता, पद्मवर्णवाली, श्री का मैं आह्वान करता हूँ।"

पुराणों ने भी इसी भाव को पुष्ट किया है—

यतः सत्त्वं ततो लक्ष्मीः सत्त्वं भूत्यनुसारि च ।
निःश्रीकानां कुतः सत्त्वं विना तेन गुणाः कुतः ।
सत्त्वेन शीलशौचाभ्यां तथा शीलादिभिर्गुणैः ।
त्यज्यन्ते ते नराः सद्यः सन्त्यक्ता ये त्वयामले ॥
स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान् ।
स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः ॥[1]

"जहाँ सत्त्व (आन्तरिक बल) है, वहीं लक्ष्मी है। लक्ष्मी के अनुसार ही सत्त्व होता है। श्रीहीन को सत्त्व कहाँ, और उसके विना गुण कहाँ? अमले! आप जिसका त्याग कर देती हैं, वह सत्त्व, शील-शौच और शीलादि गुणों को छोड़ बैठता है। हे देवि! जिस पर आपकी कृपा दृष्टि होती है, वही प्रशंसनीय, धन्य, कुलीन, बुद्धिमान्, शूर और विक्रान्त है।" अर्थात्, सत्त्व, शील, कुलीनता, बुद्धि, पवित्रता आदि और श्री एक ही हैं। इन पंक्तियों से श्री के यथार्थ रूप का आभास मिलता है।

पद्मस्थिता और पद्मवर्ण का अर्थ है कि श्री सृष्टि (पद्म) में सर्वत्र व्याप्त हैं।

लक्ष्मी का वाहन उलूक है। पंचतन्त्र में इसे नीति-निपुण और चतुर कहा है, किन्तु यह दिवान्ध होता है। धन-संग्रह में यह बड़ा चतुर होता है। किन्तु ज्ञान के प्रकाश को नहीं सह सकता। इसलिये उचित-अनुचित का इसे विचार नहीं होता है।

गरुड़

विष्णु का वाहन गरुड़ है। गरुड़ को वेद का प्रतीक माना गया है। वेद पर ही ब्रह्म आरूढ़ रहते हैं, अर्थात् वेद ही ब्रह्म और ब्रह्मविद्या के आधार हैं।

"गरुडो भगवाँस्तोत्रस्तोमश्छन्दोमयः प्रभुः।"

"समर्थ भगवान् गरुड़ वेद की ऋचाएँ हैं।"[2]

"वन्दे छन्दोमयं तं खगपतिममलस्वर्णवर्णं सुवर्णम् ॥"

"वेदस्वरूप, अमल स्वर्णवर्ण, सुन्दर पखोंवाले पक्षिराज की मैं वन्दना करता हूँ।"

दुर्गा के सिंह और शिव के वृषभ की तरह गरुड़ को भी धर्म का प्रतीक माना गया है।

१. विष्णुपुराण १.९०.२६,१२७,१२६
२. नारायणवर्म, श्लोक २६

शेष

शेषनाग की शय्या बनाकर विष्णु योग-निद्रा में इस पर पड़े रहते हैं। कहा जाता है कि इस शेषनाग के दस सहस्र अर्थात् असंख्य मस्तक हैं, जिन पर पृथ्वी पड़ी हुई है यह शेष 'काल' का प्रतीक है, जो असंख्य रूपों में सारी सृष्टि में विकास और संकोच का काम करता रहता है।

"त्वया धृतेऽयं धरणी बिभर्त्ति चराचरं विश्वमनन्तमूर्त्ते।
कृतादिभेदैरजकालरूपो निमेषपूर्वो जगदेतदत्सि॥"[१]

"हे अनन्त रूपवाले! तुम जिस धरती को धारण किये रहते हो, वह चराचर विश्व को धारण किये रहती है। हे अज! निमेष (पल) से लेकर कृत (सत्य) युग आदि विभागयुक्त काल-रूप से इस संसार को खाते रहते हो।"

काल की कल्पना चक्र के रूप में भी की गई है[२]; किन्तु साधारणत: सर्प ही काल का प्रतीक माना गया है।

"रामात् त्रस्यति कालभीमभुजगः।"[३]

"राम से भयङ्कर काल सर्प डरता रहता है।"

"कालव्यालकरालभूषणधरम् (काशीशम्)।"[४]

"(काशीश शिव) काल-रूपी भयङ्कर सर्प को भूषण की तरह धारण किये रहते हैं।"

"यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते।
तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान्॥"[५]

"जिस प्रकार सर्प के मुह में पड़ा हुआ बेंग, मच्छड़ इत्यादि को खाना चाहता है, उसी तरह काल-सर्प से ग्रस्त लोग क्षणिक सुख को भोगना चाहते हैं।"

"ततः स भगवान् कृष्णो रुद्ररूपधरोऽव्ययः।
क्षयाय यतते कर्त्तुमात्मस्थाः सकलाः प्रजाः॥
ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूतसर्गहरो हरः।
शेषाहिश्वाससंतापात् पातालानि दहत्यधः॥"[६]

"तब अव्यय भगवान् कृष्ण, रुद्र रूप धारण कर सारी सृष्टि को आत्मस्थ करने के लिए संहार का यत्न करते हैं। तत्पश्चात् सृष्टि के हरण करनेवाले ये कालाग्नि हर, शेषनाग

---

१. विष्णुपुराण, ५,६,२६
२. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥
ऋग्वेद, १.२२.१६४.४८
३. स्कन्दपुराण, (उत्तर खण्ड)
४. रामचरितमानस (तुलसीदास), लंकाकाण्ड के प्रारम्भिक श्लोक
५. अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड। ४.२१
६. ब्रह्मपुराण, अध्याय २३२, श्लोक १९ और २४

की साँसों के ताप से नीचे पाताल-लोकों को भी जला देते हैं ।" यहाँ सृष्टि की संहारक शक्ति को काल, रुद्र, कृष्ण और शेष कहा गया है । इनमें कोई भेद नहीं माना गया है ।

पहिले कहा गया है कि काल के उत्क्षेप और संकोच क्रिया की लपेट में सारी सृष्टि पड़ी हुई है । संसार के ऊपर यही काल-सर्प की लपेट है । काल की गति और दिक् की स्थिति—इन दोनों की खींचा-खींची में सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रिया चलती रहती है । दिक् की स्थिति-शक्ति का प्रतीक पृथ्वी है । पृथ्वी और सर्प—अर्थात् दिक् और काल—इस महालीला में, प्रभु के प्रधान सेवक बनकर उनके इच्छानुसार अपने कार्य में लगे रहते हैं । जब सारी सृष्टि का लोप हो जाता है, तब सब के अन्त के बाद अन्तिम लय तक यह गति-शक्ति कुछ-न-कुछ बची रहती है । इसलिये इसका नाम शेष है । यह शेष (बचा हुआ) भी अन्त में अपनी उद्गम-भूमि महाकाल में लीन हो जाता है । 'शेष' कारण के अर्णव में तैरता रहता है । यह कारण भी पीछे अशेष कारण ब्रह्म में लीन हो जाता है ।

वेद में 'आप्' का प्रयोग ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूर्भुवः स्वः और ओम् के अर्थ में होता है—

"आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम् ।"

इनका समूह अर्णव है । यह वेद का ऋतं बृहत् , सत्यं बृहत्, तप इत्यादि, दार्शनिकों का अशेष कारण चेतना इत्यादि और योगियों का ब्रह्म और अमृत तथा पौराणिकों का मधुर क्षीर है जिसके विस्तार में ऐसा साकार ब्रह्म अपने माया-व्यूह के साथ पड़ा रहता है ।

"यः कारणार्णवजले भजति च योगनिद्रा-
मनन्त जगदण्डः स्वरोमकूपात् ।
आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्त्तिं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥"[1]

"जो अपने रोमकूपों से असंख्य जगत् के अण्डों को लेकर, अपनी ही दूसरी मूर्त्ति अनन्त का आधार बनाकर, कारणरूपी अर्णव के जल में सोता है, उस आदिपुरुष गोविन्द को मैं भजता हूँ ।"

"अनन्तकोटिब्रह्माण्डानामुपरि कारणजलोपरि महाविष्णोर्नित्यं स्थानं वैकुण्ठ : । पद्मासनासीनः कृष्णध्यानपरायणः शेषदेवोऽस्ति । तस्यानन्तरोमकूपेष्वनन्तकोटिब्रह्माण्डानि अनन्तकोटिकारणजलानि तस्य सप्तकोटिपरिसहस्रपरिमिताः फणाः तदुपरि वैकुण्ठो विष्णुलोक इति रुद्रलोक शिववैकुण्ठ इति ॥[2]

"अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के ऊपर, कारण के जल पर, महाविष्णु का नित्य स्थान वैकुण्ठ है । पद्मासन पर बैठे हुए, कृष्णध्यान में लीन शेषदेव हैं । उनके अनन्तकोटि रोमकूप में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और अनन्तकोटि कारण के जल हैं । उनके लगभग सात करोड़ फण हैं । उनके ऊपर वैकुण्ठ है, जो विष्णुलोक, रुद्रलोक अथवा शिववैकुण्ठ हैं ।"

१. योगशास्त्र, ब्रह्मसंहिता, (कलकत्ता; वंगाक्षर), श्लोक ५१
२. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास, सन् १९३३) राधोपनिषत्, पृ० २०८

ब्रह्म का ही दूसरा नाम अशेष कारण है—

"वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥"[१]

"उस अशेषकारण, पर, ईश, हरि की मैं वन्दना करता हूँ, जिनका नाम राम है। भगवान् शङ्कराचार्य ने कारण, अशेषकारण, गत्यात्मक काल, कालसर्प इत्यादि का बड़ा सुन्दर विवरण दिया है—

"कान्तं कारणकारणमादिमनादिं कालघनाभासं
कालिन्दीगतकालियशिरसि मुहुर्नृत्यन्तं सुनृत्यन्तम् ।
कालं कालकलातीतं कलिताशेषं कलिदोषघ्नं
कालत्रयगतिहेतुं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥"[२]

"जो गोविन्द परम मनोहर (कान्त) है, (सृष्टि के) कारणों का भी कारण अर्थात् अशेष कारण है, जो सबका आदि, किन्तु स्वयं आदिरहित है, जो घनीभूत काल के आभास-जैसा है, जो यमुना में कालियनाग के मस्तक पर थिरक-थिरक कर नृत्य करता रहता है, जो काल है और काल की क्रियाओं से बाहर है, जो सबको (अशेष) समेट लेता है, जो कलि के दोषों का नाश करनेवाला है, जो गतिवाले तीनों काल का हेतु है, उस परमानन्द-स्वरूप गोविन्द को प्रणाम कीजिये।"

कारणों का भी कारण अशेष कारण है; क्योंकि सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु या कल्पना नहीं है, जिसका वह कारण न हो। घनीभूत काल जैसा होगा, उससे उसका कुछ आभास मिल सकता है। कालिन्दी से अशेष कारणार्णव की ओर संकेत है, जिसमें काल-सर्प के मस्तक पर वह नटवर-नटराज लगातार नृत्य करता रहता है। वह स्वयं काल है और काल की गति उसके भीतर होती है। वह काल की क्रियाओं से सीमाबद्ध नहीं है। वही सबको समेटकर आत्मसात् कर लेता है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान—तीनों कालों की गति का वही हेतु है।

कार्य और कारण को एक रूप में देखने पर विष्णुरूप में काल अनन्त, और महेशरूप में महाकाल बन जाता है। विष्णुरूप में अनन्त (नाग) की परिकल्पना इस प्रकार की जाती है—

"अनन्तोऽनन्तरूपस्तु हस्तैर्द्वादशभिर्युतः ।
अनन्तशक्तिसंवीतो गरुडस्थश्चतुर्मुखः ॥
गदाकृपाणचक्राढ्यो वज्राङ्कुशवरान्वितः ।
शङ्खखेटं धनुः पद्मं दण्डपाशौ च वामतः ॥"[३]

अनन्त के अनन्तरूप हैं और उनकी अनन्त शक्तियाँ (पत्नियाँ) हैं। ये गरुड़ पर हों और इनके बारह हाथ और चार मुख हों। दाहिने हाथ में गदा, कृपाण, चक्र, वज्र, अङ्कुश और वरद-मुद्रा हो और बायें में शंख, खेट, धनु, पद्म, दण्ड और पाश हों।

१. रामचरितमानस (तुलसीदास), बालकाण्ड, प्रस्तावना-श्लोक ६
२. गोविन्दाष्टक (शङ्कराचार्य), श्लोक ७
३. Elements of Hindu Iconography, Madras, 1914; Vol. I, Pt. I, page 257 में उद्धृत।

गरुडवाहन विष्णुत्व का चिह्न है। कार्तिकेय की तरह बारह हाथ बारह मास हैं और चार मुख चारो दिशाओं में सर्वव्यापित्व का प्रतीक है। हाथ के अस्त्र विष्णु, देवी और दिक्पालों के अस्त्र हैं।

काल के सर्परूप में पाँच और सात मुख बनाने का विधान है। यह पञ्चभूत और सप्तलोक में व्याप्त, काल की क्रियाओं का प्रतीक है।

इस प्रतिमा के विषय में गोपीनाथ राव कहते हैं—"अनन्त रूप में कल्पित विष्णु की प्रतिमा को भ्रमवश सर्प अनन्त की प्रतिमा नहीं समझना चाहिये। नाग अनन्त एक प्रकार की विष्णुमूर्ति का अंगमात्र है।[१] यहाँ राव महोदय का भ्रम स्पष्ट है।

विष्णु के आयुधादि समेत समस्त रूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

"महेश्वर उवाच—

शाङ्गमहं ते वक्ष्यामि शृणु धर्मं शुचिस्मिते।
महाविष्णोश्च या माऽस्ति तां मायां प्रकृतिं विदुः॥
लोकयात्रा विना तां तु नैति श्रीः सा स्मृता बुधैः।
तस्याः श्रियाः स्त्रियोऽभिन्नः पूर्णश्च पुरुषोत्तमात्॥
तन्मात्रया श्रिया सार्धं पूजयेत् पुरुषोत्तमम्।
संसारचक्रयत्नाभ्यां निजं ते स्यात्सुदर्शनम्॥
हंसाख्यं चेतनारूपं सर्वप्राणिहृदिस्थितम्।
तच्छङ्खरूपो देवश्च पाञ्चजन्याख्य उच्यते॥
पञ्चभूतात्मको ह्यस्य सर्ववेदमयोत्तरः।
छन्दोमयाभ्यां पक्षाभ्यां युक्तः पक्षिगणेश्वरः॥
गरुडो वाहनश्चापि विष्णोर्देवस्य कीर्तितः।
पृथिवीवायुसंयोगश्चापः शाङ्गं हरेः स्मृतः॥
तेजो वायुमयो ह्यस्य नाम्ना संशरणाच्छरः।
विद्याविद्याशरैर्युक्ते अक्षये ते महेषुधी॥
लोकालोकाचलः प्रोक्तो विद्योताख्यं तु खेटकम्।
कृतान्तो नन्दकः खड्गं सर्वप्राणिहृदिस्थितम्॥
या दण्डनीतिः सा ख्याता गदा कौमोदकी हरेः।
सर्वप्राणिषु या शक्तिः शक्तिर्विद्युन्निभा मता॥
मर्यादा यद्धोलोके भेरी सा तु महारवा।
यो वायुर्वाति सोऽश्वस्तु पुण्डरीक पदाह्वयः॥

१. The image of Vishnu concieved as the Infinite Being should not be confounded with serpent Anant, forming an accessory to certain Vishnu image.—Ibid, page 27.

"अनन्तरूप विष्णु की प्रतिमा को धोखे से अनन्त नाग नहीं समझ लेना चाहिये। नाग विष्णु के एक विशेषरूप का अंग मात्र है।"

इत्येवं ब्रह्मणा प्रोक्तं तस्माद् विश्रिया सह ।
आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणोऽमलम् ॥
बिभर्त्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान् हरिः ।
चलस्वरूपमत्यन्तं जपेनान्तरितानिलम् ॥
चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुः करे स्थितम् ।
पञ्चरत्ना तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः ॥
सा भूतहेतुसंघातभूता माला च वै द्विज ।
यानीन्द्रियाण्यशेषेण बुद्धिकर्मात्मकानि वै ॥
शराणि यान्यशेषेण तानि धत्ते जनार्दन ।
बिभर्त्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलम् ॥
विद्यामयं तु तज्ज्ञानमविद्याचर्मं संस्थितम् ।
भूतानि च हृषीकेशो धत्ते सर्वेन्द्रियाणि च ॥
विद्याविद्ये च मैत्रेय सर्वमेतत्समाश्रितम् ।
अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं रूपवर्जितम् ॥
बिभर्त्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे भगवान् हरिः ॥
सविकारं प्रधानं च पुमान् स्वं चाखिलं जगत् ।
बिभर्त्ति पुण्डरीकाक्षस्तदेवं परमेश्वर ॥"[1]

"महेश्वर ने उमा से कहा—शुचिस्मिते ! अब शस्त्रों के विषय में कहता हूँ । तत्त्वार्थ सुनिये । महाविष्णु की जो लक्ष्मी (मा) हैं, उन्हीं को माया और प्रकृति कहते हैं । उनके विना सांसारिक काम नहीं होते हैं, इसलिये उन्हें श्री कहते हैं । उस श्री से स्त्री और पुरुषोत्तम से पुरुष अभिन्न हैं, अतः श्री के साथ पुरुषोत्तम की पूजा करे । संसार-चक्र और उसकी क्रियाएँ—ये दोनों सुदर्शन-चक्र हैं । हंस नामक चेतनाशक्ति सब प्राणियों के हृदय में स्थित है । देव के शङ्ख का नाम पाञ्चजन्य है । यह पञ्चभूतात्मक है । सर्ववेदमय, अक्षर और वेदों के पङ्खवाले गरुड़ इनके वाहन हैं । पृथ्वी और वायु का संयोग हरि का शार्ङ्ग धनुष है । जो वायुमय इनका तेज है, वह बराबर निकलते रहने के कारण शर कहलाता है । शरों से भरे हुए विद्या और अविद्या इनके दो अक्षय तूण हैं । लोक, अलोक और अचल इनके विद्योत नामक ढाल हैं । यम, नन्दक नामक खड्ग है, जो सभी प्राणियों के हृदय में है । दण्डनीति हरि की गदा है । बिजली की तरह चमकनेवाली बर्छी (शक्ति) सब प्राणियों के अन्तर्गत शक्ति है । नीचे के लोकों में जो मर्यादा है, वही घोर शब्द करनेवाली भेरी है । जो अत्यन्त चंचल है और जप से वायु जिसमें लीन हो गया है, उस चक्रस्वरूप मन को विष्णु हाथ में धारण किये रहते हैं । गदाधर की जो पाँच रत्नोंवाली वैजयन्ती माला है, वह तत्त्वों को एकत्र करने का कारणस्वरूप है । इन्द्रिय और बुद्धि आदि के जितने कर्म हैं, उन्हें जनार्दन बाणरूप में धारण करते हैं । अच्युत जिस अत्यन्त निर्मल असिरत्न को धारण किये रहते हैं वह विद्यामय ज्ञान है, और अविद्या ढाल है । हृषीकेश तत्त्वों, सभी इन्द्रियों,

१. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास, १९३३), पृष्ठ ११८ में उद्धृत ।

विद्या, अविद्या इत्यादि को, निराकार होने पर भी, मायारूपी होने के कारण, अस्त्र और भूषण के रूप में, कल्याण के लिये धारण करते हैं। पुण्डरीकाक्ष परमेश्वर निर्विकार पुरुष हैं जो सविकार प्रधान को अखिल जगत् के रूप में धारण करते हैं।"

हिरण्याक्ष मूर्तिमान् अनैश्वर्य है—

"मूर्त्तिमन्तमनैश्वर्यं हिरण्याक्षं विदुर्बुधाः।
ऐश्वर्येणाविनाशेन स निरस्तोऽरिमर्दन॥"[1]

"बुद्धिमान् लोग, हिरण्याक्ष को मूर्तिमान् अनैश्वर्य मानते हैं। हे अरिमर्दन! अविनाशी ऐश्वर्य द्वारा उसका नाश हुआ।" इस प्रकार हिरण्याक्ष महामोह का प्रतीक सिद्ध होता है हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष का भाई था। विष्णु ने नृसिंहावतार में इसका संहार किया। यह भी महामद का प्रतीक है—

"राम नाम नरकेशरी कनकशिपु कलिकाल।
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालहिं दल सुरसाल॥"[2]

"राम नाम नृसिंह है, हिरण्यकशिपु कलिकाल है। जप करनेवाले तपस्वी प्रह्लाद हैं। राक्षसों का नाशकर भक्तों को पालते हैं।"

कशिपु का अर्थ है—शय्या। हिरण्यकशिपु वह है, जिसको सोने की शय्या हो। इस प्रकार, हिरण्यकशिपु सोने—अर्थात् धन, बल आदि—से उत्पन्न महामद है। इसका स्पष्टार्थ यही है कि सर्वव्यापी विभु (विष्णु) महामद और महामोह का नाश कर साधु जीवों का उद्धार किया करते हैं।

विष्णु की तीन रूपों में उपासना देखी जाती है—

१. परब्रह्मरूप में, जिसका विवरण दिया जा चुका है।

२. खण्डावतार के रूप में इनकी संख्या २४ कही जाती है—जैसे, कार्तवीर्य, दत्तात्रेय इत्यादि। किन्तु आवश्यकतानुसार इसके असंख्य रूप हो सकते हैं।

३. गणदेवता के रूप में— जैसे बारह आदित्यों में एक आदित्य।[3]

विष्णु के दस अवतारों में सृष्टि के क्रमविकास का विवरण मिलता है। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी-तत्त्वों से सारी सृष्टि की रचना हुई है। इनमें आकाश, वायु और तेज सूक्ष्म तत्त्व हैं। स्थूल सृष्टि में सर्वप्रथम जलतत्त्व है, जिसमें सर्वप्रथम जीव का विकास हुआ। इसका प्रतीक मत्स्यावतार है। तत्पश्चात् कच्छप हुआ, जो जल में अधिक और स्थल पर कम रहता है। तीसरा वराह है जो जल में कम स्थल पर अधिक रहता है। चौथा आधा पशु और आधा मनुष्य, नृसिंह है। पाचवाँ अविकसित मनुष्य वामन (बौना) है। छठा अर्धसभ्य मनुष्य परशुराम है, जो अपने अस्त्र (परशु) के कारण प्रसिद्ध है। सातवाँ पूर्णमनुष्य और पूर्णब्रह्म राम हैं। आठवाँ 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। नवाँ करुणा की मूर्त्ति महायोगी बुद्ध हैं। दसवाँ कल्कि हैं।

---

१. Elements of Hindu Iconography; Madras, 1914; Vol. I, Pt. I, p. 30 में 'प्रतिमालक्षणानि' से उद्धृत।

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा ३३

३. 'आदित्यानामहं विष्णुः'—गीता, १०. २१

७. शिव

गणेशादि देवताओं की तरह शिव, सर्वव्यापी पूर्णब्रह्म हैं और इनके रूप और गुण भी अनन्त हैं। इसलिये इनके रूपों और गुणों की नाना प्रकार से कल्पना की जाती है। वेदों और वैदिक साहित्य में रुद्र, भव, ईश, आदि नामों से शिव का विस्तृत विवरण मिलता है। ऋक् और अथर्व की ऋचाओं के अतिरिक्त यजुर्वेद का 'शतरुद्रिय सूक्त'[१] प्रसिद्ध है। पौराणिकों ने नाना प्रकार की कथाओं द्वारा इनके रूप और उपासना के सिद्धान्तों को विस्तार के साथ लिखा है। इन सभी कथाओं और सिद्धान्तों का सार-रूप पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में, बड़ी योग्यता और सुन्दरता से अत्यन्त संक्षिप्त रूप में, दे दिया है।

शिव सर्वव्यापी हैं। इसलिये जो शून्य का विस्तार आँखों के सामने दिखाई पड़ता वही इनका शरीर है—

"लोकधात्री त्वियं भूमिः पादौ सज्जनसेवितौ।
सर्वेषां सिद्धयोगानामधिष्ठानं तवोदरम्॥
मध्येऽन्तरिक्षं विस्तीर्णं तारागणविभूषितम्।
तारापथ इवाभाति श्रीमान्हारस्तवोरसि॥
दिशा दश भुजास्ते वै केयूराङ्गदभूषिताः।
विस्तीर्णपरिणाहश्च नीलाम्बुदचयोपमः॥"[२]

"यह लोकमाता पृथ्वी आपके दोनों चरण हैं, सज्जन जिनकी सेवा करते हैं। सभी सिद्ध योगों का निवासस्थान, ताराओं से विभूषित, विस्तीर्ण, (पृथ्वी और आकाश के) बीच-वाला अन्तरिक्ष, आपका उदर है। तारापथ, आपके वक्ष पर चमकता हुआ हार-जैसा मालूम होता है। दसों दिशाएँ, केयूर और अंगद से विभूषित आपकी दस भुजाएँ हैं। आपकी फैली हुई विशालता नील जलदमाला-जैसी हैं।"

आकाश की गोलाकार उँचाई इनका शिर है—

"नमः शिरस्ते देवेश।"[३]

आकाश की विस्तृत नीलिमा इनके केश हैं, इसलिये इनका नाम व्योमकेश हैं। इस विस्तृत नील शून्य का सबसे सुन्दर रत्न चन्द्रमा इनका शिरोभूषण है, जो घनीभूत सोमरस अर्थात् आनन्दामृत है। इसलिये इनका नाम चन्द्रशेखर है।

१. यजुर्वेद, अध्याय, १६
२. (क) वायुपुराण (आनन्दाश्रम, पूना, शाके १८२७), २४, १५१, १५७
(ख) विष्णु का रूप कहा गया है—'गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्'।
(ग) बृहदारण्यकोपनिषत् का 'आकाशशरीरं ब्रह्म', विष्णु और शिव के सम्बन्ध में समान रूप से लागू है।
३. स्कन्दपुराण, विष्णुखण्ड, २७. ४२

ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति इनके तीन नेत्र हैं। तीनों गुण भी इनके तीन नेत्र हैं, जिनसे ये अपनी सृष्टि को देखते हैं, इसलिये इनका नाम 'त्रिवृत्तनयन' है। तीनों वेद तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी इनके नेत्र माने जाते हैं—

"नमामि वेदत्रयलोचनं तम्।"[1]

"तीनों वेद जिनके लोचन हैं, उन्हें प्रणाम करता हूँ।"

इसके अतिरिक्त भी कहा गया है कि चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि इनके तीन नेत्र हैं—

"इन्द्वर्कवह्नित्रिनेत्रम्।"[2]

और **"चन्द्रार्कवैश्वानरलोचनाय नमः शिवाय।"**[3]

"चन्द्र, सूर्य और अग्नि के तीन नेत्रोंवाले शिव को प्रणाम।"

आदि, मध्य और अन्तावस्था में सृष्टि का प्रवर्त्तन और समावर्त्तन करनेवाली शक्ति का नाम काल है। इसका प्रतीक सर्प है। काल, जो सृष्टि-कल्पना में सबसे प्रचण्ड और बलशाली समझा जाता है, इनके शरीर पर तुच्छ कीट की तरह रेंगता रहता है और इसकी कृपा और अनुमति से सृष्टि में कार्य करता है।[4]

सृष्टि में स्थिरता देनेवाली स्थिति-शक्ति का नाम दिक् है। यह दिक् महायोगी शिव का लघु कटिवस्त्र है। इसलिये इसका नाम दिगम्बर (दिक्+अम्बर) है।[5] दिशाएँ इनकी भुजाएँ भी हैं। इसलिये दिशाओं की कल्पित संख्याओं के अनुसार इनकी भुजाओं की संख्या चार, आठ, दस, सहस्र और असंख्य हुआ करती है—

"यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू।"[6]

"ये दिशाएँ जिनकी बाहें हैं।"

"बाहवः ककुभो नाथ।"[7]

"नाथ! दिशाए आपकी बाँहें हैं।"

"दिग्दोषो यस्य विदिशश्च कर्णौ
द्यौरास वक्त्रमुदरं नभश्च।"[8]

"दिक् जिसकी भुजाएँ, उपदिशाए जिसके कान, द्यु (चमकता हुआ आकाश) जिनका मुख और नभोमण्डल जिसका उदर है।"

१. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना, शाके १८१७, ई० १८९५) १२३. २००
२. वेदसारशिवस्तोत्रम्, श्लोक २
३. शिवपञ्चाक्षरस्तोत्रम्, श्लोक ४
४. कालसर्प के विशेष विवरण के लिये विष्णु-प्रकरण देखिये। कालतत्त्व के लिये काल-प्रकरण देखिये।
५. विशेष विवरण के लिये दिक्-प्रकरण देखिये।
६. ऋग्वेद, १०. १२१. २
७. स्कन्दपुराण, विष्णुखण्ड, २७. ४२
८. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास, १९३३), परमात्मिकोपनिषत्, पृ० १७७

"दिशश्चतस्रोऽव्यय बाहवस्ते ।"[१]

'हे अव्यय ! चारो दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं ।"

"दिशा दश भुजास्ते वै केयूराङ्गदभूषिता ।"[२]

"दस दिशाएँ केयूर और अङ्गद से विभूषित आपकी दस भुजाएँ हैं ।"

"उग्राय च नमो नित्यं नमस्ते दश बाहवे ।"[३]

"दस भुजाओंवाले उग्र (शिव) को नित्य मेरा प्रणाम ।"

"नीलबाहुं दशभुजं त्र्यक्षं धूम्रविलोचनम् ।"[४]

"नीलवर्णवाली दस भुजाओंवाले और धूम्र (वर्ण) वाले त्रिलोचन को (प्रणाम) ।"

"सर्वान्तरस्थं जगदादिहेतुं कालज्ञमात्मानमनन्तपादम् ।
अनन्तबाहूदरमस्तकाक्षं ललाटनेत्रं भज चन्द्रमौलिम् ॥"[५]

"सबके भीतर वर्त्तमान, सृष्टि के आदिकारण, काल के जाननेवाले, आत्मा, असंख्य चरणोंवाले, असंख्य बाहु, उदर, मस्तक और नेत्रवाले, माथे पर नेत्रवाले चन्द्रमौलि का भजन करो ।"

"गौरीविनायकोपेतं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ।
शिवं ध्यात्वा दशभुजं शिवरक्षां पठेन्नरः ॥"[६]

"पार्वती और गणेश-सहित पाँच मुख, तीन नेत्र और दस भुजाओंवाले शिव का ध्यान कर 'शिवरक्षा' लोगों को पढ़ना चाहिये ।"

शिव के चार प्रसिद्ध आयुध हैं—त्रिशूल, डमरू, मृग और परशु । साधारण रीति से त्रिशूल त्रिगुण का संकेत है । शाक्त, शैव और बौद्ध दर्शन के अनुसार यह त्रिशक्ति (ज्ञान-इच्छा-क्रिया) का प्रतीक है । शाक्त दर्शन में इसे त्रिकोण, शून्यस्थ, भग और गुप्तमण्डल कहते हैं । यही बौद्धों की शून्यता है । इसके भीतर चेतना के स्पन्दन का नाम 'चिञ्चिनी-क्रम' या 'चिञ्चिनी-शक्ति' है ।

"त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम् ।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम् ॥[७]
अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके ।
त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने ॥[८]
लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।
यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरञ्जनः ॥"[९]

---

१. विष्णुपुराण (जीवानन्द, कलकत्ता) ५.६.२६
२. वायुपुराण (आनन्दाश्रम, पूना; शाके १८१७)—२४. १५३
३. तत्रैव, ३०. १६१
४. शिवस्तवराजः, श्लोक ४५
५. तत्रैव, श्लोक ६८
६. शिवरक्षास्तोत्रम्, श्लोक २
७. श्रीतन्त्रालोक (बम्बई, १९२०), श्लोक ६४ की टीका ।
८. तत्रैव, श्लोक १०४
९. तत्रैव, श्लोक १०८

"त्रिकोण का नाम शून्यस्थ, भग और गुप्तमण्डल है। इसके तीनों कोण इच्छा, ज्ञान और क्रिया हैं। उसके भीतर चिञ्चिनी की क्रियाएँ हैं। इस चौदहवें धाम में तीनों शक्तियों के (सम्मिलित) स्फोट होने के कारण, भगवान् बुद्ध (शास्ता) ने श्रीशासन (अपने उपदेशों ?) में त्रिशूल कहा। इसलिये तीनों शक्तियों का क्रियाशील होना ही त्रिशूल है, जिसमें प्रवेश करते ही योगी निरञ्जन (मलरहित—विशुद्ध तत्त्वज्ञानवाला) बन जाता है।" यही त्रिशूल का त्रिगुणत्व है। कहा भी है—

"त्रिकोणे देवताः सर्वा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।"[1]

"त्रिकोण में ब्रह्माविष्णुमहेश्वर—ये सभी देवता हैं।

विष्णु के शङ्ख और कृष्ण की मुरली की तरह शिव का डमरू शब्द-ब्रह्म का प्रतीक है।

शिव का नाम 'मृगधरः' है। मृग वेद है जिसे, ये कभी अपने हाथ से अलग नहीं करते, सदा इनकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। नटराज सहस्रनाम में 'मृगधर' नाम पर टीका इस प्रकार है—

"धरतीति धरः मृगस्य हरिणस्य धरः। दारुकावने मुनिकृते अभिचारक्रतावुत्पन्नं हरिणं शिवो धृतवान् इति स्कान्दे प्रसिद्धिः। हेमसभानाथमाहात्म्ये च प्रतिपादितमिदम्। एतच्च अपस्मृतिन्यस्तपादनामविवरणे द्रष्टव्यम्। यथोक्तं स्कान्दे—

ततो मृगः समुत्थाय शीघ्रमा[illegible]म्बरात्।
सर्वान् ज्ञानविहीनाँस्तान् मृगतुल्यानिवाब्रुवन्॥
आदाय वामहस्तेन दधारेशश्च निश्चलम्॥

मन्त्रशास्त्रे तु (मृग) वेदरूप इति प्रसिद्धम्। यथोक्तं मृत्युञ्जयध्याने—

स्वकरकलितमुद्रापाशवेदाक्षमालाम्।

अत्र वेदो मृगः। ग्रन्थान्तरे—

मुद्रापाशमृगाक्षसूत्रविलसत्पाणिं हिमांशुप्रभम्।

इति समानप्रकरणे स्पष्टतयाभिधानात्।"[2]

"धर है धारण करनेवाला, मृग अर्थात् हरिण का धारण करनेवाला। दारुका-वन में मुनियों द्वारा किये गये अभिचार के यज्ञ से उत्पन्न मृग को शिव ने हाथों में ले लिया, यह स्कन्दपुराण में प्रसिद्ध है। 'हेमसभानाथमाहात्म्य' में भी इसकी पुष्टि की गई है। इसे 'अपस्मृतिन्यस्तपाद' नाम के विवरण में देखना चाहिये। 'स्कन्दपुराण' में कहा है—

"तत्पश्चात् निकलकर मृग शीघ्र आकाश से आया और उन सभी ज्ञानविहीन लोगों को मृगतुल्य (पशुवत्) कहा। ईश ने बायें हाथ में दृढ़ता से पकड़कर उसे रख लिया।"

मन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध है कि मृग वेद है, जैसा कि मृत्युञ्जय के ध्यान में कहा गया है कि आप अपने हाथों में मुद्रा, पाश, वेद और अक्षमाला धारण किये हुए हैं।

यहाँ वेद मृग है। अन्य ग्रन्थों में है—"मुद्रा, पाश, मृग और अक्षसूत्र से सुशोभित हाथ और चन्द्रमा की प्रभावाले इस एक-से प्रकरण में स्पष्ट रूप से कहा गया है।"

१. तत्रैव, श्लोक ११२ की टीका।
२. नटराजसहस्रनामका 'मृगधर' (नाम-संख्या २६७) पर टीका।

अन्यत्र भी वेद को मृग कहा गया है –

"कुठारवेदाङ्कुशपाशशूलकपालढक्काक्षगुणान् दधानः ।
चतुर्मुखो नीलरुचिस्त्रिनेत्रः पायादघोरो दिशि दक्षिणस्याम् ॥"[1]

"परशु, वेद, अंकुश, पाश, शूल, कपाल, ढक्का और अक्ष-सूत्र को धारण किये हुए, चार मुख, तीन नेत्र और नील वर्णवाले अघोर दक्षिण ओर मेरी रक्षा करें।"

"वेदाभयेष्टांकुशपाशटंककपालढक्काक्षकशूलपाणिः ।
सितद्युतिः पञ्चमुखोऽवतान्मामीशानमूर्ध्वं परमप्रकाशः ॥"[2]

"वेद, अभय, वर, अंकुश, पाश, टंक, कपाल, ढक्का, अक्ष और शूल हाथ में लिये हुए, उज्ज्वल वर्ण, पाँच मुखवाले, परम प्रकाशवान् ईशान, ऊर्ध्व की रक्षा करें।"

यहाँ बार-बार मृग का नाम न देकर उसे 'वेद' कहा गया है। वेदमृग-कथा का सार यही मालूम होता है कि नास्तिक विधर्मियों के हाथ से शङ्कर ने वेद की रक्षा की।

चित् के स्पन्दन-स्वरूप होने के कारण, प्राणियों के श्वास की तरह, वेद शङ्कर की साँस अर्थात् उनसे अभिन्न है—

"यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ॥"[3]

"वेद जिसकी साँस हैं, वेदों से (वाक् से) जिन्होंने संसार का निर्माण किया, विद्या के आगार उस महेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।"

शिव के पञ्चमुखों के नाम हैं—सद्योजात, वामदेव, अघोर तत्पुरुष और ईशान हैं। इन्हें शिवलिंग पर बनाते समय सद्योजातादि चार मुख चारों ओर और ईशान को ऊपर बनाया जाता है। इनके अलग-अलग रूप और ध्यान हैं। अघोर और ईशान का ध्यान ऊपर दिया जा चुका है। अन्य तीन रूपों के ध्यान इस प्रकार हैं—

"प्र[illegible]वभासो विद्यावराभीतिकुठारपाणिः ।
चतुर्मुखस्तत्पुरुषस्त्रिनेत्रः प्राच्यांस्थितं रक्षतु मामजस्रम् ॥"[4]

"चमकती हुई बिजली जैसा स्वर्णवर्णवाले, हाथ में विद्या (वेद), वर, अभय और परशुवाले, चार मुख और तीन नेत्रवाले तत्पुरुष, जब मैं पूर्व दिशा में रहूँ तो, मेरी रक्षा करें।"

"कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकावभासो वेदाक्षमालावरदाभयाङ्कः ।
त्र्यक्षश्चतुर्वक्त्र उरुप्रभावः सद्योऽधिजातोऽवतु मां प्रतीच्याम् ॥"[5]

"कुन्द, इन्दु, शङ्ख और स्फटिक की तरह उज्ज्वल वर्णवाले, वेद, अक्षमाला, वरद और अभय चिह्नवाले, तीन नेत्र, चार मुख और महा प्रभावशाली सद्योजात पश्चिम दिशा में मेरी रक्षा करें।

१. शिवकवचस्तोत्रम्, श्लोक १२
२. तत्रैव, श्लोक १५
३. ऋग्वेद, सायणभाष्य की भूमिका का प्रारम्भ
४. शिवकवचस्तोत्रम्, ११
५. तत्रैव, श्लोक १३

"वराक्षमालाभयटंकहस्तः सरोजकिञ्जल्कसमानवर्णः ।
त्रिलोचनश्चारुचतुर्मुखो मां पायादुदीच्यां दिशि वामदेवः ।।"[१]

"हाथों में वर, अक्षमाला, अभय और टंक (पत्थर छीलने की छेनी) वाले, कमल के केशर-जैसे वर्णवाले, तीन नेत्र और चार मुखवाले वामदेव उत्तर दिशा में मेरी रक्षा करें।"

शिव के ये पाँच नाम वेद की पाँच ऋचाओं के प्रथम शब्द हैं। शिव की पूजा में उन मंत्रों का प्रयोग होता है—

स्नान—"सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः ।
भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ।

गन्धदान— वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालायनमः कलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः ।।

धूप—अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्योऽघोरघोरतरेभ्यः ।
सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः ।।

विलेपन—तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

अभिमन्त्रणम्—ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम् ।
ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मा शिवोमेऽस्तु सदाशिवोम् ।।"

शङ्कर कभी मुण्डमाल, कभी रुण्डमाल और कभी रुद्राक्ष धारण करते हैं। यह विष्णु की वैजयन्तीमाला, बुद्ध के पद्ममाल और महाशक्तियों की मुण्डमाला की तरह पञ्चाशद्वर्ण-माला है जो सृष्टि का प्रतीक है। इसलिये इनके नाम 'पञ्चाशद्वर्णरूपधृक्' और 'रुद्राक्षस्रङ्मयाकल्प' नाम हैं।

मस्तक पर जटाओं में गङ्गा और चन्द्रमा हैं।

गङ्गा का नाम धर्मद्रवी अर्थात् धर्म का तरलरूप।

"धर्मस्तु द्रवरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ।
तद्गङ्गेति विख्याता शृणु स्तोत्रं वसुन्धरे ।"[२]

"(वराह ने कहा)—वसुन्धरे ! स्तोत्र सुनो। पुराकाल में ब्रह्मा ने तरल रूप में धर्म का निर्माण किया। इसी का नाम गङ्गा पड़ा।" तरल रूप में धर्म ही अमृत-तत्त्व है। यह विष्णु के चरण से निकलता है, ब्रह्मा के कमण्डल, शिव की जटा, बुद्ध के अमृत-कलश और शक्ति के कपाल-पात्र और उपनिषत् की ब्रह्मविद्या में इसका निवास है। चन्द्रमा अमृत (महानन्द)-स्रावी चिदानन्द है, जो सृष्टि-कल्पना का मूल है।

इनका वाहन वृषभ है। यह विश्व के रूप में साकार ब्रह्म को धारण करनेवाली ब्रह्म की अपनी शक्ति धर्म है। वेद में परम ब्रह्म यज्ञपुरुष की कल्पना वृषभ रूप में की गई है—

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।"[३]

१. तत्रैव श्लोक १४।
२. वाराहपुराणस्थ गङ्गास्तव, २
३. निरुक्त, १३. १. ७

"चार शृङ्ग, तीन पैर, दो शिर और सात हाथवाले, तीन स्थान में बँधे हुए और गरजते हुए वृषभ के रूप में महान् देव ने मर्त्यों में प्रवेश किया।"

निरुक्त के अनुसार ये अङ्ग-प्रत्यङ्गादि क्रमशः चार वेद, तीन स्वर, दो अयन, सात छन्द, और मन्त्र-ब्राह्मण-कल्प हैं।

धर्म के वृषभ रूप के विषय में पुराणादि एकमत हैं—

"सूत उवाच—तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत् ।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृप लाञ्छनम् ॥
वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम् ।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम् ॥
गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदा हताम्
पप्रच्छ रथमारूढः ॥
त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन् ।
वृषरूपेण किं कश्चिद् देवो नः परिखेदयन् ॥
धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ॥
तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्त्तिताः ।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसंगमदैस्तव ॥
इदानीं धर्मपादस्ते सत्यं निर्वर्त्तयेद्यतः ।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः ॥
वृषस्य नष्टांस्त्रीन्पादांस्तपः शौचं दयामिति ।
प्रतिसंदध आश्वास्य महीं च समवर्धयत् ॥"[1]

"सूत ने कहा—वहाँ राजा (परीक्षित) ने गोमिथुन को अनाथ की तरह मार खाते और राजा की तरह वेष-भूषावाले शूद्र को हाथ में लाठी लिये हुए देखा। डर के मारे मूत्रस्राव करते हुए और शूद्र की लात खाकर कष्ट से काँपते हुए मृणालधवल वृषभ को और बार-बार शूद्र के पैरों से आहत, धर्म का दूध देनेवाली गाय को रथ पर से ही पूछा—"हे मृणालधवल! आपके पाँव नहीं हैं। आप केवल एक पैर से चल रहे हैं। वृष-रूप में आप क्या कोई देवता हैं, जो मुझे खिन्न कर रहे हैं। हे धर्मज्ञ! आप धर्म की बातें कर रहे हैं। वृष रूपधारी आप धर्म हैं। तप, शौच, दया और सत्य—आपके ये चार चरण कहे गये हैं। गर्व के मदवाले अधर्म के अंश से आपके तीन पैर टूट गये हैं। हे धर्म! अब आपका केवल सत्य नामक चरण बचा हुआ है। इसलिये असत्य प्रेरित कलि, धर्म से घृणा कर रहा है। वृष के तीन चरण तप, शौच और दया, जो नष्ट हो गये थे, उन्हें स्थापित कर संसार को बढ़ाया।"

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अध्याय १७, श्लोक १, २, ३, ४, ७, २२, २४, २५, ४२

धर्म (वृष) के चार चरणों की अनेक प्रसंगों पर चर्चा की गई है—

"धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्त्तते ।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता ॥[1]
विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च ॥"[2]

"कृत युग में चार चरणवाला धर्म मनुष्यों के साथ था। वही धर्म बढ़ते हुए अधर्म के कारण एक-एक चरण खोता जाता है।

"विद्या, दान, तप और सत्य धर्म के चरण हैं।"

श्रीनटराजसहस्रनामभाष्य में शिव के वृषध्वज नाम पर भाष्य में ग्रन्थकार ने लिखा है—

"अस्य च वृषस्य धर्मरूपत्वं विष्णुरूपत्वं च सकलपुराणप्रसिद्धम्—
शुद्धस्फटिकसंकाशो धर्मरूपो वृषः स्मृतः ।
वन्दे धर्मवृषं वृषध्वजरथं तीर्थाश्रितांसं सदा ।
स्कान्देऽपि—तस्माद्धर्मः सदा शम्भोर्वृषरूपेण वाहनम् ।

तदेवास्यासाधारणलाञ्छनमित्युक्त्वा धर्मप्रियत्वं सूचितम् । विष्णोर्वृषभरूपत्वं च लिङ्गपुराणे प्रसिद्धम् । त्रिपुरविजयप्रयाणावसरे भगवद्भारासमतयाश्वभग्नजंघेषु वेदाश्वेषु पततः रथस्य वृषभरूपेण विष्णुना धारितत्वेन ता[illegible]स्य परम्परया वृषभारूढत्वात् ।"[3]

"इस वृष का धर्मरूप और विष्णुरूप सभी पुराणों में प्रसिद्ध है। धर्मरूपी वृष को निर्मल स्फटिक-जैसा कहा गया है। कन्धे पर तीर्थवाले, वृषध्वज रथवाले और धर्मवृषवाले (शिव) की मैं वन्दना करता हूँ।

"स्कन्द पुराण में भी है – इसलिये धर्म ही सर्वदा वृषरूप से शम्भु का वाहन है। इस प्रकार इनके इस असाधारण चिह्न की उक्ति द्वारा, इनका धर्मप्रियत्व सूचित किया गया है। विष्णु का वृषभरूप लिङ्गपुराण में प्रसिद्ध है। त्रिपुर-विजय के लिये प्रयाण करते समय, भगवान् शिव के भार को नहीं सह सकने के कारण वेदाश्वों की जंघा टूट जाने से रथ गिरने लगा। विष्णु ने वृषभरूप से उसको धारण किया। इस प्रकार के रथ पर आरूढ़ होने के कारण, परम्परा से ये वृषभारूढ़ हैं। शिवसहस्रनाम में इन्हें 'सिंहवाहन'[4] और श्रीनटराजसहस्रनाम में 'गरुडवाहन,'[5] कहा गया है।"

१. तत्रैव, ३. ११. २१
२. तत्रैव, ३. १२. ४१
३. नटराजसहस्रनामभाष्यम् (मद्रास, १९५१) भाग १, पृष्ठ ७४
४. शाक्तप्रमोद (बम्बई, संवत् २००८) नाम-संख्या, ९८ सिंहगायनमः, ९८१ सिंहवाहनायनमः।
५. श्रीनटराजसहस्रनाम। (मद्रास, १९५१), नाम-संख्या ७९७ गरुडारूढः।

धर्म अशेष कारण का पूर्णरूप और कभी खण्डावतार माना जाता है—"धर्म, विष्णु के एक खण्डावतार हैं। बृहद्धर्मपुराण में कहा गया है कि विश्व की रचना कर इसकी रक्षाके लिये ब्रह्मा किसी को ढूंढने लगे। उनके दक्षिण पार्श्व से, कुण्डलधारी श्वेत पुष्प स्रग्वी, और श्वेत चन्दनधारी कोई जीव उत्पन्न हुआ। उसके चार पैर थे और वह वृष-जैसा था। वह धर्म था। ब्रह्मा ने उसे धर्म (धारण करनेवाला) नाम दिया, उसे अपना ज्येष्ठ पुत्र बनाया और अपनी सृष्टि विश्व की रक्षा करने के लिये उसे नियुक्त किया। कृतयुग में धर्म के चार पैर थे, त्रेता में तीन, द्वापर में दो, और कलि में केवल एक। धर्म के पैर हैं—सत्य, दया, शान्ति, अहिंसा। संस्कृत में वृष शब्द का अर्थ, धर्म और बैल, दोनों ही है। इससे मालूम होता है, कल्पनाप्रवण हिन्दुओं ने वृष को धर्म के साथ मिला दिया। आदित्यपुराण के अनुसार धर्म का रंग श्वेत, मुख चार, पैर चार, परिधान श्वेत और उसे सर्व भूषण से भूषित होना चाहिये। एक दक्षिण हस्त में अक्षमाला हो, दूसरा मूर्त्तिमान् व्यवसाय के मस्तक पर हो। एक वाम हस्त में पुस्तक और अवशिष्ट वाम हस्त में एक पद्म हो और वह हाथ एक सुन्दर वृष के मस्तक पर हो।"[१]

शिव के आठ प्रत्यक्ष रूप हैं[२]—पञ्चतत्त्व, चन्द्र, सूर्य और होता। इसलिये इनका नाम अष्टमूर्त्ति है। इनका नाम पशुपति भी है। वेद, उपनिषत् और पुराणों में प्राणिमात्र का नाम पशु है। इसलिये जगदीश पशुपति हैं—

"येषामीशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत द्विपदामिति।"[३]

१. Dharma is one of the minor Avatars of Vishnu. It is said in the Brihaddharma Purana, that Brahma, as soon as he created the universe, was looking for some one to protect it. Then there sprang from his right side a Being, who wore Kundalas in his ears, a garland of white flowers round his neck and white sandal paste on his body; he had four legs and resembled a bull. He was called Dharma. Brahma called Dharma and asked him to be his eldest son and protect the universe created by himself. Dharma is said to have possessed four legs in the Kritayuga, three in Treta, two in Dvapara and only one in Kali. The limbs of Dharma are said to be Satya, Daya, Shanti and Ahimsa. The Sanskrit word Vrisha means Dharma as also a bull, a fact which seems to have induced the imaginative Hindu to associate Dharma with a bull. According to Aditya Purana, the figure of Dharma should be white in colour and have four faces, four arms and four legs, be clothed in white garments, and be adorned with all ornaments, should carry in one of the right hands Akshamala, the other right hand being made to rest upon the head of the personified head of Vyavasaya (industry). One of the left hands should keep a Pustak and the remaining left hand should carry a lotus and placed on the head of a good looking bull.

—Elements of Hindu Iconograhpy. T. A. Gopinath Rao, Madras, 1914 Vol. I pt. I page 278.

२. भूतार्कचन्द्रयज्वानो मूर्त्तय अष्ट प्रकीर्त्तिताः।

३. नटराजसहस्रनामभाष्य (मद्रास, १९५१) में नाम-संख्या ५४३, 'पशुपति' पर टीका में उद्धृत।

"द्विपद और चतुष्पद पशुओं के ईश पशुपति हैं।"

"पशुपतिरहङ्काराविष्टः संसारी जीवः स एव पशुः। सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसम्पन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः। के पशव इति पुनः स तमुवाच जीवाः पशव उक्ताः। तत्पतित्वात्पशुपतिः। स पुनस्तं होवाच कथं जीवा पशव इति। कथं तत्पतिरिति। स तमुवाच यथा तृणाशिनो विवेकहीनाः परप्रेष्याः कृष्यादिकर्मसु नियुक्ताः सकलदुःखसहाः स्वस्वामिबध्यमाना गवादयः पशवः। यथा तत्स्वामिन इव सर्वज्ञ ईशः पशुपतिः॥"[1]

"पशुपति। अहंकार से घिरा हुआ संसारी जीव, वही पशु है। सर्वज्ञ, पञ्चकृत्य-सम्पन्न, सर्वेश्वर, ईश, पशुपति हैं। कौन पशु है, यह फिर (पूछे जाने पर) उसने उसे कहा—जीवों को पशु कहा गया है। उनके स्वामित्व के कारण ये पशुपति हैं। उसने फिर उससे कहा—जीव क्यों पशु हैं, क्यों उनका पति है। उसने उससे कहा—जिस प्रकार तृणभोजी, विवेकहीन, दूसरों से काम में लाये जानेवाले खेती-बारी के काम में लगे हुए सब प्रकार का दुःख सहनेवाले अपने स्वामियों से बाँधे जानेवाले गो इत्यादि पशु हैं और उनके स्वामी भी हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ ईश पशुपति हैं।"

"…द्याः स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिताः।
तेषां पतित्वाद्विश्वेशः भवः पशुपतिः स्मृतः॥"

"ब्रह्मा से लेकर नहीं चलनेवाली वस्तुओं तक (सभी) पशु हैं। उनका पति होने के कारण विश्वेश भव पशुपति कहे जाते हैं।"

तमःप्रधान जीवों को भी पशु कहा गया है—

"पश्वादयस्ते विख्यातास्तमःप्राया ह्यवेदिनः।
उत्पथग्राहिणश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः॥"[2]

"जिनमें तम की अधिकता से वेदना (समझ-बूझ) नहीं है, केवल चेतन-मात्र रहकर घोर अज्ञान में पड़े रहते हैं और कुमार्ग पर चलते रहते हैं, वे ही पशु नाम से प्रसिद्ध हैं। शिव उनके भी त्राता हैं, इसलिए पशुपति हैं।"

इनका नाम नीलकण्ठ है। समुद्र-मन्थन के बाद भयंकर विष हलाहल सारी सृष्टि में भर गया और सृष्टि का संहार होने लगा। इसकी रक्षा के लिये भगवान् ने सारा विष समेट कर कण्ठ में धारण कर लिया और सब की रक्षा की। इसलिये इनका कण्ठ नीला हो गया। वेदानुसार जीवन यज्ञ है, जीवन समुद्र है। इसके मन्थन से मोह और घोर कष्ट उत्पन्न होता है। यही हलाहल है, जिसे भगवान् पीते रहते हैं। यह भगवान् नीलकण्ठ के कल्याणमय रूप और भक्तवत्सलता का चिह्न है।

शिव का नाम त्रिपुरारि है। ऐतरेय ब्राह्मण (१.४.६) में लिखा है कि देवासुर-संग्राम में असुरों ने द्यौ, आकाश और पृथ्वी के तीन पुर (दुर्ग) बना लिये जो क्रमशः सोने, चाँदी और लोहे के थे। छान्दोग्योपनिषत् में वर्णित लोहित, शुक्ल और कृष्ण का त्रिवृत्त है। ये स्पष्टतः रज, सत्त्व और तम के द्योतक हैं। त्रिपुर के, सोने, चाँदी और लोहे के

१. जाबालोपनिषत्।
२. विष्णुपुराण, १, ५०६

बने हुए त्रिपुर, त्रिगुण से उत्पन्न और उसमें निवास करनेवाला महामोह अर्थात् अविद्या है। शिव ने विष्णु, बेद, चन्द्र, सूर्यादि ज्ञानप्रद और मोहनाशक उपादानों से त्रिपुर (अविद्या) का संहार किया। पुष्पदन्त ने संक्षेप में इसका सुन्दर वर्णन दिया है—

"रथःक्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति।"

"पृथ्वी रथ बनी, इन्द्र सारथी, हिमालय धनुष, चन्द्रमा और सूर्य रथ के पहिये और विष्णु बाण बने।" इस प्रकार त्रिपुर का संहार हुआ और जिज्ञासु भक्तों के त्रिपुर का नित्य संहार होता रहता है।

पुराणों में इसी विषय को अनेक रोचक कथानकों के रूप में दिया गया है। गजासुर और अन्धकासुर की कथा भी इसीका रूपान्तर है। हाथी के रूप में एक सर्वध्वंसी भयङ्कर राक्षस उत्पन्न हुआ। भगवान् शिव ने काशी में उसका संहार किया। सभी सुखी और प्रसन्न हुए। भगवान् ने उसकी खाल हाथों पर लेकर नृत्य किया।[1]

अन्धकासुर हिरण्याक्ष का बेटा था। हिरण्याक्ष को मूर्त्तिमन्त अनश्वर्य कहा गया है—

"मूर्त्तिमन्तनैश्वर्यं हिरण्याक्षं विदुर्बुधाः।
ऐश्वर्येणाविनाशेन स निरस्तोऽरिमर्दनः॥"[2]

"मूर्त्तिमान् अनैश्वर्य को बुद्धिमान् लोग हिरण्याक्ष कहते हैं। हे अरिमर्दन! अविनाशी ऐश्वर्य के द्वारा उसका नाश हुआ।"

उसका बेटा अन्धक अर्थात् विचार-शक्ति और ज्ञान को अन्धा कर देनेवाला महामोह है, जिसका शिव सर्वदा नाश करते रहते हैं। यह मोह रक्तबीज की तरह बढ़ता रहता है, सरलता से नष्ट नहीं होता। महामोह अर्थात् अविद्या का नाम ही अन्ध है—

"तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥"[3]

"पाँच गुत्थियोंवाली अविद्या के नाम हैं—तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध। महात्मा से इसकी उत्पत्ति हुई।" अन्धकासुर के संहार का अर्थ है—तत्त्वज्ञान के विरोधी और प्रबल विघ्न अविद्या का नाश।

इस सम्बन्ध में श्रीगोपीनाथ राव का मत भी मननीय है—

"वराहपुराण के अनुसार उपर्युक्त अन्धकासुर और मातृकाओं की कथा एक अलंकृत उक्ति है। यह अविद्या के साथ आत्मविद्या के युद्ध का निदर्शन है। 'यह सब कुछ मैंने तुम्हें [illegible] के विषय में कहा"। शिव-रूप में विद्या अन्धकासुर-रूपी अविद्या से युद्ध करती है। विद्या जितना ही इस पर आक्रमण करती है, कुछ समय तक अविद्या

---

१. जगद्रक्षायै त्वं नटसि (शिव महिम्नःस्तोत्रम्)।
२. प्रतिमालक्षण, पृ० ३०
३. विष्णुपुराण, १. ५. ५

उतनी ही बढ़ती जाती है। अन्धकासुर के रूपों की संख्या का बढ़ना इसीका निदर्शन है। जबतक हृदय के काम, क्रोधादि विकार पूर्णत: विद्या के वश में नहीं आ जाते, तबतक अन्धकार का नाश नहीं हो सकता।"[१]

अविनाशी सर्वात्मा का यही शिवस्वरूप है।

नटराज

'नटराजसहस्रनाम' में शिव को प्रौढ़नर्त्तनलम्पट, महानटनलम्पट आदि कहा गया है। जगत् का आदिकरण विभु की इच्छा और क्रिया ही उसका निरन्तर नृत्य है। 'पुष्पदन्त' ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

"मही पादाघाताद्व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।
मुहुर्द्यौर्दौःस्थ्यं यात्यनिभृ[illegible]
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता॥"[२]

"तुम्हारे पादाघात से पृथ्वी सहसा संकट में पड़ जाती है। परिघ की तरह (परिपुष्ट) भुजाओं के घूमने से, जिस आकाश में ग्रहगण घूमते रहते हैं, वे भी पीड़ित हो उठते हैं और आकाश भी संकट में पड़ जाता है। बारम्बार तटों पर जटाओं का आघात लगने से द्युलोक की भी दुरवस्था हो जाती है। आप जगत् की रक्षा के लिये नृत्य करते हैं। आपकी प्रतिकूल क्रिया भी वैभव बन जाती है।"

शङ्कर का नृत्य ही सृष्टिविधान है और इसकी निवृत्ति प्रलय है। जगत् की रक्षा के लिये ये नित्य संध्या समय नृत्य किया करते हैं। उस समय सभी देव, यक्ष, रक्ष आदि इनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं और एक शङ्कर की पूजा से सब की पूजा हो जाती है—

"कैलासशैलभुवने त्रिजगज्जनित्रीं
गौरीं निवेश्य कनकाचितरत्नपीठे।
नृत्यं विधातुमभिवाञ्छति शूलपाणौ
देवाः प्रदोषसमयेऽनुभजन्ति सर्वे॥"

---

१. According to the Varaha Purana, the account given above of Andhakasur and the Matrikas is an allegory; it represents Atmavidya or spiritual wisdom as warring against Andhakar, the darkness of ignorance; एतस्ते सर्वमाख्यातमात्मविद्यामृतम्। The spirit of Vidya represented by Shiva, fights with Andhakasur, the darkness of Avidya. The more this is attempted to be attacked by Vidya, the more does it tend to increase for a time. This fact is represented by the multiplication of the figures of Andhakasur. Unless the eight evil qualities काम, क्रोध etc., are completely brought under control of Vidya and kept under restraint, it can never succeed in putting down Andhakara.

—Elements of Hindu Iconography, Vol. II

२. शिवमहिम्नः स्तोत्रम्, श्लोक १६

"वाग्देवी धृतवल्लकी शतमखो वेणुं दधत्पद्मज—
रतालोन्निद्रकरो रमा भगवती गेयप्रयोगान्विता ।
विष्णुः सान्द्रमृद[illegible] देवाः समन्तात्स्थिताः
सेवन्ते तमनु प्रदोषसमये देवं मृडानीपतिम् ॥
गन्धर्वयक्षपतगोरगसिद्धसाध्य—
विद्याधरामरवराप्सरसां गणाश्च ।
येऽन्ये त्रिलोकनिलयाः सह भूतवर्गाः
प्राप्ते प्रदोषसमयेऽनुभजन्ति सर्वे ॥
अतः प्रदोषे शिव एक एव, पूज्योऽथ नान्यो हरिपद्मजाद्याः ।
तस्मिन् महेशे विधिनेज्यमाने सर्वे प्रसीदन्ति सुराधिनाथाः ॥"[1]

"कैलास पर्वत प्रान्त पर जगदम्बिका गौरी को रत्नखचित सिंहासन पर बैठाकर शूलपाणि जब संध्या समय नृत्य करने की अभिलाषा करते हैं, तब सभी देवगण उनकी सेवा में उपस्थित हो जाते हैं। वाग्देवी हाथ में वीणा और इन्द्र वेणु ले लेते हैं। ब्रह्मा हाथों से तालों को जगाते हैं। भगवती रमा गाने में संलग्न हो जाती हैं। विष्णु स्निग्ध मृदंग-वादन में पटुता दिखलाने लगते हैं। प्रदोषकाल में मृडानीपति को घेरकर खड़े होकर देवगण उनकी सेवा में उपस्थित हो जाते हैं।"

तीनों लोकों में निवास करनेवाले गन्धर्व, यक्ष, पतग, उरग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, अमर, अप्सराएँ, भूतादि जितने हैं, प्रदोषकाल होते ही हर के पार्श्व में जाकर खड़े हो जाते हैं। अतः प्रदोष-काल में केवल शिव को पूजना चाहिए—किसी दूसरे को या हरि ब्रह्मादि को नहीं। उन महेश के विधिपूर्वक पूजे जाने पर सभी प्रधान देवगण प्रसन्न हो जाते हैं।

"कैलासे च प्रदोषे नटति पुरहरे देव दैत्याभिवन्द्ये
पश्यन्त्यां शैलपुत्र्यां नटनमतिमुदा स्वर्वधूसंयुतायाम् ।
ब्रह्मा तालं च वेणुं कलयति मघवा मर्दलं चक्रपाणि-
र्धित्तां धित्तां धिमित्रां धिमि धिमि धिमितां धिंधिमी धिंधिमीति ॥"[2]

"देवदैत्यादि के पूज्य पुरहर प्रदोषकाल में जब कैलास पर नृत्य करने लगते हैं, तब स्वर्ग की सुन्दरियों के साथ शैलजा बड़े आनन्द से नृत्य को देखती हैं। ब्रह्मा ताल देते हैं, इन्द्र वेणु बजाते हैं और चक्रपाणि धित्तां धित्तां आदि ताल देकर मृदंग बजाते हैं।

"प्रपंचसृष्ट्युन्मुखलास्यकाय
समस्तसंहारकताण्डवाय ।
जगज्जनन्यै जगदेकपित्रे
नमः शिवायै च नमः शिवाय ॥"[3]

१. प्रदोषस्तोत्रम् ।
२. नटराजसहस्रनाम, ४२वें नाम की टीका में उद्धृत ।
३. अर्धनारीश्वर नटेश्वरस्तोत्रम्, श्लोक ७

"जगत् की सृष्टि का प्रवर्त्तन करने के लिये जो लास्य नृत्य करती हैं, और समस्त संहार के लिये जो ताण्डव नृत्य करते हैं, उन जगज्जननी और जगत्पिता शिवा और शिव को प्रणाम ।"

एक दिन नृत्य के अन्त में भगवान् ने चौदह बार डमरू बजाया । उससे चौदह शिव-सूत्र निकले । इन्हीं माहेश्वर सूत्रों से समूचा शब्द-शास्त्र बना ।[१] यह परमब्रह्म के शब्दरूप में आत्मविस्तार का प्रतीक है । शिव नृत्त[२] हैं । शिव नृत्यमय हैं । यह उनका स्वानन्द है । शिव-शिवा नृत्यमय हैं । ये दोनों ही नाट्य और संगीत के आदि प्रवर्त्तक हैं ।

ब्रह्म के दो रूप हैं—निष्क्रिय और सक्रिय । अशेष कारण रूप में यह निष्क्रिय है, कूटस्थ है । जब इसमें स्वभाव से स्पन्दन या क्षोभ उत्पन्न होता है, तब यह सक्रिय ब्रह्म कहलाता है । यह मूलस्पन्द या मूलक्षोभ ही विभु का नृत्य है ।

निष्क्रिय ब्रह्म शिव है और सक्रिय ब्रह्म माया है; किन्तु प्रपंच की सृष्टि, स्थिति और संहार रूपी नृत्त में, निष्क्रिय और सक्रिय में कोई भेद नहीं रह जाता । निष्क्रिय, सक्रिय और सक्रिय निष्क्रिय बन जाता है । कभी पार्वती द्रष्टा बन जाती हैं और शिव नृत्य करते हैं । कभी शिव द्रष्टा बनते हैं और पार्वती नृत्य करती हैं । कभी तो दोनों का ही सम्मिलित नृत्त होता है । सृष्टि का प्रवर्त्तन, शिवा का नृत्य लास्य (कोमल नृत्य) और इसका निवर्त्तन शिव का ताण्डव (उद्धत नृत्य) कहा जाता है; किन्तु यह यथार्थ में ब्रह्म के स्व-भाव, उनकी नित्य इच्छा, नित्य क्रिया अर्थात् नित्य आनन्द का कल्लोल है ।

नटेश, नटेश्वर या नटराज की मूर्त्ति और चित्रों की कल्पना नाना प्रकार से की जाती है और पुराण, स्तोत्र तथा काव्यों में इसके नाना प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं । मन्दिरों और गुहाओं में इनके बहुत-से उत्कीर्ण और रंगे हुए चित्र तथा मूर्त्तियाँ मिलती हैं । असम प्रदेश में 'कामाख्या' के मन्दिर में महाकाल की मूर्त्ति दीवार के साथ बनी हुई है । 'नालन्दा' की खुदाई में भी ऐसी मूर्त्ति मिली है । किन्तु, इन सब में प्रसिद्ध दक्षिण-भारत के चिदम्बर की मूर्त्ति है ।

नटराज की दो प्रकार की मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं—प्रभामण्डलरहित और प्रभामण्डल-सहित ।

प्रभामण्डलरहित मूर्त्ति में शिवरूपी ब्रह्म के सभी प्रतीक वर्त्तमान हैं । प्रभु के आनन्दमय[३] वपु से ही क्रिया का प्रवर्त्तन होता है, जिससे सारी सृष्टि का उद्भव और उसमें

१. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

२. सुधीजन नृत्त, नृत्य और नाट्य में भेद मानते हैं । स्वाभाविक उल्लास से अङ्गविक्षेप का नाम नृत्त है । किसी भाव को प्रकट करने के लिए अङ्गहार का नाम नृत्य है । किसी निश्चित घटना या विषय को प्रकट करने में अङ्गचालन का नाम नाट्य है ।

३. चिदानन्दमय देह तुम्हारी ।
बिगत बिकार जान अधिकारी ॥—तुलसी

परिवर्त्तन होता रहता है। उस महा आनन्द में प्रभु आप-से-आप हिलते, डुलते, थिरकते अर्थात् नृत्त में निरत रहते हैं,[1] जो विश्वव्यापी ताल, लय और संगीत बन जाता है। इनके मस्तक पर चन्द्रकला है, जो अमृतमय आनन्द का प्रतीक है। कभी जटाएँ खुली रहती हैं, कभी मस्तक पर जटा-मुकुट, कभी करण्ड-मुकुट और कभी किरीट-मुकुट रहता है। सर्प और कटि-वस्त्र के रूप में दिक्काल सेवा के लिए उपस्थित हैं। एक हाथ में वाक् या शब्दब्रह्म डमरू है, जिससे सृष्टि का प्रवर्त्तन होता है और जो रजोगुण का प्रतीक है। दूसरे हाथ में अग्नि हैं, जिससे ज्वाला की लपटें निकल रही हैं। यह संहरण-शक्ति का चिह्न और तमोगुण है। एक हाथ अभय-मुद्रा में ऊपर उठा हुआ है, जो जीवमात्र को अभय-दान देता हुआ मानो कह रहा है—'मा भैषीः'[2]; डरो मत, मेरी कृपा तुम्हारे साथ है, मैं तुम्हारे साथ हूँ। प्रभु का बायाँ पैर उठा हुआ है और वरद हस्त इसकी ओर संकेत कर रहा है मानो कह रहा है कि इसकी शरण में जा, यही तुम्हारा त्राता है। यह स्थिति का प्रतीक सत्त्वगुण है।

श्रीनटराजसहस्रनाम के 'कुञ्चितैकपदाम्बुजः' नाम पर टीका में टीकाकार ने लिखा है—

"तथा चोक्तं चिदम्बर माहात्म्ये चतुर्विंशाध्याये—

मन्त्रान्महेश्वरो देवो महादेवो महानटः।
देवाच्छ्रेष्ठतमस्तस्य श्रीमान्ताण्डवभूषितः॥
भवाम्भोधिमहापोतः पादः पद्मारुणच्छविः।
तस्य दर्शनमात्रेण सकृत्पापी च मुच्यते॥
किं पुनः सुकृती क्षेत्रवासी नित्यनिरीक्षकः॥"

"चिदम्बर माहात्म्य के चौबीसवें अध्याय में कहा है—मन्त्र से देव महेश्वर, महादेव, महानट श्रेष्ठ हैं। संसारसागर के महापोत, पद्म के समान अरुण छवि युक्त चरणवाले, ताण्डव में निरत श्रीमान् देव से श्रेष्ठ हैं। एक बार भी उनके दर्शन करने से पापी पाप से छूट जाता है! पुनः जो इस क्षेत्र के निवासी सुकर्मी नित्य दर्शन करनेवाले पुरुष हैं, उनका क्या कहना!"

प्रभु अपने दक्षिण चरण पर अपने शरीर का सारा भार डालकर उसके नीचे महामोह पुरुष, अर्थात् अविद्या, को दबाये हुए हैं, जिसमें अभियुक्त जनों को चरणों तक जाने में किसी प्रकार की बाधा न हो।

पैर के नीचेवाले पुरुष को अपस्मार पुरुष कहा गया है। अपस्मृति मनुष्य की ऐसी अवस्था का नाम है, जिसमें मनुष्य की बुद्धि काम न करती हो, अर्थात् मोहग्रस्त।

१. प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रंग खेलत।—सूरदास
२. व्याकुल न हो कुछ भय नहीं, तुम सब अमृत सन्तान हो।—भारत भारती (मैथिलीशरण गुप्त)

'नटराज-सहस्रनाम' में नटराज का एकादश नाम 'अपस्मृतिन्यस्तपाद:' है। इस पर टीका इस प्रकार है—

"अपस्मृतिः अपस्मारः तस्मिन् न्यस्तः पादः येन सः अपस्मृतिन्यस्तपादः। अपस्मारो नाम रोगविशेषः। अपस्मर्यते पूर्ववृत्तं विस्मर्यते अनेन इति। अपपूर्वकात् स्मृ चिन्तायाम् इति धातोः करणे घञ्। तस्य सामान्यरूपं तु—

तमः प्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः॥

दारुकावने मुनिकृताभिचारकर्मणि अग्नेरुत्पन्नः अयममपस्मारः। तं चरणेनाधःकृतवान् परमेश्वरः। तदुक्तं सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे अष्टमाध्याये—

कृ[illegible]ोत्थघोरापस्मारसंस्थितः।
स्वस्वरूपमहानन्दप्रकाशाप्रच्युतो हरः॥
प्रसन्नः सर्वविज्ञानमुपदेक्ष्यति सः प्रभुः॥

चिन्तामणि महामन्त्रध्याने च—

दक्षपादाब्जविन्यासादधःकृततमोगुणः॥

अस्यैव भूत इति मुसलक इति तमोगुण इति च प्रसिद्धिः। तदुक्तं हेमसभानाथमाहात्म्ये द्वितीयाध्याये—

अग्नेरुत्तादुदीर्णस्य करिणः कालशासनः।
कृत्तिमुत्कृत्य रक्तार्द्रां कृत्वाधस्तोत्तरीयकम्॥
हत्वा तैः प्रेरितं व्याघ्रं परिधत्ते स्म तत्त्वचम्।
तन्मुक्तं मृगमुद्वृत्तं पाणौ विधृतवान् प्रभुः॥
उग्रं भुजङ्गस्तत्सृष्टे रुद्रः स्वाङ्गान्यभूषयत्।
वधाय प्रेरितं विप्रैः पावकं पाणिभूषणम्॥
अथोदग्रमपस्मारं घोरं प्राह तथा द्विजाः।
आक्रामन्तं स्वतन्त्रस्तमाचक्राम घृणानिधिः"॥[1]

"अपस्मृति अपस्मार है। उस पर जिन्होंने पैर रखा है, वे अपस्मृतिन्यस्तपाद हैं। एक प्रकार के रोग का नाम अपस्मार है। जिससे पूर्व की घटनाओं का अपस्मरण अर्थात् विस्मरण हो जायँ। अप के साथ चिन्ता के अर्थ में, स्मृति के धातु में, करणार्थ में घञ् प्रत्यय है। उसका साधारण रूप इस प्रकार है—दोषों के उत्कट हो जाने से स्मृति नष्ट हो जाय और सभी कार्य अन्धकारमय हो जायँ, ऐसा घोर रोग अपस्मार है। यह चार प्रकार का है।

दारुकावन में मुनियों के किये हुए अभिचार-कर्म में अग्नि से उत्पन्न यह अपस्मार है। उसको परमेश्वर ने लात से नीचे लिटा दिया। यह 'सूतसंहिता' के मुक्तिखण्ड के

1. नटराजसहस्रनाम (मद्रास, 1951), पृ०16

अष्टमाध्याय में कहा गया है—'अपनी माया से बनाये हुए घोर अपस्मार के ऊपर, कृपा करके, प्रकाश और महानन्दरूप हर स्थित हैं। वही प्रभु प्रसन्न होकर सब प्रकार के विज्ञान का उपदेश करेंगे।'

चिन्तामणि महामन्त्र के ध्यान में भी—

दाहिने चरणकमल को रख कर तमोगुण को नीचे दबा दिया है। यही भूत, मुसलक और तमोगुण के नाम से प्रसिद्ध है। 'हेमसभानाथ-माहात्म्य' के द्वितीय अध्याय में कहा है—

'प्रभु कालशासन (शिव) ने होमाग्नि से उत्पन्न हाथी का चमड़ा छुड़ाकर, रक्त से लिप्त (उस चर्म को) धारण किया। उनके भेजे हुए बाघ को भी मारकर उसका चर्म धारण किया और उन (व्याघ्रों) से मुक्त मृग को उठाकर हाथ में रख लिया। उनके भेजे हुए भयङ्कर सर्पों से अङ्गों को सजा लिया और हत्या के लिए भेजे हुए अग्नि को हाथ का भूषण बनाया। प्रचण्ड तथा भयङ्कर अपस्मार ने जब आक्रमण किया, तब दयानिधि ने उसके ऊपर पैर रख दिया।"

दर्शन-शास्त्रों, उपासना-पद्धतियों और साधना-प्रणालियों में इस अविद्या या मोह की नाना प्रकार से कल्पना की गई है और उसे दूर करने के लिये भगवान् से प्रार्थना की गई है। उपनिषत् में इसे सोने का थाल कहा गया है और भगवत्प्राप्ति के लिये इसे दूर करने की प्रार्थना की गई है—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[1]

"सोने के थाल से सत्य का मुख ढँका हुआ है। हे पूषन्! आप उसे हटा दीजिये, जिसमें सत्यधर्म दिखाई पड़े।"

उपनिषत् की भाषा में इस सोने के थाल का नाम अविद्या, मोह, प्रेय इत्यादि है। इससे लिपट कर 'अयं निजः अयं परः' (यह अपना है, यह पराया है) के फेर में जीव बहिर्मुख बना रहता है और विषय-वासना में लिप्त होकर विद्या, ज्ञान, श्रेय इत्यादि से दूर पड़ा रहता है।

वैष्णव भक्त और कवियों ने इसकी अनेक कल्पनाएँ की हैं। यह गोपियों का चीर है, जिसके हट जाने से ब्रह्म और जीव के बीच का सोने का थाल हट जाता है और जीव भगवत्-शरणापन्न हो जाता है। कबीर और विद्यापति इसे घूंघट का पट और सूर इसे कृष्ण का कम्बल कहते हैं। तुलसी ने सीधी भाषा में, इसे 'भक्त मन की कुटिलाई' कहा है। नटवर भक्त जीवों का चीर-हरण कर लेते हैं और नटराज इसे पैर के नीचे दबाकर, अपने चरणों तक जाने के लिये, जिज्ञासु जीवों का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

१. बृहदारण्यकोपनिषत्, ५. १४. १

नटराज की जटा में नर कपाल और चन्द्रमा हैं। ये दोनों ही अमृत के प्रतीक हैं। ये ही ब्रह्मा का कमण्डल और बुद्ध का अमृत घट हैं और इसीकी गङ्गाधारा विष्णु के चरणों से बहती रहती है।

एक कान में स्त्री का गोल कुण्डल और दूसरे में पुरुष का कर्णभूषण है। यह अर्धनारीश्वरत्व का प्रतीक है।

नटराज की मूर्त्ति में प्रभामण्डल रहता है। यह पाँच-पाँच स्फुलिङ्गवाली ज्वालाओं से घिरा रहता है। यह माया-चक्र है। ब्रह्म अपने चरण और हाथों के स्पर्श से इसे अनुप्राणितकर प्रेरित कर देते हैं और इसकी क्रियाओं (सृष्टि) का नृत्य होने लगता है—अर्थात् अपने आनन्द में जब ब्रह्म की अपनी इच्छा और क्रियाशक्ति का स्फुरण होने लगता है, तब मायाशक्ति (इच्छा और क्रिया) क्रियावती हो उठती है, और महदादि से मन, अहंकार, तन्मात्रा, पञ्चतत्त्व आदि तक की लीलाएँ होने लगती हैं। माया के इस विलास में, सूक्ष्म शक्तियों का सब से स्थूल रूप पञ्चतत्त्वों के प्रतीक ये स्फुलिङ्गवाली ज्वालाएँ हैं। ब्रह्म जब अपने हस्तपादादि के स्पर्श से माया में प्रेरणा भर देता है, तब माया पञ्चभूतात्मक सृष्टि के रूप में प्रकट होती है।

नादान्त नृत्य में, उत्थितवामपाद के रूप में ही, नटराज की मूर्त्ति पाई जाती है; किन्तु चतुर नृत्य में इनके दोनों ही पैर अज्ञान पुरुष पर नृत्य करते रहते हैं। नृत्यकला के ऊपर ये मुद्राएँ निर्भर करती हैं। महामोह के ऊपर नृत्य करती हुई महाशक्ति की मूर्त्तियाँ भी पाई जाती हैं। इन मूर्त्तियों में यह नृत्य कभी पुरुषमूर्त्ति पर और कभी महिष पर दिखलाई जाती है। इन मूर्त्तियों में बाह्य भेद होना स्वाभाविक है; किन्तु अन्तर्गत सिद्धान्त एक है।

प्रभु की आँखें बन्द हैं; क्योंकि आनन्द से आत्मविभोर होकर वे यह लीला या नृत्य किया करते हैं।

मोह पर नृत्य का दार्शनिक अर्थ भी स्पष्ट है कि अज्ञान पर यह संसार चलता है। जैसे—अज्ञान के कारण लोग चोर और डकैत होते हैं, इनके लिए पुलिस, थाना, कचहरी, वकील, जेल इत्यादि हैं, उनके लिए स्कूल, कॉलेज, छात्रावास, होटल, बाजार आदि हैं। यदि अज्ञानी, ज्ञानी बन-कर, चोरी-डकैती को, नीच कर्म समझकर छोड़ दें, तो ये सब भी लुप्त हो जायँ। इसी प्रकार प्रपंच की और क्रियाओं को भी समझना चाहिये। यही काली का काला रंग और खुले हुए केश हैं।

ब्रह्म और माया, चन्द्र और चन्द्रिका की तरह, एक अखण्डित और अभिन्न है। इसलिये जब ब्रह्म को पुरुष रूप में दिखलाया जाता है, तब इसका आधा अङ्ग नारी रूप में दिखलाया जाता है। यह निश्चित सिद्धान्त है। नृत्य-मूर्त्तियों में तथा अन्यत्र भी नरनारी के प्रतीक एक साथ दिखाये जाते हैं। जैसी ऊपर चर्चा हो चुकी है—कर्णाभूषणों में यह प्रतीक है। शिवमूर्त्ति में वामकर्ण में नारी का आभूषण और दक्षिण में पुरुष का कुण्डल रहता है। प्रभामण्डलवाली मूर्त्ति में प्रभामण्डल शिव की शक्ति या माया शक्ति है। केवल

पुरुष रूप में बाईं ओर आधा अङ्ग स्त्री का और दाहिनी ओर आधा पुरुष का रहता है। जब शिव-शिवा की, नर-नारी रूप में अलग-अलग दो भिन्न मूर्तियों में कल्पना की जाती है तब भी उनके नाम, रूप, गुण, चरित्रादि द्वारा उनकी अभिन्नता दिखलाई जाती है। शिवलिङ्ग के रूप में जब शिव की कल्पना की जाती है, तब यही मायाचक्र, पट्ट या वेदी के रूप में दिखलाया जाता है।

ब्रह्म स्वरूप सभी देवताओं की प्रभामण्डलवाली मूर्त्ति होनी चाहिए और होती भी हैं।[१]

विष्णु के भी प्रभामण्डलवाली प्रतिमा का विधान है। यह योगियों की प्रिय और मोक्षदायक मानी जाती है –

"एका मूर्त्तिरनुद्देश्या शुक्लां पश्यन्ति तां बुधाः।
ज्वालमालावनद्धाङ्गी निष्ठा सा योगिनां परा॥"[१]

"(विष्णु की) एक मूर्त्ति का पता नहीं लगता। बुद्धिमान् लोगों को यह उज्ज्वल वर्ण की दिखाई पड़ती है। वह ज्वाला की माला से घिरी रहती है। यह योगियों की चरम श्रद्धा-स्वरूप है।"

मानवबुद्धि, कल्पना और कला का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इन कल्पनाओं के बाद, यह कलाकारों की प्रतिभा और शक्ति पर यह आश्रित है कि वे कैसी मूर्त्ति का निर्माण या कैसे चित्र को अङ्कित करेंगे। भारतीय कलाकारों ने इसमें सारी शक्ति लगा दी है। पौराणिकों और कथाकारों ने अपने संस्कारानुकूल कितनी शोभन और अशोभन कथाएँ गढ़ डालीं, मूर्त्तिकारों और चित्रकारों ने अद्भुत कला की सृष्टि की, कवियों ने काव्य और नाटकों के ढेर लगा दिये, और भक्तों ने श्रद्धा से प्रेरित होकर भारत के असंख्य स्थानों की परिक्रमा की। आज उत्तर में कैलास-मानसरोवर से लेकर दक्षिण में पोलोन्नारुव (श्रीलंका) तक और पश्चिम में द्वारका से लेकर पूर्व में मणिपुर तक कितने स्थानों में और कितने रूपों में शिव-शिवा की आराधना होती है, यह कहना असम्भव है। योगीजनों ने इन्हें हृदय में देखा और 'शिवोऽहं' कहने में परमानन्द प्राप्त किया, भोगियों ने इनसे भोग पाया और साधकों ने इन रूपों में गुरु पाये। देव, असुर, यक्ष, किन्नर, नाग, पुरुष, स्त्री, महर्षि, शूद्र आदि सबने समान श्रद्धा से इनकी आराधना की। गाँव-गाँव में लोगों ने इनकी स्तुति और प्रशंसा में गीत बनाये, और सारा भारत शिवमय हो उठा।

नटराज के नृत्य के सम्बन्ध में इतने प्रकार के नृत्य का पता लगता है—नृत्त, चतुर-नृत्य, तालसम्फोटित, भङ्गिनाट्य, भ्रमरायित नाट्य, उद्दण्ड ताण्डव, चण्डताण्डव, उर्ध्व-ताण्डव, सव्यताण्डव, महाताण्डव, परमानन्द ताण्डव, महाप्रलय ताण्डव, महोग्र ताण्डव, परिभ्रमण ताण्डव और प्रचण्ड ताण्डव।

लास्य के भेद – गेय पद, स्थितपाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धव, द्विगूढ, उत्तमोत्तम, अन्यदुक्त, प्रत्युक्त, चर्चरी, दैशिक इत्यादि।

---

१. यह चित्रों से स्पष्ट होगा।

दक्षिणापथ में शिवमन्दिरों का नृत्य प्रसिद्ध है। कालिदास ने उज्जयिनी के महाकाल के मन्दिर में नृत्य का विवरण दिया है। मिथिला में अब भी लोग रुद्राक्ष-त्रिशूल धारण कर शिवमन्दिर में नृत्य किया करते हैं। इससे बोध होता है कि नृत्य द्वारा नटेश की आराधना भारत में सर्वत्र प्रचलित थी।

त्रिमूर्त्ति

वेद से लेकर सारे वैदिक वाङ्मय और पुराणादि में यही पाया जाता है कि एक ही तत्त्व नाना रूपों से सारी सृष्टि के रूप में वर्त्तमान है। केवल अज्ञानी लोग अपने अज्ञान के कारण नाना रूपों को नाना तत्त्व मान लेते हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥[1]

"तत्त्वज्ञ लोग एक सत् को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, तेजोमय, शब्दवाला, अग्नि, यम और वायु (इत्यादि) कहते हैं।"

यो वा त्रिमूर्त्तिः परमः परश्च त्रिगुणं जुषाणः सकलं विधत्ते।
त्रिधा त्रिधा वा विदधे समस्तं त्रिधा त्रिरूपं सकलं धराय स्वाहा॥[2]

"जो परम और पर (सब का कारण) तीन गुणों को लेकर त्रिमूर्त्ति के रूप में, तीन-तीन प्रकार से, तीन रूप धारण कर सब की रचना करता है; उस साकार (सकल ब्रह्म) को प्रणाम।"

जुषन् रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः।
ब्रह्मा भूत्वाऽस्य जगतो विसृष्टौ सम्प्रवर्त्तते॥
सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत् कल्पविकल्पना।
सत्यभृग् भगवान् विष्णुरप्रमेयपराक्रमः॥
तमोद्रेकी च कल्पान्ते रुद्ररूपी जनार्दनः।
मैत्रेयाखिलभूतानि भक्षयत्यतिभीषणः॥
स भक्षयित्वा भूतानि जगत्येकार्णवीकृते।
नागपर्यंकशयने शेते च परमेश्वरः॥
प्रबुद्धश्च पुनः सृष्टिं करोति ब्रह्मरूपधृक्
सृष्टिस्थित्यन्तकरणात् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः॥
स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यश्चपाति च।
उपसंह्रियन्ते संहर्त्ता च स्वयं प्रभुः॥[3]

१. ऋग्वेद—१. १४६. ४६।
२. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास, १९३३) परमात्मोपनिषत्—पृ० १०२, श्लोक ७।
३. विष्णुपुराण (जीवानन्द, कलकत्ता)—१. २. ५७-६३।

"वहाँ स्वयं विश्वेश्वर हरि रजोगुण को लेकर, प्रलय काल में, जगत् की रचना में प्रवृत्त होते हैं। सत्यभोगी, अनन्त विक्रमवाले भगवान् विष्णु, जब तक सृष्टि का लय नहीं हो जाता, तबतक युगानुयुगक्रम से पालते रहते हैं। हे मैत्रेय ! तम के उद्रेक से कल्प के अन्त में रुद्र के रूप में जनार्दन अत्यन्त भयङ्कर बनकर सभी तत्त्वों का भक्षण करते हैं। सभी तत्त्वों का भक्षण करके और जगत् को एकार्णव करके नागपर्यंक की शय्या पर परमेश्वर सोते हैं। जगने पर फिर ब्रह्मरूप धारण कर सृष्टि करते हैं। सृष्टि, रक्षा और संहार करने के कारण एक भगवान् जनार्दन ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव का नाम धारण करते हैं। स्वयं प्रभु अपने को स्रष्टा बनाकर सृजन करते हैं, विष्णु बना कर पालन करते हैं और संहर्त्ता बना कर समेट लेते हैं।"

ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।[१]

"हे ब्रह्मन् ! विष्णु और शिव ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं।"

सृष्टिस्थितिविनाशानां कर्त्ता कर्तृपतिर्भवान्।
ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिरात्ममूर्त्तिभिरीश्वर ॥[२]

"ब्रह्मा, विष्णु और शिव के नाम से, अपने रूपों से ही, आप सृष्टि, स्थिति और विनाश के कर्त्ता तथा क्रिया करनेवाली सभी शक्तियों के अधीश्वर हैं। आप स्वयं ईश्वर (समर्थ) हैं।"

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रमाणं शब्द उच्यते।
तत्रापि वैदिकः शब्दः प्रमाणं परमं मतः॥
वेदेन गीयते यस्तु पुरुषः स परात्परः।
मूर्तोऽपरः स विज्ञेयो ह्यमूर्तः पर उच्यते॥
योऽमूर्तः स परोज्ञेयो ह्यपरो मूर्त उच्यते।
गुणाभिव्याप्तिभेदेन मूर्तोऽसौ त्रिविधो भवेत्॥
ब्रह्माविष्णुः शिवश्चेति एक एव त्रिधोच्यते।
त्रयाणामपि देवानां वेद्यमेकं परंहि तत्॥
एकस्य बहुधा व्याप्तिर्गुणकर्मविभेदत.।
लोकानामुपकारार्थमाकृतित्रितयं भवेत्॥
यस्तत्त्व वेत्ति परमं स च विद्वान् न चेतरः।
तत्र यो भेदमाचष्टे लिङ्गभेदी स उच्यते॥[३]

"धर्मार्थकाममोक्ष का निश्चय करने वाला (प्रमाण) शब्द है। उसमें भी वेद के शब्द परम प्रमाण हैं। वेद जिसका वर्णन करता है, वह पुरुष है जो पर से भी पर

---

१. तत्रैव—१. २२. ५६।
२. तत्रैव—१. ३०. १०।
३. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना। शाके १८१७)—१३०, ७-१२।

अर्थात् कारण का भी कारण है। पर का नाम अमृत है और अपर को मृत जानना चाहिए जो निराकार है, वह पर है और साकार का नाम मूर्त है। गुणों की व्याप्ति के भेद से यह साकार तीन प्रकार का होता है। एक को ही तीन प्रकार से कहा जाता है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। तीन देवों का भी वेद्य (जानने की) वस्तु वही है, जिसे 'तत्' और 'पर' कहते हैं। गुण और कर्म के भेद से एक ही नाना प्रकार से फैला हुआ है। लोकों के उपकार के लिये आकृतियां तीन प्रकार की हो जाती हैं। जो परम तत्त्व (सत्य) को जानता है, वही विद्वान् है, दूसरा नहीं। इसमें जो भेद मानता है, उसका नाम लिङ्गभेदी[१] है।"

एका तनुःस्मृतावेदे धर्मशास्त्रे पुरातने।
सांख्ययोगपरैर्वीरैः पृथक्त्वैकत्वदर्शिभिः॥
इदं परं इदंनेति ब्रुवन्तोऽभिन्नदर्शनाः।
ब्रह्माणं कारणं केचित् केचित् प्राहुः प्रजापतिम्॥
केचिच्छिवं परत्वेन प्राहुर्विष्णुं तथाऽपरे।
अविज्ञानेन संसक्ताः सक्ताः रत्यादिचेतसा॥
तत्त्वं कालं च देशं च कार्याण्यथावेक्ष्य तत्त्वतः।
कारणं च स्मृता ह्येता नानार्थेष्विह देवताः॥
एकं निन्दन्ति यस्तेषां सर्वानेव स निन्दति।
एकं प्रशंसमानस्तु सर्वानेव प्रशंसति॥
एकं यो वेत्ति पुरुषं तमाहु ब्रह्मवादिनम्।
अद्वेषस्तु सदा कार्यो देवतासु विजानता॥
न शक्यमीश्वरं ज्ञातुमैश्वर्येण व्यवस्थितम्।
एकात्मा च त्रिधा भूत्वा संमोहयति यः प्रजाः॥
एतेषां च त्रयाणां तुः विचरन्त्यन्तरे जनाः॥[२]

"वेद और प्राचीन धर्मशास्त्र में एक ही रूप कहा गया है। भिन्नता में एकता देखने वाले सांख्ययोग के वेत्ता वीरों ने भी यही कहा है। यह श्रेष्ठ है (परं) और यह नहीं ऐसा कहनेवाले भिन्न रूपों को देख कर कोई ब्रह्मा को और कोई प्रजापति को कारण मानते हैं। अज्ञान में डूबे हुए और भोगविलास में संसक्त लोग, कोई शिव को और कोई विष्णु को कारण मानते हैं। तत्त्व, काल, देश और कार्यों पर गम्भीरता (तत्त्वतः) पूर्वक विचार करके, इन देवताओं को नाना प्रकार के कार्यों का कारण कहा गया है। उनमें से एक की भी जो निन्दा करता है, वह सब की निन्दा करता है। एक की प्रशंसा

१. इससे स्पष्ट है कि त्रिदेव का सम्मिलितरूप और एक परब्रह्म की मूर्तकल्पना शिवलिङ्ग या लिङ्ग—प्रतीक है।

२. वायुपुराण (आनन्दाश्रम, पूना; शाके १८२७)—६६. ११०-११६।

करने वाला सबकी प्रशंसा करता है। जो केवल पुरुष[1] को (पर) जानता है, वही ब्रह्मवादी है। ज्ञानवान् को देवताओं से द्वेष नहीं करना चाहिए। ईश्वर अपनी शक्ति से स्थित है। उसे कोई जान नहीं सकता। वह अकेला होने पर भी तीन प्रकार (त्रिगुण) से सृष्टि को मोह में डाले रहता है। इन्हीं तीनों के भीतर सृष्टि घूमती रहती है ॥"

अयं हि विश्वोद्भवसंयमानामेकः स्वमायागुणबिम्बितोऽन्यः।
विरञ्चिविष्ण्वीश्वरनामभेदान् धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा ॥[2]

" अपनी माया और गुण से प्रकाशित होकर यही एक विश्व के उद्भव और संयम (रूप सृष्टि) को धारण करता है। वह स्वतन्त्र परिपूर्ण आत्मा ब्रह्मा, विष्णु और ईश्वर का रूप है।"

कालिदास का भी यही मत है। तारकासुर के उत्पीड़न से दुःखी होकर देवगण ब्रह्मलोक गये। ब्रह्मा प्रकट हुए और अर्थयुक्त वाक् से उन्होंने वागीश की स्तुति की —

नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥[3]

"त्रिमूर्त्ति ! आपको प्रणाम। सृष्टि के पूर्व आपका एक ही रूप रहता है। तीनों गुणों को अलग दिखलाने के लिये आपके भिन्न रूप होते हैं। प्रलय, स्थिति और सृष्टि का एक कारण आप ही हैं और आप तीन अवस्थाओं से अपने महत्त्व को प्रकट करते हैं।"

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचित् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥[4]

इस पर मल्लिनाथ की टीका इस प्रकार हैं—

एकैवेति। सैकेव मूर्त्तिस्त्रिधा ब्रह्मविष्णुशिवात्मकत्वेन बिभिदे। औपाधिकोऽयं भेदो न वास्तविक इत्यर्थः। अत एवैषां त्रयाणां प्रथमावरयोर्भावः प्रथमावरत्वं ज्येष्ठकनिष्ठभावः सामान्यं साधारणम्। इच्छया सर्वे ज्येष्ठा भवन्ति [illegible]र्थः। एतदेव विवृणोति—[illegible]चिद्धरो विष्णोराद्यः। कदाचिद्धरिस्तस्याद्यः। कदाचिद्धातरयोर्हरिहरयोराद्यः। कदाचित्तौ हरिहरावपि धातुः स्रष्टुराद्यौ। एतमेतेषां पौर्वापर्यमनियमितमिति दर्शितम् ॥

---

१. पुरुष का अर्थ है परमात्मा। इस शब्द का अनेक प्रकार से अर्थ किया जाता है। सबका भाव है—सर्वव्यापी। (क) 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः'— अमर कोष—(प्रथम काण्ड, कालवर्ग—२९)। (ख) पुर अग्रगमन—कुषन्—आगे बढ़ने-बढ़ाने वाला,, गतिशील। (ग) 'पूरी आप्यायने कुषन्' सबको आप्यायित करनेवाला। (घ) पुरि शरीरे शेते—शरीर के भीतर रहनेवाला।

२. अध्यात्मरामायण—बालकाण्ड, ५.५०।

३. कुमारसम्भव—२. ४. ६।

४. कुमारसम्भव—७. ४४।

"यह एक ही। वह एक ही मूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन रूपों में विभक्त हो गई। भाव है कि नाममात्र का यह भेद है, वास्तविक नहीं। इसलिये इन तीनों का पहिला और दूसरा होना अर्थात् ज्येष्ठ-कनिष्ठ का भाव समान अर्थात् साधारण है। अपनी रुचि से सभी ज्येष्ठ और कनिष्ठ हो जाते हैं। यही अर्थ है। इसी का विवरण देते हैं। कभी हर विष्णु के पहिले हैं, कभी हरि उनके पहिले हैं। कभी ब्रह्मा उन दोनों के पहिले हैं, कभी हरि और हर—दोनों धाता अर्थात्, स्रष्टा के पहिले हैं। इस प्रकार इनके पहिले और पीछे होने का कोई नियम नहीं है, यही दिखलाया गया है।"

'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में इसका विवरण और भी सरल एवं स्पष्ट शब्दों में दिया गया है—

बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः।
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः।
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः॥[1]

रजोगुण की बहुलता से विश्व की उत्पत्ति में भव को प्रणाम। तम की प्रबलता में उसके संहार में हर को प्रणाम। लोगों के सुख के लिये सत्त्व की अधिकता में मृड को प्रणाम। त्रिगुणातीत मायारहित रूप में शिव को प्रणाम।" इसीलिये त्रिमूर्त्ति की प्रतिमा या चित्र त्रिगुणात्मक ब्रह्म की भावना के आधार पर बनाये जाते हैं।

ब्रह्म, तीनों गुणों द्वारा एक साथ (अलग-अलग नहीं) विश्व में सृष्टि, स्थिति और लय की क्रिया चलाता रहता है। यह नहीं है कि रज के रहते सत्त्व और तम नहीं रहते, अथवा तम के रहते सत्त्व और रज लुप्त हो जाते हैं। इनकी क्रियाओं में केवल अधिकता और न्यूनता होती रहती है, और इनकी क्रियाएं एक साथ होती रहती हैं। रज, तम और सत्त्व को चालित रखता है, सत्त्व, तम और रज को स्थिति देता है और तम, रज और सत्त्व को समेटता है या उनमें परिवर्त्तन करता रहता है। इसी सिद्धान्त पर त्रिमूर्ति प्रतीक पर तीन मुख अङ्कित कर दिये जाते हैं। बीच या सम्मुख वाला मुख ओज से भरा हुआ बड़ा ही प्रभावशाली, और कभी खुला हुआ बनाया जाता है। यह रजोगुण है जो सत्त्व और तम को क्षुब्ध और चंचल बनाये रखता है। यह सभी क्रियाओं का प्रवर्तक है। रजोगुण के बाएं एक दूसरा मुख बना रहता है। यह बन्द रहता है और इसकी मुद्रा अत्यन्त शान्त और स्थिर रहती है। यह सत्त्वगुण है। रजोगुण के दाहिने तीसरा मुख बना रहता है। इनमें बड़ी-बड़ी मूंछें और दाढ़ियाँ रहती हैं और मुखमुद्रा भयप्रद रहता है। कभी-कभी [illegible] मुख विकराल मुद्रा में रहता है, मानों क्रुद्ध होकर घोर गर्जन कर रहा है। यह संहारक तमोगुण का प्रतीक है। इस रूप में त्रिमूर्ति की प्रतिमा या चित्र सगुण ब्रह्म का प्रतीक है।

अजन्ता की गुहा में त्रिमूर्त्ति का चित्र है। मूर्त्तियाँ दो रूपों में पाई जाती हैं—पुरुषमूर्त्ति के स्कन्ध पर तीन मुख के रूप में और लिङ्ग मूर्त्ति के सब ओर तीन या चार मुख के रूप

१. शिवमहिम्नः स्तोत्रम् (पुष्पदन्त)—श्लोक ३०।

में। जब चार मुख बनाये जाते हैं, तब सामने और पीछेवाले दोनों मुख रजोगुण के सिद्धान्त पर बनते हैं और सम्मुख तथा पश्चाद्भाग से देखने पर त्रिमूर्त्ति का तीनों गुण दानों ओर एक साथ दिखाई देता है जिसमें रजोगुण मध्यस्थ रहता है।

ब्रह्मरूप किसी भी देवता का प्रतीक त्रिमूर्ति के रूप में अङ्कित हो सकता है। त्रिमूर्ति के रूप में शाक्त और बौद्ध देवियों की प्रतिमाएँ तथा चित्र पाये जाते हैं। इस रूप में बुद्ध के चित्र और प्रतिमाएँ भी मिलती हैं।[1] ये सभी त्रिगुणात्म ब्रह्ममय और ब्रह्म के प्रतीक हैं। सबका अन्तर्गत सिद्धान्त एक है।

सारनाथ के अशोक स्तम्भ का सिंहशिखर भी त्रिमूर्ति का प्रतीक है। अशोकस्तम्भ, मूलस्तम्भ शिवलिङ्ग की तरह, सृष्टि या विश्व का प्रतीक है। शिव और दुर्गा प्रकरण में यह स्पष्ट किया गया है कि सिंह और वृष, ब्रह्म को विश्व अर्थात् साकार रूप में धारण करनेवाली, ब्रह्म की स्वशक्ति धर्म के प्रतीक हैं। ये दोनों प्रतीक वैदिक और बौद्धमत में एक ही भाव में प्रयुक्त होते हैं। बौद्धमत में हाथी और घोड़े को भी सिंह और वृषभ का स्थान प्राप्त है। हाथी के रूप में बुद्ध ने स्वप्न में मायादेवी की कुक्षि में प्रवेश किया था और कन्थक पर भगवान् ने महाभिनिष्क्रमण किया था। इसलिये हाथी और अश्व को भी वृषभ और सिंह-सा बुद्धब्रह्म का वाहक धर्म माना जाता है।[2] सम्भव है कि बल और तेज के प्रतीक वैदिक अश्व से यह भावना ली गई हो। सारनाथ वाले अशोकस्तम्भ के शिखर पर ये चारों ही अङ्कित हैं। उसपर अङ्कित धर्मचक्र में चौबीस अर हैं। विष्णु के अवतार २४, जैन तीर्थङ्कर २४ और सांख्यतत्त्व भी चौबीस हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

सबसे अधिक स्पष्ट प्रतीक के रूप में ऊपर के सिंह हैं। अशोक स्तम्भ पर धर्मराज बुद्ध को कभी एक गज, कभी एक वृषभ और कभी एक सिंह के रूप में बनाया जाता है। घोड़े का मुख चित्रों में त्रिमूर्त्ति बुद्ध के मस्तक पर दिखाया जाता है। इसकी प्रतिमा देखने में नहीं आई है। सारनाथ वाले शिखर पर चार सिंह हैं। सामनेवाले की मूछें चढ़ी हुई हैं और काली की तरह लोल जिह्वा बनी हुई है। यह रजोगुण है। सामने से बाईं ओर का मुख प्रशान्त और लगभग बन्द है। मालूम होता है कि सिंह धीरे-धीरे गुरगुरा रहा है। यह सत्त्वगुण है। दाहिनी ओरवाला मुख टूटा रहने पर भी खुला हुआ और विकराल मालूम होता है, मानों घोर गर्जन कर रहा है। यह तमोगुण है। यह त्रिमूर्त्ति ब्रह्म और त्रिमूर्ति शिव की तरह ही त्रिमूर्त्ति बुद्धमूर्ति है।[3] इस तरह त्रिमूर्त्ति, ब्रह्म और ब्रह्मविद्या की सुन्दर कल्पना है।

१. ये संगृहीत चित्रों में विवरण के साथ मिलेंगे।

२. चित्र देखिये।

३. चित्रों के विवरण से ये भाव और भी अधिक स्पष्ट होंगे

हरिहर

सिद्धान्ततः हरि और हर में कोई भेद नहीं है और न शास्त्रकार ही कोई भेद मानते हैं। अज्ञान के कारण दोनों में भेदबुद्धि उत्पन्न होती है। सुभाषितकार ने सच कहा है—

उभयोः प्रकृतिस्त्वेका प्रत्ययभेदाद्विभिन्नवद्भाति ।
कलयति कश्चिन्मूढो हरिहर भेदं विना शास्त्रम् ॥

"दोनों (हरि और हर) की प्रकृति (मूलभावना और शब्द का धातु हृ) एक ही है। प्रत्यय भेद से (देखने के भेद से और दो प्रत्ययों, इ और अ, के प्रयोग से) दोनों दो-जैसे मालूम होते हैं। जो मूढ शास्त्र (दर्शन और व्याकरण) नहीं जानते हैं, वे हरि और हर को दो मानते हैं।"

विष्णु पुराण में विष्णु शङ्कर से कहते हैं—

त्वया तदभयं दत्तं तद्दत्तमखिलं मया ।
मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुमर्हसि शङ्कर ॥
योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् ।
अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः ॥ [1]

"आपने जो अभय दिया, वह सब मैंने ही दिया। शङ्कर ! मुझे आप अपने से अभिन्न समझिये। देव, असुर, मनुष्य समेत, इस जगत् के रूप में, जो आप हैं, वही मैं हूँ। अविद्या के कारण जिनकी बुद्धि मोह में पड़ गई है, वे ही हम दोनों में भेद देखते हैं।"

योग शास्त्र का भी यही मत है—

क्षीरं यथा दधिविकारविशेषयोगात्
संजायते न तु ततः पृथगस्ति हेतुः ।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्—
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥ [2]

"दूध जिस तरह परिवर्तित होकर दही बन जाता है, परन्तु उसका कोई पृथक् कारण नहीं है, उसी प्रकार कार्यवशात् आदि पुरुष गोविन्द, शम्भुता धारण करते हैं। मैं उनकी वन्दना करता हूँ।"

सभी पुराण और उपासना मूलक ग्रन्थ इस भावना से ओत-प्रोत हैं।

रामो ज्ञानमयः शिवः ॥ [3]

हिन्दी के भी विद्वान् और सिद्ध कवियों का यही मत है। इस सम्बन्ध में मैथिल कवि विद्यापति का पद इस प्रकार है—

खन हरि खन हर भल तुअ कला ।
खन पित बसन खनहिं बघछला ॥
खन पञ्चानन खन भुज चारि ।
खन शङ्कर खन देव मुरारि ॥

१. विष्णु पुराण—अंश ५. ३३. ४७, ४८।
२. योगशास्त्र 'ब्रह्मसंहिता' (वसुमति प्रेस, कलकत्ता, बंगाब्द), पृ० ३१६, श्लोक ४६।
३. अध्यात्म रामायण (काशी)—६. ७. ६८।

खन गोकुल भय चरवथि गाय।
खन भिखि मांगिय डमरु बजाय॥
खन गोविन्द भय ली महादान।
खनहिं भसम धरु कान्ह बोकान॥
एक शरीरे लेल दुई बास।
खन बैकुण्ठ खनहिं कैलास॥
भनहिं विद्यापति विपरित बानी।
ओ नारायण ओ सुलपानी॥

सूर ने भी अपने इष्ट कृष्ण और शिव में कोई भेद नहीं माना। दोनों को एक दूसरे में देखा। इस भाव के उनके अनेक पद हैं—

बरनौ बाल बेष मुरारि।
थकित जित तित, अमर मुनि गन नन्दलाल निहारि।
केश शिर बिन पवन के चहुँ दिशा छिटके झारि।
सीस पर धारे जटा मनु रूप किय त्रिपुरारि।
तिलक ललित ललाट केसर बिन्दु सोभा कारि।
रेखा अरुण ज्यों तृतिय लोचन रह्यो जनु रिपु जारि।
कंठ कठुला नील मनि अम्भोज माल सँवारि।
गरल ग्रीव कपाल उर अहि भाय भे मदनारि।
कुटिल हरिनख दये हरि के हरष निरखति नारि।
ईस जनु रजनीस राख्यो भाल हू ते उतारि।
सदन रज तन स्याम सोभित सुभग इहि अनुहारि।
मनहु अंक विभूति रंजित संभु सो मधुहारि।
त्रिदसपतिपति असन कों अति जननि सों करै आरि।
सूरदास विरञ्चि जाको जपत निज मुख चारि॥[१]

तुलसीकृत रामायण में सर्वत्र शिव राम का ध्यान और स्तुति करते हैं और राम शिव की पूजा करते हैं। सती कथा के प्रसंग में राम ने शिव को पार्वती से विवाह करने को कहा और शिव ने उत्तर दिया—

कह शिव यदपि उचित अस नाहीं।
नाथ वचन पुनि मेटि न जाहीं॥
शिर धरि आयसु करिय तुम्हारा।
परम धर्म यह नाथ हमारा॥

१. सूरसागर (बम्बई, संवत् १९९१) पृ० १५२, पद ४८। इसके बादवाला ४९वां पद भी इसी प्रकार का है।

समुद्र पर सेतु बांध कर, शिवलिङ्ग की स्थापना कर भगवान् ने विधिवत् पूजा की और कहा—

शङ्करप्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक महँ वास ॥

हरिहर मूर्ति या चित्र में आधे अङ्ग में व्याघ्र चर्म, त्रिशूल, जटा मुकुटादि और आधे में पीताम्बर, शङ्ख, चक्र, किरीट मुकुटादि रहते हैं। हरिहर नाम पर मन्दिर भी हैं। पटने के निकट सोनपुर में हरिहरनाथ का मन्दिर प्रसिद्ध है।

मृत्युञ्जय

ब्रह्म के प्रतीक सभी देवताओं की, सौम्य और रौद्र इन दो रूपों में, उपासना होती है। ज्ञान-विज्ञान तथा परमार्थसिद्धि के लिए और सांसारिक मारण, मोहन, वशीकरणादि कर्मों के लिये शान्त तथा घोर रूपों की उपासना की जाती है।

शिव, स्वभावत: सौम्य और कल्याणमय है; क्योंकि सृष्टि और स्थिति इनकी स्वाभाविक इच्छा है। इनके अनेक शान्तरूपों में मृत्युञ्जय रूप प्रसिद्ध है। आधि-व्याधि की शान्ति के लिये परब्रह्म की इस रूप में उपासना की जाती है। इस रूप का ध्यान इस प्रकार है—

हस्ताम्भोजयुगस्थकुम्भयुगलादुद्धृत्य तोयं शिरः
सिञ्चन्तं करयोर्युगेन दधतं स्वाङ्के स्वकुम्भौ करौ ।
अक्षस्रङ्मृगहस्तमम्बुजगतं मूर्धस्थचन्द्रस्रवत्-
पीयूषोन्नतनुं भजे सगिरिजं मृत्युञ्जयं त्र्यम्बकम् ॥[1]

"दो करकमलों में उठे हुए दो कलश से मस्तक पर जल सिञ्चन कर रहे हैं। दो करों से दो कुम्भ अपनी गोद में रक्खे हुए हैं। हाथों में अक्षमाला और मृग हैं। माथे के ऊपर चन्द्रमण्डल से चूता हुआ और शरीर को प्लावित (उन्न-क्लिन्न, उद क्लेदने क) करता हुआ अमृत है। गिरिजा के साथ ऐसे त्र्यम्बक मृत्युञ्जय की वन्दना करता हूँ।"

कोमल और मनोहर भावनाओं का सन्निवेश कर, बालक के रूप में शङ्कर की उपासना की जाती है, और तब ये आत्मज गणेश, स्कन्द, वटुक क्षेत्रपाल आदि का रूप धारण करते हैं।

गणेश का विवरण दिया जा चुका है। इनके नृत्य और बाललीलाओं का वर्णन पुराणों और स्तोत्र ग्रन्थों में मिलता है। गणेश, शङ्कर के बालरूप और बुद्धि के प्रतीक हैं।

स्कन्द

स्कन्द या कार्त्तिकेय[2] शङ्कर के बालरूप और महाबल के प्रतीक हैं। ये देवताओं के सेनापति हैं। इनकी एक मुख, चतुर्मुख और षण्मुखवाली मूर्त्ति होती है और उसी के अनुसार

१. मंत्रमहोदधि (बम्बई, संवत् १९८९) तरंग १६, श्लोक १९।

२. श्री टी. गोपीनाथ राव ने इस पर बड़े विस्तार से विचार किया है। देखिये—Elements of Hindu Iconography, Madras. 1916. Vol. II pt. II page 415-451.

इनकी भुजाओं की संख्या भी होती है। षण्मुख वाले रूप में छः ऋतु इनके छः मुख और बारह हाथ बारह महीने हैं। सूर्य इनकी शक्ति (बर्छी) हैं। इस प्रकार ये कालस्वरूप है। इन्होंने विवाह नहीं किया, इसलिये इनका नाम 'कुमार' है। इनकी शक्ति देवसेना है। कुमार की मूर्त्ति में देव सेना के साथ देववल्ली नामक दूसरी देवी भी अङ्कित की जाती है इन्हें पार्श्वदेवता कहते हैं। यह त्रिमूर्ति के रज, सत्त्व और तम का रूपान्तर है। छिन्नमस्ता की और बहुत-सी बौद्धमूर्त्तियों की कल्पना इसी सिद्धान्त पर होती है। नाना रंगों वाले मयूर, कुक्कुट आदि इनके वाहन हैं। यह बल के साथ लगा हुआ तड़क-भड़क का लक्षण मालूम होता है। मयूर तो कालसर्प का भी भक्षण करने वाला महावलवान् वाहन है।

मयूर को गरुड़ का रूपान्तर कहा गया है—

> रहस्यं शृणु वक्ष्यामि मयूरस्य यथोचितम्।
> नानाचित्र विचित्राङ्ग गरुडाज्जननं तव ॥
> अनन्तशक्ति संयुक्त कालाहेर्भक्षणं ततः।
> गरुडस्त्वं महाभाग सदा त्वां प्रणमाम्यहम् ॥[1]

"मयूर के उचित रहस्य को बताता हूँ, सुनो। नाना प्रकार के चित्र-विचित्र अङ्गों वाले आप हैं और गरुड़ से आपका जन्म हुआ है। आप अनन्तशक्तिवाले हैं, इसलिये काल सर्प का भक्षण करते रहते हैं। महाभाग! आप गरुड़ हैं। आपको मैं सदा प्रणाम करता हूँ।" यहाँ मयूर को गरुड़ कह कर मयूर, सिंह, गरुड़, वृषभादि वाहनों को एक ही सिद्धान्त का रूप कहा गया है। अर्थात् महाकाल स्कन्द का सर्वभक्षक वाहन काल से भी प्रबल, धर्म है। दक्षिणापथ में स्कन्दरूप की उपासना का बहुत प्रचार है।

क्षेत्रपाल

शङ्कर का एक अन्य बालरूप है—क्षेत्रपाल। "लिङ्गपुराण" की कथा है कि एक बार दारुकासुर को मारने के लिये शिव ने काली का निर्माण किया। उसके वध के पश्चात् भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। वे क्रोध से जलती रहीं। शिव बालक रूप धारण कर रोने लगे। उन्होंने उन्हें दूध पिलाया। दूध के साथ ही वे उनका क्रोध भी पी गये। उनका नाम क्षेत्रपाल पड़ा। क्षेत्रपाल का प्रचलित ध्यान इस प्रकार है—

> चञ्चत्कपाल कृपाणशूलदण्ड —
> मुण्डडमड्डमरुम् विद्धत पाणि वृण्डम्।
> नीलाञ्जनप्रचयपुञ्जमिव प्रसन्नं
> श्रीक्षेत्रनायकम् सततं भजामि ॥

"इनके हाथों में हिलता-डुलता कपाल, कृपाण, शूल, दण्ड और डमरू है। ये नील अञ्जन के पुञ्ज-जैसे हैं और प्रसन्न रहते हैं। ऐसे क्षेत्रपाल की मैं सर्वदा वन्दना करता हूँ।"

---

१. कालीविलास तन्त्रम् (लण्डन, ई० १९१७)—पटल १८, श्लोक ८, ९।

बटुक

शङ्कर का और बालरूप एक बटुक भी है। उपासना में निमित्त भेद से इनके ध्यान में भी भेद हो जाता है। सात्त्विक कर्मों के लिये सात्त्विक ध्यान, राजसिक के लिये राजसिक ध्यान और तामसिक कर्मों के लिये तामसिक ध्यान विहित है। ज्ञान-विज्ञान, परमार्थसिद्धि और सब प्रकार के कल्याण के लिये सात्त्विक ध्यान इस प्रकार है—

वन्देबालं स्फटिक सदृशं कुन्तलोद्भासि वक्त्रं
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः किंकिणीनूपुराद्यैः।
दीप्ताकारं विशदवदनं सुप्रसन्नं महेशं
हस्ताब्जाभ्यां बटुकमनिशं शूलदण्डौ दधानम्॥

"स्फटिक की तरह श्वेतवर्ण बालक का रूप है। बालों से मुख की शोभा दमक रही है। नाना प्रकार की विद्याएँ, मणि के बने हुए किंकिणी नूपुर आदि हैं। बटुक रूप महेश, प्रसन्न, दीप्ताकार और दमकते हुए मुखवाले हैं। अपने करकमलों में सदा शूल और दण्ड धारण किये रहते हैं।

राजसिक कर्मों के लिये राजसिक ध्यान इस प्रकार है—

उद्यन्मण्डलसन्निभं त्रिनयनं रक्ताङ्गरागस्रजं
स्मेरास्यं वरदं कपालमभयं शूलं दधानं करैः।
नीलग्रीवमुदारभूषणयुतं शीतांशुखण्डोज्ज्वलं
बन्धूकारुणवाससं भयहरं देवं सदा भावयेत्॥

"उगते हुए (सूर्य-चन्द्र) मण्डल की तरह (रक्तवर्ण) तीन नेत्र, (शरीर में) लाल विलेपन और (गले में) माला, मुस्कुराता हुआ मु ह, हाथों में त्रिशूल, कपाल, वरद, अभय (मुद्रा) नीलकण्ठ, सुन्दर आभूषण धारण किये हुए, चन्द्रमा के खण्ड की तरह उज्ज्वल, बन्धूक पुष्प की तरह रक्तवस्त्रवाले और भय को दूरकरनेवाले (बटुक) देव की सदा भावना करे।"

घोर कर्म में सिद्धि के लिये तामसिक ध्यान इस प्रकार है—

करकलित कपालः कुण्डली दण्डपाणि—
स्तरुणतिमिरनीलो व्यालयज्ञोपवीती।
क्रतुसमयसपर्याविघ्नविच्छेदहे —
जयति बटुकनाथः सिद्धिदः साधकानाम्॥

"हाथ में कपाल, कानों में कुण्डल, हाथ में दण्ड, घने अन्धकार की तरह नील वर्ण, सर्प का उपवीत, साधनाओं के विघ्नों का नाश करनेवाले और साधकों को सिद्धि देनेवाले बटुकनाथ की जय हो।"

शरभ

ब्रह्म के घोर-से-घोर रूप की भी कल्पना की जाती है जिसका एक विवरण गीता के एकादश अध्याय में पाया जाता है। शिव के एक अत्यन्त घोर रूप की कल्पना शरभ के रूप

में की जाती है। शरभ एक प्रकार का पशु है जिसके आठ पैर होते हैं और वह सिंह से भी बलवान होता है। कहा जाता है कि हिरण्यकशिपु के बध के उपरान्त भी नृसिंह का क्रोध शान्त नहीं हुआ। उनके भयङ्कर क्रोध में संसार जलने लगा। उससे संसार को बचाने के लिए शिव ने शरभ रूप धारण कर उन पर आक्रमण किया। उनके भय से त्रस्त हो जाने के कारण नृसिंह का क्रोध शान्त हो गया। शरभ मूर्ति के साथ पक्षी के रूप का भी समावेश कर दिया जाता है और इस रूप का पूरा नाम है—"शरभ शाल्वपक्षिराज'। इस रूप का ध्यान इस प्रकार किया जाता है

चन्द्रार्काग्निस्त्रिदृष्टिः कुलिशवरनखश्चंचलात्युग्रजिह्वा।
काली दुर्गा च पक्षौ हृदयजठरगो भैरवो वाडवाग्निः।
ऊरुस्थौ व्याधिमृत्यू शरभवरखगश्चण्डवातातिवेगः।
संहर्त्ता सर्वशत्रून् स जयति हि शरभः सालुवः पक्षिराजः॥

"चन्द्र, सूर्य और अग्नि इनकी तीन आँखें हैं, वज्रनख हैं, अत्यन्त उग्रजिह्वा लपलपा रही है, काली और दुर्गा डैने हैं, हृदय भैरव और उदर वड़वाग्नि है, व्याधि और मृत्यु जंघाएँ हैं। पक्षिरूप शरभ भयंकर आँधी की तरह वेगवान हैं और सभी शत्रुओं के संहार करनेवाले हैं।"

अनन्त विश्व की तरह शिव के रूप भी अनन्त हैं। यहाँ यह अप्रासंगिक न होगा कि सनातनमत और बौद्धमत में ऐसी मूर्तियाँ एक ही सिद्धान्त पर बनती हैं। इसके अनुसार एक देवता की मूर्ति दूसरे पर बनाई जाती है जिसमें ऊपर वाले देव की श्रेष्ठता दिखलाई जाती है। बौद्ध ग्रन्थ 'साधनमाला,' में दिये हुए ध्यान के अनुसार जम्भल की मूर्ति शिव पार्वती पर बनाई जाती है और अपराजिता की गणेश पर। ऐसी कल्पनाओं से साम्प्रदायिक दम्भ की तुष्टि हो सकती है, पर इससे सिद्धान्त में कोई भेद नहीं पड़ता। मूल सिद्धान्त सब के एक हैं और ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं।

लिङ्ग

संस्कृतसाहित्य में, और विशेष कर उपासना तथा साधना साहित्य में, लिङ्ग और योनि[1] शब्द का प्रयोग, साधारणतः, किसी वस्तु के बोधक चिह्न और उत्पत्ति-स्थान के अर्थ में हुआ है। जन्तुओं की प्रजननेंद्रिय के अर्थ में इसका बहुत-ही संकुचित और सीमित

---

१. (क) चौरासी लाख योनि में भटकना, पश्चात् योनि में उत्पन्न होना।

(ख) यथा निरीन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥
स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः। मैत्र्याण्युपनिषत्। प्रपाठक ४। संग्रहश्लोक १, २।

इन्धन नहीं रहने से जिस प्रकार आग अपने उत्पत्तिस्थान (योनि) में शान्त हो जाती है, उसी प्रकार लालसाओं के क्षय से चित्त अपने उत्पत्तिस्थान पर शान्त हो जाता है। अपनी योनि में शान्त और सत्यगामी मनवाले की इन्द्रियों के विषय निष्क्रिय हो जाते हैं और उसकी निष्प्रयोजन वृत्तियाँ कर्मवश कर्म का अनुसरण करती हैं।

(ग) योनिश्च हि गीयते। और (घ) वेदों में ब्रह्म को ही विश्व का उत्पत्तिस्थान (योनि) कहा गया है। वे. सूत्र, १.४. २७।

प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वच्छन्दता और नि:संकोच रूप से किया गया है।

कोषग्रन्थ शब्दों के अर्थ और प्रयोग का निर्धारण करते हैं। लिङ्ग शब्द का अर्थ 'मेदिनी-कोषकार' इस प्रकार करते हैं—

लिङ्गं चिह्नेऽनुमानेच सांख्योक्तप्रकृतावपि।
शिवमूर्त्तिविशेषेच मेहनेऽपि नपुंसकम् ॥

लिङ्ग शब्द का प्रयोग इन अर्थों में होता है— चिह्न, अनुमान सांख्य की प्रकृति, शिव की एक प्रकार की मूर्त्ति और शिश्न के अर्थ में भी। यह नपुंसकलिङ्ग का शब्द है। 'अपि' से लेखक का मन्तव्य है कि शिश्न के अर्थ में भी कभी-कभी इसका प्रयोग होता है। किसी कारण से उत्तर भारत में आज इस 'कभी-कभी' या 'भी' ने साधारण प्रयोग का रूप ग्रहण कर लिया है और इसके चिह्नादि व्यापक अर्थ बोलचाल की भाषाओं में गौण और प्राय: अप्रयुक्त से हो गये हैं।

नटराज सहस्र नाम का ५३१वाँ नाम है—ज्ञान लिङ्ग। टीकाकार कहता है—

ज्ञानमेव संविदेव लिङ्गं गमकं यस्य सः। ज्ञान अर्थात् चेतना ही जिसका लिङ्ग, गमक या बोधक है। वहीं ४१८वाँ नाम है—अलिङ्ग। टीकाकार लिखता है—

न विद्यते लिङ्गं लिङ्गशरीरं सूक्ष्म शरीरं यस्य सः। सूक्ष्मशरीरशून्य इत्यर्थः। अकायमव्रणमित्यादि श्रुतेः। अकायमित्यनेन सूक्ष्मशरीरशून्यत्वं बोध्यते। यद्वा लिङ्गं हेतुः तच्छून्य इत्यर्थः। अनुमानाच्छून्यः स्वप्रकाशस्वरूप इति यावत्।

"जिसको लिङ्ग, लिङ्गशरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर नहीं है। अर्थात् सूक्ष्मशरीशून्य। अकाय, अव्रण इत्यादि वेदवाक्य हैं। अकाय से सूक्ष्मशरीररहित होने का बोध होता है। अथवा लिङ्ग का अर्थ है—हेतु। उससे रहित। अर्थात् अनुमान द्वारा नहीं जानने योग्य स्वप्रकाश रूप।" वेदान्तसूत्र में ब्रह्म के रूप की कल्पना के सम्बन्ध में कहा गया है—

आकाशस्तल्लिङ्गात्[1]। इस पर शाङ्करभाष्य है—आकाश शब्देन ब्रह्मणोग्रहणंयुक्तम्।

अर्थात् आकाश शब्द से ब्रह्म को समझना चाहिये। वेदान्तसूत्र में बोधक संकेत के अर्थ में लिङ्ग शब्द का बारह बार प्रयोग हुआ है।[2] वैशेषिक के ३७३ सूत्रों में इसका २९ बार प्रयोग हुआ है और इसका अर्थ निर्गुण ब्रह्म तथा चिह्न है। एक बार भी शिश्न के अर्थ में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। उपनिषदों में भी लिङ्ग शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार किया गया हैं।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको लिंग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥[3]

---

१. ब्रह्मसूत्र—१. १. २२।

२. ब्रह्मसूत्र—१. १. ३१. १.३. ३५, १.४. १७, २.३. १३, ३.२, ११, ३.२. २६, ३.३. ४४, ४. ३४, ३.४. ३९, ४.१.२,४.३.४।

३. कठोपनिषद्—२.५,८।

"अव्यक्त से आगे पुरुष है जो व्यापक और लिङ्ग (स्थिति का संकेतमात्र) है, जिसको जान कर जीव मोक्ष और अमृतत्व को प्राप्त करता है।"

न तस्य कश्चित्पतिरस्तिलोके न चेशितानैव च तस्य लिङ्गम्।
न कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।[1]

"न इसका कोई पति, न शासक, न लिङ्ग, न कारण, न करण के स्वामी का स्वामी, न अधिप और न उत्पन्न करनेवाला है।"

अथैनं सदानन्दः संवर्तो जैगीषव्यश्च नीललोहितं रुद्रमुवाच। भगवन् किमपवर्गं [illegible]। स एतेभ्यो भगवान् नीललोहितः प्रोवाच। अन्तर्बहिर्धारितं परमब्रह्माभिधेयं शाम्भवं लिङ्गम्।

अन्तर्धारणाशक्तेनह्यशक्ते न द्विजोत्तमाः।
संस्कृत्य गुरुणादत्तं शैवं लिङ्ग[illegible]रस्थले॥
धार्यं विप्रेण मुक्त्यर्थं शिवतत्त्वविदो विदुः।
येनाचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य परात्परंपुरुषमुपैतिविद्वान्।

अस्य मात्रा अकारो ब्रह्मरूप उकारो विष्णुरूपो मकारः कालकालः अर्धमात्रा परमशिवः ओंकारो लिङ्गम्।

योऽसौ सर्वंषुवेदेषु पठ्यते ह्यज ईश्वरः।
तस्मात्तद्धारणादेतल्लिङ्गदेहमलौकिकम्॥
यो वा स्वं हस्तार्पितलिङ्गमेकं
परात्परं धारयते नरो वा।
तस्यैव लभ्यः परमेश्वरोऽसौ
निरञ्जनं साम्यमुपैतिदिव्यम्॥

यदिदं लिङ्गं सकलं सकलनिष्कलं निष्कलंच, स्थूलं सूक्ष्मं च तत्परं, स्थूले स्थूलं सूक्ष्मे सूक्ष्मं कारणे तत्परंच।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मंथनादेव पाशं दहति मानवः।
अन्तर्बहिश्चतल्लिङ्गं विधरो यस्तु शाश्वतम्॥

अविद्यावरणं भित्वा ब्रह्मणः सायुज्यतां सालोकतामाप्नोति। तदिदं लिङ्गं ब्रह्म। तदिदं ॐसत्यम्॥[2]

"तब सदानन्द संवर्त जैगिषव्य ने इस नीललोहित रुद्र से कहा—भगवन् कौन जीवन को सफल बनाता है। भगवान् नीललोहित ने उनसे कहा—भीतर और बाहर अवस्थित परब्रह्म का नाम शम्भुलिङ्ग है।

ब्राह्मणो! अपने भीतर धारण करने में समर्थ गुरु संस्कार कर शिवलिङ्ग को मुक्ति के लिए हृदय पर धारण करने को अशक्त ब्राह्मण को दे। शिवतत्त्व के ज्ञाता ऐसा कहते हैं। जिससे शीघ्र ही सब पापों से छूट कर विद्वान परात्पर पुरुष को प्राप्त करता है।

१. श्वेताश्वतरोपनिषत्—६.९।
२. सदानन्दोपनिषत् (अप्रकाशिता उपनिषदः मद्रास; १९३३)—पृ० ३७८, ३७९।

इसकी अकारमात्रा ब्रह्मरूप, उकार विष्णुरूप, मकार महाकाल, अर्द्धमात्रा परम, शिव और (सब की समष्टि) ॐकार लिङ्ग (ग्राहक संकेतमात्र) है। इसे सभी वेदों में अज और ईश्वर कहा गया है। इसलिये इस अलौकिक लिङ्ग शरीर को धारण करने से (अपवर्ग मिलता है)। जो परात्पर एक भी लिङ्ग की अर्चना करके उसे धारण करता है, उसे ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है। वह अभिन्न और दिव्य साम्यावस्था प्राप्त करता है।

यह जो लिङ्ग है वह साकार, साकार-निराकार और निराकार है। स्थूल, सूक्ष्म और इनसे पर है। स्थूल में स्थूल, सूक्ष्म में सूक्ष्म और इनसे पर अर्थात् इनका कारण है।

आत्मा को नीचे की अरणि (अग्निमन्थन का काष्ठ) और ॐकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान से मथने पर मनुष्य बन्धन को जला देता हैं। भीतर और बाहर इस भाव के स्थिर हो जाने पर इसे लिङ्ग कहा जाता है।

अविद्या के परदे को फाड़कर ब्रह्मलोक और ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करता है। यही लिङ्ग ब्रह्म है। यह ॐकार और सत्य है।"

हृद्यन्तःकरणं ज्ञेयं शिवस्यायतनं परम्।
हृत्पद्मं वेदिका तत्र लिङ्गमोंकारमिष्यते ॥[1]

"हृदय में अन्तः करण (मन) ही शिव का सर्वश्रेष्ठ निवास-स्थान है। वहाँ हृदय कमल वेदिका है और ॐकार लिङ्ग है।"

बुद्धिर्मनश्च लिङ्गश्च महानक्षर एव च।
पर्यायवाचकैः शब्दैस्तमाहुस्तत्त्वचिन्तकाः ॥[2]

"बुद्धि, मन, लिङ्ग, महान्, अक्षर—इन सभी पर्यायवाची शब्दों से तत्त्वज्ञानी उन्हें प्रकट करते हैं।" 'अध्यात्मरामायण' में अगस्त्य राम से कहते हैं—

सृष्टेः प्रागेक एवासीर्निर्विकल्पोऽनुपाधिकः।
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते ॥
त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा।
अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः ॥
मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन।
अविद्या संसृतिर्बन्ध इत्यादि बहुधोच्यते।
त्वया संक्षोभ्यमाणा सा महत्तत्त्वं प्रसूयते।
महत्तत्त्वादहंकारस्त्वया संचोदितादभूत् ॥
अहंकारो महत्तत्त्वसंवृतस्त्रिविधोऽभवत्।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्चेति भण्यते ॥

---

१. शिवोपनिषत् १२४। (अप्रकाशिता उपनिषदः; मद्रास १९३३, पृष्ठ ३२६।
२. वायु पुराण अ० १०२. २१(आनन्दाश्रम सं. ग्रन्थावलिः; पूना, शाके १८२७) ई० १९०५।

तामसात् सूक्ष्म तन्मात्राण्यासन् भूतान्यतः परम् ।
स्थूलानि क्रमशो राम क्रमोत्तरगुणानिह ॥
राजसानीन्द्रियाण्येव सात्त्विका देवता मनः ।
तेऽभ्योऽभवत् सूत्ररूपं लिङ्गं सर्वगतं महत् ॥[१]

सृष्टि के पूर्व, निर्विकल्प और निरुपाधि केवल आप थे। आप पर आश्रित, और आपका ही विषय माया, आपकी शक्ति कही जाती है। आपको निर्गुण रूप में शक्ति जब आवृत करलेती है, तब वेदान्तनिष्ठ लोग उसे अव्याकृत कहते हैं। कोई इसे मूल प्रकृति और कोई इसे माया कहते हैं, इसे अविद्या, संसार, बन्ध इत्यादि नाना प्रकार से कहा जाता है। आप से क्षोभित (अनुप्राणित) होने पर यह महत्तत्त्व उत्पन्न करती है। आपसे प्रेरित महत्तत्त्व से अहंकार हुआ। महत्तत्त्व से ढँका हुआ (संवृत) अहंकार तीन प्रकार का हुआ। यह सात्त्विक, राजस और तामस कहा जाता है। तामस से सूक्ष्म तन्मात्राएँ हुईं, जिनसे, गुणों के उत्तरोत्तरक्रम से, स्थूल तत्त्व, राजस इन्द्रियाँ, सात्त्विक देवगण और मन हुए। उनसे सूत्ररूप, सर्वगत, महत् लिङ्ग हुआ।

अध्यात्मरामायण में ही अन्यत्र ऐसे ही विवरण पाये जाते हैं। नारद राम से कहते हैं—

त्वदाभासोदिताज्ञानमव्याकृतमितीर्यते ।
तस्मान्महाँस्ततः सूत्रं लिङ्गं सर्वात्मकं ततः ॥
अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पञ्चप्राणेन्द्रियाणि च ।
लिङ्गमित्युच्यते प्राज्ञैर्जन्ममृत्यु सुखादिमत् ॥[२]

"तुम्हारे प्रकाश से प्रकाशित अज्ञान, अव्याकृतकहलाता है। उससे सूत्ररूप सर्वात्मक लिङ्ग, उससे अहंकार, बुद्धि, पञ्चप्राण और पाँच इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। बुद्धिमान लोग इन्हें लिङ्ग कहते हैं। जन्म, मृत्यु, सुख इत्यादि इनके साथ लगे हुए हैं।"

बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात् ।
आत्मास्वलिङ्गं तु मनः परिगृह्य तदुद्भवान् ।
कामान् जुषन् गुणैर्बद्धः संसारे वर्ततेऽवशः ॥[३]

"अपनी सृष्टि बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि की समीपता के कारण आत्मा अपने लिङ्ग मन का ग्रहण करके कामोपभोग करता हुआ गुणों के वश में पड़ जाता है।" अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में लिङ्ग शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।
लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम् ॥
एकस्य स्पन्दनस्यैषा त्रैधं भेदव्यवस्थितिः ।
अत्र लिंगे परा तिष्ठेत् पूजाविश्रान्ति तत्परः ॥[४]

१. अरण्य काण्ड—सर्ग ३,। श्लोक २०-२६ ।
२. अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड। सर्ग १। श्लोक २०,२१
३. तत्रैव (किष्किन्धाकाण्ड) सर्ग ३। श्लोक २३,२४
४. तन्त्रालोक (काश्मीर, १९२२)—आह्निक ४, कारिका १२१ ।

यदुक्तम् — मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ।
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ।
बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः ॥[1]

"विद्वान् कहते हैं कि लिङ्ग शब्द से सृष्टि और संहार के कारण का ज्ञान होता है। 'ल' से लय और 'ग' से आगमन अर्थात् विकास का बोध होने के कारण यह सृष्टि के अव्यय पद का बोधक है। पूजा में स्थिर होकर जब लिङ्ग पर मन स्थिर होता है, तब (बोध होता है) कि एक ही स्पन्दन के तीनों भेद इसमें स्थिर हैं। मिट्टी, पत्थर, धातु, रत्न आदि के बने हुए लिङ्ग को न पूजे, आत्मिक लिङ्ग को पूजे जिसके अन्तर्गत चराचर हैं। इसी लिङ्ग के आधार पर बाहर के लिङ्ग बने हुए हैं।"

अतः मनीषिगण कहते हैं :—

लयं गच्छन्ति भूतानि संहारे निखिलं यतः ।
सृष्टिकाले पुनः सृष्टिस्तस्माल्लिङ्गमुदाहृतम् ॥[2]

"प्रलयकाल में सारी सृष्टि जिसमें लीन हो जाती है और पुनः सृष्टिकाल में जिससे सृष्टि होती है, उसे लिङ्ग कहते हैं।"

इससे सिद्ध होता है कि लिङ्ग शब्द का व्यवहार, बोधक चिह्न के अर्थ में होता है और जब यह ब्रह्मबोधक चिह्न माना जाता है तब शिवलिङ्ग, ब्रह्मलिङ्ग, विष्णुलिङ्ग, ज्योतिलिङ्ग, बोधलिङ्ग, गगनलिङ्ग आदि नामों का प्रयोग किया जाता है।

पुराणों में शिवलिङ्ग के सम्बन्ध में एक कथा पाई जाती है। अपने महत्त्व को लेकर ब्रह्म और विष्णु में विवाद होने लगा। उन दोनों के बीच भयङ्कर ज्वालाओं वाला अग्निस्तम्भ प्रकट हुआ। उसमें प्रकट होकर शिव ने कहा कि जो मेरे आदि अथवा अन्त का पता लगा लेगा, वही बड़ा समझा जायगा। पता लगाने के लिए विष्णु नीचे चले और ब्रह्मा ऊपर। किन्तु दो में से किसी को पता नहीं लगा यह कथा कूर्म, शिव, वायु (अ० ५५), लिङ्ग (अ०१७), मत्य (६०.४), नीलमत (अ० १३५) और सौर पुराण (अ० ६६) में पाई जाती है। इससे मालूम होता है कि लोग ब्रह्म (शिव) के संकेत चिह्न (लिङ्ग) को किस रूप में देखते थे।

दूसरी कथा है कि एक बार तपोवन में शिव के नग्न रूप को देख कर मुनिपत्नियाँ काम पीड़ित हुईं। ऋषियों ने क्रुद्ध होकर शाप दिया जिससे शिव का शिश्न गिर गया। यह काम की प्रबलता और मदनदहन की कथा का रूपान्तर है। इससे यह भी उद्दिष्ट है कि कामुक का पतन अवश्य होता है चाहे वह शिव-जैसा ही क्यों न हो। जो शिव सत्तामात्र निराकार ब्रह्म है, उसका शिश्न और शिश्न का गिरना कैसा ![3]

---

१. तत्रैव—आह्निक ५, कारिका १२०।

२. लिंगपुराण—६६.८।

३. काम की सार्वभौम सत्ता और अजेय शक्ति के विषय में पुराणों में मोहिनी और शिव की कथा पाई जाती है। समुद्रमन्थन के बाद शिव ने विष्णु के मोहिनीरूप को देखा। उन्होंने काम को जलाया था किन्तु स्वयं विह्वल होकर मोहिनी के पीछे दौड़ पड़े।

लिङ्ग और वेदी के विषय में निम्नलिखित विवरण मिलता है—

ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूल प्रकृतिरित्युच्यते । ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्ग-मेवेत्युच्यते ॥[1]

"ज्ञान प्राप्त करने के साधन ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राणादि पञ्चवायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार उसकी स्थूल कल्पना करने पर वह (ब्रह्म) भी स्थूलप्रकृति कहलाता है। ज्ञानप्राप्ति के साधन ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राणादि पञ्चवायु, मन, बुद्धि द्वारा (ज्ञात) सूक्ष्मस्थ को लिङ्ग कहते हैं।" यहाँ स्थूलप्रकृति को वेदी और सूक्ष्मस्थ को लिङ्ग कहा गया है।

विष्णु के रूप में ब्रह्म के प्रतीक लिङ्ग की उपासना होती है और इसे विष्णुलिङ्ग कहते हैं।

विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च ।
तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥
त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् ।
निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥[2]

"विष्णुलिङ्ग दो प्रकार के होते हैं—व्यक्त (माया) और अव्यक्त (ब्रह्म)। उनमें से एक का भी त्याग करने से निश्चय पतन होता है। त्रिदण्ड वैष्णव लिङ्ग है। इससे ब्राह्मणों को मुक्ति मिलती है। इसमें सभी धर्म समा जाते हैं। यही वेद की आज्ञा है।"

विष्णुलिङ्गा यथा तावदग्नौ च बहुधा स्मृताः ।
जीवाःसर्वे तथा शर्वाः परमात्मा च सः स्मृतः ॥[3]

"अग्नि (की ज्वालाओं) में नाना प्रकार के विष्णुलिङ्ग माने जाते हैं। उसे ही सभी प्राणी अप्राणी (शर्व) तथा परमात्मा भी कहते हैं।"

तन्त्रशास्त्र में भी वैष्णवलिङ्ग का विवरण मिलता है—

चतुर्वर्णमयं वापि वैष्णवं ज्ञायतेऽग्रतः ।
वैष्णवं शङ्खचक्राङ्कगदाब्जादिविभूषितम् ॥
श्रीवत्सं कौस्तुभाङ्कं च सर्वसिंहासनाङ्कितम् ।
वैनतेयसमाङ्कं वा तथा विष्णुपदाङ्कितम् ॥
वैष्णवं नाम तत्प्रोक्तं सर्वैश्वर्यफलप्रदम् ।
इति वैष्णवलिंगलक्षणम् ।
[illegible]ग्रामादिसंस्थन्तु शराङ्कं श्रीविवर्धनम् ।
पद्माङ्कं स्वस्तिकाङ्कं वा श्रीवत्साङ्कं विभूतये ॥
इत्यपि [illegible]लक्षणम् ॥[4]

---

1. योगचूडामण्युपनिषत्—७२।
2. शाट्यायनीयोपनिषत्—श्लोक ७,८।
3. ललितासहस्रनाम (सौभाग्यभास्करभाष्य, बम्बई, १९३५) पृ० १३१ में उद्धृत।
4. प्राणतोषणी (बंगाक्षर, कलकत्ता, १३३५ साल)—पृ० ३२१।

"चारों वर्णवाला वैष्णव लिङ्ग देखते ही पहचान में आ जाता है। वैष्णवलिङ्ग में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, श्रीवत्स, कौस्तुभ, विष्णुपद, गरुड तथा सभी सिंहासनों के चिह्न रह सकते हैं। इसका नाम वैष्णव है। यह सभी ऐश्वर्यों का फल देनेवाला है।" यह वैष्णव-लिङ्ग का लक्षण है।

"शालग्रामादि में चन्द्रमा का आकार धनसम्पत्ति का बढ़ानेवाला होता है। पद्म, स्वस्तिक और श्रीवत्स के चिह्न वाले से विभूति होती है। यह भी वैष्णव लिङ्ग का लक्षण है।"

लिङ्गवेदी, ब्रह्ममाया, हरगौरी आदि एक ही तत्त्व के रूपान्तर मात्र हैं।

स्वर्गपाताललोकान्तब्रह्माण्डावरणाष्टके।
मेयं सर्वमुमारूपं माता देवो महेश्वरः॥[1]

"स्वर्ग से पाताल लोक तक ब्रह्माण्ड के आठों आवरणों के भीतर सभी चालित वस्तुएं (मेय) उमा के रूप हैं और देव महेश्वर चालक (माता) हैं।"

लिंगवेदी समायोगादर्धनारीश्वरो भवेत्।[2]

"लिङ्ग और वेदी के एकस्थ होने से अर्द्धनारीश्वर बनते हैं।"

जो नटेशमूर्ति में मायाचक्र है, हरपार्वती विग्रह में पार्वती है, अर्द्धनारीश्वर में अर्द्धनारी है, सीताराम में सीता है, राधाकृष्ण में राधा है, वही लिङ्गवेदी में वेदी है। साकार जगत् को प्रवर्तित और संचालित करनेवाले कूटस्थ निराकार ब्रह्म की तरह, भीतर से मायाचक्र का संचालन करनेवाला नटेश ही वेदी के भीतर का शिवलिङ्ग है। विभु का यह प्रतीक शरीर के भीतर स्वयंभूलिङ्ग, बाणलिङ्ग और इतरलिङ्ग की आकृति के आधार पर ब्रह्मलिङ्गों का निर्माण होता है। ब्रह्म का यह आन्तरिक और बाह्य प्रतीक एक-सा होने के कारण बाह्य प्रतीक का अवलम्बन कर आन्तरिक तेजोमय प्रतीकों में मनालय करने में साधकों को कठिनता नहीं प्रतीत होती। ब्रह्म का यह प्रतीक अत्यन्त सरल होने के कारण ध्यान के लिये अत्यन्त सुगम और योगीजनों का प्रिय है।

ब्रह्मोपासना का प्रधान साधन होने के कारण पुराणादिकों में लिङ्ग की नाना प्रकार से प्रशंसा की गई है और इसके द्वारा उपासना का विधान किया गया है।

आदिमध्यान्तरहितं भेषजं भवरोगिणाम्।[3]

"लिङ्ग का आदि मध्य और अन्त नहीं है। यह संसार—रोग के रोगियों के लिये भेषज है।"

प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयेल्लिङ्गमूर्धनि।[4]

"लिङ्ग के मस्तक पर ॐ कार से पूजा करे"

स्तुतियों में भी लिङ्ग को निराकार ब्रह्म का साकार रूप और परमात्मा का बोधक प्रतीक कहा गया है—

१. ललिता सहस्रनाम (सौभाग्यभास्करभाष्य, बम्बई, शाके १८५७)—पृ० १३१ में उद्धृत।
२. लिंगपुराण—६६.८।
३. सौरपुराण—४२.४१ (आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलि पूना, शाके १८११)।
४. तत्रैव—४२.४२।

लिङ्गात्मकं हर चराचर विश्वरूपिन् ।[1]

"हे हर ! चर और अचर रूप संसार ही आपका सांकेतिक प्रतीक (लिङ्ग) है ।"

परात्परं परमात्मकलिङ्गम् ।[2]

"लिङ्ग कारण का भी कारण और परमात्मा का रूप है ।" ब्रह्म स्थिरलिङ्ग अर्थात् कूटस्थ (निर्विकार त्रिकाल स्थायी सत्ता) है । इसलिए यह स्थायी या स्थाणु है ।

दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्राणान् प्रेरयते च यः ।
स्थिरलिङ्गं च यन्नित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृत ॥[3]

"ऊपर रहकर जलाने के कारण, प्राण को प्रेरित करने और नित्य कूटस्थ* (स्थिर) रहने के कारण इनका नाम स्थाणु है ।"

उपनिषत् और वेदान्त की तीन ग्रन्थियों के अधिष्ठाता, तांत्रिकों के तीन लिङ्ग हैं । ब्रह्मग्रन्थि या मूलाधार में स्वयंभूलिङ्ग, विष्णुग्रन्थि या अनाहत में बाणलिङ्ग, और रुद्रग्रन्थि या आज्ञाचक्र में इतरलिङ्ग । स्वयंभूलिङ्ग का विवरण इस प्रकार है :—

तन्मध्ये लिङ्गरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्यो
ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथमकिसलयाकाररूपः स्वयंभू : ।
विद्युत्पूर्णेन्दुबिम्बप्रकरचयस्निग्धसन्तानहासी
काशीवासी विलासी विलसति सरिदावर्तरूपप्रकार : ।[4]

"उसके (मूलाधार के) बीच लिङ्गरूप, गलाये हुए सोने की तरह कोमल, ऊपर की ओर मुख (छिद्र) वाला, ज्ञान-ध्यान से प्रकट होनेवाला, नूतन पत्र जैसा आकार वाला, स्वयंभू है । उसका हास, अनेक बिजली और पूर्णचन्द्रबिम्बों के समूह जैसा है । यह काशी वासी (शिव) जल के भँवर की तरह है और (मूलाधार में) शोभायमान है ।"

यहाँ स्वयंभूलिङ्ग को जलावर्त्तरूप कहा है । किञ्चित् उन्नत शिलाखण्ड को देखकर शिश्न की क्लिष्टकल्पना की भी जा सकती है, किन्तु सलिलावर्त्त के रूप में यह कल्पना भी असम्भव है । बाणलिङ्ग का विवरण इस प्रकार है :—

धृतक्षीरजकर्णिकान्तरलसच्छक्तित्रिकोणाभिधा
विद्युत्कोटिसमानकोमलवपुः सास्ते तदन्तर्गतः ।
बाणाख्यः शिवलिंगकोऽपि कनकाकाराङ्गरागोज्ज्वलो
मौलौ सूक्ष्म विभेदयुङ्मणिरिव प्रोल्लासलक्ष्म्यालयः ॥[5]

१. वेदसारशिवस्तोत्रम् ।
२. लिङ्गाष्टकस्तोत्रम् ।
३. महाभारतम् । अनुशासन पर्व । १५१. १० ।
४. 'षट्चक्रनिरूपण' श्लोक ६ ।
५. षट्चक्रनिरूपण—श्लोक २५ ।
* कूटस्थ-कूट — निहाई । निहाई पर रखकर सोने, लोहे आदि को पीटकर नाना रूप दिया जाता है; पर निहाई ज्यों-की-त्यों निर्विकार बनी रहती है । उसी प्रकार सृष्टिकल्पना का निर्विकार मूल तत्त्व कूटस्थ कहा जाता है ।

"इस कमल (अनाहत) के भीतर शक्ति पड़ी हुई है जिसका नाम त्रिकोण है। यह कोटि विद्युत् के समान कोमल शरीर वाली है। उसके भीतर बाण नामक छोटा-सा लिङ्ग भी है जो सोने की तरह जगमगाता रहता है। इसके मस्तक पर छोटा-सा छिद्र मणि की तरह है। यह उल्लास की शोभा का आलय है।"

एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं
योनौ तत्कर्णिकायामितर शिवपदं लिङ्गचिह्नप्रकाशम्।
विद्युन्मालाविलासं परमकुलपदं ब्रह्मसूत्र[1]प्रबोधं
वेदानामादिबीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत्तत्क्रमेण ॥[2]

इस कमल (आज्ञाचक्र) के भीतर सूक्ष्मरूप में प्रसिद्ध मनः शक्ति है। उसकी कर्णिका की योनि (मध्यभाग या त्रिकोण) में इतर शिव का स्थान लिङ्ग चिह्न के रूप में स्पष्ट है। यह बिजली की माला की चमक-जैसा है, परमा शक्ति (कुल) का निवास है, ब्रह्मज्ञान का बोधक है और वेदों का आदि बीज (ॐकार) है। क्रमशः स्थिर चित्त से इस पर ध्यान करे।"

ब्रह्मवाचक लिङ्ग के ये ही मूलरूप हैं, जिनके आधार पर प्रतिमादि के रूप में बाह्यलिङ्ग की कल्पना की जाती है।

इन लिङ्गों के अतिरिक्त निम्नलिखित लिङ्गों का भी निर्देश, विवरण और प्रयोग मिलता है—इन्द्रलिङ्ग, आग्नेयलिङ्ग, याम्यलिङ्ग, नैऋतलिङ्ग, वारुणलिङ्ग, वायुलिङ्ग, कुवेरलिङ्ग, रौद्रलिङ्ग, वैष्णवलिङ्ग, शिवनाभिलिङ्ग, देवलिङ्ग, गोललिङ्ग, आर्षलिङ्ग और पार्थिवलिङ्ग।[3]

'योगवासिष्ठ' में देहलिङ्ग और बोधलिङ्ग का विवरण मिलता है—

बाह्यार्थपरिकर्तारं सर्वकार्यस्वरूपदम् ॥
देहलिङ्गेषु शान्तस्थं त्यक्तलिङ्गान्तरादिकम्।
यथाप्राप्त्यर्थसंवित्या बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥
प्रवाहपतितार्थस्थः स्वबोधस्नानबुद्धिमान्।
नित्यावबोधार्हणया बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥[4]

सभी कार्यों को स्वरूप देने वाले, बाहरी विषयों के करने वाले, शान्त बोधलिङ्ग को, जैसा विषय का ज्ञान हो, उसीके द्वारा पूजे। अन्य लिङ्गों का त्याग कर दे। (जगत् के) प्रवाह में पड़े हुए विषयों को देखते-सुनते, अपने ज्ञान में स्नान से शुद्ध होकर, नित्य ज्ञान के लिये बोधलिङ्ग की पूजा करे।"

---

१. 'ब्रह्मसूत्र—सूत्र-बोधक, पता लगानेवाला। ब्रह्मसूत्र—ब्रह्म का पता देनेवाला, ब्रह्मज्ञान का बोधक।

२. तत्रैव—श्लोक ३२।

३. प्राणतोषणी (बंगाबर, कलकत्ता; १३३५ साल) काण्ड १, परिच्छेद १।

४. योगवासिष्ठ (बम्बई, शाकः १८५९, सन् १९३७) निर्वाण प्रकरण, (पूर्वार्द्ध) सर्ग ३६, श्लोक ५—७।

उपर्युक्त षष्ठ श्लोक पर तात्पर्य प्रकाशव्याख्या इस प्रकार है—

स्वदेहलक्षणेषु लिङ्गेषु। तथाहि पद्माद्यासनस्थःपुरः प्रसारितपाणिर्बद्धाञ्जलिर्देहः शिवलिङ्गाकारो भवतीति प्रसिद्धम्। अतएव त्यक्तं मृद्दारुशिलादिलिङ्गान्तरं आदिपदात् प्रतिमान्तरं च अत्र। शान्ते निर्विक्षेपस्वभावे स्थितं बोधलिङ्गम्।

"अपने देहरूपी लिङ्गो में। जैसे पद्म इत्यादि आसन पर बैठकर हाथ आगे फैलाकर अंजलि बांधने से शरीर शिवलिङ्गाकार हो जाता है, यह सभी जानते हैं। अत एव मिट्टी, लकड़ी, पत्थर आदि के लिङ्गों को छोड़कर। आदि शब्द से दूसरी प्रतिमाओं से' भी यहाँ उद्देश्य है। शान्त अर्थात अचंचल भाव में स्थिर होना बोधलिङ्ग है।"

सुप्तानां प्रबुद्धानां च त्रैलोक्यस्थसर्वप्राणिनां हृदि अनाहतनादात्मना अकारादिमात्रात्रयशून्यस्य प्रणवनादभागस्य शब्दब्रह्माख्यस्य नित्यं सर्वदैवोच्चारणादङ्गुष्ठपरिमितहृत्पुण्डरीकच्छिद्रे लिङ्गाकारेण स्थितस्य दहराकाशाख्यस्य शिवस्य मूर्ध्नि भूषणभूता बिन्दुरूपा इन्दुकला उमेत्युच्यते। तथा चोक्तं वायवीयसंहितायाम्—

> **ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मणः प्रतिपादकम्।**
> **अ उ मेति त्रिमात्राभिः परस्तादर्धमात्रया॥**
> **तत्राकारः स्थितो भागे ज्वाललिङ्गस्य दक्षिणे।**
> **उकारश्चोत्तरे तद्वन्मकारस्तस्य मध्यतः।**
> **अर्धमात्रात्मको नादः श्रूयते लिङ्गमूर्धनि॥ इति**

हंसोपनिषदि च 'पूर्वदले पुण्यमतिः' इत्यादि हृदयपुण्डरीकदलेषु जीवस्य मतिभेद-मुक्त्वा लिङ्गे सुषुप्तिः पद्मत्यागे तुरीयं यदा हंसो नादे विलीनो भवति तत्तुरीयातीतमिति लिङ्गमूर्धस्थे नादे सर्वोपाधि विलयेन ब्रह्मप्रतिष्ठा तुरीयातीतावस्थेत्युक्तमिति भावः।[1]

'सोये हुए और जगे हुए त्रिलोक के सभी प्राणियों के हृदय में अनाहत नाद के रूप में अकारादि तीनों मात्राओं से शून्य ॐ नादभाग रूप शब्द ब्रह्म नामक नित्य सर्वदा उच्चारण के कारण, अंगूठा भर, हृदय कमल के छिद्र में लिङ्गाकार से स्थित हराकाश नामक शिव के माथे पर भूषण रूप, बिन्दुरूप चन्द्रकला उमा कहलाती है। वायवीय संहिता में कहा है—ॐ यह एकाक्षर ब्रह्म, ब्रह्म का प्रतिपादक है। अ उ म इन तीन मात्राओं के परे अर्धमात्रा के साथ, ज्वालालिङ्ग से दक्षिण अकार स्थित है। उकार उत्तर की ओर और मकार उसके (ज्वालालिङ्ग के) मध्य में है। अर्द्धमात्रारूपी नाद लिङ्ग के माथे पर सुनाई पड़ता है। इति।

"हंसोपनिषत् में भी 'पूर्वे दले पुण्यमतिः, इत्यादि द्वारा हृदयकमल में जीव के बुद्धि-भेद को कहकर लिङ्ग में सुषुप्ति और पद्मत्याग में चतुर्थ (कहा है)। जब हंस, नाद में विलीन हो जाता है, तब तुरीयातीत है। लिङ्ग के मस्तक पर स्थित नाद में सभी उपाधियों के विलीन हो जाने पर ब्रह्मप्रतिष्ठा (ब्रह्म में मन का स्थिर हो जाना) तुरीयातीतावस्था कही जाती है। यही भाव है।

---

१ योगवासिष्ठ (बम्बई, सन १९३७)—निर्वाणप्रकरण (उत्तरार्द्ध)—८४.१३ की टीका।

लिङ्गनिर्माण और स्थापना की पद्धति से भी इसके यथार्थ रूप का बोध होता है। लिङ्गनिर्माण की विधि इस प्रकार है—

भागमेकं न्यसेद्भूमौ द्वितीयं वेदिमध्यतः।
तृतीयभागे पूजा स्यादिति लिङ्गं त्रिधा स्थितम्॥
भूमिस्थं चतुरस्रं स्यादष्टास्रं वेदिमध्यतः।
पूजार्थं वर्तुलं कार्यं दैर्घ्यात्त्रिगुणविस्तरम्॥
अधोभागे स्थितः स्कन्दः स्थिता देवी च मध्यतः।
ऊर्ध्वं रुद्रः क्रमाद्वापि ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥
एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणाः।
एत एव त्रयो वेदा एतदान्यस्त्रिस्थितं त्रिधा॥[1]

"लिङ्ग की स्थिति तीन भागों में होती है। एक भाग भूमि में रहे, दूसरा वेदी में और तृतीय भाग पर पूजा हो। भूमि में चतुष्कोण रहे, वेदी में अष्टकोण और पूजा के लिए गोल बनाना चाहिए। (यह गोल अंश) जितना ऊंचा हो उससे तीन गुना इसका घेरा होना चाहिए। निम्नभाग में स्कन्द रहते हैं, बीच में देवी रहती है और ऊर्ध्वभाग में रुद्र हैं अथवा ये भाग क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं। ये ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों गुण हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा और जो कुछ तीन रूपों में वर्तमान है।"

इससे स्पष्ट है कि यह अ उ म रूप में ॐकार ब्रह्म का स्थूल रूप है। लिङ्ग के ये तीनों भाग ब्रह्मा, विष्णु और शिव के प्रतीक होने के कारण समस्त रूप में ॐकार के प्रतीक हैं, इसे बराबर दुहराया गया है—

रसमुनिवसुभागे वृत्तकेऽष्टाश्रकेऽन्ते
परिधिरथनवांशो लिङ्गतुंगे तु भूयः।
त्रिभिरथ गुणभागैश्च त्रिभिस्तुंगमानं
अजहरिहरभागे तत्तु त्रैराशिकं स्यात्॥[2]

"लिङ्ग की ऊंचाई में (ऊपरवाला) गोल अंश आठ भाग, (मध्यवाला) अष्टकोण अंश सात भाग और (नीचे वाला) अन्तिम अंश छः भाग और (लिङ्ग की) परिधि नौ भाग होना चाहिये। यदि ऊंचाई ब्रह्मा, विष्णु, महेश के तीन (समान) भागों में विभक्त हो तो यह त्रैराशिक लिङ्ग हुआ।"

लिङ्गोत्सेधे तु नन्दांशे षट्सप्तवसुभागकैः।
ब्रह्मविष्ण्वीशभागानां क्रमाम्नाहाः प्रकीर्तिताः।
लिङ्गं त्रैराशिकं नाम भवेत्सर्वसमे तु तत्॥[3]

"लिङ्ग की ऊंचाई में छः, सात और आठ अंश क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और ईश ऊंचाई कही गई है। यदि सभी भाग बराबर हों तो उसे त्रैराशिक लिङ्ग कहते हैं।"

१. शिवोपनिषत्। अध्याय २, श्लोक ३-६।
२. Elements of Hindu Iconography vol. II pt II, Madras 1916 Appendix B पृ० २६ में "मयमत" से उद्धृत।
३. तत्रैव—'शिल्परत्न' अध्याय ३१ से उद्धृत।

शिवलिङ्ग के अग्रभाग का आकार कैसा होना चाहिये, इसका विधान इस प्रकार किया गया है।

लिङ्गशिरोवर्त्तनम्—

शिरसो वर्तनमधुना लिङ्गानां वक्ष्यते क्रमशः।
छत्राभा त्रपुषाभा कुक्कुटकाण्डार्धचन्द्रसदृशाभा।
बुद्बुदसदृशाः पञ्चैवोद्दिष्टा वर्तना मुनिभिः॥[1]

"अब क्रमशः लिङ्ग के मस्तक के निर्माण के विषय में कहा जाता है। मुनियों ने पाँच, प्रकार की शिरोवर्तना निश्चित कर दी है—छत्राकार, ककड़ी-जैसी, कुक्कुट के अण्डे-जैसी अर्धचन्द्राकार और पानी के बुल्ले-जैसी।"

कुर्वीत त्रपुसीफलाग्रसदृशं छत्रोपमं मस्तकम्।
बालेन्द्वाकृतिकुक्कुटाण्डसदृशं विप्रादिवर्णक्रमात्॥[2]

"लिङ्ग के मस्तक को ककड़ी-फल के अग्रभाग—जैसा, छत्राकार, बालचन्द्राकार, और कुक्कुटाण्डाकार क्रमशः विप्रादिवर्ण के विचार से बनावें।"

छत्राभं त्रपुषाकारं कुक्कुटाण्डनिभं तथा
अर्धेन्दुसदृशं चाथ बुद्बुदाभं तु पञ्चमम्॥[3]

"छत्राकार, ककड़ी—जैसा, कुक्कुट के अण्डे—जैसा, अर्धचन्द्राकार और पाँचवां बुद्बुद-जैसा।"

यदि लिङ्ग से शिश्न अभीष्ट रहता तो शिश्नाकार लिखने में कोई बाधा नहीं थी। स्त्रीपुरुषों के अङ्गों के अङ्कन और चित्रण में प्राचीन शिल्पियों ने जैसी निर्द्वन्द्वता दिखाई है, उस दृष्टि से शिश्नाग्रभाग लिखने में उनको जरा भी शङ्का नहीं होती। इसके नहीं लिखने का यही अर्थ है कि यह भावना वहाँ थी ही नहीं।

वेदी से भी लोगों को स्त्रियों के गोप्याङ्ग का भ्रम होता है। वेदी का नाम पट्ट, पीठ और आसन भी है। शिवलिङ्ग की उपासना अभिषेक द्वारा होती है। इसलिये जलाधार और जलमार्ग का बनाना आवश्यक हो जाता है। इससे प्रतिमा को अपने स्थान पर बनाये रखने में स्थिरता आती है। अन्यथा इसके गिर जाने का डर रहता है। नीचे और ऊपरवाले भागों को स्थिर रखने के लिये मध्य में वेदी का निर्माण किया जाता है। इसके बनाने की विधि इस प्रकार दी गई है—

त्रिगुणं लिङ्गविस्तारं त्रिगुणार्धं चतुर्गुणम्।
त्रिविधस्त्वधमादिस्तु पीठविस्तारमुच्यते॥
विष्णुभागस्य चोत्सेधं पीठोत्सेधं विधीयते।
अथवा ब्रह्मभागस्य चाष्टांशेन समन्वितम्॥
पद्मपीठं भद्रपीठं वेदिका पारमण्डलं।
पीठं चतुर्विधं प्रोक्तं लक्षणं शृणु साम्प्रतम्॥

1. तत्रैव—पृ० २८—'मयमते त्रयस्त्रिंशाध्याये।'
2. तत्रैव—पृ० ३१ शिल्परत्ने।
3. तत्रैव—पृ० ३२।

कृत्वा षोडशधोत्सेधं द्व्यंशेन च तु पट्टिका ।
पञ्चभागं तदूर्ध्वाब्जं दलैः षोडशभिर्युतम् ।
दलमर्धाङ्गुलोत्सेधं पद्मपीठमिहोच्यते ।
जलमार्गं त्रिभागैकं कुर्यात् तत्र विशेषतः ।
एवं तु पद्मपीठं हि भद्रपीठमथ शृणु ।। इत्यादि[1]

"पीठ का घेरा तीन प्रकार का कहा गया है—अधमादि अर्थात अधम, मध्यम और उत्तम। लिङ्ग के घेरे से तिगुना अधम, त्रिगुण का आधा मध्यम और चतुर्गुण उत्तम है। विष्णुभाग (मध्यभाग) जितना ऊँचा हो, आसन उतना ही उँचा हो। अथवा ब्रह्मभाग (निम्नभाग) का आठवाँ भाग सहित (विष्णुभाग के बराबर) आसन हो। पीठ अर्थात् आसन चार प्रकार के कहे गये हैं—पद्मपीठ, भद्रपीठ, वेदिका और परिमण्डल। अब इनके लक्षण सुनिये। (लिङ्ग का) ऊँचाई का सोलह भाग करके उसके दो अंशों की पट्टिका (पीठ) बनावे। उसके ऊपर पाँच भागों का कमल बनावे जिसमें १६ दल हों। दल आधा अंगुल ऊँचा हो। इसे पद्मपीठ (अर्थात पद्मासन) कहते हैं। (आसन के घेरे के) तीन भाग में से एक भाग का जलमार्ग बनावे। यह पद्मपीठ हुआ। अब भद्रपीठ के लक्षण सुनिये।" इत्यादि।

पीठभेदाः— मयमते। चतुस्त्रिंशाध्याये।
चतुरश्रं च[2] वस्वश्रं षडश्रं द्वादशाश्रकं।
द्विरष्टाश्रं सुवृत्तंच तेषामेवायनान्यपि ।।[3]

"पीठों के आकार हों—चतुष्कोण, अष्टकोण, षट्कोण, द्वादशकोण, षोडशकोण, और सुन्दर गोलाकार।"

त्रिकोणमर्धचन्द्रंच च[illegible] ।
समानि यानि लिङ्गस्य चाहुः पीठंच संज्ञकम् ।।
आयतान्यासनानीति निष्कलानां वदन्तिवै ।
त्रिकोणमर्धचन्द्रंच निष्कले सकले क्रमात् ।।
भद्रपीठं च चन्द्रं च वज्रपीठं महाम्बुजम् ।
श्रीकरं (विकरं) पद्मपीठं च महावज्रं च सौम्यकम्
श्रीकामार्थमिति प्रोक्ता नाम्नैता नवपीठिकाः ।
स्वनामाकृतियुक्तातु त्रिकोणाद्दे म्बुसंयुते ।
[illegible]कारं क्रमशो वक्ष्यतेऽधुना ।
गृहीत्सेधमानांशवशेन विधिनेन च ।।[4]

---

१. तत्रैव—पृष्ठ ३४-३५। सुप्रभेदागम से उद्धृत।

२. चतुष्कोण-प्रतीक का विवरण प्रासाद-पुरुष-प्रकरण में देखिये। शिवलिङ्ग में लिङ्ग, विष्णु स्थान मूलस्तम्भ है, और चतुष्कोण, कारण ब्रह्म की स्थिरता का प्रतीक है।

३. तत्रैव—पृ० ४१।

४. तत्रैव—पृ० ४२-४३।

"चौदह प्रकार के, एक से त्रिकोण और अर्धचन्द्र लिङ्ग के आसन कहलाते हैं। विस्तृत आसन निष्कल (निराकार) के आसन कहलाते हैं। त्रिकोण और अर्धचन्द्र क्रमशः निष्कल (निराकार) और सकल (साकार) कहे जाते हैं। भद्रपीठ, चन्द्र, वज्रपीठ[1], महापद्म, श्रीकर, पद्मपीठ, महावज्र, सौम्य— ये सम्पत्ति देने वाले नौ पीठ कहे गये हैं। अपने-अपने नामानुसार आकृतिवाले त्रिकोण और अर्धचन्द्र के साथ तथा ऊँचाई की नाप के विभागों के अनुसार, आसन की नाना प्रकार की सजावट का अब वर्णन किया जाता है।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदी अथवा पीठ का क्या अर्थ है। इस पर भी यदि कोई इसका अर्थ 'स्त्री का उपस्थ' करे तो इस पर तर्क करना व्यर्थ है।

मुखलिङ्ग

निराकार ओंकारस्वरूप ब्रह्म के कल्पित रूप को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए इस पर मुख बना दिया जाता है। कभी इस पर एक, कभी तीन और कभी पाँच मुख बनाये जाते हैं। ब्रह्मैक्य का प्रतीक स्वरूप एक मुख बनाया जाता है। तीन मुख त्रिगुणात्मक स्वरूप के प्रतीक हैं। इनमें सामने वाला एक मुख कुछ खुला रहता है या ओज से जगमगाता रहता है। यह रजोगुण है जो सत्त्व और तमोगुण को जगाये रहता है। इसके बाईं ओर वाला मुख प्रशान्त मुद्रा में दिखाया जाता है। यह सत्त्वगुण का प्रतीक है। दाहिनी ओर वाला कराल रूप में दिखाया जाता है। यह संहारक तमोगुण का चिह्न है। बिना शिवलिङ्ग के यह मूर्ति त्रिमूर्ति कहलाती है। पाँच मुखवाले शिवलिङ्ग में चार मुख चारों ओर बने रहते हैं और पाँचवाँ मुख प्रायः नहीं बनाया जाता है। इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

मुखलिङ्गं त्रिवक्त्रं स्यादेकवक्त्रं चतुर्मुखम्।
सम्मुखं चैकवक्त्रं स्यात् त्रिवक्त्रं पृष्ठके नहि॥
पश्चिमास्यं स्थितं शुभ्रं कुंकुमाभे तथोत्तरे।
याम्य कृष्णकरालं स्यात् प्राच्यां दीप्ताग्निसन्निभम्॥
सद्यो वाम तथाघोरं तत्पुरुषश्च चतुर्थकम्।
पञ्चमं च तथेशानं योगिनामप्यगोचरम्॥[2]

"मुखलिङ्ग, तीन मुखवाला, एक मुखवाला और चार मुखवाला होना चाहिये। एक मुख वाले में मुख सामने रहेगा। तीन मुख वाले में मुख पीछे की ओर नहीं रहता। पीछे वाला मुख उजला होना चाहिए। उत्तरवाला लाल, दक्षिणवाला काला भयंकर, और सामने वाला ज्वाला वाली आग की तरह हो। सद्योजात, वामदेव, अघोर और चौथे तत्पुरुष हैं। पाँचवें ईशान हैं जिन्हें योगी भी नहीं जानते।"

---

१. वज्रपीठ, बुद्ध के वज्रासन को स्मरण कराता है।

२. Elements of Hindu Iconography, Madras 1916, Vol II Pt II, पृष्ठ २७ में रूपमण्डन से उद्धृत।

लिङ्ग भावना का आधार शैव और शाक्त दर्शन हैं। इन दर्शनों के अनुसार सर्व-व्यापी अविनाशी तत्त्व में क्षोभ या स्पन्दन होता है जिससे जलराशि में जलावर्त्त और वायुमण्डल में वातावर्त की तरह शब्द के साथ-साथ बिन्दु बनता है और जल के ऊँचे तरंग की तरह यह ऊपर उठकर सृष्टि का रूप ग्रहण करता है। बिन्दु से चेतना के इस ऊपर उठने का नाम मूलस्तम्भ[1] है। इसी मूलस्तम्भ से सृष्टि का विस्तार होता है और मूलतत्त्व में लीन होने के पहिले सृष्टि इसी में लीन होती है। यही मूलस्तम्भ शैवों और शाक्तों का महाशिवलिङ्ग और बौद्धों के स्तूप और स्तम्भ हैं जिन पर सृष्टि-शक्ति धर्म के संकेत वृषभ, सिंह, धर्मचक्र और छत्र के रूप में रहते हैं।

ज्योति का सिद्धान्त वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्धों को समान रूप से मान्य है। वैष्णवों के विष्णु ज्योतिःस्वरूप हैं। शैवों का मूल स्तम्भ शुद्ध चेतना का ज्योतिःस्तम्भ है।

१. क. From a tenth of पराशक्ति comes the first सदाशिव तत्त्व, शिव सादाख्य, known also by the name of सदाशिव; because it is born of पराशक्ति and is pure it is called शिव; and it exists everywhere as a subtle divine light bright as the lightening and pervading the space in the Universe;

From a tenth portion of the आदिशक्ति is evolved the second सदाशिव तत्त्व, अमूर्त सादाख्य known also as ईशान। Because आदि शक्ति like पराशक्ति is also formless, this second tattva is called the अमूर्त, that is, this is also निष्कल। This सादाख्य exists as a luminous pillar, whose lustre is equal to that of a crore of suns put together. This pillar is called the Divya linga or the Mulastambha. As everything takes its origin from the मूलस्तम्भ and ends finally in it, it was called the Linga. लयं गच्छन्ति भूतानि संहारे निखिलं यतः। सृष्टि काले पुनः सृष्टिस्तस्माल्लिङ्ग मुदाहृताम्। सुप्रभेदागम।
Elements of Hindu Iconography. T. Gopinath Rao, Madras 1916, Vol.II Pt. II, Page 364.

"पराशक्ति के दशांश से सदाशिव तत्त्व अथवा शिवसादाख्य उत्पन्न होता है। इसे सदाशिव भी कहते हैं। शुद्ध और पराशक्ति से उत्पन्न होने के कारण इसे शिव भी कहते हैं। यह विश्व के अवकाश मे बिजली की तरह सूक्ष्म दिव्य ज्योति के रूप में सर्वत्र व्याप्त रहता है।
आदिशक्ति के दशांश से सदाशिव तत्त्व, अमूर्त सादाख्य उत्पन्न होता है, जिसे ईशान भी कहते हैं। पराशक्ति की तरह आदिशक्ति भी निराकार है, इसलिये यह द्वितीय तत्त्व अमूर्त अर्थात् 'निष्कल' है। यह सादाख्य ज्योति स्तम्भ की तरह है जिसका प्रकाश कोटिसूर्य की तरह है। इस स्तम्भ का नाम दिव्यलिङ्ग अथवा मूलस्तम्भ है। सभी वस्तुएँ मूलस्तम्भ से उत्पन्न होती हैं और इसी मे समा जाती हैं, इसलिए इसे लिंग (ल — लय, ग — गच्छन्ति, निकलना) कहते है।"

ख. त्रैलोक्यनगरारम्भ मूलस्तम्भाय शम्भवे नमः। बाणभट्ट। 'हर्षचरित' प्रस्तावना तीनों लोकरूपी नगर की रचना के मूलस्तम्भ शम्भु को प्रणाम।

पर्वताकार पुंजीभूत ज्योति से देवी प्रकट होती है[१] और बौद्धों के बुद्ध महाज्योति के पुञ्जीभूतस्वरूप स्तूप और स्तम्भ हैं।

ब्रह्मविद्या के और प्रतीकों की तरह शिवलिङ्ग ब्रह्मोपासना का एक अत्यन्त सरल ब्रह्म प्रतीक है।

लिङ्गरूप में परब्रह्म की पूजा भारत में कब से प्रचलित हुई, यह कहना कठिन है। श्रीलंका से लेकर अमरनाथ और कैलास तक तथा सिन्धु देश से लेकर असम प्रदेश तक इसका सार्वभौम प्रचार है। कहा जाता है कि हजरत मुहम्मद के पहिले अरब देशों में भी इसका प्रचार था। ऐसी स्थिति में इसकी पूजा के प्रारम्भ काल को निश्चित करने के लिए यथेष्ट सामग्री का नितान्त अभाव है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ब्रह्मोपासना का यह स्वरूप भारत में प्रचलित है।

'बौधायन गृह्यसूत्र'[२] और 'निरुक्त'[३] में इसका निर्देश पाया जाता है। कहा जाता है कि भगवान् श्री रामचन्द्र ने समुद्र पर सेतु बनाकर उस पर शिवलिङ्ग की स्थापना कर उसकी पूजा की थी और उसका नाम रामेश्वर रक्खा था। संताल परगना (बिहार) के वैद्यनाथ धाम के ज्योतिर्लिङ्ग की कथा के साथ रावण का नाम सम्बद्ध है। कहा जाता है कि रावण ने इसकी स्थापना की थी। भगवान् श्री रामचन्द्र के समय में लिङ्गपूजा का बहुत व्यापक प्रचार रहा होगा। इसलिये भगवान् और रावण—दोनों ने ही इसकी स्थापना की होगी।

अनेक यूरोपीय विद्वानों ने शिश्नपूजा पर खोज की और अपना-अपना मत दिया। उन्होंने देखा कि यूरोप के देशों में, शिश्न की आकृति के सामने लोग टोना-टोटका करते थे और कुछ लोग अब भी करते हैं। आयरलड, इगलैण्ड, ग्रीस, मिस्र, जापानादि सभी देशों में शिश्नपूजा का प्रचार था।

वेस्ट्रौप का कथन है कि ग्रीस, रोम, असीरिया, प्राचीन अमेरिका, जर्मनी, स्लावोनिया, फ्रांस आदि देशों में इनके नाम पेरियापस, (Periapus) फसाइनम (Fassinum) अथवा प्राइप (Pripe) गाला (Gala) आदि हैं।

सर विलियम जोन्स का कथन है कि मिस्रदेश में ओसिरिस (Osiris) ईसिस (Isis) की पूजा परमेश्वर और पराशक्ति के रूप में होती है। यह भारत के ईश्वर अथवा ईश और ईशी का रूपान्तर है और केनेडी का कथन है कि ओसिरिस (Osiris) की पूजा शिश्न

---

१. दुर्गासप्तशती। अध्याय २।

२. बौधायन गृह्यसूत्र। ३, २, १६।

३. निरुक्त दैवतकाण्ड। १२, ३, ६, ४०।

४. क. Nelson's Encyclopaedia—Phallus or Phallic Worship.

ख. Hodder M. Westrop—Primitive Symbolism as Illustrated in Phallic Worship.

ग. Sir William Jones—Sanskrit Texts. Messrs. George, Redway. London, Vol VI Page 318.

घ. Kennedy—Hindu Mythology, Page 38.

के रूप में होती है। इन्होंने लिङ्ग शब्द देखा और स्वयंसिद्धि की तरह मान लिया कि भारत में भी लिङ्गपूजा के नाम पर शिश्नपूजा और वेदी के रूप में स्त्री-उपस्थ की पूजा होती है।

इसी मत को प्रामाणिक मान कर श्री गोपीनाथ राव ने प्राणपन से यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि शिवलिङ्ग शिश्न का प्रतिरूप है। उन्हें लखनऊ संग्रहालय में भीटा नामक स्थान में पाई गई एक मूर्ति मिली जिसे श्री राखाल दास बन्द्योपाध्याय ने ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी का बताया। दूसरी शिश्नाकार एक मद्रास के गुडीमल्लम् नामक ग्राम में राव महोदय को मिली जिन्हें इन्होंने शिवलिङ्ग का आदि रूप बताया और शिवोपासना को शिश्नपूजा सिद्ध करने की यथासाध्य चेष्टा की। हम इन दोनों की परीक्षा करेंगे।

भीटा वाली मूर्ति एक पत्थर का टुकड़ा है। इसका नीचे का भाग बेढंगा कटा हुआ है और ऊपर के भाग पर चारों ओर मनुष्य का शिर बनाने की चेष्टा की गई है। शिरों के ऊपर मालूम होता है कि ककड़ी की आकृति बनाने की चेष्टा की गई है। ऐसा मालूम हाता है कि शिवलिङ्ग के नियमानुसार ऊर्ध्वभाग को त्रपुषाकार बनाने की शिल्पी ने चेष्टा की, किन्तु पत्थर टूट गया। इसलिए वेदी और भूमि के भीतर रहनेवाले भाग को उसने चतुष्कोण और अष्टकोण बनाया ही नहीं और साधारण पत्थर की तरह उसे फेंक दिया। राव महोदय त्रपुषाकार ऊर्ध्वभाग का शिश्न का अग्रभाग कहते हैं और सारे पत्थर के टुकड़े को शिश्न की अनुकृति मानते हैं और कहते हैं कि शिश्न प्रतिमा का यह प्रारम्भिक रूप है। किन्तु यह तो शिश्न की आकृति है ही नहीं। यह तो अधूरा शिवलिङ्ग है। (देखिये चित्र ५५ और ५६)।

गुडीमल्लम् वाली मूर्ति शिश्न की मूर्ति है। इसकी वेदी का भाग न चतुष्कोण है और न षट्कोण। इसमें सात कोण हैं। मूर्ति के साथ लगी हुई एक पुरुष मूर्ति है। एक मोटे-तगड़े मनुष्य के कन्धों पर इसके पैर हैं। वह मनुष्य बहुत ही प्रसन्न मुखमुद्रा में मुस्कुरा रहा है। इसे आप शिव की मूर्ति कहते हैं। शिव को कहीं भी नरवाहन नहीं माना गया है। आपका कथन है कि नटराज के अपस्मार पुरुष की तरह यह भी अज्ञान या मोह पुरुष है। नटराज की मूर्ति में मोहपुरुष की कमर, शिव के पैर के भार के नीचे टूटती-सी है और मोहपुरुष का नाश हो रहा है, इसलिये वह कष्ट में है। कभी उसकी आँखें बन्द और कभी कष्ट में निकलती हुई-सी दिखाई जाती हैं, किन्तु इस मूर्ति में तो वह बड़ा प्रसन्न दिखाया गया है। इसलिये यह मोहपुरुष हो नहीं सकता। यह पुरुष मूर्ति, नीचे वाले नर के कन्धे पर खड़ी है और इसके गुह्याङ्ग प्रकट हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की, नग्नरूप में कहीं भी पूजा नहीं होती है। इस पुरुष के यज्ञोपवीत नहीं है, और केवल दो आँखे हैं और हाथ में गदा-जैसी कोई वस्तु है। यह शिव के प्रसिद्ध, त्रिशूल डमरू, मृग, परशु आदि अस्त्रों में से कोई भी नहीं है। न इसके तीन नेत्र हैं और न इसमें यज्ञसूत्र और सर्प है। यह शिव की मूर्ति तो किसी-भी प्रकार नहीं हो सकती है। यह किस देवता की मूर्ति है, जिसकी शिश्नरूप में पूजा हाती थी, यह कहना कठिन है। रावमहोदय का कहना है कि यह शिव का बहुत प्राचीन रूप है। ये अनार्यों के देवता थे। इसलिए पीछे इन्हें जनेऊ दिया गया और शायद तीसरी आँख भी बना दी गई। यह

युक्ति और तर्कहीन हठ-कल्पना है। जब मोहनजोदड़ो की खुदाई में भी तीन आँखोंवाली पशुपति की मूर्ति मिली है, और वेदों में भी त्र्यम्बक शब्द आया है, तब कैसे कहा जाय कि ईसा पूर्व दूसरी या पहिली शताब्दी के बाद शिवजी को ब्रह्मसूत्र दिया गया और इनकी तीसरी आँख का निर्माण किया गया।· यजुर्वेद के १६वें अध्याय के 'शतरूद्रिय' सूक्तों से रूद्राभिषेक किया जाता है। इसमें शिश्न की कहीं चर्चा भी नहीं है। इसलिए यह मूर्ति शिव की मूर्ति है, ऐसा कहना ठीक नहीं मालूम होता है। यह किस देवता की मूर्ति है, जिसकी शिश्नरूप में पूजा होती थी, यह अनुसन्धान का विषय है। (देखिये चित्र ५३ और ५४)।

ऋग्वेद में शिश्नदेव शब्द का व्यवहार हुआ है। इसका लोग शिश्नपूजक अर्थ लगाते हैं। निरुक्तकार और सायण—दोनों ने ही इसका अर्थ "शिश्न को ही आराध्य मानने वाले भोग विलासी" किया है और पूर्वापर परम्परा, संस्कार और साहित्य पर विचार करने से यही अर्थ ठीक मालूम होता है।

शिश्न के बहुत से पर्यायवाची शब्द हैं। बोलचाल में लोग कभी उनका व्यवहार नहीं करते। किन्तु ऋषियों ने लिङ्ग पुराण की रचना की। यह ब्रह्मपुराण का दूसरा नाम है। मालूम होता है कि लिङ्ग पुराण की रचना के पूर्व ब्रह्मपुराण की रचना हो चुकी थी। इसलिये उस नाम का दो बार व्यवहार न कर ब्रह्मवाची लिङ्ग शब्द का व्यवहार किया गया। जिस शिश्न और उसके पर्यायवाची शब्दों का साधारण बोल-चाल और लेख में भी व्यवहार करने में लोग कुण्ठित होते हैं, उसका व्यवहार कर जनता के लिये ऋषियों ने एक पुराण की रचना कर डाली! यह भी विचारणीय है।

शिश्न की यह मूर्ति कैसे और कहाँ से आई और इसके लानेवाले कौन थे,—यह विचारणीय है। यूरोप के कुछ लेखक यह सिद्ध कर चुके हैं कि यूरोप और यूरोप के बाहर बहुत से देशों में शिश्न पूजा प्रचलित थी और है। यह सिद्ध हो चुका है कि सिकन्दर के भारत में आने के बहुत पहिले से ही रोम, ग्रीस, मिस्त्र, अरब आदि देशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। ऐसा हो सकता है कि शिश्न पूजक देश से ऐसे लोग आये होंगे, जिन्होंने अपने व्यवहार के लिये ऐसी मूर्तियाँ बनाई होंगी।

इटली का पम्पिआई नगर, इस्वी सन् से ७८ वर्ष पूर्व विसूवियस ज्वालामुखी के स्फोट में बहते हुए लावा (lava) में दब गया था। उसकी खुदाई हुई है। उसमें एक सड़क के किनारे एक ताक में एक चित्र है जिसमें एक पुरुष हाथ में तराजू लिये बैठा है। उसके एक पलरे में सोने की सीलें हैं और दूसरे में एक पुरुष की कमर से लटकता हुआ उसका शिश्न है। सोने वाला पलरा ऊँचा है और शिश्नवाला झुका हुआ है। प्रदर्शक ने समझाया कि इस चित्र का यही अर्थ है कि मानव जीवन में शिश्न सोने से भी अधिक मूल्यवान है।[२] मानव जीवन में सोने की तुलना शिश्न से नहीं हो सकती। ऐसे लोगों

१. कलिरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है—पिशाचवदनः क्रूरः कलिश्च कलहप्रियः।
वामहस्ते धृतः शिश्नो दक्षे जिह्वां च नृत्यति।
अर्थात् कलि के बायें हाथ में शिश्न और दाहिने में जिह्वा रहती है।

२. यह चित्र मैंने १९३३ के सितम्बर में देखा था।

के लिये यह स्वाभाविक होगा कि शिश्न की उपासना करें। हाल में ऐसा प्रमाण भी मिला है कि दक्षिण भारत में बहुत से रोमन आ बसे थे या रहते थे। उनकी कब्र भी पाई गई है।[1] यदि उनके साथ शिश्नमूर्ति भी पहुंच गई हो तो इसमें क्या आश्चर्य है। इस प्रकार की अब तक केवल एक मूर्ति पाई गई है। हो सकता है कि कुछ और भी मिलें। इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि जिस शब्द को लोग मुंह से निकालने में भी लज्जित होते थे और हैं उसको मूर्ति बना कर उसकी उपासना का सारे भारत के कोने-कोने तथा घर-घर में प्रचार कर दें और लोग इसे मानने भी लगें।

भारतीय सभ्यता के विषय में यूरोपीय विद्वानों का मत बहुत समझ बूझ कर ग्रहण करना चाहिये। इसके अनेक कारण हैं। आरम्भ में भारतीय सभ्यता पर लिखने वाले अधिकतर पादरी थे। ये अपने कट्टर धार्मिक विचारों से चिपके रहते हैं। दूसरे धर्मावलम्बियों को उपहासास्पद देखने और बनाने में उन्हें स्वाभाविक आनन्द आता है। दूसरे, यूरोप के लोगों का संस्कृतज्ञान अत्यन्त साधारण होता है। बहुत से संस्कृतज्ञ नागरी अक्षर जानते तक नहीं, पढ़ना तो दूर की बात है। तीसरे, ये लोग जहाँ तहाँ पूछताछ कर सुनी-सुनाई बातें लिख मारते हैं। हमलोगों में—विशेष कर अंग्रेजी पढ़े-लिखों में, ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे इसे अकाट्य प्रमाणस्वरूप मान लेते हैं। यह प्रवृत्ति अशुद्ध है। चौथे, इनके संस्कार और विचार हम से सर्वथा भिन्न हैं। इस लिये अपनी दृष्टि से ये केवल हमारे विकृत रूप को देख सकते हैं, प्रकृत को नहीं। विचार की भिन्नता के कारण इनके और हमारे व्यवहार भी इतने भिन्न हैं कि जो इनके लिये शिष्ट है, वह हमारे लिये उपहासास्पद है और जो इनके लिये उपहासास्पद है, वह हमारे लिए शिष्ट और संयत है। अपने समाज, दर्शन और जीवन के गम्भीर तत्त्व जो इनकी समझ के बाहर की चीजें हैं, उन पर, बिना परीक्षा किये, इनके मत को मान लेना ठीक नहीं है।

भारतीय सभ्यता और संस्कार का आधार इन्द्रिय संयम, ब्रह्मविद्या और ब्रह्मचर्य है। शिश्नपूजा सर्वथा इसके विपरीत और घृणास्पद है। श्री ई० मी० हैवेल का यह कथन बहुत यथार्थ है कि असभ्यों की शिश्न पूजा को शिवलिङ्ग से मिलाना अनुचित है।[2]

उत्तर भारत में लिङ्ग शब्द का शिश्न के अर्थ में व्यवहार होने का एक कारण मालूम होता है। उत्तर भारत की बोलचाल की भाषाएं संस्कृतमूलक हैं। बोलचाल

1. क. A recent exploration by Union Government has shown that there was an Indo-Roman trading centre at 'Nattamedu' in the South Arcot District of Madras State.

Indian Nation, Patna, August 10, 1957. Page 5, Column 1.

ख. In those days (B. C. 25 to A. D. 25) a vast interchange of ideas was carried on between the east and the Hellenic and the Roman worlds by means of the newly opened high ways.

A Gruenwedel. Buddhist Art in India. London, 1901 Page 78.

2. The Ancient and Mediaeval Architecture of India, A study of Indo-Aryan Civilization. E. B. Havel. London 1915. Chapter on Lingam.

की भाषा में शिश्नवाची मेहन, उपस्थ, शेफ आदि शब्द अत्यन्त लज्जाजनक समझे जाते हैं। प्रसंग आने पर शिश्न के लिये लोग पवित्र ब्रह्मवाची लिङ्ग शब्द का सांकेतिक व्यवहार करने लगे जैसे इन्द्रिय शब्द का भी शिश्न के लिये व्यवहार करते हैं। कालान्तर में यह सांकेतिक प्रयोग रूढार्थ बन गया और मूल शब्द प्रयोग से बाहर हो गये और लोग उन्हें भूल से गये। इसलिये मेदिनी कोषकार को लिखना पड़ा कि लिङ्ग शब्द का व्यवहार मेहन के अर्थ में भी हो सकता है—(मेहनेऽपि)।

दक्षिण भारत में लिङ्ग शब्द का व्यवहार परमात्मा के अर्थ में ही होता है। उड़ीसा में भुवनेश्वर में लिङ्गराज का मन्दिर प्रसिद्ध है। लोगों के नाम लिङ्गराज, महालिङ्ग, लिङ्गस्वामी आदि हुआ करते हैं और इसमें किसी प्रकार की कुण्ठा का भाव नहीं है। बोध होता है कि दक्षिण भारत में बोलचाल की भाषा में शिश्न के लिये लिङ्ग शब्द का व्यवहार नहीं होने के कारण इसका अपना अर्थ ज्यों का त्यों बना रहा।

शिवलिङ्ग के स्वरूप और पूजा का जो विधान, शास्त्र पुराण और दैनिक व्यवहार में देखा जाता है, उसमें शिश्नभावना की कहीं आशङ्का तक नहीं है। ऋग्वेद से 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की जो धारा चल पड़ी, शिवलिङ्ग उसी का एक अत्यन्त सरल और मनोहर रूप है।

अपने वेद, शास्त्र, सिद्धमहापुरुष और ब्रह्मज्ञानियों को देखते हुए शिवलिङ्ग के सम्बन्ध में हमारे आचार-विचार और व्यवहार स्पष्ट हैं। इस विषय में अटकल लगाने वाले देशी और विदेशी लोगों का मत मान्य नहीं हो सकता। इसका शुद्ध और मनोहर रूप हमारे बीच अपने ज्वलन्त रूप में वर्तमान है।

१८ श्री राम

राम भारतीय जीवन और भारतीय सभ्यता के मूलस्तम्भ और विशालस्तम्भ हैं। राम नाम लेते ही भारत की प्रत्येक झोपड़ी से भी इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। इस नाम ने कितने युगों से और कितने रूपों में भारत को नित्य नूतन जीवन और बल दिया इसका लेखा करना कठिन है।

भारत में राम दो रूपों में वर्त्तमान हैं—नारायण रूप में और नररूप में। पहिले हम नारायण रूप पर विचार करेंगे।

नारायण राम

भगवान राम पूर्णब्रह्म हैं। संसार में अधर्म[1] बहुत बढ़ गया और भय होने लगा कि धर्म उठ जायगा। तब सृष्टि और सज्जनों की रक्षा के लिये प्रभु ने मनुष्य रूप धारण किया और अधर्मियों का नाश कर धर्म की रक्षा की और सब का कष्ट दूर किया। जब-जब ऐसी विपत्ति उपस्थित होती है, तब तब प्रभु नाना रूप धारण कर धर्म की रक्षा और धर्म के बाधक अधर्म का संहार किया करते हैं और अपनी लीला, इस सृष्टि को बनाये रखते हैं।

१. धर्माधर्म के रूप के लिये धर्म प्रकरण देखिये

अपनी इच्छा से रूप ग्रहण करने के लिये प्रभु कोई निमित्त और साधन चुन लेते हैं और उन्हीं के द्वारा रूप ग्रहण करते हैं। रामावतार में अधर्ममूर्ति रावण का संहार कर सृष्टि के नियमों की रक्षा करना निमित्त था और दशरथ तथा कौशल्या को पिता-माता बनाकर इन्होंने रूप ग्रहण किया।[1] मनु-सतरूपा रूप में दशरथ कौशल्या ने पूर्वजन्म में प्रभु को पुत्र रूप में देखने के लिये बड़ी तपस्या की थी और उनकी इच्छा पूर्ण हुई। धन्य हैं वे प्राणी, जिन्हें प्रभु अपनी इच्छा की सिद्धि के लिये साधन बना कर सत्कर्म करने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं, और उन प्राणियों के सौभाग्य का क्या कहना जिन्हें वे अपने माता पिता के रूप में ग्रहण करते हैं।

प्रभु जब मनुष्य रूप ग्रहण कर प्रकट होते हैं तो उनके यथार्थ रूप को, ब्रह्मविद्या के जानने वाले ब्रह्मज्ञानी लोग ही पहचान सकते हैं।

चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः।[2]

"केवल आँखों वाले लोग ही उन्हें देख पाते हैं, उनको नहीं जानने वाले और लोग उन्हें नहीं जान पाते।"

वाल्मीकि, भरद्वाज, अगस्त्यादि ब्रह्मज्ञों ने इन्हें तुरत पहचान लिया और इनकी पूजा की किन्तु औरों ने इन्हें साधारण मनुष्य समझा और कुछ ने अपशब्द तक का भी व्यवहार किया।

वेद, शास्त्र, पुराण और सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य तथा भारत की लोक भाषाओं में फैले हुए राम के ध्येय और उपास्य ब्रह्मरूप का विस्तृत विवरण, संग्रहरूप में अध्यात्म रामायण में मिलता है—

सोऽयं परात्मा पुरुषः पुराण एष स्वयंज्योतिरनन्तराद्यः।
मायातनुं लोकविमोहनीयां धत्ते परानुग्रह एष रामः॥
अयं हि विश्वोद्भवसंयमानामेकः स्वमायागुणबिम्बितो यः।
विरञ्चिविष्ण्वीश्वरनामभेदान् धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा॥[3]

"वही ये परात्मा, पुरुष, पुराण, स्वयञ्ज्योति, अनन्त, आद्य, राम, दूसरों पर अनुग्रह करने के लिये, संसार को मोह लेने वाला मायाशरीर धारण करते हैं। यही विश्व के विकाश और संयम के (कालस्वरूप) एक आत्मा हैं, जो अपनी माया और अपने गुणों पर बिम्बित होकर स्वतन्त्र और पूर्णब्रह्म होने पर भी ब्रह्मा विष्णु और ईश्वर के भिन्न नाम को धारण करते हैं।"

जगतामादिभूता या सा माया गृहिणी तव।
त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शिवस्त्वं जानकी शिवा॥

---

१. प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ गी० ४. ६॥ "मैं अपनी प्रकृति का अवलम्बन कर अपनी माया से प्रकट होता हूँ।"

२. दुर्गासप्तशती प्राधानिक रहस्य। श्लोक २४।

३. अहल्याकृतरामस्तुतिः। अध्यात्मरामायण। बालकाण्ड। सर्ग ५, श्लोक ४९, ५०

ब्रह्मा त्वं जानकी वाणी सूर्यस्त्वं जानकी प्रभा।
भवान् शशाङ्कः सीता च रोहिणी शुभलक्षणा॥
शक्रस्त्वमेव पौलोमी सीता स्वाहाऽनलो भवान्।
यमस्त्वं कालरूपश्च सीता संयमिनी प्रभो॥
निर्ऋतिस्त्वं जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा।
रामस्त्वमेव वरुणो भार्गवी जानकी शुभा।
वायुस्त्वं राम सीता तु सदागतिरितीरिता॥
कुबेरस्त्वं रामसीता सर्वसम्पत्प्रकीर्तिता।
रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्वं लोकनाशकृत्॥
लोके स्त्रीवाचकं यावत् तत्सर्वं जानकी शुभा।
पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं हि राघव।
तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किञ्चन॥[1]

"जगत् का प्रारम्भ माया आप की गृहिणी हैं। आप विष्णु हैं जानकी लक्ष्मी हैं, आप शिव हैं जानकी शिवा हैं, आप ब्रह्मा हैं जानकी वाक् हैं, आप सूर्य हैं जानकी प्रभा हैं, आप चन्द्र हैं जानकी शुभलक्षणों वाली रोहिणी हैं, आप इन्द्र हैं सीता शची हैं, आप अग्नि हैं सीता स्वाहा हैं, आप कालरूप यम हैं सीता संयमिनी हैं, हे जगन्नाथ! आप निर्ऋति हैं सीता शुभलक्षणों वाली तामसी हैं, आप वरुण हैं जानकी भार्गवी हैं, आप वायु हैं सीता सदागति है, आप कुबेर हैं सीता सर्वसम्पत् हैं, आप लोकसंहारक रुद्र हैं सीता रुद्राणी हैं, संसार में जितने स्त्रीवाचक हैं वे जानकी हैं और पुंवाचक सब कुछ आप हैं। इसलिये प्रभो! तीनों लोकों में आप दोनों को छोड़ कर और कुछ नहीं है।"

अयोध्याकाण्ड में वामदेव कहते हैं—

एष रामः परो विष्णुरादिनारायणः स्मृतः।
एषा सा जानकी लक्ष्मी योगमायेति विश्रुता॥
असौ शेषस्तमन्वेति लक्ष्मणाख्यश्च साम्प्रतम्।
एष मायागुणैर्युक्तस्तत्तदाकारवानिव॥
एष एव रजोयुक्तो ब्रह्माऽभूद्विश्वभावनः।
सत्त्वाविष्टस्तथा विष्णुस्त्रिजगत्प्रतिपालकः॥
एष रुद्रस्तामसोऽन्ते जगत्प्रलयकारणम्।
एषा सीता हरेर्माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी॥[2]

"ये राम, पर, विष्णु और आदिनारायण हैं और ये वही जानकी लक्ष्मी और योगमाया है। अभी ये लक्ष्मण नाम से शेष उनके पीछे-पीछे चल रहे हैं। माया और गुण से युक्त होने के कारण इन्होंने ये रूप ग्रहण किये हैं। रजोयुक्त होने से ये ही विश्वस्रष्टा ब्रह्मा बने, सत्त्वाविष्ट होने से जगत्प्रतिपालक विष्णु और तामस होने से अन्त में जगत्संहारक रुद्र बने। यह सीता, सृष्टि, स्थिति और अन्तकारिणी भगवान् की माया है।"

१. नारदकृत रामस्तुतिः। अध्यात्मरामायण। अयोध्याकाण्ड। १. १०, १३-१६
२. तत्रैव। २. ५. ११-१४, २३।

भरत ने जब राम के लौटने के लिये बड़ा हठ किया तब वसिष्ट ने राम का संकेत पाकर एकान्त में भरत को समझाया -

रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा ।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः ॥
योगमायापि सीतेऽति जाता जनकनन्दिनी ।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा ॥[1]

"राम जो साक्षात् नारायण[2] हैं उनसे रावण वध के लिये ब्रह्मा ने प्रार्थना की। वे दशरथ के पुत्र बने हैं। योगमाया भी जनकपुत्री सीता बनी हैं। शेष भी लक्ष्मण बने हैं और सर्वदा राम के पीछे लगे रहते हैं।"

सृष्टेः प्रागेक एवासीर्निर्विकल्पोऽनुपाधिकः ।
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते ॥
त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा ।
अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः ॥
मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन ।
अविद्या संसृतिर्बन्ध इत्यादि बहुधोच्यते ॥
सृष्टिलीलां यदा कर्तुमीहसे रघुनन्दन ।
अङ्गीकरोषि मायां त्वं तदा वै गुणवानिव ॥[3]

"सृष्टि के पहिले कल्पना (रूप) और उपाधि (नाम) रहित केवल आप थे। आप पर आश्रित और आपका विषय माया शक्ति कहलाता है। निर्गुण आप (ब्रह्म) को जब माया ढंक लेती है तब वेदान्तवित् आपको अव्याकृत (नामरूप से पूर्ण) कहते हैं। मूल प्रकृति, माया, संसृति, बन्ध इत्यादि नाना प्रकार से (यह) कहा जाता है। रघुनन्दन ! जब आप सृष्टिलीला करना चाहते हैं, तो गुणवान् (सगुण, साकार) के रूप में माया को अङ्गीकार कर लेते हैं।"

कबन्धरूपी गन्धर्व राम से कहता है -

सूक्ष्मं ते रूपमव्यक्तं देहद्वयविलक्षणम् ।
दृग्रूपमितरत्सर्वं दृश्यं जडमनात्मकम् ॥
तत्कथं त्वां विजानीयाद् व्यतिरिक्त मनः प्रभो ।
हिरण्यगर्भस्ते सूक्ष्मं देहं स्थूलं विराट् स्मृतम् ॥

---

१. अध्यात्मरामायण। अयोध्याकाण्ड। २.९.४३, ४४।

२.क. नर(जीव)का समूह नार। नारशब्देन जीवानां समूहः प्रोच्यते बुधैः (पारमात्मिकोपनिषत्। प्रपाठक १)। उसका अयन अर्थात् आधार। जिसमें जीवों की उत्पत्ति स्थिति और लय हो उसे नारायण कहते हैं।

ख. आपो नारा इति प्रोक्ता। आपको नारा कहा गया है। आप शब्द का यहाँ वैदिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। वेद में आप का इतने अर्थों में प्रयोग होता है—आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम् —आप ज्योति रस, अमृत, ब्रह्म भूर्भुवः स्वः और ॐ है। यह अशेषकारणार्णव है। वह जिसका अयन अर्थात् निवासस्थान है। विष्णु के सगुणरूप का स्थित्याधार उसका अशेषकारण रूप है।

३. अध्यात्मरामायण। अरण्यकाण्ड। ३. २०-२२,३१।

भावनाविषयो राम सूक्ष्मं ते ध्यातृमङ्गलम् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च यत्रेदं दृश्यते जगत् ॥[१]

"आपके दो रूप अव्यक्त और सूक्ष्म अवर्णनीय हैं। और जो कुछ दिखाई पड़ता है वह जड़ है आत्मा नहीं। इसलिये प्रभो! मन को छोड़ कर आप और कैसे जाने जा सकते हैं। आपका सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ और स्थूल शरीर विराट्[२] कहलाता है। राम! आपका सूक्ष्म शरीर भावना का विषय है और ध्यान करनेवाले के लिये कल्याणकारी है। वही भूत, वर्तमान और भविष्य रूप है जिसमें यह जगत् दिखाई पड़ता है।"

राम के विराट् रूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

त्वमेव सर्वंकैवल्यं लोकास्तेऽवयवाः स्मृताः ।
पातालं ते पादमूलं पार्ष्णिस्तव महातलम् ।
रसातलं ते गुल्फौ तु तलातलमितीर्यते ।
जानुनी सुतलं राम ऊरू ते वितलं तथा ॥
अतलं च मही राम जघनं नाभिगं नभः ।
उरःस्थलं ते ज्योतींषि ग्रीवा ते मह उच्यते ॥
वदनं जनलोकस्ते तपस्ते शङ्खदेशगम् ।
सत्यलोको रघुश्रेष्ठ शीर्षण्यास्ते सदा प्रभो ॥
इन्द्रादयो लोकपालाः बाहवस्ते दिशः श्रुती ।
अश्विनौ नासिके राम वक्त्रं तेऽग्निरुदाहृतः ।
चक्षुस्ते सविता राम मनश्चन्द्र उदाहृतः ।
भ्रूभंग एव कालस्ते बुद्धिस्ते वाक्पतिर्भवेत् ॥
रुद्रोऽहंकाररूपस्ते वाचश्छन्दांसि तेऽव्यय ।
यमस्ते दंष्ट्रदेशस्थो नक्षत्राणि द्विजालयः ॥
हासो मोहकरी माया सृष्टिस्तेऽपांग मोक्षणम् ।
धर्मः पुरस्तेऽधर्मश्च पृष्ठभाग उदीरितः ॥
निमेषोन्मेषयो रात्रिर्दिवा चैव रघूत्तम ।
समुद्राः सप्त ते कुक्षिर्नाड्यो नद्यस्तव प्रभो ॥
रोमाणि वृक्षौषधयो रेतो वृष्टिस्तव प्रभो ।
महिमा [illegible] एवं स्थूलं वपुस्तव ॥[३]

"केवल आप ही सब कुछ हैं और लोक आपके अवयव कहे गये हैं। पाताल आपका चरण तल है, आपका पार्ष्णि (गुल्फ के नीचे का भाग) महातल और रसातल हैं, रसातल

१. तत्रैव। ६. ३१-३४।

२. विराट् शब्द वि उपसर्ग के साथ राज (राजृ दीप्तौ) धातु से बनता है। इसका अर्थ है विराजमान् अर्थात् जो विशेष रूप से दमकता हुआ रूप ग्रहण कर आँखों के सामने उपस्थित हो। जगत् के रूप में विभु के रूप का नाम विराट् है। विशेष विवरण के लिये वाक्प्रकरण देखिये।

३. अध्यात्मरामायण। १०१. ३६-४५।

आप के गुल्फ (छुट्टी) हैं। सुतल जान्नु, वितल और अतल उरु पृथ्वी जघन, आकाश नाभि ग्रहनक्षत्र उरुस्थल और मह ग्रीवा है। जनलोक मुख, तप ललाट और हे प्रभु रघुश्रेष्ठ ! सत्य लोक आपका मस्तक है। इन्द्रादि लोकपाल आपकी भुजाएं और दिशाएं कान हैं। दोनों अश्विनी कुमार नाक और अग्नि आप का मुख कहा गया है। सूर्य आँख और चन्द्रमा मन है। आपका भ्रूभङ्ग काल और बृहस्पति बुद्धि हैं। हे अव्यय ! रुद्र आपका अहंकार और वेद वाणी हैं। यम दाढ, तारे दाँत, मोहिनी माया हंसी और अपाङ्गचालन सृष्टि है। सामने का भाग धर्म और पश्चाद्भाग अधर्म है। हे रघूत्तम ! आँख का खोलना और बन्द करना दिन और रात हैं। प्रभो ! सात समुद्र आपका उदर और नदियाँ नसें हैं। प्रभो ! वृक्ष और बूटे रोम और वृष्टि आपका वीर्य है। ज्ञानशक्ति आपकी महिमा है। ऐसा आपका स्थूलरूप है।"

इस स्थूल रूप की कल्पना का उद्देश्य इस प्रकार बताया गया है—

यद्स्मिन् स्थूलरूपे ते मनः संधार्यते नरैः।
अनायासेन मुक्तिः स्यादतोऽन्यन्नहि किञ्चन॥
अतोऽहं राम रूपं ते स्थूलमेवानुभावये।
यस्मिन्ध्याते प्रेमरसः सरोमपुलको भवेत्॥
तदैव मुक्तिः स्याद्राम यदा ते स्थूलभावकः।
तदप्यास्तां तवैवाहमेतद्रूपं विचिन्तये॥[1]

"आपके इस स्थूलरूप में मन लगाने से लोग अनायास मुक्ति पा लेते हैं। इससे आगे और कुछ नहीं है। अतः राम ! मैं आपके स्थूल रूप की चिन्तना करता हूँ जिसके ध्यान से प्रेमरस की उत्पत्ति और रोमाञ्च होता है। आपके स्थूलरूप की भावनामात्र से मुक्ति होती है। वह भी दूर रहे, मैं तो आपके जिस स्थूलरूप की चिन्तना करता हूँ वह इस प्रकार है—

धनुर्बाणधरं श्यामं जटावल्कलभूषितम्।
[illegible]सं सीतां विचिन्वन्तं सलक्ष्मणम्॥
सर्वे ते मायया मूढास्त्वां न जानन्ति तत्त्वतः।
नमस्ते रामभद्राय वेधसे परमात्मने॥
अयोध्याधिपते तुभ्यं नमः सौमित्रि सेवित।
त्राहि त्राहि जगन्नाथ मां माया मावृणोतु ते॥[2]

"धनुर्बाण, जटा और वल्कल धारण किये हुए सीतालक्ष्मण सहित आपका मैं ध्यान करता हूँ। सभी आपकी माया के कारण मोह में पड़े हुए हैं और आपको तत्त्वतः नहीं जानते हैं। रामभद्र को प्रणाम। स्रष्टा परमात्मा को प्रणाम। लक्ष्मण से सेवित आपको प्रणाम। जगन्नाथ ! मेरी रक्षा करो, आपकी माया मुझे ढँक न ले।"

१. अध्यात्मरामायण। ३. ६. ४६-४८।
२. तत्रैव। ३. ६. ४९, ५४।

किष्किन्धाकाण्ड में वटुरूपहनुमान कहते हैं—

मायया मानुषाकारौ चरन्ताविव लीलया ।
नरनारायणौ लोके चरन्ताविव मे मतिः ।। [१]

"मुझे मालूम पड़ता है कि माया द्वारा मनुष्य रूप धारण कर नर (जीव) और नारायण (ब्रह्म) लीला के लिये घूम रहे हैं ।"

ये ही भाव अध्यात्मरामायण में बार-बार दुहराये गये हैं । [२] ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है शिव ही राम हैं और सीता काली हैं—

रामो ज्ञानमयः शिवः । [३]

कालो राघवरूपेण जातो दशरथालये ।
काली सीताभिधानेन जाता जनकनन्दिनी ।। [४]

"राम ज्ञानमय शिव हैं । (महा) काल रामरूप में दशरथ के घर उत्पन्न हुए हैं और काली सीता नाम से जनकपुत्री के रूप में उत्पन्न हुई हैं ।"

राम शब्द ॐकार का ही रूपान्तर है—

कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ।
नमो वेदादिरूपाय ॐकाराय नमोनमः ॥
रमाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥ [५]

"इच्छारूपधारी मायामय राम को प्रणाम । वेदादिरूप ॐकार को नमोनमः । आत्मस्वरूप श्रीधर राम को प्रणाम ।"

ॐकार के समस्त रूप ॐ और व्यस्त रूप अ, उ, म की तरह राम और इसका व्याकृत रूप र, अ, म ब्रह्म के समस्त और व्यस्त रूप के वाचक हैं । ॐकार का रामशक्तिव्यूह के रूप में विवरण इस प्रकार है—

अकाराद्भवद्ब्रह्मा जाम्बवानिति संज्ञकः ।
उकाराक्षरसम्भूत उपेन्द्रो हरिनायकः ॥
मकाराक्षरसम्भूत शिवस्तु हनुमान्स्मृतः ।
बिन्दुरीश्वरसंज्ञस्तु शत्रुघ्नश्चक्रराट् स्वयम् ॥
नादो महाप्रभुर्ज्ञेयो भरतः शङ्खनामकः ।
कलायाः पुरुषः साक्षाल्लक्ष्मणो धरणीधरः ॥
कलातीता भगवती स्वयं सीतेति संज्ञिता ।
तत्परः परमात्मा च श्रीरामः पुरुषोत्तमः ॥
ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् ॥ [६]

---

१. तत्रैव । ४. १. १४, १६ ।
२. तत्रैव । किष्किन्धाकाण्ड । ७. १६. १८ ।, युद्धकाण्ड । ७.३४, ३५; ४.४० ।
३. तत्रैव । ६.७.६८ ।
४. तत्रैव । ६.२.३४, ३५ ।
५. राम पूर्वतापिन्युपनिषत् । श्लोक १२, १३ ।
६. तारसारोपनिषत् ।

"ॐकार के अकार से ब्रह्मा जाम्बवान् नाम से हुए, उकार अक्षर से विष्णु सुग्रीव बन कर उत्पन्न हुए, मकाराक्षर से शिव हनुमान रूप से उत्पन्न हुए, ईश्वर नामक बिन्दु स्वयं-चक्रराट् शत्रुघ्न हुए। नादको महाप्रभु शङ्ख नामक भरत जानना चाहिए। कलापुरुष धरणी धर (शेष) साक्षात् लक्ष्मण हैं। कलातीता स्वयं भगवती का नाम सीता है। इन सब के कारण (तत्परः) परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीराम हैं। अविनाशी ॐ यह सब कुछ है।"

इसी भाव को आगे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

अकारवाच्यः ब्रह्मस्वरूपा जाम्बवान् १, उकारवाच्य उपेन्द्रस्वरूपो हरिनायकः २, मकार-वाच्यः शिवस्वरूपो हनुमान् ३, बिन्दुस्वरूपशत्रुघ्नः ४, नादस्वरूपो भरतः ५, कलास्वरूपो लक्ष्मणः ६, कलातीता भगवती सीता चित्स्वरूपा ७, ॐ यो ह वै श्री परमात्मा नारायणः स भगवांस्तत्परः परमपुरुषः पुराणपुरुषोत्तमो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमा[illegible]परिपूर्णः परमात्मा ब्रह्मैवाहं रामोऽस्मि भूर्भुवः सुवस्तस्मै नमोनमः।[1]

अकार से जिनका बोध होता है वे ब्रह्म जाम्बवान् हैं, उकार [illegible] कपिनायक सुग्रीव का बोधक है, मकार शिवस्वरूप हनुमान् का बोधक है। बिन्दुरूप शत्रुघ्न हैं, नादरूप भरत हैं, कला (प्रकृति-सृष्टि) रूप लक्ष्मण हैं, कला से भी आगे चेतना रूपी भगवती सीता हैं। ॐ जो श्री परमात्मा, नारायण, भगवान, तत्स्वरूप, परमपुरुष, पुराण पुरुषोत्तम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परम, अनन्त, एक (अद्वय), परिपूर्ण, परमात्मा, ब्रह्म राम मैं हू। भूः भुवः स्वः स्वरूप उसे अनेक प्रणाम।

राम पञ्चायतन भी ॐकार का स्वरूप है—

अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥
प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः।
अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥
श्रीरामसा[illegible]कारिणी ।
उत्पत्तिस्थिति संहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता।
प्रणवत्वात्प्रकृतिरितिवदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥[2]

अकार से विश्वरूप लक्ष्मण, उकार से तैजस् रूप शत्रुघ्न और मकार से प्राज्ञ रूप भरत उत्पन्न हुए। ब्रह्मानन्दरूप राम अर्धमात्रा हैं। श्रीराम के निकट रहने के कारण, जगत् के आधार स्वरूप, सारी सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति-संहार करनेवाली मूल प्रकृति सीता हैं। प्रणव रूप होने के कारण ब्रह्मवादी इन्हें प्रकृति भी कहते हैं।"

मानस रामायण के बालकाण्ड में तुलसीदास ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है—

बन्दौं राम नाम रघुबर के। हेतु कृसानु भानु हिमकर के ॥
बिधि हरिहरमय बेदप्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो ॥
महामन्त्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू ॥[3]

---

१. तारसारोपनिषद्।
२. रामोत्तरतापिन्युपनिषत्।
३. तुलसीकृत मानस रामायण। बालकाण्ड।

'रघुवर के राम नाम की मैं वन्दना करता हूँ जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का हेतु है। यह ब्रह्मा, हरि और हर है और वेद का प्राण है। यह अगम्य (अज्ञेय) अनुपम और सभी गुणों (सत्त्व, रज, तम) का आश्रय है। यह वह महामन्त्र है जिसे महेश सर्वदा जपते रहते हैं और उपदेश देते हैं कि काशी मुक्ति का कारण है।'

उन्होंने राम को ब्रह्म, सीता को माया और लक्ष्मण को जीव कहा है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजति पालति हरति पुनि रुख पाइ कृपानिधान की ॥[1]

"वेद के सेतु का पालन करनेवाले राम! आप जगदीश हैं और जानकी माया हैं, जो कृपानिधान का रुख देखकर सृष्टि, पालन और हरण करती रहती हैं।"

उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥[2]

"दोनों (राम लक्ष्मण) के बीच सीता कैसी शोभा पाती हैं जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया हो।"

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के ॥
बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज संघाती ॥
नर नारायण सरिस सुभ्राता। जनपालक विशेष जनत्राता ॥[3]

"राम और लक्ष्मण तुलसी दास को एक-से प्रिय हैं। इनके विषय में कहना, सुनना, स्मरण करना सुन्दर और अच्छा लगता है। अक्षरों का वर्णन करने में प्रेम बढ़ने लगता है। ब्रह्म-जीव की तरह इन दोनों का स्वाभाविक साथ है। नर-नारायण की तरह दोनों प्रिय भाई हैं। लोगों के पालक और विशेष कर भक्तों के रक्षक हैं।"

तुलसीकृत सम्पूर्ण रामायण राम की ब्रह्मभावना से ओतप्रोत हैं। वे राम को निर्गुण ब्रह्म और सगुण रूप में राजा राम को अपना उपास्य मानते हैं और साकार निराकार रूप में कोई भेद नहीं मानते।

उपनिषत् में शिवोमाराममन्त्रद्वारा शिव और राम के एक ही रूप, में पुरश्चरण का विधान है। उसमें राम का ध्यान इस प्रकार है—

रामं त्रिनेत्रं सोमार्द्धधारिणं शूलिनं परम्।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं कपर्दिनमुपास्महे ॥
रामाभिरामां सौन्दर्यसीमां [illegible]म्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरां ध्यायेत्त्रिलोचनाम् ॥[4]

"त्रिनेत्रवाले, अर्द्धचन्द्र और शूलधारी, पर (कारणस्वरूप) भस्मभूषित सर्वाङ्ग राम-कपर्दी की मैं उपासना करता हूं।

---

१. तत्रैव। अयोध्याकाण्ड।
२. तत्रैव। अयोध्याकाण्ड।
३. तुलसीकृत मानस रामायण। बालकाण्ड। दोहा १६।
४. रामरहस्योपनिषत्। अध्याय २।

सौन्दर्य की सीमा, चन्द्र का कर्णभूषणवाली, पाश-अङ्कुश-धनुर्बाण-धारिणी, तीन नेत्रोंवाली रामप्रिया (सीता) का ध्यान करे।"

रामशक्तिव्यूह के प्रसंग में एक कथा कही जाती है कि शङ्ख और चक्र विष्णु के हाथ में रहते हैं। उन्हें गर्व हुआ कि भगवान हमारे ही बल से राक्षसों का संहार करते हैं। माया पैरों के पास बैठी रहती हैं और शेष को पैर की ठोकर लगती रहती है। इसलिये उनके मन में ऐसा अहंकार नहीं हुआ। इसलिये रावणादि के वध के लिये वन जाते समय भगवान ने शङ्ख (भरत) और चक्र (शत्रुघ्न) को साथ नहीं लिया।

प्रतीक रूप में राम ब्रह्म हैं, सीता माया हैं, लक्ष्मण जीव हैं, भरत शङ्ख (शब्दब्रह्म) और शत्रुघ्न चक्र हैं। विष्णुवत् पीताम्बर दिक् है, धनुष काल है और इससे जितने बाण निकलते हैं वे घड़ी, घंटा, पल, दिन, रात आदि हैं।

लव निमेष परमाणु युग, बर्ष कल्प सर चण्ड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु कोदण्ड ॥[1]

"लव, निमेष भर, युग, वर्ष, कल्प ये जिनके भयङ्कर बाण हैं, हे मन! उन राम का भजन क्यों नहीं करते, काल जिनका धनुष है।"

इतना विवेचन करने के पश्चात् रावण का स्वरूप आप से आप स्पष्ट हो जाता है। रावण शब्द रु धातु से बनता है। इसका अर्थ है शब्द करना। जो हल्ला वा घोरशब्द करता हो वह रावण है। जो स्वयं शब्द करे वा दूसरों से शब्द करावे वह रावण है। जो गर्व से उन्मत्त होकर स्वयं शब्द करता है और अपने साथियों में दम्भ भर कर उनसे, अथवा कष्ट पहुँचा कर दूसरों से शब्द कराता है वह रावण है।

सृष्टि के आदिरूप माया के दो रूप कहे गये हैं—विद्यामाया और अविद्यामाया। विद्यामाया आनन्द और मोक्ष प्रदान करती है और अविद्या माया कष्ट तथा बन्धन का कारण है। मोह, मदादि इस अविद्या के नाना रूप हैं। प्रभु इनका नाश कर जगत् वा बद्ध जीवों का उद्धार करते हैं। जगत् के सभी रूपों के अन्तर्गत यही सिद्धान्त हैं। जीव के बन्धन का कारण मोह है और विश्वव्यापी अविद्या वा मोह का नाम महामोह है। ब्रह्म प्रतीकों के थ यही महामोह नाना रूप से सम्बद्ध रहता है। जो महामोह विष्णु का हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, शिव का त्रिपुर, अन्धक और गजासुर, तथा दुर्गा का महिष, चण्ड-मुण्ड, शुम्भनिशुम्भादि है वही राम का रावण-कुम्भकर्ण, कृष्ण का कंस-शिशुपाल और भगवान् बुद्ध का मार है। अविद्या अर्थात् प्रचण्ड महामोह की विश्वव्यापी शक्ति और प्रभाव ही रावण के दशमुख हैं जो दशों दिशाओं में व्याप्त हैं। यह महामोह के सर्वव्यापित्व का लक्षण है।[2]

राजा राम और ब्रह्म राम का सामञ्जस्य इस प्रकार दिखाया गया है—

राम सकुल रन रावन मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा।
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती ॥[3]

---

१. मानस रामायण। लंकाकाण्ड। मङ्गलाचरण।

२. रावण के ऐतिहासिक रूप का विवेचन नर-राम प्रकरण में आगे किया जायगा।

३. मानस रामायण। बालकाण्ड।

"राम ने कुल समेत रावण को मार डाला और सीता जी के साथ अपनी नगरी में लौट आये। सेवक प्रेमसहित नाम का स्मरण कर अनायास मोहसमूह को जीत लेता है।"

मानस रामायण में राम कथा के प्रतीकों का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
ऋषि हित राम सुकेतु सुताकी। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा॥
भंज्यो राम आप भव चापू। भवभय भंजन नाम प्रतापू॥
दण्डक वन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किय पावन॥
निशिचर निकर दले रघुनन्दन। नाम सकल कलिकलुष निकन्दन॥
शबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुणगाथ॥
राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं। करहु विचार सजन मन मांही॥

एतदनुसार अहल्या दुष्ट दुर्बुद्धि है, ताड़का, मारीच, सुबाहु और उसकी सेना, दोष दुख और दुराशा है, महादेव का धनुष संसार का भय है, दण्डक वन भक्तों का हृदय है, राक्षसों का दल कलिकलुष है, शबरी जटायु आदि असंख्य पतित जीव हैं और सागर, जिस पर सेतु बनाया गया है, भवसिन्धु है।

नर राम

इतना विवेचन हो जाने पर यह प्रश्न उठता है कि राम केवल काल्पनिक पुरुष हैं अथवा दशरथनन्दन अयोध्यापति राम कोई राजा हुए हैं। यदि ये कोई राजा हुए तो फिर ये ब्रह्म कैसे हुए।

हम कह चुके हैं कि भारतीय धर्मग्रन्थों और परम्परा में ऐसी ख्याति है और लोगों का विश्वास है कि ब्रह्म अपनी इच्छा से कोई भी रूप धारण कर सकते है। साधारण जीवों जैसा रूप रहने पर भी, जीवों की तरह उन पर कर्मबन्धन नहीं रहता। अपनी इच्छा से वे प्रकट होते हैं और तिरोहित हो जाते हैं। माया का आवरण अपने ऊपर डाल कर वे रूप ग्रहण करते हैं। जो मायाग्रस्त अर्थात् काम क्रोधादि के वश में हैं, वे उसके उस आवरण के भीतर वाले सच्चे रूप को देख नहीं सकते, किन्तु जो आत्मशक्ति के विकसित रहने के कारण माया के भीतर देख सकते हैं वे उन्हें पहचान कर जीवन को सार्थक समझते हैं। कैकेयी मन्थरादि ने राम को घर से निकाल दिया और राक्षसों ने मारडालने की चेष्टा की, क्योंकि उन्होंने उनके यथार्थरूप को नहीं पहचाना। किन्तु ऋषिमुनिगण उनके इस माया के आवरण वाले रूप को देख कर चकित और मुग्ध हो गये और इनका ध्यान और पूजन कर उन्होंने अपने को कृतकृत्य समझा। सभी अवतारों के अन्तर्गत ये ही सिद्धान्त हैं।

चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति नेतरेऽविद्विषो जनाः।

"आँखोंवाले देख सकते हैं, अन्य अज्ञ लोगों को सूझता ही नहीं है।"

भगवान् श्री रामचन्द्र के ऐहिक अस्तित्व के विषय बहुत से युरोपीय विद्वानों ने नाना प्रकार की अटकलें लगाने की चेष्टा की है और सिद्ध करना चाहा है कि श्रीराम नामक कोई ऐतिहासिक पुरुष हुए ही नहीं, और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातें काल्पनिक और निराधार हैं। अपने-अपने समाज और सभ्यता के अनुसार किसी वस्तु को देखने की, प्रत्येक जाति और व्यक्ति की अपनी-अपनी आँखें होती हैं। कोई विदेशी, जिसका भारतीय सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह भारतीय विचारधारा की सूक्ष्मताओं को समझ लेगा, ऐसा सोचना बेढंगी बात है। संस्कृत साहित्य से पूर्ण परिचय नहीं रहने से, भारतीय सभ्यता की गूढ़ता नहीं समझ सकने के कारण, उनमें ऐसी भ्रान्ति का होना स्वाभाविक है। उनकी तीसरी कठिनाई है उनके पठन-पाठन की विचित्र पद्धति। किसी वस्तु को तोड़-फोड़ कर विश्लेषणात्मक रीति और आधुनिक इतिहास की पद्धति से छान कर वे 'विशेष अध्ययन'' द्वारा सत्य तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं। इस पद्धति से उन्होंने राम कृष्णादि को ही नहीं, ख्रिस्त के अस्तित्व को भी उड़ा दिया।[1] जड़ विज्ञान के अध्ययन में यह पद्धति काम कर सकती है, पर विचार और सभ्यता के अध्ययन के लिये यह घातक है। यह उनका नहीं, उनकी दूषित पठन-पाठन की पद्धति का परिणाम है। सारांश यह, कि भारतीय विषयों में उनके कथनों को जाँचने की आवश्यकता है। उन्हें वेदवाक्य की तरह स्वीकार कर लेना ठीक नहीं।

रावण के दशमुख और बीस भुजाएँ, हनुमान का समुद्र लाँघना, बन्दरों का पहाड़ उठाना, समुद्र पर पुल बनाना, आदि को पढ़ कर, ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है कि ये कविकल्पनाएँ हैं और इनके भीतर कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है।

रामकथा इतनी पुरानी है कि इसके काल का अब तक निर्णय नहीं हो सका है और न इसकी सम्भावना है। वाल्मीकिरामायण रामकथा पर आश्रित आदिकाव्य है। जर्मन विद्वान् हर्मन् याकोबी का कहना है कि इसका भी रचना काल विक्रम से पूर्व ६०० वर्ष से इधर नहीं हो सकता। इतने दीर्घकाल में रामकथा का अवलम्बन कर कितनी रचनाएँ हुईं अथवा वाल्मीकि रामायण में ही कितने प्रक्षेप हुए और मूलकथा में कितने परिवर्तन हुए इसका निर्णय करना असम्भव है। इतना होने पर भी रामकथा के ऐतिहासिक तथ्यों का सर्वथा लोप न हो सका है। वे अब भी वाल्मीकिरामायण में पाये जाते हैं।

रावण

इस पर विचार हो चुका है कि ब्रह्म र·· सर्वव्यापी प्रबल अविद्या और उसके परिवार का किस प्रकार नाश करते हैं। किसी ·स्तु के सर्वव्यापित्व का बोध कराने के लिये

---

१. एनसाइक्लोपाडिया ब्रिटेनिका, ११वाँ संस्करण। यीसूख्रिस्त पर लेख देखिये। लेखक ने सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ख्रिस्त नामक कोई पुरुष हुए ही नहीं। यीसूख्रिस्त किसी का नाम नहीं है यह ज्ञानी ऋषि जैसा उपाधिमात्र है।

उसको चतुःशीर्षा, दशशीर्षा वा सहस्रशीर्षा कहना स्वाभाविक है। रावण का दशमुखत्व इसी सर्वव्यापित्व का बोधक है। जब मुख दश हुए तो भुजाएँ स्वतः बीस हो जाती हैं। यह रूपकल्पना साधकों ने परमार्थसिद्धि के लिये की।

रामकथा के लौकिक रूप में रावण के एक ही मुख और दो भुजाओं आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। रामकथा के आदिग्रन्थ वाल्मीकि-रामायण में रावण के एक शिर, दो आखें, दो कान, दो भुजाओं आदि का उल्लेख है।

एक मुख

हनुमान् सीता को खोजते हुए रावण के शयनगृह में गये। वहाँ उन्होंने देखा—

तस्य राक्षसराजस्य निश्चक्राम महामुखात्।
शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव तद्गृहम्॥
मुक्तामणिविचित्रेण काञ्चनेन विराजता।
मुकुटेनापवृत्तेन कुण्डलोज्ज्वलिताननम्॥ [1]

"उस सोये हुए राक्षसराज के बहुत बड़े मुख से निःश्वास निकला जिससे सारा कमरा भर-सा गया। कुण्डलों से उसका मुख चमक रहा था। विचित्र मुक्तामणि वाला उसका मुकुट उससे हटा लिया गया था।"

यहाँ मुखात्, मुकुटेन और आननम् शब्दों का प्रयोग एक वचन में किया गया है।

राम का जब रावण से युद्ध होने लगा तब राम ने कहा—

अद्य ते मच्छरैश्छिन्नं शिरोज्वलितकुण्डलम्।
क्रव्यादा व्यपकर्षन्तु विकीर्णं रणपांसुषु॥ [2]

"आज मेरे बाणों से कटा हुआ और कुण्डलों से चमकता हुआ तेरा शिर रणभूमि में मांसभक्षी जीव घसीटें।"

यहाँ शिरः और उसके विशेषण छिन्नम् और ज्वलितकुण्डलम् का एक वचन में प्रयोग हुआ है।

रावण के मारे जाने पर उसकी स्त्रियों में से कोई मूर्छित हो गई और कोई अपनी गोद में उसका शिर रखकर मुख देख-देखकर रोने लगी—

हतस्य वदनं दृष्ट्वा काचिन्मोहमुपागमत्।
काचिदङ्के शिरः कृत्वा रुरोद मुखमीक्षती॥ [3]

यहाँ वदनम्, शिरः और मुखम् का एकवचन में ही प्रयोग हुआ है।

मरे हुए रावण को विभीषण ने देखा कि सूर्य की तरह चमकता हुआ उसका मुकुट गिर गया है—

मुकुटेनापवृत्तेन भास्कराकारवर्चसा॥ [4]

---

१. रामायण। सुन्दरकाण्ड। १०. २४, २५
२. रामायण। युद्धकाण्ड। १०३. २०
३. रामायण। युद्धकाण्ड। ११०.१०
४. तत्रैव। युद्धकाण्ड। १०६.३

यहाँ मुकुटेन और उसके विशेषण अपवृत्तेन का प्रयोग एक वचन में हुआ है।

मृत रावण को देखकर मन्दोदरी कहती है —

> हा राजन् सुकुमारं ते सुभ्रु सुत्वकसमुन्नतम्।
> कान्तिश्रीद्युतिभिस्तुल्य [illegible]ः॥
> किरीटकूटोज्ज्वलितं ताम्रास्यं दीप्तकुण्डलम्।
> म[illegible]लोचनं भूत्वा यत्पानभूमिषु॥
> विविधस्रग्धरं चारु वल्गुस्मितकथं शुभम्।
> तदेवाद्य तवैवं हि वक्त्रं न भ्राजते प्रभो॥
> रामसायकनिर्भिन्नं रक्तं रुधिरविस्रवैः॥
> विशीर्णमेदोमस्तिष्कं रूक्षं स्यन्दनरेणुभिः॥[१]

"हा राजन्! आपका सुकुमार, सुन्दर भौंह और चर्मवाला पुष्ट कुण्डल और मुकुट से जगमगाता हुआ मुख, जो कान्ति श्री और द्युति में चन्द्र, पद्म और सूर्यतुल्य था, पानगृह में जिसकी आँखें मद से व्याकुल होकर घूमती थी, जिस पर नाना प्रकार की मालाएँ पड़ी रहती थीं और मन्द मुसकान के साथ जिससे सुन्दर बातें निकलती थीं, प्रभो! आज आपका वह मुख शोभाविहीन हो गया। आज वह राम के बाणों से छिन्न-भिन्न हो गया है, उससे रक्त स्राव हो रहा है, उससे मेद और मस्तिष्क निकल पड़े हैं और रथों की धूल से वह रूखा हो गया है।"

इसमें मुखवाची आस्यम् और वक्त्रं का तथा इनके विशेषणों का सर्वत्र एकवचन में ही प्रयोग हुआ है।

द्विनेत्रत्व

अशोकवन में रावण के प्रेमप्रस्ताव करने पर सीता ने रावण को कठोर वचन कहे। इस पर क्रुद्ध होकर रावण ने उनकी ओर देखा।

> सीताया वचनं श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः।
> विवृत्य नयने क्रूरे जानकीमन्ववैक्षत[२]

यहाँ 'नयने' और इसके विशेषण क्रूरे' का द्विवचन में प्रयोग हुआ है।

महावीर ने अशोकवन का ध्वंस कर दिया। यह समाचार जब रावण को मिला तो वह आग में डाले हुए घी की तरह क्रोध से जल उठा। क्रोध के मारे उसकी आँखों से आँसू की बूँदें टपकने लगीं। मालूम होता था कि दीप से तेल की जलती हुई बूँदें टपक रही हैं—

> राक्षसीनां वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
> हुताग्निरिव जज्वाल कोपसंवर्तित[illegible]ः॥

---

१. तत्रैव। युद्धकाण्ड। १२१.३४-३७।
२. तत्रैव। सुन्दरकाण्ड। २२.२३।

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुबिन्दवः
दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः [१]

यहाँ विशेषण समेत 'नेत्राभ्याम्' के द्विवचन में प्रयुक्त होने से स्पष्ट है कि रावण की दो ही आँखें थीं।

द्विकर्णत्व

अशोकवन में सीता के कर्कश वचनों को सुनकर रावण अशोकवन में क्रोध से तनकर खड़ा हो गया—

तरुणादित्यवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विभूषितः।
रक्तपल्लवपुष्पाभ्यामशोकाभ्यामिवाचलः॥ [२]

"बालसूर्य के वर्णवाले कुण्डलों से वह विभूषित था। वह उस पर्वत-जैसा मालूम होता था जो लाल फूल और पत्तों वाले दो अशोक से विभूषित हो।"

यहाँ 'कुण्डलाभ्याम्' का और इसके विशेषण 'तरुणादित्यवर्णाभ्याम्' का द्विवचन में प्रयोग हुआ है। इससे उसके दो कानों में दो कुण्डलों का होना स्पष्ट है।

द्विभुजत्व

सीता की खोज में हनुमान् ने रावण के शयनगृह में प्रवेश किया और सोये हुए रावण को देखा—

काञ्चनाङ्गदसन्नद्धौ ददर्श स महात्मनः।
विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजाविन्द्रध्वजोपमौ॥
ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ।
मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महाही रुषिताविव॥
ताभ्यां स परिपूर्णाभ्यामुभाभ्यां राक्षसेश्वरः।
शुशुभेऽचलसंकाशः शृङ्गाभ्यामिव मन्दरः॥ [३]

"उन्होंने महात्मा राक्षसेन्द्र की सोने के अङ्गद वाली पड़ी हुई दो भुजाओं को देखा जो इन्द्रध्वज की तरह पड़ी हुई थीं।

कपि ने पलँग पर पड़ी हुई उसकी दो भुजाएं देखीं जो मन्दर के पार्श्व में पड़े हुए और फुफकारते हुए दो अजगर की तरह मालूम होती थीं। उन दोनों पुष्ट भुजाओं के कारण राक्षसेश्वर पर्वत की तरह मालूम होता था। मानो मन्दर पहाड़ और उसके दो शृङ्ग हों।"

---

१. वाल्मीकि रामायण। सुन्दर काण्ड। ४२. २२, २३।
२. तत्रैव। २२.२८।
३. तत्रैव। १०.१५.२१, २२।

यहाँ 'भुजौ' और 'बाहू' का और सभी विशेषणों का द्विवचन में प्रयोग हुआ है। यदि रावण की बहुत-सी भुजाएँ होतीं तो जातिवाचक एकवचन अथवा संख्यावाचक बहुवचन का प्रयोग होता, द्विवाचक द्विवचन का नहीं।

रावण के मर जाने पर शोकसंतप्त विभीषण ने उसकी दोनों भुजाएँ अपने हाथों में ले लीं—

उत्क्षिप्य दीर्घौ निश्चेष्टौ भुजावङ्गदभूषितौ ॥[1]

"अङ्गद से विभूषित निश्चेष्ट लम्बी भुजाएँ उठा लीं।"

यहाँ पर भी "भुजौ" और इसके विशेषणों का द्विवचन में प्रयोग हुआ है।

रावण की स्त्रियों में से भी कोई-कोई भुजाओं को उठाकर भूमि पर उलट-पुलट रही थी।

उत्क्षिप्य च भुजौ काचिद्भूमौ सुपरिवर्तते ॥[2]

यहाँ भी "भुजौ" का द्विवचन में प्रयोग हुआ है।

वाल्मीकि रामायण पर तिलक नामक सुप्रसिद्ध टीका लिखी गई है। 'ददर्श स कपिस्तस्य' इत्यादि पर टीका करते समय टीकाकार ने लिखा है—

अत्र द्विभुजत्वकथनाद्युद्धादि काल एव विंशतिभुजत्वं दशशीर्षत्वञ्चेति बोध्यम्।

"यहाँ दो ही भुजाओं के कथन से केवल युद्धकाल में ही दश शिर और बीस भुजाएँ जाननी चाहिएँ।"

रावण के दशशिरत्व और विंशतिभुजत्व का इतना प्रचार हो चुका था कि तिलक टीकाकार घबड़ा गया और उसने इस प्रकार व्याख्या की। पर यह व्याख्या भी ठीक नहीं बैठी। युद्धकाल में भी राम ने रावण के एक ही शिर का निर्देश किया। यदि रावण के दश शिर रहते तो राम कहते कि तुम्हारे सभी मस्तकों को काट डालूँगा, केवल एक को काटूँगा ऐसा नहीं कहते।

ऐसा मालूम पड़ता है कि जन साधारण में राम के नर-रूप का प्रचार था और ब्रह्मज्ञानी परमार्थसिद्धि के लिये उनके नारायण-रूप का ध्यान करते थे जिसमें विश्वव्यापी महामोह को महापराक्रमी और अधर्मी दशमुख रावण कहा जाता था। पीछे जब रामकथा के दोनों ही रूपों का प्रचार होने लगा और चमत्कारपूर्ण पौराणिक शैली चल पड़ी, तब नर-नारायण रूप को एक कर देने का प्रयत्न किया गया और नर-नारायण राम तथा एकमुख और दशमुख रावण को मिलाकर एक कर दिया गया। जब तक पुराणों का समाज पर प्रभाव रहा तब तक किसी के हृदय में कोई सन्देह नहीं उठा, किन्तु आज की आलोचना पद्धति से अध्ययन करनेवालों को रामकथा मनगढ़न्त गप्प-जैसी मालूम पड़ती है। किन्तु भारतीय जीवन में और साधना-पद्धति में राम का नर-नारायणत्व और रावण का एकमुखत्व और दशमुखत्व ज्वलन्त सत्य है, जिसके द्वारा लोग लोक और परलोक दोनों को ही सुधारते हैं।

---

१. वाल्मीकि रामायण। युद्धकाण्ड। १०९.२

२. तत्रैव। ११०.१

सागर संतरण

हनुमान् समुद्र को तैरकर लंका गये थे लांघ कर नहीं। वाल्मीकि रामायण में इसका विस्तृत विवरण है। लंका के लिये हनुमान् के प्रस्थान करने के समय लोग कहते हैं—

एष पर्वतसंकाशो हनूमान् मारुतात्मजः।
तितीर्षति महावेगः समुद्रं वरुणालयम् ॥
यं यं देशं समुद्रस्य जगाम स महाकपिः।
स तु तस्याङ्गवेगेन सोन्माद इव लक्ष्यते ॥
सागरस्योर्मिजालानामुरसा शैलवर्ष्मणा।
अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ॥
विकर्षन्नूर्मिजालानि बृहन्ति लवणाम्भसि।
पुप्लुवे कपिशार्दूलो विकिरन्निव रोदसी ॥
येनासौ याति बलवान् वेगेन कपिकुञ्जरः।
तेन मार्गेण सहसा द्रोणीकृत इवार्णवः ॥
आपाते पक्षिसंघानां पक्षिराज इव व्रजन्।
हनूमान् मेघजालानि प्रकर्षन् मारुतो यथा ॥
प्रविशन्नभ्रजालानि निपतंश्च पुनः पुनः।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव लक्ष्यते ॥ [1]

यह पर्वताकार और बड़े वेगवाले मरुत्पुत्र हनुमान् वरुणालय समुद्र को तैर जाना चाहते हैं। महाकपि समुद्र के जिन भागों से होकर गये वे उनके अङ्ग के वेग से पागल जैसे मालूम होते थे। चट्टान की तरह चौड़ी छाती से सागर के तरङ्गों पर आघात करते हुए वे बड़े वेग से तैरकर जाने लगे। लवण महासागर में सागर के तरङ्गों को खींच कर आकाश की ओर फेंकते हुए-से कपिशार्दूल तैरने लगे। ये बलवान् कपिकुञ्जर वेग से जिस मार्ग से जाते हैं उसमें समुद्र, सहसा, दोने की तरह बन जाता है। जिस तरह आकाश मार्ग में पक्षिराज चलते हैं अथवा मेघसमूह को छिन्न-भिन्न करता हुआ वायु चलता है उसी तरह हनुमान् जा रहे थे। वार-वार छिपते और प्रकट होते हुए हनुमान्, बादल में छिपते और प्रकट होते हुए चन्द्रमा की तरह मालूम होते थे।"

जब हनुमान् लङ्का से लौट आये तो लोगों ने कहा—

हनुमान् पुप्लुवे तूर्णं महानौरिव सागरम्।
अपारमपरिश्रान्तश्चाम्बुधिं समगाहत ॥ [2]

"हनुमान् अपार सागर को, महानौका की तरह, झट से पार कर गये और कुछ भी नहीं थके।"

१. वाल्मीकि रामायण। सुन्दरकाण्ड १.२६, १.६६, ७०, ७२, ७३, ८१, ८३।
२. तत्रैव। ५७-४।

हनुमान् जब किनारे लग रहे थे तब उनके हाथों और जंघाओं के वेग का पानी में शब्द, और उत्साह का गर्जन सुनकर बन्दर बड़े प्रसन्न हुए और जहां-तहां उछलने-कूदने लगे—

तस्य बाहूरुवेगं च निनादं च महात्मनः ।
निशम्य हरयो हृष्टा समुत्पेतुर्यतस्ततः ॥ [1]

लङ्का से लौटकर हनुमान श्रीराम से मिलने गये। उस युग के वीराग्रणी महापराक्रमी योद्धा भगवान् श्रीरामने भी कहा —

कृतं हनुमता कर्म सुमहद्भुवि दुर्लभम् ।
मनसापि यदन्येन न शक्यं धरणीतले ॥
न हि तं परिपश्यामि यस्तरेत महोदधिम् ।
अन्यत्र गरुडाद्वायोरन्यत्र च हनूमतः ॥ [2]

"हनुमान ने ऐसा काम किया जो इस भूमण्डल पर दुर्लभ है। इस पृथ्वी तल पर कोई इस बात को मन में भी नहीं ला सकता है। गरुड़, वायु और हनुमान को छोड़कर ऐसा तो कोई नहीं दीख पड़ता जो समुद्र तैर जाय।"

श्रीराम-जैसे महापराक्रमी वीर भी हनुमान के दुःसाहसिक कार्य को देखकर चकित हो गये। तिमि, तिमिङ्गिल, मकर (शार्क), अष्टापद (औक्टोपस), समुद्री सर्प आदि भयंकर जीवों से भरे हुए समुद्र में तैरना, मृत्यु के जबड़े में घूमने के समान था। महावीर हनुमान् ने इसकी कोई गणना न की और समुद्र तैर गये। संसार के इतिहास में समुद्र संतरण—जैसे महासाहस के काम की यह सर्वप्रथम घटना है जो भारतवर्ष में हुई और जिसे महाबली वज्राङ्ग वीर ने किया।

सेतु निर्माण

समुद्र का तैर जाना या उस पर पुल बाँधना सम्भव था या नहीं यह भी विचारणीय है।

लंका और भारत के बीच ५८ मील समुद्र है। ३५ मील तक मनार और रामेश्वर के टापू हैं और केवल २३ मील समुद्र बच रहता है, जिसका जल बहुत छिछला है। समुद्र के इस अंश में मूंगा की चट्टानें हैं, जिनसे भारत लंका से प्रायः मिला हुआ है। उक्त चट्टानों के बीच कहीं भी इतना जल नहीं है, जिससे कोई बड़ा जहाज निकल सके। लंका को रेल द्वारा भारत के साथ जोड़ देने के लिये अंग्रेजों ने सर्वे (नाप जोख) की थी, जिसके अनुसार ३५ मील रेल मनार तथा रामेश्वर के टापुओं पर, २२ मील रेल उक्त मूंगा वाली चट्टानों पर और केवल १ मील रेल मनार की खाड़ी पर, जिसमें बहुत कम जल रहता है, अर्थात् कुल ५८ मील रेल बनाने की योजना की गई थी।

---

१. तत्रैव—५७-२४।
२. वाल्मीकि रामायण। युद्धकाण्ड। १,२,३।

इस पर निम्नलिखित उद्धरण पठनीय है—

It (Ceylon) is separated from India on the north-west by the Gulf of Manar, but nearly connected with it by the Manar and Rameshwaram Islands and the coral reef called Adam's Bridge. There is no channel across the reef deep enough for a large steamer to pass and surveys have been made for a projected railway to connect India and Ceylon, 35 miles of which would be on the island, 22 miles on the reef and only one mile across the shallow channels.[1]

जब आज लोग इस भूभाग पर रेल बनाने की योजना कर रहे हैं, तब इस पर श्रीराम का पुल बांधना असम्भव नहीं कहा जा सकता।

आज जब २१ मील इंगलिश चैनेल की खाड़ी को स्त्रियां भी तैरकर पार कर जाती हैं तो हनुमान २३ मील छिछला समुद्र यदि तैर गये तो इसमें कौन-सी विचित्रता है।

रामायण में सेतु बनाने की प्रक्रिया का भी विवरण है—

हस्तिमात्रान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः।
पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥[2]

"विशाल शरीरवाले महाबली (योद्धागण), जितना बड़ा हाथी होता है, उतने बड़े पत्थरों को पर्वतों से उखाड़कर यन्त्र से ढोते थे।"

इससे बन्दरों का पहाड़ों को लेकर उड़ना, पीछे के कवियों की कल्पना की उड़ान सिद्ध होता है।

श्रीलंका

कुछ लोगों ने यह सन्देह प्रकट किया था कि वर्तमान लंका रावण की लंका नहीं है। इस पर, १९४८ ई० में ओरिएन्टल कान्फरेंस के उद्घाटन के अवसर पर श्रीमाधव श्रीहरि अणे महोदय का भाषण पठनीय है। लंका से सम्बद्ध उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

रामायण के सुन्दर तथा लंकाकाण्ड में वर्णित लंका आज की लंका से ठीक-ठीक मिलती है।

सीलोन का नगर उरुवेल और रामायण का सुवेल सम्भवतः एक ही है। इसके उत्तर तीन ऊँचे पहाड़ हैं जिनको रामायण में त्रिकूट कहा है। लंका त्रिकूट शिखर पर स्थित थी यह सच है। बन्दरबेला, तोतापल्ला, किनिगल पोता और आदम, ये तीनों शिखर एक साथ देखे जा सकते हैं।

न्यूरेलिया से ६ मील पर एक परम रम्य उद्यान है जिसे आजकल हेगेल गार्डन कहते हैं। पहाड़ी प्रान्त तथा न्यूरेलिया के लोग इसे अशोक वन कहते हैं। सारा प्रान्त लाल फूलों वाले अशोक वृक्षों से भरा है।

---

१. The International Geography by Seventy Authors. Edited by Mill. Sect. III. Asia. Macmillan & Co. London, 1907. Page 504.

२. वाल्मीकि रामायण। युद्धकाण्ड। २२.५६

न्यूरेलिया से चार मील पर सीता एलिया है। यहाँ एक धारा पहाड़ी से निकली है जिसे लोग सीताधारा भी कहते हैं। लंकाप्रवास में सीताजी यहीं रहती थीं। एक हिन्दू महिला ने वहाँ मन्दिर बनवा दिया है, जिसमें राम, सीता और लक्ष्मण की मूर्तियाँ स्थापित हैं। उस महिला को ये मूर्तियाँ यहीं मिली थीं।

स्वर्गीय सर पी. रामनाथम् ने नमनकूल पर्वत के विषय में विशेष अध्ययन और अनुसन्धान कर यह निश्चय किया कि नमनकूल पर्वत ही रामायण का हनुमानकूल पर्वत है। यह उन्हीं पहाड़ों की श्रेणी है जहाँ हनुमानजी ने डेरा डाला था। यहीं पर इला पर्वत है जिसे रावण पर्वत कहते हैं।

अविसावेला के निकट सीतावका है। सीतावका का अर्थ है सीता का कटा शिर। मोम की सीता का शिर काटकर मेघनाद ने यहीं रक्खा था। यहीं कल्याणी गंगा नामक एक धारा बहती है।

कल्याणी के निकट बिहार में बिभीषण की एक सिंहासनस्थ मूर्ति स्थापित है, जिसकी सभी पूजा करते हैं।

रावणादि पुलस्त्य के वंशज थे। लंका के पुलियनखा नगर का नाम, प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों में पुलस्त्य नगर है।

लंका के दक्षिणपूर्व किनारे पर हमवनतोता नामक पोताश्रय है। इसे लोग हनुमान् तोता का अपभ्रंश मानते हैं।

गौल पोताश्रय से ४ मील पर समुद्र में एक पर्वत है जिसे आजकल संजीवी मलाइ या मारुति मलाइ कहते हैं। तामिल में मलाइ पर्वत को कहते हैं। कहा जाता है कि लक्ष्मण के लिये लाई हुई संजीवनो बूटी का बचा हुआ अंश वहीं फेक दिया गया था। अब भी उस पर बहुमूल्य औषधियाँ पाई जाती हैं और दूर-दूर से वैद्य लोग वहाँ औषधि के लिये जाया करते हैं।

वहाँ के ग्रामगीतों में रामायण की कथा पाई जाती है। कंबूकगम नदी के किनारे एक स्थान का नाम होमग्राम है। कहा जाता है कि इन्द्रजित् यहीं पर होम किया करता था।

लंकानिवासी रामायण को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और इसके लंकाकाण्ड की टीका भी सिंहलभाषा में है।[१]

इससे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वर्तमान लंका ही रामायण की लंका है।

वानर

श्रीराम के मित्र सुग्रीवादि और उनकी सेना के योद्धाओं को वानर और भालू कहा गया है। यह इतिहास नहीं कविकर्म मालूम होता है। बन्दरों और भालुओं को आजतक किसी ने घोंसला तक बनाते नहीं देखा है। फिर वे किष्किन्धा जैसी नगरी का निर्माण और समुद्र पर सेतु बनाने में यंत्र चालन कैसे कर सकते थे। अब तक बन्दरों को तोते की तरह भी

१. इसकी विशेष जानकारी के लिये देखिये—शिवनन्दन सहाय कृत "लंका" पटना. १९५२।

मनुष्य के कण्ठरव का अनुकरण करते नहीं देखा गया है, किन्तु हनुमान् को ब्रह्मज्ञानी महापण्डित कहा गया है जो खूब संस्कृत बोलते थे। मालूम होता है कि इस सभ्य और सुशिक्षित जाति के योद्धाओं की चुस्ती और फुर्ती देखकर लोगों ने इन्हें बन्दर कहना आरम्भ किया होगा। जापानियों की फुर्ती और कूद-फाँद देखकर रूसी उन्हें पीले बन्दर (एलो मंकी) कहते थे, युरोप के लोग रूसियों को रूसी भालू (रसियन बीयर) कहते हैं और अंग्रेजों का नाम जौनबुल (श्रीमान् बैल) था और वे अपने को बृटिश सिंह (लायन) कहा करते थे। इनमें से कोई न बन्दर है न भालू, और न बैल और न सिंह है। ये केवल गुणानुरूप उपनाम मात्र हैं। बन्दर और भालू शब्दों का प्रयोग भी ऐसा ही मालूम होता है।

गरुड़, वायु और हनुमान्

रामायण की पंक्तियों और विवरणों से मालूम होता है कि भगवान् राम के समय गरुड़ और वायु नामक दो महाबलवान् पुरुष थे जिनके साथ भगवान् ने हनुमान् की गणना की, जब उन्होंने कहा कि—

न हि तं परिपश्यामि यस्तरेत महोदधिम्।
अन्यत्र गरुडाद्वायोरन्यत्र च हनूमतः ॥

मालूम होता है कि पीछे पौराणिकों ने जब चमत्कारपूर्ण अत्यन्त अलंकृत शैली का प्रचार किया, तब गरुड़ को विष्णु के वाहन पक्षी गरुड़ के साथ और वायु को वायुतत्त्व के साथ मिला दिया।

लंका में नागपाश से बद्ध होने पर, राम-लक्ष्मण को उस अस्त्र के बन्धन से मुक्त करने के लिये गरुड़ बुलाये गये। भगवान् ने गरुड़ से कहा—

यथा तातं दशरथं यथाजं च पितामहम्।
तथा भवन्तमासाद्य हृदयं मे प्रसीदति ॥[१]

"आपसे मिलकर मेरा हृदय प्रसन्न हो उठा है मानो मैंने पिता दशरथ और पितामह अज को पा लिया है।"

यह अपने वाहन पक्षी गरुड़ के लिये विष्णु की उक्ति नहीं है। ये एक आदरणीय पुरुष के लिये विनम्र वचन हैं। मालूम होता है कि भगवान से मिलते समय गरुड़ की अवस्था अधिक हो गई थी। इसलिये भगवान् ने उन्हें पिता-पितामह की तरह सम्बोधन किया।

वायु हनुमान् के पिता थे और उनकी स्त्री का नाम अञ्जनी था।

हनु वा हनू का अर्थ है जबड़ा, ठुड्डी नहीं। मालूम होता है कि महावीर का जबड़ा साधारण लोगों के जबड़ों से अधिक बड़ा था। इसलिये लोग इन्हें हनुमान अर्थात् विशिष्ट जबड़ावाला कहते थे।

१. वाल्मीकि रामायण। युद्धकाण्ड। ५४.३

राक्षस

राक्षसों के विषय में भी कुछ ऐसी ही बात मालूम होती है । रामायण, महाभारत और पुराणों के राक्षस भी किसी अद्भुत अथवा अस्वाभाविक सृष्टि के द्योतक नहीं हैं। रावण ब्राह्मण था और पुलस्त्य ऋषि का नाती था । स्वयं बड़ा विद्वान्, नीतिज्ञ और पूजा-पुरश्चरण में निपुण था। उसके परिवार में देव, नर, गन्धर्वादि परिवार की स्त्रियाँ थीं। कंस भगवान् कृष्ण का मामा था। भगिना भगवान्, मामा राक्षस और उसके पिता उग्रसेन परम धार्मिक राजर्षि थे। शिशुपाल भगवान् कृष्ण का मौसेरा भाई होने पर भी राक्षस था। जरासन्ध कंस का श्वसुर और राक्षस था किन्तु उसका पुत्र सहदेव सुशील और धार्मिक क्षत्रिय था। इससे यही सिद्ध होता है कि राक्षस नामक ब्रह्मा की कोई विचित्र सृष्टि नहीं थी। जीवन के आदर्श और दैनिक व्यवहार में भेद होने से ही लोग मनुष्य और राक्षस कहलाते थे ।

मनु ने राक्षस की परिभाषा इस प्रकार दी है—

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।[1]

"मद्य, मांस, सुरा और आसव को अन्न की तरह व्यवहार करनेवाले लोग यक्ष, राक्षस और पिशाच हैं।"

मनु ने राक्षस विवाह का विवरण इस प्रकार दिया है—

हित्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥[2]

"मार-काट कर रोती-चिल्लाती कन्या को जो घर से निकाल लावे, यह राक्षस विवाह की विधि है।"

रावण ने सीता को समझाने-बुझाने के लिये कहा—

स्वधर्मो रक्षसां भीरु ! सर्वथैव न संशयः ।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा ॥[3]

" हे भीरु ! परस्त्री गमन वा बलपूर्वक उन्हें उठा लाना, यह तो सदा राक्षसों का स्वधर्म रहा है। इसमें उन्हें हिचकिचाहट (संशय) नहीं होती।"

आज भी जो लोग धर्माधर्म का विचार नहीं करते, घोर कर्म करने से नहीं हिचकिचाते, बहुत खाते-पीते हैं और हेय जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें लोग घृणा से राक्षस और पिशाच कहते हैं।

पिशाच विवाह के विषय में लिखा है—

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥

---

१. मनुस्मृतिः । १.३७

२. तत्रैव । ३.३३

३. वाल्मीकि रामायण । सुन्दरकाण्ड । २०.५ ।

"सोई हुई, मद्यपान किये हुई, मद्यपान से अचेत स्त्री से एकान्त में संगम कर जो उसे घर में रख ले वह पापिष्ठ (नीचतम) पैशाच और अधम विवाह है ।"

मालूम होता है कि ऐसे ही पतित और पशुप्राय लोगों को लोग राक्षस और पिशाच कहते थे। उनकी सींग, पूँछ, बड़े-बड़े दाँत, विकृत मुखादि के जो विवरण वा चित्र दिये गये हैं वे उनके नीच और विकृत कर्म के प्रतीक मात्र हैं ।

द्राविड़ रामायणकथा

तामिल भाषा में एक रामायण है। उसमें दी हुई राम-कथा इस प्रकार है—

"द्राविड़ देश के राजा जीमूतवाहन ने शत्रुओं के डर से लंका और पाताल लंका के प्रतापी और बलवान राक्षस राजा भीम की शरण ली। राजा भीम वृद्ध हो गये थे और उन्हें पुत्र नहीं था। राजा भीम ने उसे दत्तक पुत्र बनाया और एक राक्षस कन्या से विवाह कराकर लँका और पाताल लंका का राजा बना दिया। प्रसिद्ध है कि लंका आज का सिलोन है और कन्याकुमारी से लेकर गोकर्ण तक और पश्चिम घाट तथा समुद्र के बीच के प्रदेश का नाम पाताल लंका था। अर्थात् त्रावणकोर, कुर्ग और कानडा जिलों के कुछ भाग का नाम पाताल लंका था। लंका राज्य केवल सिलोन में ही नहीं था, वरन् उत्तर पूर्व दिशा में आधुनिक त्रिचनापल्ली तक और उत्तर-पश्चिम में समुद्रतट तक फैला हुआ था।

इस जीमूतवाहन के वंश में माली, सुमाली और माल्यवान तीन पराक्रमी राजा हुए। विद्याधर देश के राजा इन्द्र ने उनका राज्य छीन लिया था और उन्हें पाताल लंका में आश्रय लेना पड़ा था।

इनमें सुमाली के पुत्र का नाम रत्नश्रवा था। और रावण इस रत्नश्रवा का पुत्र था। राक्षस कुल में यह रावण अत्यन्त प्रतापी और दिग्विजयी राजा हो गया है। इसने विद्याधर देश के राजा इन्द्र को जीतकर लंका के आधिपत्य में सम्मिलित कर देने के लिये, फिर इसने किष्किन्धा राज्य को जीतकर उसके राज्यपद पर ऋक्षज और सूर्यज को स्थापित किया। सूर्यज के वाली और सुग्रीव, दो पुत्र थे। रावण ने किष्किन्धा राज के साथ सम्बन्ध के लिये, इसके बदले में, उनसे पारितोषिक रूप में बाली और सुग्रीव से उनकी बहिन की मंगनी की। बाली इस पर सहमत नहीं हुआ और सुग्रीव से उसका मतभेद हो गया। इस पर सुग्रीव ने अपना राजपाट अलग कर लिया और रावण के साथ अपनी बहिन का विवाह कर निर्विघ्न राज्य करने लगा। वाल्मीकि रामायण में (सुन्दर काण्ड सर्ग ५१)[1] हनुमान् रावण के दरबार में गये थे। उस समय उन्हों ने रावण को सम्बोधन कर कहा है कि—हे राक्षस-राज! तुम्हारे सम्बन्धी सुग्रीव ने तुम्हारा कुशल पूछा है।' इससे बोध होता है कि इस वाक्य में 'सम्बन्धी' शब्द उपर्युक्त सम्बन्ध का बोधक है।

१. राक्षसेश हरीशस्त्वां भ्राता कुशलम ब्रवीत्। भ्रातुः शृणु समादेशं सुग्रीवस्य महात्मनः। सुन्दरकाण्ड ५१-२, ३।
यहां रावण को सम्बन्ध में सुग्रीव का भाई (ममेरा, फुफेरा इत्यादि) कहा गया है।

एक समय अपनी स्त्री 'सुतारा' के साथ सुग्रीव का अनबन हो गई। घृणा के मारे राजधानी से दूर किसी स्थान पर (बहुधा ऋष्यमूक पर्वत पर) वह अज्ञातवास करने लगा। इस बीच में एक दुष्ट मनुष्य, सुग्रीव का वेष धारण कर, राजधानी में आकर राज्य करने लगा।

जब सच्ची बात सुग्रीव को मालूम हुई, तब वह चिन्तातुर होकर अपने प्राणप्रिय मित्र, हनुवर देश के राजा और पवनजय के पुत्र हनुमान् की सलाह लेने गया। राजा हनुमान् को अपने दूत द्वारा खबर मिली थी कि कोसलदेश के सूर्यवंशी रामचन्द्र नामक कोई एक अति बलवान् वीर अपने पराक्रमी बंधु लक्ष्मण के साथ, किसी कारण से वनवास स्वीकार कर, पाताललंका के सामने अरण्य में घूम रहे हैं। इस पर स्वयं वहाँ जाकर उन्होंने रामचन्द्र से भेंट की और अग्नि साक्षी रखकर सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता कराई। इन्होंने परस्पर एक दूसरे की सहायता करने की प्रतिज्ञा की। दोनों के बीच यह निश्चित हुआ कि वेषधारी सुग्रीव को मारकर, सुग्रीव की राज्य-प्राप्ति के पश्चात् वह रामचन्द्र की पत्नी सीता की खोज करने में और उन्हें प्राप्त करने में रामचन्द्र की सहायता करेगा। सच्चे सुग्रीव और वेषधारी सुग्रीव में बहुत समता होने के कारण पहचान के लिये रामचन्द्र ने सच्चे सुग्रीव के गले में एक माला पहिनाई और वेषधारी सुग्रीव के साथ युद्ध करके और हनुमान् की सहायता से उसे मारकर असली सुग्रीव को राज्य पर स्थापित किया। पीछे सुग्रीव ने सीता की खोज में चारों ओर दूत भेजे।

ये दूत चारों दिशाओं में फेरा लगाकर यह समाचार ले आये कि लंका के राजा रावण ने सीता का हरण किया है। रास्ते में सीता का विलाप सुनकर राजा जटायु ने इस दुष्ट के पंजे से सीता को छुड़ाने की चेष्टा की थी। किन्तु इसमें उसको यश न मिला और रावण ने उसे मार डाला। इस प्रकार सीता की खोज हुई, फिर प्रश्न उपस्थित हुआ कि रावण के हाथ से किस प्रकार उन्हें छुड़ाया जाय। इसमें राम, लक्ष्मण, सुग्रीव और हनुमान्, इन सबका विचार हुआ कि राजा हनुमान् दुष्ट रावण के पास जायँ और सामोपचार से उससे बातें करके सीता को सौंप देने की बातें करें। इस कार्य के लिये हनुमान् के भेजने की योजना अत्यन्त समीचीन थी, कारण कि हनुमान् रावण की तरह राक्षसवंश के और रावण के दूर के सम्बन्धी थे। बली होने के अतिरिक्त, अत्यन्त बुद्धिशाली, असामान्य वीर और कुशल वक्ता थे।

इस योजना के अनुसार वे शिष्ट कार्य के लिये निकले। जाने के पहिले पहचानने के लिये कुछ निशानी, सीता को बताने के लिये, उन्होंने राम से ले ली। वे महेन्द्र और दधिमुख पर्वत के मार्ग से लंका जा पहुँचे। रावण से मुलाकात कर, जो बात थी, वह कही। किन्तु रावण उन्मत्त था। उसने वह कथन स्वीकार नहीं किया।

शिष्ट प्रयत्न के निष्फल हो जाने पर युद्ध छोड़कर अन्य कोई मार्ग नहीं रहा। तब राम, सुग्रीव और हनुमान् युद्ध की तैयारी करने लगे। सुग्रीव और हनुमान् ने अन्य द्राविड राजाओं की सहायता से बहुत बड़ी सेना एकत्र कर लंका की ओर प्रयाण किया। इस प्रयाण के मार्ग में वेलांधपुर, सुवेलाचल, हंसद्वीप इत्यादि राज्यों का विस्तार पड़ता था।

उस समय वेलांधपुर में समुद्र नाम का कोई राजा राज्य करता था। उसने अपने राज्य से मार्ग दिया।"[1]

इस कथा को वाल्मीकि रामायण की कथा से मिलाकर पढ़ने से बहुत-सी बातें और विशेष कर कवि-कल्पनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। मालूम होता है राजा सागर ने अपने राज्य से सेना का प्रयाण रोका था, जिससे भगवान् राम से उसका कुछ मनमुटाव हो गया था। पीछे कवि वा कवियों ने राजा सागर और जलराशि सागर को एक रूप में दिखलाया।

रामायण की मूल भावना

नर को नारायण रूप में देखना और नारायण को नरत्व प्रदान करना भारतीय संस्कार और सभ्यता की मनोहर, किन्तु अद्भुत विशेषता है। पूर्णब्रह्म परमात्मा को राम-रूप में और राजा राम को पूर्णब्रह्म के रूप में देखकर प्रत्येक भारत-सन्तान का रोम-रोम पुलकित हो उठता है। जिनकी प्रतिभा और कल्पना ने इसकी सृष्टि की और जिनकी तपश्चर्या से उन्मीलित दिव्यदृष्टि ने इस रूप को देखा, वे धन्य हैं।

रामायण महाकाव्य, ब्रह्म और जगत् अथवा परमार्थ और प्रपंच की युग्मभावना पर बना हुआ आर्षग्रन्थ है। इन्द्रियपरायणता वा बहिर्मुखवृत्ति ही जगत्, अर्थात् प्रपंच, का मूल है। मनुष्य की शक्ति की कहीं सीमा नहीं है। यदि वह अपनी सारी शक्ति को अध्यात्मविहीन केवल प्रपञ्च-सिद्धि में लगा दे, तो सोने का पहाड़ लग जाय, शराब की नदियाँ बहने लगें, मांस अथवा स्वादिष्ट भोजन का ढेर लग जाय और भोग-विलास की कहीं सीमा न रहे और इसका परिणाम होगा संहार।

इन सबकी, अर्थात् घोर प्रपंच-सिद्धि की, पराकाष्ठा के प्रतीक हैं रावण, कुम्भकर्ण, मेघनादादि और सोने की लंका और लंकानिवासियों का अधर्म और विलासमय जीवन। प्रवाद है कि रावण के एक लाख पुत्र और सवा लाख नाती थे, किन्तु दिया देने वाला भी कोई नहीं रहा।

दूसरी ओर अध्यात्म-जीवन है, जिसका श्रीगणेश आत्मसंयम से होता है और परिणाम है जगत् का अभ्युदय और कल्याण। इसके प्रतीक राम, लक्ष्मण, सीता, भरत, दशरथ, कौसल्यादि हैं। गुरु ने राम से कहा कि स्त्री के विना अश्वमेध नहीं होगा। श्रीराम ने कहा—तो अश्वमेध नहीं होगा। गुरु ने व्यवस्था दी—स्त्री की मूर्त्ति बनाकर और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर यज्ञ हो सकता है। भगवान् ने कहा – वह मूर्त्ति सीता की होगी। राम और रावण, अर्थात् आध्यात्मिक और प्रपंचमय जीवन, में यही अन्तर है।

---

१. बँगला मासिक पत्र 'बंगाली' के सन् १३२७ के श्रावणवाले अंक में श्रीयुत अमृतलाल शील ने इस पर एक लेख लिखकर प्रकाशित किया था। उसके आधार पर श्रीयुत वासुदेव गोविन्द आप्टे ने यह लेख मराठी 'केसरी' में लिखा था। (यह मूल लेख का अंश है)।

तुलसी-कृत रामायण गुजराती भाषान्तर-सहित संवत् १९८३ में सस्तुं साहित्य-मुद्रणालय से प्रकाशित हुआ। उसकी प्रस्तावना के पृ० ११६-११७ में इसका गुजराती रूप प्रकाशित हुआ है, जिसका यह हिन्दी रूप है। (ग्रन्थकार का निवेदन)।

आध्यात्मिक जीवन का परिणाम सार्वभौम और सार्वजनीन अभ्युदय और कल्याण है और मानव-जीवन सब प्रकार से सार्थक होता है।

यह संयम और दुराचार का द्वन्द्व, विद्या और अविद्या का द्वन्द्व है। यह चिरन्तन है, और सृष्टि के साथ इसका आरम्भ हुआ और सृष्टि के साथ ही इसका अन्त होगा। भाव-जगत् में राम-रावण का युद्ध एक अनन्त क्रिया है। इसलिये विद्या और अविद्या की भावना पर आश्रित यह काव्य भी चिरन्तन है।

"यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥"

श्रीकृष्ण

राम की तरह कृष्ण भी पूर्णब्रह्म के आविर्भूत रूप हैं। अपने आनन्द में अपने शक्तिमायाव्यूह को लेकर ये जगत् के बद्ध जीवों के उद्धार के लिये प्रकट हुए और जगत् के बाधक अविद्याग्रस्त राक्षसादिकों को हटाने में अपनी लीला का विस्तार किया और शरणार्थी मुमुक्षुजनों के अवलम्बस्वरूप अपनी लीला की गाथा छोड़कर अन्तर्धान हो गये।

वाल्मीकि ने भगवान् राम पर नरत्व का कुछ कठोर आवरण-सा डाल दिया है और सारे रामायण में इन्हें एक सर्वगुणसम्पन्न महापुरुष के रूप में दिखलाया है। इनके नारायणत्व के विषय में केवल यत्र-तत्र संकेतमात्र है। ब्रह्मज्ञानियों ने इनके ब्रह्मरूप को प्रकट किया। किन्तु कृष्ण में नरत्व और नारायणत्व इस प्रकार ओतप्रोत है कि इनमें विभेद करना कठिन है। जन्म लेते ही देवकी को विश्वरूप का दर्शन देते हैं। बाल्यकाल से ही राक्षसों का नाश करते हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में एक ओर शिशुपाल गालियाँ बक रहा है और दूसरी ओर भीष्म शङ्ख में अर्घ्यद्रव्य लेकर प्रथम पुरुष का अर्घ्य देते हैं। आरम्भ से अन्त तक, कृष्णचरित, नरत्व और ब्रह्मत्व से इस प्रकार अनुस्यूत है कि इसे अलग करना असम्भव है। अलग करने में, यथार्थ रूप से नहीं सोच सकनेवाले जीव घबड़ा उठते हैं। आध्यात्मिक भावनाओं को जन्तुओं के पञ्चभूतात्मक शारीरिक क्रियाओं के रूप में देखने से यह महाभ्रम उत्पन्न होता है। किन्तु कृष्णचरित में नरत्व और ब्रह्मत्व अलग हो नहीं सकते। जिन्होंने कृष्ण को ब्रह्मरूप में देखा, उन्हें सिद्धि और मुक्ति मिली और जिन्होंने केवल मनुष्य रूप में देखा, उन्होंने धोखा खाया। ऐसे ही प्रसंग की ओर लक्ष्य करके तुलसीदास ने कहा कि—

"राम देखि पुनि चरित तुम्हारे।
जड़ मोहहिं बुध होंहि सुखारे॥"

और

"उमा रामगुण गूढ़ पण्डित मुनि पावहिं बिरति
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरिबिमुख न धर्मरति॥"

नारायण-कृष्ण

श्रीकृष्णचरित से महाभारत और भागवतादि पुराण भरे-पड़े हैं। उनके शक्तिमायाव्यूह-सहित ब्रह्मरूप को उपनिषदों ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"एकमेवाद्वयं ब्रह्म मायया च चतुष्टयम्।
रोहिणीतनयो विश्व अकाराक्षरसम्भवः॥
तैजसात्मकः प्रद्युम्न उकाराक्षरसम्भवः।
प्राज्ञात्मकोऽनिरुद्धोऽसौ मकाराक्षरसम्भवः॥
अर्धमात्रात्मकः कृष्णो यस्मिन्विश्वं प्रतिष्ठितम्।
कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृती रुक्मिणी॥
व्रजस्त्रीजनसम्भूतः श्रुतिभ्यो ज्ञानसंगतः।
प्रणवत्वेन प्रकृतित्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः॥
तस्मादोङ्कारसम्भूतो गोपालो विश्वसंस्थितः॥"[१]

"ब्रह्म एक है, दो नहीं। माया से वह चार हो जाता है। अकारात्मक बलराम विश्व हैं, उकारात्मक विश्व तैजस हैं, मकारात्मक अनिरुद्ध प्राज्ञ हैं और अर्धमात्रात्मक कृष्ण हैं, जिनमें सबकी स्थिति है। रुक्मिणी जगत् को बनानेवाली कृष्णात्मिका मूल प्रकृति हैं। वेदरूप गोपियों से उत्पन्न ज्ञान-संगत कृष्ण हैं। प्रणवरूप होने के कारण ब्रह्मवादी प्रकृतिरूप भी कहते हैं। इसलिये गोपाल विश्वव्यापी ॐकाररूप हैं।"

"यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी।
माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी॥
प्रोक्ता च सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी।
तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता॥
अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा।
देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते॥
निगमो वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः।
स्तुवते सततं यस्तु सोऽवतीर्णो महीतले॥
वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सह।
गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः॥
वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सगोसुरः।
गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः॥
लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः।
गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारिणः॥
दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत्।
दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्धृष्टिरूपो भवेद्द्विजः॥

१. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्। श्लोक १०-१३।

रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत्कथम् ।
बलं ज्ञानं सुराणां वै तेषां ज्ञानं हृतं क्षणात् ॥
शेषनागोऽभवद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् ।
अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा ॥
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचस्त्रियः ।
द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः ॥
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः ।
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै ॥
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः ।
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः ।
यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः ॥
दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु संस्मृतः ।
दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे ॥
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ ।
संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः ॥
कृपार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
यत्स्रष्टुरीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक् ॥
जयन्ती सम्भवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञित ।
यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः ॥
कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्मातादितिस्तथा ।
चक्रं शंखं च संसिद्धिं बिन्दुं च सर्वमूर्धनि ॥
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः ।
नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः ॥
गदा च कालिका साक्षात् सर्वशत्रुनिबर्हिणी ।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः ॥[1]
अब्जकाण्डं जगद्बीजं धृतं पाणौ स्वलीलया ।
गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः ।
वृन्दाभक्तिः क्रियाबुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी ॥
तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः ।
भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम् ॥
सर्वतीर्थफलं लभते य एवं वेद । देहबन्धाद्विमुच्यते । इत्युपनिषत् ।"[2]

"परमानन्द नन्द हैं, मुक्ति उनकी गृहिणी यशोदा हैं । उनकी अजेय वैष्णवी माया के तीन रूप हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी । सात्त्विकी रुद्र है, राजसी ब्रह्मा है और

१. ऋग्वेद । पुरुषसूक्त । यजुः ३१.१४—'ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः' ।
२. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषत्सु कृष्णोपनिषत् । बम्बई । १९२५ । पृ० ५२२ ।

तामसी असुरों में है। अजेय वैष्णवी माया, जो पहिले अक्षर से उत्पन्न हुई, वह ब्रह्म (कृष्ण) की माता देवकी है, वेद जिसकी स्तुति करते हैं। निगम और वेदार्थ वसुदेव हैं, जो राम और कृष्ण की सर्वदा स्तुति करते हैं, जो गोप-गोपियों के साथ खेलने के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। गोपी और गाएँ वेद की ऋचाएँ हैं, ब्रह्म लाठी हैं, भगवान् रुद्र वंशी हैं, इन्द्र सींग हैं, देवगण गाय और बैल हैं. वैकुण्ठ गोकुल और वन है, तापस गण वहाँ के वृक्ष हैं, लोभ, क्रोधादि दैत्य हैं, अपमान कलिकाल है, माया से शरीर धारण करने वाले साक्षात् हरि गोप हैं, दुर्बोध कुहरे-जैसा यह संसार उनकी माया से मोह में पड़ा हुआ है। वह बड़ी धृष्ट है और देवताओं के लिये भी दुर्जय है। जिसने मायारूपी रुद्र को वंशी बनाया, उसके लिये जगत् क्या है। उसने देवताओं के ज्ञान और बल को क्षण भर में हर लिया। शेषनाग बलराम हुए और चिरन्तन ब्रह्म कृष्ण हुए। ऋचाएँ गोपियाँ हुईं। द्वेष-चाणूर मल्ल हैं, मत्सर मुष्टिक है, दर्प कुवलयापीड हाथी है और गर्व बकासुर है। दया रोहिणी माता है, पृथ्वी सत्यभामा है, महाव्याधि अघासुर है और कलि राजा कंस है। शम उनका मित्र सुदामा है, सत्य अक्रूर और दम उद्धव है। लक्ष्मीरूप में स्वयं विष्णु मेघ के समान शब्दवाला शङ्ख हैं, जो क्षीर समुद्र से उत्पन्न हुआ था। दधि लेने में पात्र तोड़ कर उन्होंने क्षीर समुद्र बनाया। दुष्टों के नाश और सज्जनों की रक्षा के लिये वटपत्रशायी की तरह बालक बनकर ये क्षीरसागर में क्रीड़ा करते हैं। सब जीवों पर दया करने के लिये और अपने पुत्र-धर्म की रक्षा करने के लिये ब्रह्मरूप चक्र है। वायु, जयन्ती से उत्पन्न धर्म नामक चँवर है, महेश्वर आग की तरह जलता हुआ खड्ग है। कश्यप ऊखल हैं; माता अदिति रज्जु हैं। शङ्ख और चक्र सब के मस्तक पर (रहनेवाले) सिद्धि के प्रतीक-बिन्दु हैं। बुद्धिमान् लोग देवताओं के जितने रूप बताते हैं, उनमें उसी की स्तुति करते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। शत्रुओं का संहार करनेवाली कालिका गदा है और विष्णुमाया शार्ङ्ग धनुष है। शरत्काल भोजन है। अपनी लीला के लिये हाथ में लिये हुए कमल का नाल संसार का बीज है। गरुड़ भाण्डीर वट हैं, नारद सुदामा हैं और सब जीवों को प्रकाश देनेवाली भक्ति, ज्ञान और क्रिया वृन्दा हैं। इसलिये विभु (सर्वव्यापी) इनसे भिन्न वा अभिन्न नहीं है। स्वर्गवासियों के वैकुण्ठ को उतार कर उन्होंने पृथ्वी पर रख दिया। जो यह जानता है, उसे सभी तीर्थों का फल मिलता है। देहबन्ध से वह विमुक्त हो जाता है। यही उपनिषत् है।"

"ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्॥
कर्णिकारं महद्यन्त्रं षट्कोणं वज्रकीलकम्।
[illegible]स्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च।
प्रेमानन्दमहानन्दरसेनावस्थितं हि यत्।
ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन संगतम्।

तत्किञ्जल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि ।
चतुरस्रं तत्परितः श्वेतद्वीपाख्यमद्भुतम् ।।
चतुरस्रं चतुर्मूर्तेश्चतुर्धाम चतुःकृतम् ।
चतुर्भिः पुरुषार्थैश्च चतुर्भिर्हेतुभिर्वृतम् ।।
शूलैर्दशभिरानद्धमूर्ध्वाधोदिग्विदिक्ष्वपि ।
अष्टभिर्निधिभिर्जुष्टमष्टभिः सिद्धिभिस्तथा ।।
मनुरूपैश्च दशभिर्दिक्पालैः परितो वृतम् ।
श्यामैर्गौरैश्च रक्तैश्च शुक्लैश्च पार्षदैर्वृतम् ।।
शोभितं शक्तिभिस्ताभिरद्भुताभिः समन्ततः ।
एवं ज्योतिर्मयो देवः सदानन्दः परात्परः ।।
आत्मारामस्य तस्यास्ति प्रकृत्या न समागमः ।।
मायया रममाणस्य न वियोगस्तया सह ।
आत्मना रमया रेमे त्यक्तकालं सिसृक्षया ।।
नियतिः सा रमा देवी तत्प्रिया तद्वशंगता ।
तल्लिङ्गं भगवान् शम्भुर्ज्योतीरूपः सनातनः ।।
या योनिः सा परा शक्तिः कामबीजं महद्धरेः ।
लिङ्गयोन्यात्मिका जाता इमा माहेश्वरी प्रजाः ।।
शक्तिमान् पुरुषः सोऽयं लिङ्गरूपी महेश्वरः ।
तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गं महाविष्णुर्जगत्पतिः ।।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सहस्रबाहुर्विश्वात्मा सहस्रांशः सहस्रसूः ।।"[1]

"सच्चिदानन्दरूप कृष्ण परमेश्वर हैं। गोविन्द, अनादि, आदि और सभी कारणों के कारण हैं। सहस्रदल कमल ही उनका गोकुल नामक महास्थान है। उनके अनन्त अंशों से निकली हुई उसकी कर्णिका के दल उनके धाम हैं। कर्णिकार महायन्त्र है, जिसमें छः कोण हैं और वज्रकीलक है। प्रकृति और पुरुष के साथ षडङ्ग षट्स्थान हैं। प्रेमानन्द के महानन्द के रस में, ज्योतिरूप कामबीज (क्लीं) मन्त्र के साथ अवस्थित है। उनके अंशों के बने हुए केशर हैं और उनकी श्रियों के बने हुए पत्र हैं। उनके चारों ओर चौकोर अद्भुत श्वेतद्वीप है। यह चतुष्कोण[2], चार मूर्त्ति, चार धाम, चार पुरुषार्थ और चार कारणों से घिरा है। दिशा-विदिशा और ऊपर-नीचे—दशों स्थानों में दस शूलों से, आठ निधिसहित आठ सिद्धियों से और मन्त्ररूप दस दिक्पालों से घिरा है। श्याम, गौर, रक्त और शुक्ल (अर्थात्, त्रिगुण-रूपी) पार्षदों से घिरा है। चारों ओर स्थित इन अद्भुत शक्तियों से सुशोभित है। परात्पर, ज्योतिर्मय, सदानन्द देव ऐसे हैं। अपने ही आनन्द में विभोर उनका प्रकृति से

१. योगशास्त्र। ब्रह्मसंहिता। बंगाक्षर। बसुमती प्रेस, कलकत्ता। पृ० ३०७।
२. चतुष्कोण के लिये लिङ्गप्रकरण और प्रासाद-पुरुषप्रकरण देखिये।

सम्पर्क नहीं है। उस माया के साथ विहार में उनमें कोई क्षोभ नहीं होता। कालरहित होकर अपने ही प्रतिरूप रमा के साथ सृष्टि की इच्छा से उन्होंने विहार किया। उनके वश में रहनेवाली उनकी प्रिया रमा देवी ही नियति हैं। ज्योतिरूप सनातन भगवान् शम्भु उनके साङ्केतिक चिह्न (लिङ्ग) हैं। हरि की पराशक्ति, जो महाकाम बीजस्वरूपिणी (क्लीं) है, वही उद्गमस्थान (योनि) है।[१] महेश्वर की यह सृष्टि इन्हीं लिङ्ग-योनि से उत्पन्न हुई। लिङ्गरूपी महेश्वर ही शक्तिमान् पुरुष हैं। उसमें जगत्पति महाविष्णु लिङ्ग-रूप[२] में प्रकट हुए, जिनके सहस्र मस्तक, सहस्र नेत्र, सहस्र पैर, सहस्र बाहु, सहस्र अंश और सहस्र सन्तति है और जो विश्वात्मा हैं।"

कृष्ण पूर्णब्रह्म हैं। उनकी शक्ति राधा माया हैं, जो उनकी चिरसंगिनी हैं।

> "सुन्दर त्रयगुण रसकी सीमा
> सूर राधिका श्याम।"[३]

"सूरदास का कथन है कि राधा और कृष्ण, सुन्दरता, त्रिगुण और महारस की चरम सीमा हैं।

कृष्ण की राधिका के प्रति उक्ति है —

> "ब्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायो।
> प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु।
> बातनि भेद करायो॥"[४]

"ब्रज में रहकर अपने को भी भूल गई। जान लेने पर प्रकृति और पुरुष एक ही हैं, भेद केवल (दो) शब्दों का।"

> "तब नागरि मन हरष भई।
> नेह पुरातन जानि श्याम को अति आनन्दमई॥
> प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूलि गई।
> जन्म-जन्म युग-युग यह लीला प्यारी जान लई॥"[५]

और

> "सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
> कोटि कल्प बीतत नहिं जानत बिहरत युगल स्वरूप॥
> सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
> प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥"[६]

१. इसके सम्बन्ध में लिङ्ग और कामकला-प्रकरण देखना चाहिये।
२. अधिक स्पष्टता के लिये लिङ्ग-प्रकरण देखिये।
३. सूरसागर। बम्बई। संवत् १८६०। स्कन्ध १०। पृष्ठ ३४४। पद ३१
४. तत्रैव। पृ० २६२। पद २६।
५. तत्रैव पृ० २६२ पद २७।
६. सूरसारावली, पद १०९९—११०१।

"कृष्ण सदा समरस, पूर्ण, एक, आदिरहित, सब के आदि और अनुपम हैं। सभी तत्त्व, ब्रह्माण्ड, देवगण, सब प्रकार की माया, काल, प्रकृति, पुरुष, श्रीपति, नारायण ये सभी गोपाल के अंश हैं।

कृष्ण का कम्बल, माया की जवनिका है, जिससे वे आच्छन्न रहते हैं और इसके भीतर छिपे रहते हैं।

स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये ।[1]

"अपनी माया से आवृत होने के कारण दृष्टि को इन्होंने अवरुद्ध कर दिया है।"

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥[2]

"अकुण्ठित मेधावाले भगवान् कृष्ण को नमः, जिन्होंने अपनी योगमाया द्वारा अपनी महानता को छिपा रक्खा है।"

निराकारं ब्रह्म मायाजवनिकाच्छन्नम् ।[3]

"निराकार ब्रह्म माया की जवनिका से आवृत है।"

इसको सूर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है। कृष्ण ने गोपियों से कहा—

यह कमरी कमरी करि जानति ।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति ।
या कमरी के एक रोम पर वारौं चीर नील पाटम्बर ।
सो कमरी तुम निन्दति गोपी जो तीनि लोक आडम्बर ।
कमरी के बल असुर संहारे कमरिहिं ते सब भोग ।
जाति पाँति कमरी सब मेरी सूर सबहिं यह जोग ।[4]

कृष्ण का कम्बल तीन लोक का आडम्बर (त्रिगुणात्मिका माया) है, जो जात-पाँत, योग-भोग सब कुछ है।

राध् धातु से राधा और रम् से रमा शब्द बनता है। दोनों का अर्थ एक है। राध् रम् का और राधा रमा का रूपान्तर है। यह ब्रह्म की शक्ति और चिरसंगिनी माया है। इसी का नाम प्रकृति है।[5]

अविद्या-माया अथवा मोह को उपद्रवी गाय भी कहा गया है—

माधव जू नेकु हटको गाई ।
निसि बासर यह भरमत इत उत अगह गही नहिं जाइ ॥

१. भागवत। १०.८६.४८
२. तत्रैव। १०.८४.१७
३. अणुभाष्य। १.२.२६
४. सूरसागर। बम्बई। संवत् १६८०। पृ० २४२। स्कन्ध १०। पद ६६।
५. यह उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है।

छुधित बहुत अघात नाहीं निगम द्रुम-दल खाइ ।
अष्टदश घट नीर अँचवै तृषा तउ न बुझाइ ॥
छहू रसहू धरति आगे बहै गंध सुहाइ ।
और अहित अभच्छ भच्छति गिरा बरनिन जाइ ।।
व्योम नद धर शैल कानन इतै चरि न अघाइ ।
ढीठ निठुर न डरति काहू त्रिगुन ह्वै समुहाइ ॥
हरै खाल बल दनुज मानव सुरनि सीस चढ़ाइ ।
रचि बिरंचि मुख भौं छबीली चलत चितहिं चुराइ ॥
नील खुर तिमि अरुण लोचन स्वेत सींग सुहाइ ।
दिन चतुर्दश खेल खूँदति सु यह कहा समाइ ॥
नारदादि सुकादि मुनिजन थके करत उपाइ ।
ताहि कहु कैसे कृपानिधि सूर सकत चराइ ॥[१]

दिक् पीताम्बर है । कालिय काल है, जिसको उपकरण बनाकर नटवर महानृत्य करता है ।[२]

विष्णु के हाथ का शंख और शिव का डमरू कृष्ण के हाथ में वंशी का रूप ग्रहण करता है, जो वाक् वा शब्द, ब्रह्म का प्रतीक है और सृष्टि-प्रवर्तन में महामाया का रूप ग्रहण करता है ।

शब्दब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तं मुखाम्बुजे ।
विलासिनीगणावृतं तैः स्वैरं स्वैरमभिष्टुतम् ॥
अथ वेणुनिनादस्य त्रयीमूर्तिमती गतिः ।
स्फुरन्ती प्रविवेशाशु मुखाब्जनि स्वयंभुवः ।।[३]

"मुखकमल से शब्द ब्रह्मस्वरूप वेणु बजा रहे हैं । सुन्दरियाँ उनको घेरकर धीरे-धीरे स्तुति कर रही हैं । तब वेणुनाद की गति तीनों वेदों की मूर्ति हुई । वह थिरकती हुई ब्रह्मा के मुखकमलों में प्रविष्ट हो गई ।"

शब्दब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तं मुखाम्बुजे ।[४]

"कमल-जैसे मुख से शब्दब्रह्ममय वेणु को बजा रहे हैं ।"

नामलीलारूपं वेणुनदं निरूपयति ।[५]

"नाम, लीला और रूप ही वेणुनाद है । इसका निरूपण करते हैं ।"

चेतना में स्वाभाविक आनन्द का स्पन्दन ही सृष्टि का कारण है । यही रास है । उसकी विहारभूमि सम्पूर्ण विश्व का प्रतीक मथुरा और वृन्दावन है । ये सब नित्य हैं ।

---

१. सूरसागर । बम्बई । संवत् १९८० । पृ० ३५ । स्कन्ध १, पद ६ ।
२. दिक्काल के विशेष विवरण के लिये विष्णु प्रकरण देखिये ।
३. योगशास्त्र । ब्रह्मसंहिता । वसुमती प्रेस । कलकत्ता । बंगाक्षर । पृ० ३१३, श्लोक २९, ३० ।
४. ब्रह्मसंहिता । लण्डन । संवत १९८५ । अध्याय ५, श्लोक ३४ ।
५. वेणुगीतम् । सुबोधिनीसहितम् । पृ० १७ ।

सर्वश्रीसुभगो विष्णुर्यो वै प्रेममयो बहिः ।
श्रीसम्पत्प्रेमजलधिः स एवान्तरतस्तव ।।
अष्टौ प्रकृतयो बाह्या जीवभूता तथा परा ।
य एताभिः समं नित्यं रासलीलापरायणः ।।
स एव तत्त्वरूपाभिः सखीभिश्च त्वया सह ।
देहवृन्दावने नित्यं रासलीलां करोति हि ॥[1]

"सब प्रकार की श्री से मनोहर विष्णु हैं, जो वहिर्जगत् में प्रेम के रूप में हैं। वे श्रीमान् और प्रेम के सागर हैं। वे ही तुम्हारे भीतर वर्तमान हैं। आठ वाह्य प्रकृति और जीवरूप पराशक्ति के साथ वह नित्य रासलीला करता रहता है। वह तुम्हारे और तत्त्व रूप सखियों के साथ देह के वृन्दावन में नित्य रासलीला करता है।"

मोरपक्ष इसके महाकालत्व का लक्षण है, क्योंकि मयूर कालसर्प का भक्षण करता रहता है।[2]

अष्ट बाह्य प्रकृति ललितादि सखियाँ हैं और जीवभूता पराशक्ति राधा हैं।

सोरह सहस पीर तन एकै राधा जिब सब देह ।[3]

"सोलह सहस्र गोपियाँ एक शरीर की पीड़ा की तरह हैं, और राधा जीव ।"

नित्य धाम वृन्दावन श्याम । नित्य रूप राधा ब्रज वाम ।।
नित्य रास जल नित्य विहार । नित्य मान खण्डिताभिसार ॥
ब्रह्म रूप एई करतार । करन हार त्रिभुवन संहार ॥
नित्य कुंज सुख नित्यहिं डोर । नित्यहिं त्रिविध समीर झकोर ॥
सदा वसन्त रहत जहँ वास । सदा हर्ष जहँ नहीं उदास ॥
कोकिल कीर सदा कल रोर । सदा रूप मन्मथ चित चोर ।।[4]

अर्थात् ये सभी अविनाशी ब्रह्म की अविनाशी लीलाएँ हैं।

रास रस रीति नहिं बरनि आवै ।
कहाँ वैसी बुद्धि कहाँ वह मन लहौं कहाँ इह चित जिय भ्रम भुलावै ॥
जो कहौं कौन माने अगम निगम जों कृपा बिनु नहिं या रसहिं पावै ।
भाव सों भजै बिनु भाव सों यह नहीं भाव ही माँहि याको बसावै ।।
यहै निज मंत्र यह ज्ञान यह ध्यान है दरस दास दम्पति भजन सार गाऊँ ।
इहै मांग्यो बार बार प्रभू सूर के नैन दोऊ रहैं नर देह पाऊँ ॥[5]

---

१. वैजयन्तीतन्त्रम्। कलकत्ता। १३३६ साल। बंगाक्षर। पटल ७। श्लोक १२-१४।
२. मोरपक्ष येही दरसावत सर्पकाल को काल।
श्याम ब्रह्म अस श्रुति बोलत सो देवकि सुत गोपाल।
याको तुम भजन करो।
—काष्ठजिह्वा स्वामी।
३. सूरसागर। बम्बई। संवत् १६८०। पृ० ३५६। १०.२६
४. तत्रैव। पृ० ४२६। १०.७२।
५. तत्रैव। पृ० ३४०। १०.६३।

भगवान् का नटवर-रूप नटराज-रूप का प्रतिरूप है। नटराज का ज्वालमालयुत मायाचक्र गोपीमण्डल है, जो उसके पैरों के ताल और वंशी की तान पर थिरकता रहता है। यही नटवर का नित्य-विश्वनृत्य रास है, जो चिदानन्द के आनन्द के महास्फोट का प्रतीक है। इसके चिंतन और कलात्मक अनुकरण में दार्शनिक, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार आदि कलाकारों ने अपनी-अपनी सारी शक्ति लगा दी है। यह भारतीय प्रतिभा की एक अनमोल सृष्टि है।

भगवान् ने कालिय के मस्तक पर चित्रताण्डव नामक नृत्य किया था—

तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त ।
तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीयगन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ॥
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः
तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो रक्तं मुखैरुरुवमन्नृपभग्नगात्रः ॥[1]

"उस (कालिय) के मस्तकों पर रत्नों के स्पर्श से उनका चरण कमल प्रगाढ रक्तवर्णवाला हो गया और अखिल कलाओं के आदि गुरु नृत्य करने लगे। उनको उस समय नृत्य के लिये उद्यत देखकर गन्धर्व, सिद्ध, सुर चारण और देववधूगण प्रेम से मृदंग, पणव, आणकवाद्य, गीत, पुष्पोपहार और स्तुति के साथ सहसा घेरकर खड़ी हो गई। उस चित्रताण्डव में (कालिय के) फैले हुए फण पीडित और क्षत-विक्षत हुए और वह रक्तवमन करने लगा।"

रास का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ॥
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥
यं मन्येरन्नभस्तावद्विमानशतसंकुलम् ।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥
ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ।
वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम् ।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥
तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान्देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥
पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः ।
भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ॥
स्विद्यन्मुख्यः कवररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो ।
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥

---

1. भागवत। १०, १६, २६, २७, ३०। नटवर के इस नृत्य का वर्णन नटराज के प्रदोषस्तोत्र मे दिये हुए प्रदोष-नृत्य की तरह है।

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥
काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ॥
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानञ्च बह्वदात् ॥[1]

"गोविन्द ने रासक्रीड़ा आरम्भ की। अनुरक्त सुन्दरी स्त्रियों ने हाथों में हाथ डाल कर उन्हें घेर लिया। गोपीमण्डल से मण्डित रासोत्सव का आरम्भ हुआ। दो-दो के बीच कृष्ण सम्मिलित हुए। स्त्रियों-सहित मुग्ध देवगण के सैकड़ों विमानों से आकाश भर गया। तब दुन्दुभी बजने लगी और पुष्पवृष्टि होने लगी। सस्त्रीक गन्धर्वपति उनके यश का गान करने लगे। स्त्रियों के कंकण, किंकिणी और नूपुर से रासमण्डल में तुमुल शब्द होने लगा। उन सबके बीच भगवान् इस तरह सुशोभित हुए, जैसे कनक मणि के बीच महामरकत शोभता है। पादन्यास, भुजविक्षेप, मुसकान के साथ भ्रूसंचालन, कपड़ों के मोड़, गाल पर हिलते हुए कुण्डल, मुख पर स्वेदबिन्दु, कमर और केश बँधे हुए और गाती हुई गोपियाँ, बादल में बिजली की तरह चमकने लगीं। नाचती हुई प्रेममग्ना गोपियाँ, कृष्ण की निकटता से मुदित होकर भावभरे उच्चस्वर से गाने लगीं और गीत से इसे ढँक लिया। कोई मुकुन्द के साथ स्वर और लय को न मिला कर गेय को आगे ले चली। कृष्ण ने साधु-साधु कह कर उसका सम्मान किया। फिर ध्रुवपद को आगे बढ़ाकर उसका बहुत मान किया।"[2]

वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीडत सदा राधिका संग।
भोर निसा कबहूँ नहिं जानत सदा रहत यक रंग ॥[3]

इस क्रीडा में भोर-निशा का ज्ञान नहीं है क्योंकि यह कालातीत है। शक्ति और शक्तिमान् सदा अभिन्न और एक रस हैं। इसलिये सदा एक रंग में रँगे रहते हैं।

स्त्री-पुरुष और जीव-ब्रह्म

विश्वलीला अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लय की क्रियाओं में ब्रह्म और उसके स्व-भाव, नित्य आनन्द का उल्लास माया के साथ, जिस महा आनन्द अथवा महारस की कल्पना वा अनुभव किया जा सकता है, राधिका और श्याम के नाम-रूप उसीके प्रतीक हैं और प्रेम द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के लिये प्रत्येक जिज्ञासु जीव के लिये अवलम्ब हैं। भावाश्रयी भक्तों और योगियों ने समान रूप से इसका अवलम्बन किया।

योगमार्ग में समाधि की छः प्रणालियाँ कही गई हैं— १. ध्यानयोग समाधि, २. नादयोग समाधि, ३. लयसिद्धियोग समाधि, ४. भक्तियोग समाधि, ५. राजयोग समाधि और ६. रसानन्द समाधि।

१. तत्रैव। १०, ३३, २—१०।
२. विद्यापति और सूर की रचना में आनन्दसागर का क्षोभ नहीं, आनन्द के उन्माद-सागर का महाविप्लव है
३. सूरसागर। बम्बई। संवत् १९८०। सूरसारावली, पद १०९६।

लयासिद्धियोगसमाधि का विवरण इस प्रकार है—

अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरीकुम्भकं चरेत् ।
मन्दं मन्दं त्यजेद्वायुं भृङ्गनादस्ततो भवेत् ॥
अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो लयेत् ।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः ॥[1]

"मन्दवेग वाले वायु द्वारा कुम्भक करे और धीरे-धीरे वायु को छोड़े। इससे भौंरे का शब्द होता है। भीतरवाले भ्रामरी नाद को सुनकर उसमें मनको लीन करे। इससे समाधि लग जाती है और सोऽहं का आनन्द प्राप्त होता है।"

यह भ्रामरी नाद कृष्ण-कथा का भ्रमर और तत्सम्बन्धी भावनाएँ भ्रमरगीत हैं।

रसानन्द समाधियोग का वर्णन इस प्रकार है—

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत् ।
सुश्रृङ्गाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि ॥
रसानन्दमयो भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत् ।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते ॥[2]

"योनिमुद्रा धारण कर स्वयं शक्तिमय (स्त्री-रूप) हो जाय और सुन्दर शृङ्गाररस द्वारा परमात्मा में विहार करे। रस के आनन्द में सराबोर हो जाने पर मैं ब्रह्म हूँ, इस अद्वैत भावना द्वारा ब्रह्म का ऐक्य सम्भव हो जाता है और इससे समाधि होती है।"

यह रसानन्द समाधि साधकों का सामरस्य है, जिसका स्थूल प्रतीक मिथुनमूर्ति है।

ब्रह्म के पुरुष-रूप और जीव के स्त्री-रूप के विषय में आर्षमत स्पष्ट हैं। वेदों में ब्रह्म का नाम ही पुरुष है। यह पुरुषसूक्त से स्पष्ट है। अन्यत्र भी यही भाव है—

केष्वन्तः पुरुष आविवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतद्ब्रह्मन् उपवल्हामसि त्वा किंस्विन्नः प्रति वोचास्यत्र ॥
पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ॥[3]

"किनके भीतर पुरुष छा गया, पुरुष में किनका अर्पण किया गया, यह मेरा आग्रह है, इस पर आपका क्या उत्तर है।

पञ्च (तत्त्वों) के भीतर पुरुष छा गया, उन्हें (पञ्च तत्त्वों को) पुरुष में अर्पण कर दिया गया। यहाँ यही मैं तुम्हें समझाना चाहता हूँ, मेरा उत्तर माया के कारण समझ में नहीं आता है।"

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥[4]

---

१. घेरण्डसंहिता। ७. १०, ११।
२. तत्रैव। ७.१२,१३।
३. यजुर्वेद। २३. ५१,५२।
४. तत्रैव। ३१.१८।

"मैं इसे जानता हूं, जो पुरुष है, महान् है, आदित्य रूप है और अन्धकार से परे है। उसको जानकर मृत्यु को पार कर जाता है। आगे बढ़ने के लिये दूसरा मार्ग नहीं है।"

पाद्मे—शब्दोऽयं सोपचारेण तथा पुरुष इत्यपि।
निरुपाधौ वदन्त्येते वासुदेवे सनातने॥
सर्वलोकप्रतीत्या च पुरुषः प्रोच्यते हरिः।
तं विना पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक्॥[1]

"यह शब्द ही उपचार-मात्र से पुरुष भी कहलाता है। उपाधिरहित सनातन वासुदेव में सारी सृष्टि के पड़े रहने के कारण हरि का नाम पुरुष है। उस पुण्डरीकाक्ष को छोड़कर दूसरा कोई पुरुष शब्द का भागी कैसे हो सकता है।"

स्कान्दे—यथा भास्करशब्दोऽयमादित्ये प्रतितिष्ठति।
यथा चाग्नौ बृहद्भानुर्यद्वा वायौ सदागतिः॥
तथा पुरुषशब्दोऽयं वासुदेवेऽवतिष्ठति॥[2]

"जिस प्रकार भास्कर (भाः कर=प्रकाश करनेवाला) शब्द सूर्य पर ही लगता है, जिस प्रकार बृहद्भानु (बहुत बड़ा प्रकाशवाला) अग्नि में लगता है, जिस प्रकार सदागति (सर्वदा गतिशील) वायु पर लगता है, उसी प्रकार यह पुरुष शब्द वासुदेव पर ही बैठता है।

नारसिंहे—य एव वासुदेवोऽयं पुरुषः प्रोच्यते बुधैः।"
प्रकृतिस्पर्शराहित्यात् स्वातन्त्र्ये वैभवादपि॥
स एव वासुदेवोऽयं साक्षात् पुरुष उच्यते।
स्त्रीप्रायमितरत्सर्वं जगद्ब्रह्मपुरःसरम्॥[3]

"ये जो वासुदेव हैं, बुद्धिमान् उन्हें ही पुरुष कहते हैं। अपनी स्वतन्त्रता में, वैभव और प्रकृति के स्पर्श से रहित होने के कारण, ये वही वासुदेव हैं, जो साक्षात् पुरुष कहलाते हैं। ब्रह्म द्वारा आगे बढ़ाया जानेवाला यह जगत् और अन्य सब कुछ स्त्रीप्राय है।"

कोष-ग्रन्थों में भी पुरुष शब्द का यही अर्थ है १. पुरि अग्रगमने + कुषन् आगे बढ़ने - बढ़ानेवाला। २. आप्यायने+कुषन् – तृप्ति, अर्थात् आनन्दप्रद।

पौराणिक अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। पुराणों में ही अन्यत्र इसका अर्थ है—१. पुरि देहे शेरते लोकाः यस्य—जिसके शरीर के अन्तर्गत सारा लोक हो। २. पुरि देहे शयः—शरीर के अन्तर्गत रहनेवाला।)

वेद, दर्शन और पुराणों के भावानुकूल पुरुष शब्द का अर्थ, परमात्मा पर ही लग सकता है। परमात्मा ही जीव-मात्र को आगे बढ़ाते हैं, सुख देते हैं और आत्मगत कर रखते हैं। मनुष्य के सम्बन्ध में एक अत्यन्त संकुचित अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। कोई मानव पुरुष, यथार्थ में, न किसी को अग्रसर कर सकता है, न सुख दे सकता है और न आत्मसात् कर सकता है। सांसारिक व्यवहार में यदि थोड़ा-बहुत कर भी सकता है, तो यह शब्द के

१. अप्रकाशिता उपनिषदः। मद्रास। १९३५। पृ० १७५ में उद्धृत।
२. तत्रैव।
३. तत्रैव। पृष्ठ १७६।

अर्थ का संकुचित प्रयोग ही कहा जायगा। प्रकृत अर्थ में तो सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् पुरुष ही एक पुरुष है और उससे तृप्ति, उन्नति और अवलम्ब की आकांक्षावाले सभी स्त्री हैं। यह जीव-ब्रह्म, स्त्री-पुरुष, गोपी-कृष्ण, राधा-गोविन्द, हर-पार्वती वा मीरा-गिरिधर का रहस्य है।

विभु की विश्वक्रीड़ा में गोपादि शक्तिमाया व्यूह के अङ्ग-उपाङ्ग हैं—

गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः।
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप ॥[1]

"गोप जाति में छिपकर देवताओं ने गोपों का रूप धारण किया। जिस प्रकार (नाटक में) एक नट दूसरे नट की सेवा में उपस्थित होता है, उसी प्रकार वे राम और कृष्ण की सेवा में लगे रहे।"

उस भाव का विस्तार सूर ने इस प्रकार किया—

ब्रह्म जिनहिं यह आयसु दीन्हों।
तिन-तिन संग जन्म लियो ब्रज में सखा सखा करि परगट कीन्हों ॥
गोपी ग्वाल कान्ह दुई नाहीं ये कहुँ नेक न न्यारे।
जहाँ जहाँ अवतार धरत हरि ये नहिं नेक बिसारे ॥
एकै देह बिलग करि राखे गोपी ग्वाल मुरारि।
यह सुख देखि सूर के प्रभु को थकित अमर सँग नारि ॥[2]

"ब्रह्म ने जिन्हें आज्ञा दी, उन्होंने व्रज में जन्म लिया और सखी, सखा आदि के रूप में प्रकट हुए। गोपी-ग्वाल और कान्ह— ये दो नहीं हैं। ये कभी अलग नहीं होते, अर्थात् एक होने के कारण अभिन्न हैं। हरि जहाँ-जहाँ अवतार ग्रहण करते हैं, वहाँ इन्हें कभी नहीं भूलते, अर्थात् अवश्य साथ ले लेते हैं। गोपी, ग्वाल के रूप में, मुरारि ने, एक ही शरीर को भिन्न रूप में[3] रक्खा। सूर के प्रभु का यह (आनन्दमय रूप) सुख देखकर देवी-देव-गण स्तम्भित हो गये।"

संसार को दार्शनिकों और कवियों ने महावृक्ष कहा है, जिसके बीज ब्रह्म हैं, अथवा ब्रह्म ही संसारवृक्ष के रूप में अवस्थित हैं।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत् ॥[4]

---

१ भागवत। १०.१८,११।

२. सूर सागर। बम्बई। संवत् १९८०। पृ० २५०। स्कन्ध १०, पद ८४।

३. दुर्गासप्तशती के इस श्लोक को मिलाइये—'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा। पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः।'

४. केनोपनिषद्। २.६.१।

"मूल ऊपर है, शाखाएं नीचे की ओर हैं। यह चिरन्तन अश्वत्थ है। यही तेज है, यहीं ब्रह्म हैं, इसे ही अमृत कहते हैं। इसीसे सब लोक लगे हुए हैं। इसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता है। यही वह हैं।"

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।[1]

"अव्यय को ऊर्ध्वमूल और अध:शाखावाला अश्वत्थ कहा गया है।"

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो।[2]

"वह वृक्ष काल, आकृति आदि से परे और कुछ है।"

संसारविटप नमामहे।[3]

राधा और कृष्ण को लेकर आधुनिक 'रिसर्च-पण्डितों' ने नाना प्रकार की वितण्डाएं खड़ी कर दी हैं। उनका कहना है कि महाभारत, हरिवंश, श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में राधा का नाम नहीं मिलता है। इसलिये कृष्ण-कथा में राधा काल्पनिक पात्र हैं और इनका कोई अस्तित्व नहीं हैं। कृष्ण के सम्बन्ध में भी उन्होंने ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। ऋग्वेद में कृष्ण का नाम आया है, वेदव्यास का भी नाम कृष्ण है, एक वासुदेव कृष्ण हुए, एक आभीर कृष्ण हुए, रासलीलावाले कृष्ण और महाभारतवाले कृष्ण भिन्न-भिन्न पुरुष हैं, कृष्ण नामक कोई मनुष्य हुए या ये कल्पनापुरुष हैं, इत्यादि-इत्यादि अटकलों से ये स्वयं विक्षिप्त हैं और दूसरों के भी सुलझे हुए विचारों को उलझाना चाहते हैं। इनके विचार से राम और कृष्ण तो कल्पना-पुरुष हैं ही, यीसू ख्रिस्त नाम के भी कोई पुरुष नहीं हुए।[4] विश्लेषण तथा काल-निर्णय द्वारा सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करना और विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलने पर भी जहाँ-तहाँ से समरूप घटनाओं अथवा विवरणों को एक साथ मिलाकर अटकल लगाते फिरना, इनकी ऐसी विध्वंसक प्रणाली है कि राम,[5] कृष्णादि जैसे महापुरुषों के साथ-साथ महात्मा ख्रिस्त भी लुप्त हो गये। संस्कृति और सभ्यता के विषयों में यथार्थ को पाने के लिये यह प्रणाली अशुद्ध और अहितकर है।

राम-कृष्णादि का शुद्ध रूप हमारे ग्रन्थों में वर्तमान है और उसे ठीक-ठीक समझ लेने से वह भूतकाल की तरह वर्तमान और भविष्य में भी हमारे लिये कल्याणकर होगा।

आध्यात्मिक विषयों को आध्यात्मिक रीति से और लौकिक विषयों को लौकिक रीति से ठीक-ठीक समझ लेने से ही भारतीय पुरुषों और उनके चरित्रों का यथार्थ रूप स्पष्ट हो जाता है।

---

१. गीता।
२. श्वेताश्वतरोपनिषत्। ६.६।
३. तुलसीकृत मानस रामायण। उत्तरकाण्ड। वेदस्तुति।
४. Encyclopaedea Britania. 11th Edition. Article on Christ.
५. संस्कृत-साहित्य के इतिहास में वेबर मैकडोनल आदि विद्वानों ने यह प्रतिपादन करने की चेष्टा की है कि रामकथा वैदिक कल्पनाओं के आधार पर निर्मित हुई है। इन्द्र राम है, सीता जोती हुई धरती है, मरुत् हनुमान है, वृत्र रावण है इत्यादि।

सूर्य

भारतीय सनातन वैदिक समाज में, प्रत्येक सत्कर्म के आरम्भ में, पञ्चदेवता के रूप में, परमात्मा की आराधना करके, किसी कर्म का आरम्भ किया जाता है। ये पञ्चदेव हैं—गणेश, विष्णु, शिव, सूर्य और दुर्गा।

किसी मूर्ति, चित्र, वा यंत्र की तरह, सूर्यमण्डल भी विभुशक्ति का प्रतीक है और परमात्मा के प्रत्यक्ष रूप में इनकी उपासना होती है। यह मत श्रुति, स्मृति, पुराण, तंत्रादि-सम्मत है।

य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो यं आदित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ [1]

"जो आदित्य के भीतर अवस्थित है और आदित्य से भिन्न है, जिसे आदित्य नहीं जानता है, आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर रहकर इसका नियन्त्रण करता है वही तुम्हारा आत्मा, अन्तर्यामी और अविनाशी है।"

इस उद्धरण में सूर्य का ब्रह्मप्रतीकत्व स्पष्ट है।

सूर्याद्वै खलु इमानि भूतानि जायन्ते। सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा नमस्त आदित्य। त्वमेव प्रत्यक्षं कर्म कर्त्तासि। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि। त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि। त्वमेव प्रत्यक्षं ऋगसि। त्वमेव प्रत्यक्षं यजुरसि। त्वमेव प्रत्यक्षं सामासि। त्वमेव प्रत्यक्षमथर्वासि। त्वमेव सर्वं छन्दोऽसि आदित्याद्वायुर्जायते। आदित्याद्भूमिर्जायते। आदित्यादापो जायन्ते। आदित्याज्ज्योतिर्जायते। आदित्याद्व्योमदिशो जायन्ते। आदित्याद्देवा जायन्ते। आदित्याद्वेदा जायन्ते। आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति। असावादित्यो ब्रह्म ....

सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च ॥ [2] इत्यादि

"सूर्य से ही सभी जीव उत्पन्न होते हैं। सूर्य से ही यज्ञ, मेघ, अन्न और आत्मा है। हे आदित्य, आपको नमः। आप प्रत्यक्ष कर्मकर्त्ता हैं। आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आप ही प्रत्यक्ष विष्णु हैं। आप ही प्रत्यक्ष रुद्र हैं। आप प्रत्यक्ष ऋक् हैं। आप प्रत्यक्ष यजु हैं, आप प्रत्यक्ष साम हैं, आप प्रत्यक्ष अथर्व हैं। आप सभी छन्द हैं, आदित्य से वायु उत्पन्न होता है, आदित्य से भूमि उत्पन्न होती है, आदित्य से जल उत्पन्न होता है, आदित्य से ज्योति उत्पन्न होती है, आदित्य से आकाश और दिक् उत्पन्न होते हैं, आदित्य से देवगण उत्पन्न होते हैं, आदित्य से वेद उत्पन्न होते हैं। आदित्य ही यह मण्डल है, जिससे यह ताप मिलता है। यह आदित्य ब्रह्म है। ....

---

१. बृहदारण्यकोपनिषत्। ३.७.९।
२. सूर्योपनिषत्।

"सूर्य से भूत (पञ्चतत्त्वात्मक) उत्पन्न होते हैं, सूर्य से पालित होते हैं और सूर्य में लीन होते हैं। जो सूर्य है, वही मैं (अहम्) हूँ। इत्यादि ।।"

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एष हि भास्करः ।
त्रिमूर्त्यात्मा त्रिवेदात्मा सर्वदेवमयो रविः ।।[१]
प्रत्यक्षदैवतं सूर्यः परोक्षं सर्वदेवताः ।
सूर्यस्योपासनं कार्यं गच्छेत्सूर्यसलोकताम् ।। [२]

"यही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और भास्कर हैं। सर्वदेवस्वरूप रवि त्रिमूर्ति और त्रिवेद हैं। सूर्य प्रत्यक्ष और अन्य देव परोक्ष हैं। सूर्य की उपासना करनी चाहिये। इससे सूर्य का सान्निध्य प्राप्त होता है।"

त्वामिन्द्रमाहुस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निस्त्वं मनः सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्म शाश्वतम् ।। [३]

"आपको लोग इन्द्र कहते हैं, आप रुद्र, विष्णु, प्रजापति, अग्नि, सूक्ष्म मन, प्रभु और शाश्वत ब्रह्म हैं।"

आदित्यो मातृको भूत्वा आदित्यो वाङ्मयं जगत् ।।[४]

"आदित्य मातृका बनकर वाङ्मय जगत् का रूप है।"

सूर्य के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है—

नमोङ्कार वषट्कार सर्वयज्ञ नमोऽस्तुते ।
ऋग्वेदाय यजुर्वेद सामवेद नमोऽस्तुते ।।
त्वं ज्योतिस्त्वं द्युतिर्ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमेव रुद्रो रुद्रात्मा वायुरग्निस्त्वमेव च ।।
नमः सुरारिहन्त्रे च सोमसूर्याग्निचक्षुषे ।
नमो दिव्याय व्योमाय सर्वतन्त्रमयाय च ।।
नमो वेदान्तवेद्याय सर्वकर्मादिसाक्षिणे ।
नमो हरितवर्णाय सुवर्णाय नमो नमः ।। [५]

"ओंकार, वषट्कार और सर्वयज्ञस्वरूप ! आपको बार-बार नमस्कार। हे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ! आपको नमस्कार। आपही ज्योति, द्युति, ब्रह्मा, विष्णु, प्रजापति, रुद्र, रुद्रात्मा, वायु और अग्नि हैं। चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप नेत्रवाले राक्षसहन्ता को नमस्कार। दिव्यव्योम और सर्वतन्त्रमय को नमस्कार। वेदान्त से जानने योग्य और सर्वकर्म के आदिसाक्षी को नमस्कार। हरित वर्ण और सुवर्ण को नमो नमः ।।

---

१. सूर्यतापिन्युपनिषत्। अप्रकाशिता उपनिषदः। मद्रास। १६३३। पृ० ५५।
२. तत्रैव। पटल ६, पृ० ६०।
३. महाभारतोक्तं युधिष्ठिरकृतं सूर्यस्तोत्रम्।
४. आदित्यहृदय। श्लोक ३६। मातृक और वाक् के विशेष विवरण के लिये वाक्प्रकरण देखिये।
५. तत्रैव। श्लोक ४४-५३।

बारह महीनों में तपनेवाले बारह आदित्यों के नाम और विवरण इस प्रकार हैं—

एकधा दशधा चैव शतधा च सहस्रधा ।
तपन्ते विश्वरूपेण सृजन्ति संहरन्ति च ॥
एष विष्णुः शिवश्चैव ब्रह्मा चैव प्रजापतिः ।
महेन्द्रश्चैव कालश्च यमो वरुण एव च ।
वायुरग्निर्धनाध्यक्षो भूतकर्त्ता स्वयं प्रभुः ॥
उदये ब्रह्मणो रूपं मध्याह्ने तु महेश्वरः ।
अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्त्तिश्च दिवाकरः ॥[1]

"एक प्रकार से, दश प्रकार से, सौ प्रकार से, सहस्र प्रकार से, विश्वरूप से ये तपते हैं, सृष्टि और संहार करते हैं। यही विष्णु, शिव, ब्रह्मा, प्रजापति, महेन्द्र, काल, यम, वरुण वायु, अग्नि, कुबेर, तत्त्वों के स्रष्टा और स्वतः सिद्ध अधीश्वर हैं। उदय-काल में ब्रह्मा, मध्याह्न में महेश्वर और अन्त काल में स्वयं विष्णुरूप दिवाकर त्रिमूर्ति हैं।

त्रिगुणं च त्रितत्त्वं च त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः ।
त्रयाणां च त्रिमूर्तिस्त्वं तुरीयस्त्वं नमोऽस्तुते ॥[2]

"आप त्रिगुण, त्रितत्त्व, तीन देव, तीन अग्नि, तीनों के त्रिमूर्ति और चतुर्थ हैं। आपको प्रणाम।"

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरिञ्चिनारायण शङ्करात्मने ॥[3]

"संसार के एकमात्र चक्षु, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, नाश के हेतु, त्रिवेदमय, त्रिगुण के आत्मा और आधार, विरिञ्चि-नारायण और शङ्कर के आत्मा-स्वरूप सविता को नमः।"

सूर्य का ध्यानश्लोक इस प्रकार है—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥[4]

"सवितृमण्डल में वर्त्तमान, पद्मासन लगाये हुए, केयूर, मकर कुण्डल, किरीट और हारवाले शङ्खचक्रयुत, सोने-जैसा शरीरवाले नारायण[5] का ध्यान करे।"

इस प्रकार सूर्य-प्रतीक पर भी केवल परमात्मा के ध्यान का विधान है।

सूर्य की सात रंगवाली किरणें इनके सात घोड़े हैं—

जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रमः ।
मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्त कीर्तिता ॥[6]

---

१. तत्रैव। श्लोक ५९, ६०, ६१, ११८।
२. आदित्यहृदय। श्लोक १३८।
३. तत्रैव। श्लोक १३९।
४. तत्रैव। श्लोक १५५।
५. नारायण शब्द के तीन अर्थ किये जाते हैं—१. नारा-जल - अशेष कारण का अर्णव। वह जिसका विश्राम-स्थान है, अर्थात् अशेष कारण स्वरूप परब्रह्म। २. नर, अर्थात् जीवों का समूह नार है। उनका विश्राम-स्थान, अर्थात् आधार परब्रह्म परमात्मा। ३. आपो नारा इति प्रोक्ता—आप का नाम नारा है, और आप का अर्थ है—आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्—ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूर्भुवः स्वः और ओम्। अर्थात् चित् की ज्योति या ब्रह्म जिसका अयन हो, अर्थात् अशेष कारण ब्रह्म का साकार रूप।
६. तत्रैव। श्लोक १२१।

"जय, अजय, विजय, जितप्राण, जितश्रम, मनोजव, जितक्रोध—ये सात घोड़े कहे गये हैं।"

विष्णुलिङ्ग और शिवलिङ्ग की तरह ब्रह्मलिङ्ग के रूप में सूर्य की उपासना होती है। इसका नाम गगनलिङ्ग है। इसमें आकाशवेदी और सूर्यमण्डल लिङ्ग है।

> [illegible]ण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
> गगनलिङ्गमाराध्यं त्वां सूर्यं प्रणमाम्यहम्॥[१]

"चराचरव्यापी अखण्ड वृत्त के आकारवाले, पूजनीय गगनलिङ्ग[१] सूर्य! तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ।"

जिस प्रकार शिवलिङ्ग और शालिग्राम पर सभी देवताओं का आह्वान करके पूजन किया जाता है, उसी प्रकार सूर्यमण्डल में सभी देवताओं का ध्यान कर साधना द्वारा सिद्धिलाभ किया जा सकता है। वाग्देवी, गायत्री आदि देवियों का और नारायण, ब्रह्मा, शिवादि देवों का ध्यान सूर्यमण्डल में विहित है—

त्रिपुरा के सहस्रनामों में एक नाम है—

> भानुमण्डलमध्यस्था॥[२]

सूर्यमण्डल में ललिता के ध्यान का विधान इस प्रकार है—

> सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
> पाशाङ्कुशधनुर्बाणहस्तां ध्यायेत्सुसाधकः।
> त्रैलोक्यं मोहयेदाशु वरनारीगणैर्युतम्॥[१]

"पाश, अङ्कुश, धनुष और बाण हाथों में लिये हुए, देवी त्रिपुरसुन्दरी का सूर्यमण्डल के बीच ध्यान करे। वह श्रेष्ठ स्त्रियोंवाले त्रैलोक्य को मोह लेता है।"

> ये [illegible]मण्डलमध्यवर्तिरूपं तवाम्ब नवयावकपङ्कशोणम्।
> तेषां सदैव कुसुमायुधबाणभिन्नवक्षस्थला मृगदृशो वशगा भवन्ति॥[१]

"अम्ब! नये यावकपङ्क के रंगवाले तुम्हारे रूप का जो सूर्यमण्डल के मध्यभाग में ध्यान करते हैं, कामबाण से विद्ध हृदयवाली मृगलोचनाएँ सदा उनके वश में हो जाती हैं।"

सूर्यमण्डल में गायत्री का ध्यान—

> श्वेतवर्णा समुद्दिष्टा कौशेयवसना तथा।
> श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलङ्कारैश्च भूषिता॥
> आदित्यमण्डलस्था च ब्रह्मलोकगताथवा।
> अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा॥

"(गायत्री का) श्वेतवर्ण, रेशमी वस्त्र, श्वेतचन्दनादि का विलेपन, पुष्प और अलंकार, अक्षसूत्र, पद्मासन तथा आदित्यमण्डल अथवा ब्रह्मलोक में स्थिति का निर्देश किया गया है।"

---

१. सूर्यस्तोत्र। श्लोक ७। गगनलिङ्ग के विशेष विवरण के लिये लिंङ्ग विग्रह-प्रकरण देखना चाहिये।

२. ललितासहस्रनाम। श्लोक ११६।

उपर्युक्त सूर्यमण्डल में नारायण के ध्यान के अतिरिक्त, अन्यत्र परम पुरुष के ध्यान का विधान इस प्रकार है—

ईश्वरं पुरुषाख्यं च सत्यधर्माणमच्युतम् ।
भर्गाख्यं विष्णुसंज्ञं च ध्यात्वामृतमुपाश्नुते ।।
दृश्यो हिरण्मयो देव आदित्यो नित्यसंस्थितः ।
यः सूक्ष्मं सोऽहमित्येव चिन्तयामि सदैव तु ।।

"ईश्वर का नाम पुरुष, सत्यधर्मा, अच्युत, भर्ग और विष्णु है। इनका ध्यान करने से अमृत (त्व) की प्राप्ति होती है। जो नित्य स्थित हिरण्मय देव आदित्य के रूप में दिखाई पड़ता है, उस सूक्ष्म की 'अहं' रूप में मैं सर्वदा चिन्तना करता हूँ।"

गगनलिङ्ग के रूप में सूर्य विभु का प्रत्यक्ष प्रतीक है।

कामदेव[1]

प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि नगर के बाहर उद्यान में कामदेव का मन्दिर रहता था, जिसमें निश्चित तिथि पर एकत्र होकर लोग काम की प्रतिमा द्वारा आराधना करते थे। शिल्पशास्त्र में ऐसी प्रतिमाओं के बनाने का विधान है और उनके उद्देश्य का भी निर्देश है।

विभु की नित्य इच्छा वा काम, उसकी लीला के मूल कारण में से एक है। उसकी कामना ही उसकी लीला (क्रिया) को प्रेरणा देनेवाली शक्ति है। इसलिये सभी कामनाओं के मूल, ब्रह्म का नाम कामेश्वर है। सृष्टिक्रिया में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—ये सभी कामोद्भव और काम-रूप हैं और सर्वव्यापी ब्रह्म, काम के पूर्ण रूप हैं—

आनन्दचिन्मयरसात्मतया मनःसु यः प्राणिनां प्रतिफलन् स्मरतामुपेत्य ।
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्रं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।[2]

"जो चित् और आनन्द के रस से मन को भरकर और प्राणियों में प्रतिफलित होकर, स्मर का रूप धारण कर, अपनी लीलाओं से, निरन्तर अगणित भुवनों की सृष्टि करता रहता है उस आदिपुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।"

सृष्टि में सभी छोटी अथवा बड़ी शक्तियों के, बनाने और बिगाड़नेवाले दो रूप हुआ करते हैं, जो शक्ति के प्रयोगकर्ता की शुद्ध और अशुद्ध बुद्धि पर आश्रित हैं। भगवान् ने गीता में कहा—

धर्माविरुद्धो लोकेऽस्मिन्कामोऽस्मि भरतर्षभ ।

"हे भरतर्षभ ! ऊपर उठानेवाली (धर्म) की अविरोधी कामशक्ति मैं ही हूँ।"

इसका अर्थ होता है कि एतद्विपरीत नीचे गिरानेवाली कामशक्ति राक्षस है।

काम के नाम मनोज, मानसजन्मा, मदन, मन्मथ आदि हैं, क्योंकि मन से इसकी उत्पत्ति है और मन को यह मथ डालता है। जहाँ मन है, वहाँ काम है और इसको

१. इस प्रकरण को कामकला-प्रकरण के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये।
२. योगशास्त्र। ब्रह्मसंहिता। वसुमती प्रेस, कलकत्ता। पृ० २१८, श्लोक ४६।

अनुभव करना स्वस्थ प्राणी का स्वभाव है। इसके वश में पड़कर उन्मत्त होना भी स्वभाव है। इस भावना की विवृति, पुराणों में नाना प्रकार के काव्य और कथानकों के रूप में दी गई है। आदिदेव जगतत्स्रष्टा ब्रह्मा भी सरस्वती के पीछे दौड़ते हैं और आदिदेव महादेव भी मोहनी के पीछे दौड़ते हैं। रसानन्दमय मन्मथ के रूप में गोपीकृष्ण की उपासना होती है।

पुराण में द्वादशी व्रत की कथा है। इसमें कामदेवता के रूप में विष्णु की पूजा का विधान है—

> कामनाम्ना हरेरर्चां स्नापयेद्गन्धवारिणा।
> शुक्लपुष्पाक्षततिलैरर्चयेन्मधुसूदनम् ॥
> प्रीयतामत्र भगवान् कामरूपी जनार्दनः।
> हृदये सर्वभूतानां य आनन्दोऽभिधीयते ॥
> यः स्मरः संस्मृतो विष्णुरानन्दात्मा महेश्वरः।
> सुखार्थी कामरूपेण स्मरेदङ्गजमीश्वरम् ॥[1]

"काम नामक हरि की पूजा करे। सुगन्धित जल से स्नान करावे। उजले फूल और अक्षत और तिल से मधुसूदन की पूजा करे कि कामरूपी भगवान् जनार्दन, जो सब जीवों के हृदय में आनन्द का विधान करते हैं, प्रसन्न हों। जिसे स्मर[2] कहते हैं, वह आनन्द का प्राण विष्णु और महेश्वर है। सुख चाहनेवाला, अङ्ग में उत्पन्न ईश्वर का काम-रूप में स्मरण करे।"

वेश्याएँ स्पर्शसुख के व्यापार से जीविकोपार्जन करती हैं। इस जीविकोपार्जन की क्रिया को भी धर्म का रूप देकर रूपाजीवाओं की आत्मिक पवित्रता और विकास के लिये, काम के रूप में विष्णु की पूजा का विधान है। वेश्याधर्मनिरूपण के प्रसंग में अनङ्गदान-व्रत की कथा है, जिसमें अनङ्गदान का विधान इस प्रकार किया गया है—

> कामदेवं सपत्नीकं गुडकुम्भोपरि स्थितम्।
> ताम्रपात्रासनगतं हैमनेत्रपटावृतम् ॥
> सकांस्यभाजनोपेतमिक्षुदण्डसमन्वितम्।
> दद्यादेतेन मन्त्रेण तथैकां गां पयस्विनीम् ॥
> यथान्तरं न पश्यामि कामकेशवयोः सदा।
> तथैव सर्वकामाप्तिरस्तु विष्णो सदा मम ॥
> यथा न कमला देहात् प्रयाति तव केशव।
> तथा ममापि देवेश शरीरे स्वे कुरु प्रभो ॥[3]

"सपत्नीक कामदेव को ताम्रपात्र में रखकर गुडकुम्भ पर रक्खे और सोने के पत्र से उसकी आँखें ढक दे। काँसे की थाली में खाने की वस्तुएँ और ईख का दण्ड एक दूध

१. मत्स्यपुराण। आनन्दाश्रम। पूना। शाके १८२९। अध्याय ७ श्लोक १५,१६,२८।
२. स्मर—स्मरण-मात्र से जो जग जाय, काम।
३. मत्स्यपुराण। आनन्दाश्रम। पूना। शाके १८२९। अध्याय ७०। श्लोक ५०-५३।

देनेवाली गाय के साथ इस मन्त्र से दान कर दे। क्योंकि काम और केशव में मैं कभी कोई अन्तर नहीं समझती, इसलिये हे विष्णु ! सर्वदा मेरी सभी इच्छाएँ पूर्ण हों। हे केशव ! जिस प्रकार कमला आपके शरीर से कभी अलग नहीं होती है, उसी प्रकार हे देवेश ! मेरे शरीर को भी अपने रूप में ले लीजिये।'

काम की प्रतिमा के निर्माण का विधान शिल्पशास्त्र में इस प्रकार किया गया है—

कामदेवस्तु कर्तव्यो रूपेणाप्रतिमो भुवि ।
अष्टबाहुः प्रकर्तव्यः शङ्खपद्मविभूषणः ॥
चापबाणकरश्चैव मदोदञ्चितलोचनः ।
रतिः प्रीतिस्तथाशक्तिर्मदशक्तिस्तथोज्ज्वला ॥
चतस्रस्तस्य कर्तव्या पत्न्यो रूपमनोहरा ।
चत्वारश्च करास्तस्य कार्या भार्यास्तनोपगा ।
केतुश्च मकरः कार्यं पञ्चबाणमुखो महान् ॥[1]

"कामदेव को संसार में बेजोड़ सुन्दरतावाला बनावे। इसकी आठ भुजाएँ हों, जिनमें शङ्ख पद्म, चाप और बाण हों। मद से उसकी आँखें घूमती हों। उसकी चार स्त्रियाँ हों—रति, प्रीति, शक्ति और मदशक्ति। वे देखने में मनोहर और जगमगाती हुई हों। उसके चार हाथ भार्याओं के स्तनों पर बनाना चाहिये। ध्वजा पर बड़ा-सा मकर हो जिसका मुख पाँच बाणों का बना हो।"

प्रीतिर्दक्षिणभागेऽस्य भोजनोपस्करान्विता ।
वामभागे रतिः कार्या रन्तुकामा निरन्तरम् ॥[2]

"कामदेव के दक्षिण भाग में भोजन की सामग्रीवाली प्रीति की प्रतिमा बनानी चाहिये। वाम भाग में रति को बनाना चाहिये, जिससे रति की इच्छाएँ प्रकट होती रहें।"

ग्रीस में क्यूपिड की आँखें अन्धी कर दी गई हैं। इससे सौन्दर्य की भावना पर चोट लगती हैं। काम से अन्धे प्राणी की आँखें फूट नहीं जातीं। वह भावावेश में उचित-अनुचित का विचार खो देता है, अर्थात् ज्ञान का अन्धा हो जाता है। काम की आँखों पर सोने का पत्र बाँधकर भारतीय विचारकों और कलाकारों ने अपनी कोमल भावना प्रकट की है। भावावेश का चकाचौंध, सोने का पत्र है। प्रतिकृति की आँख फोड़ना असभ्यता होती।

अष्टबाहु इसके आठो दिशाओं में व्याप्तित्व का चिह्न है। पद्म हाथ में रहना सारी सृष्टि पर शासन का प्रतीक है। शङ्ख ॐकारस्वरूप शब्दब्रह्म है। इससे काम का ब्रह्मत्व प्रकट होता है।

कन्दर्प का धनुष, रस से भरे हुए एक प्रकार के इक्षुदण्ड का होता है, जिसे पुण्ड्रेक्षु कहते हैं। जीवन की आनन्दमय सरसता, सृष्टि की वृद्धि और पुष्टि का कारण है। रस से भरा हुआ जीवन, पुण्ड्रेक्षु धनुष है और इससे निकलती हुई कोमल भावनाएँ पुष्पदान हैं, जो चेतना को आनन्द में बिभोर कर प्रपंचलीला की सृष्टि और विस्तार करते रहते हैं।

---

१. विष्णुधर्मोत्तर।

२. शिल्परत्न।

मनीषियों ने कामदेवता के पञ्चबाणों को स्थूल, सूक्ष्म, प्रकृतिमय, भावमय आदि नानारूप दिये हैं।

स्थूल रूप का विवरण इस प्रकार है—

काममन्मथकन्दर्पमकरध्वजसंज्ञकाः ।
मीनकेतुस्तथा पुत्र पञ्चबाणा इति स्मृताः ॥[1]

काली ने कृष्ण से कहा—"वत्स ! काम के पाँच बाणों के नाम ये हैं—काम, मन्मथ, कन्दर्प, मकरध्वज और मीनकेतु।"

सूक्ष्मरूप—

ह्रीं क्लीं ऐं ब्लूं स्त्रीं एते पञ्चबाणाः। एते सर्वचक्रं व्याप्य वर्तन्ते ॥[2]

"ह्रीं इत्यादि पञ्चबाण हैं। ये सर्वचक्र (संसार-भर) में व्याप्त हैं।"

बाह्यप्रकृतिमय—

अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥[3]

"श्वेतकमल, अशोक (के फूल), आम (की मंजरी) नवमल्लिका और नीलकमल—ये काम के बाण हैं।"

भावनामय—

उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा।
सम्मोहनश्च कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः ॥[4]

"उन्मादन (पागल कर देनेवाला), तापन (दुःखी कर देनेवाला), शोषण (शरीर को सुखा देनेवाला) स्तम्भन (कोई काम करने के अयोग्य बनानेवाला) और सम्मोहन (मुग्ध कर देनेवाला) ये (काम के) पाँच बाण कहे गये हैं।"

काम की कल्पना विभु की, आनन्दमय वृत्ति का रूपान्तर-मात्र है, जिसका महास्फोट, रास महानट का नृत्य, संगीत, कोमल भावनाओं का विलास इत्यादि है।[5]

दुर्गा

पुरुषरूप में विष्णु, शिव, प्रजापति, ब्रह्मा इत्यादि के रूप में जिस प्रकार परब्रह्म का ध्यान किया जाता है, उसी प्रकार स्त्रीरूप में, दुर्गा के रूप में उनका ध्यान और उपासना की जाती है। पुरुषरूप में माया और मायी की कभी एक ही और कभी दो भिन्न (स्त्री-पुरुष के) रूपों में कल्पना की जाती है। प्रभामण्डलविहीन नटराज और कालिय पर

---

१. कालीविलासतन्त्रम्। लण्डन। १६१७। पटल २४, श्लोक २३।
२. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्।
३. अमरकोष।
४. तत्रैव।
५. इसकी विशेष जानकारी के लिये त्रिपुरा-प्रकरण भी देखना चाहिये।

नृत्य करती हुई कृष्ण-मूर्ति में एक ही मूर्ति में त्रिगुणात्मिका माया और ब्रह्म के प्रतीक हैं। ये ही भाव अलग-अलग हर-गौरी, राधा-कृष्णादि के रूपों में साकार किये जाते हैं।

पुरुषं वा स्मरेद्देवि स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत्।
अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥[१]

"(परब्रह्म का) पुरुषरूप में वा स्त्रीरूप में ध्यान करे अथवा निराकार सत्-चित्-आनन्दमात्र का चिन्तन करे।"

ब्रह्म एक शक्तिमात्र है, इसका कोई निश्चित रूप नहीं है। इसलिये न इसका कोई लिङ्ग है और न जाति है। रूप तो निमित्त पर आश्रित है। भूतविद्या से एक उदाहरण दिया जा सकता है। बिजली एक शक्ति है। इसका क्या स्वरूप है, यह कहा नहीं जा सकता, पर निमित्त भेद से प्रकाश देती है, यंत्र चालन करती है और उष्णता तथा शीतलता भी प्रदान करती है। ब्रह्म के विषय में भी कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है। पिता का स्नेह प्राप्त करने के लिये पिता के रूप में और माता की अगाध करुणा के लिये मातृ-रूप में इसकी उपासना होती है। इस प्रकार अनन्त रूप अनन्त भावनाओं पर आश्रित हैं।

न त्वमम्ब पुरुषो न चाङ्गना चित्स्वरूपिणि न षण्ढतापि ते।
नापि भर्तुरपि ते त्रिलिङ्गता त्वां विना न तदपि स्फुरेदयम् ॥[२]

"अम्ब ! तू न तो पुरुष है, न स्त्री और न नपुंसक। तू तो केवल चित्-मात्र है। तुम्हारे पति में भी तीनों लिङ्ग नहीं हैं। तुम्हारे विना उनमें स्फुरण नहीं होता।"

राजा सुरथ ने मेधा ऋषि से प्रश्न किया—

भगवन् का हि सा देवी महामायेति यां भवान्।
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्मास्याश्च किं द्विज ॥[३]

"भगवन् ! जिसे आप महामाया कहते हैं, वह देवी कौन है। ब्रह्मन् ! वह किस प्रकार उत्पन्न होती है और उसके कौन-से कर्म हैं।"

मेधा ने उत्तर दिया—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम ॥[४]

"वह सर्वदा बनी रहती है। संसार ही उसकी मूर्ति है। उसीने यह सब फलाया है। तथापि उसकी नाना प्रकार की उत्पत्ति मुझसे सुनिये।"

वहाँ ही ब्रह्मस्तुति में जो लिखा है वह मननीय है। ब्रह्मा कहते हैं—

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारस्वरात्मिका।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता ॥

---

१. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करभाष्य। बम्बई। शाके १८५७। १७वें श्लोक की टीका में उद्धृत।
२. तत्रैव। पृष्ठ २६ में उद्धृत।
३. दुर्गासप्तशती। १.४५।
४. तत्रैव। १.४७।

अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।
त्वमेव सा त्वं सावित्री त्वं देवी जननी परा॥
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये॥
प्रकृतिस्त्वं हि सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी।
यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥[१]

"तुम स्वाहा, स्वधा, वषट्कार अर्थात् सर्वयज्ञमयी, स्वरों का प्राण (वाक्), अमृत अक्षर, ब्रह्मस्वरूपिणी) नित्या (अविनाशी) और तीन मात्राओं (अ, उ, म) के प्राण रूप (ॐ) में स्थित हो। अर्द्धमात्रा (तुरीया) में स्थित नित्या जिसका उच्चारण नहीं हो सकता, वह तुम ही हो। तुम सावित्री हो और सब की जन्मदात्री परा (कारण स्वरूपा) हो। तुम ही विश्व का पालन, सृजन और संहार करती हो। जब सृष्टि नहीं रहती है, तब सृष्टिरूप में तुम ही प्रकट होती हो। जगन्मयि ! पालन में स्थितिरूपा और अन्त में हृतिरूप तुम ही हो। सबका उत्पत्तिस्थान तुम ही हो और तीनों गुणों को विभावित (क्रियाशील) करनेवाली हो।

"सब के प्राण ! सत् असत् जहाँ जो कुछ है, उन सबकी जो शक्ति है उसकी क्या स्तुति हो।"

जिसकी प्राप्ति कष्टसाध्य हो, उसे दुर्गा कहते हैं। ब्रह्मप्राप्ति की योग्यता का लक्षण कहा गया है—'इहामुत्र भोगविरागः'। - जीवनकाल में और मरने के बाद भी भोग से उदासीनता। यह बड़ा कठिन व्रत और दुःसाध्य अवस्था है। इसलिये ब्रह्मप्राप्ति के व्रत को क्षुर की धार पर चलने के समान कहा गया है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥[२]

देव्युपनिषत् में दुर्गा शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी॥
यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।
तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्।
नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम्॥[३]

१. दुर्गासप्तशती। १.५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ६३।
२. कठोपनिषत्। ३.१४
३. देव्युपनिषत्। श्लोक १७, १८, १९।

"देवी मन्त्रों की जननी और शब्दों का ज्ञान हैं। ज्ञान में भी चेतना से आगे और शून्यों में भी शून्य की साक्षिणी हैं। जिनसे बढ़कर कोई नहीं है, उसीका नाम दुर्गा है। उस पापनाशिनी, भवसागर से उद्धार करनेवाली दुर्गमा दुर्गा देवी को, संसार से त्रस्त होकर मैं प्रणाम करता हूँ।"

वहाँ ही देवी के स्वरूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः कासि त्वं महादेवि। साऽब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च। अहमानन्दानानन्दाः। विज्ञानाविज्ञानेऽहम् ब्रह्माऽब्रह्मणी वेदितव्ये। इत्याहाथर्वणी श्रुतिः॥[1]

"सभी देवता देवी को घेर कर खड़े हो गये—'देवि! तुम कौन हो। उन्होंने कहा मैं ब्रह्म हूँ। मुझसे ही प्रकृति-पुरुष और शून्य-अशून्यवाला जगत् है। मैं आनन्द और अनानन्द हूँ। जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म (हूँ)।' यह अथर्व वेद का मत है।"

विष्णु, शिवादि रूपों से भिन्न अपनी विभूतियों और शक्तियों समेत, ब्रह्म के एक अभिनव रूप कल्पना का प्रतीक दुर्गा की प्रतिमा है।

दुर्गा पराशक्ति अथवा परब्रह्म हैं। त्रिशक्ति (ज्ञान, इच्छा और क्रिया) इनके तीन नेत्र हैं। ज्योति-स्वरूप सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी त्रिनेत्र कहे जाते हैं। जब आगे-पीछे अथवा दक्षिण-वाम—इन दो ही भागों में दिशाओं की कल्पना की जाती है, तब इनकी दो भुजाएं होती हैं। मीनाक्षी[2], कुमारी[3] पार्वती आदि रूपों में दो भुजाएँ मानी जाती हैं। जब दिशाओं के पूर्वादि चार रूप माने जाते हैं, तब इनकी चार भुजाएं होती हैं। चार दिशाओं और चार उपदिशाओं की कल्पना पर आठ भुजाएँ मानी जाती हैं। ऊर्ध्व और अधः जोड़ देने से दश दिशाओं के प्रतीक दश भुजाएं और असंख्य कल्पित दिशाओं में सर्वव्यापित्व दिखलाने के लिये सहस्र अथवा दश सहस्र भुजाओं की कल्पना की जाती है।

महिषासुर ने देवी को देखा—

स ददर्श ततो देवीं व्याप्तलोकत्रयां त्विषा।
पादाक्रान्त्या नतभुवं किरीटोल्लिखिताम्बराम्॥
क्षोभिताशेषपातालां धनुर्ज्यानिःस्वनेन ताम्।
दिशो भुजसहस्रेण समन्ताद्व्याप्य संस्थिताम्॥[3]

---

१. देव्युपनिषत्।

२. मीनस्येव ईक्षणं यस्याः। मीनानां वीक्षणमात्रे शिशूनामभिवृद्धिर्नतु स्तन्यदानादिनेति प्रसिद्धेः। तेन कटाक्षमात्रेण भक्तपोषका इत्यर्थः। अर्थात् मछली केवल दृष्टि-पातमात्र से अपने बच्चों को पोसती है, दूध पिलाकर नहीं। उसी तरह दुर्गा दृष्टिपात-मात्र से भक्तों को पोसती हैं। ललिता स० न०, श्लोक ५७ की टीका।

३. 'यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति'। दुर्गा०स० ५.६६ 'जो मुझे युद्ध में जीत ले, जो मेरा दर्प दूर कर दे, जो मेरे जैसा बली हो, वही मेरा पाणिग्रहण करेगा।' ब्रह्ममयी की तुलना में ऐसा कोई नहीं है। इसलिये वह कुमारी है।

"तब उसने देवी को देखा। उनकी ज्योति से तीनों लोक भर गया था। पैरों के दबाव से पृथ्वी धँस रही थी और किरीट आकाश को कुरेद रहा था। धनुष की डोरी के टङ्कार से अन्तिम पाताल तक डगमगा रहा था और उसकी सहस्रों भुजाएँ आकाश की ओर फैलकर भर गई थीं।"

यह देवी के सर्वव्यापी रूप की कल्पना है।

दश भुजाओं की कल्पना में, इनके दश हाथों में, दश दिक्पालों के अस्त्र रहते हैं—पूर्व दिशा के अधिपति इन्द्र का वज्र, अग्निकोण के अग्नि की शक्ति, दक्षिण के अधिपति यम का दण्ड, नैऋ त के निऋ ति का खड्ग, पश्चिम के वरुण का पाश, वायुकोण के वायु का अंकुश, उत्तर के कुबेर की गदा, ईशान के ईश का शूल, ऊपर विष्णु का चक्र और नीचे ब्रह्मा का पद्म।

चार और आठ भुजाओं की परिकल्पना में अस्त्रों के विधान भी तदनुसार होते हैं। इनके चतुर्भुज और अष्टभुज विग्रहों की उपासना का भी बहुत प्रचार है।

दो भुजाओंवाले विग्रह की कल्पना करने पर दोनों में विग्रह के निमित्त सूचक दो अस्त्र रहते हैं। जैसे बगला के हाथ में गदा और शत्रुजिह्वा और छिन्नमस्ता के हाथ में छिन्न मस्तक और खड्ग। अथवा दोनों हाथ अभय और वरद-मुद्रा में रहते हैं।

महिषासुरमर्द्दिनी के रूप में एक सर्प है, जो महिष के अङ्ग से लिपटकर उसे विवश किये रहता है। अध्यात्म-पक्ष में महिषासुर महामोह का प्रतीक है। जब वह कालक्रम से परिणतावस्था प्राप्त कर घोर उपद्रव का रूप धारण कर लेता है, तब कालशक्ति (सर्प) द्वारा विवश कर महाशक्ति उसे समेट कर आत्मसात् कर लेती है। विद्या और अविद्या की यह क्रिया सृष्टि में निरन्तर चलती रहती है। इसलिये इनके इस रूप की परिकल्पना भी चिरन्तन है।

मधु-कैटभ, महिष, शुम्भ-निशुम्भादि महामोह वा अविद्या हैं। इनका महा-पराक्रमी रूप और सबपर विजय प्राप्त करना इनका प्रचण्ड सर्वव्यापित्व का लक्षण है। देवी से युद्ध करते समय शुम्भ और निशुम्भ के रूप का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

स रथस्थस्तथात्युच्चैर्गृहीतपरमायुधैः।
भुजैरष्टाभिरतुलैर्व्याप्याशेषं बभौ नभः॥[1]
पुनश्च कृत्वा बाहूनामयुतं दनुजेश्वरः।
चक्रायुतेन दितिजश्छादयामास चण्डिकाम्॥

"वह (शुम्भ) रथ पर बैठा था। अपने अतुलनीय हाथों में बड़े-बड़े अस्त्रों को ऊँचा उठाये हुए सारे आकाश को भरकर जगमगा रहा था।"

"फिर दैत्याधिपति (निशुम्भ) ने अपना सहस्रों हाथ प्रकट कर सहस्रों चक्रों से उस राक्षस ने चण्डिका को ढँक दिया।"

शुम्भ-निशुम्भ की ये आठ और सहस्रों भुजाएँ प्रबल महामोह का सर्वव्यापित्व है।[3]

१. दुर्गासप्तशती। ६.१६।
२. तत्रैव। ६.२८।
३. यह वेद का वृत्र है। जितना ही इसका नाश किया जाता है, उतनी ही इसकी वृद्धि होती है।

अपनी विश्वधारण-शक्ति धर्म पर अवस्थित रहकर, जगन्मूर्ति की सारी क्रियाएँ वा लीलाएँ सर्वत्र होती रहती हैं। इसलिये सभी रूपों में धर्म ही उसका वाहन है। विष्णु-रूप में धर्म गरुड़ और शिव-रूप में वृषभ है। दुर्गा-रूप में सिंह और बुद्ध-रूप में सिंह, वृषभ, गज, और अश्व है। जैनमत में गोमुख के रूप में धर्म को (वृषभ-रूप में) ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया गया है।

दुर्गा के सिंह का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

दक्षिणे पुरतः सिंहं समग्रं धर्ममीश्वरम्।
वाहनं पूजयेद्देव्या धृतं येन चराचरम्॥[१]

"देवी के दक्षिण ओर, सामने, शक्तिशाली समग्रधर्मस्वरूप सिंह की पूजा करे। यह देवी का वाहन है, जो चराचर को धारण किये रहता है।"

पराशक्ति की लीला का अवलम्ब होने के कारण सिंह को विष्णु और महिष को सदाशिव भी कहा गया है—

अधुना संप्रवक्ष्यामि सिंहस्य च यथोचितम्।
सिंहस्त्वं हरिरूपोऽसि स्वयं विष्णुर्न संशयः॥
पार्वत्या वाहनं त्वं हि अतस्त्वां पूजयाम्यहम्॥[१]

"अब सिंह का यथोचित विवरण देता हूँ। सिंह! आप हरि-रूप (सिंह-रूप में) निःसन्देह स्वयं विष्णु हैं। आप ही पार्वती के वाहन हैं, इसलिये आपकी पूजा करता हूँ।"

यहाँ संसार की स्थिति के कारण विष्णु और धारणशक्ति धर्म को एक ही रूप में देखा गया है।

अधुना सम्प्रवक्ष्यामि महिषस्य च पूजनम्।
महिषस्त्वं महावीरः शिवरूपः सदाशिवः।
अतस्त्वां पूजयिष्यामि क्षमस्व महिषासुर॥[२]

"अब महिष के पूजन का विवरण देता हूँ। महिष! आप बहुत बड़े वीर शिवरूप सदाशिव हैं। इसलिये आपकी पूजा करूँगा। महिषासुर क्षमा कीजिये।"

यहाँ महिष को भी प्रपंचलीला का अवलम्ब माना गया है।

वाहनरहस्य का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

सिंहस्थां परमेशानीं ब्रह्मविष्णुशिवार्चिताम्।
प्रेतस्थां च महामायां रक्तपद्मासनस्थिताम्॥
सिंहस्थां च तथा दुर्गां ध्यायेत्परममोक्षदाम्।
शिवः प्रेतो महादेवो ब्रह्मा लोहितपङ्कजः।

१. वैकृतिरहस्य।
२. कालीविलासतन्त्रम्। लण्डन। १९१७। पटल १८. श्लोक २९।
३. तत्रैव। १९.१,२।

विष्णुः सिंह इति ख्यातः वाहनानि महौजसः ॥
स्वमूर्त्या वाहनं नैव तेषां देवि प्रयुज्यते ॥
तत्तन्मूर्त्यन्तरं कृत्वा वाहनत्वं गतास्त्रयः ।
शिवप्रेते कदाचित् सा कदाचिद्रक्तपङ्कजे ॥
कदाचित् केशरिपृष्ठे वसते परमेश्वरि ।
कामकाले शिवप्रेते वसते सिंहवाहिनी ॥[१]

"ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूज्या, महामाया, परमेश्वरी का सिंहस्थ, शवारूढ तथा रक्तपद्मस्थ, और दुर्गा का सिंहस्थ ध्यान करे। यह परम मोक्ष देनेवाली है। महादेव शिव, शव हैं, ब्रह्मा लाल कमल हैं और विष्णु सिंहरूप में विदित हैं। ये बड़े तेजस्वी वाहन हैं। देवि ! अपने ही रूप पर ये नहीं चढ़ सकते, इसलिये अपनी ही दूसरी मूर्ति बनाकर ये तीनों अपने वाहन बन गये। कभी शिव-शव पर, कभी लाल कमल पर, कभी सिंहपीठ पर सिंहवाहिनी रहती है।"

आध्यात्मिक पक्ष में वाहनतत्त्व का अभिप्राय यही है कि अशेष निष्क्रिय तत्त्व पर उसकी शक्ति प्रकट होकर क्रियाशक्ति के रूप में त्रिगुणात्मक प्रपंचलीला की रचना करती है।

देवी-प्रतिमा के एक ओर बुद्धि के प्रधान देवता गणेश और धनशक्ति लक्ष्मी हैं और दूसरी ओर ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती और सैन्यबल के प्रतीक सेनापति कार्तिकेय हैं।

गणेश के स्वरूप पर विचार हो चुका है। लक्ष्मी के तत्त्व और रूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

या विद्या प्रकृतिर्लक्ष्मी दुर्गाया दक्षिणे स्थिता ।
तां तप्तकाञ्चनाभासां द्विभुजां लोललोचनाम् ॥
कटाक्षविशिखोद्दीप्तामञ्जनाञ्चितलोचनाम् ।
शुक्लाम्बरपरीधानां सिन्दूरतिलकोज्ज्वलाम् ।
शुक्लपद्मासनगतां ध्यायेन्नारायणप्रियाम् ॥[२]

"जो विद्या (ब्रह्मस्वरूपिणी) प्रकृति (जगत्कारणरूपा, मूलतत्त्व ब्रह्म की प्रतिकृति) लक्ष्मी रूप में दुर्गा के दाहिनी ओर स्थित हैं, उस नारायणप्रिया का तपाये सोने-जैसे वर्ण-वाले, द्विभुज, कटाक्षबाण से उद्दीप्त लोल अञ्जित लोचनवाले, शुक्लाम्बरवाले, सिन्दूर-तिलक से जगमगाते हुए, श्वेतपद्म पर बैठे हुए, रूप का ध्यान करे।

सरस्वती और कार्तिकेय के तत्त्व और रूप का विवरण इस प्रकार है—

शरदिन्दुकुन्दसंकाशां द्विभुजां कमलेक्षणाम् ।
कटाक्षेण च सोद्दीप्तामञ्जनाञ्चितलोचनाम् ॥

---

१. तत्रैव। २१.२६—३३।
२. तत्रैव। पटल २०। श्लोक १-३।

सिन्दूरतिलकोद्दीप्तां दिव्याम्बरपरिच्छदाम् ।
दिव्याभरणशोभाढ्यां वाक्यरूपां सरस्वतीम् ॥ [1]

"शङ्ख, कुन्द, चन्द्रमा— जैसी, द्विभुजा, कटाक्ष से उद्दीप्त, अञ्जित, कमल-से नेत्रवाली, सिन्दूर-तिलक से चमकती हुई, दिव्य वस्त्रोंवाली, दिव्य भूषणों की शोभावाला वाक्-रूपिणी सरस्वती का (ध्यान करे) ।"

सोष्णीशमस्तकं देवं मयूरवरवाहनम् ।
ब्रह्माण्डाभ्यन्तरे वीरं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥ [2]

"मस्तक पर उष्णीश, मयूरवर वाहन, ब्रह्मविष्णुशिवस्वरूप वीर (स्कन्द) का ब्रह्मव्यापी (ध्यान करे) ।"

दुर्गासप्तशती

दुर्गोपासना का सर्वप्रधान ग्रन्थ दुर्गासप्तशती है । यह मार्कण्डेय पुराण का ८१ से ९३ अध्याय तक है । इसमें ५६७ श्लोकों के ७०० मंत्रों में विभाग किये गये हैं । इसलिये इसे दुर्गासप्तशती कहते हैं ।

सप्तशती की कथा सूक्ष्म भावनाओं का प्रतीक है । दुर्गा को जानने और प्राप्त करने की जिज्ञासा और उद्यम की कथा का आरम्भ राजा सुरथ (अच्छे रथवाला, अर्थात् कर्मनिष्ठ) और समाधि वैश्य (चित्त की एकाग्रता) की कथा से, होता है । सुरथ शत्रुओं से पराजित हुए और राज्य छोड़कर उन्हें वन में शरण लेना पड़ा । समाधि को स्त्रियों और पुत्रों ने धन के लोभ से, मार-पीट कर घर से निकाल दिया । अर्थात् , कर्मठताविरोधी शक्तियों से पराजित हुई और चित्त की एकाग्रता संसार की चंचलताओं से घबराकर भाग खड़ी हुई । कर्म और समाधि, दोनों व्याकुल होकर ऋषि सुमेधा (सद्बुद्धि, विचार-शक्ति) के पास जाते हैं और देवी महामाया क विषय में प्रश्न करते हैं । उनके उपदेश से वे तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं और उनके बताये हुए उपाय से ब्रह्मशक्ति को प्रकट करते हैं । देवी की कृपा से सुरथ को राज्य (भोगसिद्धि) मिलता है और समाधि को उसकी इच्छा के अनुसार मोक्ष मिलता है ।

दुर्गासप्तशती में दुर्गोपासना का जिस प्रकार विधान किया गया है, उसमें मानवबुद्धि और समाज के गूढ़तम सिद्धान्त सन्निहित हैं । आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति के उद्भव और विकाश के स्थूल, सूक्ष्म और पर— जितने रूप हो सकते हैं उनके प्रपंचात्मक तथा आध्यात्मिक सभी पक्षों पर विचार किया गया है और उनकी साधना की रीति बताई गई है ।

मनुष्यमात्र की प्रथम आवश्यकता भोजन है । इसका विकसित रूप व्यक्तिगत सम्पत्, प्रौढ़रूप राष्ट्रसम्पत् और और विराट्-रूप महालक्ष्मी है । इसकी रक्षा के लिये क्रमशः

१. तत्रैव । २०.७,८ ।
२. तत्रैव । पटल १८ । श्लोक ७ ।

उसी परिमाण में व्यक्तिगत राष्ट्रीय और विराट् रूप में बल चाहिये नहीं तो गदहे गेहूँ चर जायँगे और लक्ष्मी को राक्षस लूट ले जायँगे। बल के भी तीन रूप हैं—व्यक्तिगत शक्ति, सुसंगठित समूहशक्ति और विराट् वा महाकाली शक्ति। सम्पत्ति और बल के समायोग से पशुशक्ति, अर्थात् मनुष्य का शारीरिक आवश्यकताओंवाला पशुरूप पूर्ण हो जाता है। मनुष्य और पशु दोनों समान रूप से इसका उपयोग करते हैं। शारीरिक बल में श्रेष्ठ मनुष्य और पशु बलहीन का सर्वस्व अपहरण कर आत्मसात् कर लेते हैं। इतने में ही अपने को आबद्ध रखनेवाला मनुष्य राक्षस हो जाता है। (रावण, कंसादि ऐसे ही राक्षस थे)। मनुष्यत्व और देवत्व के लिए, इन शक्तियों के अतिरिक्त विवेक की आवश्यकता होती है। इसका व्यस्तरूप व्यक्तिगत विद्वत्ता और ज्ञान, समस्तरूप विद्याविलासियों और ज्ञानियों का समाज और विराट् रूप महासरस्वती हैं। मानव और मानवता को परमोत्कृष्ट रूप देने के लिये ही, उस एका महाशक्ति की, महालक्ष्मी, महाकाली[१] और महासरस्वती के रूप में उपासना की जाती है।

दुर्गा की प्रतिमा समस्त शक्ति अर्थात् राष्ट्रशक्ति का प्रतिरूप है। जो व्यक्ति और व्यक्तियों का सम्मिलित रूप राष्ट्र, शारीरिक बल, सम्पत्तिबल और ज्ञानबल से सिंह सदृश है, उस व्यक्ति में और उस राष्ट्र पर दुर्गा (शक्ति) प्रकट होती है। राष्ट्र को पशुबल (कार्तिकेय) और सम्पत्तिबल (लक्ष्मी) और ज्ञानबल (सरस्वती) अवश्य चाहिये, किन्तु बुद्धिहीन बल, सम्पत्ति और ज्ञान निरर्थक ही नहीं, वरन् आत्मसंहार के लिये प्रबल अस्त्र सिद्ध होते हैं। इसलिये मनुष्यता के आदि देव, बुद्धि के महाकाय (गणपति) वर्तमान हैं, जिनकी विशाल बुद्धि (शरीर) के भार के नीचे सभी विघ्न (चूहे) विवश रहते हैं। सभी दिशाओं में फैली हुई राष्ट्रशक्ति ही, राष्ट्र की, दो, चार, आठ, दश, सहस्र और अनन्त तथा असंख्य भुजाएँ हैं और सब प्रकार के उपलब्ध अस्त्र-शस्त्र ही दिक्पालों के अस्त्र-शस्त्रादि इनके आयुध हैं। कोई व्यक्ति और राष्ट्र ऐसा नहीं है, जिसका विरोधी न हो। यही महिष है, शक्ति जिसका सर्वदा संहार करती रहती है। दुर्गा के रूप में यह भारतशक्ति की उपासना है।

---

१. महाकाली—कल गतौ। काली-क्रियारूपिणी महाशक्ति, जो अपने ज्ञानबल और सम्पत्तिबल से सृष्टि का प्रवर्तन, संचालन और रक्षा करती रहती है। चण्ड-मुण्ड और उसके योद्धाओं ने देवी को देखा—

ददृशुस्ते ततो देवीमीषद्धासां व्यवस्थिताम्।
सिंहस्योपरि शैलेन्द्रशृङ्गे महति काञ्चने॥ दु. स. ७.२

"उन्होंने देखा कि शैलराज का एक बड़ा भारी सोने का शिखर है। वहाँ सिंह पर बैठी देवी ज़रा-सा मुस्कुरा रही हैं। राक्षसों की धृष्टता देखकर उनको बड़ा क्रोध हुआ—
ततः कोपं चकारोच्चैरम्बिका तानरीन्प्रति। कोपेन चास्या वदनं मषीवर्णमभूत्तदा। तत्रैव ७.२
भ्रुकुटीकुटिलात्तस्या ललाटफलकाद्द्रुतम् काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी। तत्रैव ७.५
"तब अम्बिका को उन शत्रुओं पर बड़ा क्रोध हुआ। क्रोध से इनका रंग काला हो गया। टेढ़ी भौंहोंवाले इनके ललाटपट्ट से करालमुखवाली काली, खड्ग और पाश के साथ निकल पड़ीं।" इससे स्पष्ट है कि माँ के क्रियारूप का ही नाम काली है।

दुर्गा सप्तशती की कथा में, समाज की अविकसित, अर्द्ध विकसित और पूर्ण विकसित अवस्थाओं में, शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों का, बड़ा सुन्दर विवरण मिलता है। मधु-कैटभ की कथा में समाज की आदिम अविकसित अवस्था का चित्र है। इस अवस्था में व्यक्तिगत पशुबल, अर्थात् शारीरिक बल, काम करता है, बुद्धि काम नहीं करती। मधु और कैटभ एक बूढ़े और निःसहाय पुरुष (ब्रह्मा) को देखते हैं और विना कारण ही उनकी हत्या करने को तैयार हो जाते हैं। विष्णु से मल्लयुद्ध करते-करते प्रसन्न हो जाते हैं और उन्हें इतनी ही बुद्धि है कि मरने-मारने पर तुले हुए शत्रु (विष्णु) को वर दे बैठते हैं। यह पशुत्व और बुद्धिहीनता की पराकाष्ठा है। घबराकर प्राणरक्षा के लिये चारों ओर देखते हैं। देखते हैं कि सर्वत्र प्रलयकाल का जल ही जल है। उनकी समझ में यह नहीं आता है कि कहीं सूखा भी हो सकता है। झट कह बैठते हैं—जहाँ धरती पर पानी न हो, वहाँ हमें मार डालो। उनकी आँखों के सामने ही सूखा निकल आता है—विष्णु की जाँघ, और उसी पर रखकर उनके शिर काट दिये जाते हैं। यहाँ व्यक्ति में पशुत्व की प्रचुरता और बुद्धि का नितान्त अभाव दिखाया गया है।

महिषासुर की कथा में समाज की व्यस्त शक्तियों की, समस्तरूप में अग्रसर होने की कथा है। देवगण राक्षसों से हारकर आत्मरक्षा का उपाय ढूँढ निकालने के लिये अपने नायक ब्रह्मा, विष्णु, महेश के पास जाते हैं। महिषासुर पर देवनायकों को क्रोध होता है। उनमें से प्रत्येक के शरीर से ज्योति निकलती है और मिल जाने से, जलते हुए ज्योति के पर्वत-सी दिखाई पड़ती ह। यह ज्योतिराशि घनीभूत होकर स्त्री-रूप में परिवर्तित हो जाती है। उसक प्रकाश से सारी सृष्टि भर जाती है। देवी को देखकर सभी बड़े प्रसन्न होते हैं और जिसक पास जो अस्त्र-शस्त्र है, उसका सार भाग देकर देवी का सम्मान करते हैं। आदर पाकर देवी प्रसन्न होती है और अट्टहास करने लगती है। इससे क्रुद्ध होकर महिषासुर उन पर आक्रमण कर देता है और सैन्यसमेत मारा जाता है। यह व्यक्ति की शक्तियों का संघटन कर समष्टि, अर्थात् संस्था, के रूप में समाज का निर्माण करना है। जब किसी संस्था के सभी सदस्य इसमें अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं, तब वह शक्तिशालिनी बन कर अट्टहास करने लगती ह। उसकी प्रचण्ड शक्ति क सामने कोई विरोधी ठहर नहीं सकता।

शुम्भ-निशुम्भ की कथा में समाज के चरम विकास की कथा है। शुम्भ-निशुम्भ दो थे। उन्होंने रक्तबीज के रूप में अपने दल और समाज का अद्भुत संघटन किया था। वे स्वयं बलवान् चतुर और बुद्धिमान् तो थे ही, रक्तबीज के रूप में उनकी संघटित शक्ति ने उन्हें दुर्दान्त और उद्दण्ड बना दिया था। उनके दल में जहाँ एक गिरता था वहाँ सौ (रक्तबीज) उठकर खड़े हो जाते थे, जहाँ से एक हटता था वहाँ असंख्य योद्धा उनका स्थान लेने को प्रस्तुत थे। देवी एक थीं, उन्होंने असंख्य शक्तियों के रूप में अपने को प्रकट कर फैला दिया। घोर युद्ध हुआ और सब राक्षस मारे गये। केवल शुम्भ बच गया। उसने कहा—मैं अकेला हूँ और तुम बहुत-सा हो। यह कैसा युद्ध है। देवी ने कहा—तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट (दुष्ट) है। मुझको छोड़कर संसार में दूसरा है कौन ? देखो, मेरी विभूतियाँ मुझमें अभी समा जाती हैं। देखते-ही-देखते देवी की सारी विभूतियाँ ब्रह्माणी इत्यादि उनमें

समा गईं और देवी अकेली रह गई। युद्ध हुआ और शुम्भ मारा गया। इससे स्पष्ट है कि जब समाज की व्यक्तिगत शक्तियाँ असंख्य रूपों में प्रकट हों और आवश्यकता पड़ते ही एक रूप धारण करें, और आवश्यकता पड़ते ही एक से असंख्य बन जायँ—तो यह सामाजिक विकास और संघटन की पराकाष्ठा है। इसी में दुर्दान्त दैवी और प्रचण्ड दानवी शक्तियाँ सन्निहित हैं।

(किसी व्यक्ति वा संस्था का देव और दानव रूप विचार की शुद्धता तथा अशुद्धता पर आश्रित है। अशुद्ध विचारों के कारण कोई राक्षस बन जाता है और शुद्ध विचारों से मनुष्य और देवता बनता है।)

दुर्गा सप्तशती में बारम्बार यही दिखाने की चेष्टा की गई है कि देवी विश्वव्यापिनी और एक हैं और उनकी इच्छा से उनके असंख्य रूप हो जाते हैं। शुम्भ-निशुम्भ से उत्पीड़ित देवताओं ने देवी की स्तुति की। उसी स्थान पर एक पहाड़ी सोते में स्नान करने पार्वती आईं। उन्होंने देवताओं से पूछा कि आप किसकी स्तुति कर रहे हैं। उनके शरीर से निकल कर एक देवी ने कहा—'स्तोत्रं ममैतत्क्रियते'—यह मेरी स्तुति हो रही है, और पार्वती का रंग काला हो गया। वे काली बन गईं। ऐसी कथाओं द्वारा यही स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि देवी एक हैं, किन्तु उनके रूप अनेक हैं और हो सकते हैं। नवार्ण मन्त्र (ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे) द्वारा इसे और भी स्थिरता दे दी गई है। सप्तशती के पटलों का क्रम है काली, लक्ष्मी और सरस्वती; किन्तु, मन्त्र के बीजों का क्रम है सरस्वती (ऐं) लक्ष्मी (ह्रीं) और काली (क्लीं), अर्थात् काली-पटल की क्रियाएँ सरस्वती-बीज से होती हैं और सरस्वती-पटल की क्रियाएँ काली-बीज से। देवी के आदि रूप को लक्ष्मी कहा गया है। लक्ष्म का अर्थ है चिह्न, लिङ्ग। यह ब्रह्म की त्रिमूर्ति की तरह है। लक्ष्मी, अर्थात् ब्रह्म की प्रगट इच्छाशक्ति मध्य में रहकर ज्ञान (सरस्वती) और क्रिया (काली)-शक्तियों का संचालन करती रहती है, इसलिये यह ह्रीं (देवी प्रणव) का वाच्य बन कर मध्यस्थ रह जाती है।

यंत्र-प्रतीक पर भी, सभी देवताओं की तरह, देवी की भी पूजा होती है। उसमें प्रधान देवता का स्थान यन्त्र क मध्य में होता है और आवरण देवताओं की पूजा प्रधान देवता के भिन्न-भिन्न पार्श्व में यंत्र के भिन्न-भिन्न भागों पर होती है। वहाँ उन देवताओं की प्रतिमा नहीं बनाई जाती। केवल ध्यान और मन्त्र से उनकी पूजा होती है।

यंत्र और प्रतिमा एक ही भावना के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं। देवी के रूप की कल्पना भी शिवलिङ्ग की तरह यंत्र की भावनाओं के आधार पर की जाती है। दिव्यज्योतिस्वरूप पराशक्ति का घनीभूत रूप यंत्र है और दिव्यज्योति का घनीभूत लघुरूप शिवलिङ्ग है। दुर्गासप्तशती के द्वितीय अध्याय में है कि देवताओं की आत्मज्योति जलते हुए पर्वत की तरह दिखाई पड़ने लगी (अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्) और वह घनीभूत होकर स्त्रीरूप में परिवर्तित हो गई। रुद्र-अंश से उसका मुख बना (यदभूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम्)। यह शिवलिङ्ग का गोल रुद्रांश है। आठ भुजाए विष्णु-अंश से बनीं (बाहवो विष्णुतेजसा)। यह शिवलिङ्ग का वेदी के भीतरवाला अष्टप्रकृति का सूचक अष्टकोण है। ब्रह्मा के तेज से उनके चरण बने (ब्रह्मणस्तेजसा पादौ) यह शिवलिङ्ग के निम्नस्थ ब्रह्मांश का सूचक स्थितितत्त्व चतुष्कोण है। ये ही यन्त्र क क्रमशः बिन्दु, अष्टदल और चतुष्कोण-भूपुर हैं।

दशमहाविद्या

ब्रह्म का ही दूसरा नाम ज्ञान वा विद्या है। शाक्तसम्प्रदाय में जिन दश प्रधान रूपों में ब्रह्म की उपासना होती है, उन्हें महाविद्या कहते हैं।

ब्रह्म, अर्थात् ब्रह्ममयी की असंख्य रूपों में उपासना हो सकती है और होती है।

असंख्या त्रिपुरा देवी असंख्याता च कालिका।
वागीश्वरो तथा संख्या तथा च सुकुलाकुला।।
मातङ्गिनी तथा पूर्णा विमला चण्डनायिका।
त्रिपुरैकजटा दुर्गा या चान्या कुलसुन्दरी।।[1]

"त्रिपुरा देवी असंख्य हैं, कालिका, वागीश्वरी, शक्तिमयी (सुकुला)[2] शिवमयी (अकुला)[2], मातङ्गिनी, पूर्णा, विमला, चण्डिका, एकजटा, दुर्गा, कुण्डलिनी (कुलसन्दरी) आदि के भी असंख्य (नाम और रूप हैं।'

रुचि और निमित्तभेद से इन असंख्य रूपों में से किसी भी या अनेक रूपों में ब्रह्मविद्या की उपासना की जा सकती है।

ये दश महाविद्याएं हैं—

काली तारा छिन्नमस्ता सुन्दरी बगला रमा।
मातङ्गी भुवनेशानी सिद्धविद्या च भैरवी।
धूमावती च दशमी महाविद्या दश स्मृता॥[3]

"सिद्ध महाविद्या के रूपों में ये दशमहाविद्या हैं–काली, तारा, षोडशी सुन्दरी, छिन्नमस्ता, बगला, कमला, मातङ्गी, भुवनेश्वरी, भैरवी और धूमावती।"

शाक्तदर्शन में प्रकाश और विमर्श, इन दो शब्दों का प्रयोग होता है। विमर्श का अर्थ है—

विमृश्यते परामृश्यते इदम् इति विमर्शः प्रपञ्चः।।

"जो संकल्प-विकल्प का विषय हो सके, उसे विमर्श अर्थात् प्रपञ्च कहते हैं।"

वेदान्त का परमार्थ और प्रपञ्च ही तन्त्रदर्शन का प्रकाश और विमर्श है।

सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्तः।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः॥[4]

"सारी सृष्टि के उदय, स्थिति, लयरूप लीला-विनोद में संलग्न, जिसके भीतर विमर्श लीन है, प्रकाशमात्र शरीरवाले महेश रक्षा करें।"

---

१. कुलचूडामणि। कलकत्ता। १९१५। पटल १। श्लोक १, २।
२. कुल—शक्ति। अकुल—शिव। इसलिये शक्तिस्थान मूलाधार का नाम है। कुलकुण्ड, और सहस्रार का नाम है अकुल।
३. पुरश्चर्यार्णव। नेपाल महाराज प्रताप सिंह कृत। बनारस। १९०१। पृ० १३ में शक्तिसंगम से उद्धृत।
४. कामकलाविलास। कलकत्ता। १९२५। मङ्गलाचरण। यह शाक्तदर्शन का ग्रन्थ है, कामशास्त्र का नहीं।

प्रकाश और विमर्श पर भास्करराय का मत है -

प्रकाशात्मकस्य परब्रह्मणः स्वाभाविकं स्फुरणं विमर्श इत्युच्यते ।

"प्रकाश रूप परब्रह्म के आप-से-आप स्पन्दन को विमर्श कहते हैं ।"

स्वाभाविकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य विद्यते शक्तिः ।
सैव चराचरमखिलं जनयति जगदेतदपि च संहरति ॥[१]

"स्वाभाविक स्फुरण इसकी (परब्रह्म की) विमर्शरूप शक्ति है । वही सभी चर-अचर के रूप में संसार को उत्पन्न कर उसका संहार करती रहती है ।"

वाचकेन विमर्शेन विना किंवा प्रकाश्यते ।
वाच्येनापि प्रकाशेन विना किंवा विमृश्यते ॥
तस्माद्विमर्शो विस्फूर्तौ प्रकाशं समपेक्षते ।
प्रकाशश्चात्मनो ज्ञानं विमर्शं समपेक्षते ॥[२]

"वाचक विमर्श के विना क्या प्रकाशित होगा, और वाच्य प्रकाश के विना किस पर विमर्श होगा । इसलिये स्फुरण के लिये विमर्श को प्रकाश की अपेक्षा है, और प्रकाश को अपने ज्ञान के लिये विमर्श की आवश्यकता है ।"

रक्तशुक्लबिन्दुमयप्रकाशविमर्शात्मकब्रह्मणः सर्वं जातम् ।[३]

"रक्त-शुक्लबिन्दुमय प्रकाश-विमर्शवाले ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न हुआ ।"

वन्दे गुरुपदद्वन्द्वमवाङ्मनसगोचरम् ।
रक्तशुक्लप्रभामिश्रमतर्क्यं भैरवं महः ॥[४]

"महः, भैरव, वाणी और मन के बाहर और अतर्क्य हैं । ये रक्त और शुक्ल प्रभा के सम्मिश्रण, गुरु के दोनों चरण हैं । इनकी मैं वन्दना करता हूँ ।"

जब विमर्श प्रकाश में लीन होकर स्थिर हो जाता है तब इसको एकरस[५], समरस, सामरस्य, रसानन्द आदि संज्ञाएँ दी जाती हैं । यही वेदान्तियों की निरुपाधि निर्विकल्प समाधि, बौद्धों की शून्यता और जैनों का कैवल्यज्ञान है । यह शिवत्व की स्वाभाविकी स्पन्दनहीन अवस्था है ।

सामरस्यसम्बन्धेन शक्तिविशिष्टः शिवः एव हि परं ब्रह्म ।[६]

"समरस रूप में शक्तिमान् शिव 'परंब्रह्म' है ।"

ये ही प्रकाश और विमर्श, शाक्तदर्शन और प्रतीकों में नाना प्रकार से वर्णित हैं । इन्हीं भावनाओं के आधार पर शाक्तप्रतीकों का निर्माण होता है ।

---

१. ललितासहस्रनाम । सौभाग्यभास्करभाष्य । बम्बई । १६३३ । १६३वें श्लोक की टीका ।

२. तत्रैव । मातृकाविवेक से उद्धृत ।

३. कामकलाविलास । श्लोक ६ की टीका ।

४. दारुणसप्तक । श्लोक १ ।

५. मिलाइये—सदा एकरस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप ।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत बिहरत युगल स्वरूप ॥ सूरसागर ।

६. ललितासहस्रनाम । श्लोक २०१ पर भास्करराय की टीका ।

साधना के अवलम्ब और स्थान के भेद से प्रतीकों के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं—

स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा।
प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरत्वतः॥
मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम्।
लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमा मूर्तिरेव च॥
इत्येकादशधा बाह्यं पुनस्तद्बहुधा भवेत्॥[1]

"साधना के स्थान तीन प्रकार के हैं—प्राण, शरीर और बाहर। प्राण में पाँच प्रकार के (स्थान) और देह में बाह्य और आभ्यन्तर—दो प्रकार के हैं। बाहर के स्थान हैं—मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र (माला), पुस्तक, लिङ्ग, तूर, पट, पुस्त (लेपादि से प्रस्तुत रूप) प्रतिमा, मूर्ति (गुरु इत्यादि की)। ये ग्यारह प्रकार के बाह्य हैं। इनके फिर अनेक भेद हो जाते हैं।"

अपनी इन कारिकाओं पर अभिनव गुप्त की टीका इस प्रकार है—

पुस्तं लेपादिनिर्मिताकृतिः। मूर्तिर्गुर्वादिसम्बन्धिनी। तदित्यानन्तर्याद्बाह्यं, पुनरित्येकादशविधत्वेऽपि, बहुधेति मण्डलादीनामप्येकशूलत्रिशूलादिक्रमेण नानाविधत्वात्॥[2]

"पुस्त—लेप इत्यादि से बनाई हुई आकृति। मूर्ति—गुरु इत्यादि से सम्बद्ध। तत् अर्थात् उसके अनन्तर बाह्य, फिर ११ प्रकार के होने पर भी, बहुधा अर्थात् मण्डलादि, और उनमें भी एक शूल, त्रिशूलादि क्रम से अनेक भेद हो जाते हैं।"

देवी के तीन रूप हैं—

"स्थूलं समस्तया नाम्ना सूक्ष्मं मन्त्रतनुं तथा।
पररूपं त्वर्पणेन विदितं पूजनं शिवे॥[3]

"देवी की उपासना तीन प्रकार से प्रसिद्ध है—स्थूल रूप का नाम के साथ, सूक्ष्म, मन्त्र रूप तथा अर्पण (मनोलय) द्वारा पररूप।"

उपनिषत् का भी यही मत है—

देवतायाः त्रीणि रूपाणि स्थूलं सूक्ष्मं परञ्चेति। तत्राद्यं तद्ध्यानश्लोकोक्तम्। द्वितीयं तन्मूलमन्त्रात्मकम्। तृतीयन्तूपासनात्मकम्। देवतारूपं त्रैविध्यात् तदुपास्तिरपि त्रिविधा—बहिर्यागजपान्तर्यागभेदात्॥[4]

"(किसी) देवता के तीन रूप होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर। उसमें पहिला ध्यान-श्लोक में कहा जाता है। द्वितीय उसका मूलमन्त्र के रूप में है और तृतीय उपासना रूप है। देवता के रूप के तीन भेद होने के कारण, इसकी उपासना भी तीन प्रकार की होती है। उसके भेद हैं—बहिर्याग, जप और अन्तर्याग।

---

१. तन्त्रालोक। श्रीनगर। काश्मीर। सन १९२२। भाग ४। आह्निक ६ श्लोक २, ३।

२. तन्त्रालोक। काश्मीर। श्रीनगर। १९२२। चतुर्थ भाग। आह्निक ६। श्लोक २, ३ की टीका।

३. मन्त्रराज। लण्डन। १९२६। पटल ४। श्लोक १७।

४. Kaul and other Upanishads, Calcutta 1922। भास्करभाष्य पृ० १०।

अन्यान्य शाक्तदर्शन के ग्रन्थों में भी ये ही भाव व्यक्त किये गये हैं। सारांश, यह कि परब्रह्म की, नाना प्रकार से, कल्पित रूपों द्वारा, उपासना की जाती है। हाथ-पैरोंवाली नाना रंगों की मूर्तियाँ बनाकर और उनमें प्राणप्रतिष्ठा कर, ध्यान द्वारा उसे बोधगम्य करने की चेष्टा की जाती है। मन्त्र द्वारा भी उसे प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।

वर्णमाला के सभी अक्षर चेतनामय नाद की एक-एक मूर्ति हैं। इनमें अक्षर प्रतिमा की तरह स्थूल रूप, ध्वनि सूक्ष्म, और प्रकाशमय चित् में मनोलय, पर रूप है। प्रत्येक वर्ण का शक्तिमय रूप निश्चित है। अकार की शक्ति का ध्यान इस प्रकार है—

केतकीपुष्पगर्भाभां द्विभुजां हंसलोचनाम्।
शुक्लपट्टाम्बरधरां पद्ममालाविभूषिताम् ॥
चतुर्वर्गप्रदां नित्यां नित्यानन्दमयीं परां।
वराभयकरां देवीं नागपाशसमन्विताम् ॥
शृणु तत्त्वमकारस्य अतिगोप्यं वरानने।
शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पञ्चकोणमयं सदा ॥
पञ्चदेवमयं वर्णं शक्तिद्वयसमन्वितम्।
निर्गुणं सगुणोपेतं स्वयं कैवल्यमूर्तिमान्।
बिन्दुद्वयमयं वर्णं स्वयं प्रकृतिरूपिणी ॥[१]

"(अकार-मातृका) का वर्ण केवड़े के फूल के गर्भपत्र की तरह है। इसके दो भुजाए हैं, आँखें हंस-जैसी हैं, शुक्ल रेशमी वस्त्र धारण किये है, पद्म की माला से विभूषित हैं, नित्य चतुर्वर्ग का फल देनेवाली है, नित्य-आनन्दमयी है, परा (कारणरूपा) है, हाथों में नाग और पाश तथा अभय और वरद हैं।

सुन्दरि ! अत्यन्त गोप्य अकार का तत्त्व सुनिये। शरच्चन्द्र की तरह (शीतल और प्रकाशमान) है, सदा पञ्चकोणमय है। पञ्चदेवमय, दोनों शक्तियुक्त, निर्गुण-सगुण, मूर्तिमान् कैवल्य और दो बिन्दुओंवाला है। यह स्वयं प्रकृतिरूपिणी है।"

इस प्रकार वर्णमाला के सभी वर्णों के निश्चित रूप हैं। सूक्ष्मरूप में सबकी ध्वनि भिन्न है, किन्तु पर रूप में सब एकाकार वाङ्मय हो जाते हैं।

सभी आध्यात्मिक साधनाओं की तरह तान्त्रिक साधनाओं का भी प्रारम्भ स्थूल प्रतीक से होता है।

ब्रह्मविद्या के दो प्रधान मार्ग हैं योग और तन्त्र। दोनों का ही प्रारम्भ स्थूल और सूक्ष्म प्रतीकों से होता है और उद्देश्य है 'पर' में आत्मलय।

काली

दश महाविद्याओं में काली प्रथमा महाविद्या हैं। महाविद्या, अर्थात् ब्रह्मविद्या के दश रूपों में प्रथम रूप काली है। इसलिये इन्हें प्रथमा शक्ति और आद्याशक्ति भी कहते हैं।

काली शब्द की व्याख्या नाना प्रकार से की गई है—

---

१. सार्थ-सौन्दर्यलहरी। प्रयाग। पृ० ४।

तव रूपं महाकालो जगत्संहारकारकः।
महासंहारसमये कालः सर्वं ग्रसिष्यति॥
कलनात् सर्वभूतानां महाकाल प्रकीर्तितः।
महाकालस्य कलनात् त्वमाद्या कालिका परा॥[१]

"जगत् का संहार करनेवाला महाकाल तुम्हारा ही रूप है। महासंहार के समय काल सबका ग्रास कर लेगा। सभी तत्त्वों को समेट लेने के कारण इसका नाम महाकाल है। तुम आद्या (सबसे पहिली) और परा (सब का कारण) हो, महाकाल को भी समेट लेने के कारण तुम कालिका हो।"

परापरात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते।
काली नाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते॥[२]

"क्रम और अक्रम (आगे-पीछे) का निर्धारण करनेवाले काल का पररूप (कारणरूप उद्गम स्थान) संवित् (चेतना रूप ब्रह्म) में रहता है, अर्थात् चिद्ब्रह्म का क्रियात्मक आंशिक रूप ही काल है। ब्रह्म की नित्य-क्रियाशक्ति-रूप पराशक्ति का ही नाम काली है, अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्म का सक्रिय-रूप ही काली है।"

इसी प्रसंग को और भी अधिक स्पष्ट इस प्रकार किया गया है—

एष कालो हि देवस्य विश्वाभासनकारिणी।
क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः।
एतदीश्वरतत्त्वं तच्छिवस्य वपुरुच्यते॥[३]

"विश्व के रूप में प्रकट होनेवाली देव की यह क्रियाशक्ति ही काल है, जो सभी तत्त्वों का कारण रूप है। यही ईश्वर तत्त्व है, जो शिव का शरीर कहलाता है।"

'शिवस्य वपुः' इस पर टीका में अभिनव गुप्त कहते हैं—

बहिरौन्मुख्येऽपि स्वात्मन्येव विश्रान्तम्

"बाहर की ओर उन्मुख होने पर भी यह तत्त्व (क्रियाशक्ति) अपने ऊपर ही स्थित है।"

अर्थात्, शिव और उन पर स्थित उनकी क्रियाशक्ति रूप काली, एक ही तत्त्व के दो नाम हैं।

आद्यविद्या की प्रशंसा इस प्रकार की गई है—

कालसंकलनात् काली सर्वेषामादिरूपिणी।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्या कालीति गीयते॥

१. प्राणतोषिणी। वंगाक्षर। १३३५ साल। पृ० ३८२ में महानिर्वाणतन्त्र के चतुर्थोल्लास से उद्धृत।
२. तन्त्रालोक। बम्बई। १९२०। आह्निक ६। श्लोक ७।
३. तत्रैव। ६·३८, ३९।

पुनः स्वरूपमासाद्य तमोरूपं निराकृतिः ।
वाचातीतं मनोगम्यं त्वमेकैवावशिष्यसे ॥
साकारापि निराकारा मायया बहुरूपिणी ।
त्वं सर्वादिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका ॥
अतस्ते कथितं भद्रे ब्रह्ममन्त्रेण दीक्षितः ।
यत्फलं समवाप्नोति तथैव तव साधनात् ॥

"आप सबके आरम्भरूप हैं और (सबका संग्रह करनेवाले) काल को भी अपने में समेट लेने के कारण आप काली हैं। कालत्व, अर्थात् जिन गुणों को लेकर काल उत्पन्न होता है, वे गुण आप ही हैं और (काल का भी) प्रारम्भ आप से ही होता है, इसलिये आपका नाम आद्या काली है।

फिर विना किसी रूपवाले अपने रूप अन्धकार (काला) के रूप में, अकथनीय (वाचातीतं) अनुभव के रूप में (मनोगम्यं), (अशेष कारण के रूप में) एक आप ही अवशिष्ट रहती हैं।

साकार होने पर भी आप निराकार हैं और माया से बहुत रूप धारण करती हैं। आपका आरम्भ नहीं है और आपसे सबका आरम्भ होता है। आप ही करने, हरने और पालनेवाली हैं।

भद्रे ! (कल्याणमयि !) इसलिये आपसे कहा कि ब्रह्ममन्त्र से दीक्षित होने पर जो फल मिलता है, वही आपकी साधना से भी प्राप्त होता है।"

द्वितीय श्लोक में काली के घोर काले रंग का रहस्य है। अशेषकारण का रंग न उजला है और न काला। वह तो सत्तामात्र है। प्रकाश रूप में उसे 'सूर्यकोटिप्रतीकाशः चन्द्रकोटिसुशीतलः' (करोड़ों सूर्य-जैसा प्रकाशमान और करोड़ों चन्द्रमा-जैसा शीतल) कहा जाता है। और, अन्धकार रूप में उसे सभी रूपों को मिटाकर सत्तामात्र एक तत्त्व के रूप में महाघोर काला रंगवाली सत्ता कहा जाता है। यही तांत्रिकों की तिरस्करिणी विद्या है, जो सभी वस्तुओं को आत्मसात् कर उन्हें अपने भीतर छिपा लेती है।

काली-तत्त्व का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

महालक्ष्मीः समाख्याता साहं सर्वाङ्गसुन्दरी ।
महाश्रीः सा महालक्ष्मीश्चण्डा चण्डी च चण्डिका ॥
भद्रकाली तथा भेदाः काली दुर्गा महेश्वरी ।
त्रिगुणा भगवत्पत्नी तथा भगवती परा ॥
एताः संज्ञास्तथान्याश्च तत्र मे बहुधा स्मृता ।
विकारयोगादन्याश्च तास्ता वक्ष्याम्यशेषतः ॥

१. प्राणतोषिणी। बंगाक्षर। १३३५ साल। पृष्ठ ३८३।

रक्षयामि जगत्सर्वं पुण्यापुण्ये कृताकृते ।
महनीया च सर्वत्र महालक्ष्मीः प्रकीर्तिता ॥
महाब्धिश्रयणीयत्वान्महाश्रीरिति गीयते ।
भण्डस्य दयिता भण्डी भण्डत्वाद्भण्डिका मता ॥
कल्याणरूपा भद्रास्मि काली भद्रा प्रकीर्तिता ।
कलात्मतां स्वरूपत्वादपि काली प्रकीर्तिता ॥
सुहृदाञ्च द्विषाञ्चैव युगपत्सदसद्भिोः ।
भद्रकाली समाख्याता मायाश्चर्यगुणात्मिका ॥
माया योग इति ज्ञेया यज्ज्ञानाज्ञानयोर्नृणाम् ।
पूर्णाषाड्गुण्यरूपत्वात्स्मृता चाहं परात्परा ॥
शासनाच्छक्तिरूपाहं राज्ञ्यहं रञ्जनात्सताम् ।
सदा शान्तविकारत्वाच्छान्ताहं परिकीर्तिता ॥
मत्तः प्रक्रमते विश्वं प्रकृतिः सास्मि कीर्तिता ।
श्रयन्ति श्रयणा चास्मि शृणोमि दुरितं सताम् ॥
शृणोमि करुणावाचं शृणोमि च गुणैर्जगत् ।
शरणं सर्वभूतानां रमेऽहं सर्वकर्मणाम् ॥
ईडिता च सदा देवैः शरीरञ्चास्मि वैष्णवम् ।
एतान्मयि गुणान्दृष्ट्वा वेदवेदाङ्गपारगाः ॥
गुणयोगविधानज्ञाः श्रियं मां संप्रचक्षते ।
साऽहमेवंविधा नित्या सर्वाकारा सनातना ॥ इति ॥[१]

"जिसे महालक्ष्मी कहा गया है, वह सर्वाङ्गसुन्दरी (त्रिपुरसुन्दरी—षोडशी) मैं ही हूँ। महाश्री, महालक्ष्मी, चण्डा, चण्डी, चण्डिका, भद्रकाली, नाना प्रकार की काली, दुर्गा, महेश्वरी, त्रिगुणा, भगवान् की स्त्री, भगवती, परा,—ये तथा और बहुत-से मेरे नाम है। परिवर्तन (विकार) होते रहने के कारण और भी नाम हैं। उन्हें मैं विस्तारपूर्वक कहती हूँ। पुण्य-अपुण्य, कर्तव्य-अकर्तव्य-रूप सारे जगत् की मैं रक्षा करती हूँ और सर्वत्र लोग मुझे बड़प्पन देते हैं, (इसलिये) मेरा नाम महालक्ष्मी है। (अशेषकारण-रूप) महासागर को आश्रय बनाने के कारण महाश्री नाम है। भण्ड की स्त्री भण्डी और भण्ड होने के कारण भण्डिका नाम है। कल्याण-रूपिणी होने के कारण भद्रा हूँ और भद्रकाली नाम कहा गया है। कला (साकार जगत्) को आत्मसात् करनेवाला रूप होने के कारण भी काली कहा गया है। मित्र-शत्रु और सत्-असत्—दोनों में एक साथ व्याप्त होने के कारण, आश्चर्य गुणवाली माया, काली कही जाती है। माया के सम्पर्क से ही मैं, मनुष्यों के ज्ञान और अज्ञान से पूर्ण षड्गुण-रूप में समझ में आती हूँ। इसलिये मैं पर से भी पर हूँ। शासन करने के कारण मैं शक्तिरूपा हूँ। सज्जनों का

१. अप्रकाशिता उपनिषदः। गुह्यषोढान्यासोपनिषत्। मद्रास। १९३३। पृष्ठ १९२ में लक्ष्मीतन्त्र से उद्धृत।

रञ्जन करने के कारण में राज्ञी हूँ। सर्वदा शान्त विकार के कारण मुझे शान्ता कहते हैं। मुझसे सृष्टि का प्रवर्तन होता है। इसलिये मैं प्रकृति कहलाती हूँ। मुझ में लोग आश्रय पाते हैं, इसलिये मैं अयना (अवलम्बरूपा) हूँ। सज्जनों के दुःख को सुनती हूँ, करुणवचन सुनती हूँ, गुणों द्वारा जगत् को सुनती हूँ, सब जीवों की रक्षा करती हूँ, सभी कर्मों के भीतर रहती हूँ, देवराज सदा मेरी पूजा करते हैं, विष्णुरूप में मैं ही हूँ। मुझमें इन गुणों को देखकर, वेदवेदान्तपारग और गुणयोग के विधान को जाननेवाले मुझे श्री कहते हैं। वही मैं इस प्रकार नित्या, सर्वाकार और सनातनी हूँ।"

करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम्।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम्॥
सद्यश्छिन्नशिरःखड्गवामाधोर्ध्वकराम्बुजाम्।
वराभयं चैव दक्षिणाधोर्ध्वपाणिकाम्॥
महामेघप्रभां श्यामां तथैव च दिगम्बरीम्।
कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम्॥
कर्णावतंसतानीतशवयुग्मभयानकाम्।
घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधराम्॥
शवानां करसंघातैः कृतकाञ्चीं हसन्मुखीम्।
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराविस्फुरिताननाम्।
घोररूपां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम्।
बालार्कमण्डलाकार लोचनत्रितयान्विताम्॥
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तालम्बिकचोच्चयाम्।
शवरूपमहादेवहृदयोपरि संस्थिताम्।
शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम्॥
महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम्।
सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम्।
भजेत् त्रिजगतां धात्रीं सर्वकामार्थसिद्धिदाम्॥[1]

"कराल वदनवाली, घोर, खुले हुए बालोंवाली, चतुर्भुजा, ब्रह्मरूपिणी (विद्या), मुण्डमाला से विभूषित, बांये नाचे और ऊपरवाले हाथों में तुरत का कटा हुआ शिर और खड्ग, दाहिने नीचे और ऊपरवाले हाथों में वरद और अभय, महामेघ के समान श्याम वर्ण, दिग्वस्त्रा, गले से लटकती हुई मुण्डमाल से टपकती हुई रक्त की बूंदों से चर्चित, दो शवों के बने हुए दो कर्णाभूषण से भयानक, घोर दाँतोंवाली, भयंकर, पुष्ट और उन्नत स्तनोंवाली, शवों के हाथों के बने हुए कटिबन्धवाली, हंसती हुई, ओठ के कोनों से टपकती हुई रक्त की बूंदों से फड़कता हुआ मुख, घोर महारौद्र रूपवाली, श्मशान में निवास करनेवाली, बालसूर्यमण्डल की तरह तीन नेत्रोंवाली, बड़े-बड़े दाँतोंवाली, दाहिनी ओर खुले हुए केशों से ढँकी हुई, शवरूप महादेव के हृदय पर स्थित, घोर शब्द करनेवाली

---

१. श्यामारहस्य। जीवानन्द। कलकत्ता। १८८६। पृ० ३७ में भैरवतन्त्र से उद्धृत।

शिवाओं से घिरी हुई, महाकाल के साथ विपरीत रति में आतुर, सुख से प्रसन्न वदनवाली, मुस्कुराता हुआ मुखकमलवाली, सभी काम और अर्थ को सिद्ध करनेवाली त्रैलोक्यजननी दक्षिणा कालिका का ध्यान करे।"

अन्यत्र ध्यान इस प्रकार है—

देव्या ध्यानं प्रवक्ष्यामि सर्वदेवोपसेविताम् ।
अञ्जनाद्रिनिभां देवीं करालवदनां शिवाम् ॥
मुण्डमालावकीर्णांसां मुक्तकेशीं स्मिताननाम् ।
महाकालहृदम्भोजे स्थितां पीनपयोधराम् ॥
विपरीतरतासक्तां घोरदंष्ट्रां शिवैः सह ।
नागयज्ञोपवीताञ्च चन्द्रार्धकृतशेखराम् ॥
सर्वालंकारयुक्ताञ्च मुण्डमालाविभूषिताम् ।
मृत हस्तसहस्रैस्तु काञ्चीबद्धां दिगम्बरीम् ॥
शिवाकोटिसहस्रैस्तु योगिनीभिर्विराजिताम् ।
रक्तपूर्णमुखाम्भोजां मद्यपानप्रमत्तकाम् ॥
वह्न्यर्कशशिनेत्रान्तु वह्निबिन्दुयुताननाम् ।
विगतासुकिशोराभ्यां कृतकर्णावतंसिनीम् ॥
कण्ठावसक्तमुण्डालीं गलद्रुधिरचर्चिताम् ।
श्मशानवह्निमध्यस्थां ब्रह्मकेशववन्दिताम् ॥
सद्यश्छिन्नशिरःखड्गवराभीतिकराम्बुजाम् ।
तत्र वामोर्ध्वहस्तेन कपालं तदधः शिरः ।
दक्षिणे चोर्ध्वहस्ते ह्यभयं तदधो वरम् ॥[1]

"सभी देवताओं से सेवित देवी का ध्यान करता हूँ। देवी अञ्जनाद्रि की तरह हैं। शिवा का कराल वदन है। कन्धे पर मुण्डमाला पड़ी हुई है, केश खुले हैं, मुख पर मन्द मुस्कान है, महाकाल के हृदयकमल पर स्थित हैं, स्तन पुष्ट हैं, भयङ्कर दाँत हैं, शिवों के साथ विपरीत रति में आसक्त हैं, नाग का यज्ञोपवीत है, मस्तक पर अर्द्धचन्द्र है, सब अलङ्कारों से युक्त हैं, मुण्डमाला से विभूषित हैं, मृतकों के सहस्रों हाथों की बनी हुई काञ्ची बँधी हुई है, दिगम्बरी हैं, सहस्रों कोटि शिवा और योगिनी से घिरी हैं। मुखकमल रक्त से भरा हुआ है, मदपान से मत्त हैं, अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के नेत्रोंवाली, अग्नि और बिन्दुयुत नेत्रवाली, दो मृतक किशोर के कर्णभूषणवाली, गले में पड़ी हुई मुण्डश्रेणी से टपकते हुए रक्त से चर्चित, श्मशान की आग में रहनेवाली, ब्रह्मा और केशव से वन्दित, तुरत कटे हुए शिर, खड्ग, वर और अभय युक्त हाथोंवाली, वहाँ ऊपरवाले बायें हाथ में कपाल और नीचेवाले में शिर, दाहिने ऊपरवाले हाथ में अभय और नीचेवाले में वर है।"

---

१. तत्रैव। पृ० ३७ में स्वतन्त्र तन्त्र से उद्धृत

महाकालकृत स्तव का ध्यान इस प्रकार है—

ऊर्ध्वं वामे कृपाणं करकमलतले छिन्नमुण्डं तथाधः ।
सव्ये चाभीर्वरञ्च ।

"ऊपरवाले बायें हाथ में कृपाण, नीचेवाले करकमलतल में छिन्नमुण्ड और दाहिने में अभय तथा वर ।"

महाकाल-स्तव में उपर्युक्त विशेषणों के अतिरिक्त वाग्देवी और नाति-युवती शब्द का भी प्रयोग हुआ ।

काली-मूर्ति में उन्ही तत्त्वों का सन्निवेश है, जिनके अधार पर विष्णु-शिवादि के रूप की कल्पना की जाती है। काली रूप में अशेषतत्त्व का निष्क्रिय और त्रिगुणात्मक सक्रिय रूप है। नीचे पड़ा हुआ उज्ज्वल पुरुष-रूप विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हैं—यही वेदान्त का निरुपाधि निर्विकल्प अशेष तत्त्व, बौद्धों का शून्य और सर्वथा अपरिवर्तनशील 'वज्रतत्त्व', और जैनों का 'केवल' तत्त्व है। यही सक्रिय हाकर काली रूप में प्रकट होता है।

निराकार ब्रह्म का प्रथम साकार-रूप शव है। यह निश्चल तत्त्व का प्रतीक है, इसलिये इसे शव और वज्र कहा जाता है। यही जब इच्छा और क्रिया अर्थात् त्रिगुणादि के, सृष्टि के रचना-कार्य में सक्रिय हो उठता है, अर्थात् जब इसकी शक्ति स्पन्दित होने लगती है, तब इसे शिव कहते हैं। इसे ही अलंकृत भाषा में कहा जाता है कि इकार शक्ति है, और शक्तिहीन ब्रह्म शव है और शक्तियुक्त होने से वह शिव कहलाता है। महाशक्ति की क्रीडा का आधार होने के कारण इसे शवासन कहा जाता है। इसकी पूजा का मन्त्र है—

हसौः सदाशिवमहाप्रेतपद्मासनाय नमः ।[1]

'हसौः' शवबीज वा प्रेतबीज है। परमतत्त्व का ही नाम सदाशिव है। यह महाशव के रूप में आद्य आसन है। यही पद्म के रूप में साकार सृष्टि का रूप ग्रहण करता है जो महामाया का आसन अथवा क्रीडास्थल बन जाता है। यही महाप्रेतपद्मासन है।

पीठ अर्थात् वाहन के तत्त्व का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

सिंहस्थां परमेशानीं ब्रह्मविष्णुशिवार्चिताम् ।
प्रेतस्थां च महामायां रक्तपद्मासनस्थिताम् ॥
सिंहस्थां च तथा दुर्गां ध्यायेत्परममोक्षदाम् ।
शिवः प्रेतो महादेवो ब्रह्मा लोहितपंकजः ॥
विष्णुः सिंह इति ख्यातः वाहनानि महौजसः ।
स्वमूर्त्या वाहनं नैव तेषां देवि प्रयुज्यते ॥
तत्तन्मूर्त्यन्तरं कृत्वा वाहनत्वं गतास्त्रयः ।
शिवप्रेते कदाचित्सा कदा[illegible]पंकजे ॥
कदाचित्केशरिपृष्ठे वसते परमेश्वरि ।
कामकाले शिवप्रेते वसते सिंहवाहिनि ॥[2]

---

१. श्यामारहस्य। आवानन्द। कलकत्ता। १८९६। पृ० ४१। पद्मप्रतीक के विशेष विवरण के लिये, ब्रह्मा, विष्णु और तारा के पद्म की व्याख्या देखिये।

२. कालीविलासतन्त्रम्। लण्डन। १९१७। पटल २१। श्लोक २९—३३।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव से पूजित, परम मोक्षदा, परमेशानी, महामाया, सिंहवाहिनी दुर्गा का सिंह, प्रेत (शव) पर अथवा रक्तकमल पर ध्यान करे। महादेव शिव, प्रेत (शव), ब्रह्मा रक्तकमल और विष्णु सिंह, ये तीनों महातेजस्वी वाहन हैं। अपने ही रूप (मूर्ति) को वाहन नहीं बनाया जा सकता। इसलिये अपने ही रूप का दूसरा रूप (मूर्ति) बनाकर ये तीनों वाहन बन गये हैं। वह परमा ईश्वरी कभी (शिव प्रेत) शव-रूप महादेव पर, कभी रक्तपद्म पर और कभी सिंह-पीठ पर रहती है। सिंहवाहिनी काम-काल में अर्थात् सृष्टि के इच्छा-काल में कामकला रूप में शिवप्रेत (निष्क्रिय ब्रह्म अर्थात् अपने ही स्थिर रूप) पर रहती है।

फलितार्थ यह हुआ कि निश्चल शिव पर उसका अपना ही हिलता-डुलता अर्थात् क्रिया-शील रूप काली (कल-गतौ) है, अर्थात् महाकाल और महाकाली एक ही तत्त्व के दो नाम हैं और काली की प्रतिमा निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म का प्रतीक है।

परमतत्त्व के आदिमध्यान्तहीन रूप की कल्पना प्रकाश और अन्धकार के रूप में की जाती है। प्रकाश रूप में वह परम ज्योतिर्मय शिवस्वरूप है और अन्धकार-रूप में वह सभी प्रकाश और रूपों को आत्मसात् कर महाअन्धकारमय शून्यरूपा बनकर स्थित रहती हैं। यही वेदान्तियों का निरुपाधि निर्विकल्प तत्त्व, तान्त्रिकों का श्मशान, बौद्धों की शून्यता और जिनों का केवलतत्त्व है—

अनन्तकोटिब्रह्माण्डराजदन्ताग्रके शिवे।
स्थाप्य शून्यालयं कृत्वा कृष्णवर्णां विधाय च॥
महानिर्गुणरूपा च वाचातीता परा कला।
क्रीडायां संस्थिता देवी शून्यरूपा प्रकल्पयेत्॥[1]

"असंख्य कोटि ब्रह्माण्ड को अपने राजदन्त (चौह) के अग्रभाग पर रखकर अपनी स्थिति को शून्य और काला बनाकर, वाक् से भी पूर्ववर्ती, परा, कला और महानिर्गुणरूपा अपनी क्रीड़ा में स्थित शून्यरूप देवी की कल्पना करे।'

काली का महानिर्गुणरूप ही महान्धकाररूप है, जिसमें सभी आकार समाकर गुप्त हो जाते हैं।

शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः। शिवा च शिवश्च तयोः।[2]

"आकाशवत् होने के कारण (आकाशस्तल्लिङ्गात्) शिवों का (शिव और शिवा) का आकार काला दिखाई पड़ता है।"

मोक्षे साक्षादपेताम्बुदगगननिभां भावयेद्भक्तिगम्याम्॥[3]

"मोक्ष के लिये भक्तिगम्या (पराशक्ति) की, साक्षात् निर्मेघ आकाश के रूप में, भावना करे।"

१. शाक्तप्रमोद। कालीसहस्रनाम। श्लोक १६, १७।
२. कर्पूरादिस्तोत्र। आर्थर आवलन। कलकत्ता। १९२२। पृ० ३ में योगवासिष्ठ से उद्धृत।
३. त्रिपुरासारसमुच्चय। वहीं उद्धृत।

काली के कूटस्थ अव्यक्त रूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

आद्यन्तहीनं जगदात्मरूपं
विभिन्नसंस्थं प्रकृतेः परस्तात् ।
कूटस्थमव्यक्तवपुस्तवैव
नमामि रूपं पुरुषाभिधानम् ॥[1]

"आपके पुरुष नामक रूप को मैं प्रणाम करता हूँ, जो आदि-अन्तरहित, जगत् का आत्म-स्वरूप, भिन्न-भिन्न रूपों में वर्तमान प्रकृति से भी आगे, कूटस्थ और अव्यक्त शरीर-वाला है।"

काली के नील वर्ण का ऊपर विवरण हो चुका है। इनके नीलवर्णवाले रूप को ही नील सरस्वती वा तारा कहते हैं और इनके रक्तवर्णवाले रूप का नाम रक्तकाली वा षोडशी है—

इयं नारायणी काली तारा स्यात् शून्यवाहिनी ।
सुन्दरी रक्तकालीयं भैरवी नादिनी तथा ॥[2]

"यही नारायणी काली, तारा, शून्यवाहिनी, सुन्दरी, रक्तकाली, भैरवी और नाद-रूपिणी (वाक्) हैं।

यही शून्यवाहिनी तारा बौद्धों की तारा अथवा शून्यता हैं।

कालिका द्विविधा प्रोक्ता कृष्णा रक्ता प्रभेदतः ।
कृष्णा तु दक्षिणा प्रोक्ता रक्ता तु सुन्दरी मता ॥[3]

"कृष्ण और रक्त वर्ण के भेद से काली दो प्रकार की हैं। कृष्णा का नाम दक्षिणा है और रक्तवर्णा का नाम सुन्दरी (त्रिपुरसुन्दरी, षोडशी) है।"

कृष्णा काली का नाम तिरस्करिणी विद्या भी है। इस रूप की कल्पना इस प्रकार की जाती है—

नीलं हयं समधिरुह्य पुरः प्रयान्ती
नीलांशुकाभरणमाल्यविलेपनाढ्या ।
निद्रापुटेन भुवनानि तिरोदधाना
खड्गायुधा भगवती परिपातु भक्तान् ॥

"नीले घोड़े पर चढ़कर आगे चलती हुई, नीले वस्त्र, आभूषण, माला और विलेपन युक्त, निद्रा के पुट में सृष्टि को छिपाती हुई, खड्ग-आयुधवाली भगवती भक्तों की रक्षा करें।"

यहाँ त्रिभुवन को आत्मसात् करनेवाली निद्रा का महाविस्तार, काली का सर्वग्रासी घोर अन्धकारमय कृष्ण वर्ण है। घोड़ा और खड्ग, महाशक्ति की शक्ति के प्रतीक हैं।

१. तत्रैव। पृ० ७ में रामकृतासितास्तोत्र से उद्धृत।
२. तत्रैव। बृहन्नीलतन्त्र से उद्धृत।
३. तत्रैव।

काली का नाम दक्षिणकालिका है। ऋग्वेद में प्रयुक्त दक्ष, दक्षिण और दक्षिणा शब्दों पर श्रीअरविन्द के विचार इस प्रकार हैं—

"इन सभी प्रमाणों पर एक साथ विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कभी दक्ष का अर्थ, विवेचना, सिद्धान्त और विचार-शक्ति, रहा होगा और इसका अर्थ मानसिक शक्ति या योग्यता, इन मानसिक क्रियाओं के विश्लेषण से निकलता है, शारीरिक शक्ति का मानसिक शक्ति पर आरोप करके नहीं।

इस प्रकार, वेद में दक्ष शब्द के तीन अर्थ सम्भाव्य हैं—साधारण अर्थ में बल, मानसिक शक्ति और विशेषतः विवेकशक्ति। दक्ष सदा ऋतु के साथ सम्बद्ध है। ऋषिगण मिलकर उनकी— दक्षाय क्रतवे—की लालसा करते हैं, जिसका सीधा अर्थ हो सकता है—'योग्यता और कार्यक्षम-शक्ति' अथवा 'दृढ़ इच्छा और विवेचना-शक्ति'। जहाँ सारे प्रसंग का मानसिक क्रिया से सम्बन्ध है, वहाँ ऋचाओं में लगातार यह शब्द मिलता है। अन्त में, दक्षिणा देवी हैं, जो दक्ष का स्त्रीरूप होना चाहिये। दक्ष स्वयं देव हैं और पीछे के पुराणों में एक प्रजापति, अर्थात् आदि पितर हैं। हमलोग दक्षिणा को ज्ञान के विकाश के साथ सम्बद्ध पाते हैं। कभी-कभी दिव्य दिनादि और प्रकाशदात्री उषा के साथ इसका पूर्ण तादात्म्य देखा जाता है। मेरा तो यह प्रस्ताव है कि अधिक प्रसिद्ध इडा, सरस्वती और सरमा की तरह, दक्षिणा चार देवियों में से एक हैं, जो ऋतम अर्थात् तत्त्वबोध की चार शक्तियों के प्रतिरूप हैं। इडा सत्यदर्शन है, सरस्वती सत्यश्रुति अर्थात् वाक् प्रेरित है, सरमा आत्मज्ञान (intuition) है और दक्षिणा विकासात्मक आत्मविवेक है।"[१]

१. "All this evidence taken together seems to indicate clearly enough that दक्ष must have meant at one time discernment, Judgement, discriminative thought-power and that its sense of mental capacity is derived from this sense of mental division and not by transference of the idea of plupical strength to power of mind.

We have therefore three possible senses for दक्ष in the Veda, strength generally, mental power or especially the power of Judgement, discernment. दक्ष is continually associated with क्रतु; the Rishis aspire to them together, दक्षाय क्रत्वे, which may mean simply, "capacity and effective power" or "will and discernment." Continually we find the word occurring in passages where the whole context relates to mental activities. Finally we have the goddess Dakshina, who may well be a female form of Daksha, himself a god and afterwards in the Purana one of the Prajapatis, the origniai progenitors,—we have Dakshina associated with the manifestation of knowledge and sometimes almost identified with Usha, the divine Dawn, who is the bringer of illumination. I shall suggest that Dakshina like the more famous Ila, Saraswati and Sarama, is one of the four goddesses, representing the four faculties of the Ritam or Truth-consciousness,—Ila representing truth-vision or revelation, Saraswati truth-audition, inspiration, the divine word, Sarama intuition, Dakshina the separative intuitional discrimination."[१]

श्री अरविन्द—On the Veda. Pondicherry. 1956. Page 83-84,

श्रीअरविन्द ने दक्ष, दक्षिण और दक्षिणा के जितने अर्थ किये हैं, उनमें इनकी प्रधानता है—बल, मानसिक शक्ति और विकासात्मक आत्मविवेक। इन सबका परिणत निचोड़ एक शब्द में कहा जा सकता है—क्रियाशक्ति। दुर्गासप्तशती के अनुसार महासरस्वती चिन्मयी ज्ञानशक्ति, महालक्ष्मी आनन्दमयी नित्य इच्छाशक्ति और महाकाली नित्य क्रिया-शक्ति हैं। काली गति वा क्रियाशक्ति हैं और यह सिद्धान्त श्रुतिसम्मत होने के कारण देवी की अत्यन्त समीचीन संज्ञा दक्षिणाकाली है।

सगुण रूप में भक्तों को वर देने में चतुर और उदार होने के कारण भी इन्हें दक्षिणा कहा जाता है

सहेलं सलीलं वा स्मरणाद्वरदानेषु चतुरा। तेनेयं दक्षिणा।[1]

[बोध होता है कि वेदों की इडा, सरस्वती, सरमा और दक्षिणा शक्तियाँ ही आध्यात्मिक-साधना-शास्त्र में त्रिशक्ति (ज्ञान-इच्छा-क्रिया) के रूप में प्रकट हुईं, जिन्हें आध्यात्मिक सिद्धि के लिये वैदिक सनातनमतावलम्बी वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन योगी और तान्त्रिक सभी ने समान श्रद्धा और भक्ति से अपनी साधना और सिद्धि का अवलम्ब बनाया।][2]

विस्तृत नील नभोमण्डल इनके खुले और बिखरे हुए बाल हैं—

खमेव तस्याः सम्पन्नं कवरीमण्डलं बृहत्।[3]
पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाहवो दिशः॥[4]

"(तारा, ग्रह, नक्षत्रादिकों से) सजा हुआ आकाश उनका सजा हुआ महाविशाल (बृहत्) केशमण्डल, पाताल चरण, भूमि उदर और दिशाएँ भुजाएँ थीं।"

इनकी चार भुजाएँ चारों दिशाओं में व्याप्त शक्ति के प्रतीक हैं। इनकी द्विभुज मूर्ति के निर्माण का भी विधान है—

ध्यायेच्च सततं देवि तव रूपं प्रयत्नतः।
द्विभुजां सुन्दरीं श्यामां नानारत्नविभूषिताम्।
रक्तवस्त्रां स्मितमुखीं मातृवत् परिपालिनीम्॥[5]

"देवि! आपके इस रूप का यत्नपूर्वक ध्यान करे—दो भुजाएँ, सुन्दरी, श्यामवर्ण, नाना रत्नों से विभूषित, रक्तवस्त्र, स्मितमुखी और माता की तरह पालन करनेवाली।"

काली और श्यामा नाम और रूप का बौद्धों ने ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है।[6]

काली के 'सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते' होने के कारण किसी भी रूप में ध्यान किया जा सकता है—

अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः।
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना॥[7]

१. अप्रकाशिता उपनिषदः। मद्रास। १९३३। गुह्यषोढान्यासोपनिषत्।
२. यह चित्र-परिचय में स्पष्ट होगा।
३. यह 'बृहत्' वैदिक 'ऋतं बृहत्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है—महाविशाल।
४. योगवासिष्ठ। निर्वाणप्रकरण। उत्तरार्द्ध। बम्बई। १९३७। सर्ग ८१। श्लोक।
५. बृहन्नीलतन्त्रम्। श्रीनगर। १९३४। ६, २४८, २४९।
६. चित्र-परिचय देखिये।
७. महानिर्वाणतन्त्रम्। बंगाक्षर। कलकत्ता। १३२० साल। ५.१४०।

"काल की भी जन्मदात्री, महाप्रकाशस्वरूप, आकारहीन कालिका के गुण और क्रिया के अनुसार रूप की कल्पना की जाती है।" अर्थात् जब संहार-क्रिया में इन्हें संलग्न दिखाया जाता है, तब इनका तमोगुणी रूप माना जाता है, जिसका कल्पित रंग काला है, इसी तरह सृष्टि और स्थिति में क्रमशः रजोगुणी और सत्त्वगुणी रूप की कल्पना की जाती है, जिनका कल्पित रंग रक्त और श्वेत है।

इनके कानों की सजावट के लिये कर्णाभूषण के स्थान में दो शव लटके हुए हैं। ये धर्म आर अधर्म हैं—

धर्माधर्माविमौ कर्णभूषणे चास्यकर्णयोः ।[1]

धर्म और अधर्म—दोनों से ही सृष्टि चलती है। यदि अधर्म न रहे तो प्रपंच लुप्तप्राय हो जाय। जैसे—चोर अज्ञान से अधर्म, अर्थात् चोरी करता है। उसे पकड़ने के लिये रक्षी चाहिये, उसके अपराध की जाँच और दण्ड के लिये साक्षी, वकील, जज, कचहरी, लोअर कोर्ट, हाई कोर्ट इत्यादि चाहिये। इन्हें शिक्षा देने के लिये स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, शिक्षक, प्रोफेसर इत्यादि चाहिये। यदि चोर चोरी करना छोड़ दे तो ये सब बन्द हो जायं। इस प्रकार और भी समझना चाहिये। इसलिये धर्म और अधर्म दोनों ही इनके अवतंस हैं। अधर्म जब अधिक उपद्रवी हो जाता है, तब उसे शान्त करना पड़ता है, जिसके लिये अवतार, रूपग्रहणादि क्रियाएँ होती हैं।

देवी के गले में मुण्डमाल है। यह शब्द ब्रह्म वाक् का स्थूल प्रतीक वर्णमाला है, जो सृष्टि का प्रतिरूप है। मुण्डमाल के टूटने का अर्थ सृष्टि का लोप होना है। महाकालकृत कालीकर्पूरादि-स्तोत्रों में वाक् को मुण्डमाल कहा गया है। वाग्देवी मुण्डस्रक्—वाक् ही मुण्डमाल है।

मुण्डमाल, अर्थात् वर्णमाला के रूप, गुण और क्रियाओं का विवरण इस प्रकार दिया गया है—पञ्चाशद्वर्णमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम्[2]—पचास वर्णरूपी मुण्ड से चूते हुए रक्त से रंजित।

मम कण्ठे स्थितं बीजं पञ्चाशद्वर्णमद्भुतम् ।[3]

मेरे गले में पचास वर्णों के रूप में अद्भुत (सृष्टि का) बीज है।"

पञ्चाशन्निजदेहजाक्षरमयैर्नानाविधैर्धातुभिः
बह्वर्थैः पदवाक्यमानजनकैरर्थाविनाभावितैः ।
साभिप्रायवर्धककर्मफलदैः ख्यातैरनन्तैरिदं
विश्वं व्याप्य निजात्मनामहमहं उज्जृम्भसे मातृके ॥[4]

"मातृके! (वर्णरूपिणी माँ) अनेक प्रकार के सार्थक धातु, अर्थ, पद, वाक्य और छन्द को उत्पन्न करनेवाले और अनन्त रूप में प्रसिद्ध कारणसहित अर्थ और कर्मफल देनेवाले, अपने शरीर से उत्पन्न पचास अक्षरों से सारे विश्व में व्याप्त होकर आप अहम्-अहम् कहकर (अहङ्कार = मैं—भावना के रूप में) अपनी घोषणा करती हैं।"

---

१. योगवासिष्ठ। बम्बई। १९३७। निर्वाण-प्रकरण। उत्तरार्द्ध। ७८,४१।
२. निरुत्तरतन्त्रम्।
३. कामधेनुतन्त्रम्।
४. त्रिपुरामहिमस्तोत्रम्। श्लोक २९।

मुण्ड से टपकता हुआ रक्त प्रत्येक क्षण में होनेवाली सृष्टि का लक्षण है। यह क्रियाशक्ति के रजोगुण का चिह्न है।

तस्मात् ज्ञानासिना तूर्णमशेषं कर्मबन्धनम्।
कामाकामकृतं छित्वा शुद्धश्चात्मनि तिष्ठति ॥[१]

"इससे इच्छा और अनिच्छापूर्वक सारे कर्मबन्धनों को ज्ञानखड्ग से तुरत काटकर निर्मल बनकर आत्मा में स्थिर हो जाता है।"

पापपुण्यं पशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन शाम्भवि।[२]

"हे शम्भुरूपिणि ! आप ज्ञानखड्ग से पाप और पुण्यरूप पशु को काट देती हैं।"

पाप और पुण्य दोनों को ही पशु कहा गया है; क्योंकि दोनों ही अशक्ति, अर्थात् बन्धन के कारण हैं। इसलिये ज्ञानियों का अनुनय है कि --

पातकप्रचयवन्मम तावत् पुण्यपुञ्जमपि नाथ लुनीहि।
काञ्चनी भवतु लौहमयी वा शृङ्खला यदि पदोर्न विशेषः ॥[३]

"नाथ ! पातकपुञ्ज की तरह पुण्यसमूह को भी मिटा दीजिये। सोने की हो अथवा लोहे की, पैरों में यदि बेड़ी है, तो इस (बन्धन) में कोई अन्तर नहीं होता।"

बौद्धों और जैनों ने भी इस भावना को इसी रूप में ग्रहण किया हैं। मञ्जुश्री बुद्ध के अनेक रूपों में तथा बौद्ध और जैन देवी-देवताओं के हाथों में यही ज्ञानखड्ग है।

काली के एक हाथ में सद्यश्छिन्न मुण्ड है, जिससे रक्तबिन्दु टपकता रहता है। यह माहपुरुष का मुण्ड है। यही अज्ञान अथवा मोह विष्णु के हिरण्याक्षादि, शिव के त्रिपुरादि, दुर्गा के महिषादि और बुद्ध के मार हैं। विद्या और अविद्या की क्रियाओं के कारण सृष्टि का संकोच और विकाश होता रहता है। अविद्या, जीवन के प्रधान उद्देश्य महानन्द, अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति का बाधक है। इसलिये साधकों के आत्मदर्शन के लिये इसका सर्वदा शिरश्छेद होता रहता है। इससे सर्वदा रक्तबिन्दुओं का टपकना इसकी निरन्तर क्रियाशीलता का प्रतीक है।

देवी के कटिभाग में शवों के हाथों की माला लटकी हुई है। आधुनिक युग के रामकृष्णादि की तरह महाज्ञानी जीवन्मुक्त साधक ही शव हैं, जिनकी वासनाओं के नष्ट हो जाने के कारण वे निश्चलवृत्तिवाले रूप को ग्रहण कर चुके हैं। वासनाशून्य उनका हृदय ही काली का श्मशान, है जिसमें वह नृत्य करती रहती है। इन्हीं शवों के कर्मबन्धन के प्रतीक उनके हाथ हैं, जिन्हें छिन्न कर करुणामयी माँ आत्मसात् कर लेती है, जिसमें उसके भक्तों को तत्त्वप्राप्ति हो।

वासनाशून्य हृदय ही श्मशान है, जहाँ यह निवास करती है। यहँ वेदान्तियों की निर्विशेष निर्विकल्प समाधि, बौद्धों की शून्यता, शाक्तों और वैष्णवों का सामरस्य (एकरसता, समरसता इत्यादि) और जैनों की केवलावस्था है।

---

१. शिवधर्मोत्तर।

२. योगिनीतन्त्रम्।

३. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करभाष्य। पृ० १६६। २०७वें श्लोक की टीका में उद्धृत।

मुक्ति श्मशान की शिवाएँ हैं, जो मोहादि का भक्षण और रक्तपान करती रहती हैं और उसकी कृपा के लिये चिल्लाती रहती हैं।

शिवा मुक्तिः समाख्याता योगिनां मोक्षदायिनी।
शिवाय यतते देवी ततो लोके शिवा स्मृता ॥[1]

"शिवा, योगियों को मोक्ष देनेवाली मुक्ति है। (मुक्ति) देवी शिवत्व के लिये प्रयत्नशील रहती है, इसलिये इसे शिवा कहते हैं।"

सक्रिय ब्रह्म के त्रिगुणात्मक रूप की कल्पना काली मूर्त्ति है। काला रंग तमोगुण है, लोल जिह्वा से टपकता हुआ रक्तबिन्दु और ओष्ठप्रान्त से बहती हुई रक्तधारा, निरन्तर प्रपंच-क्रिया में प्रवृत्त रजोगुण और उज्ज्वल दन्तपंक्ति सत्त्वगुण है। ज्ञान-इच्छा-क्रिया-रूप चन्द्र, सूर्य और अग्नि इनके तीन नेत्र हैं।

देवी की बलि के लिये छः पशुओं का विधान किया गया है—

सलोमास्थि स्वैरं पललमपि मार्जारमसिते परं चोष्ट्रं मैषं नरमहिषयोश्छागमपि वा।
बलिन्ते पूजायामयि विरलवक्त्रे वितरतां सतां सिद्धिः सर्वा प्रतिपदमपूर्वा प्रभवति ॥[2]

"अयि विरलवक्त्रे ! असिते ! लोम-अस्थि-सहित मार्जार उष्ट्र, मेष, नर, महिष, और छाग के मांस की, पूजा में, यथारुचि बलि करने से सज्जन साधकों को पग-पग पर सिद्धियाँ मिलती रहती हैं।"

इस पर व्याख्या इस प्रकार है—

सलोमास्थि पललं सर्वावयवसमन्वितान् षड्रिपुरूपमार्जारादीपशून् इत्यर्थः। अत्र छागः कामः, महिषः क्रोधः, मार्जारः लोभः, नरः मदः, मेषः मोहः, मात्सर्यम् इति गुणसाम्यात् बोध्यम्। बलिं वितरतां कामादीनां विनाशकामनया चिद्रूपायां त्वयि पूजोपहाररूपेण ददताम्।[3]

"रोआँ और हड्डी-सहित मांस, इसका अर्थ है सभी अंगों-सहित षड्रिपु मार्जारादि पशुओं को। यहाँ छाग काम, महिष क्रोध, मार्जार लोभ, नर मद, मेष मोह और उष्ट्र मात्सर्य हैं। यह गुणों की समता से जानना चाहिये। बलि वितरण करनेवाले का, अर्थात् काम इत्यादि के विनाश की इच्छा से चिद्रूपिणी तुम में पूजोपहार के रूप में देने-वाले का।"

देवी के ध्यान और स्तोत्र में **'महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम्'**, **'महाकालेनोच्चैर्मदन-रसलावण्यनिरताम्'** आदि उक्तियों का प्रयोग हुआ है। यहाँ शाक्तदर्शन की कामकला को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। शाक्तदर्शन के कामकलातत्त्व को समझ लेने से बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णवादि सभी सम्प्रदायों की साधनाओं के रहस्य स्पष्ट हो जाते हैं।

---

१. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करभाष्य। बम्बई १९३५। पृ० ३८।
२. महाकालकृत कर्पूरादिस्तोत्र। श्लोक १९।
३. कर्पूरादिस्तोत्र। आवलन। Tantrik Texts. Vol. IX. Calcutta 1922. Page 28.

कामकला

नाद-बिन्दु, त्रिकोण, त्रिशूल, त्रितत्त्व, त्रिशक्ति, योनि, कामकला—ये सब एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इनमें से किसी एक पर विचार करने से सबका स्पष्टीकरण हो जाता है।

ब्रह्म एक सर्वव्यापिनी शक्ति वा तत्त्व है। नित्य-ज्ञान (चित्) और नित्यइच्छा, नित्यक्रिया (आनन्द) इसका नित्यस्वभाव है। यह शुद्ध चेतना है, इसलिये इच्छा और तदनुसार क्रिया का प्रवर्तन होना, अर्थात् आनन्द का स्पन्दन, स्वाभाविक है। ब्रह्म में जब इच्छा (काम) होती है तो उसमें क्रिया (स्पन्दन) आरम्भ होती है और नाद (शब्द, नाम) और बिन्दु (रूप-साकार सृष्टि) रूप ग्रहण करते हैं। शब्द उत्पन्न होने और रूप करने की क्रिया एक साथ होती है। समुद्र में आन्दोलन होने पर शब्द और तरंग दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति में कौन पहिले और कौन पीछे हुआ, यह कहना कठिन है। कुछ लोगों का कहना है कि नाद और बिन्दु एक ही वस्तु के दो नाम हैं—

नाद एव घनीभूतः क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्।[1]

"नाद ही शायद घना बनकर बिन्दु बन जाता है।"

यथार्थ में ये एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। इनमें भेद स्थापित करना कठिन है। इसलिये वाक् (नाद) को ही साकार सृष्टि कहा गया है, जिसका प्रतीक वर्णमाला है। यही नाद-बिन्दु सृष्टि का आदि रूप है। इसीका विकसित और विस्तृत रूप नाम-रूपात्मक जगत् है।

चेतना के इस महाविस्तार[2], अर्थात् ब्रह्मत्व के जितने अंश में यह स्पन्दन (क्रिया) आरंभ होता है, वह नाद-बिन्दु के रूप में त्रिकोण का रूप ग्रहण करता है। नाद और बिन्दु का रूप अर्द्धचन्द्राकार कहा जाता है। उसके ऊपर शक्ति का बिन्दु-स्थान माना जाता है। इन तीनों बिन्दुओं में शक्ति-बिन्दु ऊपर और नाद तथा बिन्दु के बिन्दु नीचे रहते हैं। इन तीनों बिन्दुओं को मिला देने से त्रिकोण बनता है। यह त्रिगुण, त्रिदेव, त्रिशक्ति, वेदत्रयी इत्यादि का प्रतिरूप है। इस त्रिकोण के भीतर जो स्पन्दन (क्रिया) होता है, वही आकार ग्रहण कर त्रिगुणात्मक जगत् के रूप में प्रकट होता है। यह निरन्तर स्पन्दन ही सृष्टि का कारण है। स्पन्दन के शान्त होते ही आनन्दोल्लास रूप ब्रह्म, अर्थात् सृष्टिरूपधारिणी देवी क्रियाशक्ति अपने स्थिर (कूटस्थ) रूप में विलीन होकर स्थिर हो जाती है।

चिदानन्द के महानन्द से प्रसूत यह क्रियाशक्ति स्वयं आनन्दमयी है और सृष्टि का कारण है। यह त्रिकोण की क्रिया वा गति, ब्रह्म का अपने स्पन्दन के साथ खेल, लीला और अलंकृत भाषा में मिथुनकर्म है। ब्रह्म का निष्क्रिय रूप निश्चल (कूटस्थ) पड़ा हुआ है, जिसपर त्रिकोणात्मक स्पन्दन (क्रियाशक्ति, गतिशक्ति) नृत्य करता रहता है। यही महाकाल के साथ महाकाली की विपरीत गति है। इसीका नाम कामकला है। कला का अर्थ, सृष्टि है। सकल ब्रह्म साकार ब्रह्म है, और निर्गुण निराकार ब्रह्म को निष्कल ब्रह्म कहते हैं।

१. शारदातिलक।

२. वेद का 'ऋतं बृहत्'। श्रीअरविन्द ने On The Veda नामक ग्रन्थ में ऋतं बृहत् के तत्त्व पर विस्तार से विचार किया है।

ब्रह्म की काम (इच्छा, गति)-शक्ति द्वारा कला (विश्व) की सृष्टि का नाम कामकला और कूटस्थ परमशिव (बुद्ध का वज्र और निऋ̐ति तथा जैनों का 'केवल') का नाम कामेश्वर है।

त्रिकोण के सामान्य, अर्थात् निरन्तर होनेवाले स्वाभाविक स्पन्द का नाम प्रणव (ॐ) और देवी प्रणव (ह्रीं) है। शाक्तदर्शन में इसी स्पन्दन का नाम चिञ्चिनी शक्ति है। यही कामकला का स्वरूप और रहस्य है, जिसकी साधना द्वारा योगीजन सिद्धिलाभ करते हैं। यही कामाख्या का योनिमण्डल वा महायोनिपीठ है, जहाँ जगन्माता के रूप में परब्रह्म की उपासना होती है।

ब्रह्मज्ञानियों ने इस पर स्पष्ट रूप से और बड़े विस्तार से विचार किया है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

त्रिकोणकुण्डली मात्रा नित्या श्रीः प्रकृतिः परा।
माला सरस्वती साक्षात् शरच्चन्द्रशतप्रभा॥
वामरेखा भवेद् ब्रह्मा तरुणाक्षिसमन्विता।
दक्षरेखा विष्णुरूपा शरच्चन्द्रशतप्रभा॥
अधोरेखा रुद्ररूपा दलिताञ्जनसन्निभा।
श्री ईश्वरसदाशिवौ मात्रायां संस्थितावुभौ॥
व्यापकात् श्रीशिवज्योतिः प्रकृत्यन्तर्गतं सदा।
त्रिकोणाभ्यन्तरे शून्यो बिन्दुः परमकुण्डली॥
अरुणादित्यसंकाशो बिन्दुरूपपरिच्छदः।
बिन्दुमध्यगतं कोटिचन्द्रप्रदायकम्॥
स एव परमं ब्रह्म शिवः परमकारणम्॥
नातः परतरं तत्त्वं मर्दिन्येकाक्षरीषु च॥[1]

"त्रिकोण, कुण्डली, मात्रा, नित्या, श्री, परा प्रकृति और सैकड़ों चन्द्र की प्रभावाली सरस्वती हैं। इसकी (त्रिकोण की) वामरेखा तरुणाक्षि[2] (?) समेत ब्रह्मा हैं, सैकड़ों चन्द्रमा कीप्रभावाली दाहिनी रेखा विष्णु हैं, घिसे हुए अंजन के रंगोंवाली नीचे की रेखा रुद्र हैं, ईश्वर और सदाशिव (अर्द्ध) मात्रा (ँ) में हैं। व्यापक होने के कारण श्रीशिव की ज्योति सदा प्रकृति के भीतर है। त्रिकोण के भीतर शून्य बिन्दु परम कुण्डली है। लाल सूर्य की तरह बिन्दु रूप, उसका आवरण है। बिन्दु के भीतर कोटि चन्द्रतुल्य शून्य है। वही परम ब्रह्म, शिव और परम कारण है। मर्दिनी देवी की एकाक्षरी (ह्रीं) में इससे बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है।"

सदाशिवोपरि स्थित्वा ब्रह्माण्डं क्षोभमानयेत्।[3]

१. Tantrik Texts. कालीविलासतन्त्रम्। लण्डन। १९१७। पटल २२, श्लोक ३३-३८।
२. प्रसंग से मालूम होता है कि इसका अर्थ 'रक्तवर्ण' है।
३. कालीविलासतन्त्रम्। लण्डन। १९१७। पटल २४, श्लोक २३।

"सदाशिव के ऊपर रहकर (मर्द्दिनी वा काली) क्षोभ-रूप ब्रह्माण्डको उत्पन्न करती है।"

यदा त्रिधाऽथ गुणयेत्तदा त्रिगुणिता विभुः।
शक्तिः कामाग्निनादात्मा गूढमूर्तिः प्रतीयते॥
तदा तां तारमित्याहुरोमात्मेति बहुश्रुताः।
तामेव शक्तिं ब्रुवते हरेरात्मेति चापरे॥
त्रिगुणा सा त्रिदोषा सा त्रिवर्णा सा त्रयी च सा।
त्रिलोका सा त्रिमूर्तिः सा त्रिरेखा सा विशिष्यते॥[1]

"सर्वव्यापिनी (विभु) शक्ति जब तीन प्रकार से गुणित होती है, तब इस गूढ़ मूर्त्तिवाली का बोध, काम, अग्नि, नाद और आत्मा के रूप में होता है। तब निविष्ट विद्वान् लोग इस शक्ति को तार अर्थात् ओम् और आत्मा कहते हैं। वही तीन गुणों-वाली, तीन दोषोंवाली और तीन वर्णोंवाली और तीनों वेद है। वही त्रिलोक और और त्रिमूर्ति है और उसका विशिष्ट रूप त्रिरेखा है।

बीजत्रितय—शक्तित्रितय लिङ्गत्रितयमयं त्रिकोणं कामकलाक्षररूपम्। वैखरी विश्वविग्रहा।[2]

"कामकला का नित्य (अक्षर) रूप त्रिकोण हैं, जो तीन बीज, तीन शक्ति और तीन लिङ्गमय है। जगत् ही वैखरी का प्रकट रूप (विग्रह) है।

त्रिकोण की तीनों रेखाओं के नाम हैं वामा, ज्येष्ठा और रौद्री। उनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

वामा विश्वस्य वमनात् ज्येष्ठा शिवमयी यतः।
द्रवयित्री रुजं रौद्री द्रोग्ध्री चाखिलकर्मणाम्॥[3]

"विश्व को वमन करने के कारण वामा है, शिवमयी होने के कारण ज्येष्ठा है, और सभी कर्मों को प्रदान करनेवाली और रोगों को गलानेवाली रौद्री है।'

यः शिवः परमं ब्रह्म सर्वं व्याप्य विजृम्भते।
वामा रजोगुणा नित्या अरुणादित्यसन्निभा॥
ज्येष्ठा सत्त्वगुणा चैव शरच्चन्द्रप्रकाशिका।
दलिताञ्जनसंकाशा रौद्री तमोगुणा स्मृता॥[4]

"जो परम ब्रह्म शिव हैं, वे ही सर्वव्यापी होकर फैले रहते हैं। नित्या (शक्ति) वामा रजोगुण है, जो लालसूर्य की तरह है। ज्येष्ठा सत्त्वगुण है, जिसका प्रकाश शरच्चन्द्र की तरह है। रौद्री तमोगुण है, जो घिसे हुए अंजन की तरह है।"

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता॥[5]

---

1. प्रपंचसारतन्त्रम्। कलकत्ता। 1935। पटल 2। श्लोक 52-56।
2. कामकलाविलास। कलकत्ता। 1922। पृष्ठ 18। वामकेश्वरतन्त्र से उद्धृत।
3. तत्रैव। पृष्ठ 20।
4. कालीविलासतन्त्रम्। लण्डन। 1917।
5. कामकलाविलास। कलकत्ता। 1917। पृष्ठ 20 में वामकेश्वरतन्त्र से उद्धृत।

"वह परमा कला (पराशक्ति) अपना स्पन्दन देखती है, तब कहा जाता है कि परा वाक् ने अम्बिका (मातृका) रूप धारण कर लिया है।"

महामातृका कुण्डलिनी बहुविधा नादात्मिका।[१]

"महामाता कुण्डलिनी बहुत प्रकार के नादोंवाली है।"

सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेत यदा।
तद्देहावयवानां परिणतिरावरणदेवताः सर्वाः॥
आसीना बिन्दुमध्ये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरी देवी।
कामेश्वराङ्कनिलया कलया चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा॥[२]

"वह परा (अशेषकारणरूपा) महेश्वरी जब चक्राकार में परिणत हो जाती है, तब उसके शरीर के अवयव, आवरण देवता के रूप में परिणत हो जाते हैं। चक्र में, बिन्दुमध्य में स्थित देवी चन्द्रकलाओं को कर्णभूषण बनाकर कामेश्वर की गोद में निवास करती है।"

कहना न होगा कि महेश्वरी सक्रिय ब्रह्म हैं, उनके अवयव या आवरण देवता प्रपंचक्रिया का सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाली दिक्काल, धर्माधर्म इत्यादि नाना प्रकार की शक्तियाँ है। चन्द्रकला आनन्द है, जो बौद्धों की करुणा और जैनों की दया है और कामेश्वर, वेदों का ऋतं बृहत्, वेदान्तियों का कूटस्थ ब्रह्म, बौद्धों का वज्र और जैनों का केवल तत्त्व है।

कलाविद्या पराशक्तेः श्रीचक्राकाररूपिणी।
तन्मध्ये बैन्दवस्थानं तत्रास्ते परमेश्वरी॥
सदाशिवेन संपृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती।
चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि॥[३]

"पराशक्ति की कलाविद्या (सृष्टि-रचना) श्रीचक्र के आकार में है। उसके बीच में बिन्दुस्थान है। वहाँ परमेश्वरी रहती हैं। सभी तत्त्वों से परे सदाशिव के साथ घुली हुई हैं। त्रिपुरसुन्दरी का चक्र ब्रह्माण्ड का रूप है।"

इस पर टीका इस प्रकार है—

देवी विश्वसर्जनादिव्यापारविनोदिनी। चन्द्रस्य कलया विश्वजीविन्याख्यया कल्पितोत्तंसा कृतभूषणा। अत्र कल्पितपदेन चन्द्रमण्डलस्य भगवतीलीलोपकरणत्वं लभ्यते।[४]

"देवी का, संसार की सृष्टि इत्यादि कामों से विनोद होता है। विश्वजीविनी नामक चन्द्रकला को कर्णभूषण बनाया है। यहाँ कल्पित शब्द से बोध होता है कि चन्द्रमण्डल देवी की लीला की सामग्री है।"

१. तत्रैव।
२. तत्रैव।
३. तत्रैव। २७वें श्लोक की टीका में भैरवयामल से उद्धृत
४. तत्रैव।

विश्वजीविनी चन्द्रकला आनन्दतत्त्व है, जो वैदिक ऋषियों का सोमरस, शाक्तों की इच्छाशक्ति वा कामनातत्त्व, बौद्धों की करुणा और जैनों की दया है।

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम्॥[१]

"शून्य में जो गुप्त त्रिकोणमण्डल है, उसे भग कहते हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसके तीन कोण हैं। उसके बीच में चिञ्चिनी शक्ति का क्रम (स्पन्दन) है।"

यह शून्य, बौद्धों का शून्यत्व और योगियों की मनोलयावस्था और जैनों का केवलत्व है। यह वेदान्तियों का कूटस्थतत्त्व और शाक्तों का चिदाकाश है।

अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके।
त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने॥[२]

"इस चौदहवें धाम में (अशेष कारणतत्त्व अथवा शून्य में) जब तीनों शक्तियाँ (ज्ञान इच्छा, क्रिया) फूट पड़ती हैं. तब श्रीशासन (बुद्धोपदेश अर्थात् धर्मचक्रप्रवर्तन ?) में शास्ता (बुद्ध) ने इसे त्रिशूल कहा है।

इस त्रिशूलतत्त्व को बौद्ध, जैन, शैव और शाक्तों ने अक्षुण्ण रूप में ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया है।

लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम्।
यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरञ्जनः॥[३]

"तीनों शक्तियाँ (ज्ञानेच्छाक्रिया) जब क्रियाशील हो जाती हैं, तब इसे त्रिशूल[४] कहते हैं, जिसमें प्रवेश पाने से योगी अविलम्ब निरञ्जन हो जाता है।[४]

यह शाक्तों, और वैष्णवों का समरस, योगियों की निरुपाधि निर्विकल्प समाधि बौद्धों की शून्यता और जैनों का केवलत्व है।

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।[५]

"महेश्वर शक्तिमान् है और सारा जगत् इसकी शक्तियों का रूपान्तरमात्र है।"

इसलिये महेश्वर, अर्थात् अपने स्वामी की इच्छा से ये शक्तियाँ सृष्टिलीला की क्रियाएँ करती रहती हैं। यही शक्ति का शक्तिमान् के साथ विलास, अर्थात् कामक्रीड़ा है। यह शाक्तों की कामकला, कालरात्रि का नृत्य, शैवों का महाताण्डव और वैष्णवों का महारास है।

इसलिये अभियुक्तजन कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और सभी देवता त्रिकोण के अन्तर्गत हैं—

त्रिकोणे देवताः सर्वाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।[६]

१. तन्त्रालोक। बम्बई। १९२०। श्लोक ९४ की टीका।
२. तत्रैव। श्लोक १०४।
३. तत्रैव। श्लोक १०८।
४. मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में जो पशुपति की मूर्ति मिली है, उसके माथे पर और सामने नाभि के नीचे त्रिशूल बना है। इस त्रिशक्ति-तत्त्व का कब आविर्भाव हुआ, यह कहना कठिन है।
५. तत्रैव। श्लोक १४३ की टीका।
६. तत्रैव। श्लोक १२२ की टीका।

परमानन्द में चित्त का लय हो जाना ही कामकला का सामरस्य है—

कदाचिद्वस्तुविश्रान्तिसाम्येनात्मनि चर्वणम् ।
वेद्यवेदकसाम्यं तत् सा रात्रिर्दिनतुल्यता ।।[१]

"जब कभी वस्तु (सत्ता) साम्यावस्था में आत्मा में विश्राम करने लगती है और मनोलय हो जाता है और ज्ञाता (वेदक) और ज्ञेय (वेद्य) एकाकार हो जाते हैं। वह साम्यावस्था रात और दिन की तुल्यता-जैसी है।"

यही शाक्तदर्शन की कामकला है। सृष्टि के विस्तार के लिये इस महा अग्नि की चिनगारियाँ सारी सृष्टि में उड़ती रहती हैं। उद्भिद और प्राणिजगत् में एक ही नियम काम करता है। जिस प्रकार फल उत्पन्न करने के लिये मकरन्दवाले फूल को अन्य फूल के पराग की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्राणियों की रचना के लिये मातृरज को पुंकीट की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार कुछ फूलों में अपना ही पराग रहता है और कुछ में कीटों द्वारा प्रकृति प्रबन्ध करती है, उसी प्रकार कुछ प्राणियों में मातृकीट और पुंकीट एक ही शरीर में रहते हैं और कुछ में प्रकृति के प्रबन्ध से परस्पर आकर्षण द्वारा सृष्टिविस्तार की क्रिया चलती रहती है। जड़ जगत् का यद्यपि ठीक पता नहीं चलता है, पर यहाँ भी कुछ ऐसा ही नियम होना चाहिये।

ये उस निरन्तर असंख्य स्फोटवाले सृष्टि के प्रवर्तक महा अग्निकाण्ड की चिनगारियाँ हैं। शाक्त दर्शन के ये पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप हैं।

तारा

सभी महाविद्याओं के रूपों का तत्त्व एक ही है, अर्थात् एक ब्रह्म की ही इन अनेक रूपों में उपासना की जाती है। काली के रूप के जो तत्त्व हैं, तारा के रूप के भी वे ही तत्त्व हैं।

तारा शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

दक्षगेहे च योत्पन्ना सती नाम्नेति कीर्तिता ।
कैवल्यदायिनी यस्मात् तस्मादेकजटा स्मृता ॥
तारकत्वात् सदा तारा लीलया वाक्प्रदा यतः ।
नीलसरस्वती प्रोक्ता उग्रत्वादुग्रतारिणी ।
उग्रापत्तारिणी यस्मादुग्रतारा प्रकीर्तिता ॥[२]

"दक्षगृह में जो सती नाम से उत्पन्न हुई, उनके केवलत्व (ब्रह्मत्व, एकत्व) देनेवाली होने के कारण उन्हें एकजटा कहते हैं। तारक (मोक्ष देनेवाली) होने के कारण वे सर्वदा तारा हैं। अनायास ही वे वाक्प्रदान करती हैं, इसलिये वे नील सरस्वती (लील = नील) हैं, उग्र होने के कारण उग्रतारिणी हैं, और भयंकर विपत्ति से बचानेवाली होने के कारण उग्रतारा कही जाती हैं।"

१. तन्त्रालोकः। काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः श्रीनगर। १९२२। चतुर्थोभागः। श्लोक ८४।
२. प्राणतोषिणी। कलकत्ता। १३३५ साल। पृ० ३७६ में नारदपञ्चरात्र से उद्धृत।

तारा के स्वरूप का निर्णय तारोपनिषत् में इस प्रकार किया गया है—

ॐ तत्सद् ब्रह्म । तद्रूपं प्रकृतिपराङ्गनामम् । तत्परं परमं महत्, सत्यं, तदहं ह्रींकारं रक्तवर्णां मन्नाभिः स्त्रींकारं पिङ्गलाभम्, हूँकारं विशदाभं मद्धृदयरूपम्, भूमण्डलं फट्कारधूम्रवर्णं मत्खड्गम्, ॐकारज्वलद्रूपं मन्मस्तकम्, वेदा मद्धस्ताः, चन्द्रार्कानला मन्नेत्रा, दिवानक्तं मत्पादौ, संध्या मत्कर्णौ, संवत्सरो मदुदरो, मद्दन्तपंक्ती मत्पार्श्वौ, वारतंवो मदंगुल्यो, विद्या मन्नखाः, पावको मन्मुखम्, मही मद्रसना, द्यौर्मन्मुखम् गगनं मद्धृदयम्, भक्तिर्मम चर्मं, रसं मद्रुधिरम्, वान्नं वासांसि फलानि, निरहंकारा अस्थीनि, सुधा मन्मज्जा, स्थावराणि मद्रोमाणि, पातालादिलोकौ मत्कुचौ, ब्रह्मानन्दं मन्नाड्यम्, ज्ञानं मन्मनः, क्षमा बुद्धिः, शून्यं मदासनम्, नक्षत्राणि मद्भूषणानि । एतद्वैराटकं वपुः, मज्जलं सत्त्वम्, बिन्दुस्वरूपं महाकारस्वरूपं ज्योतिर्मयं विद्धि शिरः, उग्रतारां महोग्रां नीलां घनामेकजटां महामायां प्रकृतिं मां विदित्वा यो जपति, मद्रूपाणि यो वेत्ति, मन्मन्त्रं यो जपति, मद्रूपकल्पितां यो जपति, भगं भजति, निर्विकल्पः साधकः सदा मद्रूपो भवति । सर्वाणि कर्माणि साध्यानि, निर्भयो भवति । गुरून् नत्वा स्तुत्वा वस्त्रभूषणानि दत्त्वा इमामुपनिषद्विद्यां प्राप्य मां यो जपति स जीवन्मुक्तो भवति ।।[1]

"वह सत्तामात्र और बृहत् (ब्रह्म) है। उसका रूप, प्रकृति का स्त्रीरूप हूँ। वह कारण (पर) सर्वश्रेष्ठ (परम महत् महा विशाल) और सत्य है। वह मैं लाल रँग का ह्रींकार हूँ। पिङ्गलवर्ण स्त्रींकार मेरी नाभि है, उज्ज्वल वर्ण हूँकार मेरा हृदयरूप है, भूमण्डल धूम्रवर्ण फट्कार मेरा खड्ग है, तेजोमय ॐकार मेरा मस्तक है, वेद मेरे हाथ हैं, सूर्य, चन्द्र और अग्नि मेरे नेत्र हैं, दिन-रात मेरे पैर हैं, संध्या मेरे कान हैं, संवत्सर मेरा पेट, मेरी दन्तपंक्तियाँ और मेरे पार्श्व हैं, दिन और रात मेरी अंगुलियाँ हैं, विद्याएँ मेरे नख हैं, अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी मेरी जिह्वा है,, द्यौ मेरा मुख (मण्डल) है, गगन मेरा हृदय है, भक्ति मेरा चर्म है, रस मेरा रुधिर है, अन्न, वस्त्र, फल, निरहंकार मेरी अस्थियाँ हैं, सुधा मेरी मज्जा है, स्थावर मेरे रोम हैं, पातालादि लोक मेरे स्तन हैं, ब्रह्मानन्द मेरी नाडियाँ है, ज्ञान मेरा मन है, क्षमा बुद्धि है, शून्य[2] मेरा आसन है, तारे मेरे आभूषण हैं, यह विराट् (विराज, विराजमान, दृश्यमान जगत्) शरीर है, जल मेरा सत्त्व है, महाकार ज्योतिर्मय बिन्दुरूप मेरा मस्तक समझो। जो मुझे उग्रतारा, महोग्रा, नीला, घना, एकजटा, महामाया और प्रकृति समझकर जपता है, मेरे रूप को जो जानता है, मेरे मन्त्र को जपता है, मेरे कल्पितरूप को जो जपता है, ऐश्वर्य (महिमा) को भजता है, निर्विकल्प (उधेड़बुन-रहित)[3] साधक सदा मेरा रूप हो जाता है। सभी कर्म उसके लिये साध्य हो जाते हैं और वह निर्भय हो जाता है। गुरु को प्रणामकर उनकी प्रशंसाकर, वस्त्रभूषण देकर, इस रहस्य विद्या (उपनिषत्) को प्राप्तकर जो मुझे जपता है वह जीवन्मुक्त हो जाता है।"

महाकालकृत कर्पूरतारिणीस्तोत्र में तारा का ध्यान इस प्रकार है—

शवासीनाकण्ठाकलितनृकरोटीपरिलसत्-
कपालासिश्यामोत्पलरुचिरकर्त्रीं त्रिनयनाम् ।
नवाम्भोदश्यामां प्रकटरदभीमां पृथुकुचां
सदैव त्वां ध्यायन् जननि च जडो वाक्पतिसमः ।।

---

१. शाक्तप्रमोद। बम्बई। संवत् २००८। सन १९५१। पृ० १३७ में उद्धृत।

२. यह बौद्धों की भी शून्यता है।

३. यह जैनों का भी केवलत्व है।

"शव पर स्थित, कण्ठ में लिपटी हुई नरमुण्ड की माला, कपाल, खड्ग, नील कमल, सुन्दर काती, तीन नेत्र, नवीन बादल के समान श्यामवर्ण, निकले हुए दाँतों से भयंकर, बड़े-बड़े स्तन। माँ ! इस प्रकार सर्वदा तुम्हारा ध्यान करनेवाला महामूर्ख भी बृहस्पति-जैसा हो जाता है।"

ताराष्टक में तारा के रूप का इस प्रकार वर्णन किया गया है —

मातर्नीलसरस्वति प्रणमतां सौभाग्यसम्पत्प्रदे
प्रत्यालीढपदस्थिते शवहृदि स्मेराननाम्भोरुहे।
फुल्लेन्दीवरलोचनत्रययुते कर्त्रीं कपालोत्पले
खड्गं चादधती त्वमेव शरणं त्वामीश्वरीमाश्रये॥
वाचामीश्वरि भक्तकल्पलतिके सर्वार्थसिद्धीश्वरि
गद्यप्राकृतपद्यजातरचना- सार्वज्ञसिद्धिप्रदे।
नीलेन्दीवरलोचनत्रययुते कारुण्यवारांनिधे
सौभाग्यामृतवर्षणेन कृपया सिञ्च त्वमस्मादृशम्॥
खर्वे गर्वसमूहपूरिततनो सर्पादिवेषोज्ज्वले
व्याघ्रत्वक्परिवीतसुन्दरकटिव्याधूतघंटाङ्किते।
सद्यःकृत्तगलद्रजःपरिमिलन्मुण्डद्वयीमूर्धज-
ग्रन्थिश्रेणिनृमुण्डदामललिते भीमे भयं नाशय॥
मायानङ्गविकाररूपललनाबिन्द्वर्धचन्द्रात्मिके
हूँफट्कारमयि त्वमेव शरणं मन्त्रात्मिके मादृशः।
मूर्तिस्ते जननि त्रिधामघटिता स्थूलातिसूक्ष्मापरा
वेदानां नहि गोचरा कथमपि प्राज्ञैर्नुतामाश्रये॥
त्वत्पादाम्बुजसेवया सुकृतिनो गच्छन्ति सायुज्यतां
तस्य श्रीपरमेश्वरत्रिनयनब्रह्मादिसाम्यात्मनः।
संसाराम्बुधिमज्जने पटुतनून् देवेन्द्रमुख्यान् सुरान्
मातस्त्वत्पदसेवने हि विमुखो यो मन्दधीः सेवते॥

'मातः ! नीलसरस्वति ! जो तुम्हें प्रणाम करते हैं उन्हें सौभाग्य और सम्पत् प्रदान करती हो। शवरूप शिव के हृदय पर प्रत्यालीढ मुद्रा में (बायें पैर को आगे बढ़ाकर और दाहिने को जरा मोड़कर) मुस्कुराती हुई खड़ी हो। प्रफुल्ल कमल की तरह तुम्हारे तीन नेत्र हैं और चारों हाथों में कर्त्री (कतरनी-कैंची वा काती) कपाल, उत्पल और खड्ग हैं। तुम सब की रक्षा करनेवाली ईश्वरी हो। मैं तुम्हारा शरणापन्न हूँ॥१

वागीश्वरि ! तुम भक्तों के लिये कल्पलता हो। तुम सभी अर्थसिद्धि की ईश्वरी हो। गद्य, पद्य और प्राकृत की रचना में सर्वज्ञता प्रदान करनेवाली हो। नील कमल के समान तुम्हारे तीन नेत्र हैं। तुम दयासागर हो। तुम मुझ-जैसे (नीरस) व्यक्ति को सौभाग्यसुधावृष्टि से सींच दो॥२

तुम खर्व (नाटी) हो और गर्वसमूह से तुम्हारा शरीर भरा हुआ है। सर्पादि सजावट से तुम्हारा रूप जगमगाता रहता है। कटि में व्याघ्रचर्म लिपटा हुआ है जिसमें घण्टा लगा है। तुरत कटे हुए नरमुण्ड, चूते हुए रक्त (रजः-रजोगुण-सृष्टिशक्ति) से एक-दूसरे से सट गये हैं और वे केशों के साथ ग्रथित होकर, नरमुण्डमाल बनकर आपकी शोभा बढ़ा रहे हैं। आपको देखकर डर लगता है। मेरा डर दूर कीजिये ।।३

ह्रीँ स्त्रीँ हूँ फट् के आप प्राण हैं, यह आपका रूप है। यह मंत्ररूप माँ ! मुझ जैसे लोगों की आप रक्षा करनेवाली हैं। स्थूल, सूक्ष्म और पर, ये आपके त्रिस्थानीय रूप हैं। इन्हें वेद भी नहीं जानते। किसी प्रकार मिल गये हैं। मैं इन्हें न छोड़ूँगा ।।४

तुम्हारे चरणकमल की सेवा करने से, सुकृतिजन, ब्रह्मा-विष्णु की तरह सायुज्यता प्राप्त करते हैं। मातः ! आपकी पद-सेवा छोड़कर, जो संसार-सागर में डूबने में चतुर इन्द्रादि की सेवा करते हैं, वे मूढ़ हैं।"

इसमें तारा के स्थूल, सूक्ष्म और पर, इन तीनों रूपों की चर्चा हुई है। हस्तपादादि-युक्त रूप की कल्पना स्थूल रूप है, मन्त्र की ध्वनि, सूक्ष्म रूप है और कारणरूप के साथ सायुज्यता पररूप है।

ऊपर के विवरणों से स्थूलप्रतीक के मूलार्थ स्पष्ट हैं। तारा का शव उसका निष्क्रिय पररूप है जिस पर उसका सक्रिय त्रिगुणात्मक रूप अपनी लीला का विस्तार करता रहता है। सर्प काल है।[1] प्रकृति दिगम्बरी है, इसलिये व्याघ्रचर्म दिक् है। मुण्डमाल,[2] वाक् अर्थात् नादात्मक सृष्टि का प्रतीक है जो रजोगुण (रजः-रक्त) से चालित होता रहता है। सुधापात्र कपाल, चिदानन्दमयी के आनन्द का प्रतीक है। इस अमृत का पान, अर्थात् स्वाभाविक आनन्द का उल्लास विश्वनृत्य अर्थात् प्रपञ्चक्रिया का प्रवर्त्तक है। हाथ का कमल सृष्टि का प्रतीक है।[3] कर्त्री अविद्या के बन्धनों को काटकर भक्तों को मुक्ति प्रदान करती है। खड्ग ज्ञान[4] है।

घंटा दुर्भावनाओं का नाश करनेवाली, सर्वसिद्धिप्रदा वाक् अर्थात् शब्दब्रह्म है, जो सभी शक्तियों का बीज है—

शब्दस्य पातनः घंटा।[5]

"शब्दपात अर्थात् नादोत्पत्ति घण्टा है।"

हिनस्ति दैत्यतेजांसि स्वनेनापूर्य या जगत्।
सा घण्टा पातु नो देवि पापेभ्यो नः सुतानिव ॥[6]

"शब्द से जगत् को भर कर जो दैत्यों के तेज को हर लेती है वह घण्टा पापों से, पुत्र की तरह मेरी रक्षा करे।"

---

१. सर्पकाल के विशेष विवरण के लिये विष्णुप्रकरण देखिये।
२. मुण्डमाल के सिद्धान्त के लिये वाक् और कालीप्रकरण देखिये।
३. कमलप्रतीक के लिये ब्रह्मा और विष्णुप्रकरण देखिये।
४. ज्ञानखड्ग के लिये कालीप्रकरण देखिये।
५. राधातन्त्रम्। कलकत्ता। १३४१ साल। पटल २१। श्लोक १२।
६. दुर्गासप्तशती। १२.२७।

दैत्यतेज दुर्भावना और पाप दुष्कर्म हैं।

या घंटा चंचलापाङ्गि सिद्धिसूत्रस्वरूपिणी ।
नित्या श्री कमला बीजरूपिणी सिद्धिदायिनी ॥[१]

"सुन्दरि ! जो घंटा है वह सिद्धिसूत्र है, नित्या है, श्री है, कमला है, सिद्धि देनेवाली है और (सभी मंत्रों तथा सृष्टि का) बीज (वाक्) है।

तारा के मस्तक पर मुकुट के स्थान में पाँच मुण्ड हैं। ये पञ्चब्रह्म, पञ्चप्रेत और पञ्चरुद्र हैं।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
एते देवा महेशानि पञ्च ज्योतिर्मयाः सदा ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिस्तु तुरीयं परमेश्वरि ।
सदाशिवो यस्तु देवि सुप्तब्रह्म स एव हि ॥[२]

"ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ये सर्वदा ज्योतिर्मय हैं। ये ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और सुप्तब्रह्म सदाशिव हैं।

पञ्च ब्रह्म परं विद्यात् सद्योजातादिपूर्वकम् ॥
दृश्यते श्रूयते यच्च पञ्चब्रह्मात्मकं स्वयम् ॥
पञ्चधा वर्तमानं तं पञ्चकार्यमिति स्मृतम् ।
पञ्चकार्यमिति ज्ञात्वा ईशानं प्रतिपद्यते ॥[३]

"सद्योजात आदि के रूप में 'पर' ही पञ्चब्रह्म हैं। जो कुछ देखने वा सुनने में आता है वह स्वयं 'पर' पञ्चब्रह्मस्वरूप है। वे पाँच रूपों में हैं और उनके पाँच कार्य हैं। पञ्चकार्य का ज्ञान हो जाने पर ईशान की प्राप्ति होती है।"

इन पञ्चमुण्डों को वाच्य ब्रह्म के वाचक प्रणव की पाँच मात्राएँ भी कहा गया है, जो तारा का मस्तक है—

अकारं ब्रह्मणो रूपमुकारं विष्णुरूपवत् ।
मकारं रुद्ररूपं स्यादर्धमात्रं परात्मकम् ॥
वाच्यं तत्परमं ब्रह्म वाचकः प्रणवः स्मृतः ।
वाच्यवाचकसम्बन्धस्तयोः स्यादौपचारिकः ॥[४]

"अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु, मकार रुद्र और अर्धमात्रा 'पर' है। परम ब्रह्मवाच्य और प्रणव वाचक हैं। वाच्यवाचक का सम्बन्ध उपचार मात्र है, अर्थात् यथार्थ में ये एक हैं।"

वे पञ्चब्रह्म त्रिपुरा के सिंहासन के नीचे और बुद्ध के मस्तक पर दिखाये जाते हैं।[५]

---

१. राधातन्त्रम्। कलकत्ता। १३४१ साल। २१.१८।
२. तत्रैव। ३.४३,४४।
३. पञ्चब्रह्मोपनिषत्। श्लोक २१,२२।
४. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करभाष्य। बम्बई। १९३५। पृ० २६।
५. विशेष विवरण के लिये त्रिपुराप्रकरण देखिये।

तारा के सिद्धान्त और स्वरूप को बौद्ध और जैनों ने ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है। बौद्ध, जैन और सनातनी तारा में कोई भेद नहीं है।

त्रिपुरा

ब्रह्म की, शिव-शक्तिविग्रह के रूप में प्रथम कल्पना काली के रूप में है। इसलिये इन्हें आद्या कहते हैं। तारा द्वितीया और त्रिपुरा तृतीया हैं, यह महाविद्या त्रिपुरा, बाला, षोडशी, त्रिपुरसुन्दरी श्रीविद्या आदि नामों से प्रसिद्ध है। श्रीविद्या के नाम से सारे भारत में इसकी उपासना होती है।

त्रिपुरा शब्द की नाना प्रकार से व्याख्या की गई है—

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च परैव देव्या।
लये त्रिलोक्यामपि पूरणत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम॥[1]

"पराशक्ति से प्रकट होकर त्रिमूर्ति की सृष्टि करने के कारण, परादेवी के त्रयीमय होने के कारण, प्रलय के बाद तीनों लोकों को पूर्ण कर देने कारण, प्राय: अम्बिका का नाम त्रिपुरा है।"

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्यैस्त्रिदशैरर्चिता पुरा।
त्रिपुरेति सदा नाम कथितं दैवतैस्तव॥[2]

"पुरा काल में ब्रह्म-विष्णु-महेशादि देवों ने इनकी अर्चना की, इसलिये देवताओं ने सर्वदा इन्हें त्रिपुरा नाम दिया।"

ब्राह्मी रौद्री वैष्णवीति शक्तयस्तिस्र एव हि।
पुरं शरीरं यस्यां सा त्रिपुरेति प्रकीर्तिता॥[3]

"ब्राह्मी, रौद्री, वैष्णवी,—ये तीनों शक्तियाँ ही जिसका पुर अर्थात् शरीर हैं उसे त्रिपुरा कहते हैं।"

त्रिकोणं मण्डलं यस्या भूपुरं च त्रिरेखकम्।
मन्त्रोऽपि त्र्यक्षर: प्रोक्तस्तथा रूपत्रयं पुनः॥
त्रिविधा कुण्डली शक्तिस्त्रिदेवानां च सृष्टये।
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात्तस्मात्तु त्रिपुरा मता॥[4]

"जिसका मण्डल त्रिकोण है, जिसके भूपुर तीन रेखाएँ हैं, जिसका मंत्र भी तीन अक्षरों का है, जिसके रूप (स्थूल, सूक्ष्म, पर) तीन हैं, जो तीन प्रकार की कुण्डली शक्ति है और तीन देवताओं की सृष्टि करती है और जिसके सब कुछ तीन-तीन हैं, इसलिये यह त्रिपुरा है।

मूर्तित्रयस्यापि पुरातनत्वात्
तदम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम॥[5]

१. तन्त्रसार। कृष्णानन्द। कलकत्ता। १३३४ साल। पृ० ३३७। प्रपंचसारतन्त्र से उद्धृत।
२. तत्रैव। वाराहीतन्त्र से उद्धृत।
३. पुरश्चर्यार्णव। वाराणसी। संवत् १९५७। पृ० २०।
४. ललिता स० नाम। सौभाग्यभास्करभाष्य। बम्बई। १९२५। पृ० २ कालिकापुराण से उद्धृत।
५. तत्रैव। पृ० १२५।

"तीनों मूर्तियों (ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर) से पुरातन होने के कारण अम्बिका का नाम त्रिपुरा है।"

नाडीत्रयं तु त्रिपुरा सुषुम्णा पिङ्गला इडा।
मनो बुद्धिस्तथा चित्तं पुरत्रयमुदाहृतम्॥
तत्र तत्र वसत्येषा तस्मात्तु त्रिपुरा मता।[1]

"सुषुम्णा, इडा और पिङ्गला, ये तीन नाडियाँ त्रिपुर हैं, मन, बुद्धि और चित्त को भी त्रिपुर कहा गया है। इन स्थानों में निवास होने के कारण ये त्रिपुरा हैं।"

त्रयो लोकास्त्रयो देवास्त्रैलोक्यं पावकत्रयम्।
त्रीणि ज्योतींषि वर्गाश्च त्रयो धर्मादयस्तथा॥
त्रयो गुणास्त्रयः शब्दास्त्रयो दोषास्तथाश्रमाः।
त्रयः कालास्तथावस्थाः पितरोऽहर्निशादयः।
मात्रात्रयं च ते रूपं त्रिस्थे देवि सरस्वति॥[2]

"तीन स्थानों (भूर्भुवः स्वः) में रहनेवाली देवि सरस्वति! (क्रियाशक्तिरूपिणि!) तीन लोक, तीन देव, तीनों लोक के तीनों पावक, तीन ज्योति (इन्द्वर्कवह्नि) तीन वर्ग (धर्मार्थकाम), तीन गुण, तीन शब्द (ऋग्यजुःसाम), तीन दोष, तीन आश्रम, तीन काल, तीन अवस्था, पितर-दिन-रात और तीन मात्रा (अ, उ, म) तुम्हारे रूप हैं।"

त्रिपुरस्य परशिवस्य सुन्दरी भार्या। अत्र त्रीणि पुराणि ब्रह्मविष्णुशिवशरीराणि यस्मिन् सः त्रिपुरः परशिवः। तदुक्तं कालिकापुराणे

प्रधानेच्छावशाच्छंभोः शरीरमभवत्त्रिधा।
तत्रोर्ध्वभागः संजातः पञ्चवक्त्रश्चतुर्भुजः॥
पद्मकेसरगौराङ्गः कायो ब्राह्मो महेश्वरः।
तन्मध्यभागो नीलोऽङ्ग एकवक्त्रश्चतुर्भुजः॥
शङ्खचक्रगदापद्मपाणिः कायः स वैष्णवः।
अभवत्तदधोभागे पञ्चवक्त्रश्चतुर्भुजः॥
स्फटिकाभमयः शुक्लः स कायश्चन्द्रशेखरः।
एवं त्रिभिः पुरैर्योगात्त्रिपुरः परमः शिवः॥[3]

त्रिपुर अर्थात् परम शिव की सुन्दरी अर्थात् भार्या। यहाँ तीनपुर ब्रह्मा-विष्णु-शिव जिसमें शरीर बने हुए हैं वह परम शिव है। कालिकापुराण में कहा गया है कि —

"शम्भु की प्रधान इच्छा के कारण उनके तीन शरीर हो गये। इसका ऊर्ध्व भाग पाँच मुख और चारभुजाओंवाला हुआ। महेश्वर का ब्रह्मरूप कमल के केशरवत् गौर वर्ण हुआ। उसका (शम्भु महेश्वर का) मध्य भागवाला अङ्ग नील वर्ण, एक मुखवाला और चतुर्भुज हुआ। इस विष्णुरूप के हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हुआ। उसके

१. तत्रैव।
२. तत्रैव। पृ० १७५।
३. तत्रैव। पृ० १६५।
यहाँ शिवलिङ्ग के भिन्नांशों को स्मरण कीजिये।

नीचेवाले भाग में पाँच मुख और चार हाथ हुए। यह रूप स्फटिक की तरह उजला था और इसके माथे पर चन्द्रमा। इस प्रकार तीनपुर (शरीर) के योग से परम शिव त्रिपुर हुए।"

ऋषियों ने नाना प्रकार से त्रिपुरा के स्थूल और सूक्ष्म रूप का विवरण देने की चेष्टा की है। 'पर'-रूप, बोधगम्य अर्थात् स्वानुभूतिरूप होने के कारण इन्द्रियातीत और अप्रकाश्य है। त्रिपुरा के सूक्ष्म रूप का वर्णन इस प्रकार है—

श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवी त्रिलोकीमहा-
सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्ज्वलम् ।
उद्यद्भानुसमस्तनूतनजपापुष्पप्रभं ते वपुः ।
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिकोणनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम् ॥[1]

"श्रीमातः ! त्रिपुरे ! परात्परतरे ! देवि ! आपका उज्ज्वल और रक्तवर्ण, त्रिकोण में निलीन, ज्योतिर्मय और वाङमय शरीर, मेरे स्वान्त में स्पन्दित होता रहे। आपका उज्ज्वल वर्ण, तीनो लोकों के महासौन्दर्यसागर के मन्थन से उत्पन्न, प्रचुर सुधा है, और आपका रक्तवर्ण, सहस्रों बालसूर्य और सहस्रों जपापुष्प-जैसा है।"

उज्ज्वल वर्ण, त्रिपुरा का निराकार **प्रकाशरूप** है और रक्तवर्ण साकार **विमर्शरूप**। यहाँ शिवशक्ति को दो भिन्न रूपों में दिखाकर, श्रीमाता त्रिपुरा को ही प्रकाश और विमर्श स्वरूप कहा गया है। यह शक्ति का सूक्ष्म रूप है।

त्रिपुरा के स्थूलरूप का प्रसिद्ध ध्यान इस प्रकार है—

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम् ।
पाशांकुशशरं चापं धारयन्तीं शिवां भजे ॥

"मैं शिवा की वन्दना करता हूँ। बालसूर्य की तरह उनकी प्रभा है, चार भुजाएँ हैं, तीन नेत्र हैं, पाश, अंकुश, शर और चाप धारण कर रही हैं।"

सौन्दर्यलहरी में पहिले त्रिपुरा के स्थूल और फिर सूक्ष्म रूप का वर्णन किया गया है—

क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तनभरा
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना ।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका ॥[2]

"मेखला से झंकार शब्द हो रहा है। हाथी के बच्चे के मस्तक पर कुम्भ की तरह इनके पुष्ट स्तन हैं। मध्यभाग क्षीण है, पूर्णचन्द्र की तरह मुख है। हाथों में धनुष, बाण, पाश और अंकुश हैं। कामारि का यह मूर्त्तिमान् अहम् मेरे सम्मुख रहे।"

१. त्रिपुरामहिमस्तोत्रम्। श्लोक १।
२. सौन्दर्यलहरी। श्लोक ७।

यह स्थूल का वर्णन है। सूक्ष्मरूप का वर्णन इस प्रकार है—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मंचे परमशिवपर्यंकनिलयां
भजन्ति त्वां धन्या कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥[१]

"सुधासमुद्र में, कल्पवृक्ष से घिरे हुए कदम्ब के उद्यान में, चिन्तामणि के बने हुए घर में, शिव के आकारवाले मञ्च पर, परमशिव-पलंग पर स्थित चिदानन्द का लहर के रूप में, भाग्यवान् पुरुष आपका ध्यान करते हैं।"

चेतना का विस्तार (चित्-गगन चित्-आकाश, वेद का ऋतं बृहत् और तपस्) परम शिव है। आनन्द की लहर परमशिव की शक्ति का साकार रूप है, जिसे शिवलिङ्ग, काली, तारा, ललिता इत्यादि कहा जाता है। चिदानन्द का विमर्श (साकार) रूप मणिद्वीप, कदम्बवन, चिन्तामणि गृह इत्यादि है।

ललितासहस्रनाम में 'सुधासागरमध्यस्था' पर भाष्य इस प्रकार है—

तदुक्तं भैरवयामले—

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम् ॥

तत्र चिन्तामणिमयमित्यादि।

सुधासागरः पीयूषवर्णः। स च ऊर्ध्वस्थ एकः। अमृतेनावृतां पुरीमिति श्रुतिप्रसिद्धः। पिण्डाण्डे बिन्दुस्थाने सहस्रकर्णिकाचन्द्रमध्येऽन्यः अपराजिताख्ये सगुणब्रह्मोपासनाप्राप्ये नगरे अरनामक-ण्यनामकौ द्वौ सुधाह्रदौ सागरप्रतिमौ। शारीरकभाष्ये अनावृत्तिः शब्दादितिसूत्रे [illegible]यितावन्या। अविशेषात्सर्वेपीह गृह्यन्ते। तेषां मध्ये तिष्ठतीति तथा।[२]

"भैरवयामल में कहा है—बिन्दुस्थान सुधासिन्धु है, पाँच योनि (त्रिकोण) कल्पवृक्ष हैं, वहीं कदम्ब-श्रेणी भी है, उसमें मणिमण्डप है, वहाँ चिन्तामणि का बना हुआ इत्यादि।

"सुधासागर अमृतवर्ण का है, वह एक है और ऊपर है। 'अमृत' से आवृत पुरी[३] इत्यादि वेद में प्रसिद्ध है। पिण्ड शरीर में बिन्दुस्थान में सहस्रकर्णिका के चन्द्रमा के बीच दूसरा है। अपराजिता नामक सगुणब्रह्मोपासना द्वारा प्राप्य नगर में, समुद्र की तरह अर और ण्य नामक दो सुधा के ह्रद हैं। शारीरक भाष्य में 'अनावृत्तिः शब्दात्' इस सूत्र में दूसरे का वर्णन है। यहाँ किसी विशेष अमृतसागर का वर्णन नहीं होने के कारण सबका सुधासागर समझना चाहिये।"

---

१. तत्रैव। श्लोक ८।

(क) चिन्तामणिगृहान्तःस्था पञ्चब्रह्मासनस्थिता।
महापद्माटवीसंस्था कदम्बवनवासिनी। सुधासागरमध्यस्था ॥ ललितासहस्रनाम श्लोक ७३,७४।

(ख) पञ्चप्रेतसमासीना पञ्चब्रह्मस्वरूपिणी। तत्रैव। श्लोक ११२।

(ग) तत्त्वासना तत्त्वमयी पञ्चकोशान्तरस्थिता। तत्रैव। श्लोक १४२।

२. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करव्याख्या। बम्बई। १९३५। पृ० ४१।

३. पुर का अर्थ है—चक्रं पुरं च सदनमगारं नगरं गुहा—विश्वकोष।

श्रीपुरं[1] यत्र यत्रास्ति तत्र तत्रैकः सुधाह्रदोऽस्ति । सगुणब्रह्मोपासकप्राप्यामपराजिताख्यनगर्यां अर-मण्ययाख्यौ द्वौ सुधाह्रदौ स्तः । ब्रह्मरन्ध्रेऽप्येकोऽस्ति । तेषां मध्ये विद्यमानत्वेन यथाधिकारं ध्यात्वा ध्यायन्मनसा समभ्यर्च्येति शेषः ।

"जहाँ-जहाँ श्रीचक्र है, वहाँ एक सुधासागर है। सगुण ब्रह्मोपासना द्वारा प्राप्य अपराजिता नामक नगरी में अर और ण्य नामक दो सुधाह्लद हैं। एक ब्रह्मरन्ध्र में भी है। उनके बीच में रहने के कारण, अपनी योग्यतानुसार ध्यान कर मन द्वारा अर्चना करो।"

सगुण-निर्गुणादि उपासना-भेद से सुधासागर के रूप में भेद दिखाई पड़ता है। मनोलयावस्था में ब्रह्मानन्द के रूप में इसका बोध होता है।

पञ्चभूतात्म चित्र-विचित्र यह जगत् ही मणिद्वीप है।—

अनेककोटिब्रह्माण्डकोटीनां बहिरूर्ध्वतः ।
सहस्रकोटिविस्तीर्णे सुधासिन्धोस्तु मध्यमे ॥
रत्नद्वीपे जगद्द्वीपे शतकोटिप्रविस्तरे ।
पञ्चविंशतितत्त्वात्मपञ्चविंशतिवप्रकैः ।
त्रिलक्षयोजनोत्तुङ्गैः श्रीविद्यायाः पुरं शुभम् ॥[2]

"अनेकों करोड़ ब्रह्माण्ड के बाहर और ऊपर सहस्रों करोड़ विस्तीर्ण सुधासिन्धु के बीच शतकोटि विस्तारवाले जगद्द्वीपरूपी रत्नद्वीप में पचीस तत्त्वों के पचीस तीन लाख योजन ऊँचे प्राचीरोंवाला श्रीविद्या का शुभ पुर (चक्र) है।"

सौन्दर्यलहरी के षष्ठ श्लोक पर टीका इस प्रकार है—

तत्र नव योनिष्वधःस्थितशिवात्मकयोनिचतुष्कस्योपरि ऊर्ध्वस्थितशक्तित्रयात्मकयोनिपञ्चकाधः-प्रदेशस्य बैन्दवस्थानस्य नाम सुधासिन्धुरिति ।[3]

"वहाँ (श्रीचक्र में) नौ त्रिकोणों के नीचे, शिवात्मक चार त्रिकोणों के ऊपर, और शक्त्यात्मक पाँच त्रिकोणों के नीचे के मध्यभाग के बिन्दुस्थान का नाम सुधासिन्धु है।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पचीस तत्त्वों का बना हुआ यह जगत् ही रत्नद्वीप है।

श्रीविद्या के साथ कदम्बवन और कदम्बपुष्प का सर्वदा उल्लेख किया जाता है—

कदम्बमञ्जरीक्लृप्तकर्णपूरमनोहरा ।[4]

"कदम्बमञ्जरी से त्रिपुरा के दो मनोहर कर्णपूर बनाये गये हैं।" (कालीरूप में दो शवों के कर्णपूर हैं।)

कदम्बकुसुमप्रिया ।[5]

"त्रिपुरा को कदम्बपुष्प बहुत प्रिय है।"

पद्मैर्वा तुलसीपुष्पैः कह्लारैर्वा कदम्बकैः ।[6]

---

१. चक्रं पुरं च सदनमगारं नगरं गुहा । इति विश्वः ।
२. ललितासहस्रनाम । सौभाग्यभास्करव्याख्या । ७३ श्लोक की टीका में रुद्रयामल से उद्धृत ।
३. सौन्दर्यलहरी । लक्ष्मीधर । मैसूर । १९५३ । पृ० १६ ।
४. ललितासहस्रनाम । श्लोक ५६ ।
५. तत्रैव । श्लोक १२४ ।
६. तत्रैव । श्लोक १८५

"पद्म, तुलसी पुष्प, कह्लार अथवा कदम्ब से (त्रिपुरा की पूजा हो)"।

कदम्बमालां बिभ्राणामापादतललम्बिनीम्।[१]

"त्रिपुरा, पैरों तक लटकती हुई कदम्ब की माला धारण करती हैं।"

यहाँ कदम्ब माल, विष्णु की वैजयन्ती और काली की मुण्डमाला की तरह विश्व का प्रतीक है।

श्री शङ्कराचार्य ने त्रिपुरसुन्दरीस्तोत्र में त्रिपुरा को कदम्बवनचारिणी, कदम्बवनवासिनी, कदम्बवनशालया और कदम्बवनमध्यगा कहा है।

कदम्बवृक्ष संसारवृक्ष है, जिसमें असंख्य ब्रह्माण्ड गोल फूल के रूप में अनुस्यूत हैं और ये उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं।

यह निम्नलिखित उद्धरणों से भी स्पष्ट है—

गणेश का गोलाकार विशाल उदर ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। गणेशसहस्रनाम में इनका एक नाम 'कदम्बगोलकाकार'[२] भी है। और उपनिषत् में भी ब्रह्मलोक को कदम्बगोलकाकार कहा गया है—

कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते।[३]

"वे ब्रह्मलोक जाते हैं, जा कदम्बगोलक जैसा है।"

कदम्बवृक्ष 'संसारमहीरुह'[४] है, जिसके अनन्त गोल पुष्प रूप ब्रह्माण्डों में कृष्ण त्रिपुरा आदि रूपधारी विश्वात्मा विहार करता है। अपनी कृति और लीला-स्थल के कारण कदम्ब (विश्व) उसे अति प्रिय है।

अर का अर्थ पत्र है। सहस्रार सहस्रदल पद्म है। कदम्ब के फूल में असंख्य पत्र होने के कारण इसे सहस्रार पद्म भी कहा जाता है, जिसमें त्रिपुरा विहार करती हैं। कदम्बपुष्प के केसर असंख्य जीवों के भी प्रतीक माने जाते हैं।

चिन्तामणि से बने हुए गृह में त्रिपुरा निवास करती हैं। चिन्तामणि-गृह का वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

मेरौ तु स्वल्पपरिमाणं
शृङ्गारवर्णवर्यस्योत्तरतः सकलविबुधसंसेव्यम्।
चिन्तामणिगणरचितं चिन्तां दूरीकरोतु मे सदनम्॥
इति ललितास्तवरत्नात्।

गौडपादीयसूत्रभाष्ये तु

१. घटस्तवः। श्लोक १२।
२. गणेशसहस्रनाम। श्लोक ८४।
३. योगराजोपनिषत्। श्लोक २०। अप्रकाशिता उपनिषदः। मद्रास। १९३३। पृ० ३।
४. (क) न्यायकारिका। प्रारम्भश्लोक:—कृष्णाय तुभ्यं नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय।
(ख) ऋग्वेद। १.२२.१६४.२०।

सर्वेषां चिन्तितार्थप्रदमन्त्राणां निर्माणस्थानं तदेवेति तस्य चिन्तामणिगृहत्वमित्युक्त्वा तन्निर्माण-प्रकारो विस्तरेण वर्णितः। पञ्चभिर्ब्रह्मभिर्निर्मितमासनं मञ्चकरूपं तत्र स्थिता। तदुक्तं बहुरूपाष्टकतन्त्रे भैरवयामलतन्त्रे च—

तत्र चिन्तामणिमयं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे॥
अतिरम्यतले तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः।
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी॥ इति

भृतकाः भृत्याः द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरा इत्यर्थः। आग्नेयादीशानान्तविदिक्षु ब्रह्मादय उपर्यधः स्तम्भरूपाः मध्ये पुरुषरूपा अपि श्रीध्यानाच्छक्तिभावं प्राप्ता मीलिताक्षा निश्चला इत्यादिकं पुराणादवगन्तव्यम्।

"मेरु पर स्थित, संक्षिप्तरूप में (बना हुआ) अति उत्तम सजावटवाला, बुद्धिमानों के काम के योग्य, चिन्तामणि से रचित गृह मेरी चिन्ता दूर करे—यह ललिता स्तवरत्न से है।

गौडपादीयसूत्रभाष्य में भी—

सभी चिन्तार्थ प्रदान करनेवाले मंत्रों का निर्माण-स्थान वही है, इसका 'चिन्तामणि गृहत्व'—इतना कहकर उसके निर्माण का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पञ्चब्रह्म से निर्मित आसन मञ्च के रूप मे वहाँ है।

बहुरूपाष्टक तन्त्र और भैरवयामल में कहा है—

वहाँ चिन्तामणिमय देवी का उत्तम मन्दिर है। शिवात्मक महामञ्च (पलंग) और महेशान तकिया पर, अत्यन्त सुन्दर तलवाला शयनीय सदाशिव है। भृत्य चारों पाया हैं और महेन्द्र ष्ठीवनादि ग्रहण करनेवाले हैं। वहाँ परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी हैं।"

यद्वा चिन्तामणिगृहस्य चत्वारि द्वाराणि चतुर्वेदरूपाणि। द्वारप्रवेशमन्तरेण देवतादर्शनाभावाद् वेदैकवेद्यत्वम्। तथा च श्रुतिः—

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते दक्षिणामाहुर्यजुषामपाराम्।
अथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची साम्नामुदीची महती दिगुच्यते॥ इति

शुद्धविद्यादिभिःसौभाग्यादिभिर्लोपामुद्रादिभिस्तुरीयाम्बादिभिश्चाग्यजुसाथर्वसामदेवताभिर्वेद्येत्यप्यर्थः।[1]

"अथवा चिन्तामणिगृह के चार द्वार, चार वेद हैं। द्वार में विना प्रवेश किये देवता का दर्शन नहीं होता है; क्योंकि यह वेद से ही जानी जाती है। वेदोक्ति है—

"ऋक् पूर्व और बहुत बड़ी दिशा है, अपार यजु: दक्षिण है, अथर्वाङ्गिरस् पश्चिम है और साम उत्तर बहुत बड़ी दिशा है।"

"यह भी इसका अर्थ है कि शुद्ध विद्यादि, सौभाग्यादि, लोपामुद्रादि, तुरीयाम्बादि, ऋग्, यजु, साम, अथर्व के देवताओं द्वारा जानने योग्य।"

१. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करव्याख्या। बम्बई। १९३५। पृ० ४०।

इससे यह सिद्ध होता है कि चारों वेद और उसमें वर्णित प्रतीकात्मक देवताओं के रूपों द्वारा जिस ब्रह्म और ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है शाक्तदर्शन और उपासना का वही ज्ञेय और उपास्य है।

त्रिपुरा के सिंहासन के स्तम्भ के स्थान में पाँच मूर्तियाँ हैं। पञ्चब्रह्म, पञ्चप्रेत, इत्यादि इनके नाम कहे जाते हैं —

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
एते देवा महेशानि पञ्चज्योतिर्मयाः सदा॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिस्तु तुरीयं परमेश्वरि।
सदाशिवो यस्तु देवि सुप्त ब्रह्म स एव हि॥[1]

"हे महेशानि! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, और सदाशिव, ये सर्वदा ज्योतिर्मय पाँच देवता हैं। ये ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और सुप्त (कूटस्थ) ब्रह्म हैं। जो सदाशिव है, वह कूटस्थ ब्रह्म है।"

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
ततः परशिवो देवः षट्शिवाः परिकीर्तिताः॥[2]

"ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर,सदाशिव और परशिव—ये छः शिव कहे जाते हैं।"

ललितासहस्रनाम में 'पञ्चप्रेतासीना, पञ्चब्रह्मस्वरूपिणी' पर सौभाग्यभास्करव्याख्या इस प्रकार है—

ब्रह्माद्या पञ्चापि वामादिस्वस्वशक्तिविरहे सति कार्याक्षमत्वाद्गामांशेन प्रेताः तैः कल्पिते आसने मञ्चके आसीना। तदुक्तं ज्ञानार्णवे—

पञ्चप्रेतान् महेशान ब्रूहि तेषां तु कारणम्।
निर्जीवा अविनाशा ते नित्यरूपाः कथं वद॥

इत्यादिना देव्या पृष्टे ईश्वर उवाच—

साधु पृष्टं त्वया भद्रे पञ्चप्रेतासनं कथम्।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः॥
पञ्चप्रेता वरारोहे निश्चला एव ते सदा।
ब्रह्मयाः परमेशानि कर्तृत्वं सृष्टिरूपकम्॥
वामा शक्ति तु सा ज्ञेया ब्रह्मा प्रेतो न संशयः।
शिवस्य कर्णो नास्ति शक्तेस्तु करणं यतः॥

इत्यारभ्य

सदाशिवो महाप्रेतः केवलो निश्चलः प्रिये।
शक्त्या विनाकृतो देवी कथंचिदपि न क्षमः॥ इत्यन्तम्

---

१. राधातन्त्रम्। कलकत्ता। वंगाक्षर। १३४१ साल। पटल ३। श्लोक ४३,४४।
२. कालीविलासतन्त्रम्। लण्डन। १९४७। पटल २८। श्लोक २५।

ब्रह्मादिसदाशिवान्तानां पञ्चानामपि ब्रह्मकोटावन्तर्भावात्पञ्चब्रह्मणां स्वरूपमस्याः। तदुक्तं त्रिपुरासिद्धान्ते—

निर्विशेषमपि ब्रह्म स्वस्मिन्मायाविलासतः।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः
इत्याख्यावशतः पञ्च ब्रह्मरूपेण संस्थितम्॥ इति

यद्वा—

ईशानतत्पुरुषाघोरवामदेवसद्योजाताद्यानि पञ्च ब्रह्माणि।

तथाच लैङ्गे—

क्षेत्रज्ञप्रकृतिबुद्ध्यहंकारमनांसि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वोपस्थानि शब्दादिपञ्चतन्मात्राणि च पञ्चब्रह्मस्वरूपाणीत्युक्त्वा तेषामाकाशादिपञ्चमहाभूतजनकत्वमुक्तम्। तादृशस्वरूपवतीत्यर्थः।
यज्ञवैभवखण्डेऽप्युक्तम्—

एक एव शिवः साक्षात्सत्यज्ञानादिलक्षणः।
विकाररहितः शुद्धः स्वशक्त्या पञ्चधास्थितः॥ इति

सृष्टिस्थित्यादिपञ्चकृत्यशक्तिभिः सद्योजातादिपञ्चरूपो जात इत्यर्थः।

गरुडपुराणेऽपि—

लोकानुग्रहकृद्विष्णुः सर्वदुष्टविनाशनः।
वासुदेवस्य रूपेण तथा संकर्षणेन च॥
प्रद्युम्नाख्यस्वरूपेणाऽनिरुद्धाख्येन च स्थितः।
नारायणस्वरूपेण पञ्चधा ह्यद्वयः स्थितः॥ इति

आचार्यैरप्युक्तम्—

पुंभावलीलापुरुषास्तु पञ्च यादृच्छिकं संलपितं त्वयीति।
अम्ब त्वदृग्घोरणुरंशुमाली तवैव मन्दस्मितबिन्दुरिन्दुः॥ इति [1]

"ब्रह्मादि पाँचों, वामादि अपनी-अपनी शक्तियों से रहित होने पर, काम करने में अक्षम हो जाने के कारण, वामांश से प्रेत (शव, स्थिर, अशक्त, शक्ति रहित) हो जाते हैं। उनसे बने हुए आसन वा मञ्च पर आसीन। इसे ही ज्ञानार्णव में कहा है—'महेशान! पञ्चप्रेत और उनके कारणों को कहिये। बताइये निर्जीव होने पर भी वे अविनाशी और नित्यरूप कैसे हैं। इत्यादि देवी से पूछे जाने पर ईश्वर ने कहा 'देवि! आपने अच्छा किया जो पूछ लिया कि प्रेतासन कैसे बना। ब्रह्मा, विष्णु रुद्र, ईश्वर और सदाशिव, ये पञ्चप्रेत हैं और सदा निश्चल रहते हैं। 'परमेशानि'! ब्रह्मा का कर्तृत्व सृष्टिरूप है, उस शक्ति का नाम वामा है और ब्रह्मा प्रेत हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि क्रिया शिव का काम नहीं है। करना शक्ति का काम है' इस प्रकार आरम्भ करके 'प्रिये! सदाशिव महाप्रेत (शव) अकेला और निश्चल है।' यहाँ तक।

---

१. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करव्याख्या। बम्बई। १९३५। पृ० ७४।

"ब्रह्मा से लेकर सदाशिव तक पाँचों के ब्रह्मकोटि में आ जाने से इसके (त्रिपुरा के) स्वरूप ही पाँचों ब्रह्म हैं। त्रिपुरासिद्धान्त में कहा है—'ब्रह्म निर्विशेष होने पर भी, अपने में माया के विलास (स्पन्द अर्थात् स्फुरण) के कारण, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इन नामों से पञ्चब्रह्म के रूप में हैं।' अथवा ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात नामक पञ्चब्रह्म। लिङ्गपुराण में भी है कि—'क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और उपस्थ, शब्दादि पञ्चतन्मात्राएँ पञ्चब्रह्म स्वरूप हैं, यह कहकर उन्हें आकाशादि पञ्चमहाभूत का उत्पादक कहा गया है। वे देवी के अपने रूप हैं। यज्ञवैभवखण्ड में भी कहा गया है—'सत्यज्ञानादिलक्षणवाला, विकार-रहित शुद्ध एक शिव ही अपनी शक्ति द्वारा पाँच रूप हो गये हैं।' इसका अर्थ हुआ कि सृष्टि, स्थिति आदि पाँच रूपों में शक्तियों से सद्योजातादि पाँच रूप उत्पन्न हुए। गरुडपुराण में भी कहा है कि "सर्वदुष्टविनाशन, लोकानुग्रहकारक एक विष्णु ही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आर नारायण, इन पाँच रूपों में हैं। आचार्यों ने भी कहा है कि 'तुम्हारी लीला पुंभाव से, पाँच पुरुषों के रूप में है, तुम जो यों ही बोल देती हो वही तीनों वेद हैं, तुम्हारी आँखों का अणुमात्र सूर्य है और तुम्हारे मन्द मुस्कान का बिन्दुमात्र चन्द्र है।"

यह ब्रह्मविद्या के त्रिपुरारूप का संक्षिप्त विवरण है।

आयुध

सभी देवताओं के अपने-अपने शस्त्रास्त्र हैं। ये सूक्ष्म शक्तियों के स्थूल प्रतीक हैं। देवता की शक्तियाँ मुख्य रूप से जितने प्रकार से काम करती हैं, उनकी कल्पना अस्त्रों के रूप में की जाती है। इसलिये इन अस्त्रों के रूप के ध्यान श्लोक हैं और लोकसिद्धि के लिये इनकी आराधना भी होती है। देवताओं के अस्त्र उनकी चेतन-शक्तियों के प्रतीक हैं।

आयुधानि च देवानां यानि यानि सुरेश्वर।
मच्छक्तयस्तदाकारा आयुधानि तदाऽभवन्॥[1]

"सुरेश्वर! देवताओं के जो आयुध हैं, मेरी शक्तियों ने ही उस समय उन आकारों को धारण कर लिया था।"

शक्तिरूपं महास्त्रं च दर्शनात् पापनाशनम्॥[2]

"महास्त्र शक्ति के रूप हैं। उनके दर्शन से पाप का नाश होता है।"

त्रिपुरा की चार भुजाओं में पाश, अंकुश, धनुष और बाण—ये चार अस्त्र हैं। ये देवी के अपने ही रूप हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

---

१. ल० स० नाम। सौ० भा० व्याख्या। बम्बई। १९३५। पृ० ६७ में मार्कण्डेय पुराण से उद्धृत।

२. राधातन्त्रम्। कलकत्ता। १३४१ साल। बंगाक्षर। पटल २१, श्लोक ७।

उद्यद्भानुसहस्राभा चतुर्बाहुसमन्विता ।
रागस्वरूपपाशाढ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला ॥
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पञ्चतन्मात्रसायका ।
निजारुणप्रभापूरमज्जद्ब्रह्माण्डमण्डला ॥[1]

"अनन्त बालसूर्य की तरह उनकी आभा है। चार भुजाएँ हैं, राग-रूप पाशवाली हैं, क्रोध का प्रतीक उज्ज्वल अंकुश है, ईख का धनुष मनोरूप है, पञ्चतन्मात्राएँ पञ्चबाण हैं। अपनी अरुण प्रभा से ब्रह्माण्डमण्डल को सराबोर करती रहती हैं।"

इन श्लोकों पर टीका इस प्रकार है—

उद्यतां भानूनां रक्तसूर्याणां यत्सहस्रमानन्त्यं तेन तुल्येति वा। अतिलोहितेति फलितोऽर्थः। उक्तं हि स्वतन्त्रतन्त्रे—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।
लौहित्यं तद्विमर्शः स्यादुपास्तिरिति भावना ।। इति।

वामकेश्वरतन्त्रेऽपि—

इच्छाप्रकाशविमर्शसामरस्यापन्नाया देव्यास्त्रीणि रूपाणि स्थूलं सूक्ष्मं परञ्चेति। करचरणादि-विशिष्टं स्थूलं, मन्त्रमयं सूक्ष्मं वासनामयं परम्।

तदुक्तं योगवासिष्ठे भगवता—

सामान्यं परमं चेति द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ।
पाण्यादियुक्तं सामान्यं यत्तु मूढा उपासते ॥
परं रूपमनाद्यन्तं यन्ममैकमनामयम्।
ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते ॥ इत्यादि ॥
सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ।। इत्यन्यत्रापि।

यत्तु गंगादीनां जलादिमयं रूपं तत्स्थूलतरं चतुर्थम्। सूक्ष्मस्यापि पुनस्त्रैविध्यं वक्ष्यते। तेषु स्थूलं निर्दिशति।

चतुरिति। ध्यानोक्तावयवमन्त्रोपलक्षणमेतत्। बाहुमात्रपरमेव वा। बाहुप्रसंगादा-युधानां त्रिविधं रूपमाह।

रागेति चतुर्भिः। रागोऽनुरक्तिश्चित्तवृत्तिविशेषः इच्छैव वा। राग एव स्वं वासनामयं रूपं यस्य स्थूलस्य पाशस्य तेनाढ्या वामाधः करेत्युक्ता। क्रोधो द्वेषाख्या चित्तवृत्तिः। आकारशब्दादर्शाद्यचि आकारं सविषयकं ज्ञानमित्यर्थः। घटोऽयमित्याकारकं ज्ञानमित्या। विषयपरत्वेनाकारपदप्रयोगात्। क्रोधपदमेव ज्ञानपरमिति तु कश्चित्। तत् 'क्रोधोऽङ्कुशाङ्कुः' इति श्रुतिविरोधात् वक्ष्यमाणस्मृतावेव ज्ञानपदस्य क्रोधप[illegible]युक्तम्। तस्मात् द्वेषज्ञानो-भयात्मकेनांकुशेनोज्ज्वला शोभमानदक्षाधःकरा।

तथा चोक्तं पूर्वचतुःशतीशास्त्रे—

पाशांकुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ। इति।

1. ल० स० नाम। श्लोक ५३,५४।

तन्त्रराजेऽपि वासनापटले—

मनो भवेदिक्षुधनुः पाशो राग उदीरितः ।
द्वेषः स्यादंकुशः पञ्चतन्मात्राः पुष्पसायकाः ।। इति ।

उत्तरचतुःशतीशास्त्रे तु—

इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम् ।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषीदधदुज्ज्वलम् ॥ इत्युक्तम् ॥ १२ ॥

संकल्पविकल्पात्मकक्रियारूपं मन एव रूपं यस्य तादृशमिक्षुरूपं पुण्ड्रेक्षुमयं कोदण्डं धनुर्यस्या वामोर्ध्वंकरे सा तथोक्ता । पञ्चसंख्यानि तन्मात्राणि शब्दादीनि विषयाः तदेव तन्मात्रम् । पञ्चभूतानामेतदेव रूपमित्यर्थः तदुक्तं महास्वच्छन्दसंग्रहे—

भूतमात्रस्वरूपोऽर्थविशेषाणां निरूपकः ।
शब्दस्तु शब्दतन्मात्रं मृदुत्वादिविनिश्चयः ॥
विशिष्टस्पर्शरूपञ्च स्पर्शतन्मात्रसंज्ञकः ।
नीलपीतत्वशुक्लत्वविशिष्टं रूपमेव च ॥
रूपतन्मात्रमित्युक्तं मधुरत्वाम्लतायुतम् ।
रसतन्मात्रसंज्ञं तु सौरभ्यादि विशेषतः ।
गन्धः स्यात् गन्धतन्मात्रं तेभ्यो वै भूतपञ्चकम् ॥ इति ।

एतानि तन्मात्राण्येव सायका बाणा यस्या दक्षोर्ध्वंकरे सा तथोक्ता । तदुक्तं वामकेश्वरतन्त्रे

शब्दस्पर्शादयो बाणा मनस्तस्याभवद्धनुः ।। इति ॥

कादिमतेऽपि—

बाणास्तु त्रिविधाः प्रोक्ताः स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः ।
स्थूलाः सूक्ष्ममयाः सूक्ष्मा मन्त्रात्मानः समीरिताः ।।
पराश्च वासनायां तु प्रोक्ताः स्थूलान् शृणु प्रिये ।
कमलं कैरवं रक्तं कह्लारेन्दीवरे तथा ।
सहकारकमित्युक्तं पुष्पपञ्चकमीश्वरि ।। इति ।

तेषां नामानि तु कालिकापुराणे—

हर्षणं रोचनाख्यं च मोहनं शोषणं तथा ।
मारणं चेत्यमी बाणाः मुनीनामपि मोहदाः ॥ इति ।

ज्ञानार्णवे तु—

क्षोभणं द्रावणं देवि तथाकर्षणसंज्ञकम् ।
वश्योन्मादौ क्रमेणैव नामानि परमेश्वरि ॥ इति ।

तन्त्रराजेतु—

मदनोन्मादनो पश्चात् तथा मोहनदीपनौ ।
शोषणश्चैति कथिता बाणाः पञ्च पुरोदिताः ॥ इति ।

१. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करभाष्य। बम्बई। १९३५। पृ० ३०, ३१।

"उगते हुए सूर्यों की अर्थात् रक्तवर्ण सूर्यों की सहस्र संख्या अर्थात् अनन्तता उसके तुल्य। फलितार्थ हुआ कि अत्यन्त लोहित। स्वतन्त्रतन्त्र में कहा है अपना आत्मा ही विश्वरूप ललिता है। लोहितवर्ण उनका विमर्श (साकार) रूप है और भावना उनकी उपासना है। वामकेश्वर तन्त्र में भी—'स्वयं, त्रिपुरा देवी हैं और लोहितवर्ण उनका विमर्शन है।' इस प्रकार प्रकाश-विमर्श सामरस्यरूप देवी के तीन रूप हैं—स्थूल, सूक्ष्म, पर। करचरणादिविशिष्ट स्थूल, मन्त्रमय सूक्ष्म, वासनामय पर। भगवान् ने भी योगवासिष्ठ में कहा है—'पापरहित! मेरा दो रूप समझो। सामान्य और परम। हाथ-चरण इत्यादिवाला सामान्य है, जिसकी मूढ़ लोग उपासना करते हैं। मेरा पर रूप, जो निर्मल, आदि और अन्त रहित और एक है वह ब्रह्मात्मा, परमात्मा आदि शब्दों से प्रकट किया जाता है। इत्यादि। अन्यत्र भी कहा है—सामान्य के दो रूप कहे गये हैं—स्थूल, सूक्ष्म। गङ्गादि के जो जलमय रूप हैं, वे स्थूलतर चतुर्थ हैं। सूक्ष्म के भी फिर तीन रूप कहे जायंगे। उनमें स्थूल का निर्देश किया जा रहा है।

चतुः इत्यादि। यह ध्यानाक्त अवयव मन्त्र का उपलक्षण है। अथवा बाहुमात्र बाहुप्रसंग से आयुधों के तीन प्रकार के रूप कहे गये हैं। रोग इत्यादि चारों द्वार राग, अनुरक्ति-चित्तवृत्ति है अथवा इच्छा ही है। राग ही जिस स्थूल पाश का अपना वासनामय (स्वानुभूतिस्वरूप) रूप है, उससे युक्त उसका बायाँ नीचेवाला हाथ है। क्रोध, द्वेषनामक चित्तवृत्ति है। आकार शब्द में 'अर्शादि अच्' है। इसका अर्थ है—विषय-सहित-ज्ञान। 'यह घड़ा है' इसमें 'आकार का ज्ञान' इत्यादि में, विषय के लिये 'आकार' शब्द का प्रयोग हुआ है। कोई कहते हैं कि क्रोध शब्द ही ज्ञान बोधक है। इसलिये 'क्रोधोङ्कुशङ्कः' इसके श्रुतिविरुद्ध होने के कारण, आगे कही जानेवाली स्मृति में भी, ज्ञान शब्द के क्रोधबोधक होने की सम्भावना के कारण यह अनुचित है। इसलिये दोष और ज्ञान, दोनों का रूप होने के कारण, अंकुश से उज्ज्वल अर्थात् जिनका नीचेवाला दाहिना हाथ शोभायमान है। इसे पूर्वचतुःशतीशास्त्र में कहा गया है कि—उसके पाश-अंकुश, राग-द्वेषात्मक कहे गये हैं। तन्त्रराज में भी वासनापटल में कहा गया है कि—"मन, इक्षुधनु है" और पाश राग है, द्वेश अंकुश है और पञ्चतन्मात्राएँ फूल के बाण हैं। उत्तरचतुःशतीशास्त्र में कहा है कि—इच्छाशक्तिमय पाश, ज्ञानरूप अंकुश और क्रियाशक्तिमय चमकते हुए बाण और धनुष धारण करती हैं॥५३॥ संकल्पविकल्पात्मक (उधेड़बुनवाला) मन ही जिसका रूप है ऐसे इक्षु का धनुष, जिसके ऊपरवाले बायें हाथ में है। पाँच तन्मात्राए शब्दादि विषय—ये ही तन्मात्राएँ हैं। इसका अर्थ है कि पंचभूतों का यही रूप है। इसे महास्वच्छन्दसंग्रह में कहा गया है कि भूतमात्र के स्वरूप और विशेष अर्थों के निरूपक शब्द, शब्दतन्मात्र हैं, विशिष्ट स्पर्शरूप का नाम स्पर्शतन्मात्र है। नीलपीतशुक्लतायुक्त रूपतन्मात्र है, अम्लता, मधुरता रसतन्मात्र है, विशेषतः सौरभगन्ध, गन्धतन्मात्र है। उनसे भूतपञ्चक हैं। "ये तन्मात्राएं, सायक वा बाण, जिसके दाहिने ऊपरवाले हाथ में हैं वह। यह वामकेश्वर तन्त्र में कहा गया है कि शब्दस्पर्शादि उनके बाण हैं और मन उसका धनुष है।" कादिमत से भी बाण तीन प्रकार के कहे गये हैं स्थूल, सूक्ष्म और पर।

स्थूल फूलों के हैं, सूक्ष्म मन्त्रात्मक हैं और वासनामय 'पर' हैं। प्रिये ! अब स्थूल (का विवरण) सुनो "कमल, कैरव, रक्तकह्लार, इन्दीवर (नीलकमल) और आम्रमञ्जरी ये पुष्पपञ्चक हैं।" कालिकापुराण में उनके नाम हैं—हर्षण, रोचन, मोहन, शोषण तथा मारण। ये मुनियों के मन में भी मोह उत्पन्न करते हैं।" ज्ञानार्णव में भी है कि ये क्षोभण, द्रावण, आकर्षण, वश्य और उन्माद हैं।' तन्त्रराज में पाँच बाण—मदन, उन्मादन, मोहन, दीपन और शोषण कहे गये हैं।'

भावनोपनिषत् और कामकलाविलास में भी ये ही भाव व्यक्त किये गये हैं—

शब्दादितन्मात्राः पञ्चपुष्पबाणाः ।
मन इक्षुधनुः । रागः पाशः । द्वेषोऽङ्कुशः ।।[1]

"शब्दादि तन्मात्राएं पाँच पुष्पबाण हैं, मन इक्षुधनु है, राग पाश है और द्वेष अंकुश है ।।"

पाशः स्वात्मभेदबन्धनः इच्छाशक्तिस्वरूपः । अंकुशः स्वात्मभेदभञ्जनोपायात्मा ज्ञानशक्तिमयः । इक्षुचापेषुपञ्चके स्वभिन्नाकाराव्वर्जनसाधनभूतक्रियाशक्तिस्वरूपे । तैरञ्चिता । अयमर्थः—इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एव तदाशया पाशादिस्वरूपमापन्नास्तदुपासनापरा इत्यर्थः ।[2]

"पाश, अपने और आत्मा को भिन्न मानना रूपी बन्धन है। यह इच्छाशक्ति का आकार है। अंकुश, अपने और आत्मा में भेदबुद्धि का नाश करनेवाली ज्ञानशक्ति है। इक्षुचाप और पाँच बाण, आत्मा को छोड़कर और कोई आकार नहीं हूँ, इस भावना को स्थिर करनेवाली क्रियाशक्ति है। उससे युक्त। भाव यह है—इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियाँ ही उनकी रुचि के अनुसार पाशादिरूप धारण कर उनकी उपासना करती हैं—यही अर्थ हुआ।"

तन्त्रराज और उसके टीकाकार ने इसे और भी पल्लवित किया है—

बाणाक्षराणि देवेशि शृणु सौभाग्यदानि वै ।
व्याप्तं दाहो रसा त्वम्बु हृन्मरुत् स्वयुतं पृथक् ॥
मुद्राक्षराणि बाणादौ बाणाः स्युः सर्वजृम्भणाः ।
शाक्ताः शैवाश्च विज्ञेया पञ्च पञ्च समीरिताः ॥
शिखि तोये स्वसंयुक्ते धनुषी सर्वमोहने ।
हंसगैर्दाहवह्निस्वैः सस्वेन मरुता तथा ॥
पाशौ तयोः समुद्दिष्टौ तथा सर्ववशंकरौ ।
सर्वस्तम्भकरस्त्वेको मुद्राषष्ठोऽङ्कुशस्तयोः ॥[3]

बाणाक्षराणि समीरिता इत्यन्तेन श्लोकद्वयेन द्विविधानि बाणाक्षराणि वदन्, तदुद्धैविध्यं चोपदिशति । तत्र व्याप्तं दाहो रसात्वम्बुहृन्मरुत्स्वयुतं पृथक् यकारः रेफ-लकार-वकार-सकाराक्षराणि पञ्च प्रत्येकम् आकारबिन्दुभिर्युतानि शक्तेः नवबाणाक्षराणि यां रां लां वां सां इति

१. भावनोपनिषत् । भास्करराजभाष्य । मैसूर । १६५३ । पृ० २०४ । सूत्र २१-२४ ।
२. कामकलाविलास ।
३. तन्त्रराज । पटल ४ । श्लोक २६-२६ ।

पञ्चाक्षराणि। पञ्चादौ प्रोक्तेषु मुद्राक्षरेषु ह्रादितः ह्रां ह्रीं क्लीं ब्लूं सः इति पञ्चाक्षराणि। कामात्मनः शिवस्य सर्वजृम्भणाः सर्वकामिनीवशंकराः। बाणानां स्थूल-सूक्ष्म-परत्वेन तत् त्रैविध्यं पञ्चमे पटले वक्ष्यति। शिखीत्यादिना श्लोकपूर्वार्धेन चापाक्षरद्वयमुपदिशति। तत्र शिखितोये स्वसंयुक्ते थकार-धकाराक्षरे बिन्दुसंयुक्ते थं धं इति क्रमेण शिवयोश्चापाक्षरद्वयम्। चापयोस्त्रैविध्यं पञ्चमे पटले वक्ष्यति।[1] हंसेत्यादिभ्याञ्च वशंकरावित्यन्ताभ्यां श्लोकोत्तरार्द्ध-पूर्वार्द्धाभ्यां पाशयोरक्षरद्वयमुपदिशति। तत्र हंसगैर्दाहवह्निस्वैः—ह्रीं इति। सस्वेन मरुता आं इति पाशौ तयोः समुद्दिष्टौ प्राग्वदुभयोः पाशाक्षर एते। सर्वस्तम्भेत्यादिनोत्तरार्द्धेनोभयसाधारण-मंकुशाक्षरमेकमुच्यते। तत्र मुद्राषष्ठः क्रौंकारः॥

"देवेशि! सुनिये। बाणाक्षर (बाण के बीज) सौभाग्य देनेवाले हैं। व्याप्त (वायु-य), दाह (अग्नि-र), रसा (पृथ्वी-ल), अम्बु (जल-व), हृन्मरुत्-स्वयुत (सं)—बाण के प्रारम्भ के ये मुद्राक्षर हैं। बाण सब के विकास करनेवाले हैं। इनमें से पाँच-पाँच शाक्त और शैव बाण हैं। शिखि (थ) तोय (ध) स्व-युक्त (अनुस्वार) धनुष हैं, जो सबको मोह में डाले रहते हैं। हंसग (ह), दाह (र), वह्नि (ई), स्व (अनुस्वार), अर्थात् ह्रीं, और मरुत् (आ) स्व (अनुस्वार) अर्थात् आं—ये दोनों उन दोनों (धनुष-बाण) (अर्थात् जृम्भण, मोहन) के पाश हैं और सबके वश करनेवाले हैं। मुद्राषष्ठ (क्रौं), धनुष-बाण और पाश पर उभयनिष्ठ, अंकुश है। यह सबका स्तम्भन करनेवाला है।

"बाण इत्यादि से लेकर समीरित तक इन दो श्लोकों से दो प्रकार के बाह्य अक्षर (बीज) दश हैं। इनके दो इकार को स्पष्ट करते हैं। उसमें व्याप्त, दाह, रस, अम्बु, हृन्मरुत्, ये सभी स्व-युक्त पृथक्-पृथक्, अर्थात् यकार, रेफ, लकार, वकार, सकार—इनमें से प्रत्येक आकार और बिन्दुयुक्त शक्ति के नव बाणाक्षर हैं, अर्थात् ये मुद्राक्षर हुए—यां, रां, लां, वां, सां। पहिले जो मुद्रा के पाँच अक्षर कहे गये हैं वे आदि से—ह्रां, ह्रीं, क्लीं, ब्लूं, सः ये पाँच अक्षर हैं। ये इच्छावान् (कामात्मानः) शिव के, सब के विकास करने-वाले, और सभी कामिनियों[2] को वश करनेवाले पञ्चबीजाकार हैं। बाणों के स्थूल सूक्ष्म और पर होने के कारण इन तीनों रूपों का विवरण पञ्चम पटल में होगा। शिखी इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध से दोनों धनुष-बोधक अक्षरों का निर्देश है। वहाँ शिखि, तोय, स्वसंयुक्त में बिन्दुयुक्त थकार और धकार (थं धं) में क्रम से शिव और शिवा के दोनों चापाक्षर हैं। चाप के भी तीनों रूपों का पञ्चम पटल में विवरण दिया जायगा। हंस से लेकर वशंकरी तक श्लोक के उत्तरार्ध और पूर्वार्ध से पाश के दोनों अक्षरों का उपदेश मिलता है। वहाँ 'हंसगैर्दाहवह्निस्वैः' 'ह्रीं' है। 'सस्वेन मरुता' आं है। इन दोनों

---

१. यह पञ्चम पटल की बात उपर्युक्त सौभाग्यभास्करभाष्य के उद्धरण में आ गई है।

२. शाक्त और वैष्णव मत से पराशक्ति शिव या पुरुष, और सारी सृष्टि उसकी शक्ति का विलास-मात्र होने के कारण शक्ति या स्त्री है। इसलिये केवल परमात्मा शिव पुरुष है और सारी सृष्टि शक्तिरूपिणी अर्थात् शक्ति का रूपान्तरमात्र (स्त्री) है।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः। अर्थात् महेश्वर शक्तिमान् है और सारी सृष्टि उसकी शक्तियाँ (कामिनियाँ) हैं। इसलिये कामिनीवशित्व जगद्वशित्व है। भाव है जगत् में श्रेष्ठता प्राप्त करना।

से उद्दिष्ट, पूर्ववत्, ये पाश के अक्षर हैं। 'सर्वस्तम्भ इत्यादि उत्तरार्ध से उभयगत (चाप-पाश) एक अंकुशाक्षर कहा गया है। वहाँ मुद्राषष्ठ क्रौंकार है।"

फलितार्थ यह हुआ कि पराशक्ति की इच्छा, ज्ञान और क्रिया (त्रिशक्ति) पाशांकुशादि अस्त्रों के रूप में उसके हाथों में रहती हैं और प्रपंच की लीला सम्पन्न करती रहती हैं। यह सिद्धान्त बौद्ध, वैष्णव, शाक्त, जैनादि सभी देवविग्रहों का आधार है और इसी पर सभी देवविग्रहों का निर्माण होता है। पाश, अंकुश, शिव, बुद्ध और जैन देवविग्रहों के साथ त्रिशक्ति के रूप में ही सम्बद्ध हैं।

त्रिपुरा वा श्रीविद्या के तत्त्वों का विस्तार-पूर्वक रहस्योद्घाटन, ललितासहस्रनाम के सौभाग्यभास्करभाष्य में, त्रिपुरोपनिषत्, त्रिपुरातापिन्युपनिषत्, भावनोपनिषत्, देव्युपनिषत्, श्रीशङ्कराचार्यकृत सौन्दर्यलहरी और उस पर टीकाओं में तथा दुर्वासाकृत त्रिपुरामहिमस्तोत्र और नित्यानन्दकृत उसकी टीका में विस्तार से किया गया है। इस विषय के अधिक ज्ञान के लिये अन्यान्य तन्त्र-ग्रन्थों के साथ इन ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिये।

यंत्र-प्रतीक

शिवलिङ्ग, यंत्र, मूर्ति [१], मन्दिर [२], स्तूप, स्तम्भ आदि एक ही सिद्धान्त पर बनते हैं। इसलिये इनके रूपों में भेद होने पर सिद्धान्त में कोई भेद नहीं है।

यंत्र के निर्माण में बिन्दु, त्रिकोण, वृत्त और चतुष्कोण का प्रयोग होता है। कभी-कभी त्रिकोणों के स्थान में पद्मदल का व्यवहार होता है।

यंत्र का रूप साधारणतः इस प्रकार होता है—
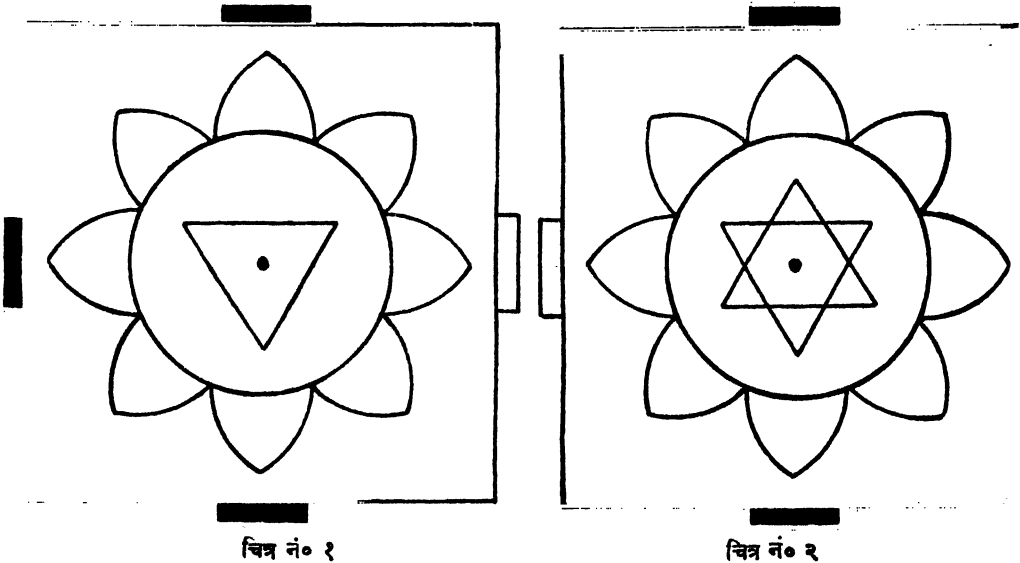
चित्र नं० १ चित्र नं० २

१. यह चित्रपरिचय-प्रकरण में और स्पष्ट होगा।

२. विशेष विवरण के लिये प्रासाद-पुरुष-प्रतीक-प्रकरण देखिये।

यंत्र का आरम्भ बिन्दु से होता है। यह बीज-नाद-बिन्दु का प्रतीक है। यहाँ से ही सृष्टि का आरम्भ होता है। यह साकार ब्रह्म का आदि रूप है। यह शिवलिङ्ग, का लिङ्गस्थान, विष्णु की नाभि, जहाँ से सृष्टि-पद्म, निकलता है, शिव की नाभि, जिसके पद्म पर शक्ति का विलास होता है और बुद्ध के मस्तक का बिन्दु है। नटराज की मूर्ति में मायाचक्र के भीतर यही चंचल (नटराज) ब्रह्म है। यही गगनलिङ्ग का सूर्यमण्डल और जैन तीर्थङ्करों के हृदय पर भृगुलता वा धर्मचक्र है। यही मन्दिर का कलस है। मन्दिर सृष्टि का प्रतीक है, जिसका आरम्भ बिन्दु-स्थान कलश से और अन्त, चतुष्कोण भूपुर में होता है।

त्रिकोण, त्रिशक्ति के रूप में चेतना का आत्मप्रसार है। यह त्रिगुण, त्रिदेव, त्रयी इत्यादि का प्रतीक है। (चित्र १)। बिन्दु के विस्तार में जब शक्तिमान्-शक्ति, अर्थात् शिव-शक्ति की कल्पना की जाती है तब बिन्दु के बाहर दो त्रिकोण रहते हैं। ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण शिव और अधःशीर्ष शक्ति है। (चित्र २) यह शिव-शक्त्यात्मक बिन्दु फैलकर वृत्त का रूप ग्रहण करता है। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति है। आत्मविस्तार इसका स्वभाव है और इसका निरन्तर प्रसार होता रहता है। सब कुछ इस कुण्डल के भीतर है, इसलिये इसका नाम कुण्डली और हिरण्यगर्भ भी है। वेद में 'हिरण्य' का प्रयोग 'तेज' के अर्थ में होता है। तेजोमण्डल के रूप में सब कुछ अपने भीतर रखने के कारण यह हिरण्यगर्भ है।

बिन्दु का विस्तार, चतुष्कोण के रूप में स्थिर होता है। चतुष्कोण स्थिरता का प्रतीक है। इसलिये इसको मूलाधार भी कहा जाता है। यह चतुष्कोण, पीतवर्ण और पृथ्वी-तत्त्व का प्रतीक है। इसलिये इसे भूपुर कहते हैं।

चतुष्कोण पर स्टेला क्रामरिश के विचार मननीय हैं—

"चतुष्कोण, भारतीय शिल्प का अत्यन्त आवश्यक और परिपूर्ण रूप है। यह वृत्त का अस्तित्व मानकर उससे रूप ग्रहण करता है। फैलती हुई शक्ति केन्द्रबिन्दु से निकलकर वृत्तरूप धारण करती है और चतुष्कोण के रूप में स्थिरता प्राप्त करती है। वृत्त और वक्ररेखा बढती हुई जीवनी शक्ति और गति के चिह्न हैं। चतुष्कोण, नियमबद्धता और बढ़ते हुए जीवन के अन्त और परिपूर्ण रूप का, तथा जीवन और मृत्यु के बाद भी परिपूर्णता का चिह्न है।"[१]

"(वास्तुकला का) द्वितीय अलङ्करण वृत्त है। अपने नियमानुसार विस्तृत जगत् का

---

१. The square is the essential and perfect form of the Indian architecture. It presupposes the circle and results from it. Expanding energy shapes the circle; it is established in the shape of the square. The circle and curve belong to life in its growth and movement. The square is the mark of order, of finality to the expanding life, its form; and of perfection beyond life and death.'

The Hindu Temple. Stella Kramrisch. Calcutta 1946. Vol. II. page 22.

लिङ्ग चतुष्कोण, कालवृत्त के पहिले रहता है। दो अलङ्करणों में से पहिला चतुष्कोण, बड़ा और अधिक विस्तृत होता है; क्योंकि सीमाबद्ध काल इसके भीतर रहता है।"[१]

"वृत्त का अस्तित्व मानकर चतुष्कोण बनता है। वृत्त, एक गतिशील रूप है। यह सर्वदा गति और तनाव से भरा रहता है; क्योंकि इसे केन्द्रबिन्दु चलाता है, और केन्द्र-बिन्दु से यह रूप ग्रहण करता है। इसके अपने रूप बिन्दु से इसका जन्म है। तत्त्वार्थ के अनुसार यह चालक पर आश्रित है।"[२]

प्रकृति अर्थात् सक्रिय ब्रह्म के नामरूपात्मक जगत् में आत्मविस्तार की पूर्णता चतुरस्र, चतुष्कोण वा भूपुर में है। यह देवमन्दिर और देवविग्रह का रेखाङ्कण है। इसके चौकोर में चार द्वार रहते हैं जिसके द्वारा प्रवेश कर साधक देव मन्दिर वा यंत्र में प्रवेश करता है। चतुष्कोण के भीतर आवरण देवताओं अर्थात् प्रधान देवता की सेवा में आस-पास रहनेवाले देवदेवियों का स्थान रहता है और मध्य बिन्दु-स्थान, अर्थात् केन्द्र-बिंदु पर प्रधान देवता का स्थान रहता है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर शिवलिङ्ग का निर्माण होता है। शिवलिङ्ग का ऊर्ध्व वर्तुल भाग बिन्दु-स्थान है और रुद्रांश है, मध्यभाग में वेदी के रूप में वृत्त विष्णुवंश है और मूलभाग चतुष्कोण ब्रह्मांश है। यह गति और स्थित्यामक सक्रिय और निष्क्रिय ब्रह्म के साकार और निराकार का प्रतीक है।

श्रीचक्र

श्रीविद्या अर्थात् त्रिपुरा की मूर्ति से भी अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित प्रतीक श्रीचक्र है। श्रीविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थों में विस्तार से इसका वर्णन मिलता है। इसका संक्षिप्त विवरण सौन्दर्यलहरी और त्रिपुरामहिमस्तोत्र में मिलता है—

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपिमूलप्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंशद्[illegible]वलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव भवनकोणाः परिणताः॥[३]

१. The square symbol of the extended world in its order, has precedence over the circle of time, the second ornament of the two the first ornament, the square, is the larger, comprehensive form, for it contains the cycles of measurable time.

तत्रैव। page 41.

२. The construction of the square presupposes circles. The circle is a dynamic form. It is full of tension and perpetual movement for it is set into motion and acquires form from the point in the centre. In its form is its origin, the point. Ontologically it is dependent on the mover.

तत्रैव। page 42.

३. सौन्दर्यलहरी। श्लोक ११।

"चार श्रीकण्ठ (शिव-ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण), पाँच शिवयुवति (शक्ति-अधःशीर्ष त्रिकोण), सभी शम्भु (मध्य विन्दु) से पृथक्, मूल प्रकृतिरूप नौ त्रिकोण, सब मिलाकर तैंतालीस, अष्ट-दल कमल, षोड़शदल कमल, तीन वलय (वृत्त) तीन रेखा, अर्थात् तीन रेखाओंवाला चतुष्कोण अथवा भूपुर, इनसे ही श्रीचक्र बनता है।"

श्रीविद्या के मत से श्रीचक्र, विश्वरचना का प्रतीक है जिसमें शिव अथवा शक्ति के रूप में विश्वप्रपंच का उद्भव और विकास दिखाया जाता है। इस प्रकार श्रीचक्र, सृष्टि क्रिया में काम करती हुई सभी शक्तियों का प्रतीक है।

जब आकाशवत् सर्वव्यापी शिव से आरम्भ कर घनीभूत विन्दुरूप शक्ति तक सारी, विश्वप्रपंच की क्रियाओं की कल्पना की जाती है तब इसको हादिमत कहते हैं और जब बिन्दुरूप शक्ति से सारे विश्व की रचना और विकास का क्रम माना जाता है, तब इसे कादिमत कहा जाता है।

श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोश इति ते संसारचक्रात्मकम्
विख्यातं तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं सर्वतः।
एतन्मन्त्रमयात्मकाभिररुणं श्रीसुन्दरीभिर्वृतं
मध्ये बैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे ॥[1]

"हे शिवे! आप का श्रीचक्र वेदों का मूलकोश है, यह प्रसिद्ध है, यह अरुण वर्ण का है और सब ओर से मन्त्रमयी सुन्दरियों द्वारा घिरा हुआ है। मध्य में तुम ब्रह्मविद्या बिन्दु के सिंहासन पर हो।"

इस श्लोक पर टीका इस प्रकार है—

अतः परं सिद्धं श्रीचक्रं सदैव तं प्रस्तौति—

हे शिवे! ते श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोश इति ख्यातम्। कथंभूतम्। संसार-चक्रात्मकम् पुनः कथंभूतम्। तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयम्। पुनः कथंभूतम्। सर्वतः श्रीसुन्दरीभिर्वृतम्। कथंभूताभिः। एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिः। पुनः कीदृशम्। अरुणम्। मध्ये त्वं ब्रह्मविद्या। कथंभूते मध्ये। बैन्दवसिंहपीठललिते। इत्यन्वयः।

श्रीचक्रं महात्रिपुरसुन्दर्याः पूजाचक्रम्। श्रुतिमूलकोशः श्रुतीनां वेदानां मूलं प्रणवः। 'ओंकारप्रभवा वेदाः' इति वचनात्। तस्य कोशभूतं श्रीचक्रगतमध्यत्रिकोणं तस्य कामकलाक्षरगतबिन्दुत्रयमयत्वात्। बिन्दुत्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपत्वात्।

'ब्रह्मबिन्दुर्महेशानि वामाशक्तिरुदीरिता।'

इति ज्ञानार्णववचनात्। विश्वं वमति इति वामा, वामाशक्तेः शब्दार्थसृष्टिकारणत्वेन श्रीचक्रस्य श्रुतिमूलकोषमित्यादिः। इतिकारणात्। ते श्री महात्रिपुरसुन्दर्याः। संसारचक्रात्मकं संसारचक्रं कालचक्रं देशचक्रं च। श्रीचक्रस्य कालचक्रेण देशचक्रेण च साम्यं तन्त्रराजेऽष्टाविंशतितमे पटले श्री शिवेन प्रतिपादितम्। मयात्र ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते। यैरेव मूलविद्याक्षरैः श्रीचक्रं प्रसृतमिति ज्ञानार्णवोक्तिः। यथा—

१. त्रिपुरामहिमस्तोत्र। श्लोक २८।

लकारात् पृथिवी जाता सशैलवनकानना ।
पञ्चाशत्पीठसम्पन्ना सर्वतीर्थमयी परा ॥
सर्वगङ्गामयी सर्वक्षेत्रस्थानमयी शिवे ।
सकाराच्चन्द्रताराद्विग्रहराशिस्वरूपिणी ॥
हकाराच्छिवसंबाधव्योममण्डलसंस्थिता ।
ईकाराद्विश्वकर्त्रीयं माया तुर्यात्मिका प्रिये ॥
एकाराद्वैष्णवी शक्तिर्विश्वपालनतत्परा ।
रकारात्तेजसा युक्ता परंज्योतिःस्वरूपिणी ॥
ककारात्कामदा कामरूपिणी स्फुरदव्यया ।
अर्धचन्द्रेण देवेशि विश्वयोनिरितीरिता ।
बिन्दुना शिवरूपेण शून्यरूपेण साक्षिणी ॥ इति ॥

एवं संसारचक्रात्मकता मूलविद्यायास्तदात्मकता श्रीचक्रस्येति वा साम्यम् । विख्यातं प्रसिद्धम् । तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं । तदधिष्ठितानि श्रीचक्राधिष्ठितानि यान्यक्षराणि तान्येव बीजभूतास्तत्तदावरणदेवतादिभूतवर्णास्त एव शिवाः । अणिमादिसिद्ध्यादयः कामाकर्षिण्यादयः । अनङ्गकुसुमादयः सर्वसंक्षोभिण्यादयः सर्वसिद्धिप्रदादयः सर्वज्ञादयः । वशिन्यादयः कामेश्वर्यादय एव ज्योतींषि तन्मयं तत्प्रचुरं सर्वतः श्रीचक्रमभिव्याप्य एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिः एतद्विद्याक्षरप्रसृताभिः । लकाराच्चतुरस्रं सदैवतं प्रसृतम् सकारात् षोडशदलं सदैवतम्, रकारादन्तर्दशारं सदैवतम्, ककारादष्टकोणं सदैवतम्, अर्धेन्दोस्त्रिकोणं सदैवतम्, बिन्दो बैन्दवमिति मूलविद्यानवाक्षरैः सम्पूर्णं श्रीचक्रं सावरणं प्रसृतमिति मुनेरभिप्रायः । उक्तं च ज्ञानार्णवे—

लकारः पृथिवीबीजं तेन भूबिम्बमुच्यते ।
सकारश्चन्द्रमा भद्रे कलाषोडशकात्मकः ॥
तस्मात् षोडशपत्रं च हकारः शिव उच्यते ।
अष्टमूर्तिः सदा भद्रे तस्माद्वसुदलं भवेत् ॥
ईकारस्तु सदा माया भुवनानि चतुर्दश ।
पालयन्ती परा तस्माच्छक्रकोणं भवेत्प्रिये ॥
शक्तिरेकादशस्थाने स्थित्वा सूते जगत्त्रयम् ।
विष्णोर्योनिरिति ख्याता सा [illegible]कम् ॥
एकारात्परमेशानी चक्रं व्याप्य विजृम्भिता ।
दशकोणकरं तस्माद्रकारो ज्योतिरव्ययः ॥
कलादशान्वितो वह्निर्दशकोणप्रवर्तकः ।
ककारान्मदनो देवि शिवं चाष्टस्वरूपकम् ॥
योनिवश्यं तदा चक्रं वसुयोन्यङ्कितं भवेत् ।
अर्धमात्रा गुणान्सूते नादरूपा यतस्ततः ॥
त्रिकोणरूपा योनिस्तु बिन्दुना बैन्दवं भवेत् ।
कामेश्वरस्वरूपं तद्विश्वाधारस्वरूपकः ।
श्रीचक्रं तु वरारोहे श्रीविद्यावीर्यसम्भवम् ॥इति॥

अरुणं बालार्कप्रभं श्रीसुन्दरीभिर्वृतं श्रिया सौन्दर्येण सुन्दर्यः श्रीसुन्दरीप्रायाः। श्रीसुन्दर्याः पञ्चमहाशवसमन्वसिंहासनं कामेश्वराङ्कोपवेशनमिति विशेषः। वृतं परिवेष्टितम्। मध्ये मध्य त्रिकोणमध्ये। बैन्दवसिंहपीठलसिते बैन्दवं बिन्दुचक्रं तत्र सिंहासनं पूर्वोक्तरूपं तेन लाञ्छिते निरुपमशोभान्विते। त्वं श्रीत्रिपुरमहासुन्दरी। ब्रह्मविद्या परब्रह्मात्मिका। शिवे कल्याणरूपे।[1]

"हे शिवे ! आपका श्रीचक्र वेदों का मूलकोश है, यह प्रसिद्ध है। कैसा। संसारचक्रात्मक। पुनः कैसा। सब ओर से श्रीसुन्दरियों द्वारा घिरा हुआ। कैसी सुन्दरियाँ। ये मन्त्रस्वरूपा उनके द्वारा (घिरा हुआ)। पुनः कैसा। अरुण। मध्य में तुम ब्रह्मविद्या। कैसे मध्य में। बिन्दु के सिंहासन पर। यह अन्वय हुआ। श्रीचक्र महात्रिपुरसुन्दरी का पूजाचक्र। श्रुति अर्थात् वेदों का मूल प्रणव है। कहा गया है कि वेद ओङ्कार से निकले हैं। उसका कोश श्रीचक्र के बीचवाला त्रिकोण। वे कामकला के अक्षरों (ऐं ह्रीं क्लीं) के अन्तर्गत तीन बिन्दु हैं। ये तीनों बिन्दु ब्रह्म-विष्णु-रुद्ररूप हैं। ज्ञानार्णव का वचन है कि हे महेशानि ! ब्रह्मबिन्दु का नाम वामाशक्ति है। विश्व को वमन करती है, इसलिये यह वामा है। वामाशक्ति शब्द (ध्वनि, नाम) और अर्थ (विषय, रूप) का कारण है, इसलिये श्रीचक्र, श्रुतिमूल (ॐ) का कोष है। वे अर्थात् महात्रिपुरसुन्दरी के। संसार चक्रात्मक, अर्थात् संसारचक्र, कालचक्र और देशचक्र। श्रीशिव ने तन्त्रराज के २८ वें पटल में, श्रीचक्र की, देशचक्र और कालचक्र से समता प्रतिपादित की है। ग्रन्थविस्तार के भय से मैं यहाँ नहीं लिखता। ज्ञानार्णव का कहना है कि जिन मूलविद्याक्षरों से श्रीचक्र का प्रसार हुआ उन्हीं अक्षरों से संसारचक्र का विस्तार हुआ। जैसे हे शिवे ! लकार से परारूप पृथिवी उत्पन्न हुई, जिस पर शैल, वन, कानन, पचास पीठ, सभी तीर्थ, सब गंगा और सभी क्षेत्र स्थान हैं। सकार से, चन्द्र, तारा, ग्रह, राशि आदि का रूप उसने ग्रहण किया। हकार से शिव के संकीर्णरूप व्योममण्डल के रूप में वह वर्तमान है। हे प्रिये ईकार से यह विश्वकर्त्री तुर्या माया है। एकार से विश्वपालन में तत्पर वह वैष्णवी शक्ति है। रकार से (वह) तेजोयुक्त परंज्योतिःस्वरूपिणी है। ककार से कामदा, कामरूपिणी अव्यया का स्फुरण होता है। हे देवेशि ! अर्धचन्द्र द्वारा इसे विश्वयोनि कहा गया है। बिन्दुरूप शिव के शून्यरूप से[2] यह साक्षिणी है। इस प्रकार संसारचक्र से मूलविद्या की तदात्मकता अथवा श्रीचक्र की समता है। विख्यात अर्थात् प्रसिद्ध। उसमें अधिष्ठित अक्षर शिवज्योतिर्मय है। उसमें अधिष्ठित अर्थात् श्रीचक्र में अधिष्ठित जो अक्षर हैं वे ही बीज हैं और उनके आवरण देवतादि, जो तत्त्व के संकेतवर्ण हैं, वे ही शिव हैं। अणिमादि सिद्धियाँ, कामाकर्षिण्यादि, अनंगकुसुमादि, सर्व संक्षोभिणी आदि, सर्वसिद्धिप्रदादि, सर्वज्ञादि, वशिन्यादि, कामेश्वर्यादि ही ज्योतियाँ

१. त्रिपुरामहिमस्तोत्रम्। नित्यानन्दकृता टीका। काव्यमाला। एकादशगुच्छकः। बम्बई। शाकः १८५५। सन् १९३३।

२. यही बिन्दुरूप शून्यता बुद्ध की शून्यता है, जिसका प्रतीक बुद्ध के ललाट का बिन्दु है। शक्ति शून्यसाक्षिणी हैं और इसी भाव से बुद्ध-सम्प्रदाय में शून्यानां शून्यसाक्षिणी तारा, श्री, और वज्रवैरोचनी (छिन्नमस्ता) को शाक्तों की तरह ही ग्रहण किया गया है।

(ग्रह-नक्षत्रादि) उसके रूप हैं, उसी से भरे हुए सब ओर से श्रीचक्र को अभिव्याप्त कर इन मंत्रों के रूप में अर्थात् इन विद्याक्षर के रूप में फैले हुए हैं। लकार से चतुष्कोण (भूपुर) का देवता सहित विकास हुआ, सकार से देवता सहित षोडश दल का, हकार से देवता सहित अष्टदल का, ईकार से देवता सहित चतुर्दश कोण (दल, योनि) का, एकार से देवता सहित बाहर वाले दशदल का, रकार से देवता सहित भीतरवाले दशार का, ककार से देवता सहित अष्टकोण का, अर्धचन्द्र से देवता सहित त्रिकोण का और बिन्दु से बैन्दव स्थान का, अर्थात् मूलविद्या के नौ अक्षरों से आवरण सहित सम्पूर्ण श्रीचक्र बना, यही मुनि (दुर्वासा) का अभिप्राय है।

ज्ञानार्णव में भी कहा है कि—लकार पृथिवी-बीज है, इसलिये इसको भूबिम्ब (भूपुर, चतुष्कोण) कहते हैं। भद्रे! सकार षोडश कलात्मक चन्द्रमा है, इसलिये षोडश पत्र को हकारशिव कहते हैं। भद्रे! इसलिये अष्टमूर्ति (शिव) सर्वदा अष्टदल होते हैं। ईकार, यह चौदह भुवन रूप माया है, इसलिये पालन करनेवाली 'परा' इन्द्रकोण होती है। शक्ति एकादश स्थान में रहकर, तीनों लोकों को उत्पन्न करती है, इसलिये उसका नाम विष्णुयोनि है, यह विष्णु का दशरूप (दशावतार) है। एकार से (निकल कर) परमेश्वरी, चक्र में व्याप्त होकर प्रस्फुटित हुई है, इसलिये दश कोण के रूप में किरणोंवाला रकार अव्यय ज्योति है। दशकलाओं वाला अग्नि दश कोण का प्रवर्तक है। ककार मदन है। देवि! शिव अष्ट स्वरूप हैं। योनि (त्रिकोण) के रूप में चक्र, आठ कोणों से चिह्नित रहता है। अर्धमात्रा नादरूप में गुणों को उत्पन्न करती है। त्रिकोण रूप योनि, बिन्दु के साथ मिलकर, बैन्दव बन जाता है। यही कामेश्वर है, जो विश्वाधार का प्रतीक है। हे वरारोहे! श्रीचक्र, श्रीविद्या की शक्ति से उत्पन्न हुआ है।

अरुण अर्थात् बाल सूर्य का वर्णवाला। श्रीसुन्दरी से घिरा हुआ, श्री के सौन्दर्य से सम्पन्न सुन्दरियाँ, श्रीसुन्दरी-जैसी सुन्दरियाँ। इसका विशेषार्थ हुआ—पञ्च महाशव से संबद्ध सिंहासन पर अर्थात् कामेश्वर के अङ्क में बैठना। वृत अर्थात् घिरा हुआ। मध्य में अर्थात् मध्य त्रिकोण में। बैन्दवसिंह पीठललिते अर्थात् बैन्दव-बिन्दुचक्र, वहाँ पूर्वोक्तरूप सिंहासन, उससे ललित अर्थात् निरुपम शोभान्वित, तुम अर्थात् महात्रिपुर सुन्दरी। ब्रह्मविद्या अर्थात् परब्रह्ममयी। शिवा अर्थात् कल्याणरूपिणी।

शाक्तदर्शन के अनुसार सृष्टि में काम करनेवाले सभी तत्त्वों का, आवरणदेवता के रूप में, विवरण देकर और मध्य में प्रधान शक्ति की स्थापना कर, श्रीचक्र के रूप में संसारचक्र के प्रतीक का निर्माण किया गया है। प्रपंचलीला का सब से सरल प्रतीक शिवलिङ्ग है और सब से जटिल और गहन श्रीचक्र है।

छिन्नमस्ता

विभु की इच्छामात्र ही क्रिया का रूप ग्रहण करती है। उसकी इच्छामात्र से क्रिया होने लगती है। इसलिये सृष्टि क्रिया में जन्तुओं की तरह, उसे हस्तपादादि की आवश्यकता नहीं होती। हस्तपादादि स्थूल जगत् के स्थूल उपादान हैं, जो शक्ति के परिवर्तित रूप हैं

और सूक्ष्म शक्ति से संचालित होते हैं। इसलिये अलंकृत भाषा में कहा जाता है कि इसके हजारों हाथ, हजारों शिर, आँख इत्यादि हैं, और यह विना आँख के ही देखता है, विना पैर के ही चलता है, विना हाथ के ही सारी सृष्टि का काम करता है, इत्यादि। सनातन, बौद्ध और जैन देव-देवियों के प्रतीकों में छिन्न-मस्ता के अन्तर्गत सिद्धान्त और रूप के प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं।

छिन्नमस्ता के रूप में यही दिखाया गया है कि प्राणिमात्र के शरीर में मस्तक उत्तमाङ्ग समझा जाता है, किन्तु मानवरूप में कल्पना करने पर भी, विभु की कल्पित इन्द्रियों, और मस्तक का भी कोई महत्व नहीं है। शक्ति की सृष्टि-क्रिया में हवा, बिजली या आकाश के मस्तक की कल्पना जिस प्रकार निरर्थक है, उसी प्रकार सर्वव्यापी शक्ति के मस्तक और अन्यान्य इन्द्रियों की कल्पना भी निरर्थक है, ये केवल कार्यशील शक्तितत्त्व के प्रतीकमात्र हैं।

छिन्नमस्ता का ध्यानस्तव इस प्रकार है –

नाभौ शुभ्रसरोजवक्त्रविलसद्बन्धूकपुष्पारुणं
भास्वद्भास्करमण्डलं तदुदरे तद्योनिचक्रं महत्।
तन्मध्ये विपरीतमैथुनरतप्रद्युम्नसत्कामिनी-
पृष्ठस्थां तरुणार्ककोटिविलसत्तेजःस्वरूपां शिवाम्॥
वामे छिन्नशिरोधरां तदितरे पाणौ महत्कर्तृकां
प्रत्यालीढपदां दिगन्तवसनामुन्मुक्तकेशव्रजाम्।
छिन्नात्मीयशिरः समुच्छलदसृग्धारां पिबन्तीं परां
बालादित्यसमप्रकाशविलसन्नेत्रत्रयोद्भासिनीम्॥
वामादन्यत्र नालं बहुगहनगलद्रक्तधाराभिरुच्चैः-
पायन्तीमस्थिभूषां करकमललसत्कर्त्रिकामुग्ररूपाम्।
रक्ताभां रक्तकेशीमपगतवसनां वर्णिनीमात्मशक्तिं
प्रत्यालीढोरुपादामरुणितनयनां योगिनीं योनिमुद्राम्॥
दिग्वस्त्रां मुक्तकेशीं प्रलयघनघटाटोपरूपां प्रचण्डां
दंष्ट्रादुष्प्रेक्ष्यवक्त्रोदरविवरलसल्लोलजिह्वाग्रभासाम्।
विद्युल्लोलाक्षियुग्मां हृदयतटलसद्भोगिनीमात्ममूर्तिं
सद्यश्छिन्नात्मकण्ठप्रगलितरुधिरैर्डाकिनीं वर्धयन्तीम्॥
ब्रह्मेशानाच्युताद्यैः शिरसि विनिहतां मन्दपादारविन्दै-
रात्मज्ञैर्योगिमुख्यैः प्रतिपदमनिशं चिन्तिताचिन्त्यरूपाम्।
संसारे सारभूतां त्रिभुवनजननीं छिन्नमस्तां प्रशस्ताम्
इष्टां तामिष्टदात्रीं कलिकलुषहरां चेतसा चिन्तयामि॥

१. नाभि[1] (चेतना के विस्तार के बिन्दुस्थान) में श्वेतकमल के भीतर, बन्धूक पुष्प की तरह लाल, जगमगाता हुआ सूर्यमण्डल है। उसके भीतर महायोनिचक्र है। उसके

१. यही है वेद का 'अमृतस्य नाभिः'।

बीच में विपरीत मिथुनकर्म में रत काम और रति की पीठ पर करोड़ों मध्याह्न-सूर्य की तरह जगमगाती हुई तेजोरूप शिवा हैं ।।"

सृष्टि के प्रारम्भ में चित् के महाविस्तार में प्रथम स्पन्द, बिन्दु है। यही नाभि है। श्वेतकमल सृष्टि है। लाल सूर्यमण्डल, साकार विश्वका आरम्भ विमर्श है। उसके भीतर योनिचक्र वा त्रिकोण है जो त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रयी इत्यादि का प्रतीक है। काम और रति क्लीं बीजात्मक इच्छाशक्ति हैं। उनके ऊपर सृष्टि का महारम्भस्वरूप महाशक्ति शिवा हैं।

२. "बायें हाथ में कटा हुआ शिर और दाहिने में बहुत बड़ा खड्ग है। बायाँ पैर आगे बढ़ा है। दिगम्बरी हैं। केश-समूह खुले हुए हैं। पराशक्ति, अपने ही कटे हुए शिरःस्थान से निकलती हुई रक्त धारा पी रही हैं। बालसूर्य की तरह प्रभा है। तीन नेत्र शोभा पा रहे हैं।"

साकार विग्रह के हस्तपादादि को देख कर लोगों के मन में जो भ्रम और मोह उत्पन्न होता है, शिर के रूप में उसका ज्ञानखड्ग द्वारा उच्छेद हुआ है। स्थिति-शक्ति दिक् ही वस्त्र है। प्रकृति स्वतः अपना शृङ्गार है, इसलिये केश खुले हैं। सृष्टि क्रिया में, साकार रूप में महाशक्ति अपना अवलम्ब आप ही हैं। इसलिये स्वयं अपना रक्तपान कर रही हैं। बालसूर्य की तरह प्रभा विमर्श रूप है। चन्द्र, सूर्य और अग्नि रूप तीन नेत्र इच्छा, ज्ञान, क्रियास्वरूप हैं।

३. "इनके दाहिनी ओर एक योगिनी है जो योनिमुद्रा है। यह देवी की अपनी ही शक्ति है। बड़े वेग से उठती हुई अपने रक्त की धारा इसे ये पिला रही हैं। हड्डियाँ इस योगिनी के आभूषण हैं। इसके हाथ में चमकता हुआ भयङ्कर खड्ग है। इसके वर्ण, केश और नेत्र लाल हैं। यह विवस्त्र है। इसका नाम वर्णिनी है।"

निष्क्रिय और सक्रिय चित् शक्ति के दोनों पुटों के बीच बिन्दुस्थान योनिमुद्रा है। इसका स्थान भ्रूमध्य है। योगी तांत्रिक और बौद्ध तीनों ही इसे समान रूप से मानते हैं। जिनकी ध्यानावस्था से भी इसका बोध होता है। इसका दो स्थूल रूप हो सकता है—१. (·)। २ ⊙। दो पुटों के मिलने से वृत्त बन जाता है। यह बिन्दु-वृत्त इसका दूसरा रूप है। इसका कल्पित रूप वर्णिनी शक्ति है। यह मोक्षदा अन्तर्मुखवृत्ति है।

महाशक्ति अपनी ही शक्ति से अपने रूपान्तर को अनुप्राणित रखती है, यही अपना रक्त पिलाना है। इसके आभूषण अस्थि के हैं। अस्थि प्राणियों के शरीर का अवलम्ब है। सभी रूपों को शक्ति, प्राण रूप से वर्तमान रह कर स्थिर रखती है, यही इसकी अस्थिभूषा है। उग्र काता अर्थात् भयङ्कर खड्ग, ज्ञान है। रक्तवर्ण, रक्तकेश और रक्त नेत्र, रजोगुण के बोधक हैं। यह त्रिगुणात्मक ब्रह्म का रजो गुण रूप है।

४. "(इनके दाहिनी ओर) अपनी ही मूर्ति एक डाकिनी है, जिसका नाम भोगिनी है। यह देवी के हृदय के अत्यन्त निकट है। अपने ही सद्यः छिन्न कण्ठ से निकलती हुई

रक्तधारा से उसे पुष्ट कर रही हैं। भोगिनी दिगम्बरी है। इस के केश खुले हैं। यह प्रचण्ड है और प्रलयकालीन घोर घटाटोप की तरह इसका (काला) रूप है। (विकराल) दाँतों के कारण इसके मुख और उदरविवर कण्ठ की ओर देखा नहीं जाता। जिह्वा का अग्रभाग लपलपा रहा है और इसकी दोनों आँखें बिजली की तरह चमकवाली और चंचल हैं।"

तृतीय श्लोक में मोक्षद्वार, (योनिमुद्रा) योगस्वरूपा (योगिनी) अन्तर्मुखवृत्ति, और वर्णिनी शक्ति का विवरण हो चुका है। वर्णिनी का अर्थ, वर्णवाली, अर्थात् निराकार का साकार रूप भी है। चतुर्थ श्लोक में भोगस्वरूप बहिर्मुखवृत्ति है, जो अज्ञान अर्थात् तमोगुण का परिणाम है, किन्तु वह भी महामाया का ही एक स्वरूप है और प्रपंचक्रिया में सहायक होने के कारण देवी के हृदय के अत्यन्त निकट है।

डाकिनी का अर्थ है मायाविनी। मोह के कारण जीव भोग में डूबता है। इसलिये इस शक्ति का नाम भोगिनी है। इसका भी अस्तित्व देवी के रक्त (कृपा और स्नेह) पर आश्रित है। योगिनी का प्रचण्ड रूप, विषय-वासना की दुर्निवारता है। इसका विकराल काला रूप घोर तमोगुण है, जिसके विकराल दाँतों (कर्मों) के कारण उसके यथार्थ रूप पर विचार करना भी कठिन है। चमकती आँखें और लोल जिह्वा भोगतृष्णा का लपलपाता रूप है। यह भोग-स्वरूप बहिर्मुखवृत्ति का प्रेरक देवी का तमोगुणात्मक रूप है।

५. "ब्रह्मा ईशान, अच्युत आदि देवी के चरणकमलों को शिर पर रखते हैं। आत्मज्ञ योगीन्द्रगण अचिन्त्यरूपा की, पग-पग पर अहर्निश चिन्ता करते हैं। संसारसार, त्रिभुवन जननी, इष्टदेवी, इष्ट देनेवाली कलिकलुष हरनेवाली, तेजोमयी (चिद्रूपिणी) छिन्नमस्ता का मैं ध्यान करता हूँ।"

इस स्तव का अन्तिम श्लोक है—

उत्पत्तिस्थितिसंहृतीर्घटयितुं धत्से त्रिरूपां तनुं
त्रैगुण्याज्जगतो यदीयविकृतिर्ब्रह्माच्युतः शूलभृत्।
तामाद्यां प्रकृतिं स्मरामि मनसा सर्वार्थसंसिद्धये
यस्याः स्मेरपदारविन्दयुगले लाभं भजन्तेऽमराः॥

"उत्पत्ति, स्थिति और संहार की क्रिया के लिये आप तीन प्रकार का शरीर धारण करती हैं। जगत् (सर्वदा गतिशील सृष्टि) के त्रिगुण के कारण, जिसके परिवर्तित रूप (विकृति) ब्रह्मा, विष्णु और शूलपाणि हैं, सब विषयों की पूर्ण सिद्धि के लिये, उस आद्या प्रकृति (मूल प्रकृति-अशेष कारण) का मैं स्मरण करता हूँ, जिसके मुस्कुराते हुए चरण कमल से देवताओं की अर्थसिद्धि होती है।"

इससे ब्रह्ममयी का ब्रह्मस्वरूप स्पष्ट है।

इस प्रतीक में सूर्य-बिम्ब बिन्दु है, कमल विश्वप्रपञ्च है और काम-रति कामकला हैं, जो चिदानन्द की आनन्दवृत्ति के स्थूल रूप हैं और सृष्टि क्रिया के प्रवर्तक हैं। इस पर अर्थात् कामेश्वर शव-शिव पर शिवा सृष्टिलीला करती रहती हैं। जिस प्रकार तरंग जलराशि से निकल कर और नाना प्रकार की गति दिखाकर, जल में पुनः विलीन होकर स्थिर हो जाता है, उसी प्रकार निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय होकर नाना प्रकार की कलाएँ, सृष्टि के रूप में दिखलाकर, अपने में ही स्थिर अर्थात् निष्कल हो जाता है।

देवी की एक सहचरी योगिनी या वर्णिनी, रक्त वर्ण की है, यह रजोगुण है। दूसरी डाकिनी या भोगिनी कृष्णवर्ण है, यह तमोगुण है। वीच में कोटि मध्याह्नसूर्य (तरुणार्क) की तरह तेजःस्वरूप स्वयं आप हैं। यह चेतना है, जो साकार रूप में त्रिगुणात्मिका और गुणाश्रया होने के कारण स्थितिरूप सत्त्वगुणात्मक रूप में, रज और तम को अपने रक्त (शक्ति) से पुष्ट और स्थिर रखती है। शक्ति, स्वयं ही अपना आश्रय है, यही इसका स्वरक्त पान करना और पिलाना है। शक्ति के मस्तक, हाथ, पैर इत्यादि कल्पना-मात्र हैं। जिस तरह बिजली वा वायु जैसे व्यापक तत्त्व का मस्तक नहीं है, किन्तु इसकी सभी क्रियाएँ होती रहती हैं, उसी तरह शक्ति के भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग नहीं हैं, इसकी इच्छा मात्र ही क्रिया बन जाती है।

योगिनी, मोक्षप्रद योग है और भोगिनी तमोगुण, मोह और अज्ञान है। भोगासक्ति का परिणाम भयंकर होता है, यही भोगिनी के विकट दाँत और विद्युन्नेत्र हैं। किन्तु जो शक्ति के शरणापन्न हैं उनके लिये मोक्ष और भोग, दोनों ही अनुकूल, सहायक और सुलभ हैं।

छिन्ना का सूर्यमण्डल काली और तारा के महाकाल और अक्षोभ्य का हृदय, श्रीचक्र और त्रिपुरा का बिन्दु, विष्णु की नाभि, बुद्ध का ललाट बिन्दु और जिन के हृदय पर धर्मचक्र या भृगुलता है, जहाँ से सृष्टि कल्पना का उद्भव और विकास होता है। यहाँ से ही काली और तारा त्रिगुणात्मक साकाररूप ग्रहण करती हैं और यहाँ से ही त्रिपुरा, विष्णु, बुद्ध आदि का सृष्टि कमल प्रकट होता है।

छिन्ना के सिद्धान्त पर ही वैष्णव, शैव, बौद्ध और जैन प्रतीकों का निर्माण होता है। छिन्ना की सखियों की तरह, विष्णु के साथ लक्ष्मी-सरस्वती, शिव के साथ गङ्गा-गौरी, बुद्ध के साथ ब्रह्मा-इन्द्र, दो बोधिसत्त्व या दो अवलोकितेश्वर, दो शिष्य अथवा एक बोधिसत्त्व और एक शक्ति की मूर्तियाँ रहती हैं। तीर्थङ्कर जिनों के साथ भी दो यक्ष या गन्धर्व की मूर्तियाँ दोनों पार्श्व में रहती हैं।

छिन्ना का वज्रवैरोचनी नाम शाक्तों, बौद्धों और जैनों में समान रूप से प्रचलित है।

शिवलिङ्ग के रूप में छिन्ना की दोनों पार्श्ववर्तिनी सखियाँ वेदी का रूप ग्रहण कर लेती हैं और ब्रह्ममयी, मध्य में ब्रह्मलिङ्ग का रूप ग्रहण करती है।

धूमावती

धूमावती के रूप में महाशक्ति की रूप-कल्पना शाक्तसम्प्रदाय के दर्शन और साधना के सिद्धान्तों के अनुसार है। यह भोग और मोक्षदात्री विधवा वृद्धा माता के रूप में महाशक्ति की उपासना की रीति है।

महाशक्ति के धूमावती रूप धारण करने के विषय में एक कथा कही जाती है। एक बार कैलास पर्वत पर महादेव के साथ पार्वती बैठी हुई थीं। उन्होंने वृषभध्वज से कहा—बड़ी भूख लगी है। कुछ खाने को दीजिये। कई बार माँगने पर भी जब कुछ नहं मिला, तब पार्वती महादेव को उठाकर निगल गईं। उनके शरीर से धूमराशि निकली तब शम्भु ने अपनी माया द्वारा उनसे कहा—

> एषा मूर्तिस्तव परा विख्याता बगलामुखी।
> धूमव्याप्तशरीरात्तु ततो धूमावती स्मृता॥
> एते मूर्ती तव परे सिद्धविद्ये प्रकीर्तिते।
> यथोग्रतारिणी मूर्तिर्यथा काली पुरा सती॥
> यथा च भुवनेशानी यथा त्रिपुरभैरवी।
> छिन्नमस्ता यथा मूर्तिस्तथा त्वं परमेश्वरी॥

"आपकी यह 'परा' (आदि कारणरूपा) मूर्ति, जो बगलामुखी (सुन्दर मुखवाली) के नाम से प्रसिद्ध है, वह धुएँ से ढँक जाने के कारण धूमावती कही जायगी। हे परे! आपकी ये दोनों मूर्तियाँ सिद्धविद्या हैं। जो उग्रतारा, काली, पुराकाल में सती की मूर्ति, भुवनेश्वरी, त्रिपुरभैरवी और छिन्नमस्ता की मूर्ति है, हे परमेश्वरि। वही आप हैं।"

पराशक्ति एक है और उसके ही अनेक रूप सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं, इस भाव को स्पष्ट करने के लिये कहा जाता है कि महाशक्ति कुमारी, विधवा, एका, परा इत्यादि है। दुर्गासप्तशती के पाँचवें अध्याय में देवी ने कहा—

> यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
> यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति॥

"जो मुझे युद्ध में जीत लेगा, जो मेरा गर्व दूर कर देगा, जो मेरे जैसा बलवान् होगा, वही मेरा भर्त्ता होगा।" ऐसा तो कोई हो ही नहीं सकता। इसलिये देवी कुमारी हैं। उनके इस विधवापन की कथा का भी यही अर्थ है कि जितने भी नाम-रूप की कल्पना की जाय, सभी उसके उदरस्थ है, वह एक-की-एक है।

इस रूप का ध्यान इस प्रकार है—

> विवर्णा चञ्चला कृष्णा दीर्घा च मलिनाम्बरा।
> विमुक्तकुन्तला रुक्षा विधवा च विरलद्विजा॥
> काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा।
> शूर्पहस्तातिरुक्षाक्षी धूतहस्ता वरान्विता॥

प्रवृद्धघोणा तु भृशं जटिला कुटिलेक्षणा ।
क्षुत्पिपासार्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा ।।

"देवी, विवर्ण चंचल, काला रंगवाली, लम्बी, मैले कपड़ेवाली, खुले केश, रूखी, विधवा, थोड़े-बहुत दाँतोंवाली, काकध्वज रथ पर आरूढ़, लटकते हुए स्तनोंवाली, हाथ में सूप, रूखे नेत्र, हिलते हुए और वरद हस्त, लम्बी नाक, जटिल केश, क्रूर आखें, सर्वदा भूख-प्यास से व्याकुल, भयंकर और झगड़े का घर हैं ।"

देवी का काकध्वज और काकवाहन, श्मशान अर्थात् विषय वासना से शून्यता का प्रतीक है । यह काली और महाकाल का श्मशान और गीता की स्थितप्रज्ञावस्था है, जो मोक्षप्रद है ।

धूमावती के रूप में करुणामयी वृद्धा माता के कृपा-कटाक्ष से भोग-मोक्षादि सभी सुलभ हो जाते हैं ।

बगलामुखी

ब्रह्ममयी महाविद्या का एक नाम और रूप बगला है । यह बगलामुखी का संक्षिप्त रूप है । बगला के रूप का विवरण इस प्रकार है—

मध्ये सुधाब्धिमणिमण्डपरत्नवेदी—
सिंहासनोपरिगतां परिपीतवर्णाम् ।
पीताम्बराभरणमाल्यविलेपनाढ्यां
देवीं स्मरामि धृतमुद्गरवैरिजिह्वाम् ।।
जिह्वाग्रमादाय करेण देवीं
वामेन शत्रून् परिपीडयन्तीम् ।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन
पीताम्बराढ्यां द्विभुजां नमामि ।।

सुधासागर में मणिमण्डप में रत्न की वेदा पर सिंहासन पर बैठी हुई, पीत वस्त्र, आभरण, माला और विलेपनवाली और मुद्गर तथा वैरी की जीभ को धारण करनेवाली देवी का मैं स्मरण करता हूँ ।"

"बायें हाथ से जिह्वाग्र को पकड़कर और दाहिने से गदा की मार से शत्रु को पीड़ित करनेवाली, पीताम्बर से जगमगाती हुई, दो भुजाओंवाली देवी को मैं प्रणाम करता हूँ ।"

सुधाब्धि चिदानन्द का आनन्द-सागर है, मणिमण्डप और रत्नवेदी सृष्टि है और सिंहासन बिन्दु है ।[1] देवी के भूषणवस्त्रादि सभी पीत वर्ण के हैं । पीतवर्ण पृथ्वी-तत्त्व का है, जो स्थित्यात्मक दिक्-शक्ति है । सभी प्रकार की गति को रोकने के लिये, दिक्-शक्ति-रूपिणी महाशक्ति बगला की साधना की जाती है । प्रपंचसिद्धि में, विरोधियों को रोकने के लिये और परमार्थसिद्धि में मन की चंचलता को रोककर पराशक्ति में मनोलय के लिये इनकी उपासना की जाती है ।

१. इन प्रतीकों के विस्तृत विवरण के लिये त्रिपुरा-प्रकरण देखना चाहिये ।

बगलास्तव से इनका ब्रह्मरूप प्रकट होता है। इसका एक श्लोक इस प्रकार है—

मातर्भैरवि भद्रकालि विजये वाराहि विश्वाश्रये।
श्रीविद्ये समये महेशि बगले कामेशि रामे रमे॥
मातङ्गि त्रिपुरे परात्परतरे स्वर्गापवर्गप्रदे।
दासोऽहं शरणागतः करुणया विश्वेश्वरि त्राहि माम्॥

"मातः, भैरवि, भद्रकालि, विजये, वाराहि, विश्वाश्रये, श्रीविद्ये, समये, महेशि, बगले, कामेश्वरि, रामे, रामे, मातङ्गि, त्रिपुरे, परात्परतरे, स्वर्ग और अपवर्ग देनेवाली, मैं दास शरणागत हूँ। विश्वेश्वरि ! मेरी रक्षा करो"

इसमें सभी महाविद्याओं को एक कहकर बगला को उनसे अभिन्न कहा गया है।

बगलाशतनाम के कुछ श्लोकों से इनका ब्रह्मरूप और भी स्पष्ट हो जाता है—

बगला विष्णुवनिता विष्णुशंकरभामिनी।
बहुला वेदमाता च महाविष्णुप्रसूरपि॥
महामत्स्या महाकूर्मा महावाराहरूपिणी।
नरसिंहप्रिया रम्या वामना वटुरूपिणी॥
जामदग्न्यस्वरूपा च रामा रामप्रपूजिता।
कृष्णा कपर्दिनी कृत्या कलहा कलकारिणी॥
बुद्धिरूपा बुद्धभार्या बौद्धपाखण्डखण्डिनी।
कल्किरूपा कलिहरा कलिदुर्गतिनाशिनी॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशा कोटिकन्दर्पमोहिनी।
केवला कठिना काली कला कैवल्यदायिनी॥इत्यादि।

"बगला, विष्णुवनिता (लक्ष्मी), विष्णुभामिनी (सरस्वती), शङ्करभामिनी (पार्वती) बहुला, वेदमाता (सावित्री), महाविष्णु को जन्म देनेवाली (परामहाशक्ति) महामत्स्यरूपा महाकूर्मरूपिणी, महावाराहरूपधारिणी, नरसिंह की शक्ति, रम्या, वामनरूपा, वटुरूपा, परशुरामस्वरूपा, रामरूपा, राम से पूजिता, कृष्णा, कपर्दिनी, कृत्या, कलहा कल्याणमयी, बुद्धिरूपा, बुद्धशक्ति, बौद्धों के पाखण्ड का नाश करनेवाली, कल्किरूपा, कलिहरा, कलि की दुर्गति का नाश करनेवाली, कोटि सूर्य-जैसी, कोटि कन्दर्प को मोह लेनेवाली, केवला, कठिना, काली, कला (सृष्टिरूपा) कैवल्य देनेवाली, इत्यादि।

इससे महाशक्ति का विश्वव्यापक रूप स्पष्ट है।

भुवनेश्वरी

ब्रह्ममयी महामाया का एक स्वरूप भुवनेश्वरी है। इनके रूप का वर्णन इस प्रकार है—

उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्॥

"प्रातःकालीन दिन की तरह (रक्त) प्रभावाली, चन्द्रमुकुट, पुष्ट स्तन, तीन नयन और मन्द मुसकानवाला मुख (हाथों में) पाश, अङ्कुश, वरद और अभय युक्त भुवनेश्वरी का मैं ध्यान करता हूँ।"

यह त्रिपुरा का सरल रूप है। रक्त प्रभा विमर्श है। माथे पर चन्द्रमा (सोम), ब्रह्मानन्द के अमृत का प्रतीक है। यह ब्रह्मानन्द ही वेदों का सोमरस है। तुङ्ग कुच जगन्माता के भरण-पोषण की योग्यता का प्रतीक है। ये ज्ञान और कर्म के सोमरस से भरे दो अमृतघट हैं, जो जगत् को जीवन प्रदान करते हैं। यह इनका जगन्मातृत्व है। तीन नेत्र, ज्ञान, इच्छा, क्रिया और इन्द्वर्कवह्नि हैं। मन्दस्मित इसका आनन्दमय स्वरूप है। अङ्कुश और पाश का विस्तृत विवरण गणेश और त्रिपुरा-प्रकरणों में हो चुका है।

भुवनेश्वरी-स्तोत्र के आरम्भिक श्लोकों से इनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—

अथानन्दमयीं साक्षाच्छब्दब्रह्मस्वरूपिणीम्।
ईडे सकलसम्पत्त्यै जगत्कारणमम्बिकाम्॥
विद्यामशेषजननीमरविन्दयोने—
र्विष्णोः शिवस्य च वपुः प्रतिपादयित्रीम्।
सृष्टिस्थितिक्षयकरीं जगतां त्रयाणां
स्तुत्वा गिरं विमलयाम्यहमम्बिके त्वाम्॥

"सकल सम्पत्ति (की प्राप्ति) के लिये, आनन्दमयी, जगत्कारण, परमब्रह्म के प्रत्यक्ष रूप अम्बिका की मैं उपासना करता हूँ।"

पद्मयोनि ब्रह्मा, विष्णु और शिव की आदि जननी और उनके शरीरों का निर्माण करनेवाली, तीनों जगत् की सृष्टि, स्थिति और क्षय करनेवाली विद्या (ब्रह्मस्वरूपिणी) अम्बिके! तुम्हारी स्तुति करके मैं वाणी पवित्र करता हूँ।"

'अशेष जननी विद्या' से अशेष कारण ब्रह्म का निर्देश किया गया है। इसी भाव को फिर 'जगत्कारण' में दुहराया गया है।

भैरवी

घोर कर्म के लिये महाविद्या को घोर रूप और क्रिया की आवश्यकता होती है और शान्त कर्म के लिये शान्तस्वरूप और शान्तिप्रद क्रिया की। महाशक्ति का भैरवी रूप, जप-तप ज्ञान-ध्यानादि शान्त कर्मों में सिद्धिप्रद है।

इनके ध्यान से यह स्पष्ट हो जाता है—

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वराम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम्॥

"सहस्रों बालसूर्य के समान अरुण कान्तिवाली, अरुणवस्त्रवाली, मुण्डमालायुक्त, रक्त से लिप्त स्तनोंवाली, जपमाला, पुस्तक (विद्या) अभय और वरद युक्त हाथोंवाली, त्रिनेत्र से सुशोभित मुखकमलवाली, 'रत्न' की तरह मुकुट में लगे हुए चन्द्रवाली, मुस्कुराती हुई देवी की मैं वन्दना करता हूँ।"

देवी का अरुणवर्ण उसका साकार रूप विमर्श है। मुण्डमाला वाक् अर्थात् वर्णमाला है। रक्तलिप्त पयोधर सृष्टि और स्थिति है। रक्त, रजोगुण अर्थात् सृष्टि-क्रिया है और

स्तन, पालन-पोषण करनेवाला सत्त्वगुणात्मक स्थिति है। जपवटिका वाक् का मोक्षदायक दूसरा रूप है। ब्रह्मज्ञान का प्रतीक पुस्तक (विद्या) है। त्रिशक्ति (ज्ञानेच्छाक्रिया) और त्रिज्योति (इन्द्वर्कवह्नि) त्रिनेत्र हैं। मुकुट का चन्द्र, वेदों का सोम, आनन्द और अमृतत्व है। मन्दस्मित, शाक्तों और शैवों की इच्छा-क्रिया, वेदान्त का आनन्द और बौद्धों की करुणा है।

भैरवी के स्तुतिवाक्यों से भी इनका अभीष्ट रूप स्पष्ट होता है—

ब्रह्मादयः स्तुतिशतैरपि सूक्ष्मरूपां
जानन्ति नैव जगदादिमनादिमूर्तिम्।
तस्माद्वयं कुचनतां नवकुंकुमाभां
स्थूलां स्तुमः सकलवाङ्मयमातृभूताम्॥
स्थूलां वदन्ति मुनयः श्रुतयो गृणन्ति
सूक्ष्मां वदन्ति वचसामधिवासमन्ये।
त्वां मूलमाहुरपरे जगतां भवानि
मन्यामहे वयमपारकृपाम्बुराशिम्॥

"जगत् के आदि और जिनकी मूर्ति के आदि का कोई पता नहीं है, उस सूक्ष्म रूपवाली देवी को ब्रह्मादि असंख्य स्तुतिवाक्यों से भी नहीं जान सकते। इसलिये सकल वाङ्मय की जननी के, स्तनों से झुके हुए और नवकुंकुम-जैसे वर्णवाले स्थूल रूप की हम स्तुति करते हैं।"

"वेद और मुनि देवी के स्थूल रूप का वर्णन करते हैं, कुछ लोग कहते हैं कि इनका सूक्ष्म रूप वाक् का आधार है और भवानि! कुछ लोग तुम्हें जगत् का मूल मानते हैं, किन्तु हमलोग तुम्हें करुणासागर[1] के रूप में देखते हैं।"

इससे ब्रह्म के भैरवी रूप का यथार्थ रूप स्पष्ट हो जाता है।

मातङ्गी

मातङ्गी महाविद्या का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अथ मातङ्गिनीं वक्ष्ये क्रूरभूतभयङ्करीम्।
पुरा कदम्बविपिने नानावृक्षसमाकुले॥
वश्यार्थं सर्वभूतानां मतङ्गो नामतो मुनिः।
शतवर्षसहस्राणि तपोऽतप्यत सन्ततम्॥
तत्र तेजः समुत्पन्नं सुन्दरीनेत्रतः शुभे।
तेजोराशिरभूत्तत्र स्वयं श्रीकालिकाम्बिका।
श्यामलं रूपमास्थाय राजमातङ्गिनी भवेत्॥[2]

१. यही बौद्धों का भी करुणातत्त्व है। 'शून्यतैव करुणा'

२. प्राणतोषणी। कलकत्ता। बंगाब्द। पृ० ३८२।

"अब मातङ्गिनी का वर्णन करूंगा। ये क्रूर भूत के लिये भयङ्करी हैं। पुराकाल में मतङ्ग नामक मुनि ने नाना वृक्ष से परिपूर्ण कदम्बवन में, सब जीवों को वश में करने के लिये, सैकड़ों-सहस्रों वर्षों तक निरन्तर तप किया। तब (त्रिपुर) सुन्दरी के नेत्रों से तेज उत्पन्न हुआ और वह तेजोराशि, स्वयं अम्बिका कालिका बन गई और श्यामल वर्ण धारण कर वे राजमातङ्गिनी बन गईं।"

'क्रूरभूतभयङ्करी' से महाविद्या के इस रूप का उद्देश्य प्रकट होता है। इससे यह भी स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जा त्रिपुरा और कालिका हैं, वही मातङ्गी हैं। ये एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम और रूप हैं। इस रूप की उपासना का उद्देश्य और फल इस प्रकार कहा गया है—

अथ वक्ष्ये महादेवीं मातङ्गीं सर्वसिद्धिदाम्।
अस्याः सेवनमात्रेण वाक्सिद्धिं लभते ध्रुवम्॥[1]

"अब सब सिद्धि देनेवाली महादेवी मातङ्गी का वर्णन करता हूँ। इनके सेवनमात्र से, वाक्सिद्धि, निश्चय मिलती है।"

इससे स्पष्ट है कि वाक्सिद्धि के लिये इनकी उपासना की जाती है।

मातङ्ग चाण्डाल का नाम है। बोध होता है कि चाण्डालकन्या के रूप में जगन्माता की उपासना होती है। मातङ्गी के साथ ही, उच्छिष्ट चाण्डालिनी-कल्प का विधान होने के कारण इस विचार की पुष्टि होती है। तन्त्रमत में, मनुष्यों में कोई भेद नहीं होने के कारण, इस रूप में भी आद्या की उपासना स्वाभाविक है।

मातङ्गी के स्थूल रूप का विवरण इस प्रकार है—

श्यामाङ्गीं शशिशेखरां त्रिनयनां रत्नसिंहासनस्थिताम्।
वेदैर्बाहुदण्डैरसिखेटकपाशाङ्कुशधराम्॥

श्यामवर्ण, माथे पर चन्द्रमा, त्रिनयन, रत्नसिंहासनस्थ, चार हाथों में दण्ड, कृपाण, पाश और अंकुश।

इन सभी प्रतीकों का स्पष्टीकरण इससे पूर्व हो चुका है।

कमला

इस महाविद्या का नाम कमला, कमलात्मिका और लक्ष्मीविद्या भी है। इनका प्रसिद्ध ध्यान इस प्रकार है—

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बललितां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥

1. पुरश्चर्यार्णव। बनारस। १९०४ : पृ० ८२७।

"कान्ति में सोने-जैसी, हिमालय अथवा दिग्गज-जैसे चार हाथी सूँड़ में चार सोने का अमृतघट लेकर सिञ्चन करते हुए, दो हाथों में कमल और दो में अभय-वरद मुद्रायुक्त, किरीट से जगमग करती हुई, कमर में कसा हुआ क्षौमवस्त्रयुक्त और कमल पर स्थित श्री की मैं वन्दना करता हूँ।"

स्वर्ण वर्ण, दिग्गज-जैसे विशालकाय हाथी, अमृत से पूर्ण स्वर्णघट से सिञ्चन, जगमगाता हुआ किरीट, उत्तम वस्त्र इत्यादि मत्त वैभव की कल्पना है। कमलासन और हाथों में कमल से सारी सृष्टि में सर्वव्यापित्व का संकेत हैं।

× × × × × ×

आद्या (काली), द्वितीया (तारा) और तृतीया (त्रिपुरा, ललिताम्बा वा श्रीविद्या) के रूप में, महाशक्ति की उपासना-पद्धति में मोक्ष प्रधान, और भोग गौण उद्देश्य है। इसमें भोग, मोक्ष-सम्पादन का उपादान-मात्र बनकर रह जाता है और धीरे-धीरे (कभी-कभी हठात् भी) भोगलालसा दुर्बल बनकर लुप्तप्राय हो जाती है और केवल शरीरधर्म के रूप में बनी रहती है। अन्यान्य रूपों की साधना, साधक चाहे तो मोक्ष के लिये भी कर सकता है; क्योंकि यह सर्वथा सम्भव ही नहीं, स्वाभाविक भी है। किन्तु इनकी उपासना, प्रायः मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, धन-प्राप्ति, भविष्य-कथन इत्यादि क्षुद्र सिद्धियों के लिये किया जाता है। इन लालसाओं की सिद्धि, उपदेष्टा और साधक की योग्यता पर आश्रित है।

क्षुद्र सिद्धियों के लिये, देव-देवी, यक्ष-रक्ष भूत-प्रेत आदि शक्ति के असंख्य क्षुद्र-रूप हैं। भोग-लिप्सा की तृप्ति के लिये लोग इनका प्रयोग करते हैं। इनकी संख्या और रूप का निश्चय करना कठिन है। भारतीय साधना-ग्रन्थ और विशेष कर तन्त्र और पुराण इनसे भरे पड़े हैं। साधक, एक ही रूप का, मोक्ष-प्राप्ति और घोर-कर्म, दोनों के लिये प्रयोग कर सकता है। तदनुसार, इनके अनेक रूप, अनेक ध्यान, अनेक मंत्र और अनेक प्रकार की साधनाएँ होती हैं और रूप-निर्णय की जटिलताएँ बढ़ती जाती हैं। मालूम होता है कि इसी जटिलता पर विचार कर मनीषियों ने कहा है कि हिन्दू देव-देवियों की संख्या तैंतीस करोड़ है। यदि इनकी संख्या तैंतीस करोड़ है तो बौद्ध देव-देवियों की संख्या ६६ करोड़ और जैन देवताओं की इनसे भी अधिक, अर्थात् ६८।७० करोड़ अवश्य होगी। अन्तर्गत सिद्धान्त एक रहने के कारण उपासना के विचार से, इनके रूपों में विभिन्नता रहने पर भी, साधना-प्रणाली में कोई अन्तर नहीं आता।

जैसे, काली के नौ भेद कहे गये हैं—

> कालो नवविधा प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
> आद्या दक्षिणकाली च भद्रकाली तथा परा॥
> अन्या श्मशानकाली च कालकाली चतुर्थिका।
> पञ्चमी गुह्यकाली च पूर्वं या कथिता मया॥
> षष्ठी कामकलाकाली सप्तमी धनकालिका।
> अष्टमी सिद्धिकाली च नवमी चण्डकालिका॥[1]

---

१. पुरश्चर्यार्णव। बनारस। १६०१। पृ० १७।

अर्थात् काली के इतने भेद हैं—दक्षिणकाली, भद्रकाली, श्मशानकाली, कालकाली, गुह्य-काली, कामकलाकाला, धनकालिका, सिद्धिकाली और चण्डकाली।

इतना ही नहीं—

एवमन्यासां भेदा ग्रन्थान्तरेभ्योऽवगन्तव्याः।[१]

"इस प्रकार औरों के भेद दूसरे ग्रन्थों से जानना चाहिये।"

इस प्रकार गणेश के हेरम्ब, चौरगणेश, हरिद्रागणेश, उच्छिष्ट गणपति आदि अनेक भेद कहे गये हैं। तारा के आठ, वटुक के आठ, त्रिपुरा के बालात्रिपुरा त्रिपुरासुन्दरी त्रिपुराभैरवी आदि नाना भेद हैं।

किसी विशेष कार्य की सिद्धि के लिये इन रूपों की कल्पना की जाती है। इसलिये ये रूप-भेद निमित्त पर आश्रित हैं, किन्तु सबके अन्तर्गत विभु एक है।

नटेश्वरी

शिव और शिवा में कोई भेद नहीं है। ये एक के, सक्रिय और निष्क्रिय रूप में, दो नाम हैं। इसलिये एक की लीला दोनों की लीला है।

नृत्य के दो भेद हैं—उद्धत और मृदु। उद्धत नृत्य का नाम ताण्डव है और इसके आदि प्रवर्त्तक शिव हैं। यह भाव, गेय और ताल के साथ पुरुषों द्वारा किया जाता है। इसके अनेक भेदों की चर्चा, नटराज के नृत्य के सम्बन्ध में हो चुकी है, मृदु नृत्य का नाम लास्य है। इसकी आदिप्रवर्तिका पार्वती हैं। यह भाव गान और ताल के साथ स्त्रियों द्वारा किया जाता है। इसके दो भेद हैं क्षुरित और यौवत, और इसके दश अङ्ग हैं—गेयपद, स्थितपाठ, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ सैन्धवाख्य, त्रिगूढ, उत्तमोत्तम और उक्त-प्रयुक्त।

ताल, नृत्य का प्रधान आधार है। कहा जाता है कि, इसका 'ता' ताण्डव से और 'ल' लास्य से लिया गया है। तात्पर्य यह है कि ताण्डव और लास्य, अर्थात् सब प्रकार के नृत्यों का प्राण ताल है।

शिव की तरह देवी के नृत्य प्रसिद्ध और स्वाभाविक हैं।

मातङ्गीशतनाम में मातङ्गी को 'महोल्लासिनी लास्यलीलानताङ्गी, अर्थात् महा-आनन्दस्वरूपा और लास्य-नर्तन में झुके हुए अङ्गोंवाली कहा है।

धूमावती हैं—

नटनायकसंसेव्या नर्तकी नर्तकप्रिया।
नाट्यविद्या नाट्यकर्त्री नादिनी नादकारिणी॥

छिन्नमस्ता हैं—

नृत्यप्रिया नृत्यवता नृत्यगीतपरायणा।
नृत्येश्वरी नर्तकी च नृत्यरूपा निराश्रया॥

---

१. तत्रैव।

त्रिपुरा का एक नाम नटेश्वरी है। इसपर भाष्य इस प्रकार है—

नटेश्वरस्य चिदम्बरनटस्येयं तदनुकारिणी। यदाहुरभियुक्ताः—

जंघाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः॥

"नटेश्वर चिदम्बर के अनुकरण में (ये नटेश्वरी) हैं। आदरणीय पुरुषों ने कहा है—

"अपने स्वामी के नृत्य के अनुकरण में उठे हुए, कमल की तरह सुन्दर भवानी के चरण की जय हो। यह कमल अपने शरीर के स्वच्छ लावण्य की वापी में उत्पन्न हुआ है। जंघा इस कमल का काण्ड है और उरु नाल है। नख से छिटकती हुई किरणें केसर हैं। तुरत लगे हुए अलक्तक की प्रभा नूतन पत्र हैं और बजते हुए नूपुर भौंरे हैं।"

चिदम्बर में नटराज का मन्दिर और मूर्ति, विश्वव्यापी महानृत्य का स्थूल अनुकरणमात्र है। चित्-अम्बर का अर्थ है चेतना का अवकाश और पिण्डरूप में यह मानव-हृदय की चेतना है, जहाँ विभु का नृत्य होता रहता है। जहाँ शिव हैं, वहाँ शिवा हैं और जहाँ शिव का नृत्य है, वहीं शिवा का भी नृत्य है, अर्थात् शिव-शिवा का नृत्य एक वस्तु है।

त्रिपुरा का एक नाम 'महाताण्डवसाक्षिणी' है[1]। इस पर सौभाग्यभास्करभाष्य इस प्रकार है—

महाकल्पे महाप्रलये यन्महेश्वरस्य महाताण्डवं विश्वोपसंहारावृत्तमेकशेषसमुद्भूतानन्दकृतं तत्कालेऽन्यस्य कस्याप्यभावादियमेव साक्षिणी। तदुक्तं पञ्चदशीस्तवे—

कल्पोपसंहरणकल्पिततताण्डवस्य
देवस्य खण्डपरशोः परभैरवस्य।
पाशाङ्कुशैक्षवशरासनपुष्पबाणा
सा साक्षिणी विजयते तव मूर्तिरेका॥ इति।

एषा संहृत्य सकलं विश्वं क्रीडति संक्षये।
लिङ्गानि सर्वजीवानां स्वशरीरे निवेश्य च॥ इति देवीभागवते।[2]

महावासिष्ठेऽपि निर्वाणप्रकरणोत्तरार्द्धे एकाशीतितमे सर्गे शताधिकैः श्लोकैरद्भुतमतिभयंकरं नृत्यमुभयोर्निर्वर्ण्योपसंहृतम्—

डिम्बं डिम्बं सुडिम्बं पच पच सहसा झम्यझम्यं प्रझम्यं
नृत्यन्त्याः शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरः शेखरं तार्क्ष्यपक्षैः।
पूर्णां रक्तासवानां यममहिषमहाश्रृङ्गमादाय पाणौ
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितया भैरवः कालरात्र्या॥ इति।[3]

१. ललितासहस्रनाम। श्लोक १०८।

२. लिङ्ग—गति, अस्तित्व। लिङ्ग और आत्मा का एक ही अर्थ है। लिगि गतौ—लिङ्गति गच्छति। अत् गतौ—अतति गच्छति।

३. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करव्याख्या। बम्बई। शाके १८५७। पृ० ७२।

"महाकल्प, अर्थात् महाप्रलयकाल में, महेश्वर का महाताण्डव, जो विश्व को समेटकर अकेला रहने के आनन्द से किया जाता है, उस समय दूसरे किसी के नहीं रहने के कारण, यही देवी साक्षिणी रहती है।" यही पञ्चदशी स्तव में कहा है—

"देव, खण्डपरशु, पर भैरव, सृष्टि को समेटने के लिये ताण्डव नृत्य करते हैं, उस समय पाश, अङ्कुश, इक्षुधनुष और बाणवाली तुम्हारी वह एक मूर्ति साक्षिणीरूप से बनी रहती है।"

प्रलयकाल में यह सारे विश्व और सभी जीवों की गति (लिङ्ग) को समेटकर और अपने शरीर में रखकर खेलती रहती है। ऐसा देवीभागवत में है।

महावासिष्ठ में भी निर्वाण-प्रकरण के उत्तरार्ध में एकाशीतितम (८१) सर्ग में, सौ से भी अधिक श्लोकों में, दोनों (भैरव-भैरवी) के अतिभयंकर नृत्य का वर्णन करके, इसका उपसंहार इस प्रकार किया है—

गरुड़पक्ष का मुकुट और हृदय पर मुण्डमाला धारण कर, नाचती हुई देवी के बाजों के शब्द से, सहसा डिम् डिम् डिम्, पच पच, झम् झम् झम् शब्द होता है। रक्त और आसव से पूर्ण यमराज के महामहिष के शृङ्ग को हाथ में लेकर, प्रलय के कारण प्रसन्न, कालरात्रि के साथ नृत्य करते हुए वन्द्यमान भैरव रक्षा करें।"

इसका सारांश यह हुआ कि सृष्टिकाल में शिवशिवा परस्पर साक्षी बनकर नृत्य करते हैं, अर्थात् जब शिव नृत्य करते हैं, तब शिवा साक्षिणी रहती है और जब शिवा नृत्य करती है, तब शिव साक्षी रहते हैं, किन्तु प्रलयकाल में, परभैरव सृष्टि को समेटकर आत्मसात् करते जाते हैं, और नाचते जाते हैं। अन्त में सब कुछ लेकर महाशक्ति में विलीन हो जाते हैं, और त्रिशक्ति (पाशांकुशादि) को आत्मसात् करके, केवल वह 'एका' अपना साक्षी आप बनकर, बनी रहती है।

इस नित्य नृत्य का एक और रूप है। निष्क्रिय ब्रह्म साक्षी रूप से जब आसन के नीचे (जैसे बगला और त्रिपुरा-विग्रह में) अथवा पैरों के नीचे (जैसे काली और तारा विग्रह में) पड़ा रहता है तो शक्ति, त्रिगुणात्मिका सृष्टि के रूप में नृत्य करती रहती है, और प्रलयकाल में सब कुछ समेटकर, साकार सृष्टि को निराकार में लीन कर, शिव के रूप में स्थिर हो जाती है। यही शिव-शिवा वा शक्ति-शिव अथवा केवल शक्तिमान् या शक्ति का नृत्य है। यह तन्त्र का कादिमत है। यह ब्रह्म का स्वभाव है। इसलिये नृत्य हो, रास हो, लास्य हो अथवा ताण्डव हो, यह विभु की नित्य लीला की कल्पना और उसका अनुकरण है। नटवर के आनन्द के स्फोट महारास में, पार्वती के कोमल लास्य में, नटराज के प्रचण्ड ताण्डव में और कालरात्रि के भयङ्कर नृत्य में, एक ही वस्तु के नाना रूप हैं। इसलिये महाशक्ति, स्वयं नर्तकी है, नर्तकप्रिया है, स्वयं नाट्यविद्या है, नृत्य इसको बड़ा प्यारा लगता है, यह नृत्यवती है, नृत्यगीत में निवास करती है (परायणा), नृत्येश्वरी है और सर्वोपरि नृत्यरूपा है, चाहे वह धूमावती के विकराल रूप में हो अथवा प्रचण्ड चण्डिका (छिन्ना) के भीषण-रम्य रूप में हो। यही कारण है कि नाट्याचार्य (नटनायक) कला में सिद्धि प्राप्त करने के लिये अभ्यास के आदि और अन्त नटेश-नटेशी की आराधना करते हैं। भक्तों के लिये यह मोक्षदायक आराधना का साधन है, ब्रह्मज्ञानियों के लिये यह निराकार का साकार रूप है, और विलासियों के विलास का प्रधान साधन है।

भारतीय संस्कार में नृत्य, तत्त्वज्ञान और ईशभक्ति का एक मनोहर और कलापूर्ण रूप और साधन है। उसे बारम्बार स्मरण करने के लिये, फूल, चन्दन, प्रतिमा, चित्र, शतनाम सहस्रनामादि का पाठ, कीर्तन आदि की तरह नृत्य भी उसकी आराधना का एक मुख्य उपादान है। इसलिये देव-देवियाँ, और उनके भक्त, सभी नाचते हैं, और श्रीचक्र की तरह विश्वनृत्य-रूप महानृत्य की लीला का संक्षिप्त रूप, अपने अन्तर में देवमन्दिरों में और समाज में प्रस्तुत करते हैं।

नृत्य के विषय में कालिदास ने भारतीय भावनाओं का जो रूप अङ्कित किया है, वह यथार्थ है। वे कहते हैं—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥

"मुनि कहते हैं कि (नृत्य) देवताओं का प्रत्यक्ष और शान्त यज्ञ है। रुद्र ने उमा से मिलकर इसे अपने अङ्ग में ही (ताण्डव और लास्य के रूप में) दो भागों में विभक्त कर दिया। इसमें त्रिगुण से उत्पन्न नाना रसवाले लोकचरित दिखाई पड़ते हैं। भिन्न रुचिवाले लोगों को, नाना प्रकार से प्रसन्न करनेवाला केवल एक नाट्य है।[1]

कुण्डलिनी

शाक्तप्रतीकों के सम्बन्ध में कुण्डलिनी का प्रसंग बारम्बार आया है। इसलिये इसका संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक है।

कुण्डल का अर्थ है घेरा, लपेट[2]। जिसकी लपेट के भीतर सारी सृष्टि है उसे कुण्डली या लपेटवाला कहते हैं। परब्रह्म कुण्डली है, जिसका लपेट में अथवा जिसके अन्तर्गत सारी सृष्टि है। पराशक्ति के लिये जब इस शब्द का व्यवहार होता है, तब इसे कुण्डलिनी[3] कहते हैं।

---

१. नटेश्वरी के नृत्य के विवरण के लिये परिशिष्ट में नियति-नृत्य और कालरात्रि-नृत्य का विवरण देखिये।

२. क. कुण्डलं कर्णभूषायां पाशेऽपि वलयेऽपि च। मेदिनी।
ख. कुण्डलिनी के विस्तृत विवरण के लिये षट्चक्रनिरूपण और सर जॉन वुडरफ का Serpent Power पढ़ना चाहिये।

३. सूक्ष्मरूपमपि सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमभेदात्त्रिविधं पञ्चदशीविद्या कामकलाक्षरं कुण्डलिनी च इति भेदात्। कामकलायां तूर्ध्वबिन्दुरेकस्तदधस्तिर्यग्बिन्दुद्वयं तदधः सार्धकलेति त्रयोऽवयवा गुरुमुखैकवेद्याः। त एव विद्याकूटतया स्थूलरूपमुखाद्यवयवात्मना च परिणता इति सूक्ष्मतरं कुण्डलिन्याख्यं सूक्ष्मतमं वररूपपरं नामद्वयं समष्टिभेदेनेति नाथचरणागमे विस्तरः। एवं ब्रह्माण्डान्तर्गतरूपमुक्त्वा पिण्डान्तर्गतं कुण्डलिनाख्यरूपं वक्तुमुपक्रमते। इत्यादि।

—ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करभाष्य। बम्बई। १९३५। पृ० ५२।

"(कुण्डलिनी के) सूक्ष्म रूप के भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम, ये तीन भेद होने के कारण, पञ्चदशी विद्या, कामकलाक्षर और कुण्डलिनी, ये तीन भेद होते हैं। कामकला में एक बिन्दु ऊपर, उसके नीचे दो बिन्दु आमने-सामने और उसके नीचे ऊर्ध्वकला, ये तीन अवयव हैं। इन्हें गुरुमुख से जानना चाहिये। वे विद्याकूट हैं। इसलिये उनके स्थूलरूप मुखादि अवयव बन जाते हैं और समष्टि-भेद से इसके दो नाम होते हैं। सूक्ष्मतर रूप का नाम कुण्डलिनी और सूक्ष्मतम का नाम वररूपपर होता है। नाथचरणागम में विस्तार से इसका वर्णन किया गया है। इस प्रकार ब्रह्माण्डान्तर्गत रूप को कहकर पिण्डान्तर्गत कुण्डलिनी नामक रूप को कहने का उपक्रम किया जाता है। इत्यादि।

कुण्डली वा कुण्डलिनी के दो रूप हैं- ब्रह्माण्डान्तर्गत और पिण्डान्तर्गत। ब्रह्माण्ड में काम करनेवाले आकाश और ईश्वर की तरह अणु-अणु में परिव्याप्त विश्वशक्ति ब्रह्म है। पिण्ड अथवा छोटे-छोटे शरीरों के भीतर काम करते समय इसी का नाम कुण्डली वा कुण्डलिनी शक्ति हो जाता है। जैसे आकाश में फैला हुआ वायु विश्ववायु है। वही जब साँस के रूप में शरीर में काम करता है तो वह पिण्डवायु वा साँस कहलाता है। पराशक्ति भी इसी तरह शरीरों में काम करते समय पिण्ड कुण्डलिनी बन जाती है।

विश्व के रूप में जिस प्रकार ब्रह्म का निष्क्रिय और सक्रिय रूप काम करता है, उसी प्रकार उसका सक्रिय और निष्क्रिय रूप पिण्ड में भी काम करता है। इसका चंचल अथवा सक्रिय रूप कुलकुण्डलिनी अथवा कुण्डलिनी शक्ति है, जिसकी क्रियाओं का आधार अथवा निवास मूलाधार चक्र है। इसी का दूसरा नाम कुल है। निश्चल शिव की स्थिति सहस्रार में है। इसका दूसरा नाम अकुल है। शक्ति कुल से अकुल की ओर और अकुल से कुल की ओर अर्थात् मूलाधार से सहस्रार की ओर और सहस्रार से मूलाधार की ओर आती-जाती रहती है और सारे शरीर में प्राणशक्ति भरकर इसे क्रियाशील बनाती रहती है। इस क्रिया का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

अकुलकुलमयन्ती चक्रमध्ये स्फुरन्ती
मधुरमधु पिबन्ती साधकान् तोषयन्ती।
दुरितमपहरन्ती कंटकान् चर्वयन्ती
जयति जय ब्रुवन्ती सुंदरी क्रीडयंती ॥[1]

"अकुल और कुल के बीच आती-जाती हुई, चक्रों के बीच स्पन्दन उत्पन्न करती हुई, मधुर मधु को पीती हुई, साधकों को संतुष्ट करती हुई, पाप का अपहरण करती हुई, काँटों (विघ्नों) को चबाती हुई और जयति-जय बोलती हुई कुण्डलिनी (सुन्दरी) खेलती रहती है।"

पिण्ड में काम करने के लिये शरीर में शक्ति के छः केन्द्र हैं। इन्हें चक्र कहते हैं। इनकी स्थिति मेरुदण्ड के भीतर है। जहाँ-जहाँ चक्र हैं, वहाँ मेरुदण्ड के बाहर, उन चक्रों के सामने नसों (nerves) के गुच्छे हैं, जिन्हें आजकल के यूरोपीय पद्धति के चिकित्सक प्लेक्सस (plexus) कहते हैं। शक्ति, केन्द्र (चक्र) से निकलकर इन गुच्छों में प्रवेश कर शारीरिक क्रियाओं का संचालन करती है। इनकी स्थिति बिजली की बैटरी और धातु के तारों की तरह है। ये केन्द्रस्थान वा चक्र बैटरी की तरह और ये नसों के गुच्छे तारों के जाल की तरह हैं। अन्तर इतना ही है ये चक्र शुद्ध चेतनामय हैं और बैटरियाँ निर्जीव हैं।

सृष्टि का प्रतीक पद्म है और इन चक्रों की आकृति भी कमल के फूलों-जैसी कही जाती है। इनमें शक्ति भरी रहती है। इनके पत्रों की संख्या पचास है और प्रत्येक पत्र से, स्पन्दन के कारण, भिन्न प्रकार की ध्वनि निकलती है जिसे बीज वा मातृकावर्ण कहते हैं। इनकी संख्या भी पचास है। कण्ठकूप के सामने रीढ़ के भीतर विशुद्ध चक्र है, जिसमें सोलह दल हैं। इसके प्रत्येक दल से एक-एक स्वर की ध्वनि निकलती रहती है। मूलाधार में

१. आनन्दस्तोत्रम्। श्लोक २५।

त्रिकोण के भीतर स्वयम्भूलिङ्ग है[1]। यह जलावर्त की तरह है, जिसका खोखला मुंह नीचे की ओर और रन्ध्र ऊपर की ओर चला गया है। इस पर अपने साढ़े तीन लपेट से इसके मुंह को ढांप कर कुण्डलिनी शक्ति पड़ी हुई है। यह आठ शूलों से घिरी हुई चतुष्कोण धरातत्त्व पर पड़ी हुई है। यह विश्व में शक्ति के त्रिगुण की लपेट का संक्षिप्त रूप है। आधी लपेट तुरीय का रूप अर्धमात्रा है। साधक, यौगिक और तान्त्रिक क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जगाते हैं।[2]

यह रीढ़ के भीतर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा सभी चक्रों से होती हुई अकुल अर्थात् सहस्रार में पहुँचती है और आनन्द की धारा बहा देती है।[3] प्रत्यक्ष जगत् से सागर और तरंग का उदाहरण लिया जा सकता है। अनन्त सागर अपनी स्थिरता में पड़ा हुआ है। लहर उठती है और अपना काम कर जब सागर में मिल जाती है तो सागर के आनन्दमय होने के कारण आनन्द में विभोर हो जाती है। यह आनन्दप्रवाह सुधा की धारा है।

तन्त्र में सिद्धि की प्रधान क्रिया कुण्डलिनी का उत्थान है। यह पराशक्ति की प्रत्यक्ष साधना है। इसलिये योगी और तान्त्रिक सभी इसका समान रूप से उपयोग करते हैं। पराशक्ति को काली, तारा, त्रिपुरा, वाक् आदि के रूप में कुण्डलिनी कहा गया है।

कुण्डलिनी रूप में पराशक्ति के ही जीवशक्ति, प्राणशक्ति आदि नाम हैं—

या सा देवी पराशक्तिः प्राणवाहा व्यवस्थिता ।।
विश्वान्तः कुण्डलाकारा सा साक्षादत्रवर्तिता ।
तत्त्वानि तत्त्वदेव्यश्च विश्वमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ।।[4]

"वही देवी पराशक्ति प्राणप्रवाह के रूप में व्यवस्थित है। विश्व के भीतर कुण्डलाकार में वह प्रत्यक्षरूप में वर्तमान है। सभी तत्त्व और तत्त्व की देवियाँ इसी विश्व में स्थित हैं।"

१. यंत्र को स्मरण कीजिये। स्वयम्भूलिङ्ग बिन्दु है, त्रिकोण त्रिशक्ति है (त्रि) वृत्त (त्रि) गुणात्मिका प्रकृति है। अष्टशूल अष्टभिन्नाप्रकृति है और चतुष्कोण स्थितितत्त्व (भूतत्त्व) है।

२. इसी को तांत्रिक मन्त्रचैतन्य और वेदान्ती आत्मबोध कहते हैं।

३. महीं मूलाधारेकमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सहरहसि पत्या विहरसि ॥
सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपचं सिंचन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी ॥
सौन्दर्यलहरी। श्लोक ६, १०।

४, तन्त्रालोक। श्रीनगर। Vol XII. 1939. आह्निक ३०। श्लोक ४३, ४४।

तन्त्रराज में इसके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है—

मूलाधारस्थवह्न्यात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता ।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी ॥
प्रसुप्तभुजगाकारा त्रिरावृत्ता महाद्युतिः ।
मायाशीर्षा नदन्ती तामुदरत्यनिशं खगे ॥
सुषुम्णामध्यदेशे सा यदा कर्णद्वयस्य तु ।
पिधाय न शृणोत्येनं ध्वनिं तस्य तदा मृतिः ॥[1]

"मूलाधार में आत्मतेज की आग है। उसी का नाम है जीवशक्ति, कुण्डल, प्राणरूप और तैजसी। सोये हुए साँप की तरह वह तीन बार लिपटी है और महाप्रकाशवाली है। माया उसका शिर है। दिन-रात सुषुम्णा के भीतर शून्य में शब्द करती रहती है। दोनों कान बन्द कर लेने पर यदि उसकी ध्वनि न सुनाई पड़े तो उस मनुष्य की उसी क्षण मृत्यु हो जायगी।"

यह कुण्डलिनी नामक प्राणशक्ति शरीर के प्रत्येक अणु में परिव्याप्त है—

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम् ।
यथा तथैव गात्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम् ॥[2]

"फूल में जिस प्रकार गन्ध, तिल में तेल, देह में जीव और जल में अमृत है उसी प्रकार शरीरों में कुल है।"

यह अकुल, अर्थात् निष्क्रिय तथा प्रकाशस्वरूप शिव की कुल, अर्थात् सक्रिय तथा विमर्श स्वरूप शक्ति है। इसलिये त्रिपुरा, छिन्नमस्ता आदि की तरह इसे विद्युत्कोटि प्रभावाली और कभी रक्तवर्णवाली कहा गया है। कुण्डलिनी का ध्यान इस प्रकार है—

रक्ताम्भोधिस्थपोतोल्लसदरुणसरोजाधिरूढा कराब्जैः
पाशं कोदण्डमिक्षूद्भवगुणमथ चाप्यंकुशं पञ्चबाणान् ।
बिभ्राणासृक्कपालं त्रिनयनलसिता पीनवक्षोरुहाढ्या
देवी बालार्कवर्णा भवतु सुखकरी प्राणशक्तिः परा नः ॥

"लाल सागर पर उतराते हुए लाल कमल पर बैठी हुई, करकमलों में पाश, इक्षु की डोरीवाला धनुष, अंकुश और पाँच बाण, रक्त और कपाल लिये हुए, तीन नेत्र, पुष्ट स्तन और बाल सूर्य की तरह वर्णवाली परा, प्राणशक्ति हमारे लिये सुखदा हों।"

स्पष्ट है कि लाल रंग विमर्श, अर्थात् निराकार ब्रह्म का साकार रूप है। कुण्डलिनी के रूप और तत्त्व तथा महाविद्याओं के रूप और तत्त्व में कोई भेद नहीं है।

जैन प्रतीक

पशु-हत्या से सम्पर्क रखनेवाले वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी जैन और बौद्धमत हैं। ऐसा अनुमान होता है कि इस प्रकार के यज्ञों के विरोध करनेवाले बहुत-से लोग या लघु संप्रदाय होंगे, जिनका प्रथम सुसंघटित रूप जैनमत के रूप में प्रकट हुआ।[3]

---

१. ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करभाष्य। बम्बई। १९३५। पृ० ५५ में उद्धृत।
२. तत्रैव। आह्निक ३५। श्लोक ३४।
३. यह वेद प्रकरण में अधिक स्पष्ट होगा।

तर्कविद्या के शास्त्रानुसार सनातनियों के विचार छः प्रकार के हैं। ये षड्दर्शन हैं। अपने-अपने तर्कों के अनुसार जैनों और बौद्धों के भी अपने दार्शनिक सिद्धान्त हैं, जो षड्दर्शन के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। तर्क के लिये ये अपने-अपने स्थानों पर खम ठोक कर डटे हैं और अपने विचार से सभी ठीक हैं, किन्तु आत्मबोध की साधनाओं में सभी एकाकार हो जाते हैं और तत्त्वार्थ में केवल नाम का भेद रहने के कारण, प्रतीकों के रूपनिर्माण में इनका भेद मिट जाता है, और वैदिक जैन तथा बौद्ध प्रतीक एक-से बन जाते हैं।

सांख्य की तरह जैन दर्शन भी एक ईश्वर को नहीं मानता। किन्तु यह एक अनादि और अनन्त तत्त्व को मानता है, जिसे यह 'द्रव्य' कहता है। इसे ही 'केवलतत्त्व' और "अर्हन्" कहते हैं। यह वेदों के 'एक' और "बृहद्दतं सत्यम्" वेदान्त का कूटस्थ ब्रह्म, शैवों का शिवतत्त्व, शाक्तों का परम शिव और पराशक्ति, और बौद्धों की 'शून्यता' और 'वज्र' है। प्रतीक निर्माण में इस तत्त्व के आधार पर, कल्पना खेल दिखलाने लगती है और साधक उन रूपों को अपनी साधना द्वारा प्रत्यक्ष कर, भोग और मोक्ष प्राप्त करता है।

ये जीव को चेतन और उसके बन्ध-मोक्ष के सिद्धान्तों को और दर्शनों की तरह मानते हैं। इसलिये इनकी आध्यात्मिक साधनाओं में औरों से कोई अन्तर नहीं होता।

जिन शब्द, जि (जयति) धातु में नक् प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका अर्थ है विजयी अर्थात् जिसने काम-क्रोधादि विषय-वासनाओं को जीत लिया है। यही कार्य, शाक्त अन्तर्योग में बलि द्वारा और बौद्ध वैष्णवादि अष्टाङ्ग योग द्वारा, करते हैं। जैन साधनाओं में अष्टाङ्ग योग को साङ्गोपाङ्ग अपना लिया गया है। शाक्तों के वीर और जैनों के महावीर अर्थात् महाविजयी की भावना में कोई अन्तर नहीं है।

कोषकारों ने बुद्ध, शङ्कर और जिनेन्द्र का नाम सर्वज्ञ कहा है, इनमें कोई भेद नहीं रहने दिया।

सर्वज्ञस्तु जिनेन्द्रे स्यात्सुगते शङ्करेऽपि च।[1]

"जिनेन्द्र, सुगत (बुद्ध) और शङ्कर के लिये सर्वज्ञ का प्रयोग होता है।"

जैनमत में चौबीस तीर्थङ्कर हैं। ये ब्रह्मभूत महापुरुष हैं। इन्होंने मनुष्य रूप में माता-पिता से जन्म ग्रहण किया और तपश्चर्या द्वारा जिनत्व प्राप्त किया।[2]

तीर्थङ्कर शब्द के अर्थ अनेक प्रकार से किये जाते हैं।[3] १ जो संसार-सागर से पार होने के उपाय का निर्माण करें। २. तीर्थ अर्थात् धर्म का जो स्वरूप निर्णय करें। ३. तीर्थ अर्थात् धर्म का यथार्थ स्वरूप जिनके करतल में है। सारांश यह है कि जो समर्थ ब्रह्मभूत

---

१. अमरकोष। व्याख्यासुधाव्याख्या।। बम्बई। शाके १८५०। पृ० ७।

२. ऋग्वेद के ऋभुगणों से इस मनुष्यत्व से देवत्व की प्रक्रिया का निकट सम्बन्ध है। यह वेदप्रकरण में स्पष्ट किया जायगा।

३. क. येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम्।

ख. तीर्थं धर्मं करोति इति तीर्थंङ्करः। स्वतीर्था (?) नामादिकर्त्तारः तीर्थङ्कराः।

ग. तरन्ति येन संसारसागरमिति तीर्थं प्रवचनं तद्व्यतिरेकादेहसंघस्तीर्थं तत्करणशीलत्वात् तीर्थङ्कराः।

—Jain Iconography. B. C. Bhattacharya. Lahore. 1939. Page 16.

महापुरुष दूसरों को भी मार्ग दिखला कर संसार सागर के पार लगा दें, उन्हें तीर्थङ्कर कहते हैं।

जैन, अवतारों को नहीं मानते। सनातनियों के अवतार की तरह उनके तीर्थङ्कर ही भवाम्बुधिमग्न जीवों का उद्धार करते हैं।

जैनों ने भी वैशेषिक और न्याय की तरह, धर्म को, उत्थान की ओर प्रेरित कर उन्नति को बनाये रखनेवाली शक्ति के रूप में ग्रहण किया है।[1] धर्म की इस भावना का, अत्यन्त व्यापक रूप में, भगवान् बुद्ध ने प्रचार किया। सारनाथ वाले अशोकस्तम्भ के धर्मचक्र के २४ अरों में २४ तीर्थङ्करों की भी भावना है। यह एक प्रकार से सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाता है।

तीर्थङ्करों के विग्रह में हृदय पर श्रीवत्स, अर्थात् चक्रचिह्न रहता है। यह धर्मचक्र है। इनके आसन के नीचे के सिंह और वृषभ, बुद्ध, दुर्गा और शिव के वृषभ और सिंह की तरह धारणधर्मा धर्म के प्रतीक हैं। इनकी प्रतिमाओं के पार्श्व में बुद्ध और छिन्नमस्ता की तरह दो शासन देवता (यक्ष अथवा गन्धर्व, देव या देवी के रूप में) रहते हैं। इन रूपों के अन्तर्गत-सिद्धान्त एक हैं। इनके विग्रह के साथ त्रिशूल और सभी विग्रहों के ऊपर त्रिछत्र हैं। ये त्रिशक्ति (ज्ञान, इच्छा क्रिया) के सिद्धान्त हैं, जो सभी भारतीय सम्प्रदायों में समान श्रद्धा से माने जाते हैं।

पाठशालाओं में विद्यार्थियों को सिखाया जाता है कि जैन और बौद्ध वेदानुयायी सनातनियों के कट्टर शत्रु और विरोधी हुए। किसी ने एक पंक्ति यह भी बना दी कि प्राणसंकट भी हो, तब भी प्राणरक्षा के लिये जैन मन्दिर में न जाय। किसने किस परिस्थिति में यह पंक्ति बनाई, यह कहना कठिन है। दार्शनिक सिद्धान्त के विचार से आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों में परस्पर जितना अन्तर है, इनका बौद्ध और जैन दर्शनों के सिद्धान्तों से भी उतना ही और वैसा ही अन्तर है, किन्तु आध्यात्मिक साधनाओं के सिद्धान्त और व्यवहार में सभी एक हैं। और इनके आधार पर बने हुए प्रतीकों में भी मूलतः कोई अन्तर नहीं है। जैन देव-देवियों के नाम से यह स्पष्ट हो जाता है।

कुछ जैन देवियों के नाम इस प्रकार हैं—कंकाली, काली, महाकाली, चामुण्डा, ज्वालामुखी, कामाख्या, कपालिनी, भद्रकाली, दुर्गा, ललिता, गौरी, सुमंगला, रोहिणी, त्रिपुरा, कुरुकुल्ला, चन्द्रवती, यमघण्टा, कान्तिमुखा, गणेश्वरी, वैताक्षी, कालरात्रि, वैताली, भूतडामरी, विरूपाक्षी, चण्डी, वाराही, यमदूती भुवनेश्वरी इत्यादि।[2]

जैन देवियों में श्रुतदेवी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रुतदेवी[3] सरस्वती का ही एक नाम है। जिस प्रकार श्रौतमत वाले वसन्त पञ्चमी (माघ शुक्ल पञ्चमी) के दिन सरस्वती की विशेषरूप से उपासना करते हैं, उसी तरह जैन ज्ञानपञ्चमी (कार्तिक शुक्ल पञ्चमी) के दिन श्रुतदेवी की विशेष रूप से उपासना करते हैं।

१. धर्मप्रकरण देखिये।
२. Jain Iconography. B. C. Bhattacharya. Lahore. 1939. Page 23.
३. श्रुतदेवी के विशेष विवरण के लिये उक्त ग्रन्थ का Chap. VI देखना चाहिये।

श्रुतदेवी का एक आवाहन-मंत्र इस प्रकार है—

ॐ ह्रीं नमो भगवति ब्रह्माणि, वीणापुस्तकपद्माक्षसूत्रहंसवाहने श्वेतवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ ।।[1]

"ॐ ह्रीं भगवति ब्रह्माणि आपको प्रणाम । श्वेतवर्ण, वीणा, पुस्तक, पद्म, अक्षसूत्र और हंसवाहनवाली, षष्ठी-पूजन में यहाँ आइये ।"

श्वेताम्बरों का, श्रुतदेवी का ध्यान इस प्रकार है—

श्वेतवर्णा श्वेतवस्त्रधारिणी हंसवाहना श्वेतसिंहासनासीना चतुर्भुजा श्वेताऽब्जवीणालंकृतवामकरा पुस्तकमुक्ताक्षमालालंकृतदक्षिणकरा ।[2]

"श्वेतवर्णवाली, श्वेतवस्त्रधारिणी, हंसवाहना, श्वेतसिंहासन पर बैठी हुई, चार भुजाओंवाली, बायें हाथों में श्वेतकमल और वीणा, और दाहिने हाथों में पुस्तक और मुक्ता की अक्ष (वर्ण) माला ।"

इनके मयूरवाहन का भी विधान है—

ॐ ह्रीं मयूरवाहिन्यै नम इति वागधिदेवतां स्थापयेत् ।[3]

"ॐ ह्रीं मयूरवाहिन्यै नमः इस मन्त्र से वाग्देवता की स्थापना करे ।"

श्रुति का अर्थ है, वेद । श्रुतदेवी का अर्थ होता है वेद की अधिष्ठात्री देवी । वेद का प्रतीक पुस्तक भी इनके हाथ में है । इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धों की तरह पशुहत्यावाले वैदिक कर्मकाण्ड से जैनों का विरोध था, वेदों की ब्रह्मविद्या से नहीं । ब्रह्मविद्या के सिद्धान्त और व्यवहार में ये सभी एक हैं ।

श्रुतदेवी के १६ भेद कहे गये हैं १. प्रधाना सरस्वती या श्रुतदेवी । २. रोहिणी या विद्यादेवी । ३. प्रज्ञप्रिया वज्रश्रृङ्खला । ५. वज्राङ्कुशा । ६. अप्रतिचक्रा या जाम्बुनदा । ७. पुरुषदत्ता । ८. काली । ९. महाकाली । १०. गौरी । ११ गान्धारी । १२. महाज्वाला या ज्वालामालिनी । १३. मानवी । १४. वैरोटी । १५. मानसी । १६. महामानसी ।[4]

दो देवियों के ध्यान नीचे दिये जाते हैं । इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि शैव-शाक्तादि देवियों में और इनमें कितना भेद है ।

चक्रेश्वरी का ध्यान इस प्रकार है—

वामे चक्रेश्वरी देवी स्थाप्या द्वादश षड्भुजा ।
धत्ते हस्तद्वये वज्रे चक्राणि च तथाष्टसु ।
एकेन बीजपूरं तु वरदा कमलासना ।
चतुर्भुजाथवा चक्रं द्वयोर्गरुडवाहना ॥[5]

---

१. तत्रैव । पृ० १६३ में आचारदिनकरप्रतिष्ठाविधि से उद्धृत ।

२. तत्रैव । पृ० १६५ में आचारदिनकरप्रतिष्ठाकल्प से उद्धृत ।

३. तत्रैव ।

४. इनके विवरण के लिये Jain Iconography, B.C. Bhattacharya, Lahore, 1939 का Chapter VI देखना चाहिये ।

५. तत्रैव । वसुनन्दी के प्रतिष्ठासारसंग्रह से पृ० १२१ में उद्धृत ।

"छः अथवा बारह भुजाओंवाली चक्रेश्वरी देवी की स्थापना करनी चाहिये। इनके दो हाथों में वज्र और आठ में चक्र रहते हैं। एक में दाडिम रहता है। और एक वरद (मुद्रा में) रहता है। कमल पर आसन है। चक्र भी रह सकता है। चतुर्भुजा मूर्ति भी हो सकती हैं। दोनों में वाहन गरुड रहता है।"

श्वेताम्बर, चक्रेश्वरी का ध्यान, अष्टभुजा के रूप में करते हैं।

तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथ की यक्षिणी का नाम अम्बिका है। उसका ध्यान इस प्रकार है—

तत्तीर्थजन्मा स्वर्णकान्तिः सिंहवाहना आम्रलुम्बिपाशसंयुक्तदक्षिणकरद्वया पुत्राङ्कुशसहित-वामकरद्वया कूष्माण्डीति द्वितीयनामधारिणी अम्बिका प्रभोः शासनदेवी समभवत्।[१]

"उस तीर्थ में उत्पन्न अम्बिका प्रभु की शासनदेवी हुई। इनकी सोने-जैसी कान्ति है, वाहन सिंह है, दाहिने दोनों हाथों में आम का गुच्छा (लुम्बि ?) और पाश है, बायें दोनों हाथों में पुत्र और अङ्कुश हैं और इनका दूसरा नाम कूष्माण्डी है।"

चक्रेश्वरी की अनेक भुजाओं तथा वज्र, चक्र, बीजपूर, कमलासन, गरुडवाहन, और अम्बिका के सिंह, पाश, अङ्कुशादि में, तथा शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध देवियों की भुजाओं और आयुध के रूप और सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है।

श्री और लक्ष्मी की, धनतेरस को, विशेष रूप से पूजा होती है।

इनके कुछ देवों और देवयोनि के नाम ये हैं—

असुर, नाग, सुपर्ण, उदधि, अग्नि, दिग्वात, भूत, राक्षस, यक्ष, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, नवग्रह, दिक्पाल, क्षेत्रपाल, भैरव इत्यादि।[२]

इनके दिक्पाल हैं— इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्म और नाग। नाग, पाताल या अधोदेश के दिक्पाल हैं।[३]

वैदिक और तांत्रिक कर्मकाण्ड में अधोदेश के दिक्पाल अनन्त (विष्णु) हैं।

जैननाग का ध्यान इस प्रकार है—

नागं श्यामवर्णं पद्मवाहनं उरगपाणिञ्चेति।[४]

"नाग को कमल के ऊपर, काले रंग का (बनावे) और हाथ में सर्प रहे।"

इस ध्यान में शेषशायी विष्णु के शेष और ब्रह्म का कमल एक साथ दिखलाया है। यह सृष्टि में गति-शक्ति की कल्पना है।

ब्रह्मा का ध्यान इस प्रकार है—

ॐ नमो ब्रह्मणे ऊर्ध्वलोकाधीश्वराय सर्वसुरमतिप्रजापितामहाय... ....नाभिसम्भवाय चतुर्मुखाय हंसवाहनाय कमलसंस्थानाय पुस्तककमलहस्ताय॥[५]

१. तत्रैव। गुण विजयगणि के नेमिनाथचरित से पृ० १४२ में उद्धृत।
२. तत्रैव। पृ० २४।
३. तत्रैव। पृ० १४८।
४. तत्रैव। पृ० १५७ में निर्वाणकलिका से उद्धृत।
५. तत्रैव। आचारदिनकर से उद्धृत।

ॐ ऊर्ध्वलोक के अधीश्वर, शरणागत सभी देवताओं के पितामह (विष्णु की) नाभि से निकले हुए, चार मुखवाले हंसवाहन, कमल पर बैठे हुए, हाथों में पुस्तक और कमलवाले ब्रह्मा को प्रणाम।"

जैनों के इस ब्रह्मा में और पौराणिकों के ब्रह्मा में कोई भेद नहीं है। दोनों एक हैं। जैन ब्रह्मा के हाथ में पुस्तक, वेद है, इससे स्पष्ट है कि जैन ब्रह्मस्वरूप वेद के विरोधी न थे और न हैं।

जैन ईशान का वर्णन इस प्रकार है—

ईशानं धवलवर्णं वृषभवाहनं त्रिनेत्रं शूलपाणिं। [1]

"ईशान, गौरवर्ण, वृषभवाहन, त्रिनेत्र और शूलपाणि (हों)।

ॐ उमासमेतो वृषभाधिरूढो जटाकिरीटी फणिभूषिताङ्गः।
त्रिशूलहस्तप्रमथाधिनाथो गृह्यातु दुग्धान्नमिदं ससर्पिः॥
ॐ ईशान वास्तुदेवाय। [2]

"ईशान वास्तुदेव, जो उमासहित हैं, वृषभ पर चढ़े हुए हैं, जटा मुकुटवाले हैं, सर्पों से अलङ्कृत अङ्ग हैं, हाथ में त्रिशूल है, प्रेतों के स्वामी हैं, वे दूध और घीवाले इस अन्न को ग्रहण करें।"

श्वेतवर्णो वृषभवाहनः नीललोहितवस्त्रः चतुर्भुजः जयभृत् (?) शूलचापकरद्वयेनाञ्जलिकश्च। [3]

"श्वेतवर्ण, वृषभवाहन, नीला और लाल रंगोंवाले वस्त्रवाला, चतुर्भुज, दो हाथों में शूल और धनुष और दो अंजलि-मुद्रा में।"

यहाँ श्वेत, नील और लोहित, इन तीन रंगों से त्रिगुण अभीष्ट है।

इसी प्रकार यदि और जैन देवताओं और उपदेवताओं का विवरण, पूजा और पुरश्चरण-पद्धति देखी जाय, तो यह कहना कठिन होगा कि ये पौराणिकों के देवगण हैं अथवा उनके शत्रु और विरोधी कहे जानेवाले जैनों के।

तृतीय तीर्थङ्कर श्रीशम्भवनाथ का शासनदेव या यक्ष, त्रिमुख और यक्षिणी प्रज्ञप्ति अर्थात् सरस्वती की तरह मयूरवाहिनी विद्यादेवी हैं। त्रिमुख का ध्यान इस प्रकार है—

त्रिनेत्रस्त्रिमुखः श्यामः षड्बाहुर्बर्हिवाहनः।
दक्षिणैर्नकुलधरः गदाभृदभयप्रदैः।
युगोवामैर्भुजैर्मातुलुङ्गदामाक्षसूत्रिभिः॥ [4]

"इनके तीन नेत्र और तीन मुख हैं, श्यामवर्ण है, छः हाथ हैं और वाहन मयूर है। दाहिने तीन हाथों में नकुल, गदा और अभय है और बायें में दाडिम, पाश और माला है।"

इस रूप में कार्तिकेय और शाक्त देवियों के प्रतीकों और आयुधों का सम्मिश्रण है। इनके सिद्धान्त पूर्ववत् हैं।

---

१. तत्रैव। पृ० १५६। निर्वाणकलिका से उद्धृत।
२. तत्रैव। आचारदिनकरपूजाविधि से उद्धृत।
३. तत्रैव। आचारदिनकर से उद्धृत।
४. तत्रैव। पृ० ६७। हेमचन्द्र के सम्भवचरित्र से उद्धृत।

वैदिक और जैन प्रतीक के तुलनात्मक विचार से प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ और यक्ष गोमुख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ऋषभनाथ या वृषभनाथ का नाम आदिनाथ भी है। ये जैनसम्प्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। प्रत्येक जिन की माता ने इनके जन्म के पूर्व, स्वप्न[१] में कुछ-न-कुछ देखा था। यही स्वप्न में देखी हुई वस्तु उस जिन का लांछन[२] या चिह्न माना जाता है। धर्मचक्र भी[३] ऋषभदेव का एक विशिष्ट लांछन है। प्रत्येक जिन ने किसी-न-किसी वृक्ष के नीचे कैवल्यपद (केवल-ज्ञान) प्राप्त किया था। उस वृक्ष से उनका निकट सम्बन्ध माना जाता है। श्रीआदिनाथ का लांछन वृष और वृक्ष न्यग्रोध है। इनका यक्ष गोमुख और यक्षिणी चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा है।[४] इनके पार्श्वचर दो पुरुष, भरत और बाहुबली हैं।[५]

ऋग्वेद में ही यज्ञपुरुष परब्रह्म की कल्पना वृषभ के रूप में की गई है—

चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

"इस (वृषभ) के चार सींग, तीन पैर, दो मस्तक और सात हाथ हैं। तीन स्थान पर बंधा हुआ यह वृषभ गरजता रहता है। इस महादेव ने मर्त्यों में प्रवेश किया।"[६]

गोमुख यक्ष के सम्बन्ध में भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है—

ॐ चत्वारः शृङ्गाः त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तास्त्रिधा बद्धो वृषभो रीति (?) महादेवो मर्त्यं आवेशय स्वाहा।[७]

भागवत, अग्नि और वाराहपुराण में ऋषभनाथ को विष्णु का एक अवतार माना गया है और वृषलांछन तथा मोक्षस्थान कैलास होने के कारण इनमें शिवत्व भी है।

१. चतुर्दश स्वप्न के लांछन का विवरण इस प्रकार है—
गजो वृषो हरिः साभिषेकश्रीः स्रक्शशी रविः। महाध्वजः पूर्णकुम्भः पद्मसरः सरित्पतिः।
विमानं रत्नपुञ्जश्च निधूम्निऽग्निविति क्रमात्। ददर्शस्वामिनी स्वप्नावमुखे प्रविशतस्तदा॥
पूर्ववत्। त्रिषष्टिशलाका और उत्तरपुराण से पृ० ५१ में उद्धृत।

२ क. चौबीस तीर्थङ्कर के २४ लांछन हैं।
देखिये—Brahma and Buddha. Helmuth. V. Glasenapp. Berlin. पृ० १७९।
ख. वसह गय तुरय वानर कुंचो कमलं च सत्थियो चंदो। मयर सिरिवच्छ गयडय महिस वराहोय सेणो य॥ वज्जं हरिणो छगलो नंदावत्तो य कलस कुम्भो य। नीलुप्पल संख फनी सीहो अ जिणाण चिण्हाइं॥
—Jain Iconography, B.C. Bhattacharya. पृ० ४९ में प्रवचनसारोद्धार से उद्धृत।

३. सभी तीर्थंकरों के साथ धर्मचक्र है। तक्षशिलायां बाहुबलिना कारिते भगवते ऋषभदेवस्य धर्मप्रकाशके चक्रे च भावः। उपरिवत्।

४. चक्रेश्वरी का विवरण ऊपर हो चुका है।

५. पार्श्वयोर्भरतबाहुबलिभ्यामुपसेवितः।

६. इसकी निरुक्तकार और सायण ने भिन्नरूप से व्याख्या की है।

७. Jain Iconography में पृ० ९६ में प्रतिष्ठासारसंग्रह से उद्धृत।

गोमुख, ऋषभनाथ के प्रतिरूप जैसे मालूम होते हैं और उनके साथ सम्बद्ध होने के कारण ऐसा होना भी चाहिये। गोमुख का ध्यान इस प्रकार है—

चतुर्भुजः सुवर्णाभः गोमुखो वृषवाहनः
हस्तेन परशुं धत्ते बीजपूराक्षसूत्रकम्।
वरदानपरः सम्यक् धर्मचक्रञ्च मस्तके॥[1]

"गोमुख के चार हाथ हैं, स्वर्णकान्ति और वृषवाहन हैं, हाथों में परशु, दाडिम और अक्षसूत्र हैं। एक वरद (मुद्रा में) है और माथे पर धर्मचक्र है।"

इस विग्रह में वृषवाहन और परशु में शिवत्व, दाडिम[2] और अक्षसूत्र में शक्तित्व और धर्मचक्र में विष्णुत्व का संकेत है। उत्तमाङ्ग वृषभ (गोमुख) होने के कारण, यह विश्वात्मा यज्ञपुरुष का रूप ग्रहण कर लेता है।

चक्रेश्वरी का वज्र, ऐन्द्रशक्ति और बुद्धशक्ति (वज्रतत्त्व का भी प्रतीक है। चक्र, विष्णुचक्र और धर्मचक्र है, और बीजपूर से बोध होता है कि यह भैरवीचक्र भी है। कमलासन और गरुडवाहन वैष्णवी शक्ति के चिह्न हैं।

यह भारतीय परम्परा की विशिष्टता है कि जिस विग्रह की प्रधान रूप से उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का प्रतीक बन जाता है और अन्य देवगण उस रूप के उपासक बन जाते हैं। शिव की पूजा विष्णु और विष्णु की पूजा शिव करते हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी सरस्वती, काली, कृष्णादि की उपासना करते हैं। जिन और बुद्ध की भी इसी रूप में सभी उपासना करते हैं और ब्रह्मोपासना से जिन को जिनत्व और बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होता है। इन्हीं विचारों को लोग नाना प्रकार से घुमा-फिरा कर प्रकट करते हैं।

बुद्ध

भगवान् बुद्ध का अवतार आज से लगभग २५०० वर्ष[3] पूर्व हुआ। कपिलवस्तु के राजवंश में इन्होंने जन्म ग्रहण किया। पिता का नाम शुद्धोदन और माता का नाम मायादेवी था। यशोधरा नामक सुन्दरी राजकुमारी से इनका विवाह कर दिया गया और राहुल नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ।

युवावस्था के प्रारम्भ में ही रोग, जरा और मरण का दृश्य देखकर उनका मन उद्विग्न हो उठा। वे इनसे छुटकारा पाने के उपाय के लिये चिन्तित हो उठे। एक रात को अपने शिशु पुत्र को माता की गोद में छोड़कर उन्होंने संसार का त्याग किया। राजगृह जाकर एक ब्राह्मण से दीक्षा ली और छः वर्षों तक अध्ययन और कठिन तप तथा योगाभ्यास किया। किन्तु इससे न उन्हें शान्ति मिली और न जीवन के उन चिरन्तन महारोग जरामरणादि से छुटकारा का उपाय मिला। एक दिन हठपूर्वक उन्होंने प्रतिज्ञा की—

---

१. Jain Iconography. B. C. Bhattacharya, Lahore, 1939, पृ० ६४ में वसुनन्दी के प्रतिष्ठासारोद्धार से उद्धृत।

२. दाडिम या बीजपुर सृष्टि का प्रतीक है, जिसके बीज असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। इसीका नाम मातुलुंग भी है।

३. बोधगया के शिलालेख में महापरिनिर्वाण का समय ईसापूर्व ५४४ है।

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु ।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात्कायमतश्चलिष्यते ॥
नाशयित्वा तपोविघ्नान् कामध्वंसी भवाम्यहम् ।
मृत्युञ्जयो भविष्यामि सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ [1]

"इसी आसन पर मेरा शरीर सूख जाय, चमड़ा, हड्डी और मांस विलीन हो जायं। अनेक कल्प में जो ज्ञान दुर्लभ है उसे विना पाये इस आसन से यह शरीर न हिलेगा।

"तप के विघ्नों का नाश करके मैं कामध्वंसक बनूँगा, मैं मृत्युञ्जय बनूँगा और सत् चित् आनन्द मेरा शरीर होगा।"

यह भगवान् की भीष्म प्रतिज्ञा थी। जबतक भोग की तृष्णा मर न जाय [2] तबतक आत्मलाभ का मार्ग रुका रहता है। काम (इच्छाएँ) ही ब्रह्मप्राप्ति के भयंकर विघ्न हैं। भगवान् ने उनके नाश का दृढ़संकल्प किया और सिद्धि प्राप्त की। प्रत्येक महायोगी कामध्वंसक, मृत्युञ्जय और चिदानन्द शरीरवाला होता है, जिसके आदर्श शिव हैं। भगवान् ने मार की सेना का ध्वंस किया। एक दिन समाधि की अवस्था में उस परम सत्य का साक्षात्कार हुआ और यह महायोगी कृतार्थ हो गया। यह आनन्द के उल्लास मे चिल्ला उठा—'मैंने पा लिया। मैं इस अमृत की धारा को संतप्त संसार में बहा दूँगा। अब जरा, मरण और रोग का भय संसार से मिट जायगा।' गया में जिस पीपल के पेड़ के नीचे इन्हें सत्य-दर्शन हुआ, उसका नाम बोधिद्रुम (ज्ञानवृक्ष) पड़ा और जिस तत्त्व का बोध हुआ, वह कारणचक्र था। राजकुमार सिद्धार्थ उस दिन से बुद्ध अर्थात् ज्ञानी हुए। गया से बुद्ध काशी गये और सारनाथ में इस नये पाये हुए धर्म का उपदेश किया, जिसका नाम धर्मचक्रप्रवर्तन पड़ा।

बुद्धोपदिष्ट धर्म

बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश किया, वह कोई नया धर्म नहीं था। वह वैदिक धर्म का ही एक सुधरा हुआ रूप था।

वैदिक कर्त्तव्य के दो रूप हैं—ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। ज्ञानकाण्ड ब्रह्मविद्या है, जिनके द्वारा मानव-जीवन का परम लक्ष्य ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है। ज्ञान द्वारा चित्त में जो स्थिरता आती है, कर्म का भी लक्ष्य वही है। ज्ञान और कर्म जब साधन न बन कर साध्य बन जाते हैं, तब उपद्रव होने लगता है। बुद्ध के समय में यज्ञ, हवनादि कर्म साधन न रह कर लक्ष्य बन गये थे। इसलिये आडम्बर ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था। इसमें पशुहत्या [3] उद्वेग का कारण था। जब पशुओं को मारकर लोग ढेर लगा देते

१. महानिदेस।
२. इहामुत्र भोगविरागः। इह—इस जीवन में। अमुत्र—मरने के बाद।
३. क. "जब कहा गया कि धर्म के लिये वांछित फल देनेवाला कुलोचित यज्ञकर्म करो (तो उत्तर मिला) यज्ञों को नमस्कार। दूसरों को दुःख पहुँचाकर जो सुख मिलता है, वह नहीं चाहिये।"
यदात्थ चापिष्टफलां कुलोचितां कुरुष्व धर्माय मखक्रियामिति।
नमो मखेभ्यो नहि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते॥ बुद्धचरित ११. ६४।
ख. निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं, सदयहृदय दर्शित पशुघातम्।
केशवधृत बुद्धशरीर जय जय देव हरे।
"करुणामय! वेद के ऐसे यज्ञ की निन्दा करते हैं, जिसमें पशुहत्या होती है। बुद्धरूप में केशव की जय हो।"

होंगे और रक्त पनाले से बहता होगा[1] और इनकी कीचड़ और दुर्गन्ध फैली रहती होगी, तो साधारण जनता के लिये सचमुच यह एक विचित्र और विचलित कर देनेवाला दृश्य उपस्थित होता होगा। इसी प्रकार के बहुत-से आचारों का प्रचार हो गया था, जो जीवन के चरम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति के साधन होने के बदले बाधक हो गये थे। भगवान् बुद्ध ने इसका विरोध किया और सद्धर्म का उपदेश किया। उन्होंने आर्यसत्य[2] वैदिक ब्रह्मविद्या वा धर्म को एक नया रूप दिया। उन्होंने कहा—

"अतः भिक्खुओ ! मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन मार्ग, जो कि पुरातन काल के पूर्ण जागरितों[3] द्वारा अपनाया गया था......उसी मार्ग पर मैं चला और उस पर चलते हुए मुझे कई तत्त्वों का रहस्य मिला। वही मैंने भिक्षु-भिक्षुणियों, नर-नारियों और दूसरे सर्वसाधारण अनुयायियों को बताया। अतः आवुसो ! इसी प्रकार यह ब्रह्मचिन्तन, ब्रह्मचर्य जो कि इतना फूला-फला और सब देशों में सबसे सुपरिचित हुआ, लोकप्रिय बना। संक्षेप में, देवताओं और मनुष्यों के लिये अच्छी तरह प्रकट किया गया।"[4]

"अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों सापेक्ष हैं। जो वस्तुतः निरपेक्ष है, वह अस्तित्व तथा अनस्तित्व दोनों से परे है। मुक्त बुद्ध की अवस्था ब्रह्म से भी ऊँची है। वह अदृश्य परम कान्तिमान् और शाश्वत है। देवताओं से भी ऊँचा एक तत्त्व है, जो परमोच्च है। यह परम तत्त्व उदान में अजात, अभूत, अकत, असंखत कहा गया है। यह उपनिषदों का ब्रह्म है जिसे न इति, न इति कहा गया है। बुद्ध निज को ब्रह्मभूत कहता है। बुद्ध ने परम यथार्थ के बारे में चरम दृष्टिकोण अपनाया।"[5]

जो बुद्ध का अदृश्य परम कान्तिमान् और शाश्वत तत्त्व है, वही शाक्तों की तुरीया, शैवों का तुरीय और वेदान्त का ब्रह्म है। इसी को बुद्ध ने अपने उपदेश और व्यवहार में ग्रहण किया।

बौद्धधर्म के भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार बुद्ध के उपदेशों का सारांश इस प्रकार है।

थेरवादी शाखा बौद्ध धर्म की सबसे पुरानी शाखा है। इसके अनुसार बुद्ध के उपदेश बहुत सरल हैं। "वह कहते हैं, 'सारे पापों से दूर रहो। सब अच्छी बातें जमा करो और

---

१. यज्ञ में मारे हुए पशुओं के चमड़े के ढेर से टपकते हुए रक्त की धारा से चर्मण्वती (चम्बल) नदी बन गई।

२. आरियसच्च।

३. On the Veda (Pondicherry, 1956) नामक ग्रन्थ में योगी अरविन्द ने भी यह सिद्ध किया है कि वेद शुद्ध ब्रह्मविद्या है और संहिता के साथ इसका ऋषियुग समाप्त हो जाता है। पीछे कर्मकाण्ड ने जोर पकड़ा और यज्ञों के नीचे ब्रह्मविद्या दब गई। ब्राह्मण, कल्पादि का युग वेद का दूसरा युग था। यह स्पष्ट है कि बुद्ध कर्मकाण्ड से ऊब गये थे। उन्होंने अपने उपदेशों से यज्ञादि के आडम्बर से ब्रह्मविद्या का उद्धार किया। बुद्ध की इस उक्ति में उसी परिस्थिति की ओर स्पष्ट संकेत है।

४. राधाकृष्णन्। बौद्धधर्म के पच्चीस सौ वर्ष। १९५६। दिल्ली। पृ० १३में संयुत्तनिकाय से उद्धृत।

५. राधाकृष्णन्। बौद्धधर्म के २५०० वर्ष। दिल्ली। १९५६। पृ० १४।

मन को पवित्र करो।' यह बातें शील समाधि और प्रज्ञा के अनुसरण से प्राप्त होंगी। इनका विवरणपूर्वक वर्णन किया गया है। शील अथवा सद्व्यवहार ही मानवीय जीवन में सारी प्रगति का मूलाधार है। साधारण गृहस्थ को हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार और मादक व्यसनों से बचना चाहिये। यदि वह भिक्षु होजाय, तो उसे ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना चाहिए। गृहस्थ के लिये आवश्यक सद्व्यवहार के चार बाकी नियम पालन करना चाहिये, और उसे पुष्पमालाएँ या अन्य किसी प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधन का व्यवहार नहीं करना चाहिए। नरम गद्दे-वाले आसन या बिस्तरे उपयोग में नहीं लाने चाहिये। सुवर्ण या चाँदी का उपयोग नहीं करना चाहिये। न नाच देखना चाहिये, न संगीत के जलसे या अन्य असभ्य तमाशों में जाना चाहिये, दोपहर के बाद भोजन नहीं करना चाहिये, कभी-कभी अच्छे व्यवहार का अर्थ लिया जाता है कि बुरे जीवन-व्यवहारों (दश अकुशल कर्मपथ) से दूर रहना, उदाहरणार्थ— हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याचार, निन्दा, कठोर शब्द, अहंतापूर्ण वचन, लोभ असूया, गलत दार्शनिक मत आदि। समाधि अथवा मनन का उद्देश्य मन को पूर्णतः संतुलित रखना है, जिससे एक ही समय में एक साथ चार आर्यसत्य की प्रज्ञा हो सकती है, और प्रतीत्य समुत्पाद के नियम का भी ज्ञान पाया जा सकता है। उसके अनुसार इस जीवन का पूर्व जीवन से और उत्तर जीवन से सम्बन्ध प्रस्थापित किया जा सकता है। कर्म प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को आकार देता है और सारा विश्व उसमें बंधा है। अतः कर्म एक तेजी से चलते हुए रथ की धुरी है।" [१]

योगाचार में 'बोधिप्राप्ति' के लिये योगाभ्यास को सबसे प्रभावशाली पद्धति माना गया है।

चान (ध्यान) शाखा के अनुसार साक्षेप और परम की अभेद-चेतना से ही मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त कर सकता था। [२]

निदान कथा के 'दूरे निदान' में सुमेध ब्राह्मण की कथा से ये सिद्धान्त और भी स्पष्ट हो जाते हैं। "एक धनी कुलीन ब्राह्मण वंश में, अमरावती में सुमेध का जन्म हुआ था, पर उनके बचपन ही में उनके माँ-बाप चल बसे। उन्हों ने ब्रह्मविज्ञान की शिक्षा ली। माता-पिता की छोड़ी सम्पत्ति से नितान्त असन्तुष्ट होकर उन्होंने सारी सम्पत्ति दान कर दी और संन्यास ग्रहण कर लिया। जन्म-मरण, सुख और दुःख रोग और वेदना से परे की अमत महानिर्वाण अवस्था की खोज में वे चल पड़े। उन्होंने यह अनुभव किया कि संसार में जो कुछ है, इसके दो पहलू हैं —सत् और असत्। इसलिए जन्म-दुःख से मुक्त होने के लिये कोई अजन्मा वस्तु भी जरूर होगी। इसी वस्तु से साक्षात्कार करने का निश्चय करके वे ध्यान करने हिमालय गये। वहाँ धम्मेक पहाड़ में उन्होंने अपना निवास बनाया और केवल पेड़ों से गिरे फलों को खाकर जीवन-यापन करते रहे। शीघ्र ही पाँच अभिज्ञा और समाधि में उन्हें पूर्णता प्राप्त हो गई।" [३]

---

१. बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष। दिल्ली। १९५६। पृ० ७१।
२. तत्रैव। पृ० ८७।
३. तत्रैव। पृ० १०५।

सद्धर्म पुण्डरीक के "दूसरे अध्याय में बुद्ध यह बतलाते हैं कि परम सत्य का तथागत[1] अपने भीतर ही अनुभव कर सकते हैं और वह दूसरों के सामने व्यक्त नहीं किया जा सकता।"[2]

धम्मपद, बौद्ध दर्शन और व्यवहार का प्रमुख ग्रन्थ है। "इस छोटे-से ग्रन्थ में अन्य बौद्ध ग्रन्थों की भाँति, सब प्रकार के जप-यज्ञादि और अन्य आत्मप्रपीडक हठयोगों की निन्दा है और इसका विशेष आग्रह शील पर है। यह शील, समाधि और पञ्ञा (प्रज्ञा) से विकसित होता है। बुद्ध के उपदेश संक्षेप में यों हैं— 'सारी बुराइयों से बचो। जो अच्छा है, उसे जमा करो और मन को शुद्ध करो।'[3] कौन-सा धर्म इससे सहमत नहीं होगा? इसके उपदेश के अनुसार सब निश्चित चीजें क्षणिक हैं, दुःख से भरी हैं और इस कारण से 'अनत्ता' या अपनी नहीं हैं। लोगों से कहा गया है कि वस्तुओं के केवल बाह्य आकर्षण पर न जाकर, उनके दुःखद पक्ष को भी पहचानें। उसमें अविद्या को सबसे बड़ी अशुद्धि कहा गया है[4] और यह कहा गया है कि तृष्णा या आसक्ति के अन्त से ही दुःख का अन्त होगा। लोभ, ईर्ष्या, भ्रांति, आग की तरह खतरनाक बताई गई है, और जबतक उन्हें न रोका जाय, यह सम्भव नहीं कि सुखी जीवन बिताया जा सके। व्यक्ति को पाप से या अपवित्रता से मुक्त करने में, सिवाय, उसके अपने और कोई मदद नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने आपको जानने का प्रयत्न करे। बुद्ध भी बहुत कम मदद कर सकते हैं, चूँकि वे केवल मार्गदर्शक चिह्नों के समान पथप्रदर्शक[5] मात्र हैं।"[6]

इन कतिपय उद्धरणों से भी यही सिद्ध होता है कि बुद्ध ने अपने उपदेशों में वेदोपदिष्ट सारे सिद्धान्तों को ग्रहण किया और इन्होंने अपनी साधनाओं से ब्रह्मविद्या में सिद्धि लाभ की। सोऽहंभाव में स्थिरता प्राप्त कर लेने पर इन्होंने अपने को तथागत कहना आरम्भ किया।

सभी शास्त्रों और साधक तथा सिद्धों ने ब्रह्म को 'अवाङ्मनसगोचर' (वाणी और मन से परे) और 'स्वानुभूत्यैकसार' (अपना अनुभव ही इसका सार है) कहा है। बुद्ध ने भी यही कहा। उन्होंने देखा कि अनुभवगम्य तत्त्व पर जितना कहा जाय, वह सब अपूर्ण रहेगा। इस पर वेद-वेदाङ्ग बहुत कह चुके थे। इसलिये इस पक्ष पर उन्होंने जोर नहीं दिया। उन्होंने देखा कि आचरण से ब्रह्मानुभूति होती है, सूक्ष्म तर्क द्वारा बाल की खाल निकालने से नहीं। इसलिये मानव-जीवन में शील, अर्थात् आचरण को उन्होंने प्रधानता दी। ब्रह्मविद्या के व्यावहारिक रूप को ही उन्होंने धर्म कहा और इसके परिमार्जित रूप का उपदेश किया।

---

१. तथागत—तथा सत्यं गतं ज्ञानं यस्य। जो सत्य को जान गये हों।

२. बौद्धधर्म के २५०० वर्ष। दिल्ली। १९५६। पृ० ११४।

३. तत्रैव। पृ० १११। धम्मपद। १८३।

४. धम्मपद। २४३।

५. पथप्रदर्शक—यहाँ बुद्ध को अध्यात्मविद्या के गुरु का स्थान दिया गया है। यह योगियों और तान्त्रिकों के गुरु की तरह है।

६. बौद्धधर्म के २५०० वर्ष। पृ० ११२। धम्मपद। २०६।

धर्म-प्रकरण में धर्म[1] के जिस रूप की हम चर्चा कर आये हैं उसके विशुद्ध रूप को शील के नाम से बुद्ध ने ग्रहण किया और इसके आचरण के उपदेश को ही धर्मचक्रप्रवर्त्तन कहा गया है। धर्म के उद्गमस्थान महाधर्म ब्रह्म को ही बौद्धोपदेश में कारणचक्र कहा गया है, जो वेदान्त के पर (कारण) ब्रह्म की तरह कारण (पर) चक्र है। बुद्ध, शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हैं। राम और कृष्ण की तरह, ये राजकुमार सिद्धार्थ होने पर भी परब्रह्म हैं और परब्रह्म होने पर भी राजकुमार सिद्धार्थ हैं।

बौद्धधर्म यथार्थ में शाक्त, शैव, वैष्णवादि मतों की तरह शुद्ध सनातन वैदिक धर्म का एक प्रधान रूप है। शाक्तों ने मातृरूप में, शैवों ने शिव के रूप में वैष्णवों ने विष्णु के नाम से और बुद्ध ने शुद्ध ज्योतिर्मय तत्त्व के रूप में परब्रह्म को ग्रहण किया। सभी ने इस तत्त्व को समान रूप से अपने ही भीतर पाकर पिण्ड और विश्व को एकाकार में देखा। सबने व्यक्ति और जगत् का कल्याण ही जीवन का यथार्थ कर्त्तव्य समझा।

जिस प्रकार स्वामी दयानन्द ने छूआछूत, जातपाँत और मूर्तिपूजा का खण्डन और घोर विरोध किया, उसी प्रकार बुद्ध ने मिथ्याचार के आडम्बर और यज्ञ के रूप में फैले हुए नाना प्रकार के अनाचार का घोर विरोध किया। आर्यसमाज और जैनों की तरह इन्होंने किसी को शिखा-सूत्र छोड़ने को न कहा। देवी-देवताओं की आराधना को इन्होंने न रोका। केवल, धर्म के नाम पर पशुहत्या और यज्ञ के मिथ्याडम्बर का विरोध किया। इन्होंने यज्ञादि को धर्म नहीं माना। इन्होंने धर्म[1] के यथार्थ रूप को ग्रहण कर शील के रूप में उसका नियमपूर्वक कठोर अभ्यास और आचरण का प्रचार किया। यह सनातन धर्म का शोधित और चमकता हुआ रूप था। इसमें दया और मैत्री की प्रधानता थी। महात्मा गांधी ने इन सबको अहिंसा के रूप में ग्रहण कर एक बड़ी प्रबल शक्ति के रूप में इसका प्रचार किया।

योग और तन्त्र, ब्रह्मविद्या के व्यावहारिक रूप हैं। बौद्धों ने दोनों का बड़ी स्वच्छन्दता से प्रयोग किया। इसलिये शाक्त, शैव और वैष्णवों की तरह जैन और बौद्ध प्रतीकों में केवल रूप का अन्तर है, सिद्धान्त का नहीं। सिद्धान्त सबका एक है।

बौद्ध प्रतीक

बुद्ध

बुद्ध राजकुमार सिद्धार्थ और ब्रह्म हैं। इसलिये दोनों ही रूपों में इनकी प्रतिमा, चित्र इत्यादि पाये जाते हैं।

प्रतिमायें तीन प्रकार की होती हैं—स्थाणुक, आसन और शयन। स्थाणुक मूर्तियाँ सीधी या समभङ्ग, द्विभङ्गादि मुद्राओं में खड़ी रहती हैं। इनके दोनों पार्श्वों में दो देवताओं की मूर्तियाँ रहती हैं। यह अशेषकारण-रूप परमतत्त्व का प्रतीक है। आसन-प्रतिमायें नाना प्रकार के आसनों पर बैठी रहती हैं। शयनमूर्ति लेटी रहती है या किसी वस्तु पर अड़ी रहती है।

१. धर्म के यथार्थ रूप के लिये धर्म-प्रकरण देखिये।

बुद्ध की तीनों प्रकार की प्रतिमायें पाई जाती हैं। स्थाणुक मूर्तियाँ प्रायः बहुत ही प्रभावशाली और मनोहर हैं। इनके साथ कभी पार्श्वदेवता की मूर्ति रहती है और कभी नहीं। कभी ये मूर्तियाँ प्रभामण्डल के भीतर रहती हैं और कभी प्रभामण्डल नहीं भी रहती। कभी ये मूर्तियाँ चैत्य के भीतर बनाई जाती हैं।

बुद्ध महायोगीश्वर के रूप में अवतीर्ण हुए थे। इसलिये ध्यानस्थ योगी के रूप में इनकी बहुत-सी आसन-प्रतिमाओं का निर्माण किया गया है। इस प्रकार की प्रतिमाओं में ये प्रायः पद्मासन पर ध्यानस्थ बैठे रहते हैं और मुखमण्डल के पीछे प्रभामण्डल चमकती रहती है। माथे पर प्रायः तिलक बना रहता है जो कारणतत्त्व के बिन्दु का प्रतीक है। कुछ बौद्धतत्त्वज्ञ[१] इसे ऊर्णा कहते हैं। जहाँ भौंहें मिलती हैं, वहाँ के भ्रमराकार घूमे हुए बालों को ऊर्णा कहते हैं। यह महापुरुषों का एक लक्षण है। किन्तु बुद्ध के ललाट पर बने हुए ये बिन्दु ऊर्णा नहीं हैं ऊर्णा को दोनों भौहों के बीच में होना चाहिये। किन्तु ध्यान से देखने पर बोध होगा कि यह तिलक वा बिन्दु ऊर्णा से ऊपर ललाट पर बना रहता है। यदि यह भ्रूमध्य में रहता तो भी इसका वही अर्थ होता। भ्रूमध्य ही आज्ञाचक्र में नित्य-इच्छास्थान वा मनःस्थान है। वही बिन्दुस्थान है, जहाँ इतरलिङ्ग के रूप में परमा ज्योति प्रकट होती है। बुद्ध के ललाट पर बिन्दु के निर्माण से ही यह स्पष्ट है कि यह ऊर्णा नहीं है। यह बिन्दु बुद्ध की प्राचीन-से-प्राचीन प्रतिमा में पाई जाती है। श्रीचक्र में यह बिन्दु-स्थान चक्र के मध्य में है और विष्णु तथा शिव की प्रतिमा में यह नाभि है, जहाँ से कमल के रूप में सृष्टि का विकाश होता है।

बुद्ध की आसन-प्रतिमा धर्मचक्रप्रवर्त्तन-मुद्रा में, ज्ञान-मुद्रा में और योग-मुद्रा में पाई जाती है। जब दोनों हाथों की अँगुलियाँ छाती के सामने कुछ मुड़ी हुई एक-दूसरे के ऊपर दिखाई जाती हैं तब उसे धर्मचक्रप्रवर्त्तन-मुद्रा कहते हैं। जब बुद्ध एक पैर आसन पर समेटकर दूसरा आसन से नीचे लटकाकर उपदेश करते हुए दिखाये जाते हैं, तो इसे ज्ञान-मुद्रा कहते हैं। जब हाथ-पर-हाथ रखकर पद्मासन पर ध्यानस्थ बैठे दिखाये जाते हैं, तब इसे योग-मुद्रा कहते हैं। शिव, देवी विष्णु आदि की इन मुद्राओं में बनी प्रतिमा और बुद्ध की प्रतिमा में कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता।

बुद्ध की बहुत-सी प्रतिमाओं में नटराज की तरह बड़े ही सुन्दर प्रभामण्डल बने हुए हैं। इनकी बहुत सी मूर्तियाँ अभय और वरद-मुद्रा में भी हैं।

ब्रह्मरूप में बुद्ध की नाना प्रकार की मूर्तियों का निर्माण किया जाता है। कभी इनके चार हाथ, कभी दश हाथ और कभी सहस्रभुजायें दिखाई जाती हैं। देवी की मूर्ति की तरह कभी इन्हें गजारूढ और कभी सिंहारूढ दिखाया जाता है। सिंह धर्म का प्रतीक है।

१. A. Gruenwedel. Buddhist Art in India. London. 1901. Translated from German by A. C. Gibson. Revised and Enlarged by J. Burgess.

इसलिये बुद्ध की मूर्ति, स्थाणुक वा आसन, जिस-किसी मुद्रा में क्यों न दिखाई जाय, मूर्ति के पीठ अथवा आसन के नीचे सिंह बना रहता है। कभी-कभी वृषभ भी दिखाई पड़ता है।

चक्र और त्रिशूल

क्रमण जिसका स्वभाव हो, उसे चक्र कहते हैं। यह विवर्तना, परिणाम और उपरति-वाला कालचक्र[1] और अभ्युदय और निःश्रेयस का कारण धर्मचक्र है। यह कारणचक्र अर्थात् परब्रह्म का भी प्रतीक माना जाता है। चक्र में साधारणतः आठ अर होते हैं। ये यंत्र की अष्टप्रकृति हैं।

सारनाथवाले स्तम्भशिखर के धर्मचक्र में २४ अर हैं। विष्णु के चौबीस अवतार, जैनों के चौबीस तीर्थङ्कर, बौद्धों के चौबीस बोधिसत्त्व और सांख्य के चौबीस तत्त्वों का इन अरों से सम्बन्ध नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। इनका पारस्परिक सम्बन्ध और भाव भी स्पष्ट है कि यह चक्र एक विश्वव्यापी तत्त्व का प्रतीक है।

विष्णुचक्र और बुद्ध के धर्मचक्र में भेद नहीं है। विष्णुचक्र भी धर्मचक्र की तरह धारण, अर्थात् रक्षाशक्ति है।

बुद्ध की मूर्तियों के साथ त्रिशूल अङ्कित रहता है। कभी त्रिशूल के ऊपर चक्र और कभी चक्र के ऊपर त्रिशूल बना रहता है। भरहूत और साँची के स्तूप के द्वारों पर ऐसे चक्र और त्रिशूल पाये जाते हैं (देखिये चित्र ८६,८७) यह चक्र-त्रिशूल प्रायः बुद्ध और बौद्ध देव-देवियों के प्रभामण्डल के ऊपर भी बना रहता है, जिन पर त्रिशूल के ऊपर धर्मचक्र पड़ा रहता है।

त्रिशूल, त्रिशक्ति (ज्ञान-इच्छा-क्रिया) का प्रतीक है। इसे अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है —

अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके ।
त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने ।।
लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत् त्रिशूलकम् ।
यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरंजनः ।।[1]

"इस चौदहवें धाम में त्रिशक्ति प्रकट हो जाती है। इसलिये श्रीशासन (बुद्धोपदेश ?) में शास्ता (बुद्ध ने इसे त्रिशूल कहा है। चंचल होकर त्रिशक्ति त्रिशूल बन जाती है, जिसमें प्रवेश करते ही योगी निरंजन बन जाता है।"

इस प्रसंग के ये चौदह धाम साधना के चौदह स्तर हैं। इनमें सबसे ऊँचा और अन्तिम चौदहवाँ धाम है। ये चौदह धाम मन्दिर के कलश के नीचे चौदह स्तरों में दिखाये जाते हैं। उन पर कलश अमृतत्व या निरंजन का प्रतीक है।

यह त्रिशूल, त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रिरत्नादि का प्रतीक है।

---

१. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ ऋग्वेद। १.२२.१६४. ४८।
"एक चक्र है। बारह परिधि (मास) हैं। तीन नाभि (ऋतु—ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त) हैं। ३६० शङ्कु (दिन) उसमें जड़े हुए हैं।"

पार्श्वदेवता

बुद्ध की स्थाणुक मूर्तियों के दोनों पार्श्व में दो मूर्तियाँ रहती हैं। ये पार्श्वदेवता हैं। त्रिमूर्ति की मध्य मूर्ति की तरह, बीचवाली मूर्ति रजोगुण है, जो अन्य दो गुणों का संचालन कर सृष्टि-क्रिया प्रवर्तित रखता है। शिव, विष्णु, जिन आदि की स्थाणुक मूर्तियाँ भी इसी सिद्धान्त पर इसी रूप में बनाई जाती हैं। (देखिये चित्र ९७, ९८, १२२)। एक मूर्ति में एक ओरवाले पार्श्वदेवता के हाथ में कमण्डल और दूसरे के हाथ में कुछ है। इन्हें ब्रह्मा और इन्द्र कहा जाता है। दूसरा मूर्ति में दोनों पार्श्वदेवताओं के हाथ में चँवर है। इस सिद्धान्त पर बनी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें पार्श्वदेवताओं में एक स्त्री और एक पुरुष है। इससे सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पड़ती। स्त्री संध और पुरुष धर्म है। बीच में बुद्ध रहते हैं।

स्तम्भ

स्तम्भ दो प्रकार के होते हैं। एक चैत्य और देवप्रासादों के भीतर रहते हैं और दूसरे उन्मुक्त स्थान में कभी शिखर के साथ और कभी विना शिखर के बनाये जाते हैं।

चैत्यों के स्तम्भ का आरम्भ चतुष्कोण से होता है। यह प्रासादों का चतुष्कोण वा स्थिति-तत्त्व है। इसके ऊपर निधि-कलश बना रहता है। कलश के ऊपर मूलस्तम्भ बना रहता है। ब्रह्मस्तम्भ चतुष्कोण होता है और विष्णुस्तम्भ अष्टकोण। ऊपर गोलाकार वा षोडशकोण का कण्ठ रहता है। यह रुद्रकण्ठ है। इसके ऊपर अमृत-कलश रहता है। इसके ऊपर बुद्ध की चार अवस्थाओं (अवतार, महाभिनिष्क्रमण, धर्मचक्रप्रवर्त्तन और महा-परिनिर्वाण) के द्योतक चार चौकोर शिलाखण्ड बने रहते हैं और उनके ऊपर सृष्टि का प्रतीक मिथुन बना रहता है। यह मिथुन विभुशक्ति का अष्टप्रकृति (पंचतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) के साथ विलास है, जिसके विना संसार का अस्तित्व असम्भव है। मन्दिरों के नीचे धर्मचक्र वा कालचक्र भी बना रहता है, जिसके विना सृष्टि का चलना असम्भव होता है।

केवल स्तम्भ भी मूलस्तम्भ के उपर्युक्त नियमों पर बनता है। इसके शिखर पर बुद्ध की चार अवस्थाओं के द्योतक चार वृषभ, सिंह, अश्वादि बने होते हैं। कभी बुद्ध का प्रतीक केवल एक गज, सिंह, वृषभादि[1] के रूप में बना रहता है। सारनाथवाले शिखर पर चार सिंहों के नीचे बौद्धधर्म के चारो मान्य लांछनों में से तीन गज, वृषभ और अश्व बने हुए हैं। सिंह ऊपर है। ये टूटे हुए सिंह त्रिमूर्ति की तरह दिखाई पड़ते हैं। सामनेवाले खुले हुए मुख में लोल जिह्वा है। दाहिनी ओरवाला मुख खुला हुआ विकराल मालूम होता है और बाईं ओरवाला प्रशान्त मुद्रा में है। ये क्रमशः त्रिमूर्ति के रज, तम, और सत्त्व के प्रतीक-जैसे हैं।

स्तम्भ पर श्री हैवेल के विचार मननीय हैं—

"रामराज ने मानसार शिल्प-शास्त्र से उद्धृत कर स्तम्भों के आकार के धार्मिक रूपों का बड़ा सुन्दर विवरण दिया है। चतुष्कोण ब्रह्मस्तम्भ, अष्टकोण विष्णुस्तम्भ और वर्तुल अथवा षोडशकोण संहारक रुद्रशिवस्तम्भ है। बौद्ध वाङ्मय में इसका रूपान्तर करनेपर

---

१. तत्रैव। पृ० ६२।

कहा जा सकता है कि चतुष्कोण स्तम्भ बुद्ध के, अष्टकोण संघ के और वर्तुल अथवा षोडशकोण धर्म के प्रतीक हैं। विना शिखर अथवा आधार के गोल स्तम्भ चन्द्रस्तम्भ हैं।"[१]

आगे चलकर आप लिखते हैं—

"महानिर्वाण तन्त्र में जो शिवस्वरूप सप्त ऊर्ध्वलोक का वर्णन किया गया है, वह निःसन्देह स्तम्भ का पूर्ण प्रतीकात्मक विवरण है। अधोलोक के सप्त पाताल पर निकला हुआ अधोमुख चार दलोंवाला ब्रह्मपद्म है, जिसकी कर्णिका मनोहर भूर्लोक है।"

इसके ऊपर भीम (भयंकर) नामक छः दलोंवाला शुभ पद्म है, जिसके अन्तश्चक्र में चार द्वार हैं। इसकी कर्णिका वायुमण्डल का भुवर्लोक है। इसके ऊपर दश पत्रोंवाला दुर्लभ दिव्य महापद्म है। इसकी कर्णिका के भीतर तेजस्तत्त्व है।

चौथा सोलह दलोंवाला आकाश का विशुद्ध पद्म है। इसकी कर्णिका में वायुतत्त्व, अर्थात् वज्र, विद्युच्छक्ति इत्यादि का निवास है।

पाँचवाँ सोलह दलों का विशुद्ध पद्म है, जिसकी कर्णिका में विशुद्ध ज्ञान का निवास-स्थान ज्ञानलोक है।

छठाँ दुर्लभ आज्ञापद्म है, जिसके दोनों दल पूर्णचन्द्र की तरह गोल हैं। इसकी कर्णिका में चिन्तामणि, अर्थात् इच्छा का रत्न है। यहाँ शिव, दिव्य हंसः सहित ब्रह्मा के रूप में विराजमान हैं। इसके नाम को उलट देने से सोहं—वह मैं हूँ बन जाता है।

सबके ऊपर सहस्र दलवाला अधोमुख महाविशाल कमल है, जिसमें आनेवाले सहस्रों लोकों के वीज हैं। यह परब्रह्म का पद है और वहाँ निराकार निश्चल काली वर्तमान हैं।" जिस तरह वादल से बिजली उत्पन्न होती है और उसमें छिप जाती है, उसी तरह निर्वाणदायी काली से ब्रह्मादि देव उत्पन्न होते हैं और उसमें विलीन हो जाते हैं।"[२]

---

१. Rām Rāz gives interesting details taken from the Mānāsār-Shilpashastra as to the ritualistic significance of different forms of pillars. A square-shafted one was associated with Brahma-worship; an octagonal one with that of Vishnu; the circular or sixteen sided one with Rudra-Shiva as the Destroyer. Translating this ascription with Buddhist terminology, it may be said that the square pillar stood for Buddha, an octagonal one for the Sangha, and a circular or sixteen sided one with Rudra-Shiva as for Dharma. A cylindrical pillar without capital or base was dedicated to Chandra, the moon.

२. The explanation of the symbolism of the whole stambh is no doubt that given in the Mahānirvāna Tantra of the seven upper spheres, described as a revelation of Shiva. First rising above the seven nether spheres of Patal, the underworld is the Brahma lotus with its four petals turned downwards the fruit of which is "the beautiful circle of earth".

महानिर्वाण तन्त्र के इस षट्चक्र के विवरण से षट्चक्र-निरूपण के षट्चक्रों का विवरण भिन्न है। इन दोनों में, चक्रों अथवा पद्मों का क्रम, भिन्न प्रकार से दिखलाया गया है। अन्यथा भाव में कोई अन्तर नहीं है।

विश्व की रचना का क्रम एक पुरुष अथवा मानव मूर्ति के रूप में माना जाता है। इसलिये परमात्मशक्ति का नाम परम पुरुष है। इसके अन्तर्गत मूलभावना यों है—

मनुष्य की रीढ़ के भीतर मूलाधार से लेकर सहस्रार तक एक शक्ति का स्तम्भ है। इसे अलंकृत भाषा में ज्योति-स्तम्भ कहते हैं और तन्त्र की भाषा में यह कुण्डलिनी है। इसमें नीचे से क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार— ये सात चक्र वा पद्म बने हुए हैं। इन पद्मों की कर्णिका के बीच से कुण्डलिनी का स्तम्भ मूलाधार से सहस्रार तक है और इस स्तम्भ के चारों ओर इन पद्मों के दल बने हुए हैं। मूलाधार रीढ़ के अन्तिम छोर पर है, और भूतत्त्व का अधिष्ठान है। इसमें चार दल हैं और यह चौकोर है। यह स्थिति-तत्त्व है। शिश्नमूल के सामने रीढ़ के भीतर स्वाधिष्ठान है। इसमें छः दल हैं और यह अप्‌तत्त्व का स्थान है। नाभि के सामने मणिपुर है, इसमें दश दल हैं और यह तेजस्तत्त्व का अधिष्ठान है। हृदय के सामने अनाहत है। इसमें बारह दल हैं और वायुतत्त्व का अधिष्ठान है। कण्ठकूप के सामने विशुद्ध है। इसमें सोलह दल हैं और यह आकाशतत्त्व का अधिष्ठान है। भ्रूमध्य के सामने आज्ञाचक्र है। इसमें दो

Over this is the blessed lotus, Bhima the Terrible with six petals and an inner circle having four openings. The fruit of it is Bhuwaloka, the region of the air.

Next above it is the rare flower of ten petals, Mahapadma, the heavenly lotus containing within its fruit, the fire element.

The fourth is the transparent lotus of Ether, with sixteen petals; its fruit is the abode of Vayu—wind-force (Vajras, electric power).

The fifth lotus is the transparent, with sixteen petals enclosing the fruit which is Jnana-loka, the abode of pure knowledge.

The sixth is Ajna-Padma, very rare with two petals round as the full moon. Within its fruit is the Chintamani, the Jewel of Thought and here Shiva dwells in bodily form as Brahma, with the divine swan—Hansa, a mystic bird, which being transposed becomes Soham—I am he.

Crowning all is the vast lotus with a thousand shining turned-down petals, which contain the germs of thousands of words yet unborn. It is the abode of Para-Brahma and there is the formless and the motionless one, Mahakali. "As the lightning is born from the cloud, and disappears within the clouds, so Brahma and all the gods take birth from Kali and will disappear in Kali, who is the giver of Nirvana.

—E. B. Havell. The Ancient and Medieval Architecture of India : A study of Indo-Aryan civilization. London. 1915. Page 58.

दल हैं और यह मन:शक्ति का स्थान है। इसके ऊपर सहस्रार है, जो बीज बिन्दु-स्थान है। ये लघुरूप में क्रमशः भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक हैं। इसका विस्तृत और विशाल रूप परमपुरुष का स्थूल, अर्थात् विराट् रूप है। जिस प्रकार मानव-रूप के शक्तिस्तम्भ में सातो चक्र गुंथे हुए हैं और शक्तिस्तम्भ, मूलस्तम्भ, अर्थात् गृह के प्रधान स्तम्भ की तरह है, उसी प्रकार परमपुरुष मूलस्तम्भ की तरह है, जिसमें मूलाधार से नीचे सात अधोलोक और सात ऊर्ध्वलोक छत्रदण्ड में छाते की तरह लगे हैं। यह ब्रह्माण्ड का छत्रदण्ड ही स्तम्भ की मूल भावना है और इसी भावना को हृदय में रखकर विभुशक्ति की कल्पना कर उपासना के लिये स्तम्भ-रूप में उसके प्रतीक का निर्माण किया जाता है। इसा का लघुरूप शिवलिङ्ग और विशाल रूप स्तूप है। प्रासाद पुरुष के रूप में विश्वरूप परमात्मा की रचना करते समय निधि-कलश और अमृत-कलश के बीच में इस 'त्रैलोक्यनगरारम्भ' मूलस्तम्भ की कल्पना की जाती है। यही बौद्धस्तम्भ है। बौद्धस्तम्भ उपासना के लिये भगवान् बुद्ध का प्रतिरूप या प्रतीक है।

जैनों ने भी इस सिद्धान्त और प्रतीक का इसी अर्थ में व्यवहार किया है। श्रीहैवेल ने अपने ग्रन्थ के पृ० १०५ में अष्टदल कमल पर बने हुए एक जैन स्तूप का चित्र दिया है। संकेत स्पष्ट है। अष्टदल कमल अष्टप्रकृति है और उस पर उठा हुआ स्तम्भ यंत्र के बिन्दु-स्थान पर (चित्र २०) सृष्टि के विभिन्न रूपों का आधार विभुशक्ति है।

स्थाणुक मूर्तियाँ विश्वरूप के प्रतीक हैं। पौराणिक, जैन और बौद्ध, सभी स्थाणुक प्रतिमायें अखिल विश्वपुरुष के प्रतीक और शिवलिङ्ग, स्तम्भ, स्तूप और प्रासाद के प्रतिरूप हैं।

बुद्धरूप से मुख्यतः सिंह, वृषभ, गज और अश्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सिंह, वृष, गज और अश्व सभी धर्म के चिह्न हैं। गज बुद्ध का अपना रूप है। इसी रूप में बुद्ध ने मायादेवी की कुक्षि में प्रवेश किया था। वैदिक यज्ञों का प्रतीक अश्व महाभिनिष्क्रमण में भगवान् का वाहन था। ये बुद्ध के प्रतीक के रूप में स्तम्भों के शिखर पर बनाये जाते हैं। जब शिखर पर सिंहादि की एक मूर्ति रहती है, तब यह बुद्ध का प्रतीक है और जब चार चार सिंहादि बने रहते हैं, तब ये बुद्ध के अवतार, महाभिनिष्क्रमण, धर्मचक्रप्रवर्त्तन और महा-परिनिर्वाण, इन चार अवस्थाओं के प्रतीक होते हैं। चैत्यों के स्तम्भों में भी इसी नियम का अनुसरण किया जाता है। लंका में अनुराधापुर के स्तम्भाराम और लंकाराम में इसी उद्देश्य से सहस्रों बड़े ही मनोहर किन्तु पतले स्तम्भ बनाये गये थे।[1]

स्तूप

स्तूप भी मूलस्तम्भ वा पुंजीभूत परमज्योति से प्रकट होकर परम शिव ने ब्रह्मा और विष्णु के कलह को शान्त किया था। शाक्त मत से देवताओं के शरीर से निकली हुई

१. चित्र के लिये देखिये – James Fergusson. History of Indian and Eastern Architecture. London. 1910, Pages 234 and 236.

पर्वताकार पुंजीभूत ज्योति घनीभूत होकर देवी बन गई। उसी तरह परम ज्योतिःस्वरूप विश्वात्मा बुद्ध का पुंजीभूत और घनाभूतरूप स्तूप है। स्तूप का अर्थ है जड़, मूल। यह विश्वमूल का प्रतीक है। यह विश्व और विश्वात्मा का साकार प्रतीक है। इसमें विभु के प्रतीक शिवलिङ्ग, स्तम्भ, पद्म, प्रासाद आदि के सभी संकेत भिन्न-भिन्न रूपों में सम्मिलित हैं। जैसे, शिवलिङ्ग के तीन भाग हैं, नीचे चतुष्कोण आदि, अष्टकोण मध्य और वर्तुलाकार शीर्ष। स्तूप के भी तीन भाग हैं, मूल, मध्य और शीर्ष। नीचे चौकोर वेदी और द्वारोंवाली वेष्टनी (घेरा) रहती है। वेष्टनी में तीन पट्ट रहते हैं। यह त्रिशक्ति त्रिरत्नादि के प्रतीक हैं। जिस प्रकार शिवलिङ्ग के चारो ओर शिव की मूर्तियाँ बना दी जाती हैं, उसी प्रकार स्तूप के सब ओर बुद्ध की मूर्तियाँ बनी रहती हैं अथवा यह बुद्ध रूप स्तम्भों से घिरा रहता है। (अनुराधापुर के स्तम्भाराम और लंकाराम को स्मरण कीजिये।) शिवलिङ्ग के रुद्रांश अग्रभाग और स्तम्भ के रुद्रकण्ठ की तरह इसका भी ऊर्ध्वांश गोल होता है। उस पर बुद्ध की अस्थि (धातु) अथवा नाना प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक रत्नों से भरे हुए धातुगर्भ (डागोवा) की स्तूपिका बनी रहती है। स्तूपिका कभी कमलाकार और कभी छतरी की तरह बनी रहती है, जिसके भीतर परमानन्द का धातु रखा रहता है। यही यथार्थ धातुगर्भ (डागोवा) है। यही प्रासादों का कलश है। स्तूपिका के ऊपर सृष्टि के लोकों का प्रतीक छत्र रहता है। छत्रदण्ड में लगे हुए छत्रों की संख्या प्रायः एक, तीन, सात और चौदह होती है। एक छत्र धर्मचक्र है। यह प्रभामण्डलवाली बौद्ध मूर्तियों के ऊपर भी बना रहता है। तीन त्रिभुवन, सात सप्तलोक और चौदह चतुर्दश भुवन के प्रतीक हैं। इसको वायुपुराण ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

उपर्युपरिलोकानां छत्रवत् परिमण्डलम् ॥[1]

"लोकमण्डल एक-दूसरे के उपर छत्र की तरह हैं।"

स्थाणुक मूर्तियों में और विशेषकर बुद्ध की स्थाणुक मूर्तियों में जटामुकुट और करण्डमुकुट में ये तीन, सात और चौदह कुण्डल वा लपेट के रूप में दिखाये जाते हैं और किरीटमुकुट में रत्नों की संख्या से यह संकेत प्रकट होता है। बोरोबुदूर (जावा) का स्तूप श्रीचक्र पर बना है। इससे यह निःसंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीचक्र की तरह स्तूप भी विश्व और विश्वात्मा का प्रतीक है।

बुद्ध की मूर्तियाँ भी इन्हीं सिद्धान्तों पर बनाई जाती हैं। बैठी हुई मूर्तियों के तीन भाग होते हैं। नीचे का भाग आसन है, मध्य भाग में बुद्ध का शरीर रहता है और ऊर्ध्वभाग में मस्तक के चारों ओर वर्तुलाकार प्रभामण्डल है। इन तीनों भागों को ढाँपने के लिये इनके बाहर रेखा खींचने से शिवलिङ्ग की आकृति बन जाती है।

प्रभामण्डल के भीतर स्थाणुक बुद्धमूर्ति शिवलिङ्ग पर अङ्कित शिवमूर्ति-जैसी मालूम होती है। प्रभामण्डल के ऊपर त्रिशूल इस सादृश्य को और भी पूर्ण बना देता है। यह प्रभामण्डल स्तूप और शिवलिङ्ग—दोनों का ही प्रतीक है, जिसके भीतर ज्योतिर्मय पूर्णब्रह्म के रूप में बुद्ध वर्त्तमान हैं।

१. वायुपुराण। ५०.७७।

देवी-देवता

बौद्धमत में शैव, शाक्त और वैष्णव देवी-देवताओं का स्वच्छन्दता से प्रयोग किया गया है। कहीं इनका नाम बदल दिया गया है और कहीं ज्यों-का-त्यों है। इनके प्रतीकों में भी कोई अन्तर नहीं है।

तारा – ये शाक्तों की द्वितीया महाविद्या ब्रह्ममयी तारा हैं। प्रायः इनके एक हाथ में कमल है और दूसरा वरदहस्त है। तारा की चतुर्भुजी मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं। उनके एक हाथ में खड्ग रहता है। कभी कामाख्या की तरह कमल पर बैठी रहती हैं।

श्यामा—इनकी मूर्ति भी तारा की तरह ही है।

प्रज्ञापारमिता—इसका अर्थ होता है ज्ञान के पारंगत। यह महासरस्वती के नाम का रूपान्तर है। महादेवी की तरह इनकी उपासना होती है।

मञ्जुश्री - यह महात्रिपुरसुन्दरी के नाम और रूप का प्रतिरूप है। मञ्जुश्री की मूर्ति का निर्माण पुरुष-रूप में किया जाता है। इनके एक हाथ में खड्ग रहता है, जो काली और तारा के खड्ग की तरह अज्ञान का नाश करने के लिये ज्ञान-खड्ग है।

भैरव—नालन्दा की खुदाई में भैरव की मूर्ति भी मिली है। पटना-संग्रहालय में इसे हयग्रीव अङ्कित किया गया है। किन्तु हयग्रीव विष्णु के अवतार हैं, जिसमें सर्पवलय, व्यालयज्ञोपवीती और त्रिनेत्र हो ही नहीं सकता। यह भैरव के ध्यान से मिलता है। मालूम होता है कि भैरव की उपासना के लिये इस रूप को शैव और शाक्त मत से ज्यों-का-त्यों ले लिया है।

"बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ नये बौद्धों के हृदय में पुराने देवी-देवताओं के लिये श्रद्धा बनी रही और वे उन्हें अपने नये धर्म में ले आये। उन्होंने देखा कि इन्द्र, ब्रह्मा और दूसरे देवगण लिये जा चुके थे। दक्षिण के हीनयान में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया गया। विष्णु, ब्रह्मा, नारायणादि पुराने हिन्दू नाम से ही ले लिये गये।

किन्तु महायान में लिये जाने पर भी इन्हें विशाल विश्वकल्पना में नाम और कथाओं द्वारा उचित रीति से बैठाया गया, जिससे इन्द्र अथवा शक्र, शतमन्यु और वज्रपाणि बन गये, और उनके स्वर्ग का नाम पड़ा त्रयस्त्रिंशलोक। बौद्धधर्म में प्रसिद्ध ब्रह्मा, मञ्जुश्री (ज्ञान का दीप) बन गये, जो अलौकिक शक्तिवाले थे और इस पर भी लक्ष्मी और सरस्वती उनकी स्त्री बनी रहीं। अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि का विष्णु अथवा पद्मनाभ से सादृश्य है। चार राजाओं में से एक का नाम विरूपाक्ष है, जो शिव का भी नाम है। सप्त तथागत ब्राह्मणों के सप्तर्षि का स्थान ले लेते हैं और गणेश भी विनायक और रक्ष-विनायक (जापानी विनायकिया) के नाम से ले लिये गये हैं।

अर्हत् मौद्गल्यायन, महास्थान या महास्थानप्राप्त बोधिसत्त्व बन गये और शिव की त्रिमूर्ति की तरह अमिताभ बुद्ध की त्रिमूर्ति के बाईं ओर इनका स्थान रहा। ऐसे धर्म के

ढीले-ढाले रास्ते में अजित, अर्थात् भविष्य बुद्ध मैत्रेय को भी वही स्थान मिला और शाक्यमुनि और अवलोकितेश्वर के साथ ये अन्य त्रिमूर्ति निर्माण करते हैं ।" [१]

इस प्रसंग में ग्रीनवेडेल का यह अनुमान भी विचारणीय है; क्योंकि देवताओं का रूप-ग्रहण साधना के निमित्त पर आश्रित है ।

त्रिरत्न

त्रिरत्न पर श्री हैवेल के विचार इस प्रकार हैं । हाथीगुम्फा की त्रिमूर्ति पर विचार करते समय आप लिखते हैं-—

"एक के तीन रूप, अर्थात् भारतीय त्रिमूर्ति की भावना पर अनेक पक्ष से विचार किया जा सकता है । मूलरूप में, भारतीय आर्यों की अन्यान्य भावनाओं की तरह यह भावना प्राचीन ग्राम-समाज से ली गई थी । पहला रूप स्रष्टा ब्रह्मा का था, जिसे सभी आर्य सभी वस्तुओं के आदि कारण के रूप में अथवा आर्यों के महागुरु बुद्ध के रूप में पूजते थे । यह आर्यजाति के अध्यात्मिक ज्ञान का प्रतीक था । इसका दूसरा रूप न्याय था,

१. ग्रीनवेडेल का मत है—

As Buddhism spread, the converts naturally carried into their new religion much of their reverence for the old Hindu gods, and they found that the traditions offered them already embraced Indra, Brahma and others of their former divinities. Among the Hinayana sects in the south, little change was made. Vishnu, Brahma, Narayan etc. were simply accepted under their Hindu names.

But with the Mahayana schools, whilst these gods were received, they were made to fit into an elaborate system of nomenclature and myth, by which each was assigned a place in the illimitable aeons of their cosmogony: Indra or Shakra became Shatamanyu and Vajrapani and his heaven or Swarga was named Trayastrimshaloka: Brahma so well known in Baudha legend, had his chief attributes transferred to Manjushri—the "lamp of wisdom" and of supernatural power; and still Saraswati continued to be one of his wives, the other being Lakshmi; Avalokiteshvara or Padmapani, again, has some analogy to the attributes of Vishnu or Padmanabh; Virupaksha, one of the "four kings" wears one of Shiva's well-known names; the Sapta tathagatas take the place of the Brahman seven Rishis; and even Ganesha has been taken over both as Vinayaka and as the demon Vinayaka (Jap. Vinayakia).

Their Maudgalyayana the Arhat, became Mahasthana or Mahasthanaprapta Bodhisattva, and still kept his place at Buddha Amitabhas' left hand in a popular triad analogous to the Shaiva Trimurti. But in the easy going way of such a religion, Ajit or Maitraya—the Buddha of the future—was also given the same place, and with Shakyamuni and Avalokiteshvara forms an alternative Triratna or triad.

—Gruenwedel, Buddhist Art in India, London, 1901. Pages 182-183.

जो गांव के मुखिया अथवा ग्राम-पंचायत के रूप में आर्यों के समाज का स्तम्भ था। तीसरा वेद से सम्प्राप्त आधिभौतिक और आध्यात्मिक धर्म था। ये विश्वव्यापी धर्म के प्रकट और परस्पर परिवर्तनीय रूप थे, इसलिये ये एक ईश्वर के तीन रूप और तीनों एक ईश्वर के रूप थे।"[१]

यहाँ तर्क द्वारा त्रिशक्ति के निकट तक श्री हैवेल पहुँच गये हैं, किन्तु इससे परिचित नहीं रहने के कारण इसके यथार्थ रूप को ग्रहण नहीं कर सके हैं। यथार्थ में संघ सृष्टि का प्रतीक है। यह वैष्णवादिकों का पद्म है। धर्म उसे धारण करनेवाली शक्ति है। इसका प्रतीक शाक्तादिकों की तरह सिंह, वृषभादि हैं, और बुद्ध इनकी सृष्टि-स्थिति-संहार-क्रिया के संचालक विभु हैं। यह शाक्तों की ज्ञानेच्छाक्रिया और वेदान्तियों का सच्चिदानन्द है। यही वेद का 'एकं सत्' 'ऋतं बृहत्', 'ऋतं सत्यम्' इत्यादि हैं।

मालूम होता है कि खि्रस्तधर्म और इसलाम में ये सिद्धान्त ज्यों-के-त्यों ले लिये गये हैं। त्रिशूल का रूपान्तर क्रॉस है और त्रिशक्ति अथवा त्रिरत्न का परिवर्तित रूप ईश्वर-पिता, ईश्वर-पुत्र और ईश्वर-जीव (God the father, God the son, God the holy Ghost) है। जीव के प्रतीक हंस की तरह 'होली गोस्ट' को पंडुक या कबूतर के रूप में अङ्कित किया जाता है। यह चित्रों में और अधिक स्पष्ट होगा।

इसलाम के विषय में भी ऐसे अनुमान उठ खड़े होते हैं। इसलाम हज़रत ईसा, हज़रत मूसा इत्यादि को धर्माधिकारी मानते हैं। इससे और अन्यान्य बातों से इसलाम पर खि्रस्तधर्म का प्रभाव स्पष्ट है। बौद्ध त्रिरत्न की तरह मुहम्मद, दीन और मुसलिम समाज है। यह बौद्ध और खि्रस्तधर्म का मिला-जुला परिवर्तित रूप-जैसा मालूम होता है। चाँद और सितारा और त्रिशक्ति के तीन बिन्दुओं के चन्द्रबिन्दु-रूप में कोई अन्तर नहीं है। मस्जिदों के उपर उलटा कमल और तीन गुम्बज भी विचारणीय हैं। इसलाम का मूल स्रोत से स्वतन्त्र अध्ययन करने से इसका पूरा पता लग सकता है।

---

१. "The Indian conception of the Trimurti, the three aspects of the one may be considered from many different standpoints. Originally like all other Indo-Aryan conceptions it was derived from the like of the ancient Indian village community. The first aspect was Brahma, the creator, whom all Aryans worshipped as the cause of all things; or Buddha the great Aryan Guru. It was the symbol of the spiritual wisdom of the Aryan race. The second aspect was justice, the pillar of Aryan society, represented by the village council, or by the head of the tribe. The third was the Dharma, the law spiritual and temporal, revealed and recorded by the Vedas. And as all three aspects were interchangeable and the manifestations of the universal Law, together they represented God as three in one and one in three."

—E. B. Havell. The ancient and Medieval Architecture of India; A study of Indo-Aryan Civilization. London. 1915. Page 161.

गजनी में महमूद गजनवी की कब्र के सामने शिवलिङ्गाकार स्तम्भ हैं। हो सकता है कि ये बौद्धों के बनाये हों। पर महमूद की कब्र पर बने हुए शाक्तों के षट्कोण यंत्र का बना रहना संयोग की बात नहीं कहा जा सकता। बीजापुर में मुहम्मद आदिलशाह के रौजे की छत में कब्र के ऊपर बिन्दु, वृत्त शूलाष्टक और अष्टकोणवाला यंत्र बना हुआ है। इन सब बातों को देखकर यह उत्सुकता होना स्वाभाविक है कि इनकी मूलभावना को समझने की चेष्टा की जाय।

भारत में त्रिशक्ति और त्रिरत्न का सिद्धान्त सर्वव्यापी रहा। मालूम होता है कि ख्रिस्तधर्म और इसलाम ने भी इसे आध्यात्मिक साधनाओं के लिये अपना लिया।

प्रासादपुरुष अर्थात् मन्दिर-प्रतीक

देवालयों के मध्यस्थ मुख्य भाग का नाम प्रासाद है। कम्बोडिया में इसे प्रासात् कहते हैं। इसके बाहर मण्डप और मण्डप के बाहर प्राचीर बना रहता है। इसे मन्दिर और देवमन्दिर भी कहा जाता है।

यंत्र और शिवलिङ्गादि की तरह देवमन्दिर विश्वरूप परमपुरुष का प्रतीक है।

मन्दिर के निर्माण की विधि इस प्रकार है—

मन्दिर के बीचवाले प्रधान गृह का नाम प्रासाद है। प्रसाद का जहाँ से आरम्भ होता है, वहाँ सबसे नीचे एक चौकोर वेदी रहती है। इस चतुष्कोण वेदी पर प्रासाद की चतुष्कोण भित्ति उठती है। इसके भीतर ठीक बीच में एक चतुष्कोण रहता है। इसका नाम गर्भगृह है। इसमें वास्तु-पुरुष की प्रतिष्ठा की जाती है और इसे वास्तुपुरुष-मण्डल कहते हैं। वास्तुपुरुष-मण्डल के मध्य में ब्रह्मस्थान रहता है, जहाँ निधि-कलश की स्थापना की जाती है। यह निधि-कलश एक पात्र है जिसमें स्वर्णरत्नादि रखकर गर्भगृह के बीच ब्रह्मस्थान में गाड़ दिया जाता है। प्रासाद ज्यों-ज्यों ऊपर उठता जाता है, त्यों-त्यों उसपर पशु-पक्षी, देव-देवी, मिथुन, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, रक्षादि की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं तथा उसके विमान अर्थात् भूमियाँ बनती जाती हैं। शिल्पशास्त्रानुसार इनकी संख्या एक से सोलह तक हो सकती है, किन्तु इनकी संख्या साधारणतः एक, तीन, सात और चौदह होती है। मैसूर के चामुण्डीपर्वतवाले चामुण्डामन्दिर में सात, बोधगया के मन्दिर में चौदह, नालन्दा विश्वविद्यालयवाले मन्दिर में चौदह,[1] छोटे मन्दिरों में एक और खजुराहो के अनेक मन्दिरों में तीन विमान भी हैं। इन विमानों का अन्त ऊपर एक चौकोर वेदी में होता है। उसके ऊपर एक चक्राकार शिलाखण्ड रहता है। इसे आमलक कहते हैं।[2] इसका भीतरी अंश अंगूठी की तरह शून्य होता है और बाहर आँवले की तरह रेखाएँ उभरे हुए दाँत की तरह कटे रहते हैं। पीछे की ओर मूठ की तरह इसका एक अंश निकला रहता है, जिसमें ध्वजदण्ड डालने के लिये

१. यह मन्दिर नष्ट हो गया, किन्तु इसका एक रेखाचित्र भारत-सरकार के पुरातत्व-विभाग के पटनावाले कार्यालय में है।

२. दक्षिणापथ के मन्दिरों में आमलक के स्थान में वर्तुलाकार हर्म्य रहता है। इससे सिद्धान्त में कोई भेद नहीं पड़ता।

छेद बना रहता है। इसे वेणुरन्ध्र और वेणुकोष कहते हैं। आमलक के ऊपर कलश रहता है। इसमें परमपुरुष की सोने की मूर्ति रहती है। कलश सोने का होना चाहिये, पर यह ताम्बे और पीतल का भी हो सकता है। इसका नाम अमृत-कलश है। यह निधि-कलश के ठीक ऊपर रहता है। निधि-कलश और अमृत-कलश के बीच, ऊपर से नीचे तक ज्योतिर्मय मूलस्तम्भ की कल्पना की जाती है, जिसके चारों ओर सारी सृष्टि की रचना के प्रतीक बनाये जाते हैं। कलश का मुख एक बन्द कमल से ढंका रहता है। इसके मुँदे हुए दलों का अग्रभाग ऊपर की ओर रहता है।

इस प्रकार मन्दिर का निर्माण हो जाने पर, जितना ऊँचा मन्दिर होता है, उतने ही ऊँचे बाँस में या और किसी ध्वजदण्ड में पताका लगाकर इसे मन्दिर के शिखर पर आमलक में लगे हुए वेणुकोष में डाल देते हैं और पताका अनन्त आकाश में लहराने लगती है। आमलक के नीचे छोटे-बड़े छेद रहते हैं जिनका नाम गवाक्ष है।

प्रासाद के निम्नभाग में गर्भगृह के चारो ओर चार द्वार होते हैं। पूर्व में शान्तिद्वार, दक्षिण में विद्याद्वार, पश्चिम में निवृत्तिद्वार और उत्तर में प्रतिष्ठाद्वार रहता है। इनमें एक द्वार मन्दिर में प्रवेश करने के लिये खुला छोड़ दिया जाता है और तीन इस प्रकार बन्द किये जाते हैं कि उनमें प्रतिमा की स्थापना करने के लिये स्थान बना रहता है। खुले हुए द्वार के सामनेवाला बन्द द्वार घनद्वार कहलाता है। यदि गर्भ-गृह में वास्तुपुरुष-मण्डल को घेरकर छोड़ दिया जाता है तो इसी घनद्वार में प्रधान देवता की प्रतिमा की स्थापना की जाती है। नहीं तो गर्भगृह के मध्य में प्रधान देवता की मूर्ति की स्थापना की जाती है और इन द्वारों में पार्श्वदेवता, आवरणदेवता अथवा द्वारदेवता की स्थापना की जाती है।

प्रासाद का नाम मूलशिखर, मूलमंजरी और मूलशृंग भी है। इसके बाहर एक चतुष्कोण वेदी रहती है, जिसपर प्रासाद के चारो ओर प्रदक्षिणा के लिये परिक्रमा बनी रहती है। इस वेदी पर प्रासाद के चतुर्दिक् स्तम्भों पर मण्डप बना रहता है। इन स्तम्भों के साथ आवरणदेवताओं की स्थापना होती है। मण्डप के ऊपर छोटे-बड़े मन्दिरों के शृङ्ग या शिखर मूलशिखर की ओर क्रमशः उठते चले जाते हैं। इनके नाम उरोमंजरी, शृङ्ग, लता इत्यादि हैं। दक्षिणापथ में इन्हें कूट, कोष्ठ, पंजर इत्यादि कहा जाता है। इनके भी आमलक[१] शिखर, कलशादि मूलमंजरी, अर्थात् प्रासाद की तरह होते हैं। ये प्रासाद पर आश्रित की तरह अड़े हुए ऊपर की ओर उठते हैं।

मण्डप की वेदी के बाहर चतुष्कोण प्राकार या प्राचीर रहता है। इस प्रकार मन्दिर के साथ प्रासाद वेदी और प्राकार के तीन चतुष्कोण होते हैं। यंत्रों से मिलाकर देखने से इनका आकार और महत्त्व समझ में आता है।

यंत्रों में एक बिन्दु, एक या दो त्रिकोण, एक, दो अथवा तीन वृत्त, त्रिकोण अथवा अष्टकमलदल और एक, दो अथवा तीन रेखाओंवाले चतुष्कोण रहते हैं। मन्दिर, स्तूप, स्तम्भ और शिवलिंगादि इन्हीं सिद्धान्तों पर बनते हैं। यंत्र की शैली पर हम मन्दिर के ऊर्ध्वभाग से ही इस पर विचार करेंगे।

---

१. आमलक के विस्तृत विवरण के लिये Stella Kramrisch का The Hindu Temple, Calcutta. 1946. Vol. II देखना चाहिये।

प्रासाद के अमृत-कलश के ऊपर कमलकलिका का ऊर्ध्वभाग विन्दु-स्थान है, जो नाद-विन्दु के रूप में साकार सृष्टि का आरम्भ है। बन्द कमल अविकसित सृष्टि का संकेत है। यहाँ से आनन्दस्वरूप परमात्मा आकार ग्रहण करने लगता है। इस भावना को, आनन्दामृत के घट में स्वर्णमयी पुरुषप्रतिमा की स्थापना कर, व्यक्त किया जाता है। यह वेदान्तियों का आनन्दघट, वैदिकों का सोमघट, शाक्तों और वैष्णवों की कामकला वा समरसघट, जैनों का केवलत्व और बौद्धों की शून्यता और करुणा है। बिन्दु आनन्द को लेकर आत्मविस्तार करने लगता है, और आमलक-वृत्त, अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार आमलक की संख्या तीन भी हो सकती है। प्रकृति का आमलक-वृत्त फैलता हुआ सृष्टि का विस्तार करता चलता है। इसमें देवलोक, मर्त्यलोक, पाताल, देव, दानव, किन्नर, यक्ष, पशु, पक्षी, मानव, मिथुनादि की सृष्टि करता हुआ यह वृत्त भूचक्र के चतुष्कोण में रुक कर स्थिरता प्राप्त करता है और आकार ग्रहण करता है।[1] यह चतुष्कोण धराचक्र, दिक् अर्थात् स्थिति-शक्ति का प्रतीक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गत्यात्मक कालस्वरूप नादबिन्दु, अर्थात् कलश से सृष्टिरूप प्रासादपुरुष का आरम्भ होता है और स्थिति के चतुष्कोण पर आकर यह स्थिर होता है। यही प्रासादपुरुष का संक्षिप्त रूप है। अब इसके एक-एक संकेत को लेकर उस पर हम विचार करेंगे।

यंत्रों में स्थित्यात्मक दिग्रूप धराचक्र की रेखाओं की संख्या एक, दो और तीन होती है। आद्याशक्ति (काली) के चक्र में सृष्टि-क्रम का अत्यन्त सरल रूप रहता है। इसलिये वृत्त और चतुष्कोण की रेखा की संख्या एक होती है। द्वितीया अर्थात् तारारूप में यह जटिल हो जाता है। इसलिये शिवशक्तिरूप चतुष्कोण की रेखा की संख्या दो हो जाती है। श्रीविद्या के श्रीचक्र के रूप में ४३ तत्त्व, अष्टप्रकृति, षोडशकला आदि तत्त्वों का विस्तृत सन्निवेश होने के कारण सृष्टि के अत्यन्त विकसित और जटिल त्रिगुणात्मक रूप का प्रतीक चतुष्कोण तीन रेखाओंवाला होता है। मन्दिरों में भी प्राचीर वेदी और प्रसाद के तीन चतुष्कोण होते हैं। जिसमें प्राचीर नहीं रहता है, उसमें दो, और जिसमें मण्डप की वेदी नहीं रहती है, उसमें केवल एक चतुष्कोण होता है। ऊपर अमृतकलश से नीचे प्रासाद के चतुष्कोण तक अष्टभिन्ना प्रकृति[2] का विकास लता-गुल्म, पशु-पक्षी, मिथुन, देव-दानव आदि के रूप में दिखाया जाता है। यही अष्टप्रकृति (पञ्चतत्त्व, बुद्धि, अहंकार) विष्णवंश में अष्टकोण के रूप में दिखलाई जाती है, जिसका बाह्य अंश वृत्ताकार प्रकृति है, जो जलाधार के रूप में दिखाई जाती है। सभी यंत्रों में यही अष्टप्रकृति अष्टदल कमल के रूप में अङ्कित की जाती है।

हंस की प्रतिकृति जीव का प्रतीक है। यह एक अत्यन्त प्राचीन भावना है।

---

१. धरायाश्चतुष्कोणचक्रम्। षट्चक्रनिरूपणम्।

२. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गीता। ७.४।

इस पर ऋग्वेद की हंसवती ऋचा[1] प्रसिद्ध है। हंस की उपमा पर पक्षिमात्र को जीव कहा जाता है, जो शरीर के पिंजड़े में आबद्ध रहता है। इन पक्षियों के रूप में जीव परमानन्दस्वरूप शिखर पर अमृतघट की ओर उड़ता जाता है।

मुख्य-प्रासाद के आसपास जितनी मंजरियाँ और शृङ्ग बने रहते हैं, उन पर बने हुए धातु के कंगूरों और कलशों पर पड़कर चमकते हुए सूर्य, चन्द्र और ग्रहनक्षत्रों के प्रकाश अनन्त आकाश में चमकनेवाले तारों के रूप में लोकों के प्रतीक हैं और ऊपर उठता हुआ प्रासाद अनन्त व्योम में वर्तमान परमपुरुष का प्रत्यक्ष रूप है।

मन्दिरों पर देव, गन्धर्व, अप्सरा, यक्षादि की प्रतिकृतियाँ बनी रहती हैं। इनके हाथों में ढाल, तलवार, वाद्ययंत्रादि रहते हैं। ये उछलते, कूदते, नाचते, गाते और उड़ते दिखाई पड़ते हैं। इन अपार्थिव जीवों की प्रतिकृतियों और भाव-भंगियों का भी विशेष संकेत और महत्त्व है।

पार्थिव जीवों के स्थूल शरीर[2] पृथ्वी-तल पर आश्रित अस्थिचर्मादि के बने होते हैं। ये अन्नमय कोष के अन्तर्गत हैं। किन्तु देव, गन्धर्वादि अपार्थिव जीवों के आकार प्राणमय कोष के अन्तर्गत हैं। इसलिये इनकी गति अनन्त आकाश में होती रहती है और अधिक स्फूर्ति से नाना प्रकार की भंगियों में ये शरीर की आकृतियों को बदल सकते हैं। इनमें कोई वाद्ययंत्र बजाता है, कोई गाता है और कोई नाचता है। इस प्रकार ये अपने स्रष्टा परमपुरुष की आराधना करते हुए अमृतत्व की ओर बढ़ते जाते हैं। कोई हाथ में खड्ग लेकर खड्गाकार झुके हुए शरीरों से, अविद्या-परिवार के मेघमण्डल को चीरते हुए अमृतघट (अमृतत्व) की ओर उड़ते दिखाई पड़ते हैं। यह परमपद की प्राप्ति के लिये जीवमात्र के उद्यम का प्रतीक है।

आनन्द की मधुर ध्वनि (मुरली, शङ्ख, डमरू, वीणा आदि) से सृष्टि का आरम्भ और विकास होता है। इसलिये संगीत (नृत्य, गीत, वादित्र) साङ्गोपाङ्ग देवाराधन का एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अङ्ग है। यह विश्वसंगीत और विश्वलीला का अनुकरण देवाधिदेव को प्रसन्न करने का प्रधान साधन है। वह स्वयं नटराज, नटवर, नटेश्वरी इत्यादि है। इसलिये नृत्य से प्रसन्न होता है। गन्धर्व, किन्नर और अप्सराएँ नृत्य, गीत और वादित्र से प्रभु की कृपा प्राप्त कर अमृतकलश, और अनन्त शून्यता की ओर उठते हैं जिसका संकेत अनन्त शून्य में लहराती हुई शिखर के वेणुकोष की ध्वजा है।

यह राजसिक पूजा की रीति है। रजः शब्द रञ्ज धातु से बनता है। रज्यते अनेन इति रजः। जिससे सृष्टि की सजावट अथवा विस्तार किया जाय, उसे रजस् कहते हैं।

१. हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोतावेदिसदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥
—ऋग्वेद। ४. ४. ०. ५। शुक्लयजुर्वेद। १२. १४। कठोपनिषत्। ५. २।
ऋग्वेद में अन्तिम शब्द बृहत् नहीं है।

२. गरुडपुराण। १५.२५।

राजस पूजा का अर्थ है प्रकृति के आत्मविस्तार की प्रक्रिया के अनुकरण द्वारा उपासना। यह स्थूल उपासना-पद्धति है। आन्तरिक अथवा मानसिक पूजा में ब्रह्म हृदय में नृत्य करने लगता है और सारी आन्तरिक वृत्तियाँ और शक्तियाँ क्षुब्ध होकर महारास मचा डालती हैं। ऋषि और कविगण नाना प्रकार से इसका वर्णन करने से थकते नहीं हैं।

मिथुनप्रतीक – मन्दिरों के गर्भगृह के द्वार और विमानों पर मिथुन की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। इनके बिना मन्दिर का निर्माण साङ्गोपाङ्ग पूर्ण नहीं होता, अधूरा रह जाता है। यह यंत्रद्वारा बड़ी सरलता से स्पष्ट हो जाता है।
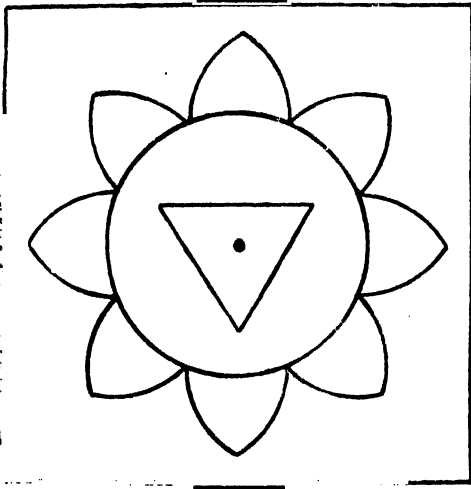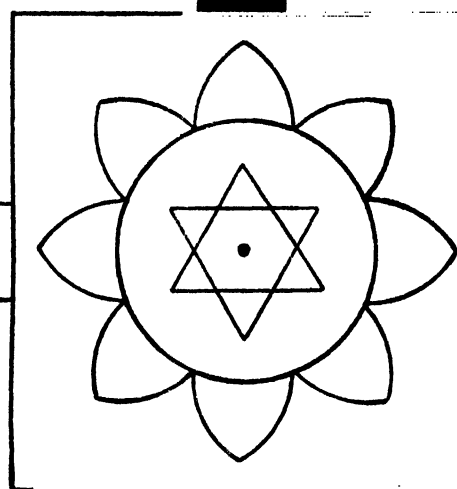
चित्र नं० १ **चित्र नं० २**

सृष्टि के तीन रूप हैं—पर, अर्थात् अशेष कारण, सूक्ष्म और स्थूल। इन्हीं के भिन्न-भिन्न नाम हैं प्राज्ञ-तैजस-विश्व, ईश्वर-हिरण्यगर्भ-विराट् इत्यादि। यंत्र का बिन्दु, पर, प्राज्ञ और ईश्वर का प्रतीक है। यह फैलकर और घनीभूत होकर सृष्टि का सूक्ष्म रूप ग्रहण करता है। यह अभिन्ना, अर्थात् समस्त प्रकृति है। इसका प्रतीक वृत्त है। इस प्रकार यह वृत्त, सूक्ष्म, तैजस, हिरण्यगर्भ इत्यादि का प्रतीक है। सूक्ष्म से सृष्टि का स्थूल रूप प्रकट होता है। यहाँ प्रकृति टूटकर आठ रूपों में स्थूल रूप ग्रहण करती है। ये आठ रूप हैं—क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम, मन, बुद्धि और अहंकार। इनके नाम स्थूल, विश्व, विराट् इत्यादि हैं। इसके प्रतीक-वृत से लगे हुए आठ त्रिकोण अथवा आठ कमलदल हैं। इनका नाम अष्टयोनि भी है। यदि चेतना (बिन्दु) भूमितत्त्व में प्रवेश कर अपनी लीला न करे, तो भूमि बेकार बनी रहेगी और नदी, पर्वत, लता, जन्तु इत्यादि किसी की भी सृष्टि न होगी। चेतना का सम्पर्क भूतत्त्व में शक्ति भरता है और सृष्टि-लीला का विस्तार होने लगता है। इसी प्रकार यदि चेतना का सम्पर्क मन या बुद्धि से न हो, तो मन-बुद्धि बेकार पड़े रहें। यह चेतना का सम्पर्क है कि मन-बुद्धि में कार्यक्षमता उत्पन्न होती है और सृष्टि-लीला के कार्य का विस्तार होता है। इस अष्टभिन्ना प्रकृति से चेतना के सम्पर्क से आठ मिथुन प्रस्तुत होते हैं। इस मिथुन (जोड़े) का आरम्भ बिन्दु (चेतना) की गति-स्थिति

(शिवशक्ति) से आरम्भ होता है। ये ही वेद के द्यौ और पृथिवी हैं। इनके प्रतीक-बिन्दु के बाहर दो त्रिकोण हैं और इसका विस्तृत रूप अष्टप्रकृति है, जिनके प्रतीक, अष्ट त्रिकोण या कमलदल हैं। इनके और चेतना के आठ जोड़े का अंकित होना अनिवार्य है। ऐसा नहीं होने से मन्दिर-प्रतीक से सम्बद्ध सृष्टि के सभी संकेत पूर्ण न होंगे और प्रासाद-प्रतीक का निर्माण अपूर्ण रह जायगा। इसलिये मन्दिरों पर अष्टमिथुन का बनाना अनिवार्य-सा है। संक्षिप्त रूप में (जैसे छोटे मन्दिरों में) इनकी संख्या एक होगी, उचित आकारवाले में आठ और बहुत-सी मंजरियोंवाले विशाल मन्दिरों में इनकी संख्या पचास से भी अधिक होती है; क्योंकि मूल तत्त्वों के बाद कल्पित तत्त्वों की संख्या निर्धारित नहीं है। किन्तु सिद्धान्त द्वारा निर्णीत संख्या आठ है। ब्रह्म के इन मिथुनरूपों की विधिवत् पूजा की जाती है और तन्त्र-ग्रन्थों में इनकी पूजा और बलि का विधान है। इस भावना को मनीषियों ने भिन्न युगों में भिन्न प्रकार से प्रकट करने की चेष्टा की है। इसका संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है।

परम पुरुष की कामना ही सृष्टि का आदि कारण है और इसकी शान्ति में ही सृष्टि का लोप है। इस सिद्धान्त को सभी तत्त्वज्ञानी[१] मानते हैं, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के हों। मिथुन-प्रतीक में परमानन्द के उल्लास (वैदिकों का सोमरस और तान्त्रिकों की कामकला) से सृष्टि के आरम्भ की, ब्रह्म-जीव की लीला की और जीव के मोक्ष की क्रिया अंकित की जाती है। इसलिये मन्दिरों के शिलालेखों[२] में मन्दिरों के निर्माता तथा दाताओं को आदेश दिया गया है कि जिस उद्देश और शुद्धबुद्धि से प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं, वैसी ही शुद्ध और पापरहित बुद्धि से मन्दिर में प्रवेश करे और प्रासाद-पुरुष के विराट् शरीर में अद्भुत संसार की सृष्टि और लीला का जो क्रम अङ्कित किया गया है, उसमें परमात्मा का दर्शन करे। मनुष्यों के निवासगृहों पर ऐसी मूर्तियों का अङ्कन निषिद्ध है। साधना-पद्धति में ऐसे ५० मिथुनों का बलि देने और उनकी पूजा का विधान है[३] और शिल्प-ग्रन्थों[४] में इनका अङ्कन अनिवार्य-सा कर दिया गया है।

पुरुष-प्रकृति अथवा ब्रह्म-जीव की मिथुन-भावना का निर्देश ऋग्वेद[५] में मिलता है। इससे

१. बौद्ध यब-युम के चित्रों के परिचय में इसका विशेष विवरण मिलेगा।

२. Sirpar Inscription. Epigraphia Indica. Vol. XI. page 190.

३. तन्त्रराजतन्त्रम्। २१.८८-९६।

४. क. बृहत्संहिता ५५, हयशीर्ष पञ्चरात्र, अग्निपुराण। १०४-३०, समराङ्गणसूत्रधार। ४०.३०-३४

ख. "The earliest Mithuna yet known is carved on one of the earliest monuments yet known, i.e. of about the 2nd Cen. B.C. in Sanchi Stupa II."—Marshall-Foucher, the Monument of Sanchi, Pl. LXXVII.2oa.

"Mithuna is one of the permanently recurrent themes of Indian sculpture. A 'classical' Mithuna, on a gold ornament, is reproduced in the Journal of the Asiatic Society of Bengal, 1912, page 283."

—The Hindu Temple. Stella Kramrisch, Calcutta 1946, page 346.

५. ऋग्वेद की दो ऋचाएँ हैं—आगधिता परिगधिता या कशीकेव जंगहे। ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥ उपोप मे परामृश मामे दभ्राणि मन्यथाः सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका॥ ऋग्वेद। १.१९.१२६. ६,७। सायण ने व्याकरण और अटकल के बल से इसका जो अर्थ किया है,

बोध होता है कि जीव-ब्रह्म की मिथुन-भावना उससे भी प्राचीन, अर्थात् अत्यन्त प्राचीन है। उपनिषदों ने इस भावना को ग्रहण कर इसका विवरण इस प्रकार दिया है।

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः। सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्। सोऽहमस्मीति अग्रे व्याहरत्। ततोऽहं नाम अभवत्। तस्मादप्येतर्ह्यामंत्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाथान्यन्नाम प्रब्रूते, यदस्य भवति। स यत्पूर्वो ऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः। ओषति ह वै स तं योऽस्मात् पूर्वो बुभूषति य एवं वेद।[1]

"यह आत्मा ही पहिले पुरुष-जैसा था। सब ओर देखकर उसने अपने को छोड़कर किसी को न देखा। पहिले उसने कहा 'मैं हूँ'। इसलिये उसका नाम मैं (अहम्) पड़ा। इसलिये आज भी पुकारे जाने पर कोई पहिले मैं और पीछे जो उसका नाम होता है, वह कहता है। क्योंकि इन सबसे पहिला बनकर उसने सभी पापों को जलाया (पुर-पहिला, औषत्-जलाया), इसलिये पुरुष है। जो इससे पूर्व, अर्थात् प्रथम होना चाहता है उसे यह निश्चय जला देता है। जो (साधक हैं वे) ऐसा जानते हैं।"

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स ह एतावान् आस, यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इमम् एव आत्मानं द्वेधा अपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्। तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्वः इति ह स्म आह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयम् आकाशः स्त्रिया पूर्यत एव 'तां समभवत्' ततो मनुष्या अजायन्त।[2]

"उसका मन नहीं लगा। इसलिये किसी का भी अकेला मन नहीं लगता है। उसने दूसरे की इच्छा की। वह ऐसा ही था, जैसा स्त्रीपुरुष मिले हुए होते हैं। उसने इसी अपने (रूप) को दो किया। उससे पति और पत्नी हुए। उससे अपना ही दो दाल की तरह हुआ, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। उससे यह शून्य स्त्री से पूरा हुआ। उस स्त्री से योग हुआ। उससे मनुष्य उत्पन्न हुए।"

सोहेयम् (सा उ ह इयम्) ईक्षांचक्रे, कथं नु मात्मन एव जनयित्वा सम्भवति। हन्त तिरोऽसानि इति। सा गौरभवत् ऋषभ इतरः। तां सम् एव अभवत्। ततो गावो अजायन्त। वडवेतराभवत्, अश्ववृष इतरः। गर्दभीतरा गर्दभ इतरः। तां समेवाभवत्। ततः एकशफ मजायत। अजेतराभवत् वस्त इतरः। अविरितरा मेष इतरः। तां समेवाभवत्। ततो अजावयो ऽजायन्त। एवमेव यदिदं किञ्च मिथुनम्, आपिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत।[3]

"उस स्त्री ने सोचा—अपने से ही मुझको उत्पन्न कर यह कैसे संसर्ग करता है। अच्छा तो मैं छिप जाती हूँ। वह गाय बनी, दूसरा साँढ़ बना। उसी स्त्री से संग हुआ। इससे गोजाति उत्पन्न हुई। दूसरी घोड़ी बनी, दूसरा घोड़ा बना। दूसरी गदही और

वह शुद्ध नहीं है। वेद ब्रह्मानुभूतिप्रधान और साधना का विषय है, विद्वत्ता का नहीं। ऋचाओं का विद्वत्तावाला अर्थ प्रायः प्रलाप-जैसा लगता है। इन ऋचाओं का अर्थ समझने के लिये इन्हें बृहदारण्यक के उपर्युक्त अंश के साथ आचार्यों के भाष्यसमेत पढ़ना चाहिये। यह वेद-प्रकरण में और अधिक स्पष्ट किया जायगा।

१. बृहदारण्यक। १.४.१।

२. तत्रैव। १.४.३

३. तत्रैव। १.४.४।

दूसरा गदहा। उसी स्त्री से संग हुआ। उससे एक खुरवाले उत्पन्न हुए। दूसरी बकरी हुई, दूसरा बकरा हुआ। दूसरी भेंड़ी हुई, दूसरा भेंड़ा। उसी स्त्री से संग हुआ। उससे अज और भेंड़ जाति उत्पन्न हुई। इस प्रकार चींटी से लेकर जो कुछ है, उन सभी को उसने जोड़े में बनाया।"

इन वाक्यों में ऋषि ने यही दिखलाने की चेष्टा की है कि एक परमात्मा ही सृष्टिवृक्ष का बीज है। यही बीज के दो दल की तरह स्त्रीत्व और पुरुषत्व के रूप में प्रकट होकर सृष्टिलीला का विस्तार करता है। ये दोनों दल मिलकर अपना मूल रूप ग्रहण कर लेते हैं, अर्थात् सोऽहं भाव में स्थिर हो जाते हैं, तो यह जीव का मोक्ष कहा जाता है। दो शरीर स्थूल रूप हैं, किन्तु इनका संचालन करनेवाली शक्ति एक है, यही इसका तात्पर्य है। यही मिथुन-मूर्ति का रहस्य है।

"अत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्" (ऋ० १.२२.१६४.३३), अर्थात् यहाँ पिता ने कन्या में गर्भाधान किया इस ऋचा का अर्थ इस उपनिषद्वाक्य से स्पष्ट हो जाता है। शक्ति कहती है—कथं नु मात्मन एव जनयित्वा सम्भवति—मुझको उत्पन्न कर कैसे मुझसे सम्पर्क करता है।

'सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका'—अर्थात् गान्धार देश की भेड़ी जिस तरह रोम से ढकी रहती है, उसी तरह मैंने अपने को ढक लिया—इस वेद-वाक्य के भाव को यहाँ ऋषि ने स्पष्ट किया है कि—'हन्त ! तिरोऽसानि इति—अच्छा तो मैं छिप जाती हूँ।'

सोऽवेदाह वाव सृष्टिरस्मि। अहं हि इदं सर्वमसृक्षि इति। ततः सृष्टिरभवत्। सृष्ट्यां ह अस्य एतस्यां भवति य एवं वेद।[1]

"उसने जान लिया कि मैं ही सृष्टि हूँ। मैंने ही इन्हें बनाया। इससे सृष्टि हुई। जो यह जान लेता है, वह इस सृष्टि में (एक परमात्मबुद्धिवाला) हो जाता है।" उपनिषत् में इस मिथुन-विद्या का नाम प्रजापति-विद्या है; क्योंकि यह सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण है। इसका प्रतिरूप मन्दिर की मिथुन-प्रतिकृति है।

आगे चलकर इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

तद्वा अस्य एतत् अतिच्छन्दाः अपहतपाप्म अभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद न आन्तरम्। एवम् एव अयं पुरुषः प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्यैतदाप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपं शोकान्तरम्।[2]

"यही उसका कामरहित पापरहित और अभयरूप है। जैसे प्रिय स्त्री द्वारा आलिंगित पुरुष को भीतर-बाहर का कोई ज्ञान नहीं रहता, उसी तरह इस पुरुष को प्राज्ञात्मा द्वारा

---

१. बृहदारण्यक। १.४.५।

२. तत्रैव। ४.३.२१।

आलिंगित होने पर, भीतर-बाहर का कोई ज्ञान नहीं रहता। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकरहित रूप है।"

श्रीअरविन्द ने इस अवस्था को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"परमात्मा द्वारा संभोग, जीव का पूर्ण आत्मसमर्पण है, जिसमें जीव अनुभव करे कि परमात्मा की उपस्थिति, शक्ति, प्रकाश और आनन्द ने उसके सारे अस्तित्व को अभिभूत कर दिया। अपने सन्तोष के लिये इनको अपने भीतर लाने से यह अच्छा है। स्वयं इनका स्वामी होने की अपेक्षा यह कहीं अधिक आनन्दप्रद है कि पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया जाय और परमात्मा अभिभूत कर दे। साथ-साथ इस समर्पण द्वारा शान्ति और जीव तथा प्रकृति पर आनन्दप्रद संयम प्राप्त होता है।"[१]

वर्तमान युग में इस पर भारतीय सभ्यता और कला के मर्मज्ञ विद्वान् डा० श्रीआनन्दकुमारस्वामी के विचार भी मननीय हैं। आप कहते हैं—

"सभी विचारों का अन्तिम परिणाम है। जड़ और चेतन, अर्थात् कर्त्ता और कर्म के एकत्व का बोध और यह पुनर्मिलन, काल-सृष्टि के लिये अनन्त के प्रेम का निदर्शन स्वरूप स्वर्ग और नरक का मिलन तथा संकुचित विश्व का अपनी स्वच्छन्दता की ओर आत्म-विस्तार है। इसलिये यहाँ न कोई पवित्र है और न अपवित्र, न आध्यात्मिक और न इन्द्रियपरायण, किन्तु जो कुछ है, वह निर्मल और शून्य है। यह जन्म-मरणवाला संसार ही एक महाशून्य है।

"भारतवर्ष में हम इस विश्वास से दूर न रह सके कि स्त्री-पुरुष के प्रेम का गम्भीर आध्यात्मिक महत्त्व है। सांसारिक प्रेमी जब परस्पर भुजाओं में कसे रहते हैं और आत्मविस्मृति में विभोर हो जाते हैं, उस समय प्रत्येक दोनों ही हैं—इस विवरण को छोड़-कर दूसरा और कुछ है ही नहीं, जिससे माया का (finite) इसे अपने भीतर रखनेवाले ब्रह्म (ambient infinite) से एकत्व की तुलना की जा सके। शारीरिक निकटता, संस्पर्श और एक दूसरे के अन्तर्गत हो जाना ही प्रेम का प्रकट रूप है; क्योंकि प्रेम ही एकाकार होने का चिह्न है। इनका शरीर एक है; क्योंकि भावना की एकता इनके मन में बनी रहती है। दो व्यक्तियों में केवल सहानुभूति की अपेक्षा यह अधिक भरा हुआ एकत्व है और दो व्यक्तियों के भिन्न व्यक्तित्व का उतना ही महत्त्व है, जितना स्वर्ग के द्वारों का महत्त्व उन व्यक्तियों के लिये होता है, जो स्वर्ग के भीतर पहुँच गये हों। यह बीजगणित के

१. "To be enjoyed by the Divine is to be entirely surrendered so that one feels the Divine Presence, Power, Light, Anand possessing the whole being rather than oneself possessing these things for one's own satisfaction. It is a much greater ecstasy to be thus surrendered and possessed by the Divine than oneself to be possessor. At the same time by this surrender there comes also a calm and happy mastery of self and nature".

—Sri Aurobindo, Bases of Yoga, Pondicherry, 1955, Page 45.

समीकरण की तरह है, जिसमें संकेत चाहे जो कुछ भी हो, समीकरण ही एक सत्य है। किंचिन्मात्र भी अहंभाव के बीच में आ जाने से दो होने का धोखा लौट आता है।"[१]

गृहस्थों का परिवार त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) सिद्धि का स्थान है और मिथुन-प्रतीक मोक्ष का चिह्न है। इसलिये गृहस्थों के घरों पर यह अङ्कित नहीं किया जाता, केवल मोक्षद्वार और परम पुरुष-स्वरूप देवमंदिरों पर ही इसका अङ्कन होता है।

विद्युत् को परमपुरुष का स्वरूप माना गया है—

य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि।[२]

"विद्युत् में जो यह पुरुष दिखाई पड़ता है, वह मैं हूँ, वह मैं ही हूँ।" बिजली की चमक में जीवात्मा और परमात्मा का सम्मिलित एक रूप है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि जहाँ मिथुनमूर्ति अङ्कित है, उस देवगृह पर बिजली नहीं गिरती। विशेष कर उड़ीसा के लोगों और शिल्पियों का यह विश्वास है।[३]

---

१. क. "The last achievement of all thought is a recognition of the identity of spirit and matter, subject and object; and this reunion is the marriage of Heaven and Hell, the reaching out of a contracted universe towards its freedom, in response to the love of eternity for the productions of time. There is then no sacred or profane, spiritual or sensual, but every thing that lives is pure and void. This very world of birth and death is also the great Abyss.

"In India we could not escape the conviction that sexual love has a deep spiritual significance. There is nothing with which we can better compare the mystic union of the finite with its infinite ambient—that one experience which proves itself and is the only ground of faith—the self-oblivion of earthly lovers locked in each other's arms where 'each is both'- Physical proximity, contact and interpenetration are the expressions of love, only because love is the recognition of identity. These two are one flesh, because they have remembered their unity of spirit. This is moreover a fuller identity than the mere sympathy of two individuals; and each as individual has now no more significance for the other than the gates of heaven for one who stands within. It is like an algebrical equation where the equation is the only truth, and the terms may stand for anything. The last intrusion of the ego, however, involves a return to the illusion of duality".

—The Dance of Shiva. Coomarswamy. Asia Publishing House. Bombay. 1952. page 140.

ख. 'एक ही वचन बिच भेल रे। पहु उठि परदेस गेल रे।'—विद्यापति।

२. छान्दोग्योपनिषत्। ४.१३.१।

३. उत्कलखण्ड। ११। Indian Antiquary. XLVII. page 217.

यह परमपुरुष का प्रतीक मिथुनमूर्ति, दो त्रिकोणोंवाले शाक्तयंत्र और उपनिषद् के 'अर्धवृगल' अर्थात् बीज के दो दलों की उपमा [1] पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है। यंत्र का बिन्दु बीज है। बिन्दु, शिव-शक्ति, अर्थात् शक्तिमान् और शक्ति के रूप ग्रहण कर दो त्रिकोणों के रूप में प्रस्फुटित होता है। ये दानों त्रिकोण उस बीज की दालें (अर्धवृगल) हैं। इन दोनों दालों, अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् का द्योतक ही मिथुन-प्रतीक है। शाक्तदर्शन में इन्हें प्रकाश और विमर्श कहते हैं। वेद में इन्हें द्यौ और पृथ्वी कहते हैं।

बिन्दु और त्रिकोणों का विस्तार वृत्तरूप में होता है। दोनों त्रिकोण दोनों दाल हैं और उनके बीच का बिन्दु अंकुर है। ये फैलकर अष्ट प्रकृति के रूप में संसार-महामहीरुह के रूप में प्रकट होता है। सृष्टि का आरम्भ दो दालों (शक्ति के दो रूप स्थिति-गति) से आरम्भ होता है और दो दालों के एकाकार हो जाने में इसका लय, अर्थात् बखेड़े और चंचलताओं से मोक्ष हो जाता है।

तान्त्रिक साधनाओं में इस वृगलविद्या अथवा मिथुनविद्या का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

शक्तिद्वयपुटान्तःस्थलक्षद्वयसुसंस्थितम् ।
ज्योतिस्तत्त्वमयं ध्यायेत् कुलाकुलनियोजनात् ॥ [2]

"(भ्रूमध्य के सम्मुख आज्ञाचक्र के दोनों दलों) ल-क्ष रूपी दो शक्तियों (निष्क्रिय शिव-शक्ति और सक्रिय शिवा-शक्ति) के दो पुटों के बीच कुल (शक्ति) और अकुल (शिव) को मिलाकर तत्त्वमय ज्योति का ध्यान करे।"

आज्ञाचक्र में दोनों ओर दो कमलदल हैं। एक की वर्णध्वनि ल है और दूसरे की क्ष। इस न्यास से स्पष्ट है कि क्ष परमात्मा का और ल जीव, अर्थात् माया का वाचक है। श्लोक के 'शक्तिद्वय' शब्द से स्पष्ट है कि ये दोनों शिव-शिवा शक्ति हैं। इस चक्र के प्रतीकात्मक अधिष्ठात्री देवता का रूप अर्धनारीश्वर है। स्पष्ट है कि इन दो दलों में से एक नारी और एक ईश्वर है। बीच में बिन्दुरूप इतरशिवलिङ्ग है, जिसके द्वारा यह सब कुछ परमशिव-सहस्रार में लीन होता है। यही कुल और अकुल का नियोजन, अर्थात् मैथुन (एकाकार हो जाना) है। दोनों का सहस्रार में लीन होना सामरस्य और पूर्णत्व है। उस समय एक शक्ति, उसे शिव या शिवा जो कहा जाय, साक्षीरूप से बनी रहती है। हादिमत से इसका नाम शिव और कादिमत से शिवा है।

सर्वव्यापी शिवशक्ति को अपने भीतर लाकर आत्मशक्ति से एकाकार करने को हादिमत और आत्मशक्ति का विकास कर सर्वव्यापी शक्ति से इसे मिलादेने को कादिमत कहते हैं। नृत्यप्रतीक की भाषा में इसे कहा जाता है कि जब नृत्य करती हुई शक्ति शिव में लीन हो जाती है, तब शिव साक्षीरूप से अवशिष्ट रहते हैं और जब शिव नृत्य करते हुए शक्ति में लीन हो जाते हैं, तब शक्ति साक्षिणीरूप से अवशिष्ट रहती है, अर्थात् एक कूटस्थ तत्त्व के ये दो नाम और रूप हैं।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्। १.४.३।

२. श्यामारहस्यतन्त्रम्। जीवानन्द। कलकत्ता, १८९६। पृ० ३२ में बदयाकरपद्धति से उद्धृत।

इसे आगे और भी अधिक स्पष्ट किया गया है—

शृंगारद्वयमध्यस्थं शक्तिद्वयपुटीकृतम् ।
सदासमरसं ध्यायेत् कालं तत्कुलयोगिनाम् ॥[1]

"दोनों शृंगाटक (भौहों की अस्थि) के बीच दो शक्तियों (निष्क्रिय, अकुल, शिव और सक्रिय, कुल, शक्ति) में (बिन्दु को) बन्द कर सदा ध्यान करे, यह कुल-योगियों, अर्थात् कौलिकों का समरस काल है।"

बोलचाल की लौकिक भाषा में स्त्री-पुरुष के सम्भोग-सुख को सामरस्य कहते हैं। यह आध्यात्मिक साधनाओं के समरस का विवरण है।

इस प्रसंग में सूर की ये पंक्तियाँ स्मरणीय हैं—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप ।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत बिहरत जुगल स्वरूप ॥

समरस, एकरस, सामरस्य, योनिमुद्रा उन्मनी इत्यादि एक ही अवस्था के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

किरणस्थं तदग्निस्थं चन्द्रभास्करमध्यगम् ।
महाशून्येन यत्कृत्वा पूर्णस्तिष्ठति योगिराट् ॥[2]

महाशून्य इति सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं । पूर्ण इति सर्वोपाधिविनिर्मोचनात् विभागविरहात् पूर्ण एव भवतीति ।

"चन्द्र (तत्त्व) और सूर्य (तत्त्व) के बीच अग्नि (तत्त्व)[3] के महाप्रकाश में महाशून्य की स्थिति बनाकर योगिराज पूर्ण हो जाता है।"

"महाशून्य का अर्थ है सर्वोपाधिविनिर्मुक्त। सभी उपाधियों के छूट जाने से विभागरहित होने के कारण पूर्ण हो जाता है।"

यहाँ शिव-शिवा को चन्द्र और सूर्य-तत्त्व और बिन्दु को महाप्रकाशमय अग्नितत्त्व कहा गया है। इन तीनों शक्तियों का अविभक्त हो जाना सामरस्य है। मिथुनमूर्ति इस विभागरहित अवस्था का प्रतीक है। इस अवस्था का विवरण योग और तन्त्र तथा अन्यान्य साधना-पद्धतियों में बड़े विस्तार से दिया गया है।

इस प्रकार सृष्टि के प्रतीकों का निर्माण कर शिल्पी ऊपर मूल स्थान की आर आगे बढ़ता है। ऊपर वेदी के ऊपर जहाँ आमलक है, वह प्रासादपुरुष की ग्रीवा कहलाती है। (दक्षिण के मन्दिरों में हर्म्य का नाम ग्रीवा है।) इसके ऊपर सोने की शलाका से प्रासाद पुरुष की आँखें खोली जाती हैं। इसका नाम नेत्रमोक्ष है। इसके ऊपर अमृत-कलश में परमपुरुष की सोने की मूर्ति की स्थापना की जाती है। ऊपर आकाश में लहराती हुई पताका परमपुरुष के अन्तहीन विस्तार की ओर संकेत करती रहती है।

१. तत्रैव।
२. तत्रैव।
३. यही वेद का अग्नि है।

प्रासाद में नीचे वास्तु पुरुष की जो स्थापना होती है, उसका मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ नमो भगवते वास्तुपुरुषाय महाबलपराक्रमाय सर्वाधिवासितशरीराय ब्रह्मपुत्राय सकलब्रह्माण्डधारिणे भूभारार्पितमस्तकाय पुरपत्तनप्रासादगृहवापिसरःकूपादेः सन्निवेशसान्निध्यकराय सर्वसिद्धिप्रदाय प्रसन्नवदनाय विश्वम्भराय परमपुरुषाय शक्रवरदाय वास्तोष्पते नमस्ते ।[1]

"भगवान् वास्तुपुरुष को प्रणाम। आप महाबली और पराक्रमी हैं। सब को अपने शरीर पर वास देते हैं। ये ब्रह्मा के पुत्र हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करते हैं, अपने मस्तक पर भूमि का भार लिये हुए हैं, गाँव नगर, प्रासाद (देवताओं का), गृह (मनुष्यों का) वापी, सर, कूप आदि की स्थिति और निकटता को बनाये रखनेवाले, सब सिद्धियों के देनेवाले, प्रसन्नमुख, विश्वम्भर, परमपुरुष, और इन्द्र को वर देनेवाले वास्तोष्पति हैं।"

इस मन्त्र से सिद्ध होता है कि विश्व को धारण करनेवाले परमपुरुष का ही नाम वास्तुपुरुष है और इस नाम से उनकी ही पूजा निधि-कलश और अमृत-कलश में होती है। वास्तु का अर्थ है वास्तव वस्तुमय, अर्थात् यथार्थ पुरुष अथवा परमपुरुष। वास्तुपुरुष के रूप में परमपुरुष की आराधना से प्रासादपुरुष का निर्माण आरम्भ होता है और ऊपर कलश में परमपुरुष की प्रतिष्ठा के साथ इनकी समाप्ति होती है। प्रासाद-निर्माण के पूर्ण हो जाने पर जब ऊपर अमृत-कलश में परमपुरुष की प्रतिष्ठा हो जाती है, तब वास्तुपुरुष का काम समाप्त हो जाता है।

प्रासादपुरुष का निर्माण हो जाने पर इसमें प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। प्रधान देवता की स्थापना ही प्राणप्रतिष्ठा है। प्रधान देवता की स्थापना प्रासाद के मध्य में वास्तुपुरुष-मण्डल पर अथवा प्रवेशद्वार के सामनेवाले घनद्वार में होती है, जो बाहर से बन्द रहता है। अन्य दो घनद्वार, अर्थात् मुक्ति के रहस्यों में प्रवेश करने के घनीभूत, ठोस लघुमार्ग या तो शून्य रहते हैं या उनमें प्रधान देवता के पार्श्वदेवताओं की स्थापना की जाती है।

अङ्कुरार्पण पूजा का एक प्रधान अङ्ग समझा जाता है, इसे जयन्ती भी कहते हैं। मन्दिर के एक भाग में शुद्ध मृत्तिका पर यव बो दिया जाता है। जब इसके अङ्कुर तैयार होते हैं, तब उन्हें देवता को अर्पण किया जाता है। इसका अर्थ है कि सृष्टि के बीज के दो दलों में और इसके विस्तार में जो कुछ है, मूल द्वारा उसका सारा सार खींचकर यह अङ्कुर तैयार हुआ, और इस प्रकार प्रपंच तथा परमार्थ में जो कुछ है, उसका सार अपने देवता को अर्पण कर स्थपति, स्थापक, यजमान और भक्तगण, सभी कृतार्थ हो जाते हैं। प्रसाद-स्वरूप संसार पर जय देनेवाली इस जयन्ती शक्ति को पाकर लोक प्रपंच और परमार्थ-सिद्धि लाभ कहते हैं।

साधारण मन्दिरों में प्रासाद के बाहर की वेदी परिक्रमा के लिये खुली होती है। बड़े-बड़े मन्दिरों के प्रासाद के चारों ओर अनेक स्तम्भों पर मण्डप बने होते हैं। इन स्तम्भों पर आवरण या परिवार-देवताओं की प्रतिमाएँ बनी रहती हैं। प्रधान देवता को घेर कर रहनेवाले ये देव और देवियाँ मानो सारे आवरण को दूरकर और प्रत्यक्ष होकर भक्तों को दर्शन देने और उनकी सहायता करने के लिये प्रस्तुत रहती हैं।

---

१. पौराणिक वास्तुशान्तिप्रयोग।

मन्दिर में प्रवेश करने के पहिले परिक्रमा या प्रदक्षिण का विधान है।[१] भक्तगण चारों ओर घूमकर, प्रसादपुरुष का ऊपर से नीचे तक अच्छी तरह दर्शन करते हैं। इसके प्रत्येक आवरण-देवता के पास जाकर उनकी पूजा करते हैं और उनकी कृपा तथा आशीर्वाद की याचना करते हैं।[२] वे गुरुस्थानीय बनकर भक्त को धीरे-धीरे प्रधान देवता की ओर अग्रसर करते हैं। जब भक्त प्रधान देवता के सामने जाकर खड़ा होता है, तब वह देव-भावना से अभिभूत देवमय और प्रधान देवता के साथ एकाकार हो जाता है।

प्रासाद का नाम दुरोहण है; क्योंकि प्रपंच से परमार्थ की ओर, अर्थात् नीचे से ऊपर अमृतत्व की ओर बढ़ना कठिन है। किन्तु दुरोहण-मन्त्र को जपकर यजमान स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।[३]

यही प्रासाद-पुरुष और उसकी आराधना है।

चेतन-प्रतीक

साधना के स्थान के भेद से प्रतीक के भी तीन भेद होते हैं—

साधनस्थानभेदात् प्रतीकभेदः।
स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा॥[४]

"स्थानभेद तीन प्रकार के हैं—प्राण, देह और बाहर।" ये आभ्यन्तर दैहिक और बाह्य प्रतीक हैं।

कुण्डलिनी, षट्चक्र, स्वयंभूलिंगादि, ग्रन्थिभेद, प्राणशक्ति, अनाहतनाद, योनिमुद्रा इत्यादि साधना के आभ्यन्तर प्रतीक हैं। योगमार्ग से प्राणायाम और मनोलय द्वारा तथा तंत्रमार्ग से जप, न्यास और अन्तर्याग द्वारा इनपर साधना की जाती है।

न्यास द्वारा शरीर को मन्त्रमय तथा देवमय बनाकर सोऽहंभाव द्वारा साधना करने में साधक का शरीर ही प्रतीक बन जाता है। इन भावों को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सदाशिवः
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥[५]

"शरीर देवालय है।[६] जीव देव सदाशिव हैं। अज्ञान-निर्माल्य को छोड़ दे और सोऽहंभाव से पूजन करे।" देहलिङ्ग और बोधलिङ्ग की प्रक्रिया इसी के अन्तर्गत है।

१. आचारभेद से कहीं-कहीं लोग पूजा के पश्चात् परिक्रमा करते हैं। उद्देश एक है।
२. तुलसीदास ने विनयपत्रिका के निर्माण में इसी पद्धति का अवलम्बन किया है।
३. ऐतरेय ब्राह्मण। १८·६·२०। ऋग्वेद में दुरोहण शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है और निरुक्तकार ने उसका अर्थ घर और निवासस्थान किया है।
४. तन्त्रालोकः। काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः। श्रीनगर १९२२। भाग ४। आह्निक ६। श्लोक २।
५. Kaul and other Upanishads. Cal. 1922. भावोपनिषत्। पृ० ५४। श्लोक ६३।
६. इसी प्रकार की भावना पर देवालय बनता है। देवालय परमपुरुष के शरीर का प्रतीक है। विवरण के लिये प्रासाद-पुरुष-प्रकरण देखिये।

पद्मासन से बैठने पर शरीर ही ब्रह्मलिङ्ग का प्रतीक बन जाता है और कल्पना-रहित ज्ञान पर स्थिरचित्त, बोधलिङ्ग वा ज्ञानलिङ्ग की प्रतिमा है।[1]

बाह्यप्रतीक के दो भेद हैं—जड़ और चेतन।

प्रतिमा, चित्र, यंत्र, मण्डल, माला, पुस्तक आदि जड़ प्रतीक हैं। वृक्ष, पशु, कीट पक्षी, मनुष्य (स्त्री और पुरुष) आदि चेतन-प्रतीक हैं। इस प्रकरण में इसी प्रसंग पर विचार किया जायगा।

प्रश्न होता है कि प्रतीक साधना का साध्य है अथवा साधन।[2] प्रतीक साधन और साध्य, दोनों ही है। प्रतीकों के तीन रूप होते हैं - स्थूल, सूक्ष्म और पर अथवा कारण।

स्थूलावस्था में सभी प्रतीक मुख्यतः साधन होते हैं। किन्तु साधक की एक विशेष अवस्था में साध्य बन जाते हैं। जब पत्थर वा धातु की प्रतिमा अथवा चित्र या स्तम्भादि की पूजा की जाती है, तो प्रतिमादि पूज्य शक्ति की साधना, अर्थात् प्राप्ति का माध्यममात्र बन कर रह जाते हैं। यह पूजा का उद्देश्य वा साध्य नहीं होता। जब पूज्यशक्ति प्रतिमा वा चित्र के कल्पित रूप को ग्रहण कर साधक के सम्मुख प्रकट होती है,[3] उस समय साध्य और साधन अर्थात् देवता और प्रतिमा एकाकार हो जाते हैं। जबतक ऐसी अवस्था नहीं आती तबतक प्रतीक उपास्य, अर्थात् साध्यशक्ति का साधन, अर्थात् माध्यममात्र बना रहता है। इस पर आचार्यों और साधकों का और एक मत मननीय है। उनका कथन है कि देवमन्दिर में अथवा प्रतीकों में मन्त्रशक्ति से हो अथवा पूजक की भावना से हो, पूज्य देवता की शक्ति भरी रहती है। इसलिये इन्हें प्रतिमादि न कह कर देवविग्रह कहा जाता है और पूजक जब उपासना के लिये इनके सामने उपस्थित होता है, तो इन्हें पत्थर समझकर नहीं, प्रत्यक्ष देवता समझकर इनकी पूजा करता है। इसलिये सभी अवस्थाओं में ये साध्यदेवशक्ति हैं, साधन नहीं। पूजा भावना का विषय है। इसलिये ये दोनों ही विचार शुद्ध हैं।

साधनाकाल में प्रतीक का रूप जितना ही सूक्ष्म होता जाता है, उतना ही यह 'पर' के निकट होता जाता है और देवरूप ग्रहण करता जाता है। 'पर' रूप में यह सर्वथा साध्य है; क्योंकि वहाँ साध्य और साधन का भेद मिट जाता है। वहाँ पूज्य और पूजक भी एकाकार हो जाते हैं। यह साधक की स्वानुभूति की मात्रा पर आश्रित है।

अब हम प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं।

वृक्षों में किसी भी वृक्ष वा कुंज को माध्यम बनाकर उपास्य की उपासना की जा

१. विशेष विवरण के लिये लिङ्ग-प्रकरण देखिये।
२. वेदान्तसूत्र। ४.१.४ और ४.१.१५,१६ में इस पर विचार किया गया है। इन सूत्रों पर आचार्यों के भाष्य मननीय और विचारणीय हैं।
३. आत्मविभेद क्रिया द्वारा, अर्थात् देवता को अपने से भिन्न समझ कर साकारोपासना से ऐसा होता है। सोऽहंभाव से साधना करने से साधक साध्य में लीन होकर साध्यरूप हो जाता है।

सकती है। साधारणतया अश्वत्थ (पीपल) द्वारा विष्णु की, प्लक्ष (वट) द्वारा शिव की, तुलसी द्वारा देवी और विष्णु की और कदम्ब द्वारा देवी और कृष्ण की उपासना की जाती है। ये देव-प्रतिमा की तरह पवित्र समझे जाते हैं।

चक्रों की तरह फूलों पर देवताओं का स्वतः निवास समझा जाता है। इसलिये उन पर देवताओं का आवाहन नहीं किया जाता। वे प्रकृतिप्रदत्त स्वयंसिद्ध प्रतीक हैं।

पशुओं में गाय द्वारा सभी देवताओं की और विशेषतः वेदमाता गायत्री की उपासना की जाती है। वृषभ, शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन आदि सबके लिये समानरूप से आदरणीय है। शिवा द्वारा देवी की और गज द्वारा लक्ष्मी की पूजा की जाती है। कपिरूप में महारुद्र हनुमान् की उपासना की जाती है। पक्षीरूप में विष्णु-गरुड और पशुपक्षी के मिश्रित रूप में शिव-शरभ की उपासना होती है। पशु-मनुष्य के मिश्रितरूप नृसिंह में विष्णु की उपासना होती है। मत्स्यकच्छपादि भी विष्णु के अवतार के रूप हैं।

सबसे सुन्दर और मनोहर स्त्री-पुरुष के रूप में मनुष्य-प्रतीक है। स्त्री अपने पति को परमात्मा का रूप (पति-परमेश्वर) मानकर ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति का व्रत धारण करती है, और पति के माध्यम, अर्थात् पति प्रतीक द्वारा साधकों की सिद्धि प्राप्त करती है। देवविग्रह द्वारा साधकों के जो-जो कार्य होते हैं, पतिविग्रह द्वारा, पतिव्रत धारण करने-वाली स्त्रियों को भी वे ही सिद्धियाँ मिलती हैं। इस प्रणाली से परमार्थ-सिद्धि के साथ-साथ पारिवारिक स्थिरता मानव-जीवन की अनमोल सिद्धि है। यह भोग और मोक्ष दोनों को ही वश में करने की विद्या है।

श्रौतमार्ग में, समाज में पुरुष की प्रधानता होने के कारण लोगों ने इस भावना को पतिव्रत तक ही आबद्ध रखा। तन्त्र ने इसे और भी आगे बढ़ाया। तान्त्रिकों ने जगन्माता का स्वरूप मातृत्व में देखा, उन्होंने अम्बा को जगदम्बा के लघुरूप में देखा[१] और उनके द्वारा महाशक्ति को पाने की साधना की। शाक्तोपासना में पत्नी को वही स्थान मिला, जो श्रौत और स्मार्तमार्ग में पति को मिला था। शाक्तों के लिये पत्नीत्याग और संन्यास वर्जित है और यह प्रायश्चित्तीय कर्म है, तथा पत्नी के दुःखी और रुष्ट रहने से पति को सिद्धि और सद्गति नहीं मिलती। यहाँ देवी के सजीव-प्रतीक-स्वरूप पत्नी की देव-विग्रह की तरह पूजा होती है। और, कठोर साधनाओं का, पत्नी एक मुख्य साधन वा प्रतीक है। पति की भी शिव रूप में पत्नी उपासना करती है।

यह भावना और उपचार पत्नी तक-ही सीमित नहीं है। अत्यन्त व्यापक होने के कारण, शाक्तमत ने सभी जाति की एक वर्ष से लेकर अतिवृद्धावस्थावाली तक सभी स्त्रियों को महाशक्ति की साधना का प्रतीक या माध्यम बनाया और सिद्धिलाभ किया।

क. या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥ दुर्गासप्तशती। ५.३१।

ख. विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु॥ तत्रैव। ११.६।

शाक्तमार्ग में पुरुष को शिवस्वरूप मानकर उसके द्वारा जिस प्रकार स्त्रियाँ अलौकिक शक्ति और परमार्थ-सिद्धि लाभ करती हैं, उसी प्रकार पुरुष भी स्त्री-प्रतीक द्वारा अलौकिक शक्ति और परमार्थ-सिद्धि लाभ करते हैं। वटुक (बालक) और शिवस्वरूप साधकों की तरह, कुमारिका, सुवासिनी, शक्ति, भैरवी (साधनाओं में संलग्न स्त्री) आदि की पूजा स्त्री-प्रतीक के भिन्न रूप हैं। कुमारिका पूजा में इस वाक्य का प्रयोग होता है—

जगत्पूज्ये जगद्वन्द्ये सर्वशक्तिस्वरूपिणी।
पूजां गृहाण कौमारि जगन्मातर्नमोऽस्तु ते॥ [1]

"जगत् की पूजनीया, जगत् की वन्दनीया सब प्रकार की शक्ति के रूप, जगत् की माता कुमारि! पूजा स्वीकार कीजिये। आप को नमः।"

सुवासिनी पूजा का वाक्य है—

कलाधारां कलारूपां का[illegible]ीम्।
कामदां करुणाधारां कामिनीं पूजयाम्यहम्॥ [2]

"सृष्टि के आधार, सृष्टिरूप, भयंकर कालस्वरूप, इच्छाओं को पूर्ण करनेवाली, करुणा के आधार कामिनी की मैं पूजा करता हूँ।"

इन वाक्यों से इन प्रतीकों के पूजक की भावना प्रकट होती है। नरशक्ति की तरह पशुशक्ति की पूजा का भी विधान है

पशुशक्तिर्नरशक्तिः पक्षिशक्तिस्तथैव च।
पूजांता विगुणं कर्म सगुणं कारयेत्ततः॥ [3]

"पशुशक्ति, नरशक्ति और पक्षिशक्ति की पूजा करके निष्फल क्रियाओं को भी सफल कर ले।"

अतः शाक्तों के लिये स्त्रीपशु की बलि निषिद्ध है।[4] मत्स्यादि में जहाँ स्त्री-पुरुष का विभेद नहीं किया जा सकता, वहाँ अज्ञात पाप के प्रायश्चित्त का विधान है।

पूजा-पुरश्चरण में वटु और कुमारिका की तरह प्रायः ब्राह्मण-भोजन का विधान है। जिस देवता की पूजा होती है, ब्राह्मण उसका प्रतीक समझा जाता है। देवविग्रह की तरह उसका चरण धोया जाता है, जिसे छिड़ककर लोग घर को पवित्र करते हैं और श्रद्धापूर्वक भोजन और दक्षिणा देकर उनका आशीर्वाद लेकर उन्हें विदा करते हैं। इसका साधारण सिद्धान्त है—

मंत्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

"मंत्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषधि और गुरु में जिसकी जैसी भावना रहती है, वैसी सिद्धि मिलती है।"

भारतीय सभ्यता का परमपुरुषार्थ, अर्थात् चरम उद्देश्य तत्त्वज्ञान है। उसे पाने के लिये मानवबुद्धि में जितने उपाय आ सकते थे, उन सब का स्वच्छन्दता से प्रयोग किया गया है।

---

१. कुमारीस्तोत्रम्। श्लोक १।
२. तत्रैव। श्लोक ५।
३. कुलचूडामणिः। कलकत्ता। १९१५। पटल ७। श्लोक ४८।
४. नाटकों और उपन्यासों में जहाँ स्त्रियों की बलि का दृश्य दिखाया गया है, वह अशास्त्र कविकल्पना है।

त्रिशक्ति का प्रतीक भारतवर्ष

संस्कृत-साहित्य और विशेषतः पुराणों में भारतवर्ष को देवभूमि, कर्मभूमि, भारतभूमि, पुण्यभूमि आदि कहा गया है। ऋषियों ने भारत का जो स्वरूप संस्कृत-साहित्य और विशेषतः आर्षग्रन्थों में उपस्थित किया है, उसे स्मरण कर मन और शरीर पुलकित हो उठता है।

वैष्णव, शैव, शाक्तादि सभी की दृष्टि में भारत, शिव, विष्णु, शक्ति आदि का रूप है। इन सभी के सिद्धपीठ, बलूचस्थान, काश्मीर, हिमालय, असमदेश, उत्तरापथ, दक्षिणापथ आदि भारत के सभी भागों में फैले हुए और भरे पड़े हैं। द्वारकाधाम, हिंगुला (बलूचस्थान), ज्वालामुखी और क्षीरभवानी (काश्मीर), पशुपतिनाथ (नेपाल), कामाख्या (असमदेश), मीनाक्षी (मदुरा), कन्याकुमारी, रामेश्वर, जगन्नाथ, बद्री, केदार आदि का नाम गिनाना व्यर्थ है; क्योंकि ये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

पुराणों में प्रसिद्ध है कि दक्षयज्ञ (कर्मकाण्ड के दम्भ और आडम्बरों) में सती (पर-सत्ता की भावना) ने शरीर त्याग दिया। शिव (सत्) शोकातुर होकर सती (विश्वशक्ति की भावना) का निर्जीव शरीर कन्धे पर लेकर पागल की तरह घूमने लगे। उनका क्षुब्ध चित्त और विकराल रूप देखकर किसी को साहस नहीं होता था कि कोई जाकर उनसे सती का शरीर उत्सर्ग कर देने की प्रार्थना करे। मृतशरीर सड़कर दुर्गन्ध करने लगा, किन्तु वियोग से दुखी पति को सुध कहाँ! विष्णु ने इसका उपाय सोचा। वे चक्र लेकर शिवजी के पीछे अलक्ष्य रूप से घूमने लगे और सती (साकार त्रिगुणात्मिका सृष्टि) का जो अंग गल जाता था उसे चक्र (काल) से काट कर गिराने लगे। जहाँ-जहाँ माता सती के ये कटे हुए अङ्ग गिरे, वे परम पावन सिद्धपीठ बने। इस प्रकार सारे भारत में जहाँ सती के एकावन अङ्ग कट कर गिरे थे, वहाँ एकावन पीठ बने। इस प्रकार सारी भारत-वसुन्धरा का प्रत्येक रजकण माता सती के अङ्गों के परमाणुओं और शिव तथा विष्णु के चरण-रज से पवित्र हो उठा। इसकी धूल मस्तक में लगाने से सती, शिव और विष्णु के चरणों के पावन रज से शरीर दिव्य हो जाता है। शिव और विष्णुस्वरूप भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि होने के कारण भारत से बाहर रहनेवाले बौद्धजन भारतवर्ष में जन्म पाने के लिये अमिताभ बुद्ध की आराधना करते हैं; क्योंकि भगवान् बुद्ध के सभी अवतार यहीं हुए और यहाँ जन्म लेने पर ही निर्वाण मिल सकता है। जैनों के भी सभी तीर्थंकरों ने यहीं अवतार लिया। धन्य हैं वे, जो इस पावन वसुन्धरा पर जन्म लेते हैं, इसकी पावन धूल में लोटकर बड़े होते हैं, इसके पावन प्रसाद-स्वरूप अन्न-जल से परिपुष्ट होते हैं और चतुर्वर्ग की सिद्धियों के साथ खेल-कूद कर इसके पावन गर्भ में विलीन हो जाते हैं। इन्हीं भावनाओं से पुलकित होकर व्यासदेव ने विष्णुपुराण में लिखा कि—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

"स्वर्ग में देवगण यही गीत गाया करते हैं कि वे पुरुष धन्य हैं, जो देवोचित गुणों के कारण स्वर्ग और अपवर्ग की सिद्धि देनेवाली भारतभूमि में जन्म पाते हैं।"

दुर्गा-प्रतीक के सम्बन्ध में विचार करते समय हम देख आये हैं कि दुर्गा की प्रतिमा मातृभूमि (भारतभूमि) और राष्ट्रशक्ति का भी प्रतीक है। शाक्तदर्शन में भारतभूमि भूमण्डल की सृष्टि की रचना का केन्द्रबिन्दु अथवा मध्यबिन्दु माना जाता है।

इसके पूर्व जहाँ प्रसंग आया है और विशेषतः कामकला पर विचार करते समय हम कह आये हैं कि विश्वव्यापिनी शक्ति चित् (चेतना) है, इसलिये वह ज्ञान (मय) है, उसे ज्ञान है, इसलिये इच्छा होती है और इच्छा होती है, इसलिये क्रिया होती रहती है। जब अपनी इच्छा और क्रिया से वह सृष्टिकल्पना करती है और साथ-साथ नाद और रूप उत्पन्न होते हैं, तब सृष्टि का प्रवर्तन होता है। इनका चिह्न वा संकेत इस प्रकार है—
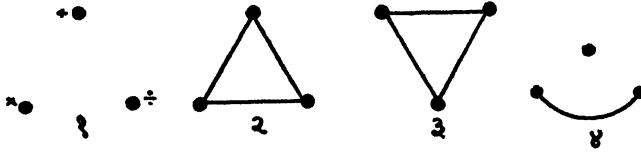
चित्र १ में (+) चिह्नवाला बिन्दु चित्, चेतना, ज्ञान अथवा शक्तिबिन्दु है। (×) चिह्नित बिन्दु नादबिन्दु है और (÷) चिह्नित बिन्दु रूपबिन्दु है। अन्तिम युग्म-बिन्दुओं को संक्षिप्त रूप में नादबिन्दु और रूपबिन्दु न कहकर केवल नाद-बिन्दु भी कहते हैं। इन तीनों बिन्दुओं को मिला देने से त्रिकोण (चित्र २) बनता है। इसका नाम कामकला वा विभु की इच्छा का खेल है। वेदना के आनन्द का ही विभक्त रूप इच्छा और क्रिया है, अथवा यों कहना चाहिये कि इच्छा और क्रिया के सम्मिलित रूप का नाम आनन्द है और ज्ञान-इच्छा-क्रिया का नाम चित्-आनन्द है। सारांश यह कि त्रिकोण वा योनि चिदानन्द का आदि और सब से सरल प्रतीक है। इसकी लीला सभी आध्यात्मिक साधनाओं और विशेषकर योगियों और तान्त्रिकों की साधनाओं में सर्वत्र परिव्याप्त है। इस त्रिकोण की तीन भुजाएँ वैदिक, जैन, बौद्धादि के त्रिक और तुलसी के 'त्रिविध' हैं। रूपकल्पना में जब ऊर्ध्व बिन्दु को मुख माना जाता है, तब दोनों अधोबिन्दु कुच माने जाते हैं[1]। यह शिवयोनि कहा जाता है (चित्र २) और जब ऊर्ध्व बिन्दु की कल्पना नाभिरूप में[2] की जाती है तब इसे शक्तियोनि कहते हैं। (चित्र ३) इन त्रिकोणों के बीच में एक बिन्दु की कल्पना की जाती है। (यंत्र पृ० २७३) यह कूटस्थ आदिशक्ति वा तुरीया है, जिससे त्रितत्त्वादि उत्पन्न होकर सृष्टि-लीला का विस्तार करते हैं। यह मध्यबिन्दु श्रीचक्र का मध्यबिन्दु है, जिसपर ब्रह्मशक्ति स्थित रहकर सृष्टि-चक्र का संचालन करती है। इस प्रकार त्रिगुणात्मक साकार सृष्टि-क्रिया का प्रतीक त्रिकोण है और निर्गुण, आदि मध्यान्तहीन ब्रह्म (ऋतं बृहत्) के महाविस्तार का संकेत हकारार्ध[3] अर्थात् मेखला है, जो ओंकार में अर्धमात्रा (चित्र ४) के रूप में

---

१. मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो।

२. चित्र १२२ में तारा का चित्र-परिचय देखिये।

३. षट्चक्रनिरूपणम् (श्लोक १६) में स्वस्तिक को वह्नि-बीज, अर्थात् तेजस् का प्रतीक माना गया है और त्रिकोण के बाहर इसका स्थान है। बोध होता है कि यह तेजःस्वरूप त्रिशक्ति का सम्मिलित प्रतीक, अर्थात् तुरीयरूप है।

अवस्थित है। भारत त्रिकोण का शीर्षबिन्दु कन्याकुमारी है, जहाँ से एक रेखा बलूचस्थान होती हुई पश्चिम हिमालय से मिल जाती है और दूसरी कलिंग और वंग से होती हुई असम देश में पूर्व हिमालय से मिलकर त्रिकोण बनाती है। दक्षिण से देखने से यह शक्तित्रिकोण और उत्तर से देखने से शिवत्रिकोण है। लंका हकारार्ध, अर्धमात्रा, मेखला वा स्वस्तिक है।

ललितासहस्रनाम[1] में देवी को 'पञ्चाशत्पीठरूपिणी' कहा है, अर्थात् सारा भारत-त्रिकोण ही ललिताम्बा हैं—

पञ्चाशत्पीठसंयुक्तं भारतं परमं पदम् ।
नित्या भगवती तत्र महामाया जगन्मयी ॥[2]

"पचास (सिद्ध) पीठोंवाला भारत (वैकुण्ठ, कैलासादि की तरह) परम पद है। वहाँ नित्या जगन्मयी महामाया भगवती हैं।"

भारत श्रीचक्र का मध्यबिन्दुवाला त्रिकोण है—

श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोश इति ते संसारचक्रात्मकं
विख्यातं तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं सर्वतः ।
एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिररुणां श्रीसुन्दरीभिर्वृतं
मध्ये बैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे ॥[3]

"हे शिवे ! सभी जानते हैं कि तुम्हारा श्रीचक्र वेदों के मूल (ॐकार) का कोष है। यह संसारचक्र है। इसमें सनातन शिवज्योति सर्वत्र भरी हुई। यह मन्त्रमयी लाल रंगवाली देवियों से घिरा है। मध्यबिन्दु में सिंहपीठ पर तुम ब्रह्मविद्या (स्थित) हो।"

यह सारा विवरण भारत पर लगता है। भारत त्रिकोण अकार-उकार-मकारात्मक ॐ का प्रतीक है। इसी से सभी वेदों और ब्रह्मविद्याओं का विकास हुआ है। यह संसारचक्र का प्रतीक है। यहीं संसार के भीतर काम करनेवाली शक्ति का पता लगा है।

श्रीचक्र के अनेक रूप कहे गये हैं—भावना-चक्र, धात्वादि पर निर्मितचक्र क्षेत्रचक्र, देशचक्र, संसारचक्र, कालचक्र इत्यादि।

संसारचक्रात्मकं संसारचक्रं कालचक्रं देशचक्रं च। श्रीचक्रस्य कालचक्रेण देशचक्रेण च साम्यं तन्त्रराजे अष्टाविंशतितमे पटले श्रीशिवेन प्रतिपादितम् । मयात्र ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते। यैरेव मूलविद्याक्षरैः श्रीचक्रं प्रसृतं तैरेवाक्षरैः संसारचक्रं प्रसृतमिति ज्ञानार्णवोक्तिः ।[4]

"संसारचक्रात्मक अर्थात् संसारचक्र, कालचक्र और देशचक्र। श्रीचक्र का कालचक्र और देशचक्र से साम्य तन्त्रराज के अठाइसवें पटल में श्रीशिव ने प्रतिपादित किया है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से मैं यहाँ नहीं लिखता हूँ। मूलविद्या के जिन अक्षरों से श्रीचक्र का विस्तार हुआ है, उन्हीं अक्षरों से संसारचक्र का विस्तार हुआ है—ऐसी ज्ञानार्णव की उक्ति है।"

---

१. ललितासहस्रनाम। श्लोक २०७।
२. राधातन्त्रम्। वंगाक्षर। कलकत्ता। १३४१ साल। पटल ३। श्लोक ३०।
३. त्रिपुरामहिमस्तोत्रम्। श्लोक २८।
४. त्रिपुरामहिमस्तोत्र के अठाइसवें श्लोक पर नित्यानन्द की टीका। काव्यमाला। गुच्छक ११। बम्बई। शाक : १८५५। सन् १९३३।

भावनाचक्र साधनागम्य है। धात्वादि पर निर्मित चक्र देवप्रासादों में स्थापित रहते हैं। क्षेत्रचक्र कामाख्या है। सारा नीलपर्वत श्रीचक्र है, जिस पर आवरण-देवताओं के मन्दिर सर्वत्र फैले हुए हैं। मध्यबिन्दुस्थान पर महायोनि पीठ है, जिस पर साधकों की ब्रह्मविद्या प्रत्यक्ष होकर निवास करती है। देशचक्र भारत त्रिकोण है। संसारचक्र और कालचक्र की भावना श्रीचक्र के विवरण के अन्तर्गत है।

सृष्टि के प्रारम्भ की क्रिया कामकला की दृष्टि से कन्याकुमारी मुखबिन्दु और हिमालय के पूर्व और पश्चिम छोर स्तनबिन्दु होंगे और लंका हकारार्ध वा अर्धमात्रा होगी। भूमण्डल के भिन्न-भिन्न स्थल और जलविभाग कामकला के इस प्रतीक के अङ्ग-उपाङ्ग और आवरण-देवता बन जायँगे।

इस प्रकार यह भूमण्डल श्रीचक्र (चित्र ७३) है। इसके भिन्न-भिन्न जलस्थल-विभाग महामाया के आवरण—देवताओं के पीठ की तरह हैं। इसका मध्य त्रिकोण भारतभूमि है, जिसके मध्य में बिन्दुपीठ से महाशक्ति जगत् की सृष्टि, स्थिति और विनाश की क्रिया का संचालन करती रहती है।

यज्ञसूत्र

शिखा और सूत्र वेदानुयायी भारतीयों के संस्कार का प्रधान अङ्ग और उनके प्रधान चिह्न भी हैं। सूत्र का पूरा नाम यज्ञसूत्र, यज्ञोपवीत, उपवीत, ब्रह्मसूत्र इत्यादि हैं।

यज्ञसूत्र द्विज का लक्षण है। द्विज उसे कहते हैं, जिसका दो बार जन्म हो। एकबार मातृकुक्षि से साधारण जन्तु की तरह लोगों का जन्म होता है। यह शारीरिक जन्म हुआ। संस्कार द्वारा उसका मानसिक और आध्यात्मिक रूप परिवर्तित कर उसके अस्तित्व को सर्वथा एक नया रूप दिया जाता है। यह मानव का दूसरा यथार्थ जन्म हुआ। इसमें नाना प्रकार के नियमों और व्रतों को धारण कर और उनका प्रतिपालन कर मनुष्यत्व और देवत्व प्राप्त किया जाता है। इसी पर सारे समाज की सभ्यता आश्रित रहती है। इन सारी भावनाओं और तत्सम्बन्धी क्रियाओं को स्थिरता देकर सुदृढ़ रखने के लिये प्रत्येक द्विज को वेद, ब्राह्मण और अग्नि को साक्षी करके शपथ, अर्थात् व्रत दिया जाता है और इस व्रत का निरन्तर स्मारक सूत्र उसके गले में डाल दिया जाता है। इसे वह क्षण भर के लिये भी दूर नहीं कर सकता, अर्थात् अपने निश्चित व्रत को एक क्षण भर के लिये भी उसे भूलने की आज्ञा नहीं है।

वेद-पुराणादि द्वारा निर्णीत और साधना द्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ, भारतीय सभ्यता का सिद्धान्त है कि संसार परिणाम, अर्थात् कार्य है और एक सर्वव्यापी सत्ता इसका कारण है। कार्य, कारण का परिवर्तित रूप है और यह परिवर्तन की क्रिया सर्वदा चलती रहती है, किन्तु कारण स्थिर और एक है। कारण के रूप गुण आदि की तुलना में कार्य अत्यन्त लघु और नगण्य है। इस कार्य द्वारा कारण को जानना और उसे जानकर उसके

साथ एकत्व स्थापित कर उसकी सारी शक्ति और आनन्द का उपभोग करना ही शरीर-धारण का उद्देश्य हो सकता है और इसे परमपुरुषार्थ, अर्थात् नरजीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य कहा जाता है। इसकी सिद्धि में सारा जीवन साधन और ब्रह्मप्राप्ति साध्य हो जाता है। इस साध्य की सिद्धि के लिये साधन (शरीर, जीवन और भावनाओं) में दृढ़ता लाने के लिये यज्ञोपवीत और उपनयन-संस्कार, प्रासाद के मूलस्तम्भ की तरह सुदृढ़ स्तम्भ हैं।

वेद में विभुसत्ता के अनेक नाम हैं—जैसे, अग्नि, अप्, तप, इन्द्र, वरुण इत्यादि। उनमें एक नाम यज्ञ भी है। पुरुषसूक्त का मंत्र है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।

"सब को अपनी ओर बुलानेवाले अथवा आत्मसात् करनेवाले यज्ञ से ऋक् और साम की उत्पत्ति हुई।"

ऋक् और साम शब्द-ब्रह्म हैं और शब्द या नाद की उत्पत्ति चेतना, अर्थात् ब्रह्म के विस्तार में इच्छा या आनन्द की क्रिया से होती है।

पुरुषसूक्त के 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः', अर्थात् 'देवों ने यज्ञ द्वारा ही यज्ञ का यज्ञ किया', इस भाव को गीता में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥[1]

"(जीवन-यज्ञ में) अर्पण ब्रह्म हैं, हवन की वस्तु—हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्नि में हवन करनेवाला भी ब्रह्म है, इस प्रकार कर्म के साथ जिसने ब्रह्म को मिला दिया है, वह ब्रह्म ही उसका प्राप्तव्य साध्य बन जाता है।

"इसके सिवा कितने ही योगी देवताओं का पूजन रूपी यज्ञ करते हैं और कितने ही ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ को ही होमते हैं।"

इसी यज्ञ, अर्थात् ब्रह्म से सम्बन्ध करानेवाला यह यज्ञसूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र है। इस क्रिया के द्वारा ब्रह्म के निकट पहुँचा दिया जाता है। इसलिये इसे उपनयन (निकट ले जानेवाला) कर्म भी कहते हैं।

यज्ञसूत्र का तीन सूत्रवाला गोल आकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति और ॐकार का प्रतीक है। ॐकार का नाम वर्तुल, अर्थात् गोल है—

ॐकारो वर्तुलस्तारो मन्त्राद्यः प्रणवो ध्रुवः।[2]

"ॐकार का नाम वर्तुल (गोल) तार, मन्त्र के आरम्भ में रहनेवाला, प्रणव और ध्रुव है।"

ॐकार का प्रतीक होने के कारण यह अ-उ-म, सत्त्व-रज-तम, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, ऋक्-यजुः-साम, इत्यादि का प्रतिरूप है और इसकी ग्रन्थि प्रणव के नादबिन्दु, अर्थात्

१. गीता। ४.२४, २५।
२. मातृकाकोषः। ललितासहस्रनाम। सौभाग्यभास्करभाष्य। बम्बई। १९३५। पृ० २४ में उद्धृत।

अर्द्धमात्रा का प्रतीक है। यह चतुर्थ (तुरीय तुरीया, कूटस्थ, ऋतं बृहत्) तत्त्व है, जिससे त्रिगुण त्रिदेवादि प्रकट होते हैं। इस प्रकार यज्ञसूत्री त्रयी, त्रिदेव इत्यादि को गले में दिन-रात डालकर इन्हें सोते-बैठते अपने कर्मों का साक्षी बनाये रहता है और सजग रहता है कि ब्रह्मचर्य-व्रत के विपरीत मुझ से कोई काम न हो जाय।

ब्रह्मचर्य से लोग साधारणतया वीर्यधारण समझते हैं। यह ब्रह्मचर्य का अत्यन्त संकुचित और स्थूल अर्थ है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है कि शरीर और मन की सारी चर्या अथवा क्रियाएँ ऐसी हों, जो ब्रह्म की ओर ले चलें। इसमें सभी इन्द्रियों का पूर्ण संयम आ जाता है। यदि एक भी इन्द्रिय असंयत हो अथवा बुरे विचार बार-बार मन में आते हों, तो ये ब्रह्मचर्या में बाधक होंगे और ब्रह्मचर्या, अर्थात् ब्रह्मक्रिया को नष्ट-भ्रष्ट करते रहेंगे।

जिस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का आधार है, उसी प्रकार गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास के साथ ब्रह्मचर्या गुंथी हुई है। ब्रह्मचर्यपूर्वक गार्हस्थ्यादि आश्रमों के कर्तव्य करना, धर्म है।

प्रथम तीन आश्रमों के साथ तीन ऋण लगे हुए हैं। अपने पूर्वजों और ऋषियों ने अपनी तपस्या और परिश्रम से नाना प्रकार के विज्ञान को सीखकर उनका विकास किया। यह ऋषि-ऋण है। ब्रह्मचर्यपूर्वक उन ज्ञानराशियों को प्राप्त कर उन्हें समुन्नत करने से ऋषि-ऋण से उद्धार मिलता है। यह प्रथम आश्रम, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम का कर्तव्य है। पिता सन्तान उत्पन्न कर ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा-दीक्षा द्वारा सन्तान को योग्य बनाकर वंश की स्थापना और सभ्यता की रक्षा करता है। प्रत्येक युवक पर पिता का यह ऋण रहता है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तति उत्पन्न कर उसे पूर्वोद्दिष्ट मार्ग पर शिक्षा-दीक्षा देकर योग्य बनाने से लोग पितृ-ऋण से उऋण होते हैं। यज्ञ, यजन, देवोपासना द्वारा लोग देव-ऋण से उद्धार पाते हैं। यह वानप्रस्थाश्रम का प्रधान कर्तव्य है। वानप्रस्थाश्रम तक मनुष्य जब इन तीनों ऋणों से उद्धार पा जाता है, तब वह इस प्रतिज्ञासूत्र को तोड़कर फेंक देता है और संन्यास ग्रहण कर लेता है। वह उसका शुद्ध बुद्ध और उन्मुक्त रूप है।

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में यज्ञसूत्र के स्वरूप का विवरण इस प्रकार मिलता है—

यज्ञाख्यः परमात्मा य उच्यते चैव होतृभिः।
उपवीतं ततोऽस्येदं तस्माद्यज्ञोपवीतकम्॥[1]

"होतागण परमात्मा को यज्ञ कहते हैं। यह उसके निकट ले जानेवाला है, इसलिये यह यज्ञोपवीत है।" वी गत्यर्थक धातु है। उपवीत का अर्थ है अत्यन्त निकटस्थ। इसलिये यज्ञोपवीत हुआ परमात्मा के अत्यन्त निकट पहुँचा वा पहुँचाया हुआ।

ज्ञातृविज्ञेययो रैक्यमविजानन् द्विजोत्तमः।
न त्यजेद्वात्मनः सूत्रं ब्राह्मं ब्रह्मविनिर्मितम्॥
सिसृक्षुरेक एवाग्रे समासीनः शिवः स्वयम्।
इच्छा गुणमयीं मायां सूत्ररूपमिवाकरोत्॥

१. कर्मकाण्डप्रदीपः। बम्बई। शाके १८४३। ई० १९२१। पृ० १७० में स्मृतिसार से उद्धृत।

तयोस्तदात्मकं विष्णुं दृष्ट्वा पालं दिवौकसाम् ।
स्वयं ब्रह्माऽभवत्क्रुद्धो रुद्रश्चास्य क्षयाय सः ॥
ज्ञानात्मकेन हरिणा ब्रह्मात्मनि शिवेऽव्यये ।
तत्सूत्रमुपवतीत्वाद्ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम् ॥
यज्ञेन उपवीतत्वाद्यज्ञसूत्रं विदुर्बुधाः ।
तदाज्ञया वृतत्वाच्च ब्रह्मणः ब्रह्मसूत्रकम् ॥
तावल्लोकास्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः ।
शिवसृष्टास्त्रयो वर्णास्त्रिवृत्सूत्रं समाश्रयेत् ॥
तद्ग्रन्थिमाश्रयंस्तारस्त्रिमात्रो नादसंयुतः ।
तद्ग्रन्थगा च सावित्री वेदमाता शिवाज्ञया ॥
एवं द्वादशदैवत्यं ब्रह्मसूत्रं द्विजन्मनाम् ।
ब्रह्माग्रे कल्पयामास वेदार्हाणामनुत्तमम् ॥
भवन्ति ब्राह्मणा नाम वेदार्हाश्च त्रयस्त्विह ।
यावत्प्रभृति वामांसे ब्रह्मसूत्रं द्विजस्य तत् ॥
गुरुः प्रतिष्ठापयति काले प्रभृति संयतः ।
तावत्प्रभृति तस्यैव पिताचार्यः स उच्यते ॥
माता च तस्य सावित्री द्वितीयं जन्म चोच्यते ।
आकटेस्तत्प्रमाणं स्याद्दीर्घं सूत्रं तथा स्थितम् ॥
आयुर्हरत्यतिह्रस्वमतिदीर्घं तपोहरम् ।
सिद्धार्थफलमानेन स्थूलं स्यादुपवीतकम् ॥
यशोहरमतिस्थूलमतिसूक्ष्मं धनापहम् ।
पवित्रं परमं शुद्धमायुष्यं च सुखावहम् ॥
औजस्यं ब्रह्मवर्चस्यं ब्रह्मसूत्रं तथोदितम् ।
यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं विभूषणं ब्राह्मणलक्षणं च ।
पद्मासनस्थेन पितामहेन ह्युत्पादितं मंगलसूत्रमेतत् ॥
यज्ञोपवीतस्योत्पत्तिं जानाति ब्राह्मणो न चेत् ।
स वै वहति भाराय पुस्तकानि यथा वृषः ॥इति॥[1]

"जबतक ज्ञातृ और ज्ञेय का भाव अर्थात् सोऽहम्भाव स्थिर न हो जाय, तबतक कोई द्विजोत्तम भी ब्रह्मविनिर्मित ब्रह्म और आत्मा के सूत्र का परित्याग न करे। स्वयं शिव बैठकर सृष्टि की बात सोच रहे थे। गुणमयी माया को देखकर उन्होंने इसे सूत्ररूप में बदल दिया। उन दोनों के आत्मस्वरूप और देवताओं के रक्षक विष्णु को देखकर स्वयं ब्रह्मा और रुद्र क्रुद्ध होकर इसका नाश करने लगे। ज्ञानरूप हरि द्वारा ब्रह्मास्वरूप अव्यय शिव में इसे पहुँचा देने के कारण यह ब्रह्मसूत्र हुआ। यज्ञ द्वारा स्वीकार करने के कारण बुद्धिमानों ने इसे यज्ञसूत्र के रूप में जाना। उनकी आज्ञा से ब्रह्मा ने इसे स्वीकार

१. तत्रैव। स्मृतिप्रकाश से उद्धृत।

किया इसलिये यह ब्रह्मसूत्र हुआ । तीन वेद, तीन देव, तीन अग्नि, शिव के बनाये हुए तीन वर्ण और तीन लपेटवाले सूत्र को धारण करे । सुन्दर ग्रन्थिवाला यह नादयुक्त त्रिमात्र ॐकार है । शिव की आज्ञा से वेदमाता गायत्री उसकी ग्रन्थि में निवास करती हैं । इस प्रकार द्विजों का ब्रह्मसूत्र बारह देवताओंवाला है । आदिकाल में वेदाधिकारियों के लिये ब्रह्म ने इस परमोत्तम वस्तु की रचना की । जबतक द्विजों के बायें कन्धे पर ब्रह्मसूत्र है, तबतक ब्राह्मण तीनों वेद के अधिकारी होते हैं । संयत गुरु समय पर इसकी स्थापना करते हैं, उसी समय से आचार्य उसके पिता कहलाते हैं । सावित्री उसकी माता बन जाती हैं और उसका दूसरा जन्म कहा जाता है । कटितक इसकी लम्बाई का परिमाण है । अत्यन्त छोटा आयु और अतिदीर्घ तप हरण करता है । उपवीत उजले सरसों के समान मोटा हो । अत्यन्त मोटा यश का और अत्यन्त पतला धन का हरण करता है । ब्रह्मसूत्र परम पवित्रता, शुद्धि, आयु, सुख, ओज और ब्रह्मतेज का बढ़ानेवाला है । यज्ञोपवीत परम पवित्र है और ब्राह्मण की शोभा तथा लक्षण है । पद्मासन ब्रह्मा ने इस मंगल सूत्र को उत्पन्न किया ब्राह्मण यदि यज्ञोपवीत की उत्पत्ति न जाने, तो वह पुस्तक ढोनेवाले बैल की तरह है ।" सारांश कि यज्ञोपवीत ब्रह्मज्ञान के व्रत का चिह्न है ।

शिखा

ऋक्संहिता में शिखा शब्द का व्यवहार हुआ है और ब्राह्मणग्रन्थों में शिखा-सूत्रवाले ऋषियों का वर्णन है, किन्तु किसी प्रचीन ग्रन्थ में इसके कारण का विवरण नहीं मिलता है ।

वैदिक सोलह संस्कारों में उपनयन की तरह चूड़ाकरण भी एक संस्कार है । इससे सिद्ध होता है कि इसका कोई निश्चित और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अवश्य था । इससे यह भी सिद्ध होता है कि यह संस्कार अत्यन्त प्राचीन है ।

दैनिक कर्त्तव्यों में, स्नान के पश्चात् अथवा जब शिखा खुली हुई, तो गायत्री मन्त्र द्वारा इसमें ग्रन्थि देना आवश्यक कर्तव्य है । शिखा खुली रखकर इधर-उधर घूमना मना है और यह गर्हित तथा प्रायश्चित्तीय कर्म समझा जाता है ।

सभी प्रकार के मन्त्रों के प्रयोग में अङ्गन्यास अनिवार्य कर्म समझा जाता है । इनमें जिन छः अङ्गों में मन्त्रशक्ति का न्यास (स्थापना) किया जाता है, उनमें शिखा भी एक है । इन अङ्गों की न्यासक्रिया परस्पर सम्बद्ध है । इसलिये इसके प्रयोजन को स्पष्ट करनेवाले श्लोक यहाँ दिये जाते हैं । ये छः अङ्ग हैं—हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र और व्यापक, अर्थात् सम्पूर्ण शरीर का रक्षक ।

हृदय में न्यास के मन्त्र इस प्रकार हैं—

१—क. हृज्यमान हृदयोऽयं हृदये स्याच्चिदात्मकः ।
क्रियते तत्परत्वेन हृन्मन्त्रेण ततः परम् ॥

"हृदय में पूजन का यह विषय चित्, अर्थात् चेतना है । उस चेतना-रूप हृदय-मन्त्र से (साधक) उसमें अपने को लीन करता है ।"

यह हृन्मन्त्र है—(बीज) हृदयाय नमः। प्रत्येक मन्त्र का बीज अलग होता है। गायत्री का बीज ॐ है। इसलिये न्यासमन्त्र होगा। ॐ हृदयाय नमः।

ख. हृदयायेति शब्देन हृत्स्थो देवः सविग्रहः।
उच्यते नम इत्यस्य ज्ञानं तद्विषयं परम्॥

"हृदयाय, इस शब्द के द्वारा हृदय में साकार (इष्ट) देवता का बोध कराया जाता है और नमः शब्द से उसके यथार्थ ज्ञान का निर्देश किया जाता है।"

२—शिरोमन्त्र—क. सर्वज्ञादिगुणोत्तुङ्गे संविद्रूपे परात्मनि।
क्रियते विषयाहारः शिरोमन्त्रेण देशिकः॥

"सर्वज्ञतादि गुण सम्पन्न, चेतना रूप परमात्मा में शिरोमन्त्र द्वारा साधक विषय (वासनाओं) को लीन करता है।"

शिरोमन्त्र का रूप हुआ—(बीज) शिरसे स्वाहा।

ख. शिरः शब्दो देवताया उत्कृष्टत्वाभिधायकः।
स्वाहेति विषयाः सर्वे देवतायां समर्पिताः॥

"शिरः शब्द देवता की उत्कृष्टता का बोधक है। स्वाहा द्वारा सभी विषय देवता में अर्पित कर दिये जाते हैं।"

३—शिखामन्त्र—क. हृच्छिरोरूपासंस्थौ नियता भावना दृढा।
क्रियते निजदेहस्य शिखामन्त्रेण देशिकः॥

"हृदय और मस्तक पर देवता के रूप के स्थिर हो जाने पर, शिखा-मन्त्र द्वारा साधक अपने शरीर की उस स्थिर भावना को दृढ करता है।" मन्त्र का रूप हुआ—(बीज शिखायै वषट्।

ख. शिखायै तत्स्वरूपत्वं वषट् वापि तदुच्यते।

"हृदय और शिर में प्रतिष्ठित देवता के साथ एकत्व को 'तत्स्वरूपत्व' न कहकर 'शिखायै वषट्' भी कहते हैं।

४—क. मन्त्रात्मकस्य देहस्य मन्त्रवाच्येन तेजसा।
सर्वतो धर्ममन्त्रेण अहन्यहनि संवृतिः॥

"मन्त्रमय शरीर का मन्त्र द्वारा निर्दिष्ट तेज से, सभी ओर से, धर्ममन्त्र (हुम्) द्वारा प्रतिदिन (कवच के रूप में) आवरण किया जाता है।"

ख. देवताया व्यापकत्वं कवचायाभिधीयते।
हुमितिव्यापकं तेजो देवतायाः प्रकाश्यते॥

"देवता के व्यापकत्व को 'कवचाय हुम्' कहा जाता है। इस मन्त्र से देवता के व्यापकत्व तेज को प्रकट किया जाता है।"

५—क. यो ददाति परं ज्ञानं संविद्रूपे परात्मनि।
हृदयादिमयं तेजः स्यादेतन्नेत्रसंज्ञितम्॥

"जो कारण, ज्ञान और चेतना रूप परमात्मा में हृदय, शिर, शिखा इत्यादि को तेज से भर दे उसे, नेत्रमन्त्र कहते हैं।"

इसमें वौषट् का प्रयोग होता है। मन्त्र का स्वरूप हुआ (बीज) नेत्राभ्याम् अथवा नेत्रत्रयाय वौषट्।

ख. नेत्रशब्देन देवस्य नित्यज्ञानं प्रकाश्यते।
वौषडिति तदेवोक्तम्।

"नेत्रशब्द से (इष्ट) देव के स्थिर ज्ञान का प्रकाश किया जाता है। इसी को वौषट् भी कहते हैं।"

६—क. आध्यात्मिकाविरूपं यत्साधकस्य विनाशयेत्।
अविद्याशतमन्त्रं तत् परं धाम समीरितम्॥

"जो (अस्त्रमन्त्र) विद्या और अविद्या सम्बन्धी साधक के सभी रूपों (उपाधियों) का नाश कर देता है वह (अशेष) कारण और तेजः स्वरूप कहा गया है।"

ख. अस्त्रशब्देन वारणम्।
अनिष्टस्य फट्शब्देन दाहकं तेज उच्यते॥[1]

"अस्त्र शब्द (फट्) से (अविद्याकृत) विघ्न को रोका जाता है। फट् शब्द जला देने वाला तेज कहा जाता है।"

मंत्र हुआ—(बीज) अस्त्राय फट्।

इस प्रयोग की फलश्रुति है—

ज्ञात्वैवमङ्गमन्त्रार्थमङ्गन्यासं करोति यः।
करगास्तस्य सर्वार्थाः पूज्यते त्रिदशैरपि॥

"इस प्रकार अङ्गन्यास के मन्त्रों का अर्थ जानकर जो अङ्गन्यास करता है, उसकी सभी इच्छाएँ करगत हो जाती हैं और देवगण भी उसका आदर करते हैं।"

इससे यह सिद्ध होता है कि पुरश्चरण और आध्यात्मिक साधनाओं में, हृदय, शिर, नेत्रादि की तरह शिखा भी एक प्रधान अङ्ग है। इसके विना साधनाएँ साङ्गोपाङ्ग नहीं हो सकतीं।

जिस प्रकार प्रासादपुरुष परमपुरुष की कल्पित प्रतिकृति के अनुरूप है, उसी प्रकार मानव-शरीर भी प्रासादपुरुष की तरह परमपुरुष का विहारस्थल वा खेलने की वस्तु है और उसकी प्रतिकृति के अनुरूप है। जिस प्रकार प्रासादपुरुष के शिखर पर पताका परमात्मा के अनन्त रूप का निर्देशक है उसी तरह शिखा वा चूडा, मानव शरीर को सब ओर से पूर्णतः आवृत करनेवाले परमात्मा के सर्वव्यापी तेज का निर्देशक है। काली और तारा के अनन्त रूप का द्योतक उनकी शिखा भी खुली और फैली हुई दिखाई जाती है।

सुषुम्ना के भीतर चित्रिणी के भीतर ब्रह्मनाडी वा ब्रह्मसूत्र है। यह मूलाधार से सहस्रार तक है। सहस्रार में जहाँ इसका मुख है, वही शिखास्थान है। वहाँ न्यास करते समय तत्त्वमुद्रा द्वारा (अंगुष्ठा, मध्यमा और अनामिका को मिलाकर) स्पर्श किया जाता है

---

१. क. चिह्नवाले श्लोक श्यामारहस्यतन्त्र के हैं और ख. चिह्नित पुरश्चर्यार्णव, चौखम्बा बनारस के हैं। श्यामारहस्य। द्वितीयपरिच्छेद। पुरश्चर्यार्णव। पृ० १८५।

और ऐसा ध्यान किया जाता है कि हृदय और शिरस्थ देव और मन्त्रशक्ति और तेज ब्रह्मनाडी में प्रवेश कर सारे शरीर में व्याप्त होकर स्थिर हो रहे हैं । इनसे न्यास-भावना में स्थिरता और दृढ़ता आती है । शरीर का नाम पुर भी है । इस शरीर-नगर की स्थिति की साधना के लिये दृढ़ता प्रदान करने में शिखाक्रिया मूलस्तम्भ का काम करती है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्या को परमपुरुषार्थ बनानेवाले परमार्थी भारतीयों के लिये चूड़ा वा शिखा हृदय, मस्तक और आँखों की तरह एक अनिवार्य अङ्ग है । इसके विना सभी ब्रह्म-कर्म विकलाङ्ग माने जाते हैं ।

जो यज्ञसूत्र के रूप और कर्म हैं वे ही शिखा के भी हैं । इसलिये संन्यास ग्रहण करते समय सूत्र के साथ शिखा का भी त्याग कर दिया जाता है।

तिलक

तिलक जगत् के आदिकारण का प्रतीक है। साम्प्रदायिक भावनाओं के भेद से तिलक के भी अनेक भेद हैं, किन्तु अन्तर्गत सिद्धान्त एक है, अर्थात् ये कूटस्थ ब्रह्म की भावनाओं के प्रतीक हैं। शैव, वैष्णव और शाक्त तिलक का व्यवहार करते हैं।

शैव त्रिपुण्ड्र और भौंहों के बीच विन्दु का प्रयोग करते हैं। त्रिपुण्ड्र, त्रिशक्ति त्रिगुणादि का और बिन्दु कूटस्थ तत्त्व का प्रतीक है।

वह्नित्रयं तच्च जगत्त्रयं तच्च शक्तित्रयं स्यात् ।
धृतं त्रिपुण्ड्रं यदि कोऽपि दैवात् तद्दृष्ट्वान्यः पातकौघाद्विमुक्तः ॥[1]

"त्रिपुण्ड्र, तीन अग्नि, तीनों जगत् (भूर्भुवःस्वः) और तीन शक्ति (ज्ञान-इच्छा-क्रिया) है। जिसने त्रिपुण्ड्र धारण किया है, उसे दैवात् कोई देख ले, तो वह सभी पातकों से विमुक्त हो जाता है।" संक्षेप में त्रिपुण्ड्र त्रिशक्ति की तीन रेखाएं हैं और बीज अथवा कारणतत्त्व बिन्दु है।

वैष्णव ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं। इनकी रेखाएं नाक से मस्तक के बालों की जड़ों तक जाती हैं। बीच में दीपशिखा की तरह लाल रंग का मणि रहता है । ये दोनों रेखाए विष्णु के चरण-चिह्न हैं और बीच का मणि आत्मा का प्रतीक है। कभी-कभी लोग ललाट पर केवल मणि ही धारण करते हैं।

मत्पादाकृतयश्च ऊर्ध्वपुण्ड्रा नासादयः स्मृताः ॥[2]

"मेरे पैर की आकृतिवाले ऊर्ध्वपुण्ड्र का आरम्भ नासाग्रभाग से होता है।"

नासादिकेशान्तमूर्ध्वपुण्ड्रं विष्णोः स्थितस्य चरणाकृतिः ॥[3]

"नासाग्र से लेकर केश तक ऊर्ध्वपुण्ड्र स्थिर सर्वव्यापी की चरणाकृति है। यथार्थ में ये त्रिशक्ति के अर्धचन्द्राकार नाद और बिन्दु के रूपान्तर हैं।

शाक्त प्रायः केवल लाल रंग का बिन्दु लगाया करते हैं। यह प्रकाशब्रह्म का विमर्श बिन्दु है। उनके लाल वस्त्र का भी यही उद्देश्य है।

१. अप्रकाशिता उपनिषदः । मद्रास । १९३३ । सिद्धान्तशिखोपनिषत् । पृ० ३८१ ।
२. तत्रैव । ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषत् । पृ० ६४ ।
३. तत्रैव । कात्यायनोपनिषत् । पृ० ६५ । नारदोपनिषत् । पृ० ७२ ।

नाद-बिन्दु के प्रतीक अर्धचन्द्र और बिन्दु को लोग ललाट और कानों पर लगाया करते हैं। ललाट पर, ऊपर अर्ध चन्द्र और दोनों भौंहों के बीच बिन्दु रहता है। कानों में, कानों के लोलक के ऊपर बिन्दु और उसके बाहर अर्धचन्द्र बना रहता है।

कभी-कभी लोग त्रिपुण्ड्, ऊर्ध्वपुण्ड् और बिन्दु को एक साथ धारण करते हैं।

एक ब्रह्म के अनेक रूप

अबतक जितनी विवेचना हो चुकी है, इससे स्पष्ट है कि तत्त्व एक है, चाहे उसके जितने भी रूप और नाम हों। जब रूप और नाम किसी निमित्त वा उद्देश्य और तदनुगामी कल्पना पर आश्रित हैं, तो इनकी संख्या का निर्धारण करना असम्भव है।[1] इसलिये कहा गया है कि देव-देवियों की संख्या तीस करोड़, अर्थात् असंख्य है और प्रत्येक के शतनाम और सहस्रनाम हैं, अर्थात् शब्दों द्वारा जो कुछ कहा जा सकता है, वे सभी उनके नाम हो सकते हैं। रूप और नाम की तरह यदि तत्त्व भी कल्पित होता, तो इसमें भी अनेकता दिखलाई पड़ती। भारतीय महात्माओं ने सारी सृष्टि का प्रपंच और परमार्थ में दो विभाग कर दोनों के रहस्यों का पता लगाने में अपनी सारी और समस्त शक्ति लगा दी और रहस्य का पता लगा लिया। अपने तप के इस फल को जगत् के कल्याण के लिये उन्होंने प्रपंचविद्या और परमार्थविद्या के रूप में मानवता को प्रदान किया, जिसे पाकर मानवता कृतकृत्य हो गई।

ऋषियों ने रूप और नाम के अन्तर्गत एकता का प्रचार किया, जिसमें अल्प प्राणी भी भ्रम में न पड़े। उन्होंने कहा -

शिवः कर्त्ता शिवः भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।
देवी धात्री च भोक्त्री च देवो सर्वमिदं जगत्॥

कालीविलासतन्त्र का कथन है—

यः शिवः सैव दुर्गा स्यात् या दुर्गा शिव एव सः।
यः शिवः कृष्ण एव स्यात् यः कृष्णः शिव एव सः॥[2]

त्रिपुरा के नाम हैं वैष्णवी विष्णुरूपिणी।[3] पुरश्चर्यार्णव[4] में काली कृष्णादि की एकता प्रतिपादित की गई है। ग्रन्थकार कहता है—

कालीकृष्णयोरैक्यमुक्तं।

---

१. सप्तकोटिर्महाविद्या उपविद्याश्च तादृशाः।
तासां मूर्त्तिर्मुनिश्रेष्ठ संख्यातुं नैव शक्यते॥
प्राणतोषणी। बंगाक्षर। कलकत्ता। १३३५ साल। पृ० ३७६ में नारदपञ्चरात्र से उद्धृत।

२. कालीविलासतन्त्रम्। लण्डन। १९१७। पटल ६। श्लोक १०।

३. ललितासहस्रनाम। श्लोक २१७।

४. पुरश्चर्यार्णव। नेपालमहाराज प्रताप सिंह। बनारस। १९०१। पृ० १७ से।

महाकालसंहितायाम्—

स्त्रीणां त्रैलोक्यजातानां कामो(मो)न्मादैकहेतवे ।
वंशीधरः कृष्णदेवः प्रकृतिर्विष्णुरुच्यते ॥
उभयोर्मेलनादेवि शिवशक्तिर्हि गीयते ।

कृष्णस्य कालीस्वरूपत्वं, रामस्य तारास्वरूपत्वं, तिसृणां शक्तीनामैक्यं चोक्तं—

शक्तिसंगमे—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा ।
लोकसंमोहनार्थाय स्वरूपं बिभ्रती परम् ॥
वेणुनादसमारम्भसर्वसंमोहनक्षमम् ।
कदाचिदाद्या श्रीकाली सैव तारास्ति पार्वती ।
कदाचिदाद्या श्रीतारा पुंरूपा रामविग्रहा ॥
रावणस्य वधार्थाय देवानां स्थापनाय च ।
दैत्यसंहरणार्थाय पुंरूपं बिभ्रती परम् ॥
आद्या तारा महाशक्तिः सैव काली महेश्वरी ।
या महावैष्णवी माया सा महासुन्दरी मता ॥
नैव स्त्री न पुमानेषा नैव चापि नपुंसकम् ।
यद्यच्छरीरमाधत्ते युज्यते तेन तेन सा ॥

तत्रैवोक्तम्—

रामः शक्तिरिति ख्यातः स शिवः परिकीर्तितः ।
शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म रामरामेति गीयते ॥
गौरीसीतयोः शिवरामयोश्चैक्यमुक्तं—

तत्रैव—

गौरीरूपा परा सीता महासाम्राज्यनायिका ।
रामः परशिवो ज्ञेयो नाऽवतारो नरोऽपि च ।
यत्परं ब्रह्म विख्यातं तद्रामेत्यक्षरद्वयम् ।

रामोपनिषदि

रमन्ते योगिनोनन्ते सत्याऽनन्दे चिदात्मनि ।
रामनामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥
गणेशादिपञ्चदेवतानामैक्यमुक्तं—

रुद्रयामले—

गणेशार्कहरीशानां दुर्गारूपा सरस्वती ।
महाश्यामा महाविद्या पूजनीया यथाक्रमम् ॥
न कुर्याद्भेदमेतेषां कौलिको वैष्णवस्तथा ।
गणेशार्कहरीशान-र्गानां परमार्थवित् ॥

पूजयेदैक्यभावेन देवीभक्तो च भक्तिमान् ।
देवीचक्रेऽर्चयेत्सर्वान् शिवलिङ्गेऽथवा शिवे ॥
शालग्रामशिलायां वा सूर्यपीठेऽथवा शिवे ।
श्रीगणेश्वरचक्रे वा न भेदं कारयेत् बुधः ।
भेदं वै कुरुते यस्तु स शैवः शिवहा भवेत् ।
शैव इत्युपलक्षणम् ।

दशमहाविद्यादशावताराणामैक्यमुक्तम् —

मुण्डमालातन्त्रे —

कृष्णस्तु कालिका साक्षाद् राममूर्तिश्च तारिणी ।
वराहो भुवना प्रोक्ता नृसिंहो भैरवीश्वरी ॥
धूमावती वामनः स्याच्छिन्ना भृगुकुलोद्भवः ।
कमला मत्स्यरूपः स्यात् कूर्मस्तु बगलामुखी ॥
मातङ्गी बौद्ध इत्येषा षोडशी कल्किरूपिणी ॥ इति

महाकालसंहिता में कहा गया है कि काली और कृष्ण एक ही हैं —

"तीनों लोकों में स्त्रीत्व में काम ही उत्तेजना का कारण है। वंशीधर (शब्दब्रह्मस्वरूप) कृष्ण देव और प्रकृति का ही विष्णु (विश्वव्यापी) कहते हैं। दोनों के एकाकार को शिवशक्ति कहते हैं।"

शक्तिसंगम में कहा गया है कि शक्तियाँ एक ही हैं—

"कभी सब से आदि में वर्तमान ललिता ने पुरुषरूप में कृष्ण-शरीर धारण किया। यह लोकों को मुग्ध करने के लिये पररूप था जो वेणुनाद को महासृष्टिक्रिया द्वारा सब को मोह ले सकता था। कभी जो सबसे पहिले वर्तमान रहनेवाली (आद्या) काली हैं, वही तारा और पार्वती हैं। कभी आद्या श्रीतारा पुरुषरूप में रावण को मारने, संहार करने और देवों की स्थापना के लिये पर-रूप को पुरुषरूप में धारण करती हैं, जो रामरूप है। आद्या महाशक्ति तारा ही काली और महेश्वरी हैं। जो महावैष्णवी माया हैं, वही महासुन्दरी (त्रिपुरा) हैं। यह (विश्वव्यापिनी) शक्ति न पुरुष है, न स्त्री और न नपुंसक। यह जो-जो शरीर धारण करती है, इन्हीं के साथ इसका सम्बन्ध हो जाता है।"

वहीं कहा गया है—

"यह सर्वविदित है कि राम शक्ति हैं और उन्हें ही शिव भी कहा गया है। शिव-शक्तिरूप ब्रह्म को ही राम कहते हैं।"

वहीं गौरी और सीता तथा शिव और राम को एक ही कहा गया है—

"महासाम्राज्य (सृष्टि) की अधिष्ठात्री गौरी रूप में पराशक्ति ही सीता हैं। राम को पर शिव जानना चाहिये, नररूप अवतार नहीं। जिन्हें सभी पर ब्रह्म जानते हैं, वही राम के दोनों अक्षर हैं।"

रामोपनिषत् में—

"अनन्त, सत्य, आनन्द और चेतना रूप आत्मा में योगीजन मग्न रहते हैं। इसी परब्रह्म का नाम राम है।"

"रुद्रयामल में गणेशादि पञ्चदेवों को एक ही कहा गया है—गणेश, सूर्य, हरि और हर की क्रमशः दुर्गा, सरस्वती, महाश्यामा और महाविद्या के रूप में पूजन करे। शाक्तों (कौलिक) और वैष्णवों को इनमें भेद न करना चाहिये। भक्तिमान् तत्त्वज्ञानी (परमार्थवित्) देवी की भक्ति करने में एक को ही गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव और दुर्गा समझकर पूजे। बुद्धिमान्, शालग्राम-शिला, सूर्यपीठ (मण्डल) शिव (लिङ्ग) वा गणेशचक्र में भेद न समझे। यदि इन्हें भिन्न समझेगा तो वह शैव शिवघाती होगा।"

"यहाँ शैव संकेत (उपलक्षण) मात्र है। अर्थात्, शैव से शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य इत्यादि सब को समझना चाहिये।"

मुण्डमाला-तन्त्र में दशमहाविद्या और दशावतार को एक ही कहा गया है—

"कृष्ण साक्षात् कालिका हैं, तारा रामरूपिणी हैं, वराह भुवनेश्वरी हैं, नृसिंह त्रिपुर भैरवी हैं, धूमावती वामन हैं, छिन्नमस्ता परशुराम हैं, कमला मत्स्य हैं, कूर्म बगलामुखी हैं, मातङ्गी बुद्ध हैं और षोडशी (त्रिपुरा) कल्कि हैं।"

अतः सौर पुराण का यह कथन सर्वथा सत्य है कि—

अद्वैतमेकं परमात्मनं ज्ञानविग्रहम् ।
नानात्मानं प्रपश्यन्ति मायया मोहिता जनाः ॥[1]

"ज्ञानस्वरूप परम आत्मा एक है, दो नहीं। माया से मोहित जनों को बहुत-से आत्मा दिखाई पड़ते हैं।'

श्रीहरिशरणाष्टक के प्रथम श्लोक का भी यही भाव है—

ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये
शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै ।
रूपैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेकस्-
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ॥

"कोई शिव को, कोई शक्ति को, कोई गणेश को और कोई सूर्य को ध्येय मानते हैं, किन्तु एक आप ही उन रूपों में विभासित हैं। इसलिये शङ्खपाणे ! आप ही मेरे अवलम्ब हैं।

नित्य उपासना में प्रयुक्त इस श्लोक से भी यही भाव व्यक्त किया जाता है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

१. सौर पुराण। आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलिः। शाके १८११।११.२६।

"शैव जिनकी शिवरूप में, वेदान्ती ब्रह्मरूप में, प्रमाणपटु बौद्ध बुद्धरूप में, नैयायिक कर्म-नाम से, जैनमतावलम्बी अर्हन् नाम से और मीमांसक कर्मनाम से उपासना करते हैं वे त्रैलोक्यनाथ हरि हमारी इच्छा पूर्ण करें।"

योगवासिष्ठ का भी यही मत है—

एष देवः स परमः पूज्य एषः सदा सताम्।
चिन्मात्रमनुभूत्यात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ॥
घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे स्थितः।
शिवो हरो हरिर्ब्रह्मा शक्रो वैश्रवणो यमः ॥
बहिरन्तश्च सर्वात्मा सदा स्वात्मा सुबुद्धिभिः।
विविधेन क्रमेणैव भगवान् परिपूज्यते ॥[1]

"यही देव सब से बढ़कर हैं। यही सर्वदा सज्जनों के पूज्य हैं। ये केवल चित् भर हैं, अनुभव स्वरूप हैं, सर्वगामी और सर्वाधार हैं। घट, पट, वट, भीत, शकट और वानर में स्थित हैं। शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, कुवेर, यम, भीतर बाहर सब के आत्मा हैं। निर्मल बुद्धिवाले अपने आत्मा भगवान् को नाना प्रकार से पूजते हैं।"

शाक्तों का भी यही मत है—

गायत्री सशिरा तुरीयसहिता संध्यामयीत्यागमै—
राख्याता त्रिपुरे त्वमेव महतां शर्मप्रदा कर्मणाम्।
तत्तद्दर्शनमुख्यशक्तिरपि च त्वं ब्रह्मकर्मेश्वरी
कर्त्तार्हन्पुरुषो हरिश्च सविता बुद्धः शिवस्त्वं गुरुः ॥[2]

"त्रिपुरे! आगम कहते हैं कि बड़े-बड़े कर्मों में कल्याण करनेवाली चतुर्थ शिरसा मंत्र-सहित संध्यामयी गायत्री तुम ही हो। ब्रह्मकर्म की अधीश्वरी और दर्शनशास्त्रों की मुख्य शक्ति भी तुम ही हो। (मीमांसकों का) कर्त्ता, (जैनों के) अर्हन्, (सांख्य के) पुरुष, (वैष्णवों के) हरि, (सौरों के) सविता, (बौद्धों के) बुद्ध, (शैवों के) शिव और गुरु तुम ही हो।"

इन सब से यह स्पष्ट है कि एक ही तत्त्व की उपासना, अनेक नाम और रूपों में होती है।

प्रतीकों का प्रयोजन

इतनी विवेचना करने पर प्रश्न उठता है कि इतने रूपों की कल्पना करने में इतना प्रपञ्च करने की क्या आवश्यकता है। इन रूपों के विना भी तो निराकार ब्रह्म वा मूल प्रकृति की उपासना हो सकती थी। फिर इतनी झंझट बढ़ाने से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है।

१. योगवासिष्ठ। निर्णयसागर। बम्बई। शाक: १८५९। सन् १९३७। निर्वाणप्रकरण। सर्ग ३८।
२. त्रिपुरामहिमस्तोत्रम्। श्लोक २०।

यामल का मत है—

सगुणा निर्गुणा चेति महामाया द्विधा मता ।
सगुणा मायया युक्ता तथा हीना तु निर्गुणा ॥

"सगुण और निर्गुण महामाया के रूप हैं । मायायुक्त वह साकार है और मायारहित वह निराकार है ।"

इनकी उपासना की रीति गीता में इस प्रकार दी गई है ।

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥[1]

"श्रीभगवान् ने कहा—नित्य मुझमें परम श्रद्धा से मन लगाकर जो मेरी उपासना करते हैं, मैं उन्हें सब से अधिक युक्त पुरुष मानता हूँ ।

"जो सभी इन्द्रियों को संयत कर, सर्वत्र समबुद्धि रखकर तथा सब जीवों के हित में लगे रहकर अक्षर, निर्देशरहित, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ (निर्विकार)[2], अचल और नित्य की उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं ।

अव्यक्त (निराकार) में जिनका चित्त लगा हुआ है, उन्हें अधिक क्लेश है । देहधारी अव्यक्तगति को कष्ट से पा सकते हैं ।"

साकार शरीरधारी जीवों द्वारा निराकार को प्राप्त करना बहुत कष्टसाध्य समझकर आकार के द्वारा निराकार को प्राप्त करने की आवश्यकता हुई । भिन्न-भिन्न साधकों वा उपासकों की योग्यता और रुचि के अनुकूल नाना प्रकार के रूपों की कल्पना की गई ।

वैजयन्ती तन्त्र में कृष्ण कहते हैं—

सर्वश्रीसुभगो विष्णुर्वै प्रेममयो बहिः ।
श्रीसम्पत् प्रेमजलधिः स एवान्तरतस्तव ॥
अष्टौ प्रकृतयो बाह्या जीवभूता तथा परा ।
य एताभिः समं नित्यं रा[illegible]यणः ॥
स एव तत्त्वरूपाभिः सखीभिश्च त्वया सह ।
देहवृन्दावने नित्यं रासलीलां करोति हि ॥

१. गीता । १२.२-५ ।

२. कूट है निहाई । निहाई पर सभी धातु पीटे जाते हैं और नाना रूप ग्रहण करते हैं, किन्तु वह स्वयं अचल और ज्यों-का-त्यों बना रहता है । इसलिये अचल और निर्विकार तत्त्व का नाम कूटस्थ है ।

शृणु त्वं यदि कस्यापि देवस्योपासकस्तदा ।
प्राण एव स ते साक्षादेवं कार्यं धृतिस्त्वया ॥
काली कृष्णः शिवो दुर्गा विष्णुर्गणपतिश्च वा ।
आत्मप्राणस्वरूपास्ते चिन्तनीया विचक्षणैः ॥
तत्तद्रूपं गृहीत्वा स प्राण एवाच्युतस्तव ।
विश्वं व्याप्य स्थितं सर्वमिति ज्ञेयः प्रयत्नतः ॥
अथवा यदि न प्रीतिर्मूर्तौ ते तत्त्वभावतः ।
तेनैव तत्त्वभावेन नित्यं कुर्या उपासनम् ॥
प्रतीको द्विविधो मूर्तिस्तत्त्वभावस्तथापरः ।
न तत्र फलपार्थक्यं येन केनाप्युपासने ॥
द्विविधेन प्रकारेण मूर्तिः स्यादुपकारिणी ।
लीना सा यदि तत्त्वार्थी तत्त्वभावः प्रसीदति ।
अथवा यदि मूर्त्यर्थी सा तस्मिन्नन्तराम्बरे ।
साक्षात् प्राणमयी भूत्वा ह्याविर्भवति तत्क्षणात् ॥
मूर्तौ सजीवताबोधः शीघ्रं भवितुमर्हति ।
प्रवर्तकानां किन्त्वस्यामात्मबोधः सुदुष्करः ॥
आभासोऽद्वैतभावस्य चामूर्ते विन्दते चिरात् ।
परं संजीवताबोधो नहि शीघ्रं प्रकाशते ॥
मूर्तिर्वा तत्त्वभावो वा परं प्राणः प्रयोजनम् ।
कृतार्थत्वं न तौ प्राणं विना गमयतः क्वचित् ॥[1]

"सब प्रकार की श्रीके प्रिय विष्णु जो प्रेम-रूप में बाहर स्थित हैं, वे ही श्री-सम्पत् और प्रेम के सागर तुम्हारे भीतर स्थित हैं ॥१२॥ जो जीव बनी हुई अष्ट बाह्यप्रकृति और परा के साथ नित्य रासलीला में संलग्न रहते हैं ॥१३॥ वही तत्त्वरूप सखियों के और तुम्हारे (राधा के) साथ देहरूप वृन्दावन में नित्य रासलीला करता है ॥१४॥ सुनो, यदि कभी किसी देवता की उपासना करो, तो तुम्हें समझना चाहिये कि वह साक्षात् तुम्हारा प्राण ही है ॥१५॥ ज्ञानी पुरुषों को चिन्तना करना उचित है कि काली, कृष्ण, शिव, दुर्गा, विष्णु वा गणपति अपनी ही प्राणशक्ति के प्रतिरूप हैं ॥१६॥ यह सब यत्नपूर्वक जानना चाहिये कि तुम्हारी ही स्थिर प्राणशक्ति उन रूपों को ग्रहण कर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होकर स्थित है। अथवा तत्त्वभाव होने के कारण मूर्ति में तुम्हारी प्रीति न हो, तो उस तत्त्वभाव से ही नित्य उपासना करो ॥१८॥ प्रतीक दो प्रकार के हैं—मूर्ति और दूसरा तत्त्वभाव। जिस किसी से उपासना क्यों न की जाय, उनके फल में भेद नहीं है ॥१९॥ दोनों प्रकार से मूर्ति उपकारी होती है। तत्त्वार्थी यदि उसमें लीन हो जाय, तो तत्त्वभाव प्रस्फुटित हो उठता है ॥२०॥ अथवा यदि कोई मूर्ति में ध्यान करनेवाला हो, तो वह रूप उसके हृदयाकाश में तत्क्षण उसका प्राणमय होकर साक्षात् प्रकट हो जाती है ॥२१॥ मूर्ति में सजीवता का शीघ्र

१. वैजयन्तीतन्त्रम्। कलकत्ता। बंगाक्षर। १३३६ साल। ७.१२-२४।

ही बोध होने लगता है किन्तु इसमें (मूर्ति-उपासना में) प्रवृत्त होनेवाले को आत्मबोध दुष्कर है ॥२२॥ मूर्तिरहित अद्वैत भाव का आभास इसमें शीघ्र ही होने लगता है, पर चेतना का बोध शीघ्र प्रकट नहीं होता ॥२३॥ मूर्ति हो अथवा तत्त्वभाव हो, प्राणशक्ति का बोध ही परम प्रयोजन है। प्राणशक्ति के बोध के विना ये दोनों (मूर्ति और निराकार तत्त्वभाव) कभी सफल नहीं होते।"

विष्णुपुराण में लिखा है—

शुभाश्रयः स्वचित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः।
त्रिभावभावनातीतो मुक्तये योगिनां नृप ॥
अन्ये च पुरुषव्याघ्र चेतसो ये व्यपाश्रयाः।
अशुद्धास्ते समस्तास्तु देवाद्याः कर्मयोनयः ॥
मूर्त्तं भगवतो रूपं सर्वापाश्रयनिस्पृहम्।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते ॥
तच्च मूर्त्तं हरे रूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप।
तच्छ्रूयतामनाधारे धारणा नोपपद्यते ॥
प्रसन्नचारुवदनं पद्मपत्रोपमेक्षणम्।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ॥
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकर्णविभूषणम्।
कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्साङ्कितवक्षसम् ॥
वलीत्रिभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण वै।
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम् ॥
समस्थितोरुजङ्घं च सुस्थिरांघ्रिकराम्बुजम्।
चिन्तयेद्ब्रह्ममूर्त्तं च पीतनिर्मलवाससम् ॥
किरीटचारुकेयूरकटकादिविभूषितम्।
शार्ङ्गशङ्खगदाखड्गचक्राक्षवलयान्वितम् ॥
चिन्तयेत्तन्मना योगी समाधायात्ममानसम्।
तावद्यावद् दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा ॥
व्रजतस्तिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः।
नापयाति यदा चित्तात् सिद्धां मन्येत तां तदा ॥
ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः।
चिन्तयेद्भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम् ॥
सा यदा धारणा तद्वदवस्थानवती ततः।
किरीटकेयूरमुखैर्भूषणै रहितं स्मरेत् ॥
तदेकावयवं देव चेतसा हि पुनर्बुधः।
कुर्यात्ततोऽवयविनि प्रणिधानपरो भवेत् ॥

तद्रूपप्रत्ययायैका सन्ततिश्चान्य निस्पृहा ।
तद्ध्यानं परमं रङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥
तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् ।
मनसा ध्याननिष्पाद्यसमाधिः सोऽभिधीयते ॥[1]

"हे राजन् ! सर्वगामी अपने चित्त और आत्मा के लिये तीन भाव (सत्त्व, रज, तम, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति, ऋक् यजुः साम इत्यादि) की भावनाओं से रहित कोई शुभ अवलम्ब योगियों की मुक्ति के लिये होता है ।।७५।। हे पुरुषव्याघ्र ! चित्त के अन्य अशुभ अवलम्ब देवता आदि जो नाना प्रकार के कर्म के लिये (कर्मयोनयः) हैं, वे सभी कलुषित (अशुद्ध) हैं ।।७६।। भगवान् के मूर्त्त रूप सब प्रकार की मलिनताओं से रहित हैं। इसी पर धारणा (ध्यान का आरम्भ) होनी चाहिये। इसी पर चित्त को लगाया जाता है ।।७७।। हे नराधिप ! हरि के जैसे रूप पर मन स्थिर करना चाहिये, उसे सुनिये। आधार नहीं रहने पर धारणा नहीं हो सकती ।।७८।। प्रसन्न सुन्दर मुख, पद्मपत्र-जैसे नेत्र, सुन्दर कपोल, चमकते हुए विस्तीर्ण ललाट, सुन्दर कान और उनमें लगे हुए सुन्दर कर्णभूषण, शङ्ख-जैसी ग्रीवा, चौड़ी और श्रीवत्स चिह्नवाली छाती, त्रिवलि और गहरी नाभिवाला उदर, विष्णु की लम्बी आठ अथवा चार भुजाएँ, सुडौल ऊरु और जंघाएँ, स्थिर चरण और करकमल, पीला निर्मल वस्त्र, किरीट, सुन्दर केयूर कटक आदि से विभूषित, शार्ङ्ग धनुष, शङ्ख, गदा, खड्ग, चक्र, माला और वलययुक्त, मूर्त्त (साकार) ब्रह्म की चिन्तना करे। अपने मन को समेटकर योगी तन्मय होकर तबतक ध्यान करे, जबतक उस पर धारणा (मूर्तरूप का मन में प्रत्यक्ष होना स्थिर न हो जाय ।।७९-८४।। चलते अथवा स्वेच्छा से अन्य काम करते समय भी यदि वह मन से मिट न जाय, तो धारणा को सिद्ध समझना चाहिये ।।८५।। तब बुद्धिमान् शङ्ख, गदा, चक्र, शार्ङ्ग आदि से रहित केवल मालावाले भगवान् के प्रशान्त रूप का ध्यान करे ।।८६।। यह धारणा भी जब उस तरह स्थिर हो जाय तब किरीट केयूर, मुख और भूषणों से रहित (रूप का) ध्यान करे ।।८७।। पुनः बुद्धिमान् उस एक अवयववाले देव को चित्त में ले आवे। पश्चात् अवयव (अङ्गप्रत्यङ्ग) रहित में अच्छी तरह ध्यान करे ।।८८।। उस रूप के प्रत्यय के लिये इस रूप से निकले हुए (सम्बन्ध रखनेवाले) रूप की इच्छा न करे। हे राजन् ! यह सर्वोत्तम ध्यान छः प्रकार से होता है ।।८९।। उसके जो कल्पनाहीन रूप को ग्रहण करता है और मन द्वारा जो ध्यान निष्पन्न किया जाता है, उसे समाधि कहते हैं।

यामल में लिखा है—

स्थूलसूक्ष्मविभेदेन ध्यानन्तु द्विविधं भवेत् ।
सूक्ष्मं मन्त्रवपुर्ध्यानं स्थूलं विग्रहचिन्तनम् ।।
करपादोदरास्यादि रूपं यत् स्थूलविग्रहम् ।
सूक्ष्मं च प्रकृते रूपं परं ज्ञानमयं स्मृतम् ।।
सूक्ष्मध्यानं महेशानि कदाचिन्नहि जायते ।
स्थूलध्यानं महेशानि कृत्वा मोक्षमवाप्नुयात् ।।

---

१. विष्णुपुराण । जीवानन्द । कलकत्ता । ६.७.७५-९० ।

"स्थूल और सूक्ष्म के भेद से ध्यान दो प्रकार के होते है। मन्त्र के रूप का ज्ञान सूक्ष्म है और शरीर के रूप में चिन्तन करना स्थूल है। हाथ, पैर, उदर आदि के रूप की चिन्तना करना स्थूल रूप है। सूक्ष्म प्रकृति का रूप है, जो पर और ज्ञानमय कहा गया है। हे महेश्वरि! सूक्ष्म ध्यान कदाचित् नहीं भी हो सकता है। स्थूल ध्यान करके मोक्ष लाभ करना चाहिये।

शाक्तानन्दतरङ्गिणी में इसी प्रसंग में उद्धृत उक्ति है—

आत्माभेदेन संचिन्त्य याति तन्मयतां नरः।
सोऽहमित्यस्य सततं चिन्तनात् तन्मयो भवेत्॥
अहं देवी न चान्योऽस्मि मुक्तोऽहमिति भावयेत्।
रुद्रस्य चिन्तनाद्रुद्रो विष्णुः स्याद्विष्णुचिन्तनाम्।
दुर्गायाश्चिन्तनाद्दुर्गा भवत्येव न चान्यथा।
एवमभ्यस्यमानस्तु अहन्यहनि पार्वति।
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनात्॥[१]

"(ब्रह्म को) अपने से अभिन्न समझकर मनुष्य उसमें लीन हो जाता है, अर्थात् वैसा ही हो जाता है। मैं वही हूँ—बराबर यह चिन्तन करते रहने से वैसा ही हो जाता है। भावना करे कि मैं देवी हूँ, दूसरा नहीं और मैं मुक्त हूँ। यह निश्चित है कि रुद्र का चिन्तन करने से रुद्र, विष्णु का चिन्तन करने से विष्णु और दुर्गा का चिन्तन करने से दुर्गा हो जाता है। हे पार्वति! इस प्रकार प्रतिदिन अभ्यास करते रहने से जरामरण-दुःखादि भवबन्धन से छुटकारा मिल जाता है।"

नीलकण्ठ का कथन है—

ध्यानभेदेनैव भेदव्यवहारो, न तत्त्वतो मन्तव्यः।

"ध्यान के भेद से ही व्यवहार में भेद है। यथार्थ में (कोई भेद) न समझना चाहिये।"

इसका अर्थ यह है कि विष्णु रूप में उपासना में वैष्णव उपचार से शिवरूप में शैव विधि से और शाक्तादि में इन्हीं के विधि-निषेधों से क्रियाएं होती हैं। तत्त्व एक ही है।

इन उद्धरणों पर ध्यान से मनन करने से बोध होता है कि प्रतीक ब्रह्मविद्या और प्रपंच-विद्या का एक प्रधान अंग है और मानव-जीवन में परमार्थ तथा स्वार्थ-सिद्धि के लिये इनका उपयोग होता है। स्थूल से लोग सूक्ष्म की ओर बढ़ते हैं और सूक्ष्म से पर में लीन होते हैं। पर की क्रिया कठिन है और उसमें विशेष योग्यता और कष्टदायक क्रियाओं की आवश्यकता है। किन्तु स्थूल ध्यान द्वारा सूक्ष्म का बोध और उसकी प्राप्ति सरल हो जाती है। विशेष क्रियाओं द्वारा अथवा भावशुद्धि और चित्त की एकाग्रता द्वारा किसी विग्रह वा मूर्ति के रूप में परब्रह्म को प्रत्यक्ष कर लिया जा सकता है। इसलिये साकार रूप में उपासना सरल और सुखद है। यह गीता में भगवान् से लेकर साधारण साधक जनों का यही मत है। कुलार्णवतन्त्र में इसे स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

---

१. शाक्तानन्दतरंगिणी।

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत्स्तनमुखात् यथा ।
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ।।
आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासाद्देवतासन्निधिर्भवेत् ।।

"जिस प्रकार गाय के सभी अंगों में रहनेवाला दूध स्तन के मुख से बाहर निकलता है, उसी तरह सर्वव्यापी देव प्रतिमाओं द्वारा प्रकट होता है। आकार के मनोनुकूल होने से और विशेषत: उसकी श्रद्धापूर्वक आराधना करने से और साधक के विश्वास की दृढ़ता से देव की प्राप्ति होती है।"

वेद और प्रतीक

पूर्ववर्ती प्रकरणों में हम देख चुके हैं कि वैदिक और अवैदिक मतावलम्वी प्रतीकों के अन्तर्गत सिद्धान्त, नाम और रूप में क्या समताएँ और कौन-से भेद हैं और किन प्रयोजनों से उनका निर्माण होता है। गत लगभग सौ वर्षों से इन विषयों का अध्ययन, अनुशीलन और आचार्यत्व युरोपनिवासियों और विशेषकर अंगरेजों के हाथ चला गया है और इन विषयों पर उनकी उक्तियाँ निर्भ्रान्त समझी जाने लगी है। वे एक अन्य सभ्यता और संस्कार में पले थे और सभी क्रिस्तान थे। उन्होंने जिस विकृत रूप में इन वस्तुओं को समझा और समझाया और विश्वविद्यालयों द्वारा उसका प्रचार किया, वह भी जानने योग्य है। उनकी दृष्टि में जगन्नाथ विकराल और कुरूप राक्षस हैं That hideous monster of Jagannath देवविग्रहों की अनेक भुजाओं पर डॉ० श्रीआनन्दकुमारस्वामी[1] ने उनके मतों का संक्षेप इस प्रकार दिया है—

"अनेक हाथोंवाली, भारतीय कला की मूर्तियों की इन विशेषताओं पर मत प्रकट करते समय कुछ लेखकों ने इसे अक्षम्य दोष कहा है। श्री विंसेंट स्मिथ कहते हैं—३०० ई० के बाद भारतीय मूर्तियों को शायद ही कला कहा जा सकता है। मनुष्य और पशु दोनो की मूर्तियाँ निर्जीव और दिखावटी बन जाती हैं और शक्ति की भावना अङ्गों की संख्या बढ़ाकर भद्दे तरीके से की जाती है। बहुत माथे और बहुत हाथोंवाली देव-देवियों की मूर्तियाँ जिनसे मध्यकालीन मन्दिर की भीत और छतें भरी हुई हैं, वे सुन्दरता का बहाना भी नहीं कर सकतीं और प्राय: विकराल, कुरूप और इस प्रकार अतिरंजित हैं कि उन्हें देखकर हँसी आती है। श्री मास्केल ने 'पशुओं के माथोंवाले और असंख्य हाथों-वाले इन देवताओं को बीभत्स और कुरूप' कहा है। सर जॉर्ज बर्डवुड का मत है कि पुराण के देवताओं का विकराल और कुरूप आकार उच्चकोटि की कलात्मक रचनाओं के अनुपयुक्त है, और शायद यही कारण है कि ललित कला के रूप में मूर्तिकला और चित्रकला भारत में लोगों को मालूम ही नहीं है। इस प्रकार के उद्धरणों की संख्या और भी बढ़ाई जा सकती है, किन्तु यह दिखलाने के लिये यह यथेष्ट है कि एक प्रकार के आलोचकों के मन में बसा हुआ है कि भारतीय कला में पशुओं के मस्तक और अनेक

१. प्रपञ्चः संचयेऽपि स्याद् विस्तरे च प्रतारणे। मेदिनी

अङ्ग प्रत्यङ्ग या पशुभाव की योजना एक स्वतःसिद्ध बड़ा भारी दोष है और इनमें गुण की सृष्टि के लिये सांघातिक है।

"इस प्रकार की आलोचना के प्रत्युत्तर में ग्रीक कला से उदाहरण देना निरर्थक है। इत्यादि।"[१]

उनका कथन है कि ऐसे आक्षेप कलाकार नहीं करते। इतिहास के पढ़नेवाले और भाषाविज्ञानवाले ऐसा आक्षेप करते हैं और इन लोगों का ज्ञान इतना छिछला होता है कि इन वस्तुओं को समझने की इनमें शक्ति नहीं होती है। किन्तु अधिकारपूर्वक ये अपना मत अवश्य प्रकट करेंगे। पूर्ववर्ती प्रकरणों से यह स्पष्ट है कि इनके ऐसे विचारों का क्या मूल्य है और इनका कितना आदर हो सकता है।

ये विचार हुए इनके पुराण और पौराणिक सृष्टि पर, जो स्थूल और सरल होने पर भी काल की गति से इन पर विश्वास, प्रेम और श्रद्धा करनेवाले अपने देशवासियों के लिये भी दुरूह और दुर्ज्ञेय हो उठे हैं, उन पर बाहरवाले जो इन वस्तुओं के पूर्वापर से सर्वथा अनभिज्ञ हैं और इन पर अपनी अज्ञता का अटकल लगाने के अतिरिक्त जिनके पास और कोई साधन नहीं है, वे भी साहस करके इन पर अपना मत प्रकट करते हैं, यही उनके

१. Certain writers speaking of the many armed images of Indian art, have treated this peculiarity as an unpardonable defect. "After 300 A. D.", says Mr. Venicent Smith, "Indian sculpture properly so called hardly deserves to be reckoned as art. The figures both of men and animals become stiff and formal and the idea of power is clumsily expressed by the multiplication of members. The many headed, many armed gods and goddesses whose images crowd the walls and roofs of mediaeval temples have no pretentions to beauty, and are frequently hideous and grotesque", Mr. Maskell speaks of "these hideous deities with animals' heads and innumerable arms". Sir George Birdwood considers that "the monstrous shapes of the Puranic deities are unsuitable for the higher forms of artistic representation; and this is possibly why sculpture and painting are unknown as fine arts in India". Quotations of this kind could be multiplied, but enough has been given to show that for a certain class of critics there exists the underlying assumption that in Indian art the multiplications of limbs or heads or addition of any animal attributes, is in itself a very grave defect, and fatal to any claim for merit in the works concerned.

In reply to criticisms of this kind it would be useless to cite examples of Greek art etc.

—The Dance of Shiva. Dr. A. Coomarswamy. Asia Publishing House. Bombay, 1952. Page 96.

लिये बहुत है। हम भी कम प्रशंसनीय नहीं हैं कि अपनी वस्तुओं को स्वतन्त्र रीति से समझना त्याग कर, इन्हें गुरु बनाकर अपनी वस्तुओं को इनके द्वारा समझने लगे और अब भी समझते हैं। इतना होने पर भी उन्होंने हमारे लिये जितनी सामग्री एकत्र कर दी है, उसके लिये हम इनके कृतज्ञ हैं और इनकी प्रशंसा करते हैं।

वेद भारतीयों का एक परम पवित्र, अत्यन्त गहन और दुर्गम तपोवन है। बड़ा-से-बड़ा भारत-सन्तान भी इसमें प्रवेश करने में शङ्कित और त्रस्त रहती है। इन पर भी इनके मत सुनिये। युरोप के वेदज्ञों में सब से अग्रणी मैक्समूलर समझे जाते हैं। वे कहते हैं—

"ये मन्त्र आरम्भ में लोकगीत, छोटी-छोटी स्तुतियाँ और कृतज्ञता ज्ञापन थे। कभी-कभी ये सत्य, यथार्थ और ऊँचे विचारवाले भी हैं, किन्तु प्रायः विचारहीन, गन्दे और अस्पष्ट हैं। ब्राह्मणों ने इन्हें दैवप्रेरित दिव्यवाणी का रूप दिया और इन्हें नियमबद्ध और विस्तृत धार्मिक कृत्यों का आधार बनाया।"[१]

आष्ट्रिया के श्री विन्टरनिट्त्स संस्कृत-भाषा और वेदविद्या के प्रकाण्ड विद्वान् माने जाते हैं। शुक्लयजुर्वेद का एक मन्त्र है—

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह
पृथिवीमनु विक्रमस्व।
विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोह
अन्तरिक्षमनुविक्रमस्व।
विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आरोह
दिवमनु विक्रमस्व।
विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ता आनुष्टुभं छन्द आरोह
दिशोऽनुविक्रमस्व।[२]

इस प्रकार के मन्त्रों पर फौन श्रोडर का उद्धरण देकर आप कहते हैं—

"ऐसी प्रार्थनाओं के सम्बन्ध में लियोपोल्ड फौन श्रोडर कहते हैं—'हमलोग प्रायः ऐसा सन्देह कर सकते हैं कि क्या ये ऐसे लोगों की रचनाए हैं, जिन्हें बुद्धि थी और इस सम्बन्ध

१. (क) These hymns—originally popular songs, short prayers and thanksgivings, sometimes true, genuine and even sublime, but frequently childish, vulgar and obscure—were invested by the Brahmans with the character of an inspired revelation and made the basis of a complete system of dogmatic theology.

—Rigveda Samhita. London. 1890. Vol. I. Preface to the third volume of the first edition. Page XLIII.

(ख) Sir John Woodroff, E.B. Havel, Stella Kramrisch आदि वन्दनीय नाम इस वर्ग के अन्तर्गत नहीं हैं।

२. शुक्लयजुर्वेद। १२.५।

में यह बड़ा कौतुकपूर्ण मालूम होता है कि ऐसी बेतुकी और एक ही बात का दुहराना ऐसे लोगों के विशेष लक्षण हैं, जिनके शरीर और मन अशक्त और बेकार हो जाते हैं।"

"तब वे कुछ ऐसी टिप्पणियों के उदाहरण देते हैं, जिन्हें पागलों ने लिखा था और मनस्तत्त्व के अध्ययन करनेवालों ने सुरक्षित रखा है, और इनमें तथा यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों में अद्भुत साम्य है। हमलोगों को भूलना न चाहिये कि यहाँ हमलोग बहुत पुराने टोने-टोटकों की बात नहीं कर रहे हैं, जिन्हें हम अथर्ववेद में और कहीं-कहीं यजुर्वेद में भी पाते हैं, किन्तु यहाँ हम पुरोहितों की उन पाखण्ड और जालसाजियों की बात कर रहे हैं, जिन्हें असंख्य टोने-टोटकों और पूजापाठ की रीतियों को अपने से गढ़कर लोगों को देना था।"[१]

इन्हीं लोगों में से एक विद्वान् ने ॐकार का जो अर्थ समझा, उसकी कथा सर जॉन ने इस प्रकार दी है—

"एक युरोपीय संस्कृत के विद्वान् ने मेरे एक मित्र से कहा कि मंत्र के पहिले जो ॐ कहा जाता है, वह मंत्र-उच्चारण के पहिले 'गला खखारना' है, और मैं समझता हूँ कि वे कह सकते थे कि मंत्र-उच्चारण करने के बाद 'गला खखारना' क्यों, क्योंकि ॐ का उच्चारण, मंत्र के आदि और अन्त, दोनों में ही होता है। पीछे लोग क्यों गला साफ करें। ॐ का 'खाँव-खाँव' शब्द और गले से कोई सम्बन्ध नहीं है।[२] इत्यादि।"

---

१. "With reference to this kind of prayer Leopold Vov Schroder says—

"We may indeed often doubt whether these are the productions of intelligent people, and in this connection it is very interesting to observe that these bare and monotonous of one and the same idea are particularly characteristic of the writings of persons in the stage of imbecility.

"He then gives a few examples of notes written down by insane persons which have been preserved by psychiaters, and these do indeed show a striking similarity with many of the prayers of the Yayurveda. We must not forget that here we are not dealing with very ancient popular spells, as we find them in the Atharvaveda and in some cases even still in the Yayurveda, but with the fabrication of the priests, who had to furnish the countless sacrificial rites substitised by themselves with equally countless spells and formulæ".[१]

—A History of Indian Literature, M. Winternitz. Vol. I. Calcutta. 1927. Page 121-122.

२. "A European Sanskritist told a friend of mine that Om (ॐ) said before a Mantra is simply the "clearing of the throat" before utterance, and I suppose he would have said—the clearing of the throat after utterance, for Om both precedes and follows a Mantra. Why however should one clear the throat then ? Om has nothing to do with hawking sounds, or the throat etc.

—The Garland of Letters. Sir John Woodroffe. Madras. 1951. Page 243.

इस दिग्दर्शनमात्र से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काल में जिन लोगों ने वेद का पठन-पाठन और अर्थ लगाने का काम अपने हाथों में ले लिया है, वे वेदों को कितना समझते हैं और अपने वेदज्ञान के नाम पर उन्होंने कैसा महा-अज्ञान फैलाया है।

भारत में भी नास्तिक और वेदनिन्दक हुए, किन्तु उनकी निन्दा का रूप कुछ और ही था। वेद में देवनिन्दकों का नाम आया है। यह देवनिन्दा किस प्रकार की थी, यह कहना असम्भव है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में वेदनिन्दकों की चर्चा की है। ये वेदनिन्दक वेद के अनादि और अपौरुषेय होने पर सन्देह प्रकट करते हैं और मीमांसा के मत से सायण ने इन प्रश्नों का समाधान किया है। किन्तु युरोप के वेदपाठियों ने सब के कान काट लिये। वेदों को बाल-जल्पना, पागल का प्रलाप, गन्दा, गँवारों का गाना, ओंकार को गले का खखारना इत्यादि कहकर अपने जिस वेदज्ञान का उन्होंने परिचय दिया है, उसे जो ही भारतीय सुनता है, वह चौंक उठता है और उन वेदविदों की विद्या-बुद्धि पर उसकी सारी आस्था लुप्त हो जाती है।

युरोपीय विद्वानों की दृष्टि में वेद म्यूजियम (पुरातत्त्वसंग्रहालय) के कौतुक की एक वस्तु है। उनकी दृष्टि में वेदों का उतना ही महत्त्व है, जितना मोहनजोदड़ो के खंडहर में पाये गये मिट्टी के एक टूटे बरतन का। किन्तु भारत में इसे वह स्थान मिला, जिसका सौभाग्य संसार के किसी भी ग्रन्थ को मिलते न देखा और न सुना गया है। भारतीय समाज में सबसे ऊँचा स्थान उन विद्वानों का था, जिन्होंने साधनाओं द्वारा वेदब्रह्म को प्रत्यक्ष कर लिया था और जिन्होंने सारे वेद को कण्ठाग्र कर रखा था। इस मुखस्थ रूप में अन्तर न पड़ जाय अथवा अशुद्धि न आ जाय, इसलिये पदपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि नाना प्रकार की शब्द और वर्ण-योजनाओं का उलटी और सीधी रीति से प्रयोग कर इसके बिन्दु-विसर्ग तक को उन्होंने टस-से-मस न होने दिया। यह प्रक्रिया शताब्दियों तक नहीं, कितनी सहस्राब्दियों तक चलती रही, इसका पता लगाना आज भी असम्भव है। काश्मीर से कन्याकुमारी या सिंहलद्वीप तक और बलूचिस्तान से असमप्रदेश, श्याम, जावा और सुमात्रा तक कितने असीम मेधावी युवकों और प्रौढ़ तथा परिणत विद्वानों ने वेदों के अनुशीलन और निदिध्यासन में, अनादि काल से, अपना सारा जीवन और सारी शक्ति लगा कर अपना अहोभाग्य समझा, इसका लेखा लगाना आज भी असम्भव है। सारांश यह कि व्याकरण, न्याय, मीमांसा, ज्यौतिषादि सभी विद्याएँ, षोडश संस्कार, वर्ण आश्रमादि द्वारा सामाजिक व्यवस्था, सभी वेद के लिये थे और हैं। सारा भारत वेदमय था और है। किन्तु कालक्रम से इसका अर्थ दुरूह हो उठा और ब्रह्मविद्या का बहुत कुछ स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया।

वेद की ऋचाओं का अर्थ समझने का सर्वप्रथम प्रयत्न ब्राह्मण-ग्रन्थों में देखा जाता है। यज्ञ के प्रसंग में ऋचाओं के अर्थ समझने की चेष्टा की गई है। किन्तु इस बात पर बहुत-से देशी आर विदेशी विद्वान् एकमत हैं कि संहिता और ब्राह्मणों में समय का बहुत बड़ा अन्तर है और ब्राह्मण-काल में वेदमंत्र दुर्ज्ञेय और दुरूह हो उठे थे।

मैक्समूलर कहते हैं—

"ऐसी अशुद्ध भावनाओं को सम्भव मानने के लिये, मंत्रों और ब्राह्मणों की रचना के बीच हमें एक बड़ा-सा अन्तर मानना ही पड़ेगा।"[१]

किन्तु, श्रीअरविन्द कहते हैं कि संहिता और ब्राह्मणों के बीच कालान्तर हो भी सकता है और नहीं भी, किन्तु वेदमंत्रों का उलट-पुलट अर्थ कर लोगों ने अन्तर अवश्य बना लिया है।

"वर्त्तमान परिस्थिति में अन्तर बना हुआ है या वैदिक ऋषियों को साधना में प्रकृति को देखने में अपनी सारी शक्ति लगा देने के कारण यह अन्तर बन गया है।"

"मेरा तो कहना है कि प्राचीन आध्यात्मिक लेखों में कोई अन्तर है ही नहीं, जो है वह बनावटी है और हमारा ही बनाया हुआ है।'[२]

इसका कारण वे इस प्रकार बताते हैं—

"जाति का आध्यात्मिक और आभ्यन्तरिक ज्ञान, स्थूल और जड़ भौतिक रूपों और प्रतीकों के आवरण में छिपाकर रक्खा गया था जिससे अर्थ की रक्षा स्थूल बुद्धि सांसारिकों से होती थी और जो दीक्षितों को स्पष्ट कर दिया जाता था। इसके कारण का निर्णय करना कठिन है।

"अध्यात्मज्ञानियों का यह महत्त्वपूर्ण नियम था कि देवताओं के आत्मज्ञान की पावनता को गुप्त रक्खा जाय। वे समझते थे कि यह विद्या साधारण मनुष्य के लिये अनुचित ही नहीं, भयप्रद भी है और यदि यह मलिन तथा गँवार चित्तवृत्तिवाले पर प्रकट कर दी जाती तो इसका उलटा-पुलटा और दुरुपयोग होता और इसका महत्व नष्ट हो जाता।"[३]

१. "To make such misunderstandings possible we must assume a considerable interval between the composition of the hymns and the Brahmanas."

—ऋग्वेदसंहिता। Vol. I. London. 1890. Preface to the third volume of the first edition. Page XLIV.

२. "As things stand a gap is left, or else has been created by our exclusive preoccupation with the naturalistic element in the religion of the Vedic Rishis."

"I suggest that the gulf is of our own creation and does not really exist in the ancient sacred writings".

—On the Veda, Sir Aurobindo. Pondicherry. 1952. Page 8.

३. "The spiritual and psychological knowledge of the race was concealed for reasons now difficult to determine, in veil of concrete and material figures and symbols, which protected the sense from the profane and revealed it to the initiated."

"One of the leading principles of the mystics was the sacredness and secrecy of self-knowledge of the Gods. This wisdom was, they thought, unfit, perhaps even dangerous to the ordinary human mind or in any case liable to perversion and misuse and loss of virtue, if revealed to vulgar and unpurified spirits."

—तत्रैव। पृ० ८।

भारतीय संस्कार और परम्परा के अनुसार यह सर्वथा सत्य है। निरुक्त (२.४) में लिखा है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथास्याम्॥
यमेव विद्या शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

"(ब्रह्म) विद्या ने ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) के पास आकर कहा—मैं तुम्हारी निधि हूँ, मुझे छिपाकर रखो। निन्दक, कुटिल और असंयत लोगों से मुझे न कहना। तब मेरा तेज बना रहेगा। मुझे उस निधि रक्षक से कहना जो शुचि, सावधान, मेधावी, ब्रह्मचारी और आप से द्रोह न करनेवाला हो।" इससे सिद्ध होता है कि सर्वसाधारण को न देकर योग्य को ब्रह्मविद्या देना, ब्रह्मविद्या के प्रयोग का सर्वप्रधान नियम है।

योग, तन्त्र इत्यादि ब्रह्मविद्या के जितने अङ्ग हैं, उनके व्यवहार, प्रयोग, साधना, सिद्धि इत्यादि को लोग 'गोप्यं गोप्यं परं गोप्यम्' समझते हैं और जिसे यथोचित परीक्षा द्वारा योग्य पात्र समझते हैं, उसे सारा रहस्य बता देते हैं। इस पर जो ग्रन्थ लिखे जाते हैं, उनकी भाषा संकेतात्मक और प्रतीकात्मक होती है। यह साधारण पाठकों के लिये दुरूह और निरर्थक है, किन्तु साधकों के लिये इनका प्रत्येक शब्द हीरे-जैसा अनमोल है।

वेदभाष्य का पहिला प्रयत्न ब्राह्मण-ग्रन्थ और उनके लगभग समकालीन यास्क ने किया। वेदार्थ समझने के लिये ये दोनों अनमोल प्रयत्न हैं। किन्तु वेद के यथार्थ रूप पर दृष्टि न रखकर दूसरे उद्देश्य से इन्होंने वेद के शब्दों को समझने की चेष्टा की। भारतीय श्रद्धा, विश्वास, विद्वत्ता और साधना के अनुसार, वेद ब्रह्मविद्या नहीं, स्वयं ब्रह्म, शब्दब्रह्म हैं। ब्रह्मज्ञान, शब्दज्ञान और विद्वत्ता पर आश्रित नहीं है। यह स्वानुभूति-स्वरूप है। इसलिये वेदज्ञान, ब्रह्मानुभूति द्वारा ही हो सकता है। यही कारण है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में बारम्बार कहा गया है कि जो ऋषि नहीं है, उनमें वेद पर बोलने की योग्यता नहीं है। ऋषि का अर्थ है देखनेवाला। गुरूपदिष्ट मार्ग से योगाभ्यास अथवा अन्य प्रकार की ब्रह्मविद्या के अभ्यास द्वारा जो परा वाक् को पश्यन्ती अवस्था में देख सकते हैं, वे ऋषि हैं। ये अलौकिक शक्ति से वेदस्वरूप अलौकिक ध्वनि को सुन सकते हैं। इसलिए इसका नाम श्रुति है। ये अलौकिक भाव उठकर स्मृति में प्रकट होते हैं। इसलिये इनका नाम स्मृति है। पूर्वजन्म के संस्कार और इहकाल की घोर तपश्चर्या द्वारा प्राप्त इस अलौकिक शक्ति का नाम ऋषित्व है। जो इस अवस्था तक नहीं पहुँचा है, वह वेद पर बोलने का अधिकारी नहीं है।

अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति।[1]

"जिन्होंने प्रत्यक्ष कर लिया है, वे (वेद में) स्तोता होते हैं।"

न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्।[2]

---

१. निरुक्त ७.२।
२. बृहद्देवता। ८·१२१।

"जो ऋषि नहीं है, मन्त्र उसके लिये प्रत्यक्ष (स्पष्ट) नहीं है।"

योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।
उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवताया ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्॥[१]

"योग, चतुरता, दम, बुद्धि, बहुत बड़ी विद्वत्ता और तप के प्रयोग से देवता की ऋचाओं की उपासना करनी चाहिये। जो यह जान जाता है, वही देवताओं को जानता है।"

ऋग्वेद में ही कहा गया है कि जो ब्रह्मज्ञानी नहीं है, ऋचाओं से उसका कोई लाभ न होगा—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥[२]

"ऋचाओं का (प्रतिपाद्य) अक्षर और परम व्योमन् है, जिसमें सभी देवता समाये हुए हैं। जो उसे नहीं जानता है, वह ऋक् से क्या करेगा। जो उसे जान लेता है वह उसके निकट हो जाता है।"

ऐसी परिस्थिति में वेद की जो समय-समय पर व्याख्याएँ की गई हैं, वे कहाँ तक हमें सत्य तक ले जा सकी हैं और प्रतीकों के निर्माण करने तथा समझने में वेद कहाँ तक सहायक हो सकता है और भारतीय प्रतीकों से इसका क्या सम्बन्ध है, यह विचारणीय है।

भारतीय विद्वान् चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के क्यों न हों, इस पर एकमत हैं कि वेद विशुद्ध ब्रह्मविद्या है। इसलिये इसका नाम ब्रह्म है। ब्रह्मविद्या अनुभव की वस्तु है और अनुभूति शब्दों में आ नहीं सकता।

इसलिये अनुभूति पर आश्रित अलौकिक भावनाओं को प्रकाशित करने के लिये अलङ्कार और संकेतों का प्रयोग किया जाता है। ऐसी रचना द्वि-अर्थक हुआ करती है। जब लोग कहते हैं कि चन्द्रमा-जैसा मुख है, तो स्थूल दृष्टि से लोग चन्द्रमा की गोलाई और चमक तथा मुख की गोलाई और चमक की ओर देखते हैं, किन्तु इसका यथार्थ उद्देश्य है कि मुख बहुत सुन्दर है। उसी प्रकार जब कहा जाता है कि प्रभु सोमनाथ मस्तक पर सोम धारण करते हैं तो उस प्रकार की उनकी प्रतिमा बना दी जाती है, पर इसका यथार्थ भाव है कि सत-चित्-स्वरूप विभु से आनन्द की धारा बहती रहती है। यही सोम रस की धारा है, जिसे पान कर ब्रह्मज्ञानी ऋषि बेसुध रहते हैं।[३]

ऐसे प्रसंगों पर श्रीअरविन्द का मत भी मननीय है। आप कहते हैं—

"वेद के ब्रह्मज्ञान की पद्धति स्वानुभूति पर बनी थी, जो साधारण मनुष्यों के लिये बहुत कठिन है। ऐसी शक्तियों से इसका (ब्रह्मज्ञान का) बोध होता है, जो लोगों में अत्यन्त प्रारम्भिक और अविकसित रूप में रहती है, और यदि यह जग भी पड़े, तो अनेक भावनाओं से मिश्रित होने के कारण इसके काम उलटे-पुलटे होने लगते हैं। सत्यानुसन्धान

१. तत्रैव। ७·१३०।
२. ऋग्वेद। १·२२·१६४·३९।
३. मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
सुरत कलारी भई मतवारी, पी गइ मदवा कबीर बिन तोले।

के पहिले वेग के शान्त हो जाने पर थकावट और ढीलापन का बीच में आ जाना स्वाभाविक था, जिनमें पुराने सत्य का कुछ अंश लुप्त हो गया। एक बार लुप्त होने पर प्राचीन ऋचाओं की छानबीन करके भी आसानी से उन्हें पा लेना कठिन था, क्योंकि जानबूझ कर वे मंत्र द्व्यर्थक भाषा में लिखे गये थे।"[१] प्रतीकों को समझने के प्रयत्न में हम देख चुके हैं कि इन भिन्नताओं के भीतर काम करनेवाली भावनाओं का सूत्र यदि मिल जाय, तो फिर यथार्थ भाव के समझने में कोई कठिनता नहीं होती। जिस प्रकार सिद्धान्त-प्रकरण में दिये हुए सूत्र स्थूल प्रतीकों में काम करते हैं, उसी प्रकार कुछ सूत्र वैदिक रचनाओं के स्थूल आवरण के भीतर काम करते हैं। उनका पता लग जाने पर वेद की शक्ति और मनोहरता का पता लगता है।

वेदार्थ जानने का प्रथम प्रयास ब्राह्मण ग्रन्थों में है, किन्तु उसका प्रधान उद्देश्य है कि वैदिक कर्मकाण्ड में ऋचाओं का किस प्रकार प्रयोग किया जाय, इसे जानना, ऋचाओं का सच्चा अर्थ जानना उसका उद्देश्य नहीं है।

द्वितीय प्रयत्न यास्क के निघण्टु और निरुक्त में पाया जाता है। वेदार्थ जानने के लिये यह बड़ा ही मूल्यवान् प्रयत्न है। यद्यपि यास्क ने प्रसंग में आई हुई ऋचाओं का साधारण और आध्यात्मिक, दोनों ही अर्थ देने का प्रयत्न किया है, तथापि वेद के ब्रह्मज्ञान को ढूंढ निकालना उनका प्रधान उद्देश्य नहीं रहा। ऋचाओं का उन्होंने सुन्दर और युक्तिसंगत अर्थ देने का प्रयत्न किया है।

ब्राह्मण और यास्क लगभग समकालीन माने जाते हैं। उनके लगभग २२०० वर्ष बाद सायणाचार्य ने वेदभाष्य लिखा। यह सायण की कृपा और परिश्रम है कि आज हम अर्थ जानने के लिये वेद छूने का भी साहस करते हैं। सायण ने जहाँ-तहाँ ऋचाओं का आध्यात्मिक अर्थ देने की चेष्टा की है, किन्तु अपने भाष्य की प्रधान भावना में वेद की मूल भावना से बहुत दूर जा पड़े हैं। उनके भाष्य की प्रधान भावना यह है कि वायु, बादल, बिजली आदि प्रकृति की जितनी स्थूल शक्तियाँ हैं, उन सब के देवता हैं और उन्हीं का आश्रय लेकर वैदिक ऋचाओं का निर्माण हुआ है। जहाँ-तहाँ उन्होंने आध्यात्मिक व्याख्या देने की भी चेष्टा की है, पर ऐसे प्रसंग बहुत कम हैं।

---

१. For the system of the Vedic mystics was founded upon experiences difficult to ordinary mankind and proceeded by the aid of faculties which in most of us are rudimentary and imperfectly developed and, when active at all, are mixed and irregular in their operation. Once the first intensity of the search after truth had passed, periods of fatigue and relaxation were bound to intervene in which the old truths would be partially lost. Nor once lost, could they easily be recovered by scrutinising the sense of the ancient hymns; for those hymns were couched in a language that was deliberately ambiguous.

—On the Veda, Sri Aurobindo, Pondicherry. 1956. Page 14.

सायण से लगभग ६०० वर्ष बाद युरोप के विद्वानों को वेद की सूचना मिली। उन्हें तमाशे के लिये एक अच्छा खेलौना मिल गया। उनकी दृष्टि में वेद असभ्य आदिम मानव-समाज का सर्वप्रथम लिखित साहित्य है, जिसमें बहुत प्राचीन समय में मानवता की प्रारम्भिक अवस्था के जंगली और असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य बकरी चरानेवाले लोगों के प्रयत्नों का विवरण है। उनकी सभ्यता और संस्कार जड़भूतात्मक होने के कारण दूसरी बातों का उनकी समझ में आना भी कठिन था। उन्होंने सायण से संकेत ग्रहण किया और वेदों को जड़भूतात्मक रूप देकर ऋचाओं से भौतिक अर्थ निकालने की चेष्टा की। उन्होंने यह अर्थ लगाया कि ऋचाएं बिजली, हवा, पानी आदि प्राकृतिक वस्तुओं की प्रशंसा में लिखे गये लोकगीत हैं, जिन्हें आदिकाल के असभ्य और अर्धसभ्य मानव, पशु चराते समय या प्रकृति की बिजली, पानी-जैसी शक्तियों से डरकर उन्हें शान्त करने के लिये आग में घी जलाते समय गाया करते थे। धूर्त पाखण्डी ब्राह्मणों ने उन निरर्थक पागलों के प्रलाप-जैसे निरर्थक गानों को परम पवित्र ग्रन्थ का रूप दिया। अपने मूलबद्ध संस्कार के कारण इसे छोड़ दूसरी तरह वेदों को समझना इनकी शक्ति से बाहर था और प्रायः अब भी है। वेद से संसार की बहुत-सी भाषाओं को मिलाकर, अटकलों द्वारा कहाँ की बात कहाँ जोड़कर, ऋचाओं का उलटा-सीधा अर्थ लगाकर इन्होंने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (comparative philology), तुलनात्मक प्राचीन कथाएं (comparative mythology), तुलनात्मक धार्मिक भावनाएं (comparative religion) आदि नाना प्रकार की विद्याओं के रूप में अटकल पर अटकलों का ढेर लगा दिया और अकाट्य सत्य और सिद्धान्त के रूप में इसका प्रचार किया। ऋचाओं के ऋषियों के मन में जो बात कभी आई भी न होगी, वैसी बातों को, अर्थात् इतिहास, भूगोल, सामाजिक अवस्था, धार्मिक अवस्था इत्यादि विषयों को इन्होंने वेद से ढूंढ़ निकाला और अपने अटकलों के बल पर यह भी सिद्ध कर दिया या सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि आर्य और अनार्य दो जातियाँ थीं। द्राविड़ ही अनार्य थे। आर्य बाहर से आये। ये अनार्यों से कम सभ्य थे और युद्ध में उन्हें हराकर इन्होंने अनार्यों को पहाड़ों में भगा दिया, इत्यादि इत्यादि। लाल बुझक्कड़ी या हवाई किला बनाने की हद हो गई।

शुद्ध ब्रह्मविद्या के रूप में वेद को महर्षि स्वामी दयानन्द ने देखा। उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि, तर्कशक्ति और विद्वत्ता के बल से वेद के सभी देवताओं का अर्थ ब्रह्म किया और वेद को ब्रह्मस्वरूप सिद्ध किया।

वेद के पूर्णब्रह्म विद्या के स्वरूप को श्रीअरविन्द ने देखा। उन्होंने अपनी साधनाओं के बल पर अकाट्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया कि जितने देव-देवियों, और नद-नदियों या दस्यु आदि के विवरण वेद में हैं, वे विश्व में काम करनेवाली आन्तरिक शक्तियों के प्रतीक हैं। अर्थात् ब्रह्मविद्या की साधना के समय जितनी साधक और बाधक शक्तियाँ साधना के मार्ग में काम करती हैं, द्व्यर्थक शब्दों और रचनाओं द्वारा उन्हीं शक्तियों और साधनाओं की अनुभूतियों का वेद में विवरण है।

युरोप के संस्कृतज्ञों की यह कल्पना सर्वथा अशुद्ध है कि वेद मानवता का आरम्भ है, और यह असभ्यावस्था में ऋषियों को प्राप्त हुआ था। यथार्थ में संहिता के साथ भारतीय सभ्यता के एक अत्यन्त प्रकाशमान युग का अन्त होता है। असंख्य युगों की तपस्या और साधना से भारतीय जनता के ऋषि-विभाग ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था, जिसका लिपिबद्ध स्वरूप वर्त्तमान संहिता है। इस ब्रह्मविद्या की खोज का आरम्भ कब हुआ, किस रूप में हुआ, क्यों हुआ, इसमें कितना समय लगा— इनका निश्चय करने के लिये न सामग्री है और इसके प्राप्त होने की कोई आशा है। इस पर अटकल लगाते फिरना निरर्थक प्रयास और प्रतारण का काम है। इससे लोग स्वयं भ्रान्त होंगे और दूसरों को धोखे में डालेंगे।

ऐसा बोध होता है कि संहिता, ब्राह्मण और यास्क-काल में दुरूह हो उठी थी और लोगों के मन में संहिता के विषय में नाना प्रकार की शङ्काएँ उठ रही थीं। इससे अनुमान होता है कि संहिता और ब्राह्मण के बीच दीर्घकाल का अन्तर पड़ गया होगा। संहिता-काल में ऋषित्व अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्मविद्या के अन्तर्यज्ञ की प्रधानता थी और होमादि बहिर्यज्ञ अप्रधान सहायक मात्र थे। यह परम्परा योग और तान्त्रिक साधनाओं में चली आ रही है। ब्राह्मण-काल में बाह्ययज्ञ की प्रधानता हो चुकी थी। इसलिये बाह्यार्थ की ओर झुकने के कारण संहिता दुरूह हो उठी थी। युरोपीय विद्वानों ने केवल बाह्यार्थ ही नहीं, भौतिक अर्थ को भी निकालने की चेष्टा की और ऋचाओं को पागल का प्रलाप और अतिवृद्धावस्था की सनक कहा। इसमें उनका दोष नहीं है। यह उस दूषित प्रणाली का दोष है, जिसके द्वारा वे वेद की ऋचाओं का अर्थ समझना चाहते हैं। दूसरे एक विभिन्न और विचित्र संस्कारवाली सभ्यता में पलने के कारण वे ब्रह्मविद्या की सूक्ष्मता को समझने में असमर्थ हैं।

ब्राह्मण, यास्क और सायण में ऋचाओं की आध्यात्मिक व्याख्या भी है। इनके साथ स्वामी दयानन्द और श्रीअरविन्द की पद्धतियों को मिलाकर यदि पढ़ा जाय, तो ऋचाओं का सत्यस्वरूप प्रकट होने लगता है।

प्रतीकविद्या के जिन सिद्धान्तों और नाम-रूपों को हम देख चुके हैं, उनसे स्पष्ट है कि अद्भुत प्रतीकजाल का अन्तर्गत सिद्धान्त एक है। इन प्रतीकों में और इनके सिद्धान्तों में इतनी नियमबद्धता और सजावट अल्पकाल में नहीं आई। इसमें बहुत समय लगा होगा। इसके अतिरिक्त सबके अन्तर्गत जो एकत्व दिखाई पड़ता है, उसे सबने मिलकर नहीं बनाया होगा; क्योंकि विचार और आचार में भेद होने के कारण बौद्ध, जैन, शाक्त, शैव आदि फूट-कर अलग हो गये। इसलिये ऐसा अनुमान करना युक्तिसंगत मालूम होता है कि इन सबका कोई सामान्य मूलस्रोत होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों तक इनके किसी नियमबद्ध सूत्र का पता नहीं लगता है। तब केवल संहिता बच रहती है, जहाँ इनका उद्गम-स्थान हो सकता है।

हम देख चुके हैं कि सनातन, बौद्ध और जैन, सभी साधना-प्रधान और तत्त्वज्ञान-प्रधान मार्ग हैं। बौद्ध और जैन वेद के कर्मकाण्ड के विरुद्ध हो गये। इसका स्पष्टार्थ यही है कि ब्रह्मज्ञान को गौण बनाकर जब वेदानुयायी ने कर्मकाण्ड को प्रधानता दी, तब यज्ञों में पशुहत्यादि कर्म से ऊब कर इन्होंने उसका परित्याग किया और साधना, जो वेद का यथार्थ

रूप है, उसे पकड़े रहे और उसी से शान्ति प्राप्त की। इसलिये यदि वेद के साधनावाले रूप में प्रवेश किया जाय, तो इन भावनाओं के मूलस्रोत का पता और वेद की ऋचाओं का अर्थ भी स्पष्ट हो सकता है।

इसका एक उदाहरण हम सृष्टिसूक्त से लेते हैं। सृष्टिसूक्त है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो राज्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वः ॥[1]

युरोपीय पद्धति से यदि शाब्दिक विद्वत्ता द्वारा इस ऋचा का अर्थ किया जाय, तो यह सचमुच घोर पागल के प्रलाप-जैसा प्रतीत होगा। वह अर्थ इस प्रकार होगा—

"धधकती हुई गर्मी से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। इससे रात उत्पन्न हुई। इससे अर्णव समुद्र उत्पन्न हुआ। जलराशि समुद्र से संवत्सर (वर्ष) उत्पन्न हुआ। वश में करनेवाले ने दृश्य संसार को बनाया। स्रष्टा ने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को पहिले-जैसा बनाया।"

गर्मी से ऋत और सत्य निकला, सत्य से रात निकली, रात से समुद्र उत्पन्न हुआ, समुद्र से वर्ष—इससे बढ़कर पागल का प्रलाप क्या होगा। किन्तु इसके यथार्थ भाव को ग्रहण कर इसका अर्थ इस प्रकार होगा।

जगमगाती हुई चेतना से सच्चा सत्य उत्पन्न हुआ। वेद में चेतना के लिये 'तप' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋत का अर्थ सत्य है। सच्चे सत्य का अर्थ है अटल और आदि सत्य। भिन्न-भिन्न परिस्थिति में सत्य के भिन्न-भिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं। चरवाहे, विद्वान् और ब्रह्मज्ञानी के सत्यज्ञान के स्वरूप भिन्न होते हैं, किन्तु मूलसत्य का स्वरूप एक और अपरिवर्तनशील है। चेतना से वही प्रकट हुआ। यह सृष्टि के आकार का प्रारम्भ हुआ। उससे रात्रि उत्पन्न हुई। यह रात्रि, प्रथम स्पन्दन से सृष्टि के आदि और अस्पष्ट रूप का धुन्ध है, जिसमें सृष्टि का बनना आरम्भ होता है और उसका स्पष्ट आकार बन नहीं पाता। इसे पुराणों में 'कालरात्रि', 'महारात्रि', 'मोहरात्रि' इत्यादि संज्ञाएँ दी गई हैं और इसके महाप्रयत्न का विवरण योगवासिष्ठ में कालरात्रि के नृत्य[2] के रूप में दिया गया है। कालीरूप में इसी का निर्देश है। सत्स्वरूप ब्रह्म पर काली अर्थात् (काल) रात्रि प्रकट होती है और सृष्टिलीला का विस्तार करती है। यही तांत्रिकों की तिरस्करिणी विद्या है। उससे अर्णव समुद्र प्रकट हुआ। वेद में अप् देवता है और यह ज्योतिःस्वरूप है। तृप्ति का कारण होने के कारण इसका अमृत और जल के अर्थ में भी प्रयोग होता है। वेद में ही अप् का अर्थ दिया गया है—आपो ज्योती

---

१. ऋग्वेद। मण्डल १०, अनुवाक १२, सूक्त १९०, ऋचा १-३।

२. परिशिष्ट देखिये।

रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्—आप ज्योति है, रस है, अमृत है, ब्रह्म है, भूर्भुवःस्वः है, ओम् है। तबसे इस आप, अर्थात् ज्योति का अर्णव और समुद्र अर्थात् महाज्योति प्रकट हुई। यह सृष्टि के धुन्ध से इसके स्पष्ट रूप का प्रकट होना है। तब संवत्सर अर्थात् काल उत्पन्न हुआ। संवत्सर का अर्थ कोषकार इस प्रकार करते हैं—संवसन्ति ऋतवोऽत्र—[1] ऋतु जिसके अन्तर्गत हों। ब्राह्मण और उपनिषद् में इसका काल के अर्थ में प्रयोग किया गया है और सायण ने भी इसका 'काल' अर्थ किया है। तत्पश्चात् काल के मान 'अहोरात्र' प्रकट हुए। परमात्मा ने जैसे अपने मनमें कल्पना की थी, वैसा ही सूर्यचन्द्रादि को बनाया।

प्रतीकों के सम्बन्ध में सृष्टि के जितने सिद्धान्त हम देख चुके हैं, लगभग वे सभी इसमें भिन्न रूप में आ जाते हैं।

वेद में गो और अश्व शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है। यह भी द्व्यर्थक है। सूक्ष्मरूप या ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में गो का अर्थ है प्रकाश, किरण, अर्थात् आत्मप्रकाश। आत्मज्योति को ...टस्थज्योति से सम्बद्ध करना गोमेध यज्ञ है। अश्व का अर्थ है बल, शक्ति। आत्मशक्ति को विभुशक्ति के साथ सम्बद्ध करमा अश्वमेध है। उषा को अश्वमती और गोमती कहा गया है। अर्थात् विभुशक्ति ही ज्ञान और बल का आगार है, और कृष्ण, गोपाल, अर्थात् दिव्यज्ञान के परिपोषक हैं। केवल स्थूल अर्थ पर अड़ जाने से इसका अर्थ होगा—'उषा गाय और घोड़े चराती हैं', जो स्थूल और सूक्ष्म, दोनों ही पक्षों में निरर्थक है। 'यज्ञेनयज्ञमयजन्त देवाः'—का यही अर्थ हो सकता है कि आत्मशक्ति को विभुशक्ति में मिला दिया जाय। गीता के 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इत्यादि में इसी भाव को विस्तृत किया गया है। बौद्धों और जैनों ने इस साधनांश को ले लिया और पशुमारणादि स्थूल कर्म को छोड़ दिया।

इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र आदि परमात्मशक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं—एकं सत्—सत् एक है, विप्रा बहुधा वदन्ति—ब्रह्मज्ञानी इन्हें नाना प्रकार से कहते है।

वृत्र, वल, पणि, और दस्यु—वृत्र का अर्थ होता है आवृत कर लेनेवाला। जो शुद्ध बुद्धि को मलिनता से आवृत कर दे वह वृत्र है। इसे दर्शन में अविद्या और अज्ञान कहा गया है। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः—अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, इसलिये प्राणी मोह में पड़ जाता है। परमात्मशक्ति अविद्या का नाश करती है। इसलिये वेद में केवल इन्द्र वृत्रहन्ता नहीं हैं। बृहस्पति, सरस्वती आदि समी वृत्र की हत्या करते हैं—

अनाय चिद्य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन् वृत्राणि विपुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन्॥[2]

"देवताओं के आवाहन में बृहस्पति ने लोगों के लिये स्थान बनाया। शत्रुओं को युद्ध में हराकर, वृत्रों को मारकर उनके दुर्गों को चूर्णविचूर्ण कर दिया।" यहाँ वृत्र का बहुवचन और नपुंसक में प्रयोग विचारणीय है।

सरस्वती भी वृत्र का नाश करती हैं—

यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते। इन्द्रं न वृत्रतूर्ये॥[3]

---

१. अमरकोषः। भानुदीक्षित कृत व्याख्या सुधा टीका। बम्बई। शाके १८५०।
२. ऋग्वेद। ६.६.७३.२।
३. तत्रैव। ६.५.६१.५।

"देवि सरस्वति[1] ! जो इन्द्र की तरह वृत्त से युद्ध में कल्याण और धन के लिये तुम्हारा आवाहन करते हैं (उनकी रक्षा करो।)"

उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम् ॥[2]

"किरणों (हिरण्य) का रथवाली वृत्र का नाश करनेवाली घोररूपिणी सरस्वती हमारी सुन्दर स्तुति को स्वीकार करें।"

इन्द्र वृत्र की हत्या कर ज्योति को उन्मुक्त करते हैं—

विध्वा शवः शूर येन वृत्रमवाभिनद्दानुं मौर्णवाभम्।
अपावृणो ज्योतिरार्याय नि सव्यतः सादि दस्युरिन्द्रः ॥[3]

"हे शूर इन्द्र ! उस बल को धारण कीजिये, जिससे ऊन-जैसे वृत्र की आपने हत्या की की थी और आर्यों के लिये ज्योति का आवरण दूर कर दिया था। वह दस्यु तुम्हारी बाईं ओर बैठाया गया अर्थात् विवश होकर बैठा रहा।"

यह ज्योति दिव्य आभ्यन्तर ज्योति है, जो अविद्या से ढकी रहती है। यहाँ स्पष्ट है कि ज्योति वृत्र से छुड़ाई गई है। यही ज्योति वेदों की गायें हैं, जिन्हें वृत्र और पणि चुरा कर ले जाते हैं और इन्द्र वृत्र को मारकर उन्हें छुड़ाते हैं।

वृत्र मरकर भी जी जाता है और ब्रह्म की जितनी शक्तियाँ और रूप हैं, सभी वृत्र का नाश करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वृत्र, बल, पणि इत्यादि अज्ञान और अविद्या के परिवार हैं जो लुप्त होकर भी बारंबार प्रकट होकर फैलते हैं और ब्रह्मप्राप्ति के बाधक हैं। प्रभु की कृपा ही इनका नाश करके साधकों का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। इन्द्र का वृत्र, शिव के त्रिपुर, अन्धक और गजासुर तथा दुर्गा के महिषादि हैं। पुराण वृत्र और बल को युग्मरूप देकर आध्यात्मिक युद्धक्षेत्र में लाते रहते हैं। वे इन्हें मद और मोह कहते हैं। किन्तु गीता ने इस युग्म को काम और क्रोध कहा है –

काम एषः क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥[4]

"रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला यह काम है, क्रोध है, इसका पेट ही नहीं भरता, यह महापापी है। इसे इस लोक में शत्रु रूप समझो।"

जैसे धुएँ से आग या मैल से दर्पण अथवा झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, वैसे कामादिरूप शत्रु से यह ज्ञान ढका रहता है।"

---

१. यहाँ दुर्गासप्तशती की महासरस्वती को स्मरण कीजिये।
२. ऋग्वेद। ६.५.६१.७।
३. तत्रैव। २.१.११.१८।
४. गीता। ३.३७-३९।

"हे कौन्तेय ! तृप्त न किया जा सकनेवाला यह कामरूप अग्नि नित्य का शत्रु है, उससे ज्ञानी का ज्ञान ढका हुआ है।"

इन्द्र के ये वृत्र और बल पुराणों में विष्णु के द्वारपाल जय-विजय के रूप में प्रकट होते हैं। ये मद और मोह हैं। नारद भगवान् का दर्शन करने भीतर जाना चाहते हैं, किन्तु ये दोनों उन्हें रोक देते हैं। अपने अध्यात्मबल से नारद शाप द्वारा उन्हें शान्त करके भगवान् का दर्शन करते हैं। यही अविद्या, अर्थात् ज्ञान को आवृत करने वाले वृत्र का काम है। यह काम-क्रोध अथवा मद-मोह का युग्म अध्यात्म-साधना के प्रबल बाधक के रूप में साधना की परम्परा में सर्वत्र दिखाया गया है। यह विष्णु का हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, दुर्गा का मधु-कैटभ, शुम्भ-निशुम्भ और चण्ड-मुण्ड, रामावतार का रावण-कुम्भकर्ण, कृष्णावतार का कंस-चाणूर और जरासन्ध-शिशुपाल, बुद्ध का मार और मार-परिवार तथा कल्की का म्लेच्छ है।

अर्णव का लौकिक अर्थ समुद्र है, किन्तु वेद में 'तेजःपुञ्ज' के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। निम्नलिखित ऋचाओं से यह स्पष्ट हो जाता है—

यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः । अमश्चरति रोरुवत् ।
सा नो विश्वा अति द्विषः स्वसॄरन्या ऋतावरी । अतन्नहेव सूर्यः ॥[1]

"जिस (सरस्वती) के अनन्त और अबाध तेज चलते-फिरते अर्णव हैं और जिसकी शब्दायमान शक्ति (अमः) भ्रमण करती रहती है, वह जिस तरह सूर्य दिन को (प्रकाश से) भर देते हैं, उसी तरह सत्य-ज्योति से भरी हुई और बहिनों (शक्तियों) के साथ सबके शत्रुओं (अज्ञान) को अभिभूत कर दे।"[2]

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य ।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन्यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ॥[3]

"सबको उत्पन्न करनेवाले सूर्य की महाज्योति (महान् केतुः) और तेजोराशि (अर्णव) प्रकट हो रही है। समान रूप से यह चक्र को घुमाती है, जिसकी धूरी में लगे हुए हरे रंग (एतश) के (घोड़े) इसे खींचते हैं।"

इन ऋचाओं से स्पष्ट है कि अर्णव और समुद्र का अर्थ स्थूलार्थ में जलराशि होने पर भी आध्यात्मिक अर्थ में वेद में तेजोराशि, अर्थात् प्रकाश के समुद्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

---

१. ऋग्वेद। ६.५.६१.८,९।

२. पराशक्ति की बहिनों अर्थात् आत्मस्वरूप सहायिका शक्तियों की यह वेदोक्त भावना दुर्गासप्तशती में स्फुटित रूप में पाई जाती है। महिष से युद्धकाल में देवी की साँस से गण उत्पन्न होते हैं, रक्तबीज से युद्ध में देवी की अपनी शक्तियाँ नाना रूप में प्रकट होती हैं और शुम्भ से युद्धकाल में वे अम्बिका में लुप्त हो जाती हैं। वहाँ देवी का नाम भी महासरस्वती है।

गूढार्थ को शब्दों द्वारा प्रकाशित करने के लिये स्थूलार्थवाची शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु शब्दों को यथार्थ रूप में समझने से ही गूढार्थ समझ में आता है।

३. ऋग्वेद। ७.४.६३.२। जो सूर्य का 'केतु (किरण) अर्णव' है वह सरस्वती का 'त्वेषः' (प्रकाशमय) 'चरिष्णु' (गतिमान्) अर्णव है। यह महाज्योति है। इसके साथ सरस्वतीस्तव का यह श्लोक मिलाकर पढ़िये—इति सा संस्तुता देवी वागीशेन महात्मना। आत्मानं दर्शयामास रविबिम्बसमप्रभाम्। इस रविबिम्बसमप्रभा को इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति सूर्य, किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है।

यह ब्रह्मज्योति के दर्शन का विवरण है, जिसे योगीजन कहते हैं—सूर्यकोटिप्रतीकाशः चन्द्र-कोटिसुशीतलः—अर्थात् करोड़ों सूर्य की तरह प्रकाशमान और कराड़ों चन्द्रमा की तरह शीतल और सुखद है।

वेद का दिव्य प्रकाशार्णव ही तान्त्रिकों का चिदर्णव और वेदान्त तथा पुराण का अशेष-कारणार्णव है, जिसमें विष्णु पड़े रहते हैं। ऋग्वेद में जिस भुवन की नाभि[1] का विवरण आया है, वही विष्णु और शिव की नाभि और बुद्ध के पद्म का नालमूल है, जहाँ से विश्व का विकास होता है। यही तांत्रिकों का बिन्दु है। ऋग्वेद में कालचक्र का वर्णन है—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥[2]

"एक चक्र है, जिसमें द्वादश प्रधि (नेमि) हैं, तीन नाभि हैं, उसे कौन जानता है। उसमें ३६० शङ्कु लगे हैं और वह सर्वदा चलता रहता है।

यह सृष्टि-स्थिति और विनाश का प्रतीक कालचक्र विष्णु के हाथ का सुदर्शन और बुद्ध के हाथ का धर्म-चक्र बन जाता है।

वेद में विष्णु प्रतीक के विषय में श्रीअरविन्द कहते हैं—

"यह वैदिक अलंकार ऐसे ही पौराणिक सांकेतिक प्रतीकों को स्पष्ट कर देता है, विशेषतः उस प्रसिद्ध प्रतीक को, जिसमें विष्णु, प्रलय होने पर, मधुर क्षीरसमुद्र में अनन्त नाग के कुण्डलों पर सोये रहते हैं। कदाचित् यह सन्देह उठाया जाय कि पुराण ऐसे मिथ्या विश्वासी हिन्दू पुरोहितों वा कवियों ने लिखा था, जो विश्वास करते थे कि ग्रहण एक राक्षस के कारण होता है जो सूर्य और चन्द्रमा को खाता है, वे बड़ी सरलता से इस पर विश्वास कर सकते थे कि विसृष्टिकाल में सब से बड़ा देवता स्थूल शरीर से सांसारिक दूध के समुद्र में पाये जाने पर साँप पर सो रहता है और इस गपोड़े के भीतर आध्यात्मिक अर्थ ढूँढ़ निकालना चतुरता मात्र होगी। मेरा उत्तर है कि यथार्थ में ऐसे अर्थों को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इन्हीं मिथ्याविश्वासी लेखकों ने इस गपोड़े को सबके लिये स्थूल रूप से स्पष्ट कर दिया है—हाँ, यदि वह अन्धा बनने का हठ न कर ले। उन्होंने विष्णु के साँप को एक नाम दे दिया है—अनन्त, और अनन्त का अर्थ होता है आदिमध्यान्तहीन, अर्थात् सीमाविहीन। इसलिये उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि यह प्रतीक अलंकार-मात्र है और विष्णु, अर्थात् विश्वव्यापिनी शक्ति विसृष्टि के समय अपने ही सीमाहीन विस्तार के कुण्डलों पर पड़ी रहती है। समुद्र के विषय में वैदिक कल्पना स्पष्ट कर देती है कि यह अनन्तसत्ता की कल्पना है और यह अनन्तसत्ता पूर्ण माधुर्य का सागर है, अर्थात् महानन्द का समुद्र है; क्योंकि मधुर क्षीर जो वैदिक कल्पना है, उसमें और (वैदिक) मधु में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। यही वामदेव मंत्रों का मधु वा माधुर्य्य है।[3]

---

१. ऋग्वेद। १.२२.१६४.३३-३५।

२. तत्रैव। ऋक् ४८।

३. "This Vedic imagery throws a clear light on the similar symbolic images of the Puranas, especially the famous symbol of Vishnu

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद और पुराण, दोनों ही एक ही सांकेतिक प्रतीकों का व्यवहार करते हैं। समुद्र उनके लिये अनन्त सत्ता का प्रतीक है।[1] बहती हुई नदियों की धारा चेतना के प्रवाह के प्रतीक के रूप में हैं। हम देखते हैं कि सप्तसिन्धु में से एक नदी सरस्वती, तत्त्वज्ञान से बहती हुई चेतना की धारा है।[2] इस पर यह मानने का अधिकार हो जाता है कि और छह नदियाँ सूक्ष्म भावों के प्रतीकमात्र हैं।"

सप्त संख्या पर विचार करते हुए आप लिखते हैं—

"तो सरस्वती का यह आध्यात्मिक रूप, विशेष कार्य का और देवताओं के साथ निकट सम्बन्ध का रूप है। इससे कहाँ तक मालूम होता है कि ये कैसी वैदिक नदी हैं तथा अन्य छह धाराओं से इनका क्या सम्बन्ध है। संख्या सात का अन्य प्राचीन परम्पराओं की तरह वैदिक परम्परा में बहुत बड़ा महत्त्व है। यह वेद में बार-बार आता है—सात प्रकार के आनन्द,

---

sleeping after the Pralaya on the folds of the snake Ananta upon the ocean of sweet milk. It may perhaps be objected that the Puranas were written by superstitious Hindu priests or poets who believed that eclipses were caused by a dragon eating the sun and moon and could easily believe that during the periods of non-creation the supreme Deity in a physical body went to sleep on a physical snake upon a material ocean of real milk and that therefore it is a vain ingenuity to seek for a spiritual meaning in these fables. My reply would be that there is in fact no need to seek for such meanings; for these very superstitious poets have put them these plainly on the very surface of the table for everybody to see who does not choose to be blind. For they have given a name to Vishnu's snake, the name Ananta, and Ananta means the Infinite; therefore they have told us plainly enough that the image is an allegory and that Vishnu, the all-pervading Deity, sleeps in the periods of non-creation on the coils of the Infinite. As for the ocean the Vedic imagery shows us that it must be the ocean of eternal existence and this ocean of eternal existence is an ocean of absolute sweetness, in other words, of pure Bliss. For the sweet milk (itself a Vedic image) has, evidently, a sense not essentially different from the Madhu, honey or sweetness of Vamadevas hymn.

"Thus we find that both Veda and Purana use the same symbolic images; the ocean for them is the image of infinite and eternal existence. We find also that the image of the river or flowing current is used to symbolise a stream of conscious being. We find that Sarasvati, one of the seven rivers, is the river of inspiration flowing from the truth consciousness. We have the right then to suppose that the other six rivers are also psychological symbols."

—On the Veda, Sri Aurobindo, Pondicherry. 1956. Page 123-124.

१. पुराणों से इसकी पुष्टि होती है। पुराणों में बार-बार कहा गया है कि 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' 'आप' का ही नाम 'नारा' है। यह वैदिक अशेषसत्ता ही नारा है, जिसमें निवास होने के कारण विष्णु का नाम नारायण हुआ।

२. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमंब नस्कृधि॥ ऋग्वेद। २.४.४१.१६

"सर्वोत्तम जननि! सर्वोत्तम धारा! सर्वोत्तम देवि! सरस्वति! तुम स्पष्ट नहीं हो। माँ! हमलोगों के हृदय में स्पष्ट (प्रकट) हो जाओ।"

सप्त रत्नानि, अग्नि की सात लपट, जिह्वा अथवा किरणें, सप्त अर्चिषः, सप्त ज्वाला; सात बुद्धि, सप्त धीतयः; सात किरणें अथवा गौवें, अमर्त्य गौवें, देवमाता अदिति, सप्त गावः; सप्त सिन्धु, सात माताएं अथवा धातृ गौवें, सप्त मातरः सप्त धेनवः। धेनु शब्द का व्यवहार किरण और नदियों के लिये भी समान रूप से होता है। मुझे ऐसा बोध होता है कि ये सप्तवर्ग, वेद में दिये हुए सत्ता के मूल तत्त्वों पर आश्रित हैं। इन तत्त्वों के अनुसन्धान में प्राचीन चिन्तनशील लोगों का मन बहुत लगता था और भारतीय दर्शन में एक से बीस तक में इसका उत्तर हमें मिलता है। वैदिक विचार-पद्धति में अन्तस्तत्त्व की संख्या को ही आधार बनाया गया था; क्योंकि ऋषिगण चेतना की गति को सभी सत्ताओं का आधार मानते थे। आज के लोगों का ये सिद्धान्त और उनके विभाग चाहे जितने विचित्र या निरर्थक क्यों न मालूम हों, किन्तु वे सूखे दार्शनिक विभेद न थे, वे मानसिक क्रियाओं से घनिष्ठ रूप से मिले हुए और उनके आधार थे। जो हो, यदि इस अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त को हम यथार्थ रूप में ठीक-ठीक जानना चाहते हैं, तो उन्हें स्पष्ट रीति से हमें समझना ही पड़ेगा।

अब हम वैदिक प्रतीकों की ग्रन्थि खोलना आरम्भ करते हैं। बृहस्पति सात किरणों-वाले मनीषी हैं, सप्तगुः, सप्तरश्मिः, वे सात मुखवाले अङ्गिरा हैं, जो नौ किरणोंवाले, दश किरणोंवाले अनेक रूपों में उत्पन्न होते हैं। सात मुख सात अङ्गिरा हैं, जो ब्रह्मोच्चार (ब्रह्ममंत्र) करते रहते हैं, जो सत्य के आधार स्वः से निकलता है, जिसके वे पति अर्थात् ब्रह्मणस्पति हैं। इनमें से प्रत्येक बृहस्पति के सात किरणों में से एक-एक किरण हैं। इसलिये वे 'सप्त विप्राः' और 'सप्त ऋषयः' हैं, जो प्रत्येक ज्ञान की इन सात रश्मियों में से एक-एक के मूर्तिमान् प्रतिरूप हैं। ये किरणें सूर्य के सात प्रकाशमान घोड़े हैं, 'सप्त हरितः' और उनके सम्मिलित हो जाने से अयस्य की सप्तमुख धिषणा बन जाती हैं, जो सत्य के लुप्त सूर्य का पुनरुद्धार करती है। वह धिषणा फिर सात नदियों के रूप में स्थिर हो जाती है। ये सात सिद्धान्त, मर्त्य और अमृत के सिद्धान्त हैं, जिनका सम्मिलित रूप पूर्ण आध्यात्मिक सत्ता का आधार है। वृत्र द्वारा अवरुद्ध अपनी सत्ता की इन सात नदियों की प्राप्ति से, और बल द्वारा अवरुद्ध इन सात किरणों द्वारा, सब प्रकार से असत्य से उन्मुक्त सत्य के प्रकट होने से शुद्ध चेतना की प्राप्ति होती है और स्वर्लोक मुट्ठी में आ जाता है और आत्म-प्रवाह (आत्मबोध) के कारण मिथ्या और अन्धकार का नाश हो जाने से मन और शरीर का ब्रह्मत्व की ओर उत्थान होता है और 'सोऽहं' के आनन्द की प्राप्ति होती है। यह विजय, ऊपर की ओर यात्रा के बाहर स्तरों में प्राप्त होती है, जो यज्ञ के बाहर महीने के चक्र के रूप में हैं। ये स्तर अधिकाधिक सत्य के विकास के द्योतक हैं और दशवें स्तर में पूर्ण विजय प्राप्त होती है। नौ किरणों और दश किरणों का क्या ठीक अर्थ है, यह और कठिन प्रश्न है जिसका समाधान अबतक हम नहीं कर सके हैं। किन्तु अब तक जितना प्रकाश प्राप्त हो चुका है, वे ऋग्वेद के प्रधान प्रतीकों को स्पष्ट करने के लिये यथेष्ट हैं।"[१]

---

१. "Such, then, is the character of Sarasvati as a psychological principle, her peculiar function and her relation to her most immediate connections among the gods. How far do these shed any light on her

relations as the Vedic river to her six sister streams? The number seven plays an exceedingly important part in the Vedic system, as in most very ancient schools of thought. We find it recurring constantly, —the seven delights, *sapta ratnani*; the seven flames, tongues or rays of Agni, *sapta arcisah, sapta Jwālah*; the seven forms of thought principle. *sapta dhitayah*; the seven rays or cows, forms of the Cow unslayable, Aditi, mother of the gods, *sapta gāvah*; the seven rivers, the seven mothers or fostering cows, *sapta mātarah, sapta dhenavah*, a term applied indifferently to the rays and to the rivers. All these sets of seven depend, it seems to me, upon the Vedic classification of the fundamental principles, the *tattvas* of existence. The enquiry into the number of these tattvas greatly interested the speculative mind of the ancients and in Indian philosophy we find various answers ranging from the one upwards and running into the twenties. In Vedic thought the basis chosen was the number of the psychological principles, because all existence was conceived by the Rishis as a movement of conscious being. However merely curious or barren these speculations and classifications may seem to the modern mind, they were no mere dry metaphysical distinctions, but closely connected with a living psychological practice of which they were to a great extent the thought basis, and in any case we must understand them clearly if we wish to form with any accuracy an idea of this ancient and far off system".

—On The Veda, Srl Aurobindo, Pondicherry. 1956. Page 111.

"We begin now to unravel the knot of this Vedic imagery. Brihaspati is the seven-rayed Thinker, saptaguh, saptaraśhmiḥ, he is the seven-faced or seven-mouthed Angirasa, born in many forms, saptasyaḥ tuvijātah, nine rayed, ten rayed. The seven months are the seven Angirasas who repeat the divine word (brahma) which comes from the seat of the Truth, Swar, and of which he is the lord (Brahmanaspatiḥ). Each also corresponds to one of the seven rays of Brihaspati, therefore they are the seven seers, sapta Viprāḥ. sapta ṛsayaḥ, who severally personify these seven rays of the knowledge. These rays are, again, the seven brilliant horses of the sun, sapta haritaḥ and their full union constitutes the seven-headed thought of Ayasya by which the lost sun of Truth is recovered. That thought again is established in the seven rivers, the seven principles of being divine and human, the totality of which founds the perfect spiritual existence. The winning of these seven rivers of our being withheld by Vritra and these seven rays withheld by Vala, the possession of our complete divine consciousness delivered from all falsehood by the free descent of the truth, gives us the secure possession of the world of Swar and the enjoyment of mental and physical being lifted into the god-head above darkness, falsehood and death by the in-streaming of our divine elements. This victory is won in twelve periods of upward journey, represented by the revolution of the twelve months of the sacrificial year, the periods corresponding to the successive dawns of a wider and wider truth, until the tenth secures the victory. What may be the precise significance of the nine rays and the ten, is a more difficult question which we are not yet in a position to solve, but the light we already have is sufficient to illuminate all the main imagery of the Rigveda".

—तत्रैव। पृ० २०७।

ऋग्वेद में भारती, इला, सरस्वती [१] और मही इला सरस्वती, [२] इन देवियों का नाम त्रिक में बार-बार आता है। यह त्रिशक्ति (ज्ञान, इच्छा, क्रिया) का वैदिक रूप है। यही त्रिशक्ति मोहन-जो-दड़ो में पाये गये पशुपति के माथे पर तथा शिव और बुद्ध के हाथ में त्रिशूल और जिनों में त्रिशूल और त्रिछत्र का रूप ग्रहण कर लेती है।

वेद में वृष, वृषभ और ऋषभ का पुरुष-परमात्मा के रूप में प्रयोग होता है। तीर्थंकर ऋषभनाथ वैदिक नाम और भावना का ही रूपान्तर है।

वेद में जीवन को यात्रा, यज्ञ और युद्ध के रूप में देखा गया है। यह जीवनयज्ञ की क्रिया भारतीय साधकों में अन्तर्याग [३] के रूप में जीवित रूप में वर्तमान है। बहिर्याग कर्मकाण्ड बन जाता है और अन्तर्याग अध्यात्म-सिद्धि का प्रधान साधन है। यह साधना के सभी सम्प्रदायों में समान रूप से प्रचलित है।

अध्यात्म भारतीय सभ्यता का आधार है और इसकी साधना अविद्या की महासेना के साथ निरन्तर महायुद्ध है। यह युद्ध अन्तरिक्ष के उस पार शून्य में होता रहता है। जब वृत्र और बल की सेना काले बादल की तरह घिर आती है, तब इन्द्र का कड़कता हुआ वज्र उसको चूर्ण-विचूर्ण कर अपनी छटा का प्रकाश दिशाओं में विकीर्ण कर देता है। यही काम विष्णु का सुदर्शन और शिव का परशु करता है। शिव का त्रिपुर, अन्धक और गजासुर से युद्ध अन्तरिक्ष में ही होता है। दुर्गा का मधु-कैटभ और शुम्भ-निशुम्भादि से युद्ध अन्तरिक्ष का युद्ध है और आदि से अन्त तक ऋग्वेदानुसार यह आध्यात्मिक युद्ध है। योगीराज श्यामाचरण लाहिड़ी और महात्मा गान्धी ने गीता की भी इसी पद्धति पर व्याख्या करने की चेष्टा की है। रामायण, गीतादि ऐतिहासिक [४] आधार पर बने हुए आध्यात्मिक सद्ग्रन्थ हैं।

वेद में दस्यु को अयज्यु कहा गया है। यह पुराण के राक्षसों का वैदिक नाम है। जो जीवन को यज्ञ और साधना, अर्थात् आध्यात्मिक युद्ध नहीं समझते, और इसे इन्द्रिय-सुखभोग तथा अज्ञान और कलह में नष्ट कर देते हैं, वे ही राक्षस हैं। यह ऋग्वेद के वृत्र के विषय में जितना सच है, रामायण के रावण के विषय में भी उतना ही सच है, जो द्राविडों को राक्षस कहते हैं, वे बड़े भ्रम में हैं और एक मिथ्या भ्रमजाल का विस्तार करते हैं। वेदाध्ययन और वैदिक सभ्यता के विचार से आर्य और द्राविड नामक कोई जाति-भेद नहीं है। वेद के लिये श्रद्धा और भक्ति में दक्षिणापथ उत्तरापथ से किसी प्रकार कम नहीं है। द्राविड प्रान्त या दक्षिणावर्त्त के रहनेवालों को राक्षस या वैदिक दस्यु कहना

---

१. आभरती भारतीभिः, सजोषा इला देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवी बर्हिरेदं सदन्तु ॥ ऋग्वेद। ३.१.४.११।

२. इला सरस्वती मही तिस्रो देवी मयो भुवः।
बर्हिः सीदन्तु अस्रिधः ॥ ऋग्वेद। ५.१.५.८।

३. अन्तर्याग की प्रक्रिया के लिये देखिये—श्यामारहस्य। जीवानन्द। कलकत्ता। १८९६। पृ० ३०। द्वितीय परिच्छेद।

४. इस पर राम-प्रकरण में विचार हो चुका है।

घोर अज्ञान है। भारत के इतिहास में आर्य और द्राविड नामक कोई भेद नहीं है। जो है, वह अज्ञान-प्रसूत और अटकल पर आश्रित वेद के नये पण्डितों की मिथ्या कल्पना है।

वेद में सोम और सोमरस का नाम बार-बार आता है। सामरस पान कर सभी देवता और ऋषि आनन्द में विभोर हो जाते हैं। यह सोमरस सच्चिदानन्द का आनन्दामृत है, जिसके पान करनेवाले के हर्ष का पारावार नहीं रहता है। यही ब्रह्मानन्द का उन्माद है, जिसका वेद में बारबार विवरण आया है। इसका घनीभूत रूप और आनन्दामृत का भाण्डार सोम, अर्थात् चन्द्र है, जो साधकों का मनःस्थान है। इसको निचोड़कर यह अमृतरस प्रस्तुत किया जाता है, जिससे देवताओं को तृप्त करने के लिये तर्पण किया जाता है और उसे पीकर साधक आत्मविभोर हो जाता। इस वैदिक प्रक्रिया का तन्त्र में इस प्रकार वर्णन दिया गया है—

चन्द्रार्कानलसंजुष्टाकुलितं यत् परामृतम्।
तेनामृतेन दिव्येन तर्पयेत्तेन देवताम्॥[1]

"चन्द्र, सूर्य और अग्नि के मिलकर आलोड़ित होने से परामृत (ब्रह्मानन्दामृत) चूकर तैयार होता है, उसी दिव्य अमृत से देवता का तर्पण करे।"

ब्रह्मरन्ध्रादधो भागे यच्चान्द्रं पात्रमुत्तमम्।
कलासाधनं सम्पूर्य तर्पयेत्तेन खेचरीम्॥[2]

"ब्रह्मरन्ध्र के अधोभाग में दिव्य चन्द्रपात्र है, जो कला (शक्ति, ब्रह्म) को प्राप्त करने का साधन है। उसे (ब्रह्मामृत से) भरकर शून्यविहारिणी शक्ति का तर्पण करे।"

सोमरस ही ब्रह्मरस, शिवतीर्थ और बिन्दुतीर्थ और हृदयाश्रित पुष्करतीर्थ है—

स्नायाच्च विमले तीर्थे पुष्करे हृदयाश्रिते।
बिन्दुतीर्थेन वा स्नायात् पुनर्जन्म न विद्यते॥
इडासुषुम्ने शिवतीर्थकेऽस्मिन् ज्ञानाम्बुपूर्णेऽथ ततः शरीरे।
ब्रह्माम्बुभिः स्नाति तयोः सदा यः किं तस्य गाङ्गैरपि पौष्करैर्वा॥[3]

"हृदय में वर्तमान विमल पुष्करतीर्थ में स्नान करे अथवा बिन्दुतीर्थ में स्नान करे। इससे फिर जन्म नहीं होता।"

"तब शरीर में वर्तमान, ज्ञानजल से पूर्ण, इडासुषुम्ना-रूपी शिवतीर्थ में ब्रह्मजल से जो स्नान करता है, उसे पुष्कर और गङ्गाजल से क्या प्रयोजन।"

इसी अवस्था को योगीजन कहते हैं—ह्रद इव निमज्यामृतमये—अमृत के सागर में हिलोरें खाना। वेद से सम्प्राप्त यह परम्परा अध्यात्म में विभिन्न शब्दों में ज्यों-का-त्यों वर्तमान है।

१. श्यामारहस्यम्। जीवानन्द। कलकत्ता। १८९६। पृ० ३१
२. तत्रैव।
३. तत्रैव। पृ० ३०।

'सोम का अर्थ है—उमया सह—उमा के साथ। विभुसत्ता की आनन्दवृत्ति अथवा इच्छा और क्रिया शक्ति का नाम और रूप उमा है। इसलिये उमा का अर्थ है आनन्द। विभु का आनन्दमय अर्थात् सक्रिय रूप ही सोम है। इसलिये सोमरस का स्पष्ट और सरल अर्थ है—आनन्दरस, अमृतरस।

कोषग्रन्थों में सोम का अर्थ है—अमृतं सूते (षु अभिषवे, मन्) जिससे अमृत चूता हो। गुरीच और ब्राह्मी का नाम भी सोमवल्लरी लिखा है। हो सकता है कि सोम नामक कोई लता हो। आज तो यह सुमेरु और अलका की तरह एक काल्पनिक द्रव्य बन गया है। जितनी औषधियों का नाम सोम हो सकता है, उनमें किसी में भी नशा नहीं पाया जाता। सोम का स्पष्ट और अभीष्टार्थ और वेद की ब्रह्मविद्या के अनुकूल सांकेतिक अर्थ, आनन्दामृतरस है।

विन्टरनिट्त्स आदि युरोपीय विद्वान् 'सोमलता से चुलाया हुआ एक प्रकार का मद्य' अर्थ निकालते हैं और इसे 'ब्राडी' कहते हैं। सोम की ब्राडी पीकर ऋषिगण जब मदमत्त होकर यज्ञस्थल के चंडूखाने में झूमते होंगे, उस समय की उनकी उक्ति यदि पागल-खाने के कैदियों से और शराबियों के प्रलाप और गन्दी बातों से भी बुरी और निरर्थक हों तो इनमें आश्चर्य ही क्या है। यह तो 'रिसर्च' के सर्वथा युक्तिसंगत है!

सोम पर श्रीअरविन्द की उक्ति इस प्रकार है—

"बल, विजय और सिद्धि के लिये सोम पीने की अलंकृति वेद में सर्वत्र पाई जाती है। इन्द्र और अश्वी बड़े सोमपायी हैं, किन्तु अमरत्व प्रदान करनेवाले इस पीने में सभी सम्मिलित है। अंगिरा भी सोम के बल से जीतते हैं। सरमा पणियों को धमकाती है कि अयस्य और अंगिरा सोम में विह्वल आ रहे हैं, एह गमन् ऋषयः सोमाशिता अयस्यो अंगिरसो नवग्वाः (१०.१०८-८)। यह एक बड़ी भारी शक्ति है, जिससे लोगों को सत्य के मार्ग पर चलने का बल मिलता है। "इन्द्र! मुझे सोम के उसी मद की आवश्यकता है, जिससे तुमने स्वः के बल को बढ़ाया (अथवा स्वरात्मा—स्वर्णरम्), जो दशरश्मि को मत्त कर देते हैं और ज्ञान का प्रकाश देते हैं, अथवा अपनी शक्ति से सारी सत्ता को हिला देते हैं, (दशग्वन् वेपयन्तम्), जिससे तुमने समुद्र को पुष्ट किया; वह सोममद जिससे तुमने रथ की तरह बड़ी जलराशि को समुद्र की ओर बहाया,—यह हम इसलिये चाहते हैं कि हम सत्य के मार्ग पर चल सकें," पन्थाम् ऋतस्य यातवे तमीमहे (८.१२-२,३)। सोम में इतनी शक्ति है कि पर्वत को तोड़कर खोल दिया जाता है और अन्धकार के परिवार का नाश हो जाता है। यह सोममद वह मधु है, जो ऊपर के अदृश्य लोकों से आता है, यह वही है, जो सप्तसिन्धु में बहता है, यह वही रस है, जो अध्यात्मयज्ञ के घृत (तेज) में भरा रहता है। यह मधु का तरंग है, जो जीवन-सागर से उठता है। ऐसे रूपों का एक ही अर्थ हो सकता है—सभी सत्ताओं के भीतर छिपा हुआ यह दिव्य आनंद है। यह यदि एक बार जग जाय, तो सभी उत्तमोत्तम कार्यों का अवलम्ब बन जाता है।

यह वह शक्ति है, जिसे देवताओं का अमृत कहते हैं और जो मर्त्य को अमर बना देती है।"[१]

श्रीअरविन्द ने सप्त व्याहृति की व्याख्या इस प्रकार की है—

सिद्धान्त	स्थान
१. विशुद्धसत्ता—सत्	सत्ता का सर्वोपरि स्थान—सत्यलोक।
२. विशुद्ध चेतना- चित्	अनन्त इच्छा-स्थान अथवा चेतना-शक्ति—तपोलोक।
३. विशुद्ध आनन्द—आनन्द	सृष्टि की आनन्दसत्ता का स्थान—जनलोक।
४. ज्ञान अथवा सत्य—विज्ञान	बृहत्ता का स्थान – महर्लोक।
५. मन	ज्योतिःस्थान – स्वः।
६. प्राण (नाड़ीवाले प्राणी)	नाना उत्पत्ति-स्थान —भुवः।
७. जड़	जड़-जगत्—भूः।

१. "The drinking of the Soma-wine as the means of strength, victory and attainment is one of the pervading figures of the Veda. Indra and the Ashwins are the great Soma-drinkers, but all the gods have their share of the immortalising draught. Angirasas also conquer in the strength of Soma. Sarama threatens the Panis with the coming of Ayasya and Nawagwa Angirasas in the keen intensity of their Soma rapture eh gaman risayah somasita ayāsyo angiraso navagwah, (X.108.8). It is the great force by which men have the power to follow the path of the truth. 'That rapture of the Soma we desire by which thou, O Indra, didst make to thrive the might of Swar (or the swar-soul, svarnaram), that rapture ten rayed and making a light of knowledge or, shaking the whole being with its force (das'agwan vepayantam) by which thou didst foster the ocean; that Soma-intoxication by which thou didst drive forward the great waters (the seven rivers) like chariots to their sea,—that we desire that we may travel on the path of the truth,' panthām ṛtasya yātave tam īmabe (VIII 12·2,3). It is in the power of the Soma that the hill is broken open, the sons of darkness overthrown. This Soma-wine is the sweetness that comes flowing from the upper hidden world, it is that which flows in seven waters, it is that with which the ghṛta, the clarified butter of the mystic sacrifice, is instinct; it is the honeyed wave which rises out of the ocean of life. Such images can have only one meaning; it is the divine delight hidden in all existence which, once manifest, supports all life's crowning activities and is the force that finally immortalises the mortal, the amṛitam, ambrosia of the gods."

—On the Veda. Sri Aurobindo, Pondichery, 1956, pages 209-210.

आपका कथन है कि पुराणों में थोड़े-से अन्तर के साथ इसी क्रम का अनुसरण किया गया है—

१. पर—सत्, चित्, आनन्द	तीन दिव्यलोक।
२. मिलन वा मध्यस्थान—सूक्ष्म मन	तीन प्रकाशमान द्यौवाले स्वः के रूप में प्रकट—सत्य, ऋत और बृहत्।
३. तीन अधोजगत्	
विशुद्ध मन।	तीन द्युलोक।
प्राणशक्ति	मध्यलोक (अन्तरिक्ष)
जड़	भूः (तीन भूलोक)

वेद-प्रतीक के विषय में श्रीअरविन्द के विचारों का सारांश इस प्रकार है—"अलग-अलग टुकड़े-पुरजों को देखकर उद्भ्रान्त होने के बदले यदि वेदों के सम्मिलित रूप को हम देखें, तो हमें बहुत ही सरल और यथेष्ट उत्तर मिलेगा। (वृत्रादि द्वारा) पशु की चोरी की वार्ता सम्बद्ध संकेतों और प्रतीकों की परम्परा का एक अंशमात्र है। यज्ञ द्वारा उनकी प्राप्ति होती है और तेजस्वी देवता अग्नि उसकी ज्वाला, शक्ति और पुरोहित हैं। यह वाक् द्वारा होता है और बृहस्पति वाक् के पिता हैं, मरुत् इसके ब्रह्मा अर्थात् उच्चारण करनेवाले हैं, ब्रह्माणो मरुतः, सरस्वती इसकी प्रवर्तिका हैं। सोम उस रस का देवता है और अश्वी इसके खोजने, पाने, देने और पीनेवाले हैं। गो-वृषादि प्रकाश की किरणें हैं। यह प्रकाश उषा और सूर्य से आता है जिनका वे रूप हैं। अन्ततः इन्द्र इन देवताओं के नायक हैं, तेजस्पति हैं, प्रकाशमान आकाश स्वः के पति हैं, और हम कहते हैं कि वे ज्योतिर्मय संबुद्ध मन हैं। सभी देवता उसी में प्रवेश करते हैं और गुप्त ज्योति के प्रकट करने में भाग लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन विभिन्न देवताओं की जय में एक ही युक्ति है। बल पर प्रहार करने के लिये सभी देवता इन्द्र में प्रवेश करते हैं—मधुच्छन्दा की इस उक्ति में भी यही सत्य है। (वेदों में) उटपटाँग रीति से बेढंगे विचारों से कुछ भी नहीं किया गया है। वेद सर्वप्रकारेण एकत्व में पूर्ण, सुन्दर और विवेक तथा युक्तिसंगत है।"[१]

जिस तरह लोग आज का इतिहास पढ़ते हैं, उस तरह यदि भारतीय सभ्यता को पढ़ा जाय, तो इसमें बड़ा धोखा होगा तथा वेद और वेद पर आश्रित बातें कुछ भी समझ में नहीं आवेंगी।

वेद की संहिताओं के साथ तपश्चर्या और ब्रह्मज्ञान के एक जाज्वल्यमान युग का अन्त होता है। यह ऋषियुग था। उसके बाद कालान्तर में वेद कर्मकाण्डियों के पाले पड़ गया। इसमें लोग सूक्ष्म रूप और क्रियाओं की उपेक्षा कर स्थूल अर्थ और कर्म पर उतर आये और वेद के यथार्थ रूप से दूर जा पड़े। शाक्तों में क्रोध का प्रतीक महिष है। जब कहा गया कि इस महिष की बलि कर दो, तो लोग 'इस' को भूल गये और भैंसा मारने लगे। उसी प्रकार वेद में आत्मज्योति और आत्मशक्ति को निर्देश कर जब कहा गया कि इस गो और अश्व का मेध कर दो, अर्थात् आत्मज्योति और शक्ति को विश्वज्योति और शक्ति

१. On the Veda. Sri Aurobindo. Pondicherry, 1956. pages 425—426

से मिला दो, तो लोग 'इस' को भूल गये और गो, अश्व आदि का मेध करने लगे। तत्पश्चात् विद्वानों ने इस पर छापा मारा। और अब यह 'स्कॉलर्स' के फेर में पड़ा है। धीरे-धीरे हटते-हटते ये 'विद्वान्' वेद से अब इतने दूर आ गये हैं कि वेद तो लुप्त हो ही गया है, उसके ठट्ठर का भी इनलोगों ने कोई पता नहीं रहने दिया। जो वेद आज के 'स्कॉलर्स' के लिये पागलों का असम्बद्ध प्रलाप है, उसके विषय में ऋषि अरविन्द अपनी अनुभूतियों का इस प्रकार विवरण देते हैं —

"अधिकांश पढ़े-लिखे भारतीयों की तरह, विना वेद को स्वयं पढ़े ही, युरोप के विद्वानों का धर्म, इतिहास और जाति के सम्बन्ध में इन प्राचीन ऋचाओं के भाव को विना जाँचे ही मैंने भी स्वीकार कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि, आज के अंगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू जैसा समझते हैं, मैंने भी समझ लिया कि भारतीय धर्म और विचार-परम्परा का सब से प्राचीन स्रोत उपनिषद् है और ये ही सच्चे वेद, अर्थात् तत्त्वज्ञान के ग्रन्थ हैं। आधुनिक अनुवाद द्वारा मैं इस महान् अध्यात्मविद्या के ग्रन्थ को जानता था। मैं यही समझता था कि यह मेरे राष्ट्रीय जीवन का इतिहास है, किन्तु विचारधारा के इतिहास और जीते-जागते ब्रह्मानुभूति की दृष्टि से मेरे लिये इसका कोई महत्त्व नहीं था।

"योगमार्ग से कुछ आध्यात्मिक विकास के समय वेद से मेरा गौण सम्पर्क हुआ। इस समय अनजान में ही मेरे विचार अपने पूर्वजों के प्राचीन मार्ग की ओर झुकते चले जा रहे थे, जिन मार्गों पर अब कोई चल नहीं रहा है। इस समय कुछ मानसिक अनुभूतियों के सांकेतिक नामों को सिलसिले से रखने का क्रम चलने लगा। ये संकेत अब नियमबद्ध हो चले थे। इनमें तीन शक्तियाँ इला, सरस्वती और सरमा उपस्थित हुईं। ये चार आन्तरिक शक्तियों में से तीन थीं—उद्भूति (revelation), प्रेरणा(inspiration) और आत्मशक्ति (intuition)। मैं नहीं जानता था कि इनमें से दो वैदिक नाम हैं। इन्हें मैं प्रचलित पौराणिक धर्म के रूप में जानता था कि सरस्वती विद्या की देवी हैं और इला चन्द्रवंश की जननी हैं। सरमा से मेरा यथेष्ट परिचय था। किन्तु मेरे मन में जो रूप उठ रहे थे, उनसे वैदिक शुनी सरमा का मैं कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता था। मेरे मन में केवल इतना ही था कि यह आर्गिव हेलेन से सम्बद्ध है और प्रकृति की उषा का प्रतिरूप है, जो प्रकाश के पशुओं को अन्धकार की शक्ति की गुहाओं में ढूंढने जाती है। एक बार जब सूत्र मिल जाता है कि प्रकाश आन्तरिक शक्ति का प्रतिरूप है, तब यह देखना आसान हो जाता है कि स्वर्ग की कुक्कुरी आत्मशक्ति (intuition) हो सकती है, जो अर्धचेतन मन में बन्द आत्मप्रकाश को छुड़ाने के लिये उसमें प्रवेश कर सकती है। किन्तु सूत्र मिल नहीं रहा था और विवश होकर, एक संकेत नहीं होने पर भी एक नाम को मुझे मान लेना पड़ा।

"जब मैं दक्खिन भारत में जाकर रहा, तब मैंने गम्भीरता से वेद में अपने विचारों को लगाया। ध्यान से देखने पर जो दो बातें मेरे मन में उठीं, उन्होंने भारत के जाति-विभाग-विचार, अर्थात् उत्तर के आर्य और दक्षिण के द्राविड़, को जोरों से झकझोर दिया। मेरे लिये ये विभेद दो बातों पर आश्रित थे—उत्तर के आर्य के और दक्षिण के द्राविड़ के शारीरिक भेद

और उत्तर की संस्कृतप्रधान भाषाएँ और दक्षिण की अ-संस्कृत भाषाएं। मैं केवल इधर के अनुमानों को जानता था कि भारत प्रायद्वीप में केवल एक जाति द्राविड़ अथवा भारतीय अफगान जाति रहती है। मैंने अबतक इन अटकलों पर कोई ध्यान नहीं दिया था। दक्षिण-भारत में रहते मुझे बहुत दिन नहीं बीते कि मैं देखने लगा कि आर्य-रूप तमिल जाति में सर्वत्र वर्त्तमान है। जिधर मैं घूमता, समता देखकर चकित हो जाता। केवल ब्राह्मणों में ही नहीं, सभी जातियों में मुझे अपने गुजरात, महाराष्ट्र और हिन्दुस्तान के मित्रों के परिचित आकार-प्रकार और रूप दिखाई पड़ते, यद्यपि मेरे प्रान्त बंगाल से ये कुछ कम मिलते थे। मुझे ऐसा ही बोध होने लगा कि उत्तर से सभी जातियों की कोई बहुत बड़ी सेना दक्खिन आकर यहाँ की जनता में घुल-मिलकर एकाकार हो गई है। केवल यही भावना रह गई कि ये दक्षिण के हैं, किन्तु लोगों के चेहरों में अन्तर पाना बड़ा कठिन हो गया। अन्त में मुझे यही दीखने लगा कि सम्मिश्रण चाहे जिस प्रकार का हुआ हो, स्थान-भेद (regional differences) चाहे जिस प्रकार के ढूंढ़ निकाले गये हों, सभी विभिन्नताओं के भीतर सम्पूर्ण भारत में रूप और सभ्यता की पूर्ण एकता है। और बातों के लिये मानव-शरीर की रूपरेखा के अध्ययन करनेवालों में और अधिक अटकल लगाने की प्रवृत्ति नहीं है।"

"तो भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने आर्य और द्राविड़ का जो इतना बड़ा भेद बना रखा है, इसका क्या होगा। यह तो लुप्त हो जाता है। यदि आर्यों का आक्रमण मान भी लिया जाय, तो या तो हमें यह मान लेना पड़ेगा कि यह आक्रमण इतना बड़ा था कि सम्पूर्ण भारत की जनता का शारीरिक संघटन एक-सा हो गया, या थोड़े से आक्रमणकारी उत्तर से आये थे जो जनता के साथ घुल-मिलकर मूल निवासियों में लुप्त हो गये। इत्यादि।"[१]

"इसलिये दो उद्देश्यों से मैंने मूल वेद का अध्ययन आरम्भ किया, यद्यपि इसके भीतर पैठकर गम्भीर अध्ययन आरम्भ करना मेरा उद्देश्य नहीं था। मुझे देखते देर न लगी कि वेद में आर्य और दस्यु का विभेद और दस्युओं को यहाँ का मूलनिवासी कहना इतना तुच्छ और हेय है, जिसकी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। इन प्राचीन मंत्रों में बहुत-सी मानसिक क्रियाएँ और अनुभूतियाँ हैं, जिनकी अबतक उपेक्षा होती आ रही थी और उन्हें ढूँढ़ निकालना मेरे लिये बड़ा ही मनोहर था। इन बातों का महत्त्व मेरी दृष्टि में बहुत बढ़ गया, जब मैंने देखा कि मेरी आन्तरिक अनुभूतियों को वेद के मंत्र ठीक-ठीक उद्भासित कर रहे थे, जिनका कोई भी मुझे युरोप की साइकालोजी (मनोविज्ञान) में और जहाँ तक मैं योग और वेदान्त जानता था, कहीं भी मुझे न मिल रहा था। और दूसरी बात यह थी कि उपनिषद् के बहुत-से समझ में नहीं आनेवाले वाक्य उन ऋचाओं से स्पष्ट हो रहे थे, जिनका ठीक अर्थ अबतक समझ में नहीं आ रहा था और पुराणों के भी बहुत-से नये अर्थ मालूम होने लगे।"[२]

१. On the Veda. Sri Aurobindo. Pondicherry. 1956. Page 43-44
२. तत्रैव। Page 45.

वेद के प्रतीकों के विषय में श्रीअरविन्द का कथन इस प्रकार है—

" अंगिरा अवश्य परमर्षि (divine Seers) हैं । ये देवताओं के विश्व और पिण्ड में काम करनेवाली देवशक्तियों की सहायता करते रहते हैं। ये पितृशक्ति की भी सहायता करते हैं, जिन्होंने पहिले तत्त्वज्ञान पाया, वैदिक मंत्र जिनके मनोहर ज्ञान, श्रुति, स्मृति और बारम्बार दुहराई जानेवाली अनुभूति हैं। सात दिव्य अंगिरा, सात अग्निपुत्र अथवा अग्नि-शक्ति, ऋषि की इच्छाशक्ति (Power of Seer will) तत्त्वज्ञान से भरा हुई दिव्य-शक्ति की ज्वाला हैं, जो विजयप्राप्ति के लिये जलाई जाती हैं। भृगुओं ने यह ज्वाला सांसारिक वस्तुओं की वृद्धि में पाई, किन्तु अंगिरागण इसे यज्ञ की वेदी पर प्रज्वलित करते हैं और इसे यज्ञ के संवत्सरों में सुरक्षित रखते हैं। ये संवत्सर आध्यात्मिक साधनाओं के काल के प्रतीक हैं, जिसमें सत्य का सूर्य अन्धकार से बाहर लाया जाता है। जो इस संवत्सर के नौ महीने तक यज्ञ करते हैं, वे नवग्वा हैं, अर्थात् नौ गायों या किरणों के द्रष्टा (ऋषि) हैं, जो सूर्य की गायों की खोज और इन्द्र का पणियों के साथ युद्ध का प्रबन्ध करते हैं। जो दस महीनों तक यज्ञ करते हैं, वे दश किरणों के द्रष्टा (ऋषि) हैं। ये इन्द्र के साथ पणियों की गुहा में खोई हुई गायों के उद्धार के लिये प्रवेश करते हैं।

"मनुष्यों के पास जो कुछ है, उसे परमात्मबुद्धि और साधनाओं को समर्पण करना ही यज्ञ है। इसमें उसे देवताओं के अनन्त वर प्राप्त होते हैं और उसके पौरुष का उत्तरोत्तर विकास होता है। ये धन आध्यात्मिक धन, सुख और समृद्धि हैं, जिनसे आगे बढ़ने और युद्ध करने की शक्ति का संचय होता है। क्योंकि यज्ञ एक यात्रा और क्रमोन्नति है और अग्नि के नेतृत्व में यज्ञ दिव्य मार्ग द्वारा देवताओं की ओर आगे बढ़ता है। इसका उदाहरण अंगिरा पितरों का स्वर्लोकारोहण है। यज्ञ-रूपी यह यात्रा युद्ध भी है; क्योंकि पणि, वृत्त और अविद्या तथा असत्य की अन्यान्य शक्तियाँ इसका विरोध करती हैं। इन्द्र और अंगिरा का पणियों के साथ युद्ध, इसी युद्ध की कथा है।

"दिव्य ज्वाला का जलाना, घृत और सोम-मद्य की आहुति देना और मंत्र-पाठ करना इस यज्ञ के प्रधान लक्षण हैं। मंत्र और आहुति द्वारा देवताओं की वृद्धि होती है। इसे कहा जाता है कि देवता का मनुष्यों में जन्म हुआ, अर्थात् मनुष्यों में उनकी सृष्टि हुई और वे प्रकट हुए और उनकी शारीरिक और मानसिक सत्ता का चरम सीमा तक विकास हुआ और ये (देवगण) इन्हें भी अतिक्रमण कर उत्तरोत्तर लोकों और स्थितियों की सृष्टि करते हैं। ऊँचे लोकों की स्थिति (higher existence—उच्चजीवन) दिव्य और अनन्त जीवन है, जिसके प्रतीक गो और अन्तहीन माता अदिति हैं। अधोजीवन उसका अन्धकारमय रूप दिति है। दिव्यावस्था (higher or divine being) को प्राप्त करना और निम्नस्थ जीवन, अर्थात् मानव-जीवन को ऋत और सत्य के अनुकूल और अधीन बनाना ही इस यज्ञ का उद्देश्य है। किरणमयी गायों का प्रसाद ही इस यज्ञ का घृत है। यह मनुष्य के मानस सूर्यतत्त्व की ज्योति है। जल और लता-गुल्मों में छिपा हुआ जीवन का अमृतानन्द ही सोम है, जिसे पीने के लिये देवता और मनुष्य बुलाते हैं। वाक् अन्त:प्रेरणा से उत्पन्न सत्ता का अन्त:प्रकाश (thought-illumination) है, जो आत्मा में उत्पन्न

होती है, हृदय में रूप और मन में आकार ग्रहण करती है। घृतवर्द्धित अग्नि, सोम के आनन्द से तेजस्वी और ऊर्जस्वी इन्द्र, वाक्‌शक्ति से संवर्द्धित होकर सूर्य की गायों को खोज निकालने में अंगिरा की सहायता करते हैं।

"बृहस्पति सृष्टि करनेवाली वाक् के पति हैं। यदि अग्नि सर्वश्रेष्ठ अंगिरा हैं, जिनकी ज्वाला से अंगिराओं की उत्पत्ति होती है, तो बृहस्पति भी एक अंगिरा हैं, जिनके सात मुख, तेजस्वी विचारों की सात किरणें और प्रकाशित करनेवाली सात वाक् हैं, जिनकी ये ऋषिगण उच्चारण-शक्ति हैं। इसलिये अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, सोम, ये सभी सूर्य का गायों के प्राप्त करनेवाले (गोविन्द —प्रकाशमय हैं और मनुष्यों से उन्हें छिपाकर रखनेवाले दस्युओं के नाश करनेवाले हैं। सरस्वती अन्तःप्रेरित वाग्धारा अथवा सत्यप्रेरणा की धारा हैं। वे भी दस्युओं का संहार करके गौओं का उद्धार करनेवाली हैं। इन गौओं को इन्द्र के आगे-आगे चलनेवाली सरमा ढूंढ निकालती है, जो सौरमण्डल की देवी अथवा उषा है, और ये सत्य की अन्तःप्रेरणा की प्रतीक-सी मालूम होती हैं। उषा इस महान् विजय का कारण और प्रकाशमय कार्य भी है।

"उषा दिव्य प्रभात (divine dawn) है; क्योंकि उसके आने पर जो सूर्य प्रकट होता है, वह परम सत्य (superconscient truth) का सूर्य है। जिस दिन को वे अपने साथ ले आते हैं, वह सच्चे जीवन और सच्चे ज्ञान का दिन है। जिस रात्रि को वे दूर करते हैं, वह अविद्या की रात्रि है, जो उषा को अपने भीतर छिपाये रहती है। उषा स्वयं सत्स्वरूप सुनृता— और सत्य की जननी है। दिव्य उषा के ये सत्य उसकी प्रकाशवाली गायें हैं, और उनका साथ देनेवाले, जीवन में ओतप्रोत सत्यबल उसके अश्व हैं। गो और अश्व के इन प्रतीकों के चतुर्दिक् वैदिक प्रतीकों के अधिकांश चक्कर काटते हैं; क्योंकि देवताओं से प्राप्त होनेवाले धन के ये मुख्यांश हैं। उषा की गायों को चुराकर तमीचर दस्यु ने अन्तःकरण के अन्धकार में छिपा रखा है। वे ज्ञान के प्रकाश और सत्य ज्ञान हैं, गावो मतयः, जिन्हें बन्धन से छुड़ाना है। दिव्य उषा का उद्गमन ही उनकी मुक्ति है।

"यह अन्धकार में पड़े हुए सूर्य का भी उद्धार है; क्योंकि सूर्य के विषय में ऐसा कहा जाता है कि 'तत्सत्यं' उस सत्य को इन्द्र और अंगिरा ने पणि की गुहा में पाया था। इस गुहा के विदीर्ण हो जाने पर उषा की गायें, जो सत्यरूपी सूर्य की किरणें हैं, वे अस्तित्व के पर्वत पर आरोहण करने लगती हैं और स्वयं सूर्य भी दिव्य जीवन के ऊपर प्रकाश के महा-सागर में ऊपर उठने लगता है, जहाँ मनीषिगण (thinkers) दूसरे तट तक इन्हें जल पर नौका की तरह ले चलते हैं।

"पशुओं को छिपाकर रखनेवाले पणि अधोलोक के स्वामी दस्युगण हैं, जो वैदिक प्रतीका-नुसार आर्य देवता, ऋषि और कार्यकर्त्ता के विरोधी माने गये हैं। जो यज्ञ करते हैं, जिन्हें दिव्य ज्योति के मंत्र प्राप्त हैं, जो देवताओं को चाहते हैं और सत्य जीवन की ओर उनकी संवर्धना करते हैं, जो प्रकाश के योद्धा और सत्य के यात्री हैं, वे ही आर्य हैं। दस्यु वे हैं, जो स्थूल (undivine being) हैं, यज्ञ नहीं करते, परम सत्य को नहीं प्राप्त कर सकते और

न उसके विषय में बोल सकने के कारण धन एकत्र करते हैं, किन्तु उसका उचित उपयोग नहीं कर सकते, वाक् देवता और यज्ञ से घृणा करते हैं, जीवन को उन्नत बनाने के लिये स्वयं कुछ प्रदान नहीं करते, वरन् आर्यों की सम्पत्ति उनसे लेकर छिपा रखते हैं। वह चोर, शत्रु, वृक, भक्षक, विभक्ता, बाधक, और बन्दी बनानेवाला है। दस्यु अज्ञान और अन्धकार की शक्ति हैं, जो सत्य के अनुसन्धान करनेवाले और अमृतत्व के विरोधी हैं। देवता प्रकाश की शक्ति, अमृतपुत्र, एक सत् के रूप और व्यक्तित्व हैं, जो अपनी सहायता, अपनी वृद्धि और मनुष्यों में मनुष्यत्व के विकास द्वारा उसे सत्य और अमृतत्व तक पहुँचा देते हैं।

"इस प्रकार अंगिरा की कथा के अर्थ से वेद के सारे रहस्य की कुंजी मिल जाती है; क्योंकि यदि आर्यों की खोई हुई गायें और घोड़े जिनका देवगण उद्धार करते हैं, और जिनके इन्द्र स्वामी ही नहीं हैं, वरन् स्वयं गो और अश्व हैं, वे शरीरधारी पशु नहीं हैं। यदि यज्ञ द्वारा इन सम्पत्तियों की इच्छा की जाती है, तो ये आध्यात्मिक सम्पत्ति के प्रतीक हैं, और इनके साथ लगे हुए पुत्र, जन, हिरण्य, कोष इत्यादि का भी ऐसा ही रूप अवश्य होना चाहिये। यदि घृत उत्पन्न करनेवाली सांसारिक शरीरधारी गाय नहीं है, वरन् जाज्वल्यमान माता है, तो जल में वर्तमान और तीन बार गौओं से चुलाया हुआ घृत भी लौकिक हवि नहीं है और न स्वादु सोम-मद्य ही लौकिक है, जो नदियों में रहता है और समुद्र की उठती लहरों से निकलता है और धारा-प्रवाह बहता हुआ देवताओं तक चला जाता है। यदि ये प्रतीकात्मक हैं, तो यज्ञ के और बलि-द्रव्य भी प्रतीकात्मक हैं। बाह्य यज्ञ भी केवल अन्तर्योग का प्रतीक हो सकता है। और, अंगिरा ऋषिगण अंशतः प्रतीकात्मक अथवा देवयोनिविशेष हैं, जो यज्ञों में सहायक होते हैं, तो भृगु, अर्वण, उशना, कौत्स इत्यादि भी ऐसे ही होंगे, जो काम में उनका साथ देते हैं। यदि अंगिरा की कथा केवल रूपकमात्र है, तो दस्युओं के विरुद्ध ऋषियों की देवताओं द्वारा सहायता इत्यादि की कथाओं को भी रूपक होना चाहिये; क्योंकि वैदिक कवियों द्वारा उनकी भी अंगिरा-कथाओं की तरह ही गणना की गई है।

"उसी तरह ये दस्यु हैं, जो यज्ञ की बलि और चरु ग्रहण नहीं करते, जो वाक् और देवताओं से घृणा करते हैं और जिनके साथ आर्यों का बराबर युद्ध होता रहता है। ये वृत्र, पणि और दस्युगण मनुष्य-शत्रु न होकर, अन्धकार, असत्य और नीचता की शक्ति हैं, तो आर्यों के युद्ध, राजा, राष्ट्र की सारी भावनाएँ आध्यात्मिक प्रतीक और रूपक बन जाती हैं। बिना अच्छी तरह जाँचे यह नहीं कहा जा सकता है कि वे पूर्णतः अथवा अंशतः ऐसे हैं। और यह हमारा वर्तमान उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य है कि हमने जो आरम्भ किया है कि वैदिक मंत्र प्राचीन अध्यात्मज्ञानी भारतीयों का प्रतीकात्मक ग्रन्थ है और उनका अर्थ भी आध्यात्मिक और मनोवृत्तिमूलक है, यह स्पष्ट है वा नहीं, यह स्पष्ट और निश्चित रूप से सिद्ध हो गया। क्योंकि, यथेष्ट कारण देखा जाता है कि वेद का इस दृष्टि से अध्ययन किया जाय और काव्यमय प्रतीक के रूप में इसका अर्थ किया जाय।"[१]

---

१. तत्रैव। Page 278.

श्रीअरविन्द ने योगाभ्यास, योगसिद्धि और प्रकाण्ड विद्वत्ता के आधार पर वेद-प्रतीकों को स्थिर करने की चेष्टा की है और ऐसा बोध होता है कि सत्य के अत्यन्त निकट पहुँच गये हैं। प्रतीक-विद्या के अनुसन्धान में मैंने संहिता और संहितोत्तर सामग्रियों के आधार पर अपने निर्णयों पर पहुँचने का प्रयत्न किया है। संहितोत्तर ग्रन्थों के आधार पर मुझे जो सूत्र मिले हैं, उन्हें मैंने सिद्धान्त-प्रकरण में दे दिया है। ये अत्यन्त सरल सुबोध और सर्वमान्य हैं। भारतीय आध्यात्मिक साधनाओं में सभी सम्प्रदाय समान श्रद्धा और भक्ति से इनका प्रयोग करते हैं। ये सार्वभौम सिद्धान्त अवश्य ही, अल्पकाल में बनकर तैयार नहीं हो गये। जब जैन और बौद्ध भी इन सिद्धान्तों के आधार पर अपनी साधनाएँ करते हैं, तो ये बुद्ध और जिनसे भी अवश्य पुराने हैं और यह सर्वथा युक्ति और विवेकसंगत है कि संहिताएँ इनके उद्गम-स्थान हों।

कितनी सहस्राब्दियों के प्रयत्न और तपश्चर्या के बाद ऋषियों ने पश्यन्ती वाक् के रूप में वेद की ऋचाओं को देखा, आर कब देखा इसका निर्णय करना मानव-शक्ति के बाहर है। मेरा विश्वास है कि जिन ऋषियों ने अपने तपोबल से वेद का साक्षात्कार किया, उन्होंने ही उनमें सन्निहित प्रक्रियाओं और सिद्धान्तों के आधार पर साधनाओं के अवलम्ब-स्वरूप प्रतीकों का निर्माण किया। इसलिये वेद प्रतीक और वेदोत्तर-प्रतीक में न कोई अन्तर होना चाहिये और न है। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण बहुत-सी ऋचाओं के भाव ठीक-ठीक समझ में नहीं आते, और अशुद्ध रीति से अध्ययन करने के कारण भी बहुत-सी सुन्दर ऋचाओं के मनोहर अर्थ भी विकृत रूप में दिखाई पड़ते हैं। प्रतीकों की सहायता से वेद की बहुत-सी ऋचाओं के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। अनेक ऋषियों ने भिन्न-भिन्न ऋचाओं को देखा और एक ह। भाव को उन्होंने भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया किया। वेदोत्तर दर्शन और साधना-ग्रन्थों में सत्, चित् और आनन्द का सभी व्यवहार करते हैं, किन्तु वेद में सत् और चित् के लिये सत्, ऋत, सत्य, सत्यं बृहत्, ऋतं बृहत्, परमे व्योमन् आदि शब्दों का व्यवहार होता है। चित् के लिये तप, महः, आप्, उषा आदि शब्दों का व्यवहार होता है। संयत जीवन यज्ञ है और असंयत जीवन दस्यु वा राक्षस-जीवन है। आनन्द का नाम सोम है, जिसे पान कर देव, ऋषि और पितर सभी तृप्त होते हैं, किन्तु दस्यु के लिये यह दुर्लभ है, क्योंकि उसे इससे प्रेम नहीं है। इसलिये ब्रह्मानन्दी सोमपायी हैं और विभु सोमनाथ है। इसी प्रकार और शब्दों के स्वरूप का पता लगा लेने पर अमृतत्व के भाण्डार वेद का मनोहर स्वरूप प्रकट होता है।

पूर्वोक्त प्रकरणों में जिन प्रतीकों की चर्चा हो चुकी है उन सभी के रूप मुझे वेद में दिखाई पड़ते हैं। यदि इन प्रतीकों और तदन्तर्गत सिद्धान्तों की सहायता से वेदार्थ को समझने का प्रयत्न किया जाय, तो बहुत-सी दुरूह ऋचाए भी स्पष्ट हो जायँगी और जो सूत्र वेदोत्तर प्रतीकों के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं वे वेद-प्रतीकों के समझने में भी सहायक होंगे; क्योंकि दोनों एक ही अथवा एक ही सम्प्रदाय के ऋषियों और तपस्वियों के प्रयत्न हैं। दो-एक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा।

वेद में 'अमृतस्य नाभिः' 'नाभिः' 'भुवनस्य नाभिः' आदि का प्रयोग हुआ है। यह प्रतीकों में विष्णु की नाभि है, जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है। विश्व-व्यापी (विष्णु) तत्त्व का

नाम ही वेदों में अमृत है। यही द्यावापृथिवी की नाभि और 'भुवनस्य नाभिः' है। यही सदशिव की नाभि है, जिससे सृष्टिकमल निकलता है, जिस पर ब्रह्मा की तरह त्रिपुरा बैठी रहती हैं। यही तांत्रिकों का बिन्दु अथवा नाद-बिन्दु है, जो विभुशक्ति की [illegible], अर्थात् सृष्टि का आदि रूप है। यही शिवलिङ्ग और स्तूप का ऊपरवाला वर्तुलांश है, जिसका स्थिरांश चतुष्कोण नीचे है। यही बुद्ध की शून्यता है, जिससे सृष्टि-पद्म निकलता है, जिस पर बुद्ध बैठे रहते हैं। यही जिन के हृदय पर अथवा मस्तक के पीछे प्रभामण्डल की तरह लगा हुआ धर्मचक्र है और बुद्ध के ललाट का बिन्दु है। यही षट्चक्र-परम्परा में सहस्रार के त्रिकोण की शून्यता है। यही अमृतस्य नाभिः प्रासाद-पुरुष का अमृतकलश है। यही महेश्वर की साँस या स्पन्दन है, जो शब्द-ब्रह्म वा वाक् के रूप में जगत् की सृष्टि करता है।[1] मैं ऋग्वेद की तीन ऋचाओं द्वारा इसे स्पष्ट करूँगा —

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥
पृच्छामि त्वा परमन्तं पृच्छामि पृथिव्याः यत्रा भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामित्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥[2]

"यहाँ मेरे जन्मदाता पिता द्यौ हैं, बन्धु नाभि है, यह विस्तृत पृथ्वी माता है। यहाँ सीधे पड़े हुए दो चमू (सोमपात्र) के भीतर मध्य भाग में पिता ने पुत्री में गर्भाधान किया।"

यहाँ द्यावापृथिवी का विस्तार चिदाकाश का विस्तार है। इसमें तीन बिन्दुओं का संकेत है— नाभि और दो सीधे चमूपात्र। नाभि बिन्दु है और दोनों गोल चमू नाद के दो बिन्दु हैं। ये तीनों बिन्दु त्रिशक्ति हैं, जो शिव, जिन और बुद्ध के हाथ का त्रिशूल हैं और अन्य देव-विग्रहों में रूप, रंग तथा आयुध-शक्ति के रूप में वर्तमान हैं।

पिता ने पुत्री में गर्भाधान किया—इसका अर्थ है कि जिस त्रिशक्ति को विभु ने उत्पन्न किया, उससे ही सृष्टि की रचना की। यहाँ त्रिबिन्दु का बना हुआ त्रिकोण योनि है।

"मैं तुमसे पृथ्वी के अशेष अन्त की बात पूछता हूँ, मैं तुम्हें पूछता हूँ, जहाँ सृष्टि की नाभि है। मैं तुमसे (आनन्द बरसानेवाले अश्व की शक्ति की बात पूछता हूँ, मैं तुमसे अशेषतत्त्व (परमं व्योम) और वाक् की बात पूछता हूँ।"

"यह वेदी पृथिवी का अशेष अन्त है, यह यज्ञ भुवन की नाभि है, यह सोम (आनन्द) बरसानेवाली, अश्व की शक्ति है और यह वेदमंत्र (ब्रह्म) वाक् और चिदाकाश (परमंव्योम) है।"

यहाँ वेदी को पृथ्वी का चरम अन्त कहा गया है। पृथ्वी से स्थितितत्त्व अभीष्ट है, जिसकी स्थिरता का प्रतीक चतुष्कोण वेदी है। यज्ञ को भुवन की नाभि कहा है। सारी

---

१. यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्। निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥
२. ऋग्वेद। १.२२.१६४. ३३, ३४, ३५,।

सृष्टि और जीवन ही यज्ञ है। इसलिये विभु को यज्ञपुरुष कहा गया है। इस यज्ञ का प्रतीक वेदी का वर्तुलाकार होमकुण्ड है, जो विभु की सृष्टि-क्रिया का स्पन्दन स्थान, बिन्दु अथवा नाभि है। आनन्द-स्वरूप सोमरस ब्रह्मतेज को [illegible] है और वेदमंत्र ही वाक् और परमब्रह्म (परमं व्योम) है।[1]

सृष्टिसूक्त की इससे पहिले चर्चा हो चुकी है। उसके अर्थ में ही, यंत्र और प्रासाद-पुरुषादि में अंकित सभी सिद्धान्त आ जाते हैं। सृष्टिसूक्त में सृष्टि का क्रम इस प्रकार है—१. तप, २. ऋत-सत्य, ३. अन्धकार, ४. प्रकाश, ५. काल, ६. दिन-रात-सूर्यचन्द्र, ७. दिव-पृथ्वी-अन्तरिक्ष। तप चिदाकाश है, इसका संकेत मन्दिर की ध्वजा है। ऋत-सत्य यंत्र का बिन्दु और मन्दिर का सुधा-कलश है। अन्धकार, प्रकाश और काल प्रकृति है। यह यंत्र का वृत्त और प्रासाद का आमलक है। दिन-रात और सूर्यचन्द्र काल-मान हैं। दिव-पृथ्वी-अन्तरिक्ष, भिन्ना प्रकृति, अर्थात् प्रकृति का विस्तार है। इसकी स्थिति यंत्र तथा मन्दिर के चतुष्कोण में होती है।

जब परम तत्त्व की कल्पना पुरुष के रूप में की जाती है, तो पिण्ड और ब्रह्माण्ड-पुरुष में सूक्त के सातों सृष्टि-स्थान शक्ति-केन्द्र या क्रिया-चक्र का रूप ग्रहण करते हैं। तप सहस्रार की शून्यता, अर्थात् चिदाकाश है। ऋतसत्य बिन्दुस्थान आज्ञाचक्र है। अन्धकार आकाश का विशुद्ध चक्र है, जिसका प्रतीक वर्तुलाकार है। अनाहत को काल का संकेत होना चाहिये। प्रकाश मणिपुर है, जिसका तत्त्व अग्नि और सूर्य है। स्वाधिष्ठान अमृतस्थान जलतत्त्व है, जो अर्धचन्द्राकार है। दिवपृथिव्यादि, स्थिति के प्रतीक चतुष्कोण, धराचक्र मूलाधार हैं।

सप्त व्याहृतियों के रूप में सृष्टिक्रम इस प्रकार है—मूलाधार चतुष्कोण भूः, स्वाधिष्ठान अमृतमय भुवः, मणिपुर तेजोमय स्वः, अनाहत महः, विशुद्ध जनः, आज्ञा तपः और सहस्रार सत्यम्। योगिजनों और साधकमात्र का विश्वास है कि सृष्टि-कल्पना का लघुरूप पुरुष-रूप है और सृष्टिक्रम का इस प्रकार निर्देश किया जाता है। वेद भी कहते हैं—पुरुष एवेदं सर्वम्।

चित्-शक्ति अर्थात् वैदिक 'तप' के विकास की कल्पना दुर्गासप्तशती के तीन चरित्रों में सृष्टिसूक्त के अनुसार की गई है। प्रथम चरित्र की तामसी शक्ति का नाम कालरात्रि, महारात्रि और मोहरात्रि है। यह ऋत-सत्य से उत्पन्न रात्रि है। द्वितीय चरित्र में महातेजः-पुञ्ज नारीरूप में परिवर्तित हो जाता है। यह तेजःपुञ्ज सृष्टिसूक्त का 'समुद्र-अर्णव' है।

सृष्टिसूक्त के संवत्सर से लेकर पृथ्वी और अन्तरिक्ष तक की सृष्टि का प्रसंग तृतीय चरित्र में है। यहाँ देवी से देवी की शक्तियाँ और अपने ही बहुत-से प्रतिरूप निकलते हैं और अपना कार्य करके उनमें विलीन हो जाते हैं, और राक्षसों के भी बहुत-से रूप और प्रतिरूप निकलते हैं तथा सभी देवी की अनन्त सत्ता में समा जाते हैं। बच जाते हैं केवल देवी के इच्छानुयायी देव और भक्तगण, जो उनकी लीला में उनके कृपापात्र बनकर सृष्टिलीला का विस्तार करते रहते हैं। यह अंश सारी सृष्टि-लीला का प्रतीक है।

१. वाक्प्रकरण में इस पर विस्तार से विवेचन किया गया है।

इस सूक्त का नाम अघर्षण, अर्थात् पापनाशक है और इसका जप करना प्रत्येक वेदानुयायी का नित्य कर्म निर्धारित कर दिया गया है। यह सर्वथा उचित और आवश्यक है। नाम-रूपहीन परमात्मा के नाम और रूप की यह मनोहर परिकल्पना ही अघ का मर्षण कर सकती है।

यह केवल दिङ्मात्र है। इस पद्धति पर वेद की अधिकांश ऋचाओं का अध्ययन किया जा सकता है। मेरा विश्वास है कि वेदाध्ययन और ब्रह्मविद्या के अनुशीलन में प्रतीक-विद्या के सूत्र वेद-विद्या के भी सूत्र हैं और वेद की भावनाओं के आधार पर ही इनका निर्माण हुआ है।

सिंहावलोकन

प्रतीक-विद्या की खोज में हम वेदों से होते हुए सिन्धु-उपत्यका के उत्खनन तक पहुँच गये और देखा कि भारतीय साधनाओं की भावनाओं का आधार त्रिशक्ति वहाँ भी त्रिशूल के रूप में, पूर्ण विकसित रूप में वर्तमान है। सिंहासन पर योगिराज पशुपति त्रिशूल के साथ विराजमान हैं। जीवमात्र को पशु कहने की भावना भी वर्तमान है। उत्खनन में देवालय, शिवलिङ्ग और स्वस्तिक के चिह्नवाली बहुत-सी वस्तुएँ भी मिली हैं। इन प्रतीकों के आन्तरिक सिद्धान्त के मनन से यही कहना पड़ता है कि यह एक बहुत ही उच्चकोटि की सभ्यता थी। नर्मदा के किनारे माहिष्मती में जो उत्खनन-कार्य हुआ है, वह भी सिन्धु-सभ्यता का समकालीन माना जाता है और वहाँ की सभ्यता भी बड़ी उच्चकोटि की समझी जाती है। भारत की सभ्यता का और अधिक पता लगाने के लिये इससे आगे जाने के लिये न कोई उपाय है और न कोई सामग्री ही है।

तत्पश्चात् जब हम वेदयुग पर आते हैं, तब भारतीय सभ्यता के रूप को देखकर चकित और स्तम्भित रह जाना पड़ता है। वेद तपश्चर्या और योगाभ्यास द्वारा शब्दब्रह्म को वेद की ऋचाओं के रूप में प्रत्यक्ष देखनेवाले ऋषियों के तत्त्व की स्वानुभूति की गाथा है और इन ऋचाओं के द्वारा शब्दब्रह्म और परंब्रह्म को पाने की विद्या है। इस अनमोल रत्न की रक्षा करने और इसकी प्रभा को बचाकर रखने में उन महात्मा ऋषियों ने और सन्तति ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। वेद की भाषा, परम्परा और रहस्यपूर्ण भाव को समझने के लिये शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिःशास्त्रों का निर्माण हुआ और ये वेद के षडंग कहे गये। वेद के रहस्यों और यथार्थ भावों को समझने के लिये पुराण, उपपुराण, इतिहास, दर्शन, आरण्यक उपनिषदादि का निर्माण हुआ और इन सभी प्रयत्नों का एक ही आदर्श रहा,—वेद को समझना, जानना और मानव-शरीर पाने का चरम फल प्राप्त करना। इसी उद्देश्य से स्पष्ट शब्दों में बारम्बार आदेश दिया गया कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

"इतिहास और पुराण (के अध्ययन और अनुशीलन) से वेद को परिपुष्ट करता रहे। कम पढ़े-लिखे 'विद्वानों' से वेद डरते रहते हैं कि यह मेरे ऊपर प्रहार करता रहेगा।"

सभी गूढ़ और स्वानुभूतिमूलक भावनाओं को प्रकाशित करने की भाषा प्रतीकप्रधान होती है; क्योंकि उन भावनाओं और अनुभवों को प्रकाशित करने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यदि प्रतीकात्मक भाषा का अक्षरार्थ और शब्दार्थमात्र लिया जाय तो सर्वदा अर्थ का अनर्थ होता रहेगा और सत्य का विकराल और विकृत रूप आ उपस्थित होगा। छपने पर युरोप के हाथों में पड़ जाने पर वेद की यही दुर्दशा हुई है और ब्रह्मज्ञान के रत्नाकर के स्थान में यह उनके लिये भानुमती का पिटारा बन गया है, जिससे तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक धर्म, तुलनात्मक गपोड़े (myth) आदि-आदि ज्ञान की खालवाले अज्ञान के जीव-जन्तु निकाले गये। इसमें इनकी लाचारी थी। वेद का ऋषियुग भारतीय सभ्यता और इतिहास का सब से जगमगाता युग था। उसे इन्होंने बकरी और सूअर चरानेवाले असभ्यों का गीत मान लिया। जिस भावना की जड़ ही सड़ी हुई हो, उसका फल क्योंकर सुखद हो सकता है। अपनी लाल बुझक्कड़ी कल्पना और अटकलों से इन्होंने यह भी सिद्ध किया कि आर्य भारत में बाहर से आये, आर्य और द्राविड़ एक-दूसरे के घोर शत्रु थे, आर्य असभ्य थे और द्राविड़ इनसे अधिक सभ्य थे, द्राविड़ वेदों के वृत्र, पणि और दस्यु हैं। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन एक-दूसरे के शत्रु थे और जिहाद तथा क्रूजेडवाले मुसलमानों और ख्रिस्तानों की तरह परस्पर मुड़फुड़ौवल करते रहते थे—इत्यादि इत्यादि। अटकल पर बनाई हुई ये निराधार और असत्य बातें देश के सच्चे इतिहास के रूप में पढ़ाई जाती हैं, जिसमें प्रत्येक भारतीय बच्चे को रटाया जाता है कि ऋषिगण सोम नाम की एक ब्रांडी पिया करते थे और गाय-बकरी चराया करते थे। उन्होंने बहुत-से चरवाहों के गीत लिखे हैं, जो गन्दे और भद्दे हैं। पाखण्डी ब्राह्मणों ने इस गन्दे गीतों के संग्रह को परम पवित्र ग्रन्थ का रूप दिया और जनता को ठगकर उन पर खूब रोब जमाया और उनसे पैसे वसूल किये। किसी भी भारतीय के लिये इससे बढ़कर दुःखद और घिनौना क्या हो सकता है।

प्रतीकों के अध्ययन में हमने देखा कि इनके अन्तर्गत भावना कितनी संयत, सुन्दर और मनोहर है और इनके उद्देश्य तथा रूप कितने स्पष्ट और निश्चित हैं, और सबका मूल स्रोत वेद है। वेद की जिन ऋचाओं का सीधा सम्बन्ध प्रतीकों से है, उन प्रतीकों से मिलाकर देखने से उनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है, और शब्दार्थों द्वारा जानने के प्रयत्न में जो मंत्र गन्दे और भद्दे मालूम पड़ते हैं, उनका प्रतीकात्मक यथार्थ रूप जगमगाते हीरे के समान है। मेरा विश्वास है कि वैदिक, बौद्ध और जैन प्रतीकों के सिद्धान्तों पर दृष्टि रखकर पढ़ने से वेद का बहुत-सी ऋचाओं का सच्चा अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

अशुद्ध पद्धति की शिक्षा मिलने के कारण बहुत से असत्य विचार सत्य के रूप में हमारे मन में घर कर चुके हैं। शुद्धार्थ के जानने और समझने में इनसे बड़ी बाधा पहुँचती है। जैसे—इतिहास के नाम पर हमने सुना और पढ़ा है कि वैदिक, जैन और बौद्ध परस्पर कट्टर शत्रुता रखते थे। किन्तु सारे इतिहास में कहीं भी एक भी घटना नहीं मिलती है

कि इन्होंने आपस में धार्मिक मतभेद के कारण किसी की हत्या की हो अथवा मन्दिर तोड़ा हो। इसके विपरीत हम देखते हैं कि प्राचीन विश्वविद्यालयों में सभी सब शास्त्रों का अध्ययन करते थे और इसमें किसी प्रकार की बाधा किसी ओर से नहीं थी। इन सबके मन्दिर भी एक ही स्थान में एक साथ पाये जाते हैं। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि भारतीय धार्मिक साहिष्णुता का यह अद्भुत उदाहरण है। यथार्थ बात यह है कि इनमें केवल तर्क-वितर्क और आचार का भेद रहा। सबकी साधना और दिव्यज्ञान का मूल स्रोत वेद होने के कारण इनकी साधनापद्धति में कोई भेद नहीं रहा, और इसीलिये इनके मन्दिर, स्तूप, स्तम्भादि प्रतीकों के सिद्धान्तों में भी कोई अन्तर नहीं है, और सभी परस्पर बड़े प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से एक दूसरे को देखते हैं। आधुनिक पद्धति के इतिहास के पढ़ने और पढ़ानेवाले कहते हैं कि श्रीशंकराचार्य ने बौद्धों को भारत से निर्मूल कर दिया। न मालूम वे ऐसा क्यों कहते हैं। भगवान् शंकर ने तो कभी बौद्धों का 'कत्ले-आम' नहीं किया और न किसी प्रकार का कोई उपद्रव किया, सारे देश में केवल घूम-घूम कर शास्त्रार्थ द्वारा अपने मत का प्रचार किया। इतने से कहीं कोई धर्म किसी देश से मिट जाता है। यथार्थ यह मालूम होता है कि बौद्धों और वैदिकों की साधना-प्रणाली एक होने के कारण ये सब प्रकार से एक-दूसरे से घुले मिले थे। जहाँ बौद्धमन्दिर न थे, वहाँ ये पौराणिक मन्दिरों में और जहाँ पौराणिक मन्दिर न थे, वहाँ बौर मन्दिरों में पूजा करते थे और जहाँ दोनों ही मन्दिर थे, वहाँ दोनों को समान श्रद्धा से देखते थे। जब मुसलमानों ने बौद्ध विहारों को ध्वस्त कर दिया, तब ये बचे-खुचे पौराणिक मन्दिरों में ही पूजन करने लगे और इनका पारस्परिक सामाजिक विभेद मिट गया। जो लोग जैन और वैदिकों को परस्पर विरोधी मानते हैं, उन्हें खजुराहों के अठाइस मन्दिरों में जैन, शैव, वैष्णवादि मन्दिरों को एक साथ देखकर घबराहट होती है कि इसका क्या अर्थ हो सकता है और इसे धार्मिक सहिष्णुता मान लेते हैं। यथार्थ में ब्रह्मविद्या में एकरूपता होने के कारण इन सम्प्रदायों में आचार-भेद होने पर भी साधना में कोई भेद और अन्तर नहीं है, इसलिये इनमें कोई परस्पर विरोध ों है।

सिंधु-उपत्यका के उत्खनन से लेकर वेद, पुराण और भारतीय सभ्यता के सारे साहित्य से यही पता लगता है कि भारतीय महात्माओं ने संसार को कार्य के रूप में देखा और इसके कारण का पता लगाने में सारी शक्ति लगा दी। संसार के इस अन्तिम या अशेष कारण का नाम ब्रह्म है और उसे जानने की विद्या का नाम ब्रह्मविद्या है। इस ब्रह्मविद्या का जीता-जागता रूप शब्दब्रह्म वेद है। जल पर उठे हुए बुल्ले का जल से और वृक्ष का पृथ्वी से जितना निकट सम्बन्ध रहता है, उतनी ही इसमें स्थिरता आती है, उसी प्रकार जीव का ब्रह्म से जितना घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, इसमें उतनी शक्ति और आनन्द का आविर्भाव और विकास होता है, और सांसारिक क्रिया-कलापों में, समाज में स्थिरता आती है। इसलिये जीव और ब्रह्मविद्या का जानना, उसका अभ्यास और आचरण करना भारतीय जीवन में परमपुरुषार्थ माना गया है। इसकी तुलना में अन्य सांसारिक विद्याएँ इन्द्रजाल अथवा माया का खेलवाड़ कही गई हैं। इस विद्या में सिद्धि प्राप्त करने के लिये योग, तन्त्र, कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड,

उपासना, अर्चना, व्रत, उपवास आदि जितने भी उपाय हो सकते थे, सब का अवलम्बन किया गया। इन्हीं उपायों में से एक प्रधान उपाय प्रतीक और उसकी उपासना है। इसलिये सब प्रकार के प्रतीकों के अन्तर्गत सिद्धान्तों में एकत्व दिखाई पड़ता है, क्योंकि सबका अन्तिम ध्येय एक, अर्थात् तत्त्वज्ञान है। केवल इस एक को पाने के उपाय अनेक हैं —

एकं सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति।

परिशिष्ट

१ नटराज

जगत्प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने १९१२ ई० में 'सिद्धान्त-दीपिका' की तेरहवीं पुस्तक में नटराज पर एक लेख लिखा था[1]। यह फिर बोस्टन, (अमेरिका) से Dance of Shiva नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ। उसका यह स्वतन्त्र हिन्दी-भाषान्तर है—

शङ्कर नटराजराज हैं। ब्रह्माण्ड उनकी नृत्यशाला है। उनके लय की भिन्न-भिन्न गतियाँ हैं। वे स्वयं ही नर्तक भी हैं और दर्शक भी। जब यह महानट तान देना आरम्भ करता है, तब उस शब्द से आकर्षित होकर नृत्य-लीलाएँ देखने के लिये सभी अपने-अपने स्थानों से निकल आते हैं। जब यह तमाशे की सभी वस्तुओं को समेट लेता है, तब आत्मानन्द में विभोर होकर यह अकेला ही पड़ा रहता है।

शिवभक्तों को कितने प्रकार के नृत्य मालूम हैं, यह मैं नहीं कह सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इन सभी के मूल सिद्धान्त प्राय: एक ही हैं, अर्थात् सङ्गीतमयी आदिशक्ति का विकास। शिव लूसियन (Lucian) के ऐरोस प्रोटोगोनोस (Eros Protogonos) हैं। उन्होंने लिखा है—"ऐसा बोध होता है कि नृत्य से ही सभी वस्तुओं की सृष्टि का आरम्भ होता है और यह नृत्य पुराणपुरुष एरोस (Eros) के साथ ही प्रकट हुआ; क्योंकि इस आदिनृत्य को हम ग्रह, नक्षत्र तथा तारक-मण्डलों के सामूहिक नृत्य में, नियमित गति में और एक दूसरे की गतिरेखा के भीतर भी अबाध स्थान-परिवर्तन में पाते हैं।"

मेरे कथन का यह उद्देश्य नहीं है कि जो लोग उन्माद अथवा मद के आवेश में पहले-पहल अनार्य पहाड़ी देवता की (जो पीछे शिव के रूप में मिला लिये गये) पूजा में नाचा करते थे, उनके हृदय में शङ्कर के नृत्य का सब से उत्तम भाव वर्तमान था। धर्म अथवा कला का कोई श्रेष्ठ भाव अथवा महान् संकेत अखिल मानव-समाज का सर्वस्व हो जाता है। युगयुगान्तर में भी यह लोगों को ऐसा दुर्लभ रत्न प्रदान करता रहता है, जिसे वे सर्वदा हृदय में वर्तमान पाते हैं। शङ्कर के नृत्य की उत्पत्ति चाहे जिस किसी रीति से क्यों न हुई हो, कालान्तर में यह ईश्वर के क्रिया-कलापों का प्रतिरूप बन गया। यह ऐसी वस्तु है, जिसके

---

१. T. Gopi Nath Rao, Elements of Hindu Iconography. Vol. II. pt I. page 231 ff. Madras 1914.

लिये कोई भी धर्म वा कला गर्व कर सकती है। शङ्कर के अनेक नृत्यों में से मैं केवल तीन का ही वर्णन करूँगा। उनमें से केवल एक ही मेरे विवरण का प्रधान विषय होगा। उसमें से एक देवताओं के स्वर्गीय संगीत के साथ प्रदोष नृत्य है, जो हिमालय पर्वत पर हुआ करता है। शिवप्रदोषस्तोत्र में उसका इस प्रकार वर्णन किया गया है --

"तीनों लोकों को उत्पन्न करनेवाली गौरी को रत्नखचित सिंहासन पर बिठा कर कैलास पर्वत पर संध्या समय शूलपाणि नृत्य करते हैं और देवगण चारों ओर उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं।

"सरस्वती वीणा बजाती हैं और इन्द्र वेणु। ब्रह्मा हाथों से तालों को जगाते हैं। भगवती लक्ष्मी गान करती हैं। विष्णु निपुणता से स्निग्ध मृदङ्ग बजाते हैं और प्रदोषकाल में सभी देवगण मृडानीपति को घेरकर उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं।

"गन्धर्व, यक्ष, पतंग, उरग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, अमर, अप्सर और तीनों लोक में निवास करनेवाले सभी जीव संध्या होते ही शिव के पार्श्व में आकर खड़े हो जाते हैं।"

कथासरित्सागर के मङ्गलाचरण में भी इस नृत्य की चर्चा की गई है।

शिव का दूसरा प्रसिद्ध नृत्य ताण्डव कहलाता है। इनके तामसिक रूप भैरव और वीरभद्र के साथ इसका सम्बन्ध है। यह श्मशान में होता है। इसमें शिव की दश भुजाएँ होती हैं और देवी तथा भूत-पिशाचों के साथ ये उद्धत रीति से नाचते हैं। एलिफैण्टा, एलोरा और भुवनेश्वर की तक्षणकलाओं में प्रायः ऐसी मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इस ताण्डव नृत्य की उत्पत्ति किसी अनार्य देवता से हुई है, जो अंशतः देवता और अंशतः दैत्य थे तथा रात्रि के सन्नाटे में विहार किया करते थे। पीछे के समयों में शैव और शाक्त ग्रन्थों में शिव और देवी के इस श्मशान-नृत्य का वर्णन बड़े ही मर्मस्पर्शी और गम्भीर भाव से किया गया है।

तीसरा नटराज का नादान्त नृत्य है। जो ब्रह्माण्ड के केन्द्र चिदम्बरम् अथवा तिल्लइ के स्वर्ण-मण्डप में हुआ करता है। 'कोयिल पुराणम्' में लिखा है कि तारक-वन में ऋषियों के प्रार्थना करने पर पहले-पहल इस नृत्य का रहस्य देवताओं और ऋषियों को मालूम हुआ। इस सम्बन्ध में एक कथा है, जिसका इस नृत्य के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं मालूम होता है। उसका सारांश यों है—

तारक-वन में मीमांसा के माननेवाले बहुत-से नास्तिक ऋषि रहते थे। उनलोगों के सिद्धान्त को झूठ सिद्ध करने के लिये एक सुन्दरी के रूप में विष्णु को और आदि शेष को साथ लेकर शिव चले। पहिले ऋषिगण आपस में ही घोर वाद-विवाद करने लगे, पर शीघ्र ही उनका क्रोध शिव पर आ पड़ा और मन्त्रों द्वारा उनका संहार करने की उन्होंने चेष्टा की। यज्ञाग्नि से एक भयंकर व्याघ्र प्रकट हुआ और उनपर टूट पड़ा। ईषद्धास्य कर शङ्कर ने उसे पकड़ लिया और अपनी कानी अँगुलि के नख से उसका चर्म छुड़ाकर उसे रेशमी वस्त्र की तरह पहन लिया। इस विफलता से हतोत्साह न होकर ऋषियों ने फिर आहुति देना आरम्भ किया और एक बड़े प्रचण्ड सर्प को उत्पन्न किया। शङ्कर ने उसे पकड़ लिया और माला की तरह उसे गले में डालकर नाचने लगे। उसके बाद मुयलक नामक एक

बौना दैत्य (अपस्मार पुरुष) उनके ऊपर टूट पड़ा। शिव ने अपने अंगूठे से उसकी रीढ़ तोड़ दी। वह छटपटाता हुआ जमीन पर गिर पड़ा। अपने अन्तिम शत्रु को जमीन पर सुलाकर देवताओं और ऋषियों के समक्ष शङ्कर फिर नृत्य करने लगे।

तब आदिशेष ने शङ्कर की पूजा-स्तुति की और सबसे अधिक एक बार फिर वही रहस्यमय नृत्य दिखलाने की प्रार्थना की। विश्व के केन्द्र तिल्लइ-तीर्थ में यह नृत्य दिखलाने का शिव ने वचन दिया। चिदम्बरम् अथवा तिल्लइ में दिखलाया हुआ शिव का यह नृत्य, दक्षिण-भारत में नटराज की बहुत-सी मूर्तियों का विषय है। इन मूर्तियों की छोटी-छोटी बातों में यत्र-तत्र अन्तर है, पर सभी एक ही मूल सिद्धान्त का अवलम्बन करती हैं। इन मूर्तियों का क्या उद्देश्य है, इसकी खोज करने के पहिले यह आवश्यक होगा कि नटराज की जैसी मूर्ति मिल रही है, उसका वर्णन किया जाय। शिव की इन नृत्य-मूर्तियों में चार भुजाएँ हैं। केशपाश बँधे हुए और रत्नों से अलंकृत हैं। नीचे की जटाएँ नृत्य-काल में घूम रही हैं। बालों में कपाल, लिपटा हुआ एक सर्प और गङ्गा की मूर्ति, चन्द्रमा और पत्रों की एक माला दिखाई पड़ती है। दाहिने कान में पुरुषों का और बायें में स्त्रियों का कुण्डल है। वे हार, कंकण रत्नखचित मेखला और अंगूठियों से अलंकृत हैं। कसा हुआ कटिवस्त्र, उड़ता हुआ अङ्गवस्त्र और उपवीत ही उनके प्रधान परिधान हैं। एक दाहिने हाथ में डमरू है और दूसरा अभय-मुद्रा में ऊपर उठा हुआ है। एक बायें हाथ में अग्नि है, दूसरा उठे हुए पैर की ओर संकेत करता हुआ नीचे झुका है। दाहिना पैर छोटे दैत्य मुयलक पर पड़ा है, जो अपने हाथ से एक काला साँप पकड़े हुए है। बायाँ पैर ऊपर की ओर उठा है। मूर्ति पद्मपीठ पर है, जिसमें ज्वाल-माल से अलंकृत एक बहुत बड़ा प्रभामण्डल लगा है। डमरू और अग्निवाले हाथ इसे भीतर की ओर से स्पर्श करते रहते हैं। मूर्तियाँ छोटी-बड़ी सब प्रकार की हैं। कदाचित् ही कोई चार फीट बड़ी हो।

साहित्यिक ग्रन्थों का आधार न लेकर भी इस नृत्य के अन्तर्गत सिद्धांत का वर्णन करना कठिन नहीं है। सौभाग्यवश ऐसे साहित्यिक-ग्रन्थ भी वर्तमान हैं, जिनकी सहायता से नृत्य के साधारण सिद्धांतों के ही नहीं, वरन् इसके स्थूल सांकेतिक चिह्नों की भी पूरी-पूरी व्याख्या की जा-सकती है। नटराज-मूर्ति की कुछ विशेषताएँ केवल नृत्य में ही नहीं, शिव की साधारण मूर्तियों में भी पाई जाती हैं। जैसे—योगियों की जटा, पत्रमाल, ब्रह्मकपाल, गङ्गा की मूर्ति, जटा में घूमती हुई गंगा की धारा, नाग, अर्धनारीश्वर के भिन्न-भिन्न आभरण और चार भुजाएँ। डमरू योगीश्वर शिव का एक साधारण चिह्न है, पर नृत्य में इसका विशेष अर्थ है। अब प्रश्न होता है कि शिव का नृत्य क्या वस्तु है। शैवगण इसे क्या समझते हैं। इस नृत्य का नाम नादान्त है। ग्रन्थों में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"ईश्वर नर्तक हैं, जो लकड़ी में छिपी हुई आग की तरह चेतन और अचेतन में अपनी शक्ति का संचार करते हैं और उन्हें नचाते हैं।"

नृत्य यथार्थ में ईश की पञ्चक्रियाओं का, अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह का द्योतक है। अलग-अलग ये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव की क्रियाएँ हैं।

विश्व की यह क्रिया नृत्य का मुख्य विषय है। और भी अन्यान्य अवतरणों से सांकेतिक चिह्नों का अर्थ स्पष्ट हो जायगा। उणमाइविलक्कम् का छत्तीसवाँ पद इस प्रकार है —

"डमरू से सृष्टि होती है, अभय हस्त से रक्षा होती है, अग्नि से संहार होता है, और ऊर्ध्व पद से मुक्ति मिलती है।"

मुक्ति और अनुग्रह का एक ही अर्थ है। इस पर ध्यान देना चाहिये कि चौथा हाथ आत्मा के रक्षक उठे हुए पाँव की ओर संकेत करता है।

चिदम्बर मुम्माणी कोवई में भी पाया जाता है कि -

"प्रभो ! दिव्य डमरूवाले आपके हाथ ने द्यावा-पृथिवी, अनन्त लोकों और असंख्य जीवात्माओं की सृष्टि की है। आपका ऊर्ध्व हस्त चेतन और अचेतन-रूप प्रपंच की सृष्टि की रक्षा करता है। आपके अग्निवाले हस्त से इन लोकों में परिवर्तन उत्पन्न होता है। भूमि पर आरोपित आपका पवित्र चरण कर्मबन्धन में छटपटाते हुए आत्मा को शरण देता है। जो आपकी शरण में जाते हैं, उन्हें आपका ऊर्ध्वचरण निर्वाण प्रदान करता है। ये पाँचो क्रियाएँ आपके ही हाथों के कर्म हैं।"

तिरुमूलर कृत तिरुमन्त्रम् का नवाँ तन्त्र तिरुकुट्टदर्शन (दिव्य नृत्य का दर्शन) है। इसके पदों से यह सिद्धांत और भी स्पष्ट हो जाता है—

"उनका रूप सर्वत्र है, उनकी शिवशक्ति सर्वत्र व्यापिनी है। चिदम्बर सर्वत्र हैं, उनका नृत्य भी सर्वव्यापी है। शिव ही सब कुछ हैं, सर्वव्यापी हैं, इसलिये उनका मङ्गलमय नृत्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उनके पाँच प्रकार के नृत्य सकल और निष्कल रूप में होते हैं, उनके पञ्चनृत्य उनकी पञ्चक्रियाएँ हैं। अपनी मङ्गलमयी कामना से वे पंचकर्म करते हैं। यही उमासहाय का दिव्य नृत्य है। ये जल अग्नि वायु और आकाश के साथ नाचते हैं। इस प्रकार हमारे प्रभु अपने प्राङ्गण में सर्वदा नृत्य किया करते हैं। प्रभु का यह अनादि और अनन्त नृत्य उन्हें ही दिखलाई पड़ता है, जो माया से ही नहीं, महामाया से भी ऊपर उठ चुके हैं।"

शक्ति का स्वरूप आनन्द है। (ब्रह्म और माया का) सम्मिलित आनन्द ही उमा का शरीर है। शक्ति के सगुणरूप के विकास में दोनों का सम्मिलन ही नृत्य है।

उनका शरीर आकाश है, उसमें काला बादल मुयलक है, आठो दिशाएँ उनकी आठ भुजाएं हैं, तीनों ज्योति (चन्द्र, सूर्य, अग्नि) उनके तीन नेत्र हैं। इस प्रकार वह आत्मविकास कर, हमारे शरीर को ही सभा बनाकर, उसमें नृत्य करता रहता है।"

यह शिव का नृत्य है। इसके गम्भीर उद्देश्य का अनुभव तब होता है, जब यह हृदय और आत्मा के भीतर होने लगता है। ईश्वर का राज्य भीतर ही है। ईश्वर सर्वव्यापी है और हृदय भी सर्वत्र पाया जाता है।

इसी प्रकार एक और पद है—

"नाचता हुआ चरण, किंकिणी-ध्वनि, गाये जानेवाले राग, विचित्र चरण-न्यास, नृत्य गुरु के स्वरूप—इन्हें अपने ही भीतर ढूँढ़ निकालो, तब तुम्हारे बन्धन कट जायँगे।"

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये, ईश्वर के अतिरिक्त और सभी विचारों को हृदय से निकाल डालना ही पड़ेगा, जिसमें केवल वही निवास कर नृत्य कर सके।

उणमई विलक्कम् में हम पाते हैं—"मौनी ज्ञानी तीनों बन्धनों का नाश कर जहाँ उनका आत्मलय होता है, वहाँ ही स्थित रहते हैं। वहाँ वे उस 'पवित्र' का दर्शन करते हैं और आनन्द से उनका हृदय भर जाता है। यही चित् सभेश का नृत्य है, 'जिनका स्वरूप-लावण्य का विलास है।"

मौनी ज्ञानियों की भावना के साथ तिरुमूलर के इन सुन्दर शब्दों की तुलना कीजिये—"वहाँ रहते समय उनको (परम शान्तिपद को प्राप्त किये हुए योगियों को) आत्मविस्मृति हो जाती है और वे निष्क्रिय हो जाते हैं। जहाँ कर्मत्यागी आलसी निवास करते हैं, वह विशुद्ध दिक् है। जहाँ ये कर्मत्यागी खेलते हैं, उसका नाम प्रकाश है। ये कर्मत्यागी जो जानते हैं, वह वेदान्त है। इन कर्मत्यागियों को वहाँ जो मिलता है, वह घोरनिद्रा है।"

शिव संहारकर्ता हैं और श्मशान इन्हें प्रिय है, किंतु ये संहार किसका करते हैं। कल्पान्त में वे केवल द्यावा-पृथिवी का ही संहार नहीं करते, वरन् उन बन्धनों का संहार करते हैं, जो प्रत्येक आत्मा को बाँधे रहते हैं। श्मशान क्या है और कहाँ है। यह वह स्थान नहीं है, जहाँ हमलोगों का पार्थिव शरीर जलाया जाता है, वरन् यह भक्तों का हृदय है, जो बीरान और उजाड़ हो गया है। यह शान्ति नहीं, तलवार ला देता है। जहाँ भक्तों के स्वत्व का संहार होता है, उस स्थान से उस पद का बोध होता है, जहाँ उनका अहंकार अथवा माया और कर्म जलाकर भस्म कर दिये जाते हैं। यही श्मशान है, जहाँ नटराज नृत्य करते हैं। इसीलिये इनका नाम श्मशानभूमि का नर्तक है। नटराज के मङ्गलमय नृत्य और श्मशान के प्रेत के ताण्डव नृत्यवाली इस उपमा में हमें ऐतिहासिक सम्बन्ध दीख पड़ता है।

नृत्य का यह भाव शाक्तों में भी और विशेषतः बंगाल के शाक्तों में प्रचलित है, जहाँ शङ्कर के पितृरूप की अपेक्षा मातृरूप की ही पूजा होती है। यहाँ नर्तकी काली हैं।[1] इनके प्रवेश के लिये त्याग द्वारा हृदय को शून्य कर अग्नि से इसका संस्कार करना पड़ता है। एक बंगला-स्तोत्र में काली की स्तुति की गई है—

"श्मशाननिवासिनी कालिके! तुम्हें श्मशान प्यारा है, इसलिये अपने हृदय को मैंने श्मशान बना लिया है। वहाँ तू अनादि और अनन्त नृत्य कर।

"माँ! मेरे हृदय में और कुछ नहीं है। दिन और रात चिता प्रज्वलित रहती है। तेरे शुभागमन के लिये चिताभस्म मैंने चारो ओर बिखेर रखा है। मृत्युञ्जय महाकाल के ऊपर नृत्य करती हुई तू मेरे हृदय में प्रवेश कर, जिसमें आँखें बन्द कर मैं तेरा दर्शन कर सकूँ।"

दक्षिण-भारत में भी अन्यान्य तमिल-ग्रन्थों में हम पाते हैं—"असंख्य जीवात्माओं का द्विविध फल प्रदान करने के लिये हमारे प्रभु पञ्चक्रियाओं द्वारा नृत्य करते हैं।"[2] द्विविध-फल हैं—इदम्, सांसारिक तुष्टि और परम्, मुक्ति का आनन्द।

१. सिद्धान्तदीपिका। पु० ३, पृ० १३ में 'काली क्या है' शीर्षक लेख।
२. ग्रुपवसूत्र। ५,५।

उणमाइविलक्कम् के ३२,३६ और ३९वें छन्द में हम देखते हैं "हमारे पापों को दूर करने के लिये हमारे आत्मा में ही 'विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप' का नृत्य होता है। इस प्रकार हमारे पिता मायान्धकार को छिन्न-भिन्न कर देते हैं मल। (आणव, अविद्या) का नाश कर देते हैं, करुणा की वृष्टि करते हैं और बड़े स्नेह से आत्मा को आनन्दसागर में निमज्जित कर देते हैं। जो इस रहस्यमय नृत्य को देखते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता।"

शैव ग्रन्थों में लिखा है कि भगवान् की लीला का अर्थ है संसार का उद्भव और विकास। यह भगवान् की लीला वा खेल के लिये किया जाता है। तिरुमूलर लिखते हैं कि सर्वदा नर्तन करना ही उसका खेल हो जाता है।"

इस भाव से लोगों के हृदय में शङ्का होती है कि वे साधारण सांसारिक नर्तक की तरह नाचा करते हैं। इसका उत्तर यह है कि वे विश्व की रक्षा के लिये और जो उन्हें ढूँढ़ते हैं, उन्हें मुक्ति देने के लिये नाचते हैं।

शैवमत के सांकेतिक चिह्नों में पञ्चाक्षर मन्त्र 'नमः शिवाय' का कोई विशेष उद्देश्य है। इसकी तदात्मता शिव के नृत्य से दिखाई जाती है। उणमाइविलक्कम् में (३३-३५) नृत्य के साथ इन अक्षरों के नृत्य की तदात्मता इस प्रकार दिखलाई गई है "उनके चरणों में न, नाभि में म, स्कन्धदेश में शि, मुखमण्डल में व, और मस्तक में य है।" पञ्चाक्षर के ध्यान की दूसरी रीति भी दी गई है—

"डमरूवाला हाथ श, फैला हुआ हाथ व, अभयहस्त य, अग्निवाला हाथ न, और मुयलक को दवा रखनेवाला पैर म है।" उसी ग्रन्थ में और भी लिखा है कि – "पाँचों अक्षरों के अर्थ क्रमशः ईश्वर, शक्ति, आत्मा, तिरोभाव और मल हैं........यदि इन पाँच सुन्दर अक्षरों का ध्यान किया जाय, तो आत्मा उस जगत् में पहुँच जायगा, जहाँ न प्रकाश है और न अन्धकार। वहाँ शक्ति का शिव में लय हो जायगा।" उणमाइविलक्कम् का एक और पद, प्रभामण्डल की व्याख्या इस प्रकार करता है—"पञ्चाक्षर, नृत्य और ॐकार में कोई भेद नहीं है। लिखे हुए ॐकार की बाहरी वृत्तरेखा ही प्रभामण्डल है। नटराज के ऊपर प्रभामण्डल ॐकार है और इसकी प्रभा ही अक्षर है, जो ॐकार से कभी अलग नहीं रहता। यही चिदम्बरेश का नृत्य है।"

शैव मत के एक दूसरे ग्रन्थ[1] में है कि शिव का नृत्य ज्ञान का नृत्य और प्रभामण्डल प्रकृति का नृत्य है—"एक ओर प्रकृति का नृत्य होता है और दूसरी ओर ज्ञान का। अपना मन द्वितीय के केन्द्र में स्थिर करो।" इसकी व्याख्या के लिये मैं नल्लस्वामी पिल्लई का ऋणी हूँ। आप कहते हैं—"प्रथम नृत्य प्रकृति के कर्म का आरम्भ है। यह भौतिक और व्यक्तिगत शक्ति का स्फुरण है। यही प्रभामण्डल, ॐकार या काली का नृत्य है। दूसरा शंकर का नृत्य है। यह अक्षर है, जो ॐकार से भिन्न नहीं हो सकता। यही प्रणव की अर्धमात्रा, चतुर्थम्, अथवा तुरीयम्, कहलाता है। यदि शिव की इच्छा न हो, या वे स्वयं नाचना न चाहें, तो प्रथम नृत्य (प्रकृति का) असम्भव है।"

१. तिरु अरुल पयन। ९.३।

इस व्याख्या का सारांश यही मालूम होता है कि प्रभामण्डल भौतिक उपादान वा प्रकृति का बोधक है। इसके भीतर प्रभारूप शंकर हैं, जो नृत्य करते हुए हाथ पैर और मस्तक से इसका स्पर्श करते रहते हैं। यही सर्वव्यापी पुरुष है। जिस प्रकार शिव और नमः के बीच य की स्थिति हैं, उसी प्रकार इन दोनों के बीच में आत्मा अवस्थित है।

इन सभी व्याख्याओं का सारांश यही होता है कि शिव के नृत्य के तीन प्रधान भाव हैं। प्रथम, इनका यह नृत्य इनके नियमित कार्यकलापों का प्रतिरूप है। ब्रह्मांड में जो कुछ वस्तु मिलती है, उसको हिलानेवाली शक्ति का मूलस्रोत यही नृत्य है। इस विश्व अथवा ब्रह्माण्ड का द्योतक प्रभामण्डल है। द्वितीय, असंख्य जीवात्माओं को माया के बन्धन से मुक्त करना ही इस नृत्य का उद्देश्य है। तृतीय, नृत्य का स्थान विश्व का केन्द्र चिदम्बरम् हृदय के भीतर है।

इस विषय के इन विवरणों में मैंने जानबूझकर कलाविषयक सौन्दर्य की आलोचना छोड़ दी है। हमने केवल मूर्तियों और ग्रन्थों का आधार लेकर शिव के नृत्य के मूल सिद्धांतों को देने की चेष्टा की है। अंत में यह कहना अनुचित न होगा कि इस भाव की गम्भीरता और सौंदर्य ही, विज्ञान, धर्म और कला का एकत्रीभूत समस्त रूप है। कला के मर्मज्ञ जिन ऋषियों ने पहिले ऐसी वस्तु की कल्पना की, वास्तविक सत्य की प्रतिमा का निर्माण किया, जीवन की जटिलताओं की कुंजी तैयार की, प्रकृति के ऐसे सिद्धांत ढूंढ़ निकाले, जो केवल एक ही जाति या परिवार को सन्तोष प्रदान नहीं करते और न एक ही शताब्दी के मनीषियों को मान्य हैं, वरन् सभी काल और सभी देशों में दार्शनिकों, भक्तों और कलाकारों के हृदय पर अधिकार कर लेते हैं, उनकी कल्पनाशक्ति, विचारशक्ति और सहृदयता कितनी विशाल और अद्भुत होगी! इस विशेषज्ञता के युग में हमें विचार-समष्टि की आदत नहीं है। किन्तु जिन्होंने इन मूर्तियों का दर्शन किया, उनकी दृष्टि में, जीवन में और विचारशक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। जब किसी व्यक्तिविशेष की कृति की हम आलोचना करते हैं, उस समय भी हम उसकी उत्पादक शक्ति का अनुभव नहीं करते, अथवा संकेत की भाषा में यही बात इस तरह कही जा सकती है कि रागों का निकल आना अनिवार्य था। कोई-न-कोई उसे अवश्य ढूंढ़ निकालता, परन्तु फिर भी राग पर विचार करते समय हृदय की उस शक्ति का हम अनुभव नहीं करते, जिसने ताल और लय के कम्पन का विकास करनेवाले राग को ढूंढ़ निकाला।

ऐसी प्रतिमाओं का प्रत्येक अंश किसी मिथ्याविश्वास वा शास्त्र के कानून का अनुसरण नहीं करता, वरन् प्रकट सत्य का वर्णन करता है। विज्ञान भी इस मत को मानता है कि दृश्य जगत् के भीतर कोई शक्ति काम कर रही है। वर्तमान युग का बड़े से बड़ा कोई भी कलाकार इससे अधिक बुद्धिमत्ता और अधिक पूर्णता के साथ उस शक्ति की प्रतिमा का निर्माण नहीं कर सकता। यदि काल और शक्ति को हम एक साथ रखना चाहें, तो दिशा और काल के विशाल विस्तार की कल्पना द्वारा ही हम कर सकते हैं। डमरू और अग्नि से केवल दृश्य-परिवर्तन का ही बोध होता है, संहार का नहीं। ये चित्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। ये ब्रह्मा के दिन और रात्रि के चिह्न हैं, जो आँखों से देखे जा सकते हैं।

ब्रह्मा के रात्रिकाल में प्रकृति निश्चल रहती है और जबतक शिव की इच्छा नहीं होती, तबतक वह नहीं नाच सकती। वे अपनी समाधि से जागते हैं और उनका नृत्य, जगानेवाले शब्दों की तरङ्गों को निश्चल प्रकृति में उत्पन्न करता है। प्रकृति भी उसके चतुर्दिक् प्रभामण्डल के रूप में प्रकट होकर नाचने लगती है और नृत्य करता हुआ यह उसके नानारूप की रक्षा करता है। काल पाकर, नृत्य करता हुआ ही वह अग्नि द्वारा सभी नामरूपों का संहार कर डालता है और प्रकृति को विश्राम देता है। यह तो काव्य है, पर काव्य होने पर भी विज्ञान का सत्य है।

नटराज केवल सत्य ही नहीं, प्रेम भी हैं; क्योंकि करुणावृष्टि करना, अर्थात् असंख्य जीवात्माओं को मुक्ति प्रदान करना उनके नृत्य का उद्देश्य है। जिन कलाविदों ने जीवन के मूलतत्त्व को मूर्तरूप देने की चेष्टा की है, उन्हें, इस नृत्यमूर्ति की शक्ति और कल्पना कितनी विशाल है, यह मालूम होता होगा।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इतने युगों से नटराज की पूजा होती आ रही है। हमलोग सब प्रकार की नास्तिकता समझते हैं, यह भी ढूँढ़ निकालते हैं कि सभी धार्मिक भाव असभ्यों के मिथ्या विश्वास से उत्पन्न हुए हैं, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और बृहत्-से-बृहत् की खोज करते हैं, यह सब कुछ करते रहने पर भी हम नटराज के पुजारी हैं।

२. सिद्धान्तसारोपनिषत्

लिङ्ग

इसमें शिवलिङ्ग के यथार्थ स्वरूप का विवरण है—

नमः शिवाय।

योऽयं नकारः सोऽयमकारः स सद्योजातो भूऋग्वेदः सम्पुटमुच्यते।
योऽयं मकारः सोऽयमुकारः स वामदेव आपो यजुर्वेदो वक्त्रमुच्यते।
योऽयं शिकारः सोऽयं मकारः स घोरः स वायुः सामवेदो गुण उच्यते।
योऽयं वकारः सोऽयं नादः स तत्पुरुषः स तेजोऽथर्ववेदोऽघोरमुच्यते।
योऽयं यकारः तदिदं समस्तोममिति निर्विशेषप्रणवः स सर्वोत्तम ईशान आकाश आगमो लिङ्गमुच्यते। इत्येतत्तत्वं यो विजानाति स नित्यशुद्धबुद्धपरमानन्दपरम-शिवस्वरूपः।
पुरा देवाः पशुपाशाद्विमुक्ताः शिवं पूज्यैव हरिपद्मादयोऽपि।
ऐन्द्रनीलं पूजितं विष्णुनासील्लिङ्गं वैडूर्यं विधिना पद्मरागम्॥
शक्रेण हैमं यक्षराजेन विश्वेदेवै रौप्यं वसुभिः कांस्यकं च।
यद्वाल्कूटं वायुना पार्थिवं तदश्विभ्यामासीत् स्फाटिकं पाशिनाथ॥
आदित्यैस्ताम्रं मौक्तिकं देवतैस्तैरनन्ताद्यैः फणिभिश्च प्रवालम्।
दैत्यैर्जालं राक्षसैश्च त्रिलोहं गणैः शैलं सैकतं मातृकाभिः॥

दारूद्भवं निर्ऋतिना यमेन सुपूज्यमासीन्मारकतं च रुद्रैः ।
सुभस्मरूपं सूक्ष्मरूप च लक्ष्म्या शैलान्येव मुनयो भेजिरेऽथ ॥
सरस्वती रत्नरूपं च दुर्गा हैमं लिङ्गं पूजयामास भक्त्या ।
जलैरुष्णैः शीतलैर्वा कदाचिदज्ञानाद्वा पतितैः पत्रपुष्पैः ॥
तुष्टो यच्छेद्वाञ्छितार्थं महेशः किं दुर्लभं शिवभक्तस्य लोके ।
अत्यल्पमपि नैवेद्यं फलं वा जलमेव वा ।
तदेव प्राशयित्वाथ ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥[1]

हिन्दी

लिङ्ग

"नमः शिवाय ।

जो नकार है, वही मकार है । वह सद्योजात है और भूः तथा ऋग्वेद का सम्पुट कहा जाता है ।

जो मकार है, वही उकार है । वह वामदेव है । वह आप और यजुर्वेद-मुख कहा जाता है ।

जो शिकार है, वही मकार है । वह अघोर है और सामवेद तथा गुण कहा जाता है ।

जो वकार है, वही नाद है । वह तत्पुरुष है । वह तेज अथर्ववेद और अघोर कहा जाता है ।

जो यकार है, वह समस्त ओम् है । वह निर्विशेष प्रणव है । उसे सर्वोत्तम ईशान, आगम, आकाश और लिङ्ग कहते हैं । इस तत्त्व को जो जानता है, वह अविनाशी शुद्ध, ज्ञानी परमानन्द और परमशिव-स्वरूप है ।

पुराकाल में पशुपाश से विमुक्त देवगण हरि और ब्रह्मादि ने भी शिव की पूजा की । विष्णु ने इन्द्रनील मणि के लिङ्ग की पूजा की, ब्रह्मा ने वैदूर्य, इन्द्र ने पद्मराग, यक्षराज ने स्वर्ण, विश्वदेव ने रौप्य, वसुओं ने काँसे, वायु ने दारुकूट (पीतल), अश्वियों ने मिट्टी, वरुण ने स्फटिक, आदित्यों ने ताम्र, देवों ने मौक्तिक, अनन्तादि सर्पों ने प्रवाल (मूँगा), दैत्यों ने जाल (?) राक्षस ने त्रिलौह (सोना, चाँदी, ताँबा), गणों ने शिला, मातृकाओं ने बालू , निर्ऋति ने लकड़ी, रुद्र और यम ने मरकत, लक्ष्मी ने भस्म और सूक्ष्मरूप, मुनियों ने शिला, सरस्वती ने रत्न, दुर्गा ने सोने के लिङ्ग का पूजन किया । उष्ण अथवा शीतल जल से वा अनजाने भी फूल-पत्तों को डालने से महेश तुष्ट होकर इच्छित फल देते हैं । शिवभक्त के लिए संसार में क्या दुर्लभ है ।

अत्यल्प नैवेद्य, फल वा जल को मुँह में डालकर ब्रह्मत्व प्राप्त किया जाता है ।"

१. अप्रकाशिता उपनिषदः । मद्रास, १९३३ । पृ. ३८२-३८३ ।

३. लिङ्गाष्टक[1]

इस स्तोत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस रूप में शिवलिङ्ग की अर्चना होती है और इसका यथार्थ रूप क्या है—

१. ब्रह्ममुरारिसुरार्चितलिङ्गं निर्मलभासितशोभितलिङ्गम् ।
जन्मजदुःखविनाशकलिङ्गं तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥

"मैं सदाशिव को प्रणाम करता हूँ। ब्रह्मा, विष्णु और देवगण इसकी अर्चना करते हैं। यह निर्मल ज्योति से सुशोभित है और जन्म के साथ उत्पन्न होनेवाले दुःखों का नाश करनेवाला है।"

२. देवमुनिप्रवरार्चितलिङ्गं कामदहं करुणाकरलिङ्गम् ।
रावणदर्पविनाशनलिङ्गं तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥

"मैं सदा शिवलिङ्ग को प्रणाम करता हूँ। देवमुनि और श्रेष्ठजन इसकी पूजा करते हैं। यह काम का नाश करनेवाला और दयामय है। यह रावण के गर्व का नाश करनेवाला है।"

३. सर्वसुगन्धिसुलेपितलिङ्गं बुद्धिविवर्धनकारणलिङ्गम् ।
सिद्धसुरासुरवन्दितलिङ्गं तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥

"मैं सदा शिवलिङ्ग को प्रणाम करता हूँ। यह सभी सुगन्धि द्रव्यों से लिप्त है। बुद्धि के बढ़ाने का कारण है और सिद्ध, सुर और असुर इसकी वन्दना करते हैं।"

४. कनकमहामणिभूषितलिङ्गं फणिपतिवेष्टितशोभितलिङ्गम् ।
दक्षसुयज्ञविनाशनलिङ्गं तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥

"जो सदाशिवलिङ्ग सोने और बड़े-बड़े रत्नों से सुशोभित है, जिसमें नागराज के लिपटे रहने से यह सुन्दर लगता है, जो दक्षयज्ञ का नाश करनेवाला है, उस सदाशिवलिङ्ग की मैं वन्दना करता हूँ।"

५. कुङ्कुमचन्दनलेपितलिङ्गं पङ्कजहारसुशोभितलिङ्गम् ।
सञ्चितपापविनाशनलिङ्गं तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥

"कुंकुम और चन्दन से लिप्त, कमल की माला से सुशोभित और संचित पाप के नाश करनेवाले सदाशिवलिङ्ग को मैं प्रणाम करता हूँ।"

६. देवगणार्चितशोभितलिङ्गं भावैर्भक्तिभिरेव च लिङ्गम् ।
दिनकरकोटिप्रभाकरलिङ्गं तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥

"देवताओं की पूजा से जो सुशोभित है, भाव और भक्ति से (जिसकी पूजा हो सकती है), करोड़ों सूर्य के समान जो प्रभावाला है, उस सदाशिवलिंग को मैं प्रणाम करता हूँ।"

७. अष्टदलोः परिवेष्टितलिङ्गं सर्वसमुद्भवकारणलिङ्गम् ।
अष्टदरिद्रविनाशनलिङ्गं तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥

---

१. आत्मा और लिङ्ग शब्द का एक ही अर्थ है। अत् और लिगि धातुओं का अर्थ गति है। अतति और लिङ्गति का अर्थ है गच्छति। ये गतिशील और गति प्रदान करनेवाले तत्त्व अथवा शक्ति हैं।

"जो अष्टदल (अष्ट प्रकृति-पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) से घिरा है, सब की उत्पत्ति का कारण है, आठ प्रकार की दरिद्रता का नाश करनेवाला है, उस सदाशिवलिङ्ग को मैं प्रणाम करता हूँ।"

८. सुरगुरुसुरवरपूजितलिङ्गं सुरवनपुष्पसदार्चितलिङ्गम्।
परात्परं परमात्मकलिङ्गं तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम्॥

"बृहस्पति और श्रेष्ठ देवगण जिसकी पूजा करते हैं, देवताओं के उद्यान के फूलों से जिसकी सर्वदा पूजा होती है, जो कारण का भी कारण और परमात्मस्वरूप है, उस सदाशिव लिङ्ग को मैं प्रणाम करता हूँ।"

९. लिङ्गाष्टकमिदं पुण्यं यः पठेच्छिवसन्निधौ।
शिवलोकमवाप्नोति शिवेन सह मोदते॥

"जो इस लिङ्गाष्टक को शिव के निकट पढ़ता है, वह शिवलोक में रहता है, और शिव के साथ आनन्द प्राप्त करता है।"

४. गोविन्दाष्टक

इस स्तोत्र में भगवान् कृष्ण के लौकिक और अलौकिक रूप का विवरण है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ने उनके साकार और निराकार, ऐतिहासिक और उपास्य देव के रूप का सुन्दर विवरण दिया है।

१. सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यमनाकाशं परमाकाशं
गोष्ठप्राङ्गणरिङ्गणलोलमनायासं परमायासम्।
मायाकल्पितनानाकारमनाकारं भुवनाकारं
क्ष्मामानाथमनाथं प्रणमत गोविन्दं[1] परमानन्दम्॥

"परमानन्द स्वरूप गोविन्द को प्रणाम कीजिये। ये सत्य, ज्ञान, अनन्त और नित्य (अविनाशी) हैं। आकाश नहीं हैं, किन्तु परमाकाश (परमे व्योमन्) यही हैं। गो-निवास के आँगन में रेंग रहे हैं और चंचल हैं, किन्तु स्थिर (अनायास, कूटस्थ) रहने पर भी (विश्व-रचनारूप) महान् परिश्रम ये ही करते हैं। ये निराकार हैं, किन्तु माया द्वारा बनाये हुए नाना प्रकार के आकार और भुवनों के रूप में ये ही हैं। इनका स्वामी कोई नहीं है, किन्तु ये धरणी देवी और लक्ष्मी देवी के स्वामी हैं।

२. मृत्स्नामत्सीहेति यशोदाताडनशैशवसंत्रासं
व्यादितवक्त्रालोकितलोकालोकचतुर्दशलोकालिम्।
लोकत्रयपुरमूलस्तम्भं[2] लोकालोकमनालोकं
लोकेशं परमेशं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम्॥

---

१. गो का अर्थ है प्रकाश। गोविन्द का आध्यात्मिक अर्थ है प्रकाशपुञ्ज। लौकिक अर्थ स्पष्ट है।
२. शिव और शिवलिङ्ग का भी नाम मूलस्तम्भ है। महाशिव और महागोविन्द एक ही हैं।

"यशोदा ने कहा— हा ! तू मिट्टी खा रहा है और शिशु ने मार के डर से मुंह खोल दिया । वहाँ चौदहों भुवन का समूह जगमगा उठा । जो तीनों लोकरूप भवन के मूलस्तम्भ हैं, लोक, अलाक और लोकरहित हैं, उस लोकेश, परमेश और परम आनन्दस्वरूप गोविन्द को प्रणाम कीजिये ।

३. त्रैविष्टपरिपुवीरघ्नं क्षितिभारघ्नं भवरोगघ्नं
कैवल्यं[१] नवनीताहारमनाहारं भुवनाहारम् ।
वैमल्यस्फुटचेतोवृत्तिविशेषाभासमनाभासं
शैवं केवलशान्तं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥

"ये देवताओं के वीरशत्रुओं के मारनेवाले, पृथ्वी का भार दूर करनेवाले, संसाररोग का नाश करनेवाले, केवल मक्खन खानेवाले, निराहार और भुवनों का आहार करनेवाले हैं । इनका कोई आभास नहीं है, किन्तु निर्मल और स्फुटित चित्तवृत्ति में एक प्रकार का आभास-प्राप्त होता है । ये कल्याणमय (शैव) अटल-शान्तिस्वरूप और परमानन्द-रूप हैं । इन्हें प्रणाम कीजिये ।"

४. गोपालं प्रभुलीलाविग्रहगोपालं कुलगोपालं
गोपीखेलनगोवर्धनधृतलीलालालितगोपालम् ।
गोभिर्निगदितगोविन्दस्फुटनामानं बहुनामानं
गोधीगोचरदूरं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥

"सर्वशक्तिमान् (प्रभु) गोपाल लीला के लिये शरीर धारण करते हैं । कुल (सक्रियशक्ति) के तेज की रक्षा करनेवाले हैं । गोपियों के खेल में गोवर्धन को उठा लिया और गायों की रक्षा की । गो (वेद-उपनिषद्) ने जिनका स्पष्ट नाम गोविन्द कहा, जिनके बहुत-से नाम हैं, और जो इन्द्रियों की बुद्धि और क्रियाओं से दूर हैं, उस गोविन्द को प्रणाम कीजिये ।

५. गोपीमण्डलगोष्ठीभेदं भेदावस्थमभेदाभं
शश्वद्गोखुरनिर्धूतोद्धतधूलीधूसरसौभाग्यम् ।
श्रद्धाभक्तिगृहीतानन्दमचिन्त्यं चिन्तितसद्भावं
चिन्तामणिमणिमानं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥

"ये गोपियों के समूह के रूप में हैं । भेद दिखाई पड़ने पर भी ये अभिन्नवत् हैं । सर्वदा गाय के खुरों से उठी हुई धूल से धूसर रहने के कारण सुन्दर हैं । श्रद्धा और भक्ति के द्वारा इनके आनन्दरूप को ग्रहण किया जा सकता है । ये अचिन्त्य हैं, किन्तु सद्भावनाओं के चिन्ता-स्वरूप हैं । चिन्तामणि की सुन्दरता हैं । परम आनन्दस्वरूप गोविन्द को प्रणाम कीजिये ।"

६. स्नानव्याकुलयोषिद्वस्त्रमुपादायागमुपारूढं
व्यादित्सन्तीरथ दिग्वस्त्रा वस्त्रं दातुमुपाकर्षन् ।
तं निर्धूतद्वयशोकविमोहं बुद्धं बुद्धेरन्तःस्थम्
सत्तामात्रशरीरं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥

---

१. जैन केवलतत्त्व वा केवलत्व को मानते हैं

"स्नान में संलग्न स्त्रियों का वस्त्र लेकर वृक्ष पर चढ़ गये थे। वे विवस्त्र होने के कारण वस्त्र देने के लिये इनका अनुनय करती रहती हैं। शोक और मोह, दोनों के नाश करने वाले, ज्ञानस्वरूप (बुद्धं), बुद्धि के भीतर रहनेवाले, सत्तामात्र ही जिनका शरीर है, उस परम आनन्दरूप गोविन्द को प्रणाम कीजिये।"

७. कान्तं कारणकारणमादिमनादिं कालघनाभासं
कालिन्दीगतकालियशिरसि मुहुर्नृत्यन्तं सुनृत्यन्तम् ।
कालं कालकलातीतं कलिताशेषं कलिदोषघ्नं
कालत्रयगतिहेतुं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥

"सुन्दर, कारणों के भी कारण, आदि, स्वयं आदिरहित, काल के घनीभूत आभास की तरह, यमुना में कालिय के मस्तक पर बारम्बार और सुन्दर नृत्य करते हुए, कालस्वरूप और काल की कलाओं से भी आगे, अखिल सृष्टि को समेटकर आत्मसात् करनेवाले कलि के दोषों के नाश करनेवाले, तीनों काल की गति के हेतु, परमानन्दस्वरूप गोविन्द को प्रणाम कीजिये।"

८. वृन्दावनभुवि वृन्दारकगण वृन्दाराधितमन्देहं
कुन्दाभामलमन्दस्मेरसुधानन्दं सुहृदानन्दम् ।
वन्द्याशेषमहामुनिमानसवन्द्यानन्दपदद्वन्द्वम् ।
वन्द्याशेषगुणाब्धिं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥

वृन्दावन प्रदेश में देवगण और वृन्दादेवी इनके रूप की आराधना करते हैं। कुन्द की शोभा की तरह इनके निर्मल मन्द मुस्कान में आनन्दामृत है। ये सज्जनों के आनन्द हैं। अखिल महा मुनिजनों के मन इनकी वन्दना करते हैं और इनके दोनों चरण वन्दनीय हैं। ये वन्दनीय अखिल गुणों के सागर हैं। परम आनन्द रूप ऐसे गोविन्द को प्रणाम कीजिये।

गोविन्दाष्टकमेतदधीते गोविन्दार्पितचेता यो
गोविन्दाच्युतमाधवविष्णो गोकुलनायक कृष्णेति ।
गोविन्दांघ्रिसरोजध्यानसुधाजलधौतसमस्ताघो
गोविन्दं परमानन्दामृतमन्तःस्थं स समभ्येति ॥

गोविन्द में चित्त लगाकर जो इस गोविन्दाष्टक को पढ़ते हैं और गोविन्द, अच्युत, माधव, विष्णु, गोकुलनायक, कृष्ण इत्यादि (कहते हैं), गोविन्द के चरणकमल के ध्यान के सुधाजल से उनके सब पाप धुल जाते हैं और अपने भीतर स्थित परम आनन्दामृत रूप गोविन्द को वे प्राप्त करते हैं।

५. राधोपनिषत्

प्रथमः प्रपाठकः

ॐ अथ सुषुप्तौ रामः स्वबोधमाधायेव किं मे देवः कासौ कृष्णो योऽयं मम भ्रातेति तस्य का निष्ठा ब्रूहीति। सा वै ह्युवाच। राम शृणु भूर्भुवस्स्वर्महर्जनस्तपस्सत्यं तलं वितलं सुतलं रसातलं तलातलं महातलं पातालं एवं पञ्चाशत्कोटियोजनं बहुलं स्वर्णाण्डं ब्रह्माण्डमिति

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डानामुपरि कारणजलोपरि महाविष्णोर्नित्यं स्थानं वैकुण्ठः। स ह पृच्छति। कथं शून्यमण्डले निरवलम्बने वैकुण्ठ इति साऽनुयुक्ता। पद्मासनासीनः कृष्णध्यानपरायणः शेषदेवोऽस्ति। तस्यानन्तकोटिरोमकूपेष्वनन्तकोटिब्रह्माण्डानि अनन्तकोटिकारणजलानि तस्य सप्तकोटिपरिसहस्रपरिमिताः फणाः तदुपरि वैकुण्ठो विष्णुलोक इति। रुद्रलोकः शिववैकुण्ठ इति। दशकोटियोजनविस्तीर्णो रुद्रलोकः। तदुपरि विष्णुलोकः। सप्तकोटियोजनविस्तीर्णो विष्णुलोकः। तदुपरि सुदर्शनचक्रं त्रिकोटियोजनविस्तीर्णम्। तदुपरि कृष्णस्य स्थानं गोकुलाढ्यं माथुरमण्डल-महत्पदं सुधामयसमुद्रेणावेष्टितमिति। तत्राष्टदलकेसरमध्ये मणिपीठे सहावरणकमिति। स पृच्छति। किं रूपं किं स्थानं किं पद्म किमन्तःकेसरः किमावरणम् इत्युक्ते साऽनुयुक्ता। गोकुलाख्ये माथुरमण्डले वृन्दावनमध्ये सहस्रदलपद्मे षोडशदलमध्ये अष्टदलकेसरे गोविन्दोऽपि श्यामपीताम्बरो द्विभुजो मयूरपिच्छशिराः वेणुवेत्रहस्तो निर्गुणो निराकारः साकारो निरीहः स चेष्टते विराजत इति। पार्श्वे राधिका चेति। तस्या अंशो लक्ष्मी-दुर्गा-विजयादिशक्तिरिति। पश्चिमे सम्मुखे ललिता। वायव्ये श्यामला। उत्तरस्मिन् श्रीमती ऐशान्यां हरिप्रिया। पूर्वस्मिन् विशाखा। आग्नेय्यां श्रद्धा। याम्यां पद्मा। नैऋत्यां भद्रा। षोडशदले अग्रे चन्द्रावती। तद्वामे चित्ररेखा। तत्पार्श्वे चित्रकरा। तत्पार्श्वे मदनसुन्दरी। तत्पार्श्वे मनोहरा। तत्पार्श्वे योगनन्दा। तत्पार्श्वे परानन्दा। तत्पार्श्वेकिशोरीवल्लभा। तत्पार्श्वे कल्याकुशला इति। एवं विविधा गोप्यः कृष्णसेवां कुर्वन्ति। इति वेदवचनं भवति। मानसपूजया जपेन ध्यानेन कीर्त्तनेन स्तुत्या मानसेन सर्वेण नित्यस्थलं प्राप्नोति। नान्येनेति। नान्येनेति। नान्येनेति।

इत्याथर्वण्यां पुरुषबोधन्यां पारमहंस्यां प्रथमः प्रपाठकः।

द्वितीयः प्रपाठकः

ॐ सानुयुक्ता। तस्य बाह्येषु शतदलपद्मपत्रेषु योगपीठेषु रासक्रीडानुरक्ता गोप्यस्तिष्ठन्ति। एतच्चतुर्द्वारं लक्षसूर्यसमुज्ज्वलम्। तत्र द्रुमाकीर्णम्। तत्प्रथमावरणे। पश्चिमे सम्मुखे स्वर्णमण्डपे देवकन्या। द्वितीये सुदामादि। तृतीये व्रिष्णयादि। चतुर्थे लवङ्गादि। पञ्चमे कल्पतरोर्मूले उषा तत्सहितोऽनिरुद्धोऽपि। षष्ठे देवाः। सप्तमे रक्तवर्णो विष्णुरिति द्वारपालाः। एतद्बाह्यं राधाकुण्डम्। तत्र स्नात्वा राधाङ्गं भवति। ईश्वरस्य दर्शनयोग्यं भवति। यत्र स्नात्वा नारद ईश्वरस्य नित्यस्थलसामीप्ययोग्य भवति। राधाकृष्णयोरङ्कमासनम्। एका बुद्धिः। एकं ज्ञानम्। एक आत्मा। एकं पदम्। एका आकृतिः। एकं ब्रह्म। तया समं हेममुरली वादयन् हेमस्वरूपामनुरागसंवलितां कल्पतरोर्मूले (आस्ते)। सुरभिविद्या अक्षमाला श्रुतिरिव परमा सिद्धा सात्त्विकी। शुद्धा सात्त्विकी गुणातीता स्नेहभावरहिता। अतएव द्वयोर्न भेदः। कालमायागुणातीतत्वात्। तदेव स्पष्टयति अथेति। अथानन्तरं मङ्गले वा। अथवा श्रीवृन्दावनमध्ये ऋग्यजुस्सामस्वरूपम्। ऋगात्मको मकारः। यजुरात्मक उकारः। श्रीरामः सामात्मकोऽपि उकारः। श्रीकृष्णः अर्धमात्रात्मकोऽपि। यशोदा इव बिन्दुः। परब्रह्म सा[illegible]धाकृष्णयोः परस्परसुखाभिलाषरसास्वादन इव तत् सच्चिदानन्दामृतं कथ्यते। तल्लक्षणं यत्प्रणवं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकं इच्छाज्ञानशक्तिनिष्ठं कायिकवाचि[illegible]वं सत्त्वरजस्तमस्स्वरूपं सत्यत्रेताद्वापरयुगानुगीतं द्वापरस्य पश्चाद्वर्त्तते कलिः। एतच्चतुर्युगेषु गीयते। तत्र भुर्भुवःस्वर्लक्षणमोंकार एव। यच्चान्यदतिरिक्तं कालातीतं तदप्योङ्कार एव। सर्वं ह्येतद्ब्रह्म

आत्मा सोऽहमस्मि इति धीमहि चिन्तयेमहि। 'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति' इति यत् श्वेताख्यं श्वेतद्वीपनाम स्थानं तुरीयातीतं गोकुलमथुराद्वारकायां तुरीयमेतद्दिव्यं वृन्दावनमिति पुरैवोक्तं सर्वं सम्पत्सम्प्रदायानुगतं यत्र ॥

इत्याथर्वणयां पुरुषबोधिन्यां पारमहंस्यां द्वितीयः प्रपाठकः।

तृतीयः प्रपाठकः।

अथानन्तरं भद्र-श्री-लोह-भाण्डीर-महाताल-खदिर-बकुल-कुमुद-काम्य-मधुवृन्दावनानि द्वादश-वनानि कालिन्द्याः पश्चिमे, सप्तवनानि पूर्वस्मिन्, पञ्चवनानि उत्तरस्मिन् गुह्यानि सन्ति। मथुरावनमधुवनमहावनखादिरवनभाण्डीरवननन्दीश्वरवननन्दनवनानन्दवनखाण्डववनपलाशवनाशोकवनकेतकवनमन्मथवनगन्धमादनवनशेषशायिवनश्यामायुवनभुज्यवनवृधिवनवृषभानुवनसंकेतवनवीपवनरा-सवनक्रीडावनोत्सुकवनान्येतानि चतुर्विंशतिवनानि नित्यस्थलानि मानालीलयाधिष्ठाय कृष्णः क्रीडति। (तानि वनानि) वसन्तऋतुसेवितानि मन्दादिपवनयुतानि (सन्ति) यत्र दुःखं नास्ति सुखं नास्ति जरा नास्ति मरणं नास्ति क्रोधो नास्ति तत्र पूर्णानन्दमयः श्रीकैशोरकृष्णः शिखण्डदल-लम्बितत्रियुतगुञ्जावतंसमणिमयकिरीटशिराः गोरोचनातिलकः कर्णयोर्मकरकुण्डलो वन्यस्रग्वी माल-तीदामभूषितशरीरः करे कङ्कणं बाहौ केयूरं पादयोः किङ्किणीं कट्यां पीताम्ब (रञ्च धारयन्) गम्भीरनाभिकमलः सुवृत्तनासायुगलो ध्वजवज्रादिचिह्नितपादपद्मो महाविष्णु (रास्ते)।

एवंरूपं कृष्णचन्द्रं चिन्तयेन्नित्यशः सुधीः ॥ इति।

तस्याद्या प्रकृती राधिका नित्या निर्गुणा सर्वालङ्कारशोभिता प्रसन्नाशेषलावण्यसुन्दरी। अस्मदा-दीनां जन्म तदधीनं अस्यांशाद्बहवो विष्णुरुद्रादयो भवन्ति। एवं भूतस्यागाधमहिम्नः सुखसिन्धो-स्तल्पमिति मानसपूजया ध्यानेन कीर्तनेन स्तुत्या मानसेन सर्वेण नित्यस्थलं प्राप्नोति। नान्येनेति। नान्येनेति। नान्येनेति। इति वेदवचनं भवति। इतिवेदवचनं भवति।

इत्याथर्वणयां पुरुषबोधिन्यां पारमहंस्यां तृतीयः प्रपाठकः।

चतुर्थः प्रपाठकः।

अथ पुरुषोत्तमो यस्यां निशायां तुरीयं साक्षाद्ब्रह्म। यत्र परमसंन्यासस्वरूपः कृष्णः कल्पपादपः। यत्र लक्ष्मीर्जाम्बवती राधिका विमला चन्द्रावली सरस्वती ललितादिरिति। साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपो जगन्नाथः अहं शेषांशज्योतीरूपः सुदर्शनो भक्तश्च। एवं पञ्चधा विभूतमिति। यत्र च मथुरा गोकुलं द्वारका वैकुण्ठपुरी श्वेतपुरी रामपुरी यमपुरी नरसिंहपुरी नरनारायणपुरी कुबेरपुरी गणेशपुरी शक्रपुरी एता देवतास्तिष्ठन्ति। यत्र रसातलपातालगङ्गारोहिणीकुण्डममृतकुण्डमित्यादि नानापुरी। यत्रान्नं सिद्धान्नम्। (शूद्रादिस्पर्शदोषरहितं ब्रह्मादिसंस्कारापेक्षारहितं यत्र श्रीजगन्नाथस्य योग मित्यर्थः। नाभ्या आसीदिति मन्त्रेण अन्नपतेऽन्नस्य इति मन्त्रेण अन्नाद्याय व्यूहध्वम् सोमो राजाय आगमत्समे सुखं प्रमार्यते यशसा च बलेन च इतिमन्त्रेण विश्वकर्मणेस्वाहा इति मन्त्रेण आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् इति मंत्रेण पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्रह्मण-स्त्वा मुखे जुहोमि स्वाहा इति मंत्रेण अन्नं ब्रह्म इति भुत्वा च कैवल्यमुक्तिरुच्यते। यत्रान्नं ब्रह्म परमं पवित्रं शान्तो रसः कैवल्यमुक्तिः सिद्धा भूर्भुवःस्वर्महत्सत्यमित्यादि यत्र भार्गवी यमुना समुद्र ममृतमयं वृन्दावनानि नीलपर्वतगोवर्धनसिंहासनं प्रासादो मणिमण्डपो विमलादि षोडश चण्डिका गोप्यो यत्र समुद्रतीरे च निरन्तरं कामधेनुवृन्दं यत्र नृसिंहादयो देवता आवरणानि यत्र न

जरा न मृत्युर्न कालो न भङ्गो न जयो न विवादो न हिंसा न शान्तिर्न स्वप्न एवं लीलाकामशरीरी स्वविनोदार्थं भक्तैः सहोत्कण्ठितैस्तत्र क्रीडति कृष्णः ।)

एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च ॥

मानसपूजया जपेन ध्यानेन कीर्तनेन स्तुत्या मानसेन सर्वेण नित्यस्थलं प्राप्नोति । नान्येनेति । नान्येनेति । इति वेदवचनं भवति । इति वेदवचनं भवति । इति वेदवचनं भवति ।

इत्याथर्वण्यां पुरुषबोधिन्यां पारमहंस्यां चतुर्थ प्रपाठकः

इति राधोपनिषत् समाप्ता ।

हिन्दी

प्रथम प्रपाठक

नींद में जगे हुए-से (बल) राम ने पूछा—मेरा देव क्या है, कहाँ है यह कृष्ण, जो मेरा भाई है, उसकी परमोत्तम स्थिति क्या है—कहो। उस (देवी) ने कहा—राम ! सुनो—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं, तल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल, और पचास करोड़ योजन तक विस्तीर्ण स्वर्णाण्ड प्रकाशमय (विस्तृत) ब्रह्माण्ड है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के ऊपर कारण-जल के ऊपर महाविष्णु का नित्यस्थान वैकुण्ठ है। उन्होंने पूछा -- निरवलम्ब शून्यमण्डल में वैकुण्ठ कैसे है। देवी ने उत्तर दिया पद्मासन पर बैठे हुए कृष्णध्यान में निरत शेषदेव हैं। उनके अनन्त कोटि रोमकूप में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और अनन्तकोटि कारणजल हैं। उनके सप्तकाटिसहस्रसंख्यक फण हैं। उनके ऊपर विष्णुलोक वैकुण्ठ है। रुद्रलोक शिव-वैकुण्ठ है। दश कोटि योजन विस्तीर्ण रुद्रलोक है। उसके ऊपर विष्णुलोक है। सप्तकोटि योजन विस्तीर्ण विष्णुलोक है। उसके ऊपर तीन कोटि योजन विस्तीर्ण सुदर्शन चक्र है। उसके ऊपर सुधासमुद्र[1] से घिरा हुआ गोकुल[2] से सम्पन्न सर्वोच्च स्थान मथुरामण्डल है। वहाँ अष्टदल के केसरों के बीच मणिपीठ (मणि के सिंहासन) पर सप्तावरण है। उन्होंने पूछा—(पद्म का) क्या रूप है, कौन-सा स्थान है, पद्म क्या है, भीतर का केसर क्या है, आवरण क्या है। ऐसा कहने पर उस देवी ने उत्तर दिया—गायों से सम्पन्न, मथुरामण्डल में वृन्दावन के बीच सहस्रदल कमल में षोडशदल के बीच आठ दलोंवाले केसर में श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, दो भुजाओंवाले, मस्तक पर मयूरपंखधारी, वेणु और छड़ी हाथ में लिये हुए, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, निरीह गोविन्द चलते-फिरते और विराजमान हैं। पास में राधिका हैं। राधिका के अंश लक्ष्मी, दुर्गा, विजया आदि शक्तियाँ हैं। पश्चिम की ओर सामने ललिता हैं, वायव्य में श्यामला, उत्तर में श्रीमती, ईशान में हरिप्रिया, पूर्व की ओर विशाला, अग्निकोण में श्रद्धा, दक्षिण में पद्मा, नैर्ऋत में भद्रा हैं।[3] षोडशदल के सामने चन्द्रावती, उसके बायें चित्ररेखा, उसके पास चित्रकरा, उसके पास मदनसुन्दरी, उसके पास श्रीमदा,

---

१. सुधार्णव वेद का अप्, अर्णव, समुद्र, मधु इत्यादि और पुराणों का क्षीरसागर है।
२. वैदिक अर्थ में प्रकाश-समूह।
३. ये श्रीयंत्र अथवा अन्यान्य शक्तियंत्रों के आवरण देवता हैं, जो सृष्टि में काम करनेवाली शक्तियाँ हैं।

उसके पास शशिरेखा, उसके पास कृष्णप्रिया, उसके पास वृन्दा, उसके पास मनोहरा, उसके पास योगनन्दा, उसके पास परानन्दा, उसके पास प्रेमानन्दा, उसके पास सत्यानन्दा, उसके पास चन्द्रा, उसके पास किशोरीवल्लभा और उसके पास करुणकुशला हैं। इस प्रकार नाना प्रकार की गोपियाँ कृष्ण की सेवा करती हैं। यह वेदवचन है। मानस पूजा, जप, ध्यान कीर्तन, स्मृति और सब कुछ मानसिक से ही नित्यपद की प्राप्ति होती है, और किसी से नहीं, और किसी से नहीं, और किसी से नहीं।

यह अथर्ववेद की पुरुषबोधिनी परमहंसी (उपनिषत्) का प्रथम प्रपाठक हुआ।

द्वितीय प्रपाठक

ॐ देवी ने कहा—उसके बाहर शतदल पद्मपत्रों के योगपीठों में रासक्रीडा में अनुरक्त गोपियाँ रहती हैं। इसके चारों द्वार लाखों सूर्य-से समुज्ज्वल हैं। यह वृक्षों से भरा है। उसके प्रथमावरण में पश्चिम ओर सामने स्वर्णमण्डप में देवकन्याएँ है। द्वितीय में सुदामादि हैं। तृतीय में किंकिणी आदि हैं। चतुर्थ में लवङ्गादि हैं। पञ्चम में कल्पतरु के मूल में उषा के साथ अनिरुद्ध भी हैं। छठे में देवगण हैं। सप्तम में रक्तवर्ण विष्णु और द्वारपाल-गण हैं। इसके बाहर राधाकुण्ड है। वहाँ स्नान करने से राधा का रूप हो जाता है। ईश्वर के दर्शन के योग्य हो जाता है। राधा और कृष्ण का एक ही आसन है, एक बुद्धि है, एक ज्ञान, एक आत्मा, एक पद, एक आकृति और एक ब्रह्म है। राधा के साथ हेम[1] (ज्योतिः) स्वरूप, प्रेम से पूर्ण हेम (तेजोमयी) मुरली[2] को बजाते हुए कल्पवृक्ष के नीचे रहते हैं। सुरभि[3] (गो) विद्या और अक्षमाला वेद की तरह परमा,[4] सिद्धा और सात्त्विकी है। (यह) शुद्धा, सात्त्विकी गुणातीता और स्नेहभाव से रहित है। अतएव दोनों में कोई भेद नहीं है। क्योंकि काल, माया और गुण से परे हैं। अथ इत्यादि से इसी का स्पष्ट करता है। अथ का अर्थ है अन्तर अथवा मङ्गल। अथवा श्रीवृन्दावन में ऋक्, यजुः, साम-स्वरूप है। मकार ऋक् है। उकार यजुः है। श्रीराम सामस्वरूप अकार हैं। श्रीकृष्ण अर्धमात्रा ही हैं। यशोदा विन्दु हैं। परब्रह्म सच्चिदानन्द के आनन्द राधाकृष्ण के परस्पर सुखाभिलाष के रसास्वादन की तरह वह सच्चिदानन्दामृत[5] कहलाता है। उसका जो लक्षण है, वह प्रणव ब्रह्मा-विष्णु-शिव-स्वरूप इच्छा-ज्ञान-शक्ति-युक्त, कायिक, वाचिक और मानसिक भाव, सत्त्व-रजः-तमः स्वरूप, जो सत्य, त्रेता, और द्वापर में गाया गया है। उसके बाद कलि हुआ। इसका चारों युग में बखान होता है। उस भुर्भुवःस्वः का लक्षण ॐकार ही है। जो सबसे बचा हुआ और काल से भी परे है, वह ओंकार ही है। यह सब कुछ ब्रह्म और आत्मा है, वह मैं ही हूँ, धीमहि का अर्थ है—चिन्ता करता हूँ। 'यह आदित्यमण्डल के रूप में ताप देता है', यह जो श्वेत अर्थात् श्वेतद्वीप नामक स्थान है, जो तुरीयातीत है,

---

१. यह वैदिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद में हिरण्य का अर्थ है 'तेज', 'ज्योति'।

२. शब्दब्रह्म।

३. सुरभि का वैदिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। वेद में गो का अर्थ है 'किरण', 'प्रकाश'।

४. अशेषकारणस्वरूपा।

५. यह वेद का अमृत सोमरस, मधु, क्षीर और वेदान्त का आनन्द है।

वह गोकुल मथुरा द्वारका से चतुर्थ दिव्य वृन्दावन है। यह पहिले ही कहा गया है कि सभी समृद्धि और सम्प्रदाय इसका अनुसरण करते हैं।

यह अथर्वण की पुरुषबोधिनी परमहंसी (उपनिषत्) का द्वितीय प्रपाठक हुआ।

तृतीय प्रपाठक

तब इसके बाद भद्र, श्री, लौह, भाण्डीर, महाताल, खदिर, वकुल, कुमुद, काम्य, मधु, वृन्दावन, ये बारह वन यमुना के पश्चिम, सात वन पूरब, पाँच वन उत्तर, गुप्त हैं। मथुरा वन, मधुवन महावन, खादिरवन भाण्डीरवन नन्दीश्वरवन, नन्दनवन, आनन्दवन, खाण्डववन, पलाशवन, अशोकवन, केतकवन, द्रुमवन, गन्धमादनवन, शेषशायिवन, श्यामायुवन, भुज्यवन, दधिवन, वृषभानुवन, संकेतवन, दीपवन, रासवन, क्रीड़ावन, उत्सुकवन, ये चौबीस वन नित्य लीलास्थल हैं। इनका अवलम्बन कर कृष्ण क्रीड़ा करते हैं। (ये वन) वसन्त ऋतु और मन्द इत्यादि पवनयुक्त हैं, जहाँ दुःख नहीं है, सुख नहीं है, जरा नहीं है, मरण नहीं है, क्रोध नहीं है। वहाँ पूर्ण आनन्दमय श्रीकिशोर कृष्ण मयूरपिच्छ धारण किये हुए, गुंजा का कर्णाभूषण, मस्तक पर मणिमय किरीट, गोरोचन का तिलक, दोनों कानों में मकरकुण्डल, वनमाला और मालतीमाला से विभूषित शरीर, हाथ में कंकण, बाहु में केयूर पैरों में किंकिणी कटि में पीताम्बर, गम्भीर नाभि-कमल, दोनों नाक गोल, पैरों में ध्वज-वज्रादि चिह्नवाले महाविष्णु हैं।

बुद्धिमानों को उचित है कि इस प्रकार नित्य कृष्णचन्द्र का ध्यान करें।

उनकी पहिली प्रकृति राधिका नित्या निर्गुणा सर्वालंकारशोभित प्रसन्न सब प्रकार के लावण्य से सुन्दर हैं। हमलोगों का जन्म उनके अधीन है। इनके अंश से बहुत-से विष्णु रुद्रादि उत्पन्न होते हैं। मानसिक पूजा, ध्यान कीर्तन, स्तुति इत्यादि सब कुछ मानसिक द्वारा, उनकी अगाध महिमा के सुखसिन्धु से उत्पन्न नित्य (अविनाशी) पद प्राप्त होता है। और किसी से नहीं, और किसी से नहीं, और किसी से नहीं। यह वेद-वचन है, यह वेद-वचन है।

यह अथर्वण की पुरुषबोधिनी परमहंसी (उपनिषत्) का तृतीय प्रपाठक हुआ।

चतुर्थ प्रपाठक

वहाँ पुरुषोत्तम रात्रि में चतुर्थ साक्षाद्ब्रह्म हैं. परमसंन्यास-स्वरूप कृष्ण कल्पवृक्ष हैं, जाम्बवती, राधिका, विमला, चन्द्रावली, सरस्वती, ललिता इत्यादि लक्ष्मी हैं, और साक्षाद्ब्रह्म-स्वरूप जगन्नाथ हैं। मैं बचे हुए अंश का ज्योतिःस्वरूप भक्त सुदर्शन हूँ। इस प्रकार पांच प्रकार की विभूतियाँ हैं। वहाँ मथुरा, गोकुल, द्वारका, वैकुण्ठपुरी, श्वेतपुरी, रामपुरी, यमपुरी, नरसिंहपुरी, नरनारायणपुरी, कुबेरपुरी, गणेशपुरी, शक्रपुरी—इतने देवता रहते हैं। वहाँ रसातल, पाताल, गङ्गा, रोहिणीकुण्ड, अमृतकुण्ड इत्यादि नानापुरी हैं। वहाँ अन्न सिद्धान्न हैं। (शूद्रादि के स्पर्श-दोष से रहित, ब्रह्म इत्यादि के संस्कार से रहित जगन्नाथ का भोग है—यही इसका अर्थ है।) 'नाभ्या आसीत्', 'अन्नपते अन्नस्य', 'अन्नाद्याय,' आपा ज्योती', । 'पृथिवी ते पात्रम्', 'अन्नं ब्रह्म', इन मन्त्रों के द्वारा कैवल्य-मुक्ति की प्राप्ति कही गई है। वहाँ अन्न परम ब्रह्म

पवित्र और शान्तरस है, कवल्य-मुक्ति सिद्ध है, भूर्भुवः स्वः महः तत्त्व हैं—इत्यादि। वहाँ भार्गवी, यमुना, अमृतमय समुद्र, वृंदावन, नीलपर्वत, गोवर्धन, सिंहासन, प्रासाद (मंदिर) मणिमण्डप, विमलादि सोलह चण्डिकाएं गोपियाँ हैं। वहाँ समुद्रतट पर निरन्तर कामधेनु का समूह रहता है, वहाँ नृसिंहादि आवरण-देवता हैं। वहाँ न जरा, न मृत्यु, न काल, न भङ्ग, न जय, न विवाद, न हिंसा, न शान्ति और न स्वप्न है। इस प्रकार लीला के लिये अपनी इच्छा से शरीर धारणकर अपने विनोद के लिये अपने उत्कण्ठित भक्तों के साथ वहाँ कृष्ण खेलते हैं।)

एक देव नित्यलीलानुरक्त
भक्तव्यापी भक्त के अन्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास
साक्षी चेता केवल और निर्गुण॥

मानस पूजा, जप, ध्यान, कीर्तन, स्तुति सब कुछ मानसिक से अविनाशी पद प्राप्त होता है। और किसी तरह नहीं, और किसी तरह नहीं। यह वेद-वचन है। यह वेद-वचन है।

यह आथर्वणी पुरुषबोधिनी परमहंसी उपनिषत् का चतुर्थ प्रपाठक हुआ।

६. सामरहस्योपनिषत्[1]

२२१—व्रज-राधा-रास—आदौ पुरुषस्य रसिकानन्दस्य अनादिसंसिद्धा लीलाः भवन्ति। अनादिरयं पुरुष एक एवास्ति। तदेव रूपं द्विधा विधाय समाराधनतत्परोभूत्। तस्मात् तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति। तस्मादानन्दमयोऽयं लोकः। यत्रायं पुरुषो रमते तत्रायं रसो व्रजति। तस्माल्लोके वेदे लीला गीयते। तन्मध्ये वनानि द्वादश सन्ति। तेषां पृथक् नामानि सन्ति। तालवनं बृहद्वनं कुमुदवनं लोहवनं वकुलवनं भाण्डीरवनं महावनं गोष्ठं काम्यवनमरिष्टं च सदाशुभं दधिवनं वृन्दावनमिति। सदा आनन्दमयोऽयं लोको वेदविदो यं वदन्ति। यत्र वृन्दावनं सर्वकामसुखावहं भवति। यत्र वृक्षा आधिदैविका देवा एव भवन्ति। यत्र साधनवटभाण्डीरवटौ। यत्र वंशीवटसङ्केतवटौ। अन्ये वृक्षाः कदम्बाद्या यत्र राजन्ते। यत्रोभयतटबद्धा यमुना रत्नखचिता आस्ते यस्यां कुमुदवनानि राजन्ते। यस्यां हंससारसयूथानि क्रीडापराणि शोभाढ्यानि भवन्ति। यस्यास्तटे कोटिशः कुञ्जाश्च निकुञ्जाश्च राजन्ते। तस्मिन्मण्डले गोवर्धनोऽयं गिरिः। रत्नमयोऽयं गिरिः राजमानो भवति। अयं गिरिः श्रीराधिकायाः रमण-स्थानम्। स एवायं गिरिर्वृन्दावने सदा रसिकानन्दस्य क्रीडास्थानं भवति। तस्मिन्वने पशुपक्षिगणाः आधिदैविकीं सृष्टिं प्राप्ताः सदा सानुभावाः भवन्ति। आधिदैविकी या सृष्टिः सा सृष्टिस्तस्मिन् लोके लोकतां प्राप्नोति। सा सृष्टिर्द्विभेदा भवति। संसिद्धा अन्या साधनसिद्धा भवति। या संसिद्धा सा तस्या निकुञ्जदेव्याः स्वस्वरूपात् समुत्पाद्या भवति। या साधनसिद्धा सा भजनमार्गं प्रपन्ना। भक्तास्तां लीलां तद्भावेन प्राप्नुवन्ति। रसलीलायामु[illegible]नि रसलीलाया-मधिकरणो सख्यश्चातुर्यगुणयुताः ससखीसमूहा यौवनसम्पत्ति[illegible] अनेककलाकोविदाः रसभावेन

1. ये अंश, अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास; १९३३) से लिये गये हैं। पार्श्व के अङ्क पृष्ठ के अंक हैं। इसमें समरस साधना की प्रक्रिया बताई गई है।

पूर्णा भवन्ति। इत्यादि...तेषां मध्ये रासमण्डलं तेजोमयमानन्दमयं तस्याः श्रीराधिकायाः सुखार्थं वृन्दानाम्ना सख्या तया सम्पादितं भवति।....

भ्रमर-तत्र एको भ्रमरो[1] देववाण्या चातुर्येण मानस्थाने राधिकां प्रति दूतत्वं करोति।...

२४१—ये वेदोक्तकर्ममार्गरतास्ते कदाचिदिमां लीलां न जानन्ति।

२४४—रसिकानन्दस्य रूपं सदा निकुञ्जदेव्या ध्येयम्। आनन्दमात्रोऽयं करपादस्तेजोमयोऽमृतमयः। यस्मात् प्रेमानन्दामित्यानन्दोऽयं लोकः प्रकटितो भवति।

२४७ - नमो रससाक्षिणे।

२४६—अन्ये कर्मोपासकास्तां लीलां स्वप्नेऽपि न ददृशुः।

२५१—(अष्टौ वसवः) ओंकाराविर्भावलीलारूपश्रीराधारसिकानन्दरूपं प्रतिपद्य मनो भावापन्नं कृत्वा तां लीलां गायमाना अभवन्।

२५४—पृथिव्यां भारते क्षेत्रे आनन्दमयो लोकः स्वसृष्टिलीलार्थं स्वयमेव प्रकटितः। तस्मिन् व्रजलोके सर्वा एव लीलाः सन्ति। ये गोपा गोप्यस्ते आधिदैविकीं लीलामतितरां संसिद्धा अनुभवन्ति।

२५५—यो वंशीवटोऽयं साक्षाच्छिवोऽयम्। यो भण्डीरवटः स एव देवेन्द्र आसीत्।

२७२—इन्द्रोऽपि सखीरूपं विधाय देवाङ्गनाभिः सह विमानावलीषूपविश्य सदोपसेवमानो भवति।

२७३—ये तां व्रजेश्वरीं रसिकानन्देन सहोपासते सदानन्दरसमनुभवन्तो भवन्ति। रतिकलाकोमलां गुणगणानां कुर्वन्ति। तमेव रसं गायन्तो भवन्ति। अतिरतिमापद्यमाना भवन्ति। ये दर्भं हस्ते गृह्णन्ति ते तं रसं न प्राप्नुवन्ति।

२७५—गौ—गवां भेदो द्वावेव भवतः। संसिद्धाः साधनसिद्धाश्च। या गावो व्रजमण्डले तिष्ठन्ति ताः संसिद्धाः भवन्ति।...गवां यूथानि शतशो विराजमानानि अमृतरससंज्ञिता गावो भवन्ति।

२७६—रतिरस—व्रजमण्डलतन्मण्डलोद्भवा भक्ता आत्मरतिगुणा रतिगुणाढ्या अनन्यमार्गाढ्यास्तां लीलां प्राप्तवन्तस्तन्नामाङ्कितवर्माणः लसीकाष्ठाङ्कितदेहा आत्मनाम्ना सुखालङ्कृतशरीरा रासादिलीलाध्यानावस्थायामापद्यमाना युज्यन्ते। कुञ्जे निकुञ्जे श्रेण्यां श्रेण्यां रतियोग्यताभावमापद्यमाना भवन्ति। तामेव कथां प्रतिक्षणं नूतनामासेवमाना आसते। श्वपचो वा ब्राह्मणो वा वर्णान्तरो वा यो भक्तानां सह सङ्गमापद्यते स एव तां लीलां प्राप्तो भवति। रतिमासेविवान् यदि तदुच्छिष्टे कदाचिदन्नबुद्धिस्तेषामस्ति। तदुच्छिष्टे जले सदा तीर्थबुद्धिः भवति। तत्र तत्कथायां साक्षाद्बुद्धिर्भवति। ये मण्डलमुपासमानास्तेषां को धर्मः? किं कर्म? को रसो भवतितराम्। ये तन्मण्डलमुपासमानाः भवन्ति तेषां किं तीर्थव्रतयज्ञधर्माः सन्ति? किं बाध्यमानं भवेत्।

१. जीवको हि भृङ्गत्वं गच्छति। भृङ्गो भूत्वा षट्चक्राणि निर्भिन्द्यात्। परागभुग्भवेत्। —कालीमेधादीक्षितोपनिषत्। अप्रकाशिता उपनिषदः। मद्रास। १९३३। पृ० ४०४।)

तेषां मुख्यं मनो भवति। ये गुणाढ्या रसरूपिण आनन्दरसनिमग्नास्ते गुणतन्त्रागिनो भवन्ति। तन्मात्रप्राप्तमार्गोऽयं लोकः सदाण्डजो भवेत्। आत्मानन्दे मग्नासु ये रात्रौ दिवा व्रजध्यानापन्ना भवन्ति सदा तेषां नित्यं निकुञ्जदेव्या अनुग्रहो भवति। ये महालीलाया-मत्यासक्तास्तेषां कदाचित्कालधर्मभयं न भवत्येवेति सद्यः कृतार्थतोत्पद्यमाना भवति। अवर्णोऽपि सवर्णतां प्राप्नोति। ये न भवन्ति ते दुष्टगतयो भवन्ति। ये व्रजमण्डलोपासकास्ते व्रजे निवसन्ति।

सामरस्योपनिषत्[1]

हिन्दी

व्रज, राधा, रास

प्रारम्भ में रसिकानन्द पुरुष की लीलाएं अनादि और स्वयंसिद्ध होती हैं। यह अनादि पुरुष एक है। उसी रूप को दो बनाकर समाराधन में तत्पर हुए। इसलिये वेदज्ञ उस रसिकानन्दा को राधा कहते हैं। उससे ही यह आनन्दमय लोक है, जहाँ इस पुरुष का मन लगता है, वहीं यह रस गमन करता है। इसलिये लोक और वेद में (इसे) लीला कहते हैं। उसमें बारह उद्यान (वन) हैं। उनके पृथक् नाम हैं—तालवन, कुमुदवन, लोहवन, बकुलवन, भाण्डीरवन, महावन, गोष्ठ, काम्यवन, अरिष्ट, सदाशुभ, दधिवन और वृन्दावन। यह लोक सदा आनन्दमय है। और, वेदवित् इसका विवरण देते हैं। वहाँ वृन्दावन सभी इच्छाओं और सुखों का देनेवाला है। आधिदैविक देवगण ही वहाँ वृक्ष हैं। वहाँ साधनवट और भाण्डीरवट हैं। वहाँ वंशीवट और संकेतवट हैं। वहाँ कदम्बादि अन्य वृक्ष सुशोभित हैं। वहाँ रत्नखचित दोनों तटों के बीच यमुना हैं। वहाँ कुमुदवन सुशोभित है। वहाँ शोभा-सम्पन्न क्रीड़ा में निरत हंस और सारस के समूह हैं। उसके तटों पर करोड़ों कुञ्ज और निकुञ्ज सुशोभित हैं। उस मण्डल में यह गोवर्धनगिरि है। रत्नमय यह गिरि सुशोभित रहता है। यह गिरि श्रीराधिका का विहारस्थल है। वही यह पर्वत वृन्दावन में सदा रसिकानन्द का क्रीड़ा-स्थान बनता है। उस वन में पशुपक्षिगण आधि-दैविक[2] रूप में रहने के कारण सदा अनुभव[3] से पूर्ण रहते हैं। जो आधिदैविकी सृष्टि है, वही वृष्टि है। उसी में लोक को लोकता (सार्थकता) मिलती है। वह सृष्टि दो प्रकार की होती है—एक संसिद्धा (स्वभावसिद्ध) और दूसरी साधनसिद्धा (प्रयत्न द्वारा सिद्ध)। जो संसिद्धा है, वह उस निकुंजदेवी के अपने रूप से उत्पन्न होती है। जो साधन सिद्धा है, वह भक्तिमार्ग में एकाग्रता से होती है। भक्तगण उस लीला को उसी भाव से प्राप्त करते हैं। रसलीला की सामग्रियाँ रसलीला[4] के आधार में चतुर सखियाँ सखीसमूहों के साथ यौवनधन से पूर्ण अनेक कलाओं में निपुण रसभाव से पूर्ण होती हैं। इत्यादि········ उनमें तेजोमय और आनन्दमय रासमण्डल (अर्थात् समरस का रसमण्डल) उस राधिका के

---

१. इसका नाम सामरस्योपनिषत् होना चाहिये। मालूम होता है कि लेखक की भ्रान्ति से 'ह' आ गया है।

२. मन्दिरों पर बने हुए देव-गन्धर्व, पशु-पक्षियों की इससे तुलना कीजिये।

३. दिव्य भगवद्भावना।

४. समरस की रसलीला ही रासलीला है। यह भारत के सभी सम्प्रदाय को मान्य है।

सुख के लिये वृन्दा नामक सखी प्रस्तुत करती है ।..........वहाँ एक भ्रमर[१] देववाणी में, चतुरता से जहाँ मान होता है, राधिका के प्रति दूतत्व करता है ।

जो वेदोक्त कर्ममार्ग में रत रहते हैं, वे कदाचित् इस लीला को नहीं जानते हैं ।

रसिकानन्द के रूप का ध्यान सर्वदा निकुंजदेवी के साथ करना चाहिये । ये आनन्द-मात्र हैं, (इनके) हाथ पैर तेजोमय और अमृतमय हैं ।

क्योंकि प्रेमानन्द से नित्य आनन्दवाला यह लोक प्रकट होता है । रससाक्षी को प्रणाम ।

दूसरे कर्मोपासक उस लीला को स्वप्न में भी न देख सके ।

(आठों वसु) ओंकार के प्रकट होने के लीलारूप श्रीराधा और रसिकानन्द के रूप को प्राप्त कर मन को भाव में सराबोर कर उस लीला को गाने लगे ।

पृथिवी पर भारत-क्षेत्र में आनन्दमय लोक[२] प्रभु की लीला के लिये स्वयमेव प्रकट हुआ । उस व्रजलोक में सभी लीलाएँ होती हैं । जो संसिद्ध गोप-गोपियाँ हैं, वे आधि-दैविकी लीला अत्यन्त अनुभव करती हैं ।

यह जो वंशीवट है, वह साक्षात् शिव है । जो भाण्डीरवट है, वही इन्द्र था । इन्द्र भी सखी रूप धारण कर देवाङ्गनाओं के साथ विमानों पर बैठकर सदा सेवा में निरत रहते हैं ।

जो व्रजेश्वरी की रसिकानन्द-सहित उपासना करते हैं, वे सदा आनन्दरस अनुभव करते रहते हैं । रतिकला-जैसे कोमल गुणगणों की गणना (जप) करते हैं । उसी रस को गाते रहते हैं ।[३] अत्यन्त रति प्राप्त करते हैं । जो हाथ में कुश लेते हैं, वे उस रस को नहीं प्राप्त करते ।

गायों के दो भेद हैं—संसिद्धा और साधनसिद्धा । जो गायें व्रजमण्डल में रहती हैं, वे संसिद्ध हैं ।......सैकड़ों झुंडों में विराजमान गायों का नाम अमृतरस है ।[४]

उस व्रजमण्डल में उत्पन्न (परम) आत्मा से प्रेम करनेवाले भक्त हैं । यह (आत्मानुराग) रतिगुण है । वे और किसी मार्ग का अवलम्बन नहीं करते । लीला को प्राप्त कर उसके नाम से शरीर को अंकित कर तुलसी से शरीर को चिह्नित कर, आत्मा के नाम के सुख से शरीर को अंकित कर रास आदि लीला के ध्यान में निरत रहते हैं । कुञ्ज-कुञ्ज में, श्रेणी-श्रेणी में रतियोग्यता के भाव को प्राप्त करते हैं । प्रतिक्षण नूतन मालूम होनेवाली उसकी कथा को सुनते रहते हैं । डोम हो वा ब्राह्मण, वा किसी भी वर्ण का क्यों न हो, जो भक्तों की संगति में आ जाता है, वही उस लीला को प्राप्त करता है । जिसे प्रेम मिल गया है, उसके जूठे में कदाचित् ही अन्नबुद्धि होती है । उसके जूठे जल में सदा तीर्थबुद्धि होती है ।

१. भ्रमर सिद्ध जीव है । यही भ्रमरगीत का रहस्य है ।

२. भारत के सभी सम्प्रदाय और कादियान मुसलमान भी मानते हैं कि प्रभु की लीला-भूमि भारत है और यहीं सभी अवतार लेते हैं और अध्यात्म-विद्या के पैगम्बर पैदा होते हैं ।

३. गीतगोविन्द, विद्यापति, मीरा, सूर आदि को इस प्रसंग में स्मरण कीजिये ।

४. यह परम्परा वेद से आई मालूम होती है । वेद में गो का ज्योति और अमृत के अर्थ में प्रयोग हुआ है । 'प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥' ऋ० १.५.१९.१० 'सुन्दर यज्ञ में गो पीने के लिये आवाहन किया जा रहा है । अग्नि ! मरुद्गण के साथ आइये ।'

उसकी बातों में प्रत्यक्ष-जैसी बुद्धि होती है। जो मण्डल की उपासना में लगे रहते हैं, उनका क्या धर्म है, क्या कर्म है, और कौन रस अधिकतर होता है। जो उस मण्डल की उपासना में लगे रहते हैं, उनका तीर्थ, व्रत, यज्ञ, धर्म क्या है। क्या बाधक होता है। उनमें मुख्य मन है। जो गुणी रसरूपी आनन्दरस[१] में निमग्न हैं, वे उस गुण के भागी होते हैं। उसमें निमग्न हो जाने से इस लोक का मार्ग प्राप्त होता है। सदा पक्षी बना रहे? आत्मानन्द में मग्न जो दिन-रात व्रजध्यान में निमग्न रहते हैं, उन पर सदा निकुञ्जदेवी की कृपा होती है। जो महालीला में अत्यन्त आसक्त रहते हैं, उनको कभी काल और धर्म का भय नहीं होता है और अविलम्ब कृतार्थता उत्पन्न होती है। अवर्ण भी सवर्ण हो जाता है। जो नहीं होते हैं, वे कुकर्मी होते हैं। जो व्रजमण्डल के उपासक हैं, वे व्रज में रहते हैं।

७. काली

लक्ष्मीतन्त्र

महालक्ष्मीः समाख्याता साहं सर्वाङ्गसुन्दरी।
महाश्रीः सा महालक्ष्मीश्चण्डा चण्डी च चण्डिका॥
भद्रकाली तथा भद्रा काली दुर्गा महेश्वरी।
त्रिगुणा भगवत्पत्नी तथा भगवती परा॥
एताः संज्ञास्तथान्याश्च तत्र मे बहुधा स्मृताः।
विकारयोगादन्याश्च तास्ता वक्ष्याम्यशेषतः॥
लक्षयामि जगत्सर्वं पुण्यापुण्ये कृताकृते।
महनीया च सर्वत्र महालक्ष्मीः प्रकीर्त्तिताः॥
महाब्धिश्रयणीयत्वान्महाश्रीरिति गद्यते।
चण्डस्य दमिता चण्डी चण्डत्वाच्चण्डिका मता॥
कल्याणरूपा भद्रास्मि काली भद्रा प्रकीर्त्तिता।
कलात्सतां स्वरूपत्वादपि काली प्रकीर्त्तिता॥
सुहृदां च द्विषाञ्चैव युगपत्सदसद्भिमोः।
भद्रकाली समाख्याता मायाश्चयंगुणात्मिका॥
मायायोग इति ज्ञेया यज्ज्ञानाज्ञानयोर्नृणाम्।
पूर्णाषाड्गुण्यरूपत्वात्स्मृता चाहं परात्परा॥
शासनाच्छक्तिरूपाहं राज्ञ्यहं रञ्जनात्सताम्।
सदाशान्तविकारत्वाच्छान्ताहं परिकीर्त्तिता॥
मत्तः प्रक्रमते विश्वं प्रकृतिः सास्मि कीर्त्तिता।
श्रयन्ति ध्यायना चास्मि श्रृणोमि दुरितं सताम्॥
श्रृणोमि करुणां वाचं श्रृणोमि च गुणैर्जगत्।
शरणं सर्वभूतानां रमेऽहं सर्वकर्मणाम्॥

१. यही वेद का अमृतरस और सोमरस है। इसलिये विष्णु का नाम अमृतनाथ और सोमनाथ है।

ईडिता च सदा देवैः शरीरं चास्मि वैष्णवम् ।
एतान्मयि गुणान् दृष्ट्वा वेदवेदाङ्गपारगाः ॥
गुणयोगविधानज्ञाः श्रियं मां संप्रचक्षते ।
साऽहमेवंविधा नित्या सर्वाकारा सनातना ॥

जिसे सर्वाङ्गसुन्दरी (त्रिपुरसुन्दरी) कहा जाता है, वही मैं महालक्ष्मी हूँ। महाश्री, महालक्ष्मी, चण्डा, चण्डी, चण्डिका, भद्रकाली, भेदा, काली, दुर्गा, महेश्वरी, त्रिगुणा, भगवत्पत्नी, भगवती, परा तथा और भी मेरे बहुत-से नाम हैं। विकारयोग (परिवर्तनशील होने) के कारण जो और नाम हैं, उन्हें कहती हूँ। पुण्य-अपुण्य और कृत-अकृत में स्थित सारे जगत् की मैं रक्षा करती हूँ और सर्वत्र श्रेष्ठ (महनीय) होने के कारण महालक्ष्मी नाम है। महासागर में आश्रय ग्रहण करने के कारण मैं महाश्री कहलाती हूँ। भण्ड की दयिता होने के कारण भण्डी और भण्डत्व के कारण भण्डिका हूँ। मैं भद्रा अर्थात् कल्याणरूपा हूँ, इसलिये लोग भद्रकाली कहते हैं। कला (सृष्टि) को आत्मसात् करने और कलारूप (सृष्टि-रूप) होने के कारण काली कही जाती हूँ। मित्रों और शत्रुओं के सत्-असत्-रूप विभु (सर्वव्यापी) के आश्चर्य मायागुणयुक्त होने के कारण भी मैं भद्रकाली हूँ। मनुष्यों में उसके ज्ञान और अज्ञानरूप में वर्तमान रहने के कारण मैं योगमाया हूँ। पूर्ण षड्गुण (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, सौभाग्य, ज्ञान, वैराग्य) रूप होने के कारण मैं परात्परा हूँ। शासन करने के कारण मैं शक्ति हूँ। सज्जनों को प्रसन्न करने के कारण मैं राज्ञी हूँ। मुझ में सर्वदा विकारों के शान्त रहने के कारण मैं शान्ता हूँ। मुझ से विश्व का प्रक्रम (आरम्भ) होता है, इसलिये मैं प्रवृत्ति हूँ। मुझमें सबका आश्रय है, इसलिये मैं अयना हूँ। मैं सज्जनों की दुर्बलताओं पर ध्यान देती हूँ। मैं करुण वचन सुनती हूँ। गुणों द्वारा मैं जगत् (की बातें) सुनती हूँ। देवगण मेरी पूजा करते हैं। मैं ही विष्णु का शरीर हूँ। मुझमें इन गुणों को देखकर वेदवेदाङ्ग और गुणयोग के विधानों के जाननेवाले मुझे श्री कहते हैं। इस प्रकार की मैं नित्या, सर्वाकारा, और सनातना (सब दिन बनी रहनेवाली) हूँ।

८. गुह्यकाल्युपनिषत्[1]

अथर्ववेदमध्ये शाखा मुख्यतमा हि षट् ।
स्वयंभुवा याः कथिताः पुत्रायाथर्वणे पुरा ॥१॥
तासु गुह्योपनिषदस्तिष्ठन्ति वरवर्णिनि ।
नामानि शृणु शाखानां तत्राद्या वारतन्तवी ॥२॥
मौञ्जायनी द्वितीया तु तृतीया ताथांवैन्दवी ।
चतुर्थी शौनकी प्रोक्ता पञ्चमी पैप्पलादिका ॥३॥
षष्ठी सौमन्तवी ज्ञेया सारात् सारतमा इमाः ।
गुह्योपनिषदो गूढाः सन्ति शाखासु षट्स्वपि ॥४॥

---

१. इसमें काली-विग्रह के अन्तर्गत सिद्धान्त का विस्तृत विवरण दिया गया है।

ता एकीकृत्य सर्वास्तु मयाऽस्यां विनिवेशिताः ।
संहितायां साधकानामुद्धाराय वरानने ॥५॥
तास्ते वदामि यत्प्रोक्तं ध्यानं कुर्वन्ति देवताः ।
विराट्ध्यानं हि तज्ज्ञेयं महापातकनाशनम् ॥६॥
ब्रह्माण्डाद्बहिरूर्ध्वं हि महत्तत्त्वमहङ्कृतिः ।
रूपाणि पञ्च तन्मात्राः पुरुषः प्रकृतिर्नव ॥७॥
महापातालपादान्तलम्बा तस्या जयं स्मरेत् ।
ब्रह्माण्डार्धं कपालं हि शिरस्तस्या विभावयेत् ॥८॥
देवलोको ललाटं च षट्त्रिंशल्लक्षयोजनम् ।
मेरुः सीमन्तखण्डोऽस्या ब्रह्मरत्नसमाकुलः ॥९॥
अन्तर्वीथी नागवीथी भ्रुवावस्याः प्रकीर्त्तिते ।
शिवलोकश्च वैकुण्ठलोकः कर्णाविमौ मतौ ॥१०॥
लोहितं तिलकं ध्यायेन्नासा मन्दाकिनी तथा ।
चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ च पक्ष्माणि किरणास्तथा ॥११॥
गण्डौ स्यातां तपोलोकसत्यलोकौ यथाक्रमम् ।
जनोलोकमहर्लोकौ कपोलौ परिकीर्त्तितौ ॥१२॥
स्यातां हिमाद्रिकैलासौ तस्या देव्यास्तु कुण्डले ।
स्वर्लोकश्च भुवर्लोको देव्या ओष्ठाधरौ मतौ ॥१३
दिक्पतीनां ग्रहाणाञ्च लोकाश्चाथ रदावली ।
गन्धर्वसिद्धसाध्यानां पितृकिन्नररक्षसाम् ॥१४
पिशाचयक्षाप्सरसां मरीचीपायिनां तथा ।
विद्याधराणामाज्योष्मपाणां सोमैकपायिनाम् ॥१५
सप्तर्षीणां ध्रुवस्यापि लोका ऊर्ध्वरदावली ।
मुखं च रोदसी ज्ञेयं द्यौर्लोकश्चिबुकं तथा ॥१६
ब्रह्मलोको गलः प्रोक्तो वायवः प्राणरूपिणः ।
वनस्पतय ओषध्यो लोमानि परिचक्षते ॥१७
विद्युद्दृष्टिरहोरात्रं निमेषोन्मेषसंज्ञकम् ।
विश्वं तु हृदयं प्रोक्तं पृथिवी पाद उच्यते ॥१८
तलं तलातलं चैव पातालं सुतलं तथा ।
रसातलं नागलोकाः पादाङ्गुल्यः प्रकीर्तिताः ॥१९
वेदा वाचः स्यन्दमाना नदा नद्योऽमिता मता ।
कला काष्ठा मुहूर्त्ताश्च ऋतवोऽयनमेव च ॥२०
पक्षा मासास्तथा चाब्दाश्चत्वारोऽपि युगाः प्रिये ।
कफोर्मिमणिबन्धश्च तदूरुकटिबन्धनाः ॥२१

प्रपदाश्च स्फिचश्चैव सर्वाङ्गानि प्रचक्षते ।
वैश्वानरः कालमृत्युर्जिह्वात्रयमिदं स्मृतम् ॥२२
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तनुमस्याः प्रचक्षते ।
प्रलयो भोजने कालस्तृप्तिस्तेन च नासिका ॥२३
ज्ञेयः पार्श्वपरीवर्तो महाकल्पान्तरोद्भवः ।
विराड्रूपस्य ते ध्यानमिति संक्षेपतोऽर्पितम् ॥२४
तस्याः स्वरूपविज्ञानं सपर्या परिकीर्तिता ।
तदेव हि श्रुतिप्रोक्तमवधारय पार्वति ॥२५
यथोर्णनाभिः सूत्राणि सृजत्यपि गिलत्यपि ।
यथा पृथिव्यामोषध्यः सम्भवन्ति गिलन्त्यपि ॥२६
पुरुषात् केशलोमानि जायन्ते च चरन्त्यपि ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते तथा तस्यां जगत्यपि ॥२७
ज्वलतः पावकाद्यद्वत् स्फुलिङ्गाः कोटि कोटिशः ।
निर्गत्य च विनश्यन्ति विश्वं तस्यास्तथा प्रिये ॥२८
ऋचो यजूंषि सामानि दीक्षा यज्ञाः सदक्षिणाः ।
अध्वर्युर्यजमानश्च भुवनानि चतुर्दश ॥२९
ब्रह्मविष्ण्वादिका देवा मनुष्याः पशवो यतः ।
प्राणापानौ व्रीहयश्च सत्यं श्रद्धा विधिस्तव: ॥३०
समुद्रा गिरयो नद्यः सर्वे स्थावरजंगमाः ।
विसृज्येमानि सर्गादौ त्वं प्रकाशयसे ततः ॥३१
जङ्गमानि विधायाम्बे विशत्यप्रतिभूतकम् ।
नवद्वारं पुरं कृत्वा गवाक्षाणीन्द्रियाण्यपि ॥३२
सा पश्यत्यत्ति वहति स्पृशति क्रीडतीच्छति ।
शृणोति जिघ्रति तथा रमते विरमत्यति ॥३३
तया मुक्तं पुरं तद्धि मृतमित्यभिधीयते ॥३४
ये तपःक्षीणदोषास्ते नैव पश्यन्ति भाविताम् ।
ज्योतिर्मयीं शरीरेऽन्तर्ध्यायमानां महात्मभिः ॥३५
बृहच्चतद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्येत्स्विहैतन्निहितं गुहायाम् ॥३६
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्योगैर्नहि सा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तु तां पश्यति निष्कलां च ॥३७
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे गच्छन्त्यस्तं नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात् परां जगदम्बामुपैति ॥३८
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥३९

सैषैतत् ।

एषैवालम्बनं श्रेष्ठं सैषैवालम्बनं परम् ।
एषैवालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥४०
इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥४१
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषात्तु परा देवी सा काष्ठा सा परा गतिः ॥४२
यथोदकं गिरौ सृष्टं समुद्रेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तामेवानुविधावति ॥४३

एका गुह्या सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा या करोति ।
तामात्मस्थां येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥४४
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तामेव भान्तीमनुभाति सर्वं तस्या भासा सर्वमिदं विभाति ॥४५
यस्याः परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्या नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धा दिवि तिष्ठत्येका यदन्तःपूर्णामिवगत्य पूर्णाः ॥४६

सर्वाननशिरो ग्रीवा सर्वभूतगुहाशया ।
सर्वत्रस्था भगवती तस्मात् सर्वगता शिवा ॥४७
सर्वतः पाणिपादान्ता सर्वतोऽक्षिशिरोमुखा ।
सर्वतः श्रुतिमत्येषा सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥४८
सर्वेन्द्रियगुणाभासा सर्वेन्द्रियविवर्जिता ।
सर्वेषां प्रभुरीशानी सर्वेषां शरणं सुहृत् ॥४९
नवद्वारे पुरे देवी हंसी लीलायतां बहिः ।
ध्येया सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥५०

अपाणिपाद ! जननी ग्रहीत्री पश्यत्यचक्षुः सा शृणोत्यकर्णा ।
सा वेत्तिवेद्यं न च तस्यास्तु वेत्ता तमाहुरग्र्यां महतीं महीयसीं ॥५१
सा चैवाग्निः सा च सूर्यः सा च वायुः सा च चन्द्रमाः ।
सा चैवशुक्रः सा ब्रह्म सा चापः सा प्रजापतिः ।
सा चैव स्त्री सा च पुमान् सा कुमारः कुमारिका ॥५२

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्यां देवा अधिरुद्रा निषेदुः ।
यस्तां न वेद किमृचा करिष्यति ये तां विदुस्त इमे समासते ॥५३
छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
सर्वं देवी सृजते विश्वमेतत् तस्याश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥५४
मायां तु प्रकृतिं विद्यात् प्रभुं तस्या महेश्वरीम् ।
तस्या अवयवैः सूक्ष्मैर्व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥५५

या देवानां प्रभवाचोद्भवा च विश्वाधिपा सर्वभूतेषु गूढा।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं सानो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥५६

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं सलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्ट्रीमनेकाननाख्याम्।
विश्वस्य चैकां परिवेष्टयित्रीं ज्ञात्वा गुह्यां शान्तिमत्यन्तमेति ॥५७

सा ह्येव काले भुवनस्य गोप्त्री विश्वाधिपा सर्वभूतेषु गूढा।
यस्यां युक्ता ब्रह्मर्षयोऽपि देवा ज्ञात्वा तां मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥५८

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्म ज्ञात्वा कालीं सर्वभूतेषु गूढाम्।
कल्पान्ते वै सर्वसंहारकर्त्रीं ज्ञात्वा गुह्यां मुच्यते सर्वपापैः ॥५९

एषा देवी विश्वयोनिर्महात्मा सदा जनानां हृदि सन्निविष्टा।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्ता ये तां विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥६०

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासद्गुणत्येष गुह्या।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्याः प्रसृता परा सा ॥६१

नैनामूर्ध्वं न तिर्यक् च न मध्यं परिजग्रभत्।
न तस्याः प्रतिमाभिश्च तस्या नाम महद्यशः ॥६२

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्याः न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनाम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तां य एनांविदुरमृतास्ते भवन्ति ॥६३

भूयश्च सृष्ट्वा त्रिदशानथेशी सर्वाधिपत्यं कुरुते भवानी।
सर्वा दिशश्चोर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन्ती भ्राजते गुह्यकाली ॥६४

नैव स्त्री न पुमानेषा नैव चेयं नपुंसका।
यद्यच्छरीरमावृत्ते तेन तेनैव युज्यते ॥६५

धर्मावहां पापनुदां भगेशीं ज्ञात्वात्मस्थाममृतां विश्वमातरम्।
तामीश्वराणां परमां महेश्वरीं तां देवतानां परदेवतां च।
पतिं पतीनां परमां पुरस्तात् विद्यावतां गुह्यकालीं मनीषाम् ॥६६

तस्या न कार्यं करणं च विद्यते न तत्समा चाप्यधिका च दृश्यते।
परास्याः शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥६७

कश्चिन्न तस्याः पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव तस्याश्च लिङ्गम्।
सा कारणं कारणकारणाधिपा नास्याश्च कश्चिज्जनिता न चाधिपः।६८

एका देवी सर्वभूतेषु गूढा व्याप्नोत्येतत् सर्वभूतान्तरस्था।
कर्माध्यक्षा सर्वभूताधिवासा साक्षिण्येषा केवला निर्गुणा च ॥६९

वशिन्येका निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा या करोति।
नानारूपा दशवक्त्रं विधत्ते नानारूपान् याच बाहून् बिभर्ति ॥७०

नित्या नित्यानां चेतना चेतनानां एका बहूनां विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवीं मुच्यते सर्वपाशैः ॥७१

या वै विष्णुं पालने संनियुंक्ते रुद्रं देवं संहृतौ चापि गुह्या।
तां वै देवीमात्मबुद्धिप्रकाशां मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥७२

निष्कलां निष्क्रियां शान्तां निरवद्यां निरञ्जनाम् ।
ब्रह्मानन्दकरां देवीं गुह्यामेकां समाश्रये ॥७३
इयं हि गुह्योपनिषत् सुगूढा यस्या ब्रह्मा देवता विश्वयोनिः ।
एतां जपंश्चाप्यहं भक्तियुक्तः सत्यं स थं ह्यमृतः संबभूव ॥७४
वेदवेदान्तयोगुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नाशिष्याय च वै पुनः ॥७५
यस्य देव्यां पराभक्तिर्यथा देव्यां तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥७६॥

महाकाल उवाच—

गुह्योपनिषदित्येषा गोप्यात्गोप्यतरा सदा ।
चतुर्भ्यश्चापि वेदेभ्य एकीकृत्यात्र योजिता ॥७७॥
उपदिष्टा च सर्गादौ सर्वानेव दिवौकसः ।
एवंविधं च यद्ध्यानमेवं रूपं च कीर्तितम् ॥७८॥
सा सपर्या परिज्ञेया विधानमधुना शृणु ।
साहमस्मीति प्रथमं सोहमस्मि द्वितीयकम् ॥७९॥
तदस्म्यहं तृतीयं च महावाक्यत्रयं भवेत् ।
आद्यान्येतानि वाक्यानि छन्दांसि परिचक्षते ॥८०॥
देवता गुह्यकाली च रजःसत्त्वतमोगुणाः
सर्वेषां प्रणवो बीजं हंसः शक्तिः प्रकीर्तिता ॥८१॥
मकारश्चाप्यकारश्च ह्युकारश्चेति कीलकम् ।
एभिर्वाक्यत्रयैः सर्वं कर्म प्रोतं विधानतः ॥८२॥
अनुचर्यां जपंश्चैव निश्चयः परिकीर्तितः ।
द्वितीयोपासकानां हि परिपाटीयमीरिता ॥८३॥
एवं चाप्यातुरो यस्तु मनुष्यो भक्तिभावितः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः कैवल्यायोपकल्पते ।
सर्वाभिः सिद्धिभिस्तस्य किं कार्यं कमलानने ॥
इति श्रीमहाकालसंहितायां गुह्यकाल्युपनिषत् समाप्ता ।

गुह्यकाली-उपनिषत्

अथर्ववेद में छः मुख्य शाखाएँ हैं, जिन्हें पुराकाल में ब्रह्माने अपने पुत्र अथर्वण से कहा ।१। हे सुन्दरि ! उनमें गुह्योपनिषदें हैं । उन शाखाओं का नाम सुनिये ।२। उनमें प्रथम है कारतन्तवी, द्वितीय है मौञ्जायनी, तृतीय तार्णबैन्दवी, चतुर्थ शौनकी, पञ्चम पैप्पलादि और छठी सौमन्तवी जाननी चाहिये । ये सार के भी सार हैं । छहों शाखाओं में गोपनीय उपनिषदें हैं ।४-५। हे सुन्दरि साधकों के उद्धार के लिये उन

सब को मैंने संहिता के रूप में एकत्र कर दिया है।५। उन्हे मैं तुम्हें कहता हूँ। जा कहा गया है देवगण उसका ध्यान करते हैं। उसे विराट् ध्यान जानना चाहिये। यह बड़े-बड़े पातकों का नाश करने वाला है।६। ब्रह्माण्ड से बाहर ऊपर महत्तत्व, अहंकार, रूप, पञ्चतन्मात्रा, पुरुष और नौ प्रकृति हैं।७। महापाताल तक फैले हुए उसके पैर को जय (?) जानना चाहिये। कपाल-जैसे आधे ब्रह्माण्ड को उसका शिर जानना चाहिये।८। छत्तीस लाख योजनों का देवलोक उसका ललाट है। रत्नों जैसे ग्रहों से भरा हुआ मेरु इसके मस्तक की मांग (सीमन्त) है।९। अन्तर्वीथी और नागवीथी, ये दोनों उसकी भौंहें हैं। शिवलोक और वैकुण्ठ इसके दोनो कान हैं।१०। तिलक लोहित (ब्रह्मपुत्र), नाक मन्दाकिनी, आंखें चन्द्रसूर्य और किरणें पपनी (पलकों के बाल) हैं।११। तपलोक और सत्य लोक दोनों क्रमशः गण्डस्थल और जनलोक तथा महर्लोक कपोल हैं।१२। हिमाद्रि और कैलास देवी के दोनों कुण्डल हैं। स्वर्लोक और भुवर्लोक देवी के ओष्ठ और अधर हैं।१३। दिक्पालों और ग्रहों के लोक दांत हैं। गन्धर्व, सिद्ध, साध्य, पितृ, किन्नर, राक्षस, पिशाच, यज्ञ, अप्सरा, मरीची, यायी (?) विद्याधर, आज्यपा, सोमपा, सप्तर्षि, ध्रुव, इनके लोक ऊपर के दांत हैं। पृथ्वी और आकाश के बीच का शून्य (रोदसी) इनका मुख है तथा द्युलोक चिबुक है।१४-१६। ब्रह्मलोक गला है और वायु प्राण हैं, वनस्पति और ओषधि रोम हैं।१७। बिजली दृष्टि है और दिन रात निमेष और उन्मेष हैं। विश्व हृदय है और पृथ्वी चरण है।१८। तल, तलातल, पाताल, सुतल, रसातल तथा नागलोक पैर की अंगुलियाँ हैं।१९। वेद उनके वचन हैं, वहते हुए असंख्य नद-नदी, वेद और वाक् हैं। कला, काष्ठा, मुहूर्त, ऋतु, अयन पक्ष मास वर्ष, चारो युग उनकी कफोनि (केहुनी), मणिबन्ध (कलाई) उरु, कटिबन्ध, प्रपद (पैर का अग्रभाग) नितम्ब और सभी अङ्ग हैं। अग्नि, काल और मृत्यु इनकी जिह्वा हैं।२०-२२। तृण से लेकर ब्रह्मा तक इनका शरीर कहा जाता है। प्रलय काल भोजन और उससे तृप्ति नाक है।२३। करवट बदलना महाकल्पान्त है। आप के विराट्-रूप का यह ध्यान संक्षेप में अर्पण में किया गया।२४। उनके स्वरूप के ज्ञान का नाम पूजा है। पार्वति ! इसे वेदोक्त समझिये।२५। जिस-तरह मकड़ा अपने सूतों का उत्पन्न करता है और निगल जाता है, जिस तरह पृथ्वी पर औषधियाँ उत्पन्न होतीं और उसमें विलीन होती हैं, मनुष्यों के शरीर पर केश-लोम उगते हैं और झड़ते हैं उसी तरह उस (काली) में और संसार में उत्पन्न और बिलीन होते रहते हैं। २६,२७। धधकती हुई आग से जिसप्रकार करोड़ों चिनगारियाँ निकल कर विनष्ट हो जाती हैं, हे प्रिये ! विश्व भी इसी प्रकार निकल कर (लीन होता रहता है)। २८। ऋक्, यजुः, साम, दीक्षा, दक्षिणावाले यज्ञ, अध्वर्यु (परोहित) यजमान, चौदहों भुवन, ब्रह्मा, विष्णु आदि देव, मनुष्य, पशु, प्राण, अपान, अन्न सत्य, श्रद्धा, विधि, तप, समुद्र, गिरि, नदी, सभी स्थावर और जंगम—इन सब की सृष्टि के आदि में रचना करके तुम प्रकाशित होती हो। २९-३१। तमोगुण से पूर्ण जंगम की सृष्टि कर चेतन (अप्रतिभूतक ?) में प्रवेश करती हो। नौ द्वार वाला पुर (शरीर) बनाकर और

झरोखों की जगह इन्द्रियों को बनाकर वह देखती खाती, ढोती, छूती, खेलती इच्छा करती, सूंघती, विहार तथा विश्राम करती है। ३३। उसके छोड़े हुए पुर (गृह) को मरा हुआ, कहा जाता है। ३४। महात्मागण जिसका शरीर के भीतर ध्यान करते हैं उस भावमयी और ज्योतिर्मयी को, तप से जिनके दोष नष्ट हो गये हैं वे भी नहीं देख सकते हैं। ३५। वह रूप अचिन्त्य, दिव्य और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप में वर्तमान है। दूर-से-दूर इस संसार में जो कुछ है उसे गुहा में पड़ा हुआ देखे। ३६। चक्षु वा वाक् द्वारा उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता, न अन्य योग से और न कर्म से। ज्ञान की कृपा से जिसका सत्त्व शुद्ध हो जाता है वह उस निष्कल (निराकार) को देखता है। ३७। जिस तरह बहती हुई नदियाँ समुद्र में जाकर नाम-रूप खो देती हैं, उसी तरह विद्वान् नाम-रूप खोकर कारण के भी कारण (परात् पराम्) जगदम्बा को प्राप्त करता है।३८। सभी वेद जिस पद को मानते हैं, सभी तप जिसका बखान करते हैं, जिसको पाने की इच्छा से ब्रह्मचर्य धारण किया जाता है उस पद को संक्षिप्त रूप से मैं तुम्हें कहता हूँ। ३९। वही यह है। यही देवी सबसे श्रेष्ठ अवलम्ब है, यही आदि कारण रूप अवलम्ब है, इसी का अवलम्ब जानकर ब्रह्मलोक में महः रूप (ब्रह्म रूप) प्राप्त किया जाता है। ४० इन्द्रियों से बढ़कर विषय हैं, विषय का कारण मन है, मन का कारण बुद्धि, बुद्धि का आत्मा और सबका कारण महान् है। ४१। महत् का कारण अव्यक्त, और अव्यक्त का पुरुष है। पुरुष का कारण देवी है। वह अन्तिम गति और स्थिति है। ४२। जिस तरह पर्वत पर उत्पन्न जल वह कर समुद्र में चला जाता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न दिखाई पड़नेवाले धर्म उसी की ओर जाते हैं। ४३। एक छिपी हुई सभी जीवों का अन्तरात्मा है, जो एक रूप को अनेक बना देती है। जो धीर आत्मा में उसे देखते हैं उन्हीं को चिरन्तन सुख मिलता है औरों को नहीं। ४४। न वहाँ सूर्य चमकता है न तारा और न बिजलियाँ, और यह अग्नि कहाँ! उसके प्रकाशित होने से ही सभी प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से ये सभी प्रकाशित होते हैं। ४५। जिसका कारण और अकारण (पर-अपर) कुछ भी नहीं है, जिससे छोटा और बड़ा कुछ नहीं है, वह वृक्ष की तरह अकेली निश्चल (स्तब्ध) शून्य (दिवि) में खड़ी है। सब के भीतर भरी हुई उसको जानकर (ज्ञाता) पूर्ण हो जाता है। ४६। उसके मुख, मस्तक और कंठ सर्वत्र हैं। यह सभी जीवों के भीतर वर्तमान है। भगवती सर्वत्र हैं। इसलिये शिवा सर्वगता है। ४७। इसके हाथ पैर सर्वत्र फैले हुए हैं, इसकी आँखें, शिर और मुख सर्वत्र हैं, इसके कान सर्वत्र हैं, यह सबको ढंक कर पड़ी हुई है। इसके कोई इन्द्रिय नहीं है किन्तु सभी इन्द्रियों के गुण इसमें हैं, ईशानी सब की स्वामिनी है, सब की रक्षा करनेवाली और सुहृत् है। ४८,४९। नौ द्वार वाले पुर में आत्मा हंसी बाहर लीला करती रहती है। वह स्थावर जंगम और सभी लोकों के ध्यान करने की वस्तु है। ५०। माता हस्तपादादि से रहित है, किन्तु ग्रास कर लेनेवाली है, आँख नहीं रहने पर भी देखता है और कान नहीं रहने पर भी सुनती है। वह जानने योग्य वस्तु को जानती है, उसको जानने वाला कोई नहीं है और उसे लोग सबसे प्रधान, महती और सबसे बड़ी कहते हैं। ५१ वही अग्नि है, वायु है, सूर्य है और चन्द्रमा है। वही

ब्रह्म आप[1] और प्रजापति है, वही स्त्री-पुरुष, कुमार और कुमारिका है। ५२। वह ऋक्, अक्षर, परमे व्योम है जिसमें रुद्र तक सभी देवता अवस्थित हैं। जो उसको नहीं जानता है वह ऋक् से क्या करेगा। जो उसे जानते हैं उनका इसमें निवास होता है।५३। छन्द, यज्ञ, ऋतु, व्रत, भूत, भविष्य, जिसका वेद बखान करते हैं—उन सभी को और इस सारे विश्व को बनाती है। उसकी माया से और लोग बंधे हुए हैं।२४। माया को उस महेश्वरी की प्रकृति और (सब की) स्वामिनी जानना चाहिये। इसके सूक्ष्म अवयवों से यह सारा जगत् व्याप्त है।५५। जो देवताओं की उत्पत्ति और विकास-स्थान है, जो सृष्टि की स्वामिनी और सब जीवों में छिपी है, जिसने पहिले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया, वह हमें शुभ बुद्धि से मिला दे।५६। जल[1] के बीच, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, विश्व की सृष्टि करने वाली, अनेकों मुख वाली, एक, संसार को (अपने भीतर) घेरकर रखने वाली, गुप्तरूपिणी को जानकर अत्यन्त शान्ति[2] प्राप्त होती है।५०। वह विश्वस्वामिनी जो सभी जीवों में छिपी हुई और समय पर भुवन की रक्षा करती है, जिसमें देवगण और मुक्त ब्रह्मर्षि भी स्थिर हैं उसे जान कर लोग मृत्यु का बन्धन काट डालते हैं।५८। जो घृत[3] का भी कारण और मण्ड (सार) की तरह सूक्ष्म है, जो सब जीवों में छिपी हुई है और जो कल्पान्त में सब का संहार करती है उस गुह्या काली को जानकर लोग सब पापों से छूट जाते हैं।५९। बृहत् आत्मारूप यह देवी विश्व का उत्पत्ति-स्थान है और सदा लोगों के हृदय में स्थान किये रहती है। हृदय से चिन्तन से और मन से (भावनाओं का) निर्माण करके जो उसे जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं।६०। जब तम, दिवारत्रि सत्-असत् कुछ नहीं था तब केवल यह गुह्या भगवती थी। यह अक्षर है, यह सविता का वरेण्य (रूप) है, उसकी प्रज्ञा (सृष्टि कल्पना) फैली हुई है। वह (सब का) कारण है।६१। न ऊपर न तिरछे, न वीच में, न प्रतिमा द्वारा यह ग्रहण की जा सकती है। इस देवी का नाम महद्यश (?) है।६२। दृष्टि के सामने इसका रूप नहीं ठहरता है, आंख से इसे कोई देख नहीं सकता। हृदय, बुद्धि और मन से कल्पित इसे जो जान लेते हैं वे अमृत (आनन्द-स्वरूप) बन जाते हैं।६३। फिर देवताओं की सृष्टि कर ईशी भवानी सब पर शासन करती है। ऊपर, नीचे, तिरछे सभी दिशाओं को प्रकाशित करती हुई गुह्यकाली सुशोभित है।६४। यह न स्त्री न पुरुष और न नपुंसक है। जो-जो शरीर धारण करती है उसी से उसका सम्बन्ध हो जाता है।६५। धर्म की वृद्धि और पाप का नाश करने वाली, ऐश्वर्य की स्वामिनी, आत्मा में निवास करने वाली, अमृत रूपिणी, विश्वमाता, ईश्वरों की भी परम महेश्वरी, देवताओं की भी पर-देवता, ईश्वरों की भी अधीश्वरी, सबसे परमा, ज्ञानियों की गुह्यकाली और बुद्धिरूपिणी का न कोई कर्तव्य है और न कोई साधन है। उसके समान और उससे अधिक कोई नहीं दिखाई पड़ता है। किन्तु

---

१. यह अशेषकारण और तेजःस्वरूप वेद का जल है, जिसे पुराणों में नारा कहा गया है।
२. इसी का नाम निर्वाण है।
३. यह वेद का घृत है। इस शब्द का प्रयोग वेद में तेज के अर्थ में होता है।
४. इसे सृष्टिसूक्ति से मिला कर पढ़िये। वेद प्रकरण में इसकी चर्चा की गई है।

इसकी ज्ञान, बल क्रिया आदि नाना प्रकार की स्वभाविकी शक्ति सुनी जाती है ।६६,६७। सृष्टि में उसका पति कोई नहीं है, न ईश्वरत्व है और न उसका कोई लिङ्ग (रूप) है। वह कारण है, कारणों के भी कारणों की अधीश्वरी है। इसका न कोई उत्पन्न करनेवाला और न कोई स्वामी है ।६८। एक देवी सब जीवों में छिपी हुई है। सभी तत्त्वों के भीतर रहकर इसमें (सृष्टि में) व्याप्त है। सब तत्त्वों में निवास करनेवाली, कर्मों की अध्यक्षा, साक्षिणी, केवला[1] और निर्गुणा है ।६९। जो बहुत-सी क्रियाओं में अशक्त है, उनको वश में रखनेवाली है, एक बीज को अनेक रूप देनेवाली है। इसके नानारूप और दश मुख हैं और अनेक प्रकार की इसकी बाहें हैं ।७०। यह नित्यों (अविनाशियों) की भी नित्य है, अर्थात् उन्हें स्थिति देती है। चेतनों की चेतना है, बहुतों की एक है और इच्छाओं का विधान करती है। सांख्य-योग से उस देवी के कारण को जानने से सब बन्धन छूट जाते हैं ।७१। जो गुह्या विष्णु को पालन और रुद्र को संहार कार्य में नियुक्त करती है, आत्मबोध-रूपी प्रकाशवाली उस देवी का, मोक्ष की इच्छा से, मैं शरणापन्न हूँ ।७२। निष्कला, निष्क्रिया, शान्ता, निर्दोष, निर्मला, बहुत हाथ और मुखवाली गुह्या देवी का मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ।७३। यह गुप्त गुह्योपनिषत् है, जिसके ब्रह्मा (ऋषि) और विश्वयोनि देवता हैं। भक्तिपूर्वक इसका नित्य जप करनेवाला अमृत हो गया, यह सत्य और सर्वथा सत्य है ।७४। वेद और वेदान्त में छिपा हुआ यह प्राचीन काल में प्रकट किया गया। जो शान्त और आज्ञाकारी (शिष्य) न हो, उसे न देना चाहिये ।७५। जिसकी देवी में और देवी की तरह गुरु में परम भक्ति है, ये कहे हुए विषय उन्हीं महात्माओं में प्रकाशित होते हैं ।७६। महाकाल ने कहा—यह गुह्योपनिषत् सर्वदा गोप्य से भी गोप्य है। चारो वेदों से एकत्र करके इसकी योजना की गई है ।७७। सृष्टि के आदि में सभी देवताओं को इसका उपदेश किया गया और कहा गया कि इसका ध्यान इस प्रकार है और रूप इस प्रकार है ।७८। उस पूजा को जान लेना चाहिये। अब विधान सुनो। 'साहमस्मि' पहिला है, 'सोऽहमस्मि' यह दूसरा है, 'तदहमस्मि' यह तीसरा है। ये तीनों महावाक्य हैं। प्रथम इन तीनों वाक्यों को छन्द (वेद) कहते हैं ।७९,८०। देवता गुह्यकाली हैं, रज, सत्त्व और तम तीन गुण हैं। सब का बीज प्रणव है और हंस शक्ति है ।८२। मकार, अकार और उकार कीलक हैं। इन्ही तीनों वाक्यों से सभी कर्मों का विधान किया गया है ।८२। अनुक्षण (प्रत्येक क्षण में) जप ही निश्चय (संकल्प) है ।८३। इस प्रकार जो मनुष्य भक्तिभाव से आतुर और सब पापों से विमुक्त है, वह कैवल्य की कल्पना कर सकता है। हे कमलानने ! सब सिद्धियाँ लेकर वह क्या करेगा ।८४।

महाकालसंहिता की यह गुह्यकाली-उपनिषत् समाप्त हुई।

१. जैन 'केवलतत्त्व' को मानते हैं।

६. नियतिनृत्यवर्णनम्[1]

ईश्वर उवाच

इत्यादिकानां शब्दानामर्थश्रीः शब्दरूपिणि ।
तस्मिन्सर्वेश्वरे सर्वसत्तामणिसमुद्गके ॥१॥
का नाम विमलाभासस्तस्मिन्परमचिन्मणौ ।
न कचन्ति विचिन्वन्ति विचित्राणि जगन्ति याः ॥२॥
एषा बीजकणान्तःस्था चित्सत्ता स्ववपुर्मयम् ।
लब्ध्वा मृत्कालवार्यादि करोत्यङ्कुरमोदनम् ॥३॥
फेनावर्तविवर्तान्तर्वर्तिनी रसरूपिणी ।
कठिनेन्द्रियसम्बन्धे करोति स्पन्दमम्भसाम् ॥४॥
एषा कुसुमगुच्छेषु रसरूपेण संस्थिता ।
कचति घ्राणरन्ध्रेषु करोति परिफुल्लताम् ॥५॥
शिलाङ्गस्था शिलाङ्गाभामसतीं [illegible]म् ।
सर्गाधारवृशां धत्ते गिरीन्द्रः स्थितिलीलया ॥६॥
पवनस्पन्दकोशात्मरूपिणीव त्वगिन्द्रियम् ।
संलाययत्यात्मसुतं पितेवात्मतयानया ॥७॥
अशेषसारसंपिण्डमध्यात्मानं स्वसिद्धये ।
भावयित्वा न किञ्चित्त्वमिव सत्वं करोत्यलम् ॥८॥
स्वसत्ताप्रतिबिम्बाभमाकाशमुकुरोदरे ।
धत्ते कल्पनिमेषाङ्कं कालाख्यममलं वपुः ॥९॥
आमहापद्ममेशानं परिणाममया इमे ।
इदमित्थमिदं नेति नियतिर्भवति स्वयम् ॥१०॥
साक्षिणि स्फार आभासे गृहे दीप इव क्रियाः ।
सत्ये तस्मिन्प्रकाशन्ते जगच्चित्रपरम्पराः ॥११॥
परमाकाशनगरनाट्यमण्डपभूमिषु ।
स्वशक्तिनृत्तं संसारं पश्यन्ती साक्षिवत्स्थिता ॥१२॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

शिवस्यास्य जगन्नाथ शक्तयः काः कथं स्थिताः ।
साक्षिता का च किं तासां नृत्तं स्यात्किमदेव तत् ॥१३॥

१. योगवासिष्ठ । निर्णयसागर । बम्बई । शाकः १९५९ । सन् १९३७ । निर्वाणप्रकरण पूर्वार्ध । सर्ग ३७ ।

ईश्वर उवाच

अप्रमेयस्य शान्तस्य शिवस्य परमात्मनः ।
सौम्य चिन्मात्ररूपस्य सर्वस्यानाकृतेरपि ॥१४॥
इच्छासत्ता व्योमसत्ता कालसत्ता तथैव च ।
तथा नियतिसत्ता च महासत्ता च सुव्रत ॥१५॥
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्तृताऽकर्तृतापि च ।
इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नास्ति शिवात्मनः ॥१६॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

शक्तयः कुत एवैता बहुत्वं कथमासु च ।
उदयश्च कथं देव भेदाभेदश्च कीदृशः ॥१७॥

ईश्वर उवाच

शिवस्यानन्तरूपस्य सैषा चिन्मात्रतात्मनः ।
एषा हि शक्तिरित्युक्ता तस्मान्द्रिन्ना मनागपि ॥१८॥
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वादिविभावनात् ।
शक्तयो विविधं रूपं धारयन्ति बहूदकम् ॥१९॥
एवं जगति नृत्यन्ति ब्रह्माण्डे नृत्यमण्डपे ।
कालेन नर्तकेनेव क्रमेण परिशिक्षिताः नटाइव ॥२०॥
यैषा परपराभासा सैषा नियतिरुच्यते ।
क्रियाथ कृतिरिच्छा वा कालेत्यादि कृताभिधा ॥२१॥
आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमितिस्थितेः ।
आतृणापन्नजस्पन्दं नियमान्नियतिः स्मृता ॥२२॥
नियतिर्नित्य[illegible] गर्वर्जिताऽपरिमार्जिता ।
एषा नृत्यति वै नित्यं जगज्जालकनाटकम् ॥२३॥
नानारसविलासाढ्यं विवर्ताभिनयान्वितम् ।
कल्पक्षयाहतानेक पुष्करावर्तघर्घरम् ॥२४॥
सर्वर्तुकुसुमाकीर्णं धारागोलकमन्दिरम् ।
भूयोभूयः पतद्वर्ष[illegible]रिस्वेदजलोत्करम् ॥२५॥
पयोदपल्लवालोल नीलाम्बरकृतभ्रमम् ।
पूर्णं संशुद्धससाब्धिरत्नौघवलयाकुलम् ॥२६॥
[illegible]ताम्बरम् ।
मज्जनोन्मज्जनव्यग्रकुलाद्रिकुलशेखरम् ॥२७॥
भ्रमच्छशिमणिप्रोतगङ्गामुक्ताफलत्रयम् ।
सं[illegible]ध्याभ्रवेल्लोलकरपल्लवम् ॥२८॥

अनारतरयाल्लोलल्लोकालङ्कारकोमलम् ।
भूरिभूतलपातालनमस्तलपवक्रमम् ॥२९॥
मग्नोन्मग्नमहानेकताराधर्मकणोत्करम् ।
चन्द्रार्ककुण्डलस्पन्दस्मितस्फुटनमोमुखम् ॥३०॥
कल्पितानेकब्रह्माण्डकपाटकवितानकम् ।
लुठल्लोकान्तरव्यूहध्वनन्मुक्ताङ्कपल्लवम् ॥
सुखदुःखदशाशेषभावाभावरसान्तरम् ॥३१॥
अस्मिन्विकारवलिते नियतेर्विलासे संसारनाम्नि चिरनाटकनाट्यसारे ।
साक्षी सदोदितवपुः परमेश्वरोऽयमेकः स्थितो न च तथा न च तेन भिन्नः ॥३२॥

जिसके भीतर ही सब कुछ है[1], जिससे सब कुछ निकला है, जो सब कुछ और सर्वत्र है, जो सर्वमय और नित्य है उस सर्वात्मा को नमः। इत्यादि (पूर्वाध्याय में कथित) सर्वेश्वर, सर्वसत्तारूपी मणि की पिटारी तथा परम चित् (चेतना) मणि में (पूर्वोक्त) शब्दों की अर्थश्री, सत्य जैसी दीखनेवाली वे कौन-सी शक्तियाँ हैं, जो संसार की विचित्रताओं को रोपती रहती हैं, किन्तु स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होतीं (विमलाभासाः न कचन्ति)। १,२। यह चित् सत्ता (अस्तित्ववाली, सर्वदा वर्तमान रहनेवाली शक्ति) बीजों के कणों के भीतर रहकर मिट्टी, समय और जलादि पाकर अपने शरीर से ही अंकुर से लेकर भोजन (भात) तक बनाती रहती है।३। रस (जल) के रूप में फेन, आवर्त और विवर्त के भीतर रहकर पत्थर (कठिनेन्द्रिय) इत्यादि के योग से जल में स्पन्द (गति) उत्पन्न करती है।५। जिस तरह प्रतिमा में शक्ति के निवास की सत्यता का बोध होता है, उसी प्रकार पर्वत इन वस्तुओं के उत्पन्न होने का आधार बना रहता है, उसी तरह उत्पत्ति की सम्भावनावाली सारी सृष्टि का यह आधार है।६। ममत्व से पिता जिस प्रकार पुत्र को कर्म में प्रवर्तित करता है, उसी प्रकार पवन की गति का आधार रहकर यह ममता से त्वक् (स्पर्शशक्तिवाली) इन्द्रिय को प्रवर्तित रखती है।७। तत्त्वज्ञान के लिये जगत की अशेष सत्ता के घनीभूत सार आत्मा की भावना करने में (यह भी नहीं, वह भी नहीं) कुछ भी नहीं इस तरह की भावना से शून्यता की ओर प्रवृत्त होता है।८। आकाश-मुकुर के भीतर अपनी सत्ता के प्रतिबिम्ब की तरह सृष्टि-कल्पना के निमेष के चिह्न की तरह काल नामक निर्मल शरीर धारण करती है।९। ईशानपर्यन्त ये पञ्चब्रह्म (काल के) परिणाम (परिपक्व वा प्रवृद्ध) रूप हैं। स्वयं नियति (नियन्त्रण करनेवाली, सर्वकार्यव्यवस्थापिका मूलशक्ति) यह, ऐसा यह नहीं, इत्यादि रूप बन जाती है।१०। घर में दीप की तरह धुँधले आभास की यह साक्षी है। उस सत्य पर संसार चित्रों की तरह प्रकट होता है।११। परमाकाश नगर के नाट्यमण्डप-मञ्च पर अपनी शक्तियों से घिरे हुए संसार को देखती हुई यह साक्षी की तरह स्थित है।१२। श्रीवसिष्ठ ने कहा— हे जगन्नाथ ! शिव की कौन-सी शक्तियाँ किस प्रकार स्थित हैं, उनमें

---

१. यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ यो० नि० प्रकरण। पूर्वार्द्ध। सर्ग ३६. १८।

साक्षिता क्या है और उनकी वृत्तियाँ कितनी हैं।१३। ईश्वर ने कहा—हे सौम्य ! हे सुव्रत ! अप्रमेय, शान्त, परमात्मा, किसी का रूप न होने पर भी चिन्मात्ररूप, शिवरूप, शिव की इच्छाशक्ति, व्योमशक्ति, कालशक्ति, नियतिशक्ति, महाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, कर्तृता (प्रवृत्ति), अकर्तृता (निवृत्ति), इत्यादि शक्तियों का अन्त नहीं है।१६। श्रीवसिष्ठ ने कहा—ये शक्तियाँ कहाँ से आती हैं। ये बहुत-सी क्यों हैं। इनका विकास कैसे होता है। यह कैसा है कि भिन्न रहने पर भी ये भिन्न नहीं हैं।१७। ईश्वर ने कहा—अनन्तरूपवाले शिव की यह अपनी चेतना (चित्) मात्र है। इसी का नाम शक्ति है। इसलिये कल्पना द्वारा (मनाक्) यह भिन्न भी मालूम होती है (वस्तुतः भिन्न नहीं है)।१८। ज्ञानरूप (ज्ञत्व), क्रियारूप (कर्तृत्व), आनन्दरूप (भोक्तृत्व) साक्षिरूप आदि कल्पना (विभावना) करने से जल के बहुत-से (तरंग, फेन, बुद्बुद, झरना, तालाब, सागर इत्यादि) रूप की तरह शक्तियाँ नाना प्रकार के रूप धारण करती हैं।१६। ब्रह्माण्ड-नृत्यमण्डप में कालनर्तक से क्रमशः परिशिक्षित होकर संसार में ये नृत्य करती हैं।२०। इनका जो पर, से भी पर अर्थात् आदि रूप है उसी को नियति मूल-शक्ति) कहते हैं। क्रिया, कृति, इच्छा, काल इत्यादि भी उसके नाम हैं।२१। आरम्भ से महारुद्र तक इदं[1] यह और इत्थं[2] इस प्रकार है। तृण से ब्रह्मा तक स्पन्दन का नियन्त्रण करने के कारण इसका नाम नियति है।२२। नियति नित्य है, उद्वेगवर्जित और अपरिमार्जित है।[3] यह संसार के जंजाल का नृत्य करती रहती है।२३। इसमें नाना प्रकार के रस हैं। इसमें चक्राकार घूमने (विवर्त) का अभिनय है। नृत्य के समाप्तिकाल (कल्पक्षण) में अनेक पुष्कर और आवर्त[4] (प्रलयकालीन महामेघ) का घोरनाद ताल है।२४। सभी ऋतु के फूल (इस महानृत्यशाला में) बिखरे रहते हैं। ब्रह्माण्ड धारागृह है, जिसमें मेघों की धारा यन्त्रधारा है। बारम्बार की जलवृष्टि (इस नर्तकी के) पसीने की बूँदें हैं।२५। नीले मेघ के लोटने से नीलाम्बर का भ्रम होता है। सातों समुद्र के विशुद्ध रत्नों से जड़े हुए इसके कंकण और चूड़ियाँ हैं। पहर, पक्ष, दिन इसकी आँखों के कटाक्ष हैं, जिनसे आकाश (नृत्यमण्डप) जगमगाता रहता है, जिसमें कुलपर्वत[5] और बड़े-बड़े पर्वतशिखर व्यग्र होकर डूबते और उतराते रहते हैं।२७। चन्द्रमणि

१. इदम्—आकारनियम। तृण से लेकर महारुद्रपर्यन्त।

२. इत्थम्—विकारनियम। तृण से लेकर पद्मजस्पन्दपर्यन्त।

३. अपरिमार्जित—अपरिवर्तित, स्वभावस्थ।
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः। रघुवंश। ८.८७। लय ही स्वभाव है। सृष्टि विकार है।

४. (क) पुष्कर-मृदंग। प्रलयकालीनमहामेघ—जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम् मेघदूत। १.६।
(ख) पुष्करा नाम ते मेघा बृहन्तस्तोयमत्सराः।
पुष्करावर्तकास्तेन कारणेनेह शब्दिताः॥
नानारूपधराश्चैव महाघोरतराश्च ते।
कल्पान्तवृष्टेः स्रष्टारः संवर्ताग्नेर्नियामकाः॥ वायु० ५१.३९,४०।

५. महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥

(चन्द्रमाओं) के बने हुए गङ्गा की तरह (उज्ज्वल) तीन सूत्र का हार (त्रिगुण) ? उछलता रहता है। सांध्य मेघ के रूप में संदृष्ट, अदृष्ट आदि (मुद्राओं) में इसके सुन्दर रँगे हुए हाथ घूमते हैं।२८। ये सर्वदा मुखर, लोल, लोकालंकार और कोमल हैं।[1] भूतल, पाताल, नभस्तल[1] में इसके पैर चलते रहते हैं।२९। चंद्र और सूर्य का कुण्डलवाला नभोमण्डल इसका मुस्कुराता हुआ मुख है। निकलते और छिपते हुए तारे इसके (निकलते और सूखते हुए) पसीने की बूँदें हैं।३०। बने हुए अनेक ब्रह्माण्ड इसके वितान हैं। लोकों का समूह इसके वस्त्र में लगे हुए मुक्ता की तरह शब्द करते रहते हैं। सुख, दुःख, दशा, दोष, भाव, अभाव ये नाना प्रकार के रस हैं।३१। इस निरंतर परिवर्तनशील, संसार नामक चिरनाटक के नाट्य नियति के विलास में सदा प्रकाशस्वरूप परम ईश्वर अकेला देखते रहते हैं। न वे उस (शक्ति वा नियति) के साथ हैं, न उससे भिन्न हैं।।६२।।

१०. कालरात्रिनृत्यम्[2]

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ राघव रुद्रं तं तदा तस्मिन् महाम्बरे।
प्रवृत्तं नर्तितुं मत्तमपश्यं विततांकृतिम् ।।१।।

व्योमेवाकृतिमापन्नमजहद्व्यापितां निजाम्।
महाकारं घनश्यामं दशाशापरिपूरकम् ।।२।।

अर्केन्दुवह्निनयनं चलद्दशदिगम्बरम्।
घनदीर्घप्रभाजालमालानं श्यामलार्चिषाम् ।।३।।

वडवाग्निदशं लोलभुजोर्मिभरभासुरम्।
एकार्णवाब्धौ द्राग्देहबन्धेनेव समुत्थितम् ।।४।।

पश्याम्यनन्तरमहं यावत्तस्य शरीरतः।
छायेव परिनिर्याति नर्तनानुविधायिनी ।।५।।

सूर्येष्वविद्यमानेषु महातमसि चाम्बरे।
स्थिता कथमियं छाया भवेदिति मतिर्मम ।।६।।

यावद्विचारयाम्याशु तावत्तस्य तदा पुरः।
सा स्थिता परिनृत्यन्ती विस्तीर्णा श्रीत्रिलोचना ।।७।।

१. इस श्लोक की टीका में आनन्दबोधेन्द्रसरस्वती लिखते हैं—
लोका जना भुवनानि वा तल्लक्षणैरलङ्कारैः कोमलं मञ्जुलम्। पदैः क्रम्यन्त इति पदक्रमाः नटीपादविन्यासस्थानादिभेदाः।
लोक अर्थात् जनता का वा भुवनसमूह। अलंकार बने हुए उनसे कोमल अर्थात् मंजुल। पैर से चलना पदक्रम है। अर्थ है नटी के पगसंचालन के नाना प्रकार के भेद।

२. यो० वा० उत्तरार्द्ध। सर्ग ८१।

कृष्णा कृशा शिराजाङ्गी जर्जरा विततांकृतिः ।
ज्वालाकुलानलाजालवनसंभारशेखरा ॥८॥

भिन्नाञ्जनतमः श्यामा यामिनीवाकृतिं गता ।
तमः श्रीर्देहयुक्तेव साकारेवाम्बरद्युतिः ॥९॥

अतिदीर्घा करालास्या नभो मातुमिवोद्यता ।
दीर्घजानुभुजभ्रान्त्या मातुकामेव विङ्मुखम् ॥१०॥

कृशा बहूपवासेव परिनिम्नमहोदरः ।
कज्जलश्यामला मेघमालेव पवनाकुला ॥११॥

कृशाशक्ता यदा स्थातुं सुदीर्घा विधिना तदा ।
ग्रथितेव शिराकूपैर्दामभिर्दैर्घ्यशालिभिः ॥१२॥

तथा नाम सुदीर्घा सा यथा तस्याः शिरःक्षुरम् ।
मया दृष्टं प्रयत्नेन चिरोर्ध्वाभोगमागमैः ॥१३॥

अन्त्रान्त्रतन्त्रीग्रथितशिरःकरक्षुरोत्करा ।
आमूलासृग्ववलिता कण्टकानामिव स्थली ॥१४॥

वैरवरूपमयाकांदिभिः कमलजालकैः ।
कृतमालामलालोकवातवह्निमयाकुला ॥१५॥

प्रलम्बकर्यालुलितनागा नृशवकुण्डला ।
शुष्कतुम्बीलताष्ठीलादीर्घालोलासितस्तनी ॥१६॥

कुमारबर्हिपिच्छौघैर्ब्राह्ममूर्धजमण्डलैः ।
लांछितोऽसुराधीशशिरःखट्वांगमण्डला ॥१७॥

वृन्तेन्दुमालाविमला विमलोद्योतपातृतः ।
तमोर्णवोर्ध्वलेखेव वृत्तावर्तविवर्तिनी ॥१८॥

शुष्कतुम्बीलतेवोच्चैराकाशतलसंस्थिता ।
विलोलावयवाष्ठीला वातैः पटपटारवा ॥१९॥

बृहत्तरकोर्ध्वभुजा श्यामलोल्लासशालिनी ।
एकार्णवोर्मिमालेव नृत्तावृत्तिविवर्तिनी ॥२०॥

क्षयमेकभुजाकारा क्षयं बहुभुजाकुला ।
अनन्तोग्रभुजाविस्तगजतंनमण्डपा ॥२१॥

क्षिप्रमेकमुखाकारा क्षिप्रं बहुमुखाकृतिः ।
अनन्तोग्रमुखीक्षिप्रं निर्मुखी चापि च क्षयम् ॥२२॥

एकपादान्विता क्षिप्रं क्षिप्रं पादशतान्विता ।
क्षयं चानन्तपादाढ्या निष्पादाकारिणी क्षयम् ॥२३॥

कालरात्रिरियं सेति मयानुमितदेहिका ।
काली भगवती सेयमिति निर्णीतलक्षणा ॥२४॥

ज्वालापूर्णारिषट्टोग्रज्वालाभनयनत्रया ।
ज्वलद्दुरेन्द्रनीलाद्रिसानूपमजटाटमूः ॥२५॥

लोकालोकेन्द्रनीलोग्रश्यभ्रभीमहनुद्वया ।
वातस्कन्धगुणप्रोततारामुक्ताकलापिनी ॥२६॥
इन्द्रनीलाद्रि तुल्योच्चशरीरयोच्चैः प्रभाम्बरे ।
विश्रान्तकाचशैलाभभगभीषणवायसी ॥२७॥

नृत्यद्भुजलतापुष्पैर्नखशुभ्राभ्रमण्डलैः ।
पूर्णचन्द्रशतानीव भ्रमयन्ती नभस्तले ॥२८॥

भ्रमद्भिर्व्याप्तदिक्चक्रा भुजैः कल्पाम्बुदैरिव ।
वर्षद्भिः प्राणिजम्बालतारालेखामृहत्प्रभाः ॥२९॥

नखपुष्पाङ्गुलीवल्लीजालैर्भ्रान्तभुजद्रुमैः ।
कृष्णैःकाननिताशेषगगनाग्रोग्रमूर्तिभिः ॥३०॥

तमालतालतः स्थूलां भुवं दृग्धमहावनैः ।
विडम्बयन्ती वलितां जंघासंघेन लोलता ॥३१॥
अप्यनन्ते महाव्योम्नि पारं प्राप्तैः शिरोरुहैः ।
कुर्वाणेवाततं वासं चरत्तिमिरवृन्तिनः ॥३२॥
उह्यन्ते मेरवो येन तेन निःश्वासवायुना ।
घनघुंघुमदिक्चक्रागगनग्रामघोषिणा ॥३३॥
घनमारुतफूत्कारक्ष्वेडगेयं प्रगायता ।
नियतानुनयेनेव चलिता सानुवृत्तिना ॥३४॥
ततो नृत्तवशावेशाद्वर्धमानशरीरिणी ।
मया दृष्टावधानेन गगनाभोगभूरिणा ॥३५॥
यावत्तयाऽऽवृता देहे हेलावलनसारया ॥
माला मलयकैलाससह्यमन्दरमेरुभिः ॥३६॥
आसीत्तस्या युगान्ताभ्रमालिका पट्टपट्टिका ।
आदर्शं मण्डलान्यङ्के श्रीणि लोकान्तराणि च ॥३७॥
कर्णयोर्हिमवन्मेरू रूप्यकाञ्चनमुद्रिके ।
ब्रह्माण्डघुंघुमैर्माला महती कटिमेखला ॥३८॥
स्रजः कुलाचलाः श्रृङ्गवनपत्तनगुच्छकाः ।
जरत्पुरवनद्वीपग्रामपेलवपल्लवाः ॥३९॥
तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च ।
ऋतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥४०॥
मुक्तालताविकं नद्यः कालिन्दीत्रिपथादिकाः ।
धर्माधर्मावुभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥४१॥

स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः स्नवद्धर्मपयोत्रवाः ।
वेदाः सकलशास्त्रार्थचतुःसंस्थानचूचुकाः ॥४२॥

त्रिशूलैः पट्टिशैः प्रासैः शरशक्त्यृष्टिमुद्गरैः ।
नियंदायुधजालानि खग्दामानि बिभर्ति सा ॥४३॥

चतुर्दशविधा भूतजातयो याः सुरादिकाः ।
तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ॥४४॥

तस्याश्च नगरग्रामगिरयो देहशायिनः ।
नृत्यन्त्या सह नृत्यन्ति पुनर्जन्म मुदेव ते ॥४५॥

जंगमात्मैकमेवैतजगत्स्थावरं तथा ।
नृत्यतीति मया ज्ञातं परलोके सुखं स्थितम् ॥४६॥

निगीर्णं जगदङ्गस्थं कृत्वा तृप्तिमुपागता ।
परिनृत्यति सा मत्ता जगज्जीर्णा हि चातकी ॥४७॥

आदर्शप्रतिबिम्बस्थमिवाभात्यखिलं जगत् ।
तस्या वपुषि विस्तीर्णे स्वरूपिणि सरूपस्रक् ॥४८॥

सा न नृत्यति तत्सर्वं सशैलवनकाननः ।
जगन्नृत्यति नानात्म भूत्वा पुनरुपागतम् ॥४९॥

तज्जगत्तनं चारु तद्देहादर्शसंस्थितम् ।
चिरं मया तदा दृष्टमविनष्टं पुनः स्थितम् ॥५०॥

विचलत्तारकाजालं भ्रमत्पर्वतमण्डलम् ।
मशकव्यूहवद्वातव्याधूतामरदानवम् ॥५१॥

संग्रामोन्मुक्तचक्राभद्वीपार्णवकृताम्बरम् ।
हेलाविवलनावर्तप्रौढशैलधरातृणम् ॥५२॥

नीलमेघांशुकावृत्तिवातघुंघुमिताम्बरम् ।
काष्ठारथ्याविस्फुटास्फोटपटत्पटपटारवः ॥५३॥

जगत्पदार्थैर्भ्रामिभ्रैरमिश्रैमुकुरं यथा ।
व्यासमाभोगिभाङ्गारैरङ्गै रङ्गभ्रमैस्तथा ॥५४॥

मेरुर्नृत्यति लोलोच्चकुलाचलवृहद्भुजः ।
भ्रमदभ्रपटोपेतनभस्तनुतनूरुहः ॥५५॥

अत्यजन्तः समुद्राश्च मर्यादामुदयं द्रुमाः ।
भूमेर्नभस्तलं यान्ति नभसो यान्ति भूतलम् ॥५६॥

पुराणि चर्चराराव दृश्यन्ते लुठितान्यधः ।
सगृहाम्बवास्तव्यं न च किञ्चिल्लुठत्यधः ॥५७॥

तस्या भ्रमन्त्यां चतुरं चन्द्रार्कदिनरात्रयः ।
नक्षत्रलेखालोकान्तभ्रान्तिकाञ्चनसूत्रवत् ॥५८॥

विभान्ति सृष्टयस्तस्या धर्माणि जलजालिकाः ।
इव नीहारहारिण्या नीलवारिदवाससः ॥५६॥
स्वमेव तस्याः सम्पन्नं कबरीमण्डलं बृहत् ।
पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाहवो दिशः ॥६०॥
द्वीपाब्धयोऽत्र वलयः पार्श्वकाः सर्वपर्वताः ।
प्राणापानावली दोलाः पवनस्कन्धशालिकाः ॥६१॥
तदानुभूतं नृत्यन्त्यास्तस्या वपुषि विस्तृते ।
हिमवन्मेरुसह्याद्यै र्दोलनभ्रममद्रिभिः ॥६२॥
तरदद्रिगुलुच्छास्ता वलयन्त्या तया स्रजः ।
पुनः कल्पान्त आरब्ध इव ताण्डवहेलया ॥६३॥
सुरासुरोरगानीकरोमशाङ्कः शरीरकः ।
निस्पन्दं स्थातुमशकन्नसौ भ्रमति चक्रवत् ॥६४॥
नानाविभवविज्ञानयज्ञयज्ञोपवीतिनी ।
सा सरन्ती नभस्यासीद्घनघूत्कारघोषिणी ॥६५॥
तत्र भूतलमाकाशमाकाशमपि भूतलम् ।
प्रतिकृतिर्भवत्यन्तर्नं च किञ्चिद्विवर्त्तते ॥६६॥
बृहन्नासागुहागेहनिर्गता घनघुंघुमाः ।
तत्रोग्रा वायवो वान्ति घोरघूत्कारकारिणः ॥६७॥
नभः करशतैस्तस्याश्च[illegible]वृत्तिवर्त्तिभिः ।
भाति चण्डानिलोद्धूतैराकीर्णमिव पल्लवैः ॥६८॥
तदङ्गजगद्वस्तुजातभ्रमणसम्भवात् ।
दृष्टिर्धीरापि मे मोहे सन्ना सेनेव सङ्गरे ॥६९॥
मोहन्ते यन्त्रवच्छैला निपतन्ति नभश्चराः ।
[illegible]ष्ठन्त्यमरगेहाने वलिते देहदर्पणे ॥७०॥
मेरवः पर्यावदृन्यूढा मलयाः पल्लवा इव ।
हिमाद्रयो हिमकणा इवोर्व्योऽब्जलता इव ॥७१॥
सह्या मह्यामिव खगा विन्ध्या विद्याधरा इव ।
वृत्तावर्त्तै भ्रमन्तोऽस्ता राजहंसा इवाम्बरे ॥७२॥
द्वीपान्यपि तृणानीव समुद्रा वलया इव ।
सुरलोकालयः पद्मा आसंस्तद्दृवारिणि ॥७३॥
विशदाकाश संकाशे स्वप्नाञ्जनपुरोपमे ।
अङ्गे तस्या बृहज्जंघे पिण्डादित्यसमत्विषि ॥७४॥
विन्ध्यो नृत्यति काञ्चनाचलवने सह्यश्च सह्यो गिरिः ।
कैलासो मलयो महेन्द्रशिखरी क्रौञ्चावली मन्दरः ॥
गोकर्णो गगनाङ्गणे वसुमती विद्याधराणां पुरं ।
सर्वं जङ्गमतां गता नमभवत्तस्याः शरीरे सदा ॥७५॥

अस्मिन्नृत्यति पर्वते गिरिरपि प्रोच्चै नभःकोटरे
व्योमापीन्दु दिवाकरैः क्व चलितं भूमेरधस्तादृगतम् ।
सद्वीपाचलपत्तनो वनगणः प्रोत्कीर्णपुष्पो दिवि
व्यालोलं जगदम्बुधाविव तृणं दिक्चक्रके भ्राम्यति ॥७६॥

व्योम्नि भ्रमन्ति गिरयोऽम्बुधयो दिगन्ते लोकान्तराणि पुरपत्तनमण्डलानि ।
नद्यः सरांसि मुकुरान्तरिव प्रवृद्धवातावकीर्णतृणविक्रमणक्रमेण ॥७७॥

मत्स्याश्चरन्ति च मही वरवारिणीव व्योम्नि स्थिराणि नगराणि भुवीव भान्ति ।
खे भूधरा गगनसंचयवारिवाहमुत्पातवातपरिवृत्तगिरिस्थितं तत् ॥७८॥

ऋक्षोत्करो भ्रमति द्वीपसहस्रयन्त्रचक्रक्रमेण मणिवर्षणवेगचारुः ।
अन्तर्बहिश्च परितः प्रणयेन मुक्तं विद्याधरामरगणैरिव पुष्पवर्षम् ॥७९॥

संहारसर्गनिचया दिनरात्रिभागे बिन्दूपमा रजतयोर्दिवसोत्कराश्च ॥
कृष्णाः सिताश्च परितोऽमलशुक्लकृष्णास्त्वादर्शमण्डलवदाकुलमुल्लसन्ति ॥८०॥

रत्नानि भास्करनिशाकरमण्डलानि तारोत्करास्तरलमण्डलकान्तिहाराः ।
स्वच्छाम्बराणि वलितानि महाम्बराणि कुर्वन्त्यनारतमनल्पमलातलेखाः ॥८१॥

कल्पान्तकालविलुठत्त्रिजगन्म[illegible]णीनि व्यावर्तनिर्मगिति जातकणक्षयाणि ।
तेजांसि भक्तृत तयोर्ध्वमधश्च यान्ति नानाविधानि गुणवन्ति विभूषणानि ॥८२॥

[illegible]चेष्टौचित्यामायमानसकलातपवासराणाम् ।
व्यावृत्तिभिर्विलुठतामपि सुस्थिराणामाकर्णयन्ते कलकलो जनमण्डलानाम् ॥८३॥

ब्रह्मे न्द्रविष्णुहरवह्निरवीन्दुपूर्वा देवासुराः परिविवृत्तिभिरापतन्तः ।
अन्येऽन्य एव विविधा उपयान्ति यान्ति वातावधूतमशकाशनिविभ्रमेण ॥८४॥

संहारसर्गसुखदुःखभवाभवेहानीहानिषेधविधिजन्ममृतिभ्रमाद्याः ।
सार्धं पृथक्च विलसन्ति सदैव सर्गे व्यामिश्रतामुपगता अपि तत्र भावाः ॥८५॥

भावे[illegible]वस्थितिविपल्करणभ्रमाणां संहारसर्गभुवनावनिविभ्रमाणाम्
मिथ्यैव खे प्रकचतां स्वशरीरकाणां संलक्ष्यतेऽत्र न मनागपि नामसंख्या ॥८६॥

उत्पातशान्तमरणोत्सवयुद्धसाम्यविद्वेषरागभयविस्वसनादि तत्र ।
एकत्र कोष इव रत्नचयो विभाति नानारसाप्रतिघसर्गपरम्परं तत् ॥८७॥

तस्याश्चिदम्बरमये वपुषि स्वभावभूतास्फुटानुभवभावजगद्व्यवस्थाः ।
सर्वंचया मलिनदर्शिताम्बर[illegible]स्फुरणवत्परितः स्फुरन्ति ॥८८॥

जगत्संक्षुब्धमक्षुब्धं दृश्यते स्थितिसंस्थितिः ।
संचाल्यमानमुकुरप्रतिबिम्ब इवास्थितम् ॥८९॥

नृत्यत्स्फुरत्प्रतापान्तर्जगद्वर्णाः प्रतिक्षणम् ।
स्थितिं त्यजन्ति गृह्णन्ति बालसंकल्पसर्गवत् ॥९०॥

क्रियाशक्तिः शरीरेऽन्तः पूर्यमाणा अनारतम् ।
राशीभूय विशीर्यन्ते जगन्मुद्गकणोत्कराः ॥९१॥

श्यामालक्ष्यते किंचिन्न किञ्चिदपि सा श्यामा ।
श्यामाङ्गुष्ठमात्रैव श्यामाकाशपूरिणी ॥९२॥

यस्मात्सा सकला देवी संविच्छक्तिर्जगन्मयी ।
अनन्ता परमाकाशकोशशुद्धशरीरिणी ॥९३॥

कालत्रयस्थितजगत्त्रितयान्तरी हि चित्सा तथा कचति तेन यथास्थितेन ।
रूपेण चित्रकृदुदारमनःस्थचित्रसंसारजालसदृशेन कचज्जवेन ॥९४॥

सर्वात्मकैकवपुरेकचिदात्मकत्वात् संशान्तसैकवपुरेकचिदात्मकत्वात् ।
एवं निमेषयासमुन्मिषितैकरूपं सा बिभ्रती वपुरनन्तमनादि भाति ॥९५॥

तस्यां विभाति तदनन्तशिलात्मकोशे लेखाब्जचक्ररचनादिवदेव दृश्यम् ।
व्योमात्मकं गगनमात्रशरीरवत्यां चित्त्वादुद्रवजलाब्धिकोश इवोर्मिलेखा ॥९६॥

महती भैरवी देवी नृत्यन्त्यापूरिताम्बरा ।
तस्य कल्पान्तरुद्रस्य सा पुरो भैरवाकृतेः ॥९७॥

शिरोमन्दाश्रितोग्राग्निवृन्दस्थाणुवनावनिः ।
कल्पान्तवातव्याधूता वनमालेव नृत्यति ॥९८॥

कुद्दालोलूखलबृसीफलकुम्भकरण्डकैः ।
मुसलोद्यन्वनस्थालीस्तम्भैः स्रग्दाम धारिणी ॥९९॥

एवंविधानां स्रग्दामजालानां कुसुमोत्करम् ।
किरन्ती संसृजन्तीव नृत्तक्षुब्धं श्यचलतम् ॥१००॥

वन्द्यमानस्तया सोऽपि तथैवाकाशभैरवः ।
तथैव विदिताकारस्तथोच्चैः परिनृत्यति ॥१०१॥

डिम्बं डिम्बं सुडिम्बं पच पच सहसा झम्यझम्यं प्रझम्यं
नृत्यन्ती शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं तार्क्ष्यपत्रैः ।
पूर्णं रक्तासवानां यममहिषमहाशृङ्गमादाय पाणौ
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितया भैरवः कालरात्र्या ॥१०२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे पाषाणो० कालरात्रिवर्णनं नामैकाशीतितमः सर्गः ।

सर्ग ८२

श्रीराम उवाच

किमेतज्जगज्जन्तुसर्वनाशे नृत्यति केन सा ।
किं शूर्पफलकुम्भाद्यैस्तस्याः स्रग्दामधारणम् ॥
किं नष्टं त्रिजगद्भूयः किं काल्या देहसंस्थितम् ।
परिनृत्यति निर्वाणं कथं पुनरुपागतम् ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

नासौ पुमान्न चासौ स्त्री न तन्मृत्तं न तावुभौ ।
तथाभूते तथाचारे आकृती न च ते तयोः ॥३॥

अनादिचिन्मात्रनभो यत्तत्कारणकारणम् ।
अनन्तं शान्तमाभासमात्रमव्ययमाततम् ॥४॥

शिवं तत्सच्छिवं साक्षाल्लक्ष्यते भैरवाकृतिः ।
तथास्थितो जगद्भ्रान्तौ परमाकाश एव सः ॥५॥

चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविभवादृते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य तथा हेम्नो निराकृतिः ॥६॥

कथमास्तां वद प्राज्ञ चिन्मात्रं चेतनं विना ।
कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्ततां विना ॥७॥

कटकादि विना हेम कथमास्तां विलोक्यताम् ।
कथं स्वभावेन विना पदार्थस्य भवेत्स्थितिः ॥८॥

विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेक्षुरसः कथम् ।
निर्माधुर्यश्च यस्त्विक्षुरसो न हि स तद्रसः ॥९॥

अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ।
न च चिन्मात्रनभसो नष्टं क्वचन युज्यते ॥१०॥

स्वसत्तामात्रकादन्यत्किंचित्तस्य न युज्यते ।
अन्यत्वमुररीकर्त्तुं व्योमानन्यमसौ किल ॥११॥

तस्मात्तस्य यदत्युग्रं सत्तामात्रं स्वभासनम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं सर्वशक्तिमयात्मकम् ॥१२॥

तदेतत्त्रिजगत्सर्गकल्पान्तौ व्योमभूर्दिशः ।
नाश उत्पादनं नाम विनानाभासनं नभः ॥१३॥

जननं मरणं माया मोहं मान्द्यमवस्तुता ।
वस्तुता च विवेकश्च बन्धो मोक्षः शुभाशुभे ॥१४॥

विद्याऽविद्या विदेहत्वं सदेहत्वं क्षणश्चिरम् ।
चञ्चलत्वं स्थिरत्वं वा त्वं चाहं चेतरश्च तत् ॥१५॥

सदसच्चाथ सदसन्मौर्ख्यं पाण्डित्यमेव च ।
देशकालक्रियाद्रव्यकलनाकेलिकल्पनम् ॥१६॥

रूपालोकमनस्कारकर्मबुद्धीन्द्रियात्मकम् ।
तेजोवार्यनलाकाशव्यापादिकमिदं ततम् ॥१७॥

एतत्सर्वमसौ शुद्धचिदाकाशो निरामयः ।
अजड्व्योमतामेव सर्वात्मैवैवमास्थितः ॥१८॥

एतत्सर्वं च विमलं खमेवात्र न संशयः ।
अस्माद् नान्यत्स्वप्नादिदृष्टान्तोऽत्राविखण्डितः ॥१९॥

चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया ।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येष सनातनः ॥२०॥
स एष हरिरित्यास्ते भवत्येष पितामहः ।
चन्द्रोऽर्क इन्द्रो वरुणो यमो वैश्रवणोऽनलः ॥२१॥
अनिलो जलदोम्भोधिर्यद्यद्वस्त्वस्ति नास्ति च ।
इत्येते चिन्मयाकाशकोशलेशाः स्फुरन्त्यलम् ॥२२॥
एवं विद्याभिः संज्ञाभिर्मुधाभावनयेदृशाः ।
स्वभावमात्रबोधेन भवन्त्येते तु तादृशाः ॥२३॥
अबोधो बोध इत्येवं चिद्व्योमैवात्मनि स्थितम् ।
तस्माद्भेदो द्वैतमैक्यं नास्त्येवेति प्रशाम्यताम् ॥२४॥
तावत्तरङ्गत्वमयं करोति जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं निरामयं तन्मयतामुपेतः ॥२५॥
ज्ञाने तु शांतिं स तथोपयाति यथा न सोऽब्धिनं तरङ्गकोऽसौ ।
यथास्थितं सर्वमिदं च शांतं भवत्यनन्तं परमेव तस्य ॥२६॥

इत्यार्षे० द्व्यशीतितमः सर्गः ।

सर्ग ८३

श्री वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्र परमाकाश एष यः कथितो मया ।
एषऽसौ शिव इत्युक्तस्तद्वा रुद्रः प्रनृत्यति ॥१॥
यासौ त[illegible]कृतिः कृतिनां वर ।
तच्चिन्मात्रघनं व्योम तथा कचति तादृशम् ॥२॥

सर्ग ८४

श्रीराम उवाच ।

अनन्तरं मुने ब्रूहि कालो किमिव नृत्यति ।
किं शूर्पफलकुद्दालमुसलादि स्रजाऽऽवृता ॥१॥

श्री वसिष्ठ उवाच

स भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते ।
अनन्या तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥२॥
यथैकं पवनस्पन्दमेक मौष्ण्यानलौ यथा ।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥३॥
स्पन्देन लक्ष्यते वायुर्वह्निरौष्ण्येन लक्ष्यते ।
चिन्मात्रममलं शांतं शिव इत्यभिधीयते ॥४॥

तत्स्पन्दमायाशक्त्यैव कथ्यते नान्यथा किल ।
शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ॥५॥
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा ।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पना पुरम् ॥६॥
करोत्येव शिवस्येच्छा करोति दमनाकृतेः ।
सैषा चितिरिति प्रोक्ता जीवनाज्जीवितैषिणाम् ॥७॥
प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता ।
दृश्याभासानुभूतानां करणात्सोच्यते क्रिया ॥८॥
वडवाग्निशिखाकाराच्छोष्याच्छुष्केति कथ्यते ।
चण्डित्वाच्चण्डिका प्रोक्ता सोत्पलोत्पलवर्णतः ॥९॥
जया जयैकनिष्ठत्वात्सिद्धा सिद्धिसमाश्रयात् ।
जयन्ती च जया प्रोक्ता विजया विजयाश्रयात् ॥१०॥
प्रोक्ता पराजिता वीर्याद्दुर्गा दुर्ग्रहरूपतः ।
ॐकारसा[illegible] परिकीर्तिता ॥११॥
गायत्री गायनात्मत्वात्सावित्री प्रसवस्थितेः ।
सरणात्सर्वदृष्टीनां कथितैषा सरस्वती ॥१२॥
गौरी गौराङ्गदेहत्वाद्भवदेहानुषङ्गिणी ।
सुप्तानामथ बुद्धानाममात्रोच्चारणाद्दृष्टि ॥१३॥
नित्यं त्रैलोक्यभूतानामुमेतीन्दुकलोच्यते ।
शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः ॥१४॥
नभो हि मांसमेताभ्यां दृष्टिदृष्टं विलोक्यते ।
अस्ति नभो नभस्येव तौ नभो नभसि स्थितौ ॥१५॥
नभोनिभावभूताङ्गावच्छौ व्योम्न इवाग्रजौ ।
हस्तपादास्यमूर्ध्नो यद्बहुत्वात्पत्वभेदतः ॥१६॥
नानात्वं हलशूर्पादिसन्धरत्वं च तच्छृणु ।
सा हि क्रिया भगवती परिस्पन्दैकरूपिणी ॥१७॥
वृथात्स्नाथाच्च जुहुयादित्याद्यशरीरिणी ।
चितिशक्तिरनाद्यन्ता तथा मातात्मनात्मनि ॥१८॥
साकाशरूपिणी कान्ता दृश्य श्रीः स्पन्दधर्मिणी ।
देव्यास्तस्या हि याः काल्या नानाभिनयनर्तनाः ॥१९॥
ता इमा ब्रह्मणः सर्गजरामरणरीतयः ।
क्रियासौ ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः ॥२०॥
स्पन्दात्करोति धत्ते ऽन्तः कल्पितावयवात्मिका ।
काली कमलिनी कालीक्रियाब्रह्माण्डकालिका ॥२१॥
धत्ते स्वावयवीभूतां दृश्यलक्ष्मीमिमां हृदि ।
न कदाचन चिद्देवी निर्देश्यावयवा क्वचित् ॥२२॥

शिवत्वाव्यतिरेकेण शिवतैवं विदृश्यताम् ।
यथाङ्गशून्यता व्योम्न: स्पन्दनं मातरिश्वनः ॥२३॥
ज्योत्स्नायाश्चैत्य मेवंहि दृश्यमङ्गं चितेः क्रिया ।
शिवं शान्तमनायासमव्ययं विद्धि निर्मलम् ॥२४॥
न मनागपि तत्रास्ति स्तैमित्यं स्पन्दधर्मता ।
सा क्रियैव तथारूपा सती बोधवशाद्यदा ॥२५॥
व्यावृत्यैव तथैवास्ते शिव इत्युच्यते तदा ।
चितिशक्तेः क्रिया देव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ॥२६॥
यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपपिण्या महाकृतेः॥२७॥
कल्पिताकारधारिण्या अनन्यावयवा इमे ।
सर्गाः सज्जनतावर्गा लोका आलोकभास्वराः ॥२८॥
सद्वीपसागराः पृथ्व्यः सवनावनयोऽद्रयः ।
साङ्गोपाङ्गास्त्रयो वेदाः सविद्यास्थानगीतयः ॥२९॥
सविधिप्रतिषेधार्थाः सशुभाशुभकल्पनाः ।
सदक्षिणाग्नयो यज्ञाः पुरोडाशाद्यशंसिनः ॥३०॥
भूपालोलूखलबृसीशूर्पयूपादिसंयुताः ।
संग्रामाः सायुधग्रामाः सशूलशरशक्तयः ॥३१॥
सभु[illegible]प्रासहयेभभटभासुराः ।
ज्ञातयो भूतसंघानां चतुर्दशसुरादिकाः ।
चतुर्दशाब्धिद्वीपोर्व्यस्तथा लोकाश्चतुर्दश ॥३२॥

सर्ग ८५

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति नृत्यति सा देवी दीर्घदोर्दण्डमण्डलैः ।
परिस्पन्दात्मकैर्व्योम कुर्वाणा घनकाननम् ॥१॥
क्रियासौ नृत्यति तथा चितिशक्तिरनामया ।
अस्या विभूषणं शूर्पकुद्दालपटलादिकम् ॥२॥
शरशक्तिगदाप्रासमुसलादि शिलादि च ।
भावाभावपदार्थौ विकला कालक्रमावि च ॥३॥
चित्स्पन्दोऽन्तर्जगद्धत्ते कल्पनेव पुरं हृदि ।
सैव वा जगदित्येव कल्पनैव यथा पुरम् ॥४॥
पवनस्य यथा स्पन्दस्तथैवेच्छा शिवस्य सा ।
यथास्पन्दोऽनिलस्यान्तःप्रशान्तेच्छस्तथा शिवः ॥५॥
अमूर्तो मूर्तमाकाशे शब्दाडम्बरमानिलः ।
यथा स्पन्दस्तनोत्येवं शिवेच्छा कुरुते जगत् ॥६॥

सर्ग ८१

श्रीवसिष्ठ ने कहा- राघव ! तब मत्त और विशाल आकृतिवाले रुद्र को महाकाश में नृत्य में प्रवृत्त देखा ।१। अपने व्यापित्व में आकाश की तरह उनकी आकृति थी। मेघ-जैसा काला और दशों दिशाओं को भरनेवाला उनका विशालरूप था ।२। सूर्य, चन्द्र और अग्नि उनके तीन नेत्र थे। हिलती हुई दश दिशाएं उनके कपड़े थीं ।३। श्याम वर्ण लपट के बन्धनस्तम्भ की तरह घनी और लम्बी ज्वालाएं थीं ।३। आँखें वडवाग्नि की तरह थीं और चंचल भुजाओं की लहरों के भार से चमक रही थीं। मानो एकार्णव हठात् शरीर धारण कर उठ खड़ा हुआ हो ।४। इतने में देखा कि उनके शरीर मे नृत्य का अनुसरण करती हुई छाया की तरह निकली ।५। सूर्य के नहीं रहने पर महान्धकारपूर्ण आकाश में यह कैसी छाया है—मैं यही सोचने लगा ।६। जब मैं सोच ही रहा था तब उसके सामने विस्तीर्ण सुन्दर आँखोंवाली वह नाचने लगी ।७। काला वर्ण, दुबला शरीर, शिराएं निकली हुईं, जर्जर फैला हुआ आकार और जंगल-जैसा माथा मानो आग की लपटों से भरा हुआ था ।८। घिसे हुए अंजन की तरह (काली का) काला रंग था, मानो रात ने आकार ग्रहण कर लिया हो। अन्धकार की श्री के शरीर-जैसा अथवा आकाश के मूर्तिमान् प्रकाश की तरह (हो गई थी) ।९। बहुत लम्बी थीं, कराल मुख था, मानो आकाश को नापने को उद्यत थीं। लम्बे जानु और हाथों को घुमाकर मानो वे दिशाओं को नापना चाहती हों ।१०। विशाल शरीर दुबला और धँसा हुआ था, मानों बहुत दिनों तक उपवास किया हो। काजल की तरह काली मेघमाला मानों हवा से उथल-पुथल हो गई हो ।११। मालूम होता था कि बहुत लम्बी और दुबला होने के कारण जब खड़ी न रह सकती थी तो ब्रह्मा ने नसों के रूप में लम्बी डोरियों से इसे गूंथ दिया ।१२। वे इतनी लम्बी थीं कि उनके सहस्रों वर्ष से ऊपर नीचे आते-जाते हुए मस्तक और पैर के नखों को मैंने प्रयत्न से (योगबल से) देखा ।१३। नसों के जाल से गुंथे हुए उनका मस्तक तथा हाथ और पैर के नख, नीचे से ऊपर तक सूत से ढकी हुई काँटों से भरे स्थल की तरह मालूम होते थे ।१४। संसार-स्वरूप सूर्यादि देवों के मस्तकरूपी कमल-समूह की बनी हुई दिव्यप्रकाशवाली उनकी माला थी और वायु से प्ररित अग्निज्वाला उनका आँचल था ।१५। उनके लम्बे कानों से नाग लटक रहे थे। मुर्दों का कुण्डल था। लम्बे फलों वाली कद्दू की (लता की) तरह जाँघ की जोड़ तक लटकते उसके उजले स्तन थे ।१६। इन्द्र के शिर का बना हुआ उनका खट्वांग (एक शस्त्र जिसके अग्रभाग की आकृति नरमुण्ड की तरह है) था, जिस पर कार्तिकेय के मयूर के पंख और ब्रह्मा के बने हुए केश पड़ रहे थे ।१७। चन्द्रपंक्ति की तरह उनके निर्मल दाँतों की पंक्ति थी। विमल किरणों के छिटकने के कारण, चारों ओर वृत्ताकार घूमनेवाले आवर्त पर पड़ी हुई काले सागर की तरङ्गों पर घूमती हुई रेखा की तरह मालूम होती थीं ।१८। आकाशवृक्ष पर बहुत ऊंचाई से लटकी हुई सूखी तुम्बीलता की तरह थीं। कटि के जाड़ों तक का भाग (नृत्य में) चंचल हो रहा था और पट्पट् शब्द हो रहा था, मानों (सूखी लता में) वायु लगता हो ।१९। बृहत्तरङ्ग की उठी हुई काले रंगोंवाली उत्साह से भरी हुई भुजाएं। एकार्णव (प्रलय-

काल का समुद्र) की तरङ्गमाला की तरह नृत्य का आवृत्ति में घूम रही थीं ।२०। कभी एक भुजावाली, कभी बहुत-सी भुजाओं से आकुल। अनन्त उग्र भुजाओं के चालन से जगत् नृत्य-मण्डप बना हुआ था ।२१। कभी एक मुखवाली और तुरन्त बहुत मुखवाली। शीघ्र ही अनन्त विकट मुखवाली और तुरत क्षणभर में विना मुखवाली (बनजाती थीं) ।२२। अभी एक पैरवाली और क्षण भर में सैकड़ों पैरवाली, क्षण भर में अनन्त पैरवाली और तुरत विना पैरवाली थीं ।२३। यह वही कालरात्रि हैं जिनकी देह का मैंने अनुमान किया। सज्जनों ने निर्णय किया है कि यही भगवती काली हैं ।२४।

मुखादिपादान्तवर्णन

आग की लपट से भरे हुए रहट के गढ्ढे की तरह उनकी तीनों आँखें थीं। उनका ललाटप्रान्त जलती हुई धरती पर नीलाचल के शिखर की तरह था ।२५। लोकाचल और अलोकाचल पर इन्द्रनील के भयंकर गर्त की तरह उनके भयंकर दोनों जबड़े (हनु) थे। कन्धे पर वायु की डोरी में गुँथा हुआ ताराओं का मुक्ताहार था ।२६। इन्द्रनील पर्वत की तरह ऊँचे तोरण-जैसे चमकते हुए आकाश में पड़े हुए काच के पर्वत की तरह भयप्रद भग नामक उनका कौआ था ।२७। नाचती हुई भुजलताओं के फूलों की तरह उजले नखों के रूप में मानो सैकड़ों पूर्णचन्द्र को वे आकाश में घुमा रही थीं ।२८। बरसते हुए प्रलय-कालीन मेघ-जैसी अपनी भुजाओं से दिक्चक्र को घुमा रही थीं। उन (भुजाओं) से छिटकती हुई विशाल किरणें ताराओं और प्राणियों की सृष्टि कर रही थीं ।२९। काली-काली और भयप्रद भुजाएं घूमते हुए वृक्षों-जैसी थीं, जिनकी अंगुलियाँ लताओं की तरह और नख फूलों की तरह थे। इनसे सारा आकाश जंगल बन गया था ।३०। तमाल-तालों से भी पुष्ट उनकी उठती और गिरतीं जंघाओं को देखकर मालूम होता था कि दग्ध भूखण्ड पर बड़े-बड़े वृक्षों की ठूठें हैं ।३१। उनके बाल महाकाश के उस पार तक चले गये थे। मानो चलते-फिरते अन्धकाररूपी हाथी के ऊपर कपड़ा डाला जाता हो ।३२। जिसमें मेरु भी उड़ जाय ऐसे निःश्वास वायु का दिक्चक्र और गगनश्याम में महाघोष हो रहा था ।३३। घनमारुत की फुफकार-सा डरावना गान था। मालूम होता था कि नियत ताल पर गति हो रही थी ।३४। तब मैंने ध्यान में देखा कि नृत्य के आवेश में उनका बढ़ता हुआ शरीर सारे आकाश में व्याप्त हो गया ।३५। लीला नृत्य के समय अनायास उन्होंने मलय, कैलास, सह्य, मन्दर और मेरु की माला डाल ली ।३६। प्रलयकालीन महा-मेघ इन्द्रनील की पट्टपट्टिका की तरह उसकी छाती पर पड़े थे। तीनों लोक उन अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आदर्श की तरह पड़े थे ।३७। कानों में हिमवान् और मेरु की चाँदी और सोने की मुद्रिका थी, और ब्रह्माण्डमण्डलों की माला कटि की मेखला थी ।३८। कुलाचल, शिखर, वन और नगर की माला थी, जिसकी पंखुरियाँ थीं पुराने नगर, वन, द्वीप और ग्राम-समूह ।३९। उनके अङ्गों में पुर, नगर, ऋतु, तीनों लोक, मास, दिन और रात की मालाएं दिखाई पड़ती थीं ।४०। गङ्गा यमुना आदि नदियाँ मुक्तामाला थीं और (हिम-वान् और मेरुवाले कानों को छोड़कर) अन्य कानों में धर्म और अधर्म के कर्णभूषण थे ।४१। उनके चार स्तन थे, जिनसे धर्मरूपी दूध टपक रहा था। चार संख्यावाले

वेद, शास्त्रों के अर्थ आदि उनके चूचुक (अग्रभाग) थे ।४२। त्रिशूल, पट्टिश, प्रास, शर, शक्ति, ऋष्टि, मुद्गर आदि आयुधों के समूह का लर वह धारण करती है ।४३। चौदहों विद्या, देवता और प्राणी आदि उनके शरीर की रोमावलियाँ हैं ।४४। उनके शरीर में पड़े हुए नगर, ग्राम, पर्वतादि उसके नाचते समय प्रसन्नता से नाचने लगते हैं कि उनका पुनर्जन्म हुआ है ।४५। उनके नाचने में स्थावर जगत् भी जंगम हो उठा था और (प्राण-त्याग करने के कारण) परलोक में सुख से था ।४६। संसार को निगलकर और आत्मसात् करके वह तृप्त हो गई थी। संसाररूपी पुराने सर्प के लिये मयूरी बनकर वह मत्त होकर नाचती है ।४७। उसके विस्तीर्ण शरीर पर सारा संसार उसी तरह प्रतिबिम्बित हो रहा था जिस तरह आदर्श पर बिम्ब प्रतिबिम्बित होता है ।४८। वह नहीं नाचती है। शैल, वन, कानन-सहित सारा संसार नाना रूपों में मरकर और फिर जीकर नाचता है ।४९। उसके शरीररूपी आदर्श पर पड़े हुए जगत् का सुन्दर नृत्य मैंने देखा। वह नष्ट होकर भी फिर स्थिर हो गया था ।५०। तारामण्डल डगमगा रहा था। पर्वतमण्डल चक्कर काट रहा था। देव-दानव मच्छड़ों की तरह धुने जा रहे थे ।५१। युद्ध में फेंके हुए चक्र की तरह द्वीपों और समुद्रों से आकाश भर गया था। नृत्यलीला में यों ही घूमने के चक्कर में बड़े-बड़े पर्वत और पृथ्वी तृण की तरह उड़ रही थी ।५२। नील मेघ-रूपी नीले रेशमी वस्त्र के उड़ने से आकाश में घुंघुम शब्द हो रहा था ।५३। जगत् के पदार्थ बार-बार मिश्रित और अलग हो रहे थे। इनके अङ्ग और अङ्गसंचालन साकार भय की तरह लगते थे ।५४। मेरु नाच रहा था। चंचल बड़े-बड़े कुलपर्वत इसकी बड़ी-बड़ी भुजाएं थ। घूमते हुए बादल इसके वस्त्र थे और इसके शरीर के साथ (कल्पवृक्षादि) इसके रोएं झुकते और सीधे हो रहे थे ।५५। (वेला की) मर्यादा को धारण करते हुए समुद्र और वृक्ष पृथ्वी से आकाश और आकाश से पृथ्वी पर आ-जा रहे थे ।५६। घर्घर शब्द करते हुए नगर नीचे, बड़े-बड़े महलों के साथ लोटते दिखाई देते थे किन्तु कुछ भी नीचे नहीं गिरता था। ।५७। चतुरता से उनके (कालरात्रि) के घूमने से चन्द्र, सूर्य, दिन, रात आदि, मालूम होता था, उनके नखों के प्रकाश में समा गये थे और घूमते समय सोने के सूत-जैसे मालूम होते थे ।५८। हिम उसके हार-जैसे थे, बादल नील वस्त्र थे और वृष्टि (उस नील वस्त्र से) झरते हुए फुहारे की तरह थी ।५९। आकाश उसका विशाल सजा हुआ केश था। पाताल चरण, भूमि उदर और दिशाएं भुजाएँ थीं ।६०। द्वीप और समुद्र अंतड़ियाँ, सभी पर्वत पार्श्व, प्राण और अपान की गति दोला और पवन के कन्धे पर पड़ा हुआ आकाश, नृत्यशाला था ।६१। उसके विस्तृत शरीर के नृत्य करने के कारण हिमवान्, मेरु, सह्य आदि पर्वतो में हिलने का भ्रम हुआ ।६२। उसकी माला के मंजरी-रूप पर्वतों के हिलते रहने से मालूम होता था कि प्रलय के ताण्डव का प्रारम्भ हो गया ।६३। सुरासुर का समूह इनके अङ्ग के रोएँ होने के कारण स्थिर नहीं रह सकते थे और चक्र की तरह घूम रहे थे ।६४। नाना प्रकार के वैभव विज्ञान, यज्ञ इत्यादि का उपवीत धारण कर भयंकर घू-घू शब्द करती हुई यह आकाश में घूम रही थी ।६५। उसके भीतर आकाश और भूतल तथा भूतल और आकाश प्रतिकृति रूप बने हुए थे और घूमते हुए-से दिखाई पड़ने पर भी घूमते नहीं थे ।६६।

श्वासवायु-वर्णन

विशाल नासिका रूपी गुहागृह से निकलकर बार-बार घुंघुं और घूत्-घूत् शब्द करते हुए भयंकर वायु बह रहे थे ।६७। उसके सैकड़ों हाथ के चारों ओर वेग से घूमने के कारण आकाश, भयंकर बबंडर में उड़ते हुए तितर-बितर पत्तों की तरह मालूम होता था ।६८। उसके अङ्गों से उत्पन्न संसार की सारी वस्तुओं के घूमने के कारण मेरी स्थिर दृष्टि भी युद्ध में लगी हुई सेना की तरह सन्न रह गई ।६९। यन्त्र की तरह पर्वत घूम रहे थे, आकाश में उड़नेवाले गिर रहे थे। देहदर्पण के चंचल होने से देवताओं के घर लोट रहे थे ।७०। मेरु और मलय पत्ते की तरह, हिमाद्रि हिमकण की तरह और पृथ्वी कमल का लता की तरह उड़ रही थी ।७१। पृथ्वी पर पक्षी की तरह सह्य, विद्याधर की तरह विन्ध्य और वृक्षसमूहों में पड़कर ये राजहंस की तरह आकाश में उड़ रहे थे ।७२। द्वीप गण तृण की तरह, समुद्र वलय की तरह और देवलोक उसके शरीर में, जल में पद्म की तरह पड़े हुए थे ।७३। विस्तृत आकाश की तरह, स्वप्नाञ्जन के नगर की तरह, बड़ी-बड़ी गाँवोंवाली घनीभूत, आदित्य के तेज की तरह उसके अङ्गों में ।७४। विन्ध्य नाच रहा था, असह्य सह्याद्रि कंचनपर्वत के वन में, कैलास, मलय, महेन्द्र क्रौंच, मन्दर, गोकर्ण आदि पर्वत, पृथ्वी, विद्याधरों की नगरी और बड़े-बड़े वृक्ष सभी उस समय उसके शरीर में हिलडोल रहे थे ।७५। पर्वत पर समुद्र नाच रहा था, वह पर्वत उछल-उछल कर आकाश-कोटर में नाच रहा था। वह आकाश भी सूर्य चन्द्रादि को लेकर भूमि के नीचे कहाँ चला गया था, यह मालूम ही नहीं होता था। द्वीप, पर्वत, नगर, फूलों से भरे हुए वनोंवाला जगत् आकाश में डगमगाता हुआ समुद्र में तृण की तरह दिक्चक्र में घूम रहा था ।७६। पर्वत आकाश में घूम रहे थे, समुद्र दिगन्त में घूम रहे थे, पर नगरादि नदी और ताल अपने स्थान से विचलित होकर, दर्पण के बिम्ब की तरह, हवा में उड़ते हुए तिनके की तरह उड़ रहे थे ।७७। मरु में, जल की तरह, मछलियाँ घूम रही थीं, भूमि के नगर आकाश में दिखाई पड़ रहे थे। पर्वत आकाश में दिखाई पड़ते थे। प्रलय-कालीन मेघ वायुवेग से उड़ उन पर्वतों पर जा पड़े-से थे ।७८। तारामण्डल चक्र पर पड़े हुए और घूमते हुए सहस्रों-दीप जैसे थे और मणि के बरसने से जो शोभा होती है वैसे ही सुन्दर दिखाई पड़ते थे। मालूम होता था कि प्रेम से विद्याधर और देवगण भीतर-बाहर फूल बरसा रहे हों ।७९। सृष्टि और संहार दिन और रात्रि के भाग (उसके शरीर पर) चाँदी के टुकड़े पर उजले और काले बिन्दु की तरह लगते थे। शुक्ल और कृष्ण पक्ष उजले और काले रंगोंवाले रत्न-जैसे थे जो दर्पण पर जड़े रहते हैं ।८०। चन्द्र और सूर्य के मण्डलगण रत्न-जैसे थे, तारों के समूह चमकते हुए कान्तिमण्डल के हार थे। स्वच्छ आकाश फैले हुए महावस्त्र-जैसा था। ये सर्वदा घूमती हुई प्रकाशरेखा बना रहे थे ।८१। (देवी के) घूमते समय (सूर्यचन्द्रादि) संसार के सभी मणि झग्-झग्-झन्-झन् शब्द कर रहे थे। जितने ग्रहनक्षत्र थे, वे हस्तपादादि के आभूषण के रूप में ऊपर-नीचे हो रहे थे ।८२। संग्रामभूमि में मत्त होकर योद्धागण अपने काले खड्गों से जिस प्रकार दिन के प्रकाश को भी काला कर देते हैं और महान् जनकोलाहल उत्पन्न होता है, स्थिर

वस्तुओं के लुढ़कने से वैसा ही शब्द हो रहा था ।८३। हवा के झोंके से जिस तरह मच्छड़ अस्तव्यस्त हो जाते हैं, देवी के नृत्यभ्रमण में ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, महादेव, अग्नि, सूर्य, चन्द्र इत्यादि देव-दानव एक दूसरे के ऊपर गिर और उठ रहे थे ।८४। संहार-सृष्टि, सुख-दुःख, भव-अभव, इच्छा-अनिच्छा निषेध-विधि, जन्म-मरण, भ्रमादि परस्पर विपरीत होने पर भी मिश्रित और पृथक् रूप से (देवी के शरीर में) वर्तमान रहते हैं ।८५। भाव, उद्भव, स्थिति, विपत्, और करण के भ्रमों के, संहार, सृष्टि, भुवन, पृथ्वी के विलास की संख्या नहीं है। अपने शरीर का मिथ्याबिम्ब शून्य में दिखाई पड़ता है ।८६। उत्पात, शान्ति, मरण, उत्सव, युद्ध, साम्य, विद्वेष, राग, भय, विश्वासादि देवी के शरीर में रत्न-समूह का तरह शोभते हैं। नाना प्रकार के रसों की यह सृष्टि-परम्परा है ।८७। उसके चिद्गगन-रूपी शरीर में स्वभाव-रूपी सृष्टि की रचना का बोध मलिन दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु की तरह होता है ।८८। वह अनादि, चिन्मात्र आकाश और सभी कारणों का कारण है। दर्पण के हिलते हुए प्रतिबिम्ब की तरह स्थितिशक्ति में पड़ा हुआ स्थिर जगत् अचंचल रहने पर भी चंचल-जैसा दिखाई पड़ता था ।८९। बच्चे जिस तरह घरौंदा बनाते और बिगाड़ते हैं, उसी तरह नृत्यक्रिया (प्रताप) के अन्तर्गत जगत् के विषय प्रतिक्षण एक पूर्वस्थिति को छोड़कर अन्यस्थिति को ग्रहण कर रहे थे ।९०। क्रियाशक्ति (देवी के) शरीर के भीतर बार-बार भर उठती थी और पुंजीभूत होकर मूँग के दानों की तरह बिखर रही थी ।९१। क्षण भर कुछ दिखलाई पड़ता था किन्तु क्षण भर भी उसका कोई रूप नही रहता था। क्षण भर वह अंगुष्ठ मात्र थी और पल भर में ही आकाश में भर जाती थी ।९२। क्योंकि वह देवी सकला (सगुण-साकार) संवित् .चित्) शक्ति, जगन्मयी, अनन्ता और परमाकाश का कोश-रूपी शुद्ध शरीर-वाली है ।९३। तीनों काल और तीनों जगत् के भीतर वर्तमान रहनेवाली वह चित् (चेतना) शक्ति यथास्थित रूप में उसी तरह विकसित होती है, जिस तरह उदारचित्तवाले के हृदय में संसार की झंझटों का चित्र स्वाभाविक गति में बनता और बिगड़ता रहता है ।९४। वह एक चिदात्मा (चित् + आत्मा) है, सर्वात्मक है। प्रशान्त आकाश ही शरीर होने के कारण तथा एक चिदात्मा होने के कारण उसका आँख खोलना और बन्द करना ही उसका रूप (प्रपंच) है। इस तरह वह अनन्त रूप धारण करती है और अनादि मालूम होती है ।९५। असंख्य (स्फटिकादि) शिलाओं पर, रेखा, चक्र कमल आदि रचनाओं की तरह उसमें नाना प्रकार के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। उसके व्योमात्मक गगनमात्र शरीर में चित् के कारण समुद्र में तरङ्गों की तरह (ये दृश्य बनते और बिगड़ते रहते हैं) ।९६। महती भैरवी देवी आकाश भरकर, भैरव आकारवाले कल्पान्त रुद्र के सामने, नाचती रहती है ।९७। (कल्पान्त में) शिर (तृताय नेत्र) से निकले हुए अग्नि से सारा संसार जल जाता है और ठूँठ मात्र बचा रहता है। इन ठूँठों के वन में कल्पान्त वायु से प्रेरित वह नृत्य करती रहती है ।९८। कुदाल, ऊखल, चटाई, फल, घड़ा, पिटारी, मुसल, थाली, स्तम्भ, माला और ऐसी ही वस्तुओं की मालाओं के फूलों को नृत्यक्रिया के आवेश में वह तोड़ती और बनाती रहती है ।९९,१००। उसके अनुनय से वह आकाश भैरव भी उसकी तरह ही विस्तृत रूप धारण कर उसी वेग से नाचता है ।१०१। माथे पर गरुड़ के पंखों को लगाकर छाती पर मुण्डों की माला

धारण कर, रक्त और आसव से पूर्ण यम के भैंसे के महाश्रृंग को हाथ में लेकर डिबं डिबं आदि ताल पर नाचती हुई, प्रलय काल को पाकर प्रसन्न देवी से प्रशंसित भैरव हमलोगों की रक्षा करे।

सर्ग ८२

श्रीराम ने कहा—भगवन् ! यह क्या है। सर्वनाश में वह क्यों नाचती है। उसका सूप, फल, घड़े आदि की माला पहनना क्या है।१। तीनों लोक का नाश क्या है। फिर काली की देह में इसकी स्थापना कैसे हुई। सब की समाप्ति के लिये उसने नाच किया, फिर सभी वस्तुएं कैसे निकल आईं।

श्री वसिष्ठ ने कहा—न यह स्त्री है न पुरुष और न दोनों और न वह नाच है। उन दोनों की न कोई आवृति है। वह आचारमात्र है।३। वह अनन्त, शान्त, आभास मात्र, अव्यय और फैला हुआ है। वह कल्याणमय, सत्तामात्र (सत् शिव) है और साक्षात् देखने में भैरवाकार है। ऐसा होने के कारण जगत् के शांत होने पर वह केवल परमाकाश है।४,५। चेतन होने के कारण तथा भूत (आकार ग्रहण करना) उसका स्वभाव है। उसके विना वह रह नहीं सकता, जिस तरह सोना (कोई न कोई आकार अवश्य ग्रहण करता है)।६। हे प्राज्ञ ! कहिये जो चिन्मात्र है, वह चेतना के विना कैसे रहेगा, मरिच तीतापन के विना कैसे होगा।७। सोचिये, सोना कटकादि के विना कैसे रहेगा, अपने भाव के विना पदार्थ कैसे रहेगा।८। विना मधुरता के इक्षुरस कैसे रहेगा, जिसमें माधुर्य नहीं वह रस इक्षुरस नहीं है ९। चिन्मात्र जो अचेतन (निष्क्रिय, है वह चित् नहीं कहा जाता। नष्ट चिन्मात्र शून्य से कहीं उत्पन्न नहीं होता।१०। अपना सत्ता (स्थिति) मात्र छोड़कर उसका प्रशान्त (अक्षुब्ध) सत्तामात्र अपना आभास है, जो सर्वशक्तिमय और आदिमध्यान्त हीन है।१२। वही सृष्टि और संहार-काल में आकाश, पृथ्वी, दिशाएं, नाश, उत्पादन और नानात्व-रहित एक आकाशवत् हैं।१३। जनन, मरण, माया, मोह, मन्दी, वस्तुता, अवस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभाशुभ।१४। विद्या, अविद्या, विदेहत्व, संदेहत्व, क्षण, चिर, चंचलत्व, स्थिरत्व, तुम, मैं, दूसरे।१५। सत् असत्, मूर्खता पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलन, क्रीडा, कल्पना रूप, प्रकाश, मनःक्रिया, कर्म, बुद्धि, इन्द्रियादि, तेज, जल, वायु, आकाश, पृथ्व्यादि जो कुछ फैला हुआ है।१६।१७। यह सब कुछ शुद्ध चिदाकाश और निरामय है। आकाश की तरह सब का आत्मा बन कर स्थित है।१८। यह सब कुछ निर्मल आकाश है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके सिवाय जो कुछ है, उसका स्वप्नादि से, दृष्टान्त देकर उसकी खण्डना की गई है।१९। मैं ने कहा कि चिन्मय ही परमाकाश है। इसी का नाम शिव है। यही सदा बना रहनेवाला है।२०। यही हरि है, यही ब्रह्मा है चन्द्र, सूर्य, इन्द्र वरुण, यम, कुबेर, अग्नि।२१। वायु, मेघ, बीता हुआ दिन, जो नहीं है, ये सभी चिदाकाश के कोश के लेशमात्र के स्फुरण हैं।२२। ऐसी व्यर्थ की भावनाओं से इनके ये नाम पड़ते हैं। स्वभावमात्र के बोध से ये वैसे मालूम पड़ते हैं।२३। अज्ञान को ज्ञान समझना—यह क्रिया चिदाकाश में ही होती है। इसलिये द्वैत और ऐक्य नामक

कोई भेद नहीं है।२४। तन्मयता (तत् मय-ब्रह्ममय) प्राप्त कर जीव जबतक अपने यथार्थ निर्मल रूप (स्व-भाव) को नहीं जानता, तब तक वह अपने संसाररूपी महासमुद्र में तरङ्ग उठाता रहता है।२५। जान लेने पर यह सब शान्त हो जाता है, तब न समुद्र रहता है और न तरङ्ग। सब कुछ शान्त हो जाने पर वह अनन्त और पर हो जाता है।२६।

सर्ग ८३

मैंने जो यह कहा कि चेतनामात्र जो परमाकाश है, वही शिव है। तब रुद्र का नृत्य होता है।१। हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! यह जो आवृति है, यह उसकी आवृति नहीं है। वह चिन्मात्र घनीभूत व्योम है और इसी प्रकार इसका इसी तरह विकास होता है।२। मैंने ही उस शान्त आकाश और उसकी आकृति देखी है। मैंने ही उसे जाना है। और कोई उसे इस तरह नहीं देख सकता है।३। मैंने भली-भाँति जान लिया कि जो कल्पान्त है, वही भैरव है और वही भैरवी।४। चिदाकाश, पर और शून्य है। उसके साथ एक निष्ठा होने से वही भैरव के आकारवाला हो जाता है।५। वाच्य और वाचक का जब तक सम्बन्ध न हो, तब तक ज्ञान नहीं होता है। इसलिये देखी हुई बात का ही मैंने वर्णन किया है।६। भौतिक दृष्टि से जो कुछ वचन द्वारा कहा जाता है, क्षणभर में वही माया का रूप धारण कर लेता है।७। वह न भैरवी है, न भैरव और न प्रलय। यह सब कुछ भ्रम मात्र है जो चिद्व्योम में दिखाई पड़ता है।८। यह स्वप्नपुरी, काल्पनिक युद्ध, कथा से उत्पन्न रस और मनोराज्य के विलास की तरह है।९। स्वच्छ आकाश में स्वप्नपुरी अथवा मुक्ता के आभास की तरह अथवा आकाश में केशोण्ड्रक (?) की तरह घनीभूत चित् में चित् प्रकट होता है।१०। स्वच्छचिदाकाश अपने में आप प्रकट होता है। जैसा आभास होता है वह जगत् और उसके नाम क रूप में दिखाई पड़ता है।११। अपना आत्मा जिस तरह चिदाकाश में प्रकट होता है, उसी तरह पट पर भी प्रकट होता है और कल्पान्त अनल के नर्तन में भी उसी तरह प्रकट होता है।१२। निराकार शिव और शिवा के रूप का मैंने वर्णन किया। अब नृत्य की अनृत्यता का वर्णन सुनिये।१३। चेतना और चेतना के आधार में स्पन्दन के विना कोई भी वस्तु वा अवस्तु ठहर नहीं सकती।१४। अपने भाव (स्व-भाव) से चेतना रूप ग्रहण कर रुद्र रूप में स्थित होती है, जैसे कोई रूप ग्रहण कर लेता है।१५। स्थिति चेतना का स्वभाव है। स्पन्दधर्मी होने के कारण (नाम और रूप भी उसका स्वभाव है)।१६। घनीभूत चित् का स्पन्द है, वही शिव का और हम लोगों स्पन्द है। अपनी वासनाओं के रूप के अनुसार नृत्य होता रहता है।१७। अतः वह कल्पान्त शिव जो रौद्राकृति रुद्र होकर नृत्य करता है, उसे अपने घनीभूत चित् का स्पन्दन जानना चाहिये।१८। श्रीराम ने कहा· तात्त्विक दृष्टि से वास्तव में यह दृश्य है ही नहीं। जो दिखाई पड़ता है, वह सब कल्पान्त में नष्ट हो जाता है।१९। इस कल्पान्त महाशून्य परमाम्बर में घनीभूत चेतना अचेतन को कैसे चेतित करता है।२०। श्रीवसिष्ठ ने कहा – प्रिय! इस द्वैतभावना को शान्त करने के लिये कहता हूँ। यदि चिन्मात्र आकाश के लिये कुछ भी चेत्य (चेतित करने के लिये) नहीं है, तो वह कभी कुछ भी चेतित नहीं

करता है। विज्ञानघन आकाश सब प्रकार से शान्त और मौन है।२१,२२। जिसे चेतना कहते हैं, वह इसके स्वभाव की गति है, किन्तु यह अपनी सत्ता अवस्थिति) में शान्त रहता है।२६। जिस प्रकार स्वप्न में चित् ही अपने भीतर गाँव नगर बन जाता है, किन्तु विज्ञानाकाश छोड़कर वह और कुछ नहीं है।२४। उसी प्रकार चित्-शून्य सृष्टि से लेकर ज्ञेय तक को अपने ही विकसित रूप में देखता हैं।२५। स्वभाव-आकाश के कोटर में भीतर ही आप से आप बनती हुई चित् अपनी कल्पना से जगत-रूपी भ्रम को धारण करती है।२६। अपनी स्वाभाविक शून्यता में अपने ही भीतर कान्ति को फैलाता हुआ आकाश यह वह है, यह है, यह तुम है, इत्यादि कल्पना करता रहता है।२७। इसलिये न द्वैत है, न ऐक्य है, न शून्यता, न चेतन वा अचेतन, न वह है। केवल मौनता है।२७,२८। कहीं कोई वस्तु चेतित नहीं होती है, सभी अपने भाव से हैं। इसलिये चेतना देनेवाला भी कोई नहीं है। केवल मौन बच रहता है।२९। सारे वाङ्मय का सिद्धान्त निर्विकल्प समाधि है। वह जीव की मौनता है। इसलिये चुप रहना चाहिये।३०। जिस तरह धारा में बहती वस्तुएँ तटस्थ के लिये हैं उसी तरह प्रकृति के प्रवाह से बहते हुए आचार-विचार मान, मोह, मद, भेद, काम, जीव को मौन रहकर ग्रहण करना चाहिये। आकाश के विस्तार की तरह विशद विचारों से शान्त होकर रहिये।३१।

सर्ग ८४

श्रीराम ने कहा मुने ! अब कहिये, काली किस तरह नाचती है। सूप, फल, कुदाल मुसल आदि की मालाओं से जो वह ढंकी रहती है, वह क्या है।१। श्रीवसिष्ठ ने कहा— उस चिदाकाश भैरव का नाम शिव है। उसकी मनोमयी स्पन्दशक्ति को उससे भिन्न नहीं समझना चाहिये।२। जिस तरह वायु और उसकी गति, अग्नि और उसका ताप एक ही है, उसी तरह चित् और उसकी स्पन्दशक्ति सर्वदा एक ही है।३। स्पन्द से वायु और ताप से अग्नि का बोध होता है। चित्मात्र अमल और शांत, शिव कहलाता है।४। उसके स्पंद से मायाशक्ति का बोध होता है। इसमें कोई दूसरी बात नहीं है। शिव, शांत (स्पंदहीन) ब्रह्म है। वागीश भी उसका वर्णन नहीं कर सकते।५। उसकी इच्छा स्पंदशक्ति है। वह दृश्यों के आभास को फैलाती है। जैसे साकार नर की इच्छा कल्पना-पुरी बन जाती है।६। निराकार शिव की इच्छा वह पूर्ण करती रहती है। उसीका नाम चिति है और वही प्राणियों का जीव है।७। सृष्टि की उत्पत्ति का स्थान होने के कारण यह प्रकृति बन गई। दृश्याभास का कारण होने से यह क्रिया कहलाती है।८। वडवाग्नि की शिखा की तरह सोखनेवाली होने के कारण इसका नाम शुष्का है। चण्डित्व (क्रोध) के कारण चण्डिका कहलाती है और कमल का वर्ण होने के कारण वह उत्पला कहलाती है।९। जयमयी होने के कारण जया है और सिद्धिवाली होने क कारण सिद्धा है। जय करती रहती है, इसलिये जया है, और विजयवाली होने के कारण विजया है।१०। पराक्रम रूप होने के कारण पराजिता नाम है और कठिनता से मिलनेवाली है इसलिये दुर्गा है। ॐ की सारशक्ति होने के कारण उमा कहलाती है।११। गान

से सम्बन्ध होने के कारण गायत्री है, सबका प्रसवस्थान होने के कारण सावित्री है। सब प्रकार की दृष्टि के विस्तार का कारण होने से इसे सरस्वती कहा है।१२। शिव की देह की संगिनी और गौराङ्ग होने के कारण यह गौरी है। सोये और जगे हुए के हृदय में मात्रा-रहित उच्चारण के कारण तीनों लोक के जीवों की नित्य चन्द्रकला का नाम उमा है। शिव और शिवा का रूप आकाश होने के कारण उनका शरीर काला दिखाई पड़ता है।१३,१४। नभ इनका मांस (स्थूल शरीर) है, जिसे ये दोनों दृष्टियों से देखते हैं। आकाश आकाश की तरह है। आकाश-रूपी वे दोनों आकाश में स्थित हैं।१५। उन दोनों निराकार के, स्वच्छ आकाश की तरह तथा आकाश के अग्रज की तरह, आकार हैं। इनके हाथ, पैर, माथा बहुत-से और बहुत कम हैं।१६। हल, सूप आदि की माला के नानात्व के विषय में सुनिये। वह क्रियारूपिणी भगवती स्पन्दरूपा है।१७। देना, स्नान करना, हवन करना आदि इसके शरीर हैं। यह चिति शक्ति, अनादि और अन्तरहित है और अपने में आप-से-आप भासमान है।१८। वह आकाशरूपिणी है, बड़ी सुन्दरी (कान्ता) है, दृश्य की शोभा है और स्पन्दधर्मिणी है। उस देवी काली के जो नाना प्रकार के नृत्य के अभिनय हैं।१९। वे ब्रह्मा की सृष्टि, परिणाम (जरा) और मरण के विधान हैं। यह क्रिया, ग्राम, नगर, द्वीप के मण्डल का समूह है।२०। स्पन्दन करती, और कल्पित अवयव-वाली सब कुछ अपने भीतर धारण करती है। काली कमलिनी क्रिया और ब्रह्माण्डकालिका है।२१। अपने अवयव, इस दृश्य की शोभा, को हृदय में धारण करती है। चित् रूपिणी देवी कभी ऐसी नहीं रहती कि उसके अवयव का पता न लगे।२३। शिवत्व के अभिन्न होने के कारण शिव का यही रूप दिखाई पड़ता है। जिस तरह वायु का तो स्पन्दन है, किन्तु आकाश की शून्यता है।२३। चिति का काम है दृश्य को चेताना, जिस तरह ज्योत्स्ना (कुमुदादि को) चेताती है। शिव को शान्त, अनायास, अव्यय और निर्मल समझना चाहिये।२४। उसमें जरा भी स्तिमित होने का भाव नहीं है; क्योंकि स्पन्दन उसका धर्म है; क्योंकि तत्त्वज्ञान द्वारा उसकी उस क्रिया का बोध होता है।२५। जब उलटकर वह पूर्वरूप में आजाती है, तब शिव कहलाती है। चितिशक्ति देवी की क्रिया जब आत्मा में स्थान पा लेती है।२६। जैसी जीवों की स्थिति हो, तब उसका नाम शिव हो जाता है। चित्-शक्ति-रूपिणी, क्रिया-शक्ति-रूपिणी, स्वरूपिणी, महान् आकृतिवाली।२७। कल्पित आकार धारण करनेवाली देवी के ये अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। (वे अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं)—सृष्टि सज्जनों का समूह, चमकते हुए लोक, द्वीपसागर-सहित पृथिवियाँ, वनों-समेत पर्वतगण साङ्गोपाङ्ग तीनों वेद, तालस्वरयुक्त गीत।२९। विधि-प्रतिषेध, शुभाशुभ-कल्पना, अग्नि और दक्षिणापूर्वक यज्ञ, पुरोडाशादि का निरूपण, भूपाल, ऊखल, चटाई, सूप, यूप, संग्राम, आयुध-समेत ग्राम, शूल, शर, शक्ति, भुशुण्डी, गदा, प्रास, घोड़ा, हाथी, दस योद्धा, ज्ञाति, चौदह जीवसमूह, देवगण, चौदह समुद्र, द्वीप, पृथ्वी और चौदह लोक।३०,३२।

सर्ग ८५

श्रीवसिष्ठ ने कहा—परिस्पन्द के प्रतीक-स्वरूप पुष्ट और लम्बी भुजाओं से आकाश को

घना जंगल [1] बनाती हुई वह देवी नृत्य करती है ।१। अनामय चितिशक्ति वा क्रिया नृत्य करती है । इसके भूषण हैं—सूप कुदाल-समूहादि ।२। शर, शक्ति, गदा, प्रास, मुसलादि शिलादि, सृष्टि, संहार, पदार्थों के समूह, कला, काल-क्रमादि ।३। चित्स्पन्द, कल्पना-नगरी की तरह हृदय में अन्तर्जगत् को धारण करती है । वह अथवा यह जगत् कल्पनापुरी की तरह है ।४। पवन का जिस प्रकार स्पन्द है, उसी प्रकार वह शिव की इच्छा है । जिस प्रकार स्पन्द वायु में रहता है, उसी तरह इच्छा शिव में जाकर शान्त हो जाती है ।५। जिस प्रकार अनिल का स्पन्द अमूर्त को शब्दाडम्बर के रूप में आकाश में साकार कर देता है, उसी प्रकार शिव की इच्छा संसार को रचती है । ।६। । इति ।

११. एक आध्यात्मिक अनुभव

परिशिष्ट के इस अंश में एक साधक के प्रत्यक्ष अनुभव और उसके विवरण से भारतीय सभ्यता की बहुत-सी उलझनें स्पष्ट हो जाती हैं और शब्द ब्रह्म, परमे व्योमन्, परमाकाश, महारात्रि, नादबिन्दु, क्षीरसागर, अमृतसिन्धु आदि के रहस्य स्पष्ट होजाते हैं ।

श्रीप्रमोदकुमार चट्टोपाध्याय ने बंगला में 'तन्त्राभिलाषीर साधुसंग' नामक ग्रन्थ लिखा है । उसमें अपनी साधनाओं की एक अवस्था का विवरण इस प्रकार दिया है । घर में अशान्ति बोध होने से ये नैनीताल की एक गुहा में जाकर साधना करने लगे । वहाँ एक सिद्धपुरुष से भेंट हुई । अब उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

"वे—तुम यथार्थ में चाहते क्या हो ? तुम क्या सचमुच साधना-पथ में अग्रसर होना चाहते हो ? तुम क्या इसी एक उद्देश्य से यहाँ आये हो ?

मैं बोला—आप क्या अनुमान करते हैं । आप तो बड़े विलक्षण आदमी मालूम होते हैं ।

मेरी बात सुनते ही झट से उन्होंने मेरा एक हाथ पकड़ लिया । उसके बाद मेरे मुख की ओर आग्रहपूर्ण दृष्टि से देखकर बोले—बाबू ! आज दश दिन से मैं तुम्हारा असल भाव समझने की चेष्टा कर रहा हूँ । किन्तु सच कहने में क्या, मैं एक धोखे में पड़ा था, क्योंकि तुम्हारे अपने भीतर ही एक प्रबल द्वन्द्व चल रहा था, इसलिये तुम्हारे अन्तर का

---

१. कालिदास ने महाकाल के नृत्य में हाथों के जंगल का इस प्रकार वर्णन किया है—

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः ।
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां ।
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥

—मेघ०, १.३६

पीछे महाकाल के भुजतरुवन के ऊपर मण्डलाकार होकर छा जाना । टटका ओड़हुल के फूल की तरह संध्याकाल के तेज को अपने ऊपर धारण कर लेना और नृत्य के आरम्भ में पशुपति की भींगे हुए नागासुर के चमड़े की इच्छा को हर लेना और निश्चल शान्ति से स्थिर रहना । पार्वती तुम्हारी इस भक्ति को स्थिर दृष्टि से देखेंगी ।

भाव मैं ठीक-ठीक पकड़ नहीं पाता था। अभी वह मिल गया। बोल तो, तुम्हारे भीतर प्रबल द्वन्द्व चल रहा था कि नहीं ? मैंने स्वीकार किया कि अब भी चल रहा है।

यदि बुरा न मानो, तो किस विषय में यह द्वन्द्व चल रहा है, वह मैं कह दे सकता हूँ। सुनकर पूछने के भाव से मैंने उनकी ओर देखा।

उन्होंने निःसंकोचरूप से कहा—यह जो घर छोड़कर और यहाँ आकर तुमने योग के नियम से जिन क्रियाओं का आरम्भ किया है, वह ठीक-ठीक हो रहा है कि नहीं, यह सन्देह तुम्हारे मन में भीतर-ही-भीतर आज कई दिनों से बहुत-कुछ पीड़ा पहुँचा रहा है।

ठीक है ! आप जब जान गये तब मेरी इतनी परीक्षा क्यों की।

क्या लेकर द्वन्द्व चल रहा था, इसका तो पता मिला नहीं; क्योंकि मुझे दूर-दूर रखने की इच्छा से तुमने बराबर विरुद्धभाव से ही मुझे देखा है और मेरे विषय में सोचा है, इसलिये तुम्हारे भीतर का पता नहीं लगा। अब तुम पकड़े गये हो, बोलो अब क्या करूँ। तुम्हारे ऐसे एक आदमी की मुझे जरूरत है। तुम्हारे निकट आने का उद्देश्य ही हुआ पहिले तुम्हारी परीक्षा लेना और फिर तुम्हारे लिये कुछ करना। उसके बाद मेरे लिये कुछ करने की उपयुक्त भावना के लिये तुम को प्रस्तुत करना। क्यों,—मेरी बात तुम्हें अच्छी लगती है ?

किन्तु अब भी भीतर से अपना बन्धु समझकर इन्हें ग्रहण करने के लिये मेरा मन नहीं चाहता था। इतनी बात होने पर भी मेरा सन्देह, विशेषतः अन्तिम बात से प्रच्छन्न उद्देश्य का संकेत पाकर मन कुछ दब गया। साधन-साम्राज्य में यह सब लेने-देने की बात क्यों।

मेरे मन में कितनी बातें उठने लगीं। यह आदमी एकटक स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखने लगा,—कौन जाने क्या सोच रहा था। मालूम हुआ कि मेरे मन में जो-जो बातें अथवा भावनाएँ उठ रही हैं, मानों उन सब को वह पढ़ रहा है। बहुत देर के बाद मानों कोई नई वस्तु मिल गई, इस तरह से बोला—देखो, तुम जिस प्रकार मुझे ठीक-ठीक न समझ सके, मेरी बात लेकर गोलमाल में पड़ गये हो, मैं भी तुम्हारी बात लेकर बखेड़े में पड़ गया हूँ, मैं भी तुम्हें ठीक-ठीक न समझ सका। यह कहकर वे हा, हा, हा, हा, करके मुझ को चौंकाकर एक प्रकार की निरर्थक हँसी हंसने लगे, मानों कोई पागल हो। उसके मुख का भाव बड़ा भयंकर हो उठा।

मैं सह नहीं सकने के कारण यथार्थ में डरकर बोला, मैं आपको समझ नहीं सकूँगा। आपने मेरे भीतर बड़े ही उद्वेग और अशान्ति की सृष्टि की है। अब और नहीं। आप दया कर चले जाइये, नहीं तो मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।

वह फिर हा, हा, हा करके उसी पैशाचिक हंसी और कैसे तो अद्भुत रूप से मेरी ओर देखने लगा। असह्य ! उसी अन्धकार और प्रकाश में उसके इस रूप ने मेरे मन पर बड़ा भयंकर प्रभाव डाला। मैं निर्वाक्, निष्पन्द होकर उसकी ओर देखता हुआ बैठा रहा।

डर भी रहा हूँ और देखता हूँ—अरे मेरे वत्स ! अरे मेरे लाल ! तू इतना-सा हृ। हृत्पिण्ड लेकर साधना में उतरा है ? जरा-सा आगे-पीछे का उलटफेर देख रहा है और

डर से काँपकर मरा जा रहा है, बस इतनी ही तुम्हारी पूंजी है ? इतना कहकर मेरे दाहिने हाथ को दोनों हाथों में पकड़कर झुलाना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार हाथ हिलाने के साथ-साथ मेरा डर चला गया। क्रम से साहस आया, मैंने समझा कि भीतर ही भीतर विश्वास के साथ यह ज्ञान हुआ—यह आदमी साधारण नहीं है, पागल नहीं है, पिशाच नहीं है। यह मूर्त्ति जो मेरे सामने उपस्थित है, ये कोई सिद्ध महापुरुष हैं। इस बात के मन में आते-आते उन्होंने हाथ छोड़ दिया—यह देख ! कहकर मेरे पीछे की ओर गुहा में देखने का संकेत किया।

मैंने पीछे घूमकर गुहा के भीतर देखा—कुछ विशेष न देखने पर उनकी ओर उलट कर देखा, कोई कहीं नहीं ! और दो क्षण पूर्व कैसा एक जीवन्त भावना का प्रहसन चल रहा था। मैं अवाक् होकर बैठ गया।

क्या मालूम, इसमें ऐसा क्या देखा कि मेरी आँखों से झर-झर आँसू की धारा बहने लगी। क्यों ऐसा हुआ, यह ठीक-ठीक समझ नहीं सका। केवल यही मन में उठने लगा कि मेरे ऊपर तुम्हारी इतनी दया ? मै डर गया था। तुम्हारी भयानक, भयानक हंसी देख-सुनकर मुझे जो डर लगा था तुम अपने प्रभाव से मुझे उससे मुक्त कर गये ! हाय ! मैं कैसा क्षुद्रशक्ति हूँ ! इसी क्षुद्र शक्ति को लेकर, दुर्बल मन-बुद्धि को लेकर उस अखण्ड सच्चिदान्द महासत्ता की खोज में निकला हूँ ! इस महाप्रयास को देखकर अपने दुर्बल क्षुद्र अस्तित्व पर धिक्कार आया। वामन का चन्द्रमा पर हाथ ! अपने को मैं जितना ही क्षुद्र समझने लगा, उतना ही हृदय में एक मरोड़ देकर तथा केवल उनकी इस दया की बात स्मरण कर और वे कितने महान् हैं, इसका अनुभव कर आँखों से तप्त अश्रुपात होने लगा।

मैंने अनुमान किया कि इस प्रकार बहुत समय कट गया, निकट की धूनी बिलकुल ठंढी पड़ गई थी। उठा और गुहा बन्द कर हृदय में एक अपार्थिव साधनलब्ध शक्ति का अनुभव और उसके साथ शान्ति लेकर सो गया।

कार्तिक का महीना था। कनकन ठंढ। गाढ़ी नींद के बाद जिस तरह उठा करता था, मैं उठा। ढँपना हटाकर बाहरवाली गुहा में आकर आग जलाने के उपकरणों और पास ही इकट्ठे किये हुए सूखे चीर वा पाइन (देवदार) के डाल-पात से आग जलाकर छोटी-छोटी लकड़ियाँ और पीछे एक बड़ा-सा कुन्दा डालकर मैंने धूनी का काम समाप्त किया। एक बार बाहर जाना होगा। गुहा से बाईं ओर थोड़ी दूर जाने पर वहाँ से माथे पर खुला आकाश दिखाई पड़ता है। रोज एक बार आकाश की ओर देखता हूँ। तब इस समय माथे पर प्रायः कालपुरुष दिखाई पड़ते थे। आकाश की ओर ध्यान से देखने पर देखा कि आज उसी स्थान पर और एक मूर्ति है।

कैसी मूर्त्ति ? ऐसी तो कभी नहीं देखी थी, मानों आकाश के शरीर पर अंकित है। पीछे की ओर अन्धकार से मानो वह मूर्ति फूट पड़ी है। अभी कुछ दिनों से मैं देखा करता था कि कालपुरुष के तारे जरा पश्चिम की ओर चले गये हैं, आज भी वही देखूँगा, इसी विचार से मैंने ध्यान से देखा था। किन्तु देखा कि वह तारा भी नहीं है, नक्षत्र भी

नहीं है, है एक अनिर्वचनीय मूर्ति। मैं अच्छी तरह देखने लगा, थोड़ी देर में मूर्ति लुप्त हो गई। मूर्ति के लुप्त हो जाने पर भी उसके रूप की आकृति कुछ देर तक मेरी दृष्टि में थी। उज्ज्वल नील आकाश-पाताल को मिलानेवाला शरीर। माथे पर किरीट, कान में कुण्डल, और हृदय पर हार में लगे हुए मणि के चन्द्रमा की तरह उसकी स्निग्ध ज्योति थी। कमर में उज्ज्वल रत्नमण्डित अलंकार झूल रहा है। उसके नीचे झालर की तरह पीला कपड़ा है। एक हाथ में गदा, जिसका अन्तिम छोर प्रकाण्ड था। मालूम होता है कि उनकी दृष्टि मेरी ही ओर थी।

ज्यों ही यह मूर्ति विलीन हुई, मन में आया कि यह मूर्ति मेरी कला[1] की कल्पना और मेरे मन की सृष्टि है। सचमुच इसका अस्तित्व है, अथवा नहीं, यह समझना मेरी क्षुद्र बुद्धि से बाहर है। नारायण वा विष्णुमूर्ति की जो कल्पनामूलक अनुभूति मेरे मन में थी, वही इस शान्तिमय अवस्था में निर्जन आकाश के पट पर दिखाई पड़ी है। इसी मूर्ति का मैं यहाँ उल्लेख नहीं करता, किया यही सोच कर कि इसके बाद जो घटना हुई, उसके साथ इसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है।

सब के ऊपर देखता हूँ कि आज सबेरे से जो कुछ हुआ है, वह मेरी साधना की ओर से भी जैसे इस महापुरुष की अज्ञात और विचित्र कृपा है। मेरे साथ उनके हेल-मेल से जो-जो मेरे मन में हुआ था, मेरे सौभाग्य की दृष्टि से भी वह वैसा ही अद्भुत है। जो हो, अब मैं धूनी में और दो-एक लकड़ी डालकर भीतर जाकर आसन पर बैठ गया। जब गुहा के भीतर आसन पर बैठना होता है, तो प्राणायामादि क्रिया के लिये द्वार को खुला रखना आवश्यक होता है; क्योंकि अवरुद्ध स्थान में जहाँ हवा नहीं खेलती रहती, वहाँ किसी प्रकार के योग की क्रिया निषिद्ध है। इसलिये सोने के समय को छोड़कर सर्वदा गुहा का द्वार खुला ही रहता है वा रखना पड़ता है।

बड़ी सुखद स्मृति है उसकी, जो आज मेरे भाग्य में हुआ था। अन्त में आकाश के शरीर पर इस नारायण वा विष्णुमूर्ति के दर्शन की महानन्दमय स्मृति लिये हुए हूँ। ध्यान तो सहजरूप से ही हो गया है। इसलिये किसी आरम्भ वा उद्देश्य से नहीं, स्वाभाविक प्राण-चेतना की गति का अनुसरण करके ही चल रहा हूँ। साथ-साथ आनन्द की एक अपूर्व अनुभूति हो रही है। इस प्रकार कुछ समय बाह्यशून्य अवस्था में कट गया। हठात् उस धूनी के अल्प प्रकाश में देखता क्या हूँ कि गुहा के भीतर कोई एक आदमी आसन पर बैठा है। निष्पन्द शरीर मानों समाधिमग्न है। यह क्या है?—यह तो मेरा ही शरीर है,—मैं ही तो जरा-सा पहिले नींद से उठकर बाहर विष्णुमूर्ति देखकर पीछे निश्चित आसन पर बैठा था। कुछ देर तक बाह्य ज्ञान नहीं था। किसी प्रकार के ध्यान में मग्न अवस्था में शरीर से बाहर निकल आया हूँ। ऐसा तो पहिले कभी नहीं हुआ था। यह क्या हुआ! कौन जानता है कि यह कैसे हुआ! मेरे लिये तो अणिमा-लघिमादि की सिद्धि बिलकुल स्वप्न से भी बाहर है, स्वप्न में भी कभी उसकी कल्पना नहीं की थी! यह मेरी अहंशक्ति का खेल तो नहीं है! आश्चर्य हुआ कि मेरा शरीर, इन्द्रिय इत्यादि सब कुछ यहीं पर इसी

---

१. प्रमोद बाबू चित्रकार हैं।

आसन पर स्थाणु की तरह पड़ा हुआ है, और यहाँ से मैं उसे अपनी आँखों से उसी प्रकार देख रहा हूँ, जिस प्रकार और चीजें दिखाई पड़ रही हैं, किन्तु मेरी चक्षु-इन्द्रिय यन्त्र नहीं है। यह कैसे होता है ? यथार्थ में चक्षु की तन्मात्रा जो वस्तु है वह इन्द्रिय के बिना रह सकती है क्या ? आँखों के द्वारा जिस प्रकार स्टीरियोस्कोप में भी चित्र दिखाई पड़ता है और केवल आँखों से भी वह देखा जा सकता है। यन्त्र के भीतर से जब देखते हैं, तब उसी यन्त्र का अनुगामी होकर देखते हैं। जब बिना यंत्र की सहायता के देखते हैं तब स्वाभाविक दृष्टि होती है। यह भी ठीक वैसा ही है। जब चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा देखते हैं, तब उसकी सहायता से जो कुछ दिखाई पड़ता है, और जब उसके बिना देखते हैं, तब स्वाभाविक दृष्टि फूट उठती है और यंत्र का प्रभाव नहीं रहता। यंत्र द्वारा जो कुछ देखा जाता है, उसके प्रभाव से आसपास और सामने बाधा रहने पर उद्दिष्ट वस्तु नहीं दिखाई पड़ती, किन्तु अब आत्मचैतन्य को स्वाभाविक दृष्टि से देखने में इसमें कोई बाधा नहीं रहती। इस गुहा के भीतर सब कुछ देख रहा हूँ, इसके अतिरिक्त, दृष्टि फैलाने पर देख रहा हूँ समुद्र, आकाश, वायु, ग्रह-नक्षत्र—सब कुछ देख रहा हूँ, कोई बाधा नहीं है।

मुझ में केवल एक प्रबल [illegible] है। इसे सुख कहते हैं। अब यह समझ में आ रहा है कि शरीर कितना बड़ा भार है। विज्ञानमय कोषमात्र मेरी सारी स्मृति, सारी अभिज्ञता को लेकर मेरा आधार बन रहा है। यह कैसे समझाऊँ कि इस देहमुक्त अवस्था में कैसा आनन्द है। एक-एक बार मानों आनन्द का तरंग[1] आ रहा है और मुझे विह्वल कर डालता है। यह एक अति अद्भुत ज्ञान है, जो इससे पहिले कभी नहीं हुआ था। सिद्ध साधु महापुरुषों में यह सर्वदा होता रहता है।[2] इस अवस्था में उन्हें तीनों लोक की खबर मिलती रहती है और वे त्रिकालज्ञ हो जाते हैं।

और भी एक विचित्र बात है—जब किसी वस्तु को लक्ष्य करके देख रहा हूँ, उस समय ऐसा ही बोध होता है कि मैं शुद्धदृष्टि और द्रष्टा एक हूँ, बीच में न यंत्र है, न शरीर—और शरीर का बोध भी नहीं। दृष्ट वस्तु के साथ मेरा सम्बन्ध बहुत व्यापक हो गया है—जैसे लक्ष्य वस्तु और लक्ष्य, जो मेरे साथ वस्तु का सम्बन्ध जोड़ती है, वह पार्थिव दृष्टि और वस्तु, बिलकुल नहीं है। हठात् मेरे मन में हुआ कि मैं मर तो नहीं गया ? नहीं तो मैं बाहर कैसे आया ? इसी प्रसंग में शरीरत्याग तो नहीं हो गया। यह होगा कैसे ? मेरा शरीर-त्याग और मुझे ही मालूम नहीं। ऐसा क्या हो सकता है ! क्यों नहीं होगा ! बहुतों को तो होता है, जिनकी अत्यन्त दहात्म [illegible] (जानते-बूझते देह छोड़ना) है, उनके लिये असम्भव होने के कारण प्राकृतिक नियम से ही उन पर मृत्यु-मूर्च्छा आती है और उसी अज्ञान-अवस्था में ही वे देहत्याग करते हैं। इसके बाद फिर शरीर में लौट आने का उपाय उनके हाथ में नहीं रहता; क्योंकि वे जड़बुद्धि भोगी जीवमात्र हैं। मुझको ऐसा क्यों होगा। ना, ना, ना, ना, मेरी मृत्यु नहीं है। जीव के सचमुच देह छोड़ने के पहिले एक खींचा-तानी चलती है, उस मृत्यु का एक आभास होता है, मृत्यु-संस्कार से बहुत

१. यही क्षीरसागर और अमृतसिन्धु है।

२. यही ऋषित्व है।

देर तक उसमें एक आन्दोलन चलता रहता है,—यह सब तो मुझको कुछ भी नहीं हुआ है। अभी मेरा शरीर त्याग नहीं हुआ है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि मेरा ज्ञान, मेरा चैतन्य—कुछ भी इस अवस्था को मेरी मृत्यु कहकर स्वीकार नहीं कर रहा है। यह मेरी मृत्यु कभी हो नहीं सकती है। अब उस महापुरुष की शक्ति का प्रभाव समझ में आया। निश्चय यह उनकी सिद्धि का प्रभाव है। कृपा करके उन्होंने मुझे विदेहमुक्ति का आभास दिया। अपने बाह्यरूप के अन्तर्धान कर लेने पर भी उन्होंने मेरा त्याग नहीं किया है।

किस तरह मैं निकल आया हूँ, यह नहीं जानता; किस प्रकार फिर प्रवेश करूँगा यह भी नहीं जानता। यह सब होने पर भी यह मृत्यु नहीं है; क्योंकि अपनी चेतना इसका विरोध कर रही है। जो हो, अब मेरे इस उधेड़बुन के साथ-साथ एक प्रकार की गति होने लगी, जैसे मुझे ऊपर की ओर खींच रहा है। यह स्वाभाविक अपना ही खिंचाव था, किसी दूसरी शक्ति का नहीं। मनमें ऐसा विचार आया कि मैं ऊर्ध्वलोक का ही हूँ, मेरी गति इसी ओर है। इसमें भी संस्कार की कोई क्रिया है कि नहीं, यह नहीं जानता। तब मैं अपने में स्पष्ट अनुभव कर रहा था कि जब मैं यहाँ का वा इस राज्य का विषय-वस्तु नहीं हूँ तब यहाँ हूँ क्यों। यहाँ कौन लोग रहते हैं। जो स्थूल अहंसर्वस्व हैं, जो पंकिल हैं, जो कर्मविपाकग्रस्त हैं—भोगसर्वस्व देहत्याग होने पर भी वे ही यहाँ रहते हैं। जिनका भोगायतन गिर पड़ा है, वे यहाँ क्यों रहेंगे। रह ही नहीं सकते—यहाँ रहना दुःसह है। ये ही सब युक्तियाँ मेरे मन-बुद्धि में उमड़ तो पड़ी हैं, किन्तु मैं ता जरा भी हिलने का नाम नहीं लेता। भीतर एक आनन्द तो है ही, यदि कोई गति हो, तो वह भी उस आनन्द की ही गति होगी, किन्तु क्यों मेरा 'मैं' यहाँ से हिलता नहीं, क्या हो गया ?

हाय रे कपार ! ढेंकी स्वर्ग जाने पर भी धान कूटना छोड़कर और कर क्या सकती है। क्यों नहीं हिल सकता, जरा जानने की इच्छा होते ही मैं समझ गया कि यह जा मेरा शरीर वहाँ पड़ा हुआ है, उसे छोड़कर मैं जाना जो नहीं चाहता, देहत्याग करने पर भी ममता नहीं जाती, यही दिखाने के लिये इतने उधेड़बुन में से होकर जाना पड़ा और इस क्षेत्र में मेरा शरीर-त्याग नहीं हुआ है यह भी प्रमाणित होगया; क्योंकि यह यदि हो गया रहता, तो मैं अपनी ऊर्ध्वगति में आप बह जाता। असल बात यही है कि यदि देह से निकलकर मैं दूसरी अवस्था में रह जाऊँ, तो देह तो निःसहाय अवस्था में पड़ी रह जायगी, उसकी रक्षा कौन करेगा। लोग देख लेंगे, तो समझेंगे कि त्यक्त देह है और मिट्टी में गाड़ देंगे या जला देंगे। देह की कोई रक्षा करे ऐसी व्यवस्था तो कर नहीं आया। कैसे लौटूंगा। पहिले क्या यह बात मालूम थी। इसकी कोई तैयारी भी न कर सका। जब समझ गया कि देह के लिये ही मेरी प्रकृत ऊर्ध्वगति रुक गई है, उसी समय यह प्रत्यक्ष हो गया कि मेरी देह कितना बड़ा बन्धन है। एक प्रकार का विषाद आ गया। ठीक कहा जाय तो लगा जैसे एक विषण्ण भाव की हवा लगी—फागुन महीने में रात्रि के अन्त में भोर के समय जैसी हवा शरीर में लगती है और सारा सरीर सिहर उठता है,

वैसा ही। मानो मेरे मन और बुद्धि पर से एक अशान्ति का प्रवाह बह गया और साथ-ही-साथ मैं ने अपनी ऊर्ध्वगति का अनुभव किया, मानो अन्धकारमय रात्रि के बाद अरुणोदय हुआ। अत: कैसा आनन्दमय गम्भीर और परिपूर्ण आत्मप्रसार है। कैसे प्रकट करूँ, यह सूझ नहीं पड़ता, यह मेरे साध्य में है भी नहीं।

ऊर्ध्वगति सुनकर कोई यह न समझ लें कि ऊपर, अर्थात् आकाश की ओर गति। यह बिलकुल नहीं है। ऊर्ध्वगति का सहज अर्थ यहाँ होगा—मेरी चैतन्यसत्ता का प्रसार ! यह कैसे ? मेरा जो 'मैं' है, यह ज्ञान मानो गलकर पतला होकर गिर गया—उसमें किसी ओर किसी प्रकार की क्रिया नहीं रही। इसे छोड़कर दूसरी तरह से समझाना मेरे इस अल्प भाषाज्ञान द्वारा सम्भव नहीं। मैं अब खण्डसत्ता नहीं हूँ, मैं विशाल हूँ। मैं मानों सभी वास्तविकता के भीतर से होकर उसके बाद उसे छोड़कर एक महा आनन्दमय अस्तित्व से परिपूर्ण हो गया। मैं पूर्णज्ञान था, और आनन्द हुआ मेरी एकमात्र अनुभूति का विषय, केवल आनन्द सम्बल रहा। वह आनन्द का प्रवाह था। जिस प्रकार समुद्र में ढेव के बाद ढेव बहुत दूर से आकर समुद्र-तट में मिल जाता है, उसी प्रकार अनन्त आनन्द के विस्तार से आनन्द का ढेव, एक के बाद एक लगातार आकर मुझ में मिलता जा रहा है।' इसका वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि इसकी भाषा नहीं है।

इस प्रकार उस व्यापक अवस्था में, आनन्द के समुद्र में, महानन्द के तरंग पर तरंग के उपभोग करते ही फिर मैं पूर्वावस्था में आ पहुँचा। यही तो मेरा शरीर पड़ा हुआ है—मैं देख रहा हूँ। एक विषाद का शीतल तरंग फिर मानों मुझ पर से बह गया। तत्क्षणात् फिर उसी आत्मचैतन्य का विस्तार। आनन्द का तरंग, तरंग पर तरंग देशकाल के व्यवधान को ठेलकर आकर मुझ में मिलता जा रहा है। इसके बाद फिर संकुचित होकर पूर्वावस्था में आ पड़ना—यही मेरा शरीर है। इसी प्रकार चल रहा था। इसके बाद ही—

शरीर को लेकर एक प्रकार की गड़बड़ी शुरू हुई। आत्मचैतन्य स्थूलदेह को हठात् छोड़कर ऊपर उठना नहीं चाहता है। मेरे शरीर की क्या दशा होगी, यदि फिर लौटकर मैं इसमें न जा सकूँ। साथ-ही-साथ इधर आत्मचैतन्य भी प्रसारोन्मुख हो रहा है। तब ऐसी अवस्था थी, अब और कुछ हो गया। जो हुआ, वह वास्तव घटना नहीं है। उसका वर्णन करने में कहना होगा कि जिस प्रकार मछली पकड़ने में छीप फेंककर बैठकर फत्ता की ओर देखते रहने पर देखा जाता है कि जब मछली ठुकराती है, तब फत्ता ऊपर-नीचे होता रहता है, उसके बाद चों करके डूबकर अदृश्य हो जाता है—ठीक वैसा ही हुआ। मेरी चेतना, 'मैं' इसका ज्ञान, यह मेरा शरीर और यह मैं, साथ-साथ मेरी व्यापक सत्ता—इस ज्ञान से यह डूबना, फत्ता की तरह मैं घोर एक अन्धकार में जैसे हठात् डूब गया, मुझे किसी प्रकार का ज्ञान, चेतना वा बोध नहीं रहा।

---

१. सोमरस सुधासिन्धु और क्षीरसागर को स्मरण कीजिए।

२. इसी अनुभूति की भाषा वेद है और इसकी व्याख्या करते हैं युरोप के विद्वान् !

पीछे जब इस अवस्था की बात पर सोच-विचार किया है, तब ऐसा मालूम हुआ है कि यह जो प्रगाढ़ अंधकार, प्रकाश के नहीं रहने पर हम अनुभव करते हैं, यह अन्धकार वैसा अंधकार नहीं है। जब चेतना का प्रसार हुआ था, तब जिस प्रकार मैं वा चैतन्यमय सत्ता के बोध के प्रसारित होने से अपने एक विराट् रूप का अनुभव किया था यह ठीक उसी प्रकार का था। मैं नहीं हूँ अथवा मैं-बोध का अभाव वा शून्यता—उसे ही अंधकार कह रहा हूँ, यद्यपि उस समय पहिले-पहिल उस अवस्था में मुझे अन्धकार का ही बोध हुआ था। इसे और भी सरल करके कहा जाय तो कहना पड़ता है कि पहिले जिस अन्धकार का अनुभव हुआ था, पीछे वही आत्मज्ञान वा अस्ति अथवा 'मैं हूँ', इस बोध का अभाव बनकर उपस्थित हुआ था। वही प्रथम अनुभव का अन्धकार है। वह मेरे इस मैं-बोध-शून्य भाव का आभास है, वह अन्धकार[1] बड़ा ही अद्भुत है!

इसके बाद ही उसी प्रगाढ़ अन्धकार में मन में हुआ, जैसे मैं हूँ। वह किंतु भय का अन्धकार नहीं था, वह था ओतप्रोत अभावगत व्यापक अस्तित्व का अन्धकार। एक-एक बार देखता हूँ कि मैं अन्धकार में हूँ और फिर देखता हूँ कि मैं चैतन्यमय विराट् सत्ता हूँ। और कुछ नहीं है, वहाँ कल्पना नहीं है, संस्कार नहीं है, कोई शब्द नहीं है, गन्ध नहीं है, है मुझे स्पर्श करता हुआ रसरूप के एक विराट् अस्तित्व का आभास—यही वह अन्धकार है। इस अवस्था के लिये कोई भाषा नहीं रहने के कारण ही इसे अन्धकार कह रहा हूँ—किन्तु यहाँ अन्धकार कहने से जो हम समझते हैं, वह नहीं, नहीं, नहीं। वह बड़ा भारी महान्[2] पवित्र और सत्य वस्तु वा अस्तित्व—क्या कहा जाय, इस उस अन्धकार की तुलना में हमलोगों की जाग्रत अवस्था के सूर्य और प्रकाश सभी मिथ्या हैं। जब भाषा से किसी प्रकार समझा ही न सकूँगा, तब उसके बाद की बात कहता हूँ।

बहुत देर तक इस प्रगाढ़ अन्धकार में जैसे अन्धकार बनकर ही मैं आच्छन्न रहने की तरह रहा। उसके बाद मैं एक शब्दमय अवस्था में आया। आया न कहकर जग उठा कहना ठीक है। जागरण की तरह ही अवस्था हो गई, मानो मैं असंख्य ध्वनि की समष्टि हूँ,[3] एकान्त में ही इस शब्द वा ध्वनि का अनुभव कर रहा हूँ, 'कान से सुनने की तरह नहीं', अभी मानो मेरा शब्दमय अस्तित्व हो गया है। अद्भुत वह ध्वनि थी, गम्भीर—मृदंग के शब्द के साथ मेघ का गर्जन मिल जाने पर जैसा सुनाई पड़ता है, उसी प्रकार का शब्द—इसकी दूसरी उपमा नहीं है। यह मानो विराट् विश्व का आवर्तन शब्द है। देशकाल से अतीत यह सब गम्भीर और प्रत्यक्ष अनुभव भूलने का नहीं है। उस अवस्था में अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में और कितना और क्या-क्या अनुभव किया और नहीं किया है, उसका भाषा द्वारा वर्णन करना सम्भव नहीं है। किस प्रकार लौट आया, उसकी ही अब अन्तिम बात कहता हूँ।

१. अघमर्षणसूक्त की रात्रि को स्मरण कीजिये।
२. वेद के परमे व्योमन् और ऋतं बृहत् को स्मरण कीजिये।
३. नादबिन्दु, शब्दब्रह्म और 'यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् निर्ममे' को स्मरण कीजिये।

जिस प्रकार मैं अन्धकार में डूब गया था, ठीक उसी प्रकार बहुत देर के बाद मानो हठात् दिव्य प्रवाह में बह गया और साथ ही साथ यह मेरा शरीर ! मानो किसी स्मृतिमय अनुभूति का आभास लेकर एक महाआनन्दमय स्वप्न से मैं जग उठा । वह क्या ! वही महापुरुष मेरे शरीर के निकट ही एक आसन पर बैठे हैं। उस समय मेरी चेतना में इस देह पर अधिकार करने के लिये एक प्रवल आन्दोलन चलने लगा। मैं इस शरीर में जाना चाहता हूँ और इस महात्मा की संगति करना चाहता हूँ। वे मेरे अत्यन्त अपने हैं। साथ ही साथ एक चमक—और देखता हूँ कि मैं देह में आ गया हूँ । आँख खोलकर देखता हूँ कि महापुरुष मेरी ओर देखकर मृदु-मृदु हंस रहे हैं—उनमें मानो सारे जगत् का रहस्य भरा हुआ है। समझा कि यह सब उनकी ही शक्ति का खेल है।[१] इस देहात्मबोध के साम्राज्य में जहाँ रोगी, भोगी, कर्मी, बालक, युवा, वृद्ध, नरनारी निर्विचार होकर देहात्मबुद्धि द्वारा भोग की इच्छा से ऊबते-डूबते हैं, उन्होंने मेरी अज्ञान-अवस्था पर कृपा करके दिखा दिया कि देहमुक्तावस्था क्या है और यह शरीर ही मैं-सत्ता का कितना बड़ा एक बन्धन है।"

१२. सप्तव्याहृति और प्रतीक

वेद-प्रकरण में सप्तव्याहृति की चर्चा हो चुकी है । वहाँ मैंने प्रसंगवशात् केवल श्रीअरविन्द द्वारा की गई सप्तव्याहृति के रूप की चर्चा की है । प्रतीक-विद्या के सिद्धान्तों की सहायता से इनके जो रूप स्पष्ट होते हैं, यहाँ उनका विवरण दिया जाता है।

ब्रह्म के प्रत्यक्ष द्रष्टा ऋषियों ने अशेषसत्ता को अपनी साधनाओं द्वारा प्रत्यक्ष किया और उस अनिर्वचनीय अनुभूति को शब्दों और कल्पनाओं के द्वारा प्रकट करने की चेष्टा की, किन्तु शब्द और कल्पना सर्वदा अधूरे होते हैं और अनुभव को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। इसलिये जिनको जैसा अच्छा लगा और उचित जान पड़ा उसी तरह उन्होंने अपने शब्दों और कल्पनाओं का प्रयोग किया। इसलिये एक ब्रह्म और ब्रह्मानुभूति के अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है । किसी ने इसे अप्, किसी ने ज्योति, किसी ने रस, किसी ने अमृत, किसी ने परमे व्योम, किसी ने परमे वृक्ष, और किसी ने अश्व, वृषभ इत्यादि कहा। ऐसी ही कल्पनाओं में एक कल्पना पुरुष-रूप की है। वेद कहते हैं 'पुरुष एवेदं सर्वम्' यह सब कुछ पुरुष ही है। इसी आधार पर विष्णु (विश्वव्यापिनी) शक्ति की पुरुष-रूप में कल्पना की गई, उसी अशेष सत्ता को कालपुरुष कहा गया और गीता में पुरुष और पुरुषोत्तम योग का निर्धारण किया गया।

वेदज्ञों और साधकों का ऐसा विश्वास है कि अशेष सत्ता ने विश्व की रचना की कल्पना पुरुष-रूप में की। विराट् पुरुष के रूप में सृष्टि की रचना और संचालन-क्रिया में अशेष शक्ति सात केन्द्रों से काम करती है। मनुष्यमूर्ति इस विराट्पुरुष का लघुरूप है और इसमें वे सातों केन्द्र वर्तमान हैं। इन केन्द्रों का नाम चक्र वा पद्म है[२] और ब्रह्मविद्या के सभी उपासक, चाहे वे किसी सम्प्रदाय के क्यों न हों, इन्हीं केन्द्रों को जागरूक करके महाशून्यता

१. गीता के 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' को स्मरण कीजिये।

२. इनके विशेष विवरण के लिये 'षट्चक्र निरूपण', देखना चाहिये।

अर्थात् निरुपाधि और निर्विकल्प समाधि प्राप्त करते हैं । व्याहृतियों और इन चक्रों का समरूप इस प्रकार है —

व्याहृति	चक्र या पद्म	तत्त्व
सत्यम्	सहस्रार	महाशून्य, परमे व्योमन् महाशिव, केवल इत्यादि ।
तप:	आज्ञा	मन, बुद्धि, अहंकारादि ।
जन:	विशुद्ध	व्योम
मह:	अनाहत	मरुत्
स्व:	मणिपूर	तेज
भुव:	स्वाधिष्ठान	अप्
भू:	मूलाधार	पृथिवी

इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर देवप्रासाद, शिवलिङ्ग, देवदेवियों की प्रतिमाएं तथा ब्रह्म-विद्या की साधना के लिये नाना प्रकार के प्रतीकों का निर्माण किया जाता है ।

देवप्रासाद में भू: चतुष्कोण आधार है, जन: आमलक है, तप: शिखरस्थ अमृत-कलस है और सत्यम् अनन्त की ओर संकेत करती हुई लहराती ध्वजा है । भू: और तप: के बीच सारी सृष्टि के भिन्न-भिन्न रूप अङ्कित और निर्मित रहते हैं । इसी सिद्धान्त पर मन्दिर के ऊपर बने हुए शिखर एक, तीन, सात और चौदह भूमियों अर्थात् महलों के रूप में बनाये जाते हैं। एक भूमि ॐकार है, तीन त्रिव्याहृति हैं और सात भूमि सप्तव्याहृति हैं । चौदह भूमि में सप्तपाताल भी सम्मिलित हैं । साकार सृष्टि के बाहर जो महारात्रि वा महान्धकार फैला हुआ है, जो ऋषियों और योगियों के लिये भी अगम्य है, उसका प्रतीक सप्तपाताल है। मनुष्य-रूप में रीढ़ के भीतर ही सातों प्रकाशमय अथवा तेजोमय केन्द्र हैं और कटि से नीचे सप्तपाताल हैं, जिनका रहस्य अथवा अन्धकार अभेद्य है ।

शिवलिङ्ग में पृथ्वी के नीचे चतुष्कोण ब्रह्मांश भू: है। ऊपर वर्तुल शिवांश सत्यम् अर्थात् परमेव्योमन् है और इसके बीच की सारी सृष्टि विष्णवंश है, जिसमें समस्त प्रकृति का प्रतीक वृत्ताकार वेदी है और भिन्नाप्रकृति का अष्टकोण उसके भीतर है, जिन्हें मिथुन मूर्त्तियों के रूप में देवप्रासादों पर अङ्कित किया जाता है ।

बुद्धप्रतीक में धर्म (धारण करनेवाली शक्ति) भू: है, बुद्ध सत्यम् हैं और इन दोनों के बीच सारी सृष्टिलीला के प्रतीक संघ की क्रियाएं होती हैं । (जगन्नाथ की मूर्त्ति के साथ अन्यान्य बुद्ध-प्रतिमाओं को स्मरण कीजिये ।) भू: धर्म और सत्यम् बुद्ध के बीच में सारी सृष्टि संघ (स्त्रीमूर्त्ति) है, जिन्हें वैष्णव बलराम, सुभद्रा और कृष्ण कहते हैं । तीर्थंकरों की स्थाणुकादि मूर्तियों में भी ये ही सिद्धान्त काम करते हैं ।

इससे सिद्ध होता है कि मानव ज्ञान के विकास की चरम सीमा वेद हैं और उन्हें चरवाहों और आदिम असभ्य मानवों के गीत मानना बड़ी भद्दी भूल है । इस असत्कल्पना से भारत और भारत की सभ्यता का सारा इतिहास ही उलट-पुलट हो जाता है ।

चित्र-परिचय

गणेश

चित्र-संख्या १—यह Moor's Hindu Pantheon का चित्र है। गणेश के इस चित्र में प्रतीकात्मक सभी संकेत हैं। ऊपर सर्प से घिरा ॐ है, यह कालरूप गतिशक्तियुक्त स्रष्टा, शब्द-ब्रह्म है। मूर्ति शिवलिङ्ग की तरह तीन भागों में बनी है। नीचे वाहनवाला भाग, मध्य भाग, और ऊपर वर्तुलाकार, प्रभा-मण्डल है। पञ्चतत्त्व में काम करनेवाली गति, अर्थात् काल पञ्चमुख सर्प है। गणेश के मस्तक के पीछे इसकी लपेट के दो कुण्डल नाद-बिन्दु हैं। सोमरस बरसानेवाला घनीभूत अमृतत्व मस्तक पर चन्द्रकला है। सूँड़, अर्द्धमात्रा की तरह नाद, और इसके साथ सम्बद्ध मोदक बिन्दु है। एक हाथ में त्रिशक्ति, त्रिगुणादि का प्रतीक त्रिशूल है। दूसरे में अज्ञान का हन्ता परशु है। एक हाथ में लड्डू है। यह सृष्टि का संकेत-बिन्दु है। नीचेवाले दाहिने हाथ में वर है। धर्म का प्रतीक मूषक, वृषभ की तरह बना हुआ है। यह धर्म है, जो विभु का अपना रूप है। अन्यथा दूसरा कौन इसे धारण कर सकता है। धर्मरूपी अपनी शक्ति पर ही विभु स्थिर हैं। लौकिक अर्थ में चूहा विघ्न का प्रतीक है। इसे दबाने और वश में रखने के लिये मोदकों के रूप में सृष्टि के जीवों और बुद्धि से भरा हुआ विशाल उदर है, जो विघ्न को वश में किये रहता है। यदि बुद्धिमत्ता से विघ्न को न दबाया जाय, तो यह व्यक्ति, राष्ट्र इत्यादि को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा।

चित्र-संख्या २—यह डॉ० आनन्दकुमारस्वामी के 'विश्वकर्मा' नामक ग्रन्थ के प्लेट (पट) सं० ३४ का चित्र है। यह मूर्ति जावा की है और अनुमान किया जाता है कि ईस्वी की तेरहवीं शताब्दी की है। इसमें गणेश, सृष्टि के प्रतीक कमल पर बैठे हैं। यहाँ इनका ॐकार-स्वरूप स्पष्टरूप से अङ्कित है। मस्तक ॐकार का ऊपर वाला गोलक है और निम्नांश विशाल उदर है। सूँड़ अर्धचन्द्राकार नाद का प्रतीक है और मोदक बिन्दु है।

चित्र-संख्या ३—यह डॉ० आनन्दकुमारस्वामी के 'विश्वकर्मा' के पट-सं० ३५ का चित्र है। यह मूर्ति जावा के सिंगसेरी के खंडहरों में मिला है। इस समय Eathnographische Reichsmuseum, Leiden, जर्मनी में है। अनुमान किया जाता है कि यह ईस्वी सन् की चौदहवीं शताब्दी की मूर्ति है। यह गणेश के ब्रह्मरूप की अत्यन्त

मनोहर मूर्ति है, जिसमें सिद्धान्त के सभी प्रतीक अधिकार के साथ बड़ी दक्षता से अङ्कित किये गये हैं। आसन के सात मुण्ड सातों भुवन में विहार करनेवाले काल के संकेत हैं। यह सात मस्तकवाले शेषनाग का प्रतिरूप है, जिस पर रहकर विष्णु (विश्वव्यापी) जगत् का संचालन करते हैं। काली के कानों में लगे हुए दो शवों की तरह इनके कानों में दो मुण्ड हैं, जो जगज्जाल के कारण धर्माधर्म हैं। मस्तक पर तीन स्तरों में बना हुआ मुकुट, त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रिदेव, त्रयी आदि का प्रतीक है। उस पर लगा हुआ मुण्ड इनके महाकालत्व का संकेत है। ऊपरवाले दोनों हाथों में त्रिपुरा की तरह पाश और अंकुश हैं। नीचे के बायें हाथ में मोदक है और दाहिने वरदमुद्रावाले हाथ में भक्तों के लिये सिद्धि का फल है। नीचेवाले हाथों और पैरों की पाँच-पाँच अंगुलियाँ बहुत ही स्पष्ट बनाई गई हैं। ये नटराज के प्रभामण्डल में लगी हुई ज्वालाओं के पाँच स्फुलिंग की तरह पञ्चतत्त्व के प्रतीक हैं। पैर की अंगुलियों के ऊपर बने हुए नूपुरों की संख्या भी पाँच है। ये सभी एक ही भाव के प्रतीक हैं। कालसर्प का यज्ञसूत्र है। पैरों के बीच में उदर की रचना कर पूर्ण ॐकार के स्वरूप का निर्माण किया गया है। मस्तक ॐ का ऊर्ध्वांश और पैर-समेत उदर निम्नांश है। उदर विशाल कलस के आकार का बना हुआ है। यह वेद का अप् और अशेषकारणत्व का सुधासिंधु अथवा अमृतघट है। इस पर काल या सर्प का यज्ञोपवीत है। नाद का प्रतीक सूंड़ पूर्ण अर्धचन्द्राकार है और करस्थ-बिन्दु के ऊपर बैठा है। सबसे अधिक ध्यान देने की बात है कि सम्पूर्ण मूर्ति शिवलिङ्गाकार है। मूर्ति की बाहरी रेखा शिवलिङ्ग के रूप में है और दूसरा शिवलिङ्ग गणेश के मुकुट और पीठ के पीछे बना हुआ है। यह ॐकाररूपी पूर्णब्रह्म का प्रतीक है। आश्चर्य है कि १४वीं शताब्दी तक जावा में ऐसी मूर्ति बनती थी।

चित्र-संख्या ४—यह चोलकाल की, पीतल की, गणेश की मूर्ति है। इलस्ट्रेटेड वीक्‌ली औफ इण्डिया के २३ अगस्त, १९५७ वाली संख्या में प्रकाशित हुई थी। यह मूर्ति चतुष्कोण स्थितितत्त्व पर बनी है। इसमें सृष्टि का पद्‌म है, जिसमें भिन्नाप्रकृति के आठ तत्त्वों (पंचतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) के आठ दल हैं। इनमें पाँच सामने दिखाई पड़ते हैं और तीन सम्भवत: पीछे की ओर हैं। इसके ऊपर अभिन्ना अर्थात् समस्त प्रकृति का वृत्त है। द्विभंग नृत्यमुद्रा में स्थिति और गति, अर्थात् शक्तिमान् और शक्ति के प्रतीक ब्रह्मस्वरूप गणेश खड़े हैं। कटिवस्त्र दिक् है और कालसर्प का यज्ञसूत्र है। ऊपरवाले दोनों हाथों में पाश और अंकुश हैं। दाहिना नीचेवाला हाथ अभय मुद्रा में है। इसमें कोई यंत्र बना है और सिद्धि का फल है। नाद का प्रतीक शुण्ड अर्धचन्द्राकार में है, जिस पर बिन्दु है। सूंड़ पर अर्धचन्द्र सोमरस अथवा अमृतत्व का प्रतीक है। यही ब्रह्मानन्द है। दोनों नेत्रों के बीच में बिन्दु और उस पर नाद (अर्धचन्द्र) बना है। मुकुट के तीन चक्र, त्रिशक्ति, त्रितत्त्वादि के प्रतीक हैं। इनके ऊपर सृष्टिरूपी महारम्भ का मूल बिन्दु है।

चित्र-संख्या ५—यह चित्र पटना म्यूज़ियम की एक गणेश-मूर्ति का है। इसमें ब्रह्मगणेश के सभी प्रतीक अङ्कित हैं। अनुमान किया जाता है कि ईस्वी सन् से पूर्व द्वितीय शताब्दी की यह मूर्ति है। गणेश के रूप में गणेश-पूजा कब से प्रचलित थी, यह कहना कठिन है।

चित्र-संख्या ६—यह श्री टी० गोपीनाथ राव के Elements of Hindu Iconography Vol. 1, Pt. 1, पृ० ५६ के पट, संख्या १३ का चित्र है। यह सिंहवाहन गणेश की मूर्ति है। यहाँ ब्रह्म का वाहन, उनका अपना ही दूसरा रूप है। यह धर्म है। चतुष्कोण पीठ, वृत्त तथा अन्यान्य संकेत उपर्युक्तवत् हैं।

चित्र-संख्या ७—यह चित्र उपर्युक्त ग्रन्थ के पृ० ५८ के पट, संख्या १४ का चित्र है। इसमें प्रकृति अर्थात् मायाशक्ति प्रभामण्डल के रूप में दिखलाई गई है। इसका स्थूल रूप पञ्चतत्त्व है, जो मण्डल से लगी हुई पाँच-पाँच स्फुलिंगोंवाली ज्वालाओं द्वारा दिखाया गया है। यही भावना जब शिवलिङ्ग के रूप में अङ्कित की जाती है, तब बीच की मूर्ति शिवलिङ्ग बन जाती है और प्रभामण्डल वेदी बन जाती है तथा गणेश के पैरों के निकट-वाला अंश सोमसूत्र, अर्थात् अम्बुप्रणाली का रूप ग्रहण कर लेता है। और संकेत उपर्युक्तवत् हैं।

चित्र-संख्या ८—यह नटेश गणेश की मूर्ति है। उपर्युक्त ग्रन्थ के पृ० ५९, पट १६ का चित्र है। ब्रह्म की निरन्तर गति और स्पन्दन का ही नाम नृत्य है। इसलिये ब्रह्म की जितने रूपों में कल्पना की जाती है, सब का नटरूप होना स्वाभाविक है।

चित्र-संख्या ९—यह पटना-म्यूजियम की एक नटेश गणेश की मूर्ति है। पैरों के नीचे मूषिक है। यह विघ्न है। बुद्धि के देवता विघ्नप्रयोग से प्रतिपक्षियों का नाश करते हैं और विघ्न को रोककर सिद्धि प्रदान करते हैं। यह छह हाथोंवाली मूर्ति है। बायें तीन हाथों में नीचे से क्रमशः मोदक, अभय और नागपाश, अर्थात् काल का बन्धन है। दाहिने हाथों में नीचे से परशु, अभय और चक्र-जैसा कोई अस्त्र है। माथे पर आनन्दामृत का सोम (चन्द्र) है। तीन लपेटों में बना हुआ मुकुट त्रिशक्त्यादि का प्रतीक है। मुकुट के उपर उँ अर्थात् ओंकार के आकार का संकेत बना हुआ है। कालसर्प का यज्ञ-सूत्र है। दोनों पार्श्वदेवता ऋद्धि-सिद्धि भी नृत्य कर रही हैं। ऊपर देव-गन्धर्वादि भी नृत्य में सम्मिलित हैं। मूर्ति की बाह्य रेखा शिवलिङ्गाकार है।

चित्र-संख्या ९ क—यह चित्र वेदारण्यम् (दक्षिणापथ) की एक मूर्ति का है (देखिये इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया, सितम्बर १३,१९५८, पृष्ठ ३३ और ३४)। यह नटेश गणेश की एक अपूर्व मूर्ति है। चिदाकाश (चेतना के विस्तार) में ब्रह्म का स्वाभाविक निरन्तर स्पन्दन ही उसका निरन्तर नृत्य है, जो जगत् के आदि, मध्य और अवसान का कारण है। इसलिये ब्रह्मस्वरूप सभी देवदेवियों की नृत्यमूर्तियाँ होती हैं। प्रकृति के पद्म की कर्णिका पर गणेश का नृत्य हो रहा है। विशाल उदर ऋतं बृहत् ब्रह्मानन्द के महानन्द का सुधासिन्धु अथवा अमृतकलश है। यही अमृतकलश ब्रह्मा और बुद्ध के कमण्डल तथा शिव और विष्णु की गंगा हैं। कालसर्प का उदरबन्ध और यज्ञोपवीत है। उदरबन्ध इस तरह बना हुआ है कि कलश के बीच के जोड़-जैसा मालूम होता है। इसपर त्रिशक्ति त्रिरत्न के रूप में जड़ी हुई है। नाभि 'अमृतस्य नाभिः' है। ऊपरवाले दोनों हाथों में पाश और अंकुश हैं और नीचेवाले दोनों हाथ अभय और वरद-मुद्रा में हैं। दोनों हाथों में बिन्दुरूप सृष्टि के संकेत दो मोदक हैं। सूँड़ और इसके

मोदक से सुन्दर नादबिन्दु (चन्द्रबिन्दु) का रूप बनता है। माथे पर त्रिशक्ति का करण्ड-मुकुट है, जिस पर अमृतस्रावी पूर्णचन्द्र बना हुआ है।

चित्र-संख्या ६ ख —यह तंजोर के अवदायर कोइल के मन्दिर की मूर्ति है (इलस्ट्रेटेड वीकली का उपर्युक्त अंक देखिये)। इसमें अमृतत्व के महाभाण्ड का रूप विनायक के उदर के रूप में स्पष्ट कर दिया है। उदर ठीक विशाल कलश जैसा है। इसका जोड़ भी स्पष्ट है। और संकेत पूर्ववत् हैं।

चित्र-संख्या ६ ग —यह गणेश की मूर्ति वहीं की है। इसमें उदर का अमृतभाण्डरूप और अर्धमात्रा के प्रतीक नादबिन्दु अत्यन्त स्पष्ट हैं।

चित्र-संख्या ६ घ—यह नागपत्तनम् (दक्षिणापथ) के कयरोगण स्वामी मन्दिर की मूर्ति है। यह सिंहवाहन विनायक की मूर्ति है। यहाँ ब्रह्म अपनी ही शक्ति धर्म पर स्थित हैं। पंचतत्त्व के प्रतीक पैरों की पाँचों अंगुलियाँ स्पष्ट हैं। दोनों चरणों के बीच कपड़ों से त्रिशक्ति का त्रिशूल बना हुआ। उदर अमृतभाण्ड है, जिस पर लोलुप कालसर्प फण फैलाकर पड़ा हुआ है। नाभि 'अमृतस्य नाभिः' है। यह टोंटी की तरह बनी है, जिससे जगत् की तृप्ति और रक्षा के लिये अमृतरस की धारा बह रही है। शुण्डाग्र नाद के अर्धचन्द्र की तरह बना है। नीचेवाले बायें वरद हस्त में त्रिशक्ति का त्रिशूल है। अन्य हाथों में आयुध-शक्तियों की व्याख्या पहिले हो चुकी है। मध्यवाला मुख गजमुख और पार्श्ववाले दो मुख वराह के हैं। यह शिव की त्रिमूर्ति की तरह त्रिगुण और त्रिशक्ति का प्रतिरूप है। यथार्थ में सभी आकारों के आधार निराकार ब्रह्म का कोई रूप नहीं है। ध्यान के समय मन के अवलम्ब के लिये उसका मछली (मत्स्य) कछुआ (कच्छप) सिंह (नृसिंह) साँप (अनन्त वा शेष) आधा पक्षी और आधा पशु (शरभ) इत्यादि तथा नर्मदेश्वर, शालग्रामादि प्रस्तरखण्डों के रूप में, अर्थात् किसी भी रूप में इसकी कल्पना की जा सकती है। छिन्नमस्ता में इसके कटे हुए मस्तक से यही दिखलाया गया है कि सहस्रशीर्षा होने पर भी इसको एक भी शिर नहीं है। करण्ड-मुकुट पर और उसके पार्श्व में बने हुए कानों पर भी त्रिशक्ति की तीन रेखाएँ और त्रिशूल बनाये गये हैं। इसे चित्र-संख्या ६ से मिलाकर देखिये।

चित्र-संख्या ६ च—यह मदुरा (मथुरा, दक्षिणापथ) की मूर्ति है। इसमें निम्नांश सिंह का, मध्यांश मनुष्य का और ऊर्ध्वांश गज का बना हुआ है। यह नृसिंह, शरभ, वराहविनायक (चित्र ६ घ) की तरह नृसिंहगज ब्रह्ममूर्ति है। देवी रूप में इसके अंकित होने के कारण उदर को फैलाकर अमृतघट बनाने से कला का सौन्दर्य नष्ट हो जाता। इसलिये उदर में ब्रह्मानन्द का अमृतघट बना हुआ है। जगत् को प्राण और पुष्टि देनेवाले ज्ञान और कर्म के दोनों इच्छाक्रियारूप स्तन अनावृत हैं। नाभि और दोनों स्तन, महाशक्ति की प्राप्ति की योनि, अर्थात् त्रिकोण का संकेत करते हैं। मस्तक और शुण्ड सुन्दर अर्धचन्द्राकार हैं। बायाँ पूर्णदन्त बिन्दु का काम करता है। स्त्री का स्वाभाविक सौन्दर्य, लावण्य और विलास का अंकन मूर्ति में देखते ही बनता है। मातृरूप में ब्रह्मविनायक की यह एक परम मनोहर प्रतिमा है। इसे विष्णु की मातृमूर्ति (चित्र-संख्या १३) और शिव की मातृमूर्ति (चित्र-संख्या ३१) से मिलाकर देखिये।

चित्र-संख्या ९ छ—यह कन्याकुमारी के निकट सुचीन्द्रम् की मूर्ति है। यह मातृरूप में ब्रह्मगणेश की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है। मूर्ति चतुष्कोण पीठ पर ज्ञानमुद्रा में बैठी है। नीचेवाले दोनों हाथ अभय और वरद-मुद्रा में हैं। मा के दोनों अमृतघट अनावृत हैं। ऊपरवाले दोनों हाथों में शिव, त्रिपुरादि की तरह पाश और अंकुश हैं। सूँड़ अर्धचन्द्राकार है। आधी खुली आँखों से करुणा-वृष्टि हो रही है। मालूम होता है कि ओठ और आँखों से बरसता हुआ अमृत का फुहारा शरण में आये हुए संतप्त जनों का सिंचन कर रहा है। कालरात्रि के केशों के महाविस्तार की तरह केशराशि फैली हुई है। इस चित्र को भी (चित्र-संख्या १३ और ३१) के साथ मिलाकर देखना चाहिये। इसका अन्तर्गत सिद्धान्त है—

पुंरूपं वा स्मरेद्देवि स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत् ।
अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥

शिव कहते हैं—"देवि ! पुरुष-रूप में ध्यान करे, अथवा स्त्री-रूप में, अथवा सत्, चित्, आनन्द-रूप में निराकार का ध्यान करे।"

विष्णु

चित्र-संख्या १०—यह शेषशायी विष्णु की मूर्ति है। नाभि बिन्दुस्थान है। यह कारणार्णव, अर्थात् चेतना के विस्तार में स्पन्दन का स्थान है, जहाँ से सृष्टि का आरम्भ होता है। यह वेद की 'नाभि' और 'अमृतस्य नाभिः' और अशेष तत्त्व, अर्थात् चेतना के उमड़ते हुए अर्णव में सृष्टि का आदि स्पन्दन वा विवर्त है। यह वेद के अमृत, अर्थात् आनन्द का मधुमय क्षीरसमुद्र है। चारों आयुध त्रिगुण हैं। शंख शब्दब्रह्म या नाद-सृष्टि का प्रवर्तक और रजोगुण है। गदा संहार करनेवाला तमोगुण है। चक्र रक्षक सत्त्व गुण है। पद्म सृष्टि है और नाद अथवा शब्दब्रह्म के प्रत्यक्ष स्थूलरूप चतुर्मुख ब्रह्मा उसके ऊपर बैठे हैं। हाथों में शब्द (वेद) और वेद की अमृतविद्या का अमृतघट (कमण्डल) है, यही अमृतत्व विष्णु और शिव की गङ्गा हैं। शिव जब नृत्य करते हैं, तब उनकी जटाओं और अङ्ग-प्रत्यङ्ग से यह चिदानन्द का रस झरता रहता है। यही शिव की जटा की गङ्गा है। यही बुद्ध का कमण्डल है। इनके चारों मुख शब्दब्रह्ममय चारों वेद के प्रतिरूप हैं। शिवलिङ्ग को उलटकर देखने से यही प्रतीक दिखाई पड़ता है। गोलाकार ऊपर का रुद्रांश विष्णु की नाभि है, मध्यभाग विष्णु-अंश का अष्टकोण अष्टप्रकृति का प्रतीक ब्रह्मा का आसन पद्म है और नीचेवाला ब्रह्मांश का चतुष्कोण चतुर्मुख और चतुर्भुज ब्रह्मा हैं।

इस चित्र में विष्णु के दशों अवतार की मूर्तियाँ ब्रह्मा के दोनों ओर बनी हैं। दशावतार की दो परम्पराएं हैं। एक में दश में बुद्ध की गणना होती है और दूसरे में बुद्ध के स्थान में बलराम को नवाँ अवतार मानते हैं। इस परम्परा में नवाँ अवतार बुद्ध हैं। वैष्णव सम्प्रदाय की साधना में बलराम शक्ति-मायाव्यूह के एक रूप हैं। दोनों पार्श्वदेवी लक्ष्मी और सरस्वती सिरहाने और पायताने बैठी हैं। सामने गरुड स्तुति कर रहे हैं। ये कभी वेद और कभी धर्म के प्रतीक माने जाते हैं। विष्णु के गले में

वैजयन्ती माला है। यह पंचभूत का प्रतीक मानी जाती है। किन्तु साधारण सिद्धान्त के अनुसार यह वाक् अथवा नाद की वर्णमाला है। जंघाओं पर त्रिशूल पड़ा है। यह निःसन्देह त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रिदेवादि का प्रतीक है। हृदय की भृगुलता तीर्थंकरों और बोधिसत्त्वों के हृदय पर धर्मचक्र है। माथे पर करण्डमुकुट है। यह मन्दिर के आकार का है और सृष्टि का अथवा सृष्टि के सभी भुवनों का प्रतीक है। (यह, मन्दिर और बुद्ध की प्रतिकृतियों के सम्बन्ध में और भी अधिक स्पष्ट होगा)। शेष गतिशक्ति काल है। इसके सात मुख, सातों भुवन, अर्थात् सारी सृष्टि में इसकी व्यापकता के प्रतीक हैं। स्थितिशक्ति धरणी देवी शेष के मस्तक के निकट बैठी हैं। पद्मासन पर ध्यानस्थ-सी मालूम होती हैं। यहाँ स्थिति-शक्ति को नदी-पहाड़वाली स्थूल पृथ्वी के रूप में अंकित नहीं किया गया है। स्थिति-शक्ति को स्त्री रूप में स्पष्ट किया गया है। मूर्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं— स्थाणुक, आसन और शयन। यह शयनमूर्ति है।

चित्र-संख्या ११—यह चित्र मूर के हिन्दू पैन्थियोन (Hindu Pantheon) का है। इसमें सृष्टि और प्रलय के निरन्तर विवर्त का प्रतीकात्मक विवरण है। महाप्रलय के रूप में महाकाल है। इसका विकराल रूप बड़ा भयंकर है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अर्थात् नामरूपात्मक जगत् सभी इसके सामने निःसहाय और तुच्छ मालूम होते हैं। यह अपनी लम्बी जिह्वा द्वारा सारी सृष्टि को आत्मसात् कर रहा है। यह एक ओर का दृश्य है। दूसरी ओर शिशु-रूप में परब्रह्म वटपत्र पर पड़े हुए हैं और अंगूठा चूस रहे हैं। चारों ओर कारणार्णव (सागर) फैला है, जिसमें कमल खिले हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि और प्रलय विभु का आनन्द और लीला है। जहाँ उसके महाविस्तार (ऋतं बृहत्) में एक ओर प्रलय होता रहता है, दूसरी ओर सृष्टि होती रहती है। अनेक पद्म, अनेक ब्रह्माण्ड की सृष्टि-क्रिया के प्रतीक हैं। इसी भाव की एक मूर्ति कामाख्या के मन्दिर में है। माँ का गोद में शिशु है। माँ का स्तन शिशु के मुख में और शिशु का अंगूठा माँ के मुख में है। यह जीवन-धारा के निरन्तर प्रवाह का निदर्शन है।

चित्र-संख्या १२—यह पटना-म्यूजियम की मूर्ति-सं० ९७९१ का चित्र है। इसे बलराम कहा गया है, किन्तु यह यज्ञपुरुष विष्णु की मूर्ति है। नीचे चार पदोंवाला आधार चतुष्कोण है। उसके ऊपर सृष्टि का संकेत कमल और उस पर प्रकृति का प्रतीक वृत्त है, जिस पर यज्ञेश खड़े हैं। पीताम्बर दिक् और बनमाला या वैजयन्तीमाला शब्दब्रह्म वाक् की वर्णमाला है। ऊपरवाले दाहिने ओर बायें हाथों में अग्नि है। नीचेवाले दाहिने हाथ में चरु या यज्ञफल-जैसी कोई वस्तु है। बायाँ हाथ टूटा हुआ है। बाँई ओरवाली पार्श्वदेवी के हाथ में सोमकलश, अर्थात् ब्रह्मानन्द का अमृतकलश है और दाहिनी ओरवाली देवी के हाथ में चरुपात्र है। पहिली देवी श्री और दूसरी धरणी हो सकती हैं, जो चरु-रूप में संसार के भरण-पोषण की सभी खाद्य वस्तुओं को उत्पन्न करती हैं। दोनों पार्श्वदेवियों के ऊपर दो सिंह हैं, जो यज्ञेश के वाहन धर्म हैं। पीताम्बर दिक् और शेष काल है। मूर्ति शिवलिङ्ग के सिद्धान्त पर तीन अंशों में बनी हुई है। नीचे चतुष्कोण आधार ब्रह्मांश हैं, पैर से कन्धे तक मध्य भाग प्रकृति या विष्ण्वंश है।

कन्धे से ऊपर का वर्तुलांश शिवलिङ्ग के रुद्रांश की तरह है। ऊर्ध्वभाग का एक कीलक प्रासाद की ध्वजा की तरह अनन्त की ओर संकेत कर रहा है।

चित्र-संख्या १३—यह चित्र श्रीगोपीनाथ राव के (Element of Hindu Iconography. Vol. I. के पृष्ठ ५८ के पट २३ में है। वहाँ यह विष्णु की प्रतिमा मानी गई है, किन्तु यह स्त्रीरूप में वैष्णवी शक्ति की प्रतिमा मालूम होती है। यह स्त्रीमूर्ति है, इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग चित्र में स्पष्ट नहीं हैं, किन्तु वाहनों के मध्य में, अर्थात् प्रधानस्थान में गरुड और ऊपर शेष के रहने से ऐसा अनुमान होता है। इसमें वाहन ध्यान देने का विषय है। यहाँ सिंह और गरुड दोनों को ही धारण करनेवाली शक्ति धर्म का प्रतीक माना गया है। प्रतिमा के शीर्षस्थान में त्रिशूल त्रिशक्ति, त्रिगुणादि का प्रतीक है। प्रभा-मण्डल की चौदह ज्वालाएं चौदह लोक हैं। लोल जिह्वावाले काल के मस्तक पर त्रिशक्ति का मुकुट है। यह मूर्ति भी शिवलिङ्ग की तरह तीन भागों में बनी है। अधः चतुष्कोण, मध्य सृष्टि और ऊपर गोल रुद्रांश है।

चित्र-संख्या १४—यह भी उसी ग्रन्थ के पृ० ८७ का चित्र है। यह विष्णु की मूर्ति है। पद्मासन पर बैठी हुई ध्यानी बुद्ध की प्रतिमा-जैसी है। दाहिनी ओर यदि शङ्ख नहीं रहता, तो यह बुद्ध की प्रतिमा मानी जाती। इससे ब्रह्म के विष्णु और बुद्धरूप में एकत्व का प्रदर्शन किया गया है। मूर्ति के मस्तक पर भुवन का प्रतीक करण्ड-मुकुट है और मस्तक के पीछे सात स्फुलिङ्गोंवाला प्रभामण्डल है।

चित्र-संख्या १५—यह उपर्युक्त ग्रन्थ के पृ० ८५ का चित्र है। यह विष्णु की आसनमूर्ति है और ज्ञानमुद्रा में ठीक बुद्ध की मूर्ति की तरह है।

चित्र-संख्या १६—यह उपर्युक्त ग्रन्थ के पृ० १२३ का चित्र है। यह हाथी-दाँत के बने हुए दशावतार की प्रतिमाओं का चित्र है। इसमें बुद्ध के स्थान में बलराम की मूर्ति है। इसमें द्वितीय परम्परा का अनुसरण किया गया है।

चित्र-संख्या १७—यह उपर्युक्त ग्रन्थ के पृ० २८८ के सुदर्शनचक्र का चित्र है। ये आयुध निर्जीव अस्त्र नहीं हैं। वरन् सभी चैतन्य शक्ति हैं, जो सृष्टिलीला में विभु के सहायक हैं। इसलिये इसे कालचक्र और धर्मचक्र कहा जाता है। तीन स्फुलिङ्गोंवाली ज्वालाएँ इसकी परिधि से निकल रही हैं। ये त्रिगुण त्रिशक्ति आदि के प्रतीक हैं।

चित्र-संख्या १८ और १८ क—ये उपर्युक्त ग्रन्थ के पृ० २९१ के सुदर्शन चक्र के चित्र हैं। इन चित्रों की परिधि से पाँच स्फुलिङ्गोंवाली ज्वालाएं निकल रही हैं। ये पञ्चतत्त्व हैं। यह चक्र परमात्मशक्ति का प्रतीक बन गया है। परिधि की इन ज्वालाओं को नटराज के मायाचक्र की पाँच स्फुलिङ्गोंवाली ज्वालाओं से मिलाइये। इनमें से एक में वृत्त के भीतर ऊर्ध्व और अधोमुख त्रिकोणों के भीतर बिन्दुस्थान में सुदर्शन की मूर्ति शासक के रूप में है। एक पुरुष तलवार खींचकर खड़ा है। यह कालचक्र का नियन्त्रण करनेवाली कालमूर्ति है। दूसरे में ऊर्ध्वमुख त्रिकोण में एक पुरुष बैठा है। यह काल या धर्म का रक्षक रूप है।

चित्र-संख्या १९—यह विष्णु की मूर्ति का चित्र है। उपर्युक्त ग्रन्थ से ही लिया गया है। इसमें और बुद्धमूर्ति में बहुत साम्य है। ऊपर बौद्ध प्रतिमाओं की तरह अधोमुख दो त्रिशूल त्रिशक्ति, त्रिगुणादि के प्रतीक हैं। उसके नीचे, एक वृक्ष के नीचे प्रधान मूर्ति सुखासन पर बैठी है। देहात में लोग अंगोछे को इस तरह लपेटकर गपशप के लिये बैठते हैं। मूर्ति के ऊपरवाले दाहिने हाथ में सर्प है और बायें में मुसल या परिघ-जैसा कोई अस्त्र है। नीचेवाला दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में है और बायें में वर या ऐसी ही कोई वस्तु है। पैरों के नीचे वृषभ अङ्कित है। पैरों के नीचे पद्मासन पर एक मूर्ति है, जिसके माथे पर बुद्ध के मस्तक पर बिन्दु की तरह बिन्दु और हृदय पर जैन तीर्थंकरों की तरह बिन्दु या धर्मचक्र बना है। यह शिव की प्रतिमा-जैसी मालूम होती है, जिसमें बौद्ध, जैन और शैव प्रतीकों का सम्मिश्रण है।

शिव

चित्र-संख्या २०—यंत्र की सहायता से सभी प्रतीक बड़ी सरलता से समझ में आते हैं; क्योंकि सब का अन्तर्गत सिद्धान्त एक है। जिन सिद्धान्तों पर यंत्र बनाया जाता है, उन्हीं पर मन्दिर, मूर्ति, स्तूप, स्तम्भ, शिवलिंग आदि का निर्माण होता है। इसलिये इसका विवरण दे देना आवश्यक है।

यन्त्र के मध्य में बिन्दु है। यह विश्वव्यापिनी शक्ति अथवा चित् का प्रतीक है। इस में स्पन्दन उत्पन्न होता है। स्पन्दन से शब्द और बिन्दु दोनों ही उत्पन्न होते हैं। दर्शन की भाषा में शब्द को नाम और बिन्दु को रूप की संज्ञा दी गई है। इन्हें शक्ति-नाद और बिन्दु अथवा बीज-नाद और बिन्दु भी कहते हैं। इनके प्रतीक तीन बिन्दु हैं, जो ज्ञान, इच्छा और क्रिया-शक्ति हैं। यथार्थ में ये एक सत्ता के ही तीन नाम हैं। इन तीनों बिन्दुओं को मिला देने से त्रिकोण बनता है। यह त्रिकोण, ज्ञान-इच्छा-क्रिया, रज-सत्त्व-तम, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, ऋग्यजु:साम, ओंकार के अ,उ,म इत्यादि का प्रतीक है। इसका सम्मिलित रूप शूल और प्रतिरूप त्रिशूल है।

बिन्दु के बाहर एक ऊर्ध्वशीर्ष और एक अध:शीर्ष त्रिकोण है। ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण कूटस्थ ब्रह्म, अर्थात् स्थितितत्त्व है और अधोमुख त्रिकोण इसका क्रियात्मक रूप शक्ति या गतिशक्ति है। इस स्थिति और गति के हिलकोरे को लेकर बिन्दु फैलकर वृत्त का रूप ग्रहण करता है। यह हिलोर अथवा आनन्द या स्वाभाविक गति ही विभु का नृत्य है, जो जगत् की सृष्टि और स्थिति का कारण है। त्रिकोणों के बाहर वृत्त अभिन्ना, अर्थात् समस्तप्रकृति है। यह टूटकर तत्त्वों का रूप ग्रहण करती है और सृष्टि का विस्तार करती है। इनको त्रिगुणात्मिका दिखलाने के लिये कभी-कभी वृत्तरेखा की संख्या तीन कर दी जाती है। इसी को हिरण्यगर्भ, अर्थात् ज्योतिर्मण्डल कहते हैं, जो टूटकर विराट्, अर्थात् स्थूल जगत् का रूप धारण करता है।

इस वृत्त के बाहर कमल के आठ दल हैं। ये भिन्ना अर्थात् टूटकर फैली हुई प्रकृति के रूप हैं। ये अष्टभिन्ना प्रकृति हैं—पंचतत्त्व, मन, बुद्धि और अहंकार।

वृत्त और वक्ररेखा में सर्वदा तनाव और गति रहती है और फैलते जाना इसका स्वभाव है। ये चतुष्कोण में जाकर स्थिरता प्राप्त करते हैं और प्रकृति रूप ग्रहण कर जगत् को रूप प्रदान करते हैं। चतुष्कोण स्थिरता का प्रतीक है, यह स्थिति का चिह्न है और भूतत्त्व का (भू-ग्रह का नहीं) प्रतीक माना जाता है। इसका नाम भूपुर भी है, जिसका अर्थ होता है स्थिरता का नगर वा दुर्ग। सृष्टि के इस रहस्य में प्रवेश करने के लिये भूपुर वा चतुष्कोण में चार द्वार हैं, जिनके द्वारा गुरु-कृपा अथवा विभु की कृपा से साधक जीव प्रवेश कर सकता है। इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है, अन्यथा यह भटकता हुआ पशु बना रहता है।

इतना-सा स्मरण रखने से सभी प्रतीक हस्तामलकवत् हो जाते हैं और उनमें से एक-एक को स्मरण कर अन्य प्रतीकों के संकेतों को भी समझा जा सकता है।

विष्णु-प्रतीक को हम देख चुके हैं। उसमें यंत्र के सिद्धान्त इस प्रकार सन्निहित हैं। वेदांत के सत्य और विश्वचेतना का नाम वेद में आप् है। आप् का नाम पुराणों में नारा है। 'आपो नारा इति प्रोक्ता:।' निराकार ब्रह्म आकार ग्रहणकर आप्, अर्थात् तेज (चित्) के समुद्र में पड़ा रहता है। वेद में 'अमृतस्य नाभि:' का प्रयोग हुआ है। यही आप् अमृत है, जिसके समुद्र में स्पन्दन का नाम नाभि है। यही यंत्र का बिन्दु और विष्णु की नाभि है। इसमें भिन्ना प्रकृति कमल के रूप में प्रकट होती है जिस पर यंत्र का चतुष्कोण चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप में वर्तमान है। यंत्र के दोनों त्रिकोण (स्थिति और गति) शेष और धरणी हैं। इन्हीं का रूप शिव और शक्ति भी है।

चित्र-संख्या २१—यह पत्थर की बनी एक छोटी थाली का चित्र है। यह मुरतजीगंज में मिली थी और अभी पटना-म्यूजियम में है। यह मौर्यकाल की है।

यह चित्र-संख्या २० के यंत्र का दूसरा रूप है। चित्र में बिन्दु नहीं दीखता। प्रकृति के वृत्त के बाहर अष्टप्रकृति के आठ त्रिकोण बने हुए हैं। उनमें प्रत्येक से दो-दो त्रिकोण निकले हैं, जो श्रीचक्र में अंकित श्रीदेवी की आवरण-देवियों की तरह हैं। विभक्त प्रकृति के इन त्रिकोणों के भीतर तीन देवियाँ हैं। ये त्रिशक्ति हैं। बाह्य वृत्त के भीतर नाना प्रकार के पशु, पक्षी, कीटादि बने हैं, जो सारी सृष्टि के प्रतीक हैं।

चित्र-संख्या २२—यह बोधगया की वेष्टनी का चित्र है। बौद्ध मन्दिर आर स्तूपों की जितनी वेष्टनियाँ होती हैं, उनमें तान पट्टे रहते हैं। ये त्रिशक्ति त्रिरत्नादि 'त्रिविध' के प्रतीक हैं। इन पर कमल, धर्मचक्र और नाना प्रकार का सांकेतिक मूर्तियाँ बनी रहती हैं।

चित्र-संख्या २३—यह हरगौरी की काँसे की मूर्ति पटना-म्यूजियम में है। इसे चित्र-संख्या २० के यंत्र से मिलाकर देखिये।

इसमें हर और गौरी के पैरों के नीचे धर्म के प्रतीक वृष और सिंह हैं। बाहर हिरण्यगर्भ या प्रकृति का वृत्त प्रभामण्डल के रूप में है। यंत्र के ऊर्ध्वमुख त्रिकोण हर हैं और अधोमुख शक्तित्रिकोण गौरी हैं। स्थिति और गति के दोनों त्रिकोण अभिन्न हैं।

उनका मूर्तरूप हरगौरी के अभिन्न रूप में दिखाया गया है। त्रिशक्ति के तीनों बिन्दु हर के हाथ के त्रिशूल और मस्तक पर त्रिशूलाकार मुकुट में दिखाये गये हैं। मुकुट की तीन वक्र रेखाएं भी इसी के संकेत हैं। त्रिशक्ति के तीनों बिन्दु पार्वती की नाभि और स्तनबिन्दुओं में स्पष्ट हैं। इससे अधोमुख शक्तित्रिकोण बनता है। इससे मिलाकर चित्र-संख्या १२४ और १२५ तथा १२५ का परिचय देखिये।

चित्र-संख्या २४—यह डॉ० आनन्दकुमारस्वामी के 'विश्वकर्मा' के पट २९ का चित्र है। यह श्रीलंका के पोलोन्नारुव नामक स्थान की शिवमूर्ति है। इस समय यह कोलम्बो-म्यूजियम में है। अनुमान किया जाता है कि यह ई० सन् की दशवीं से तेरहवीं शताब्दी की मूर्ति है। मूर्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—स्थाणुक, आसन और शयन। यह स्थाणुक मूर्ति है।

मूर्ति उत्फुल्ल पद्म के गोलाकार बीजकोष पर खड़ी है। पद्म के आठ पत्रों में से चार सामने दिखाई पड़ रहे हैं। ये अष्टभिन्ना प्रकृति के प्रतीक हैं। वर्तुलाकार बीजकोष प्रकृति का वृत्त और बिन्दु है। स्थिति और गति के प्रतीक, यंत्र के दोनों त्रिकोणों के स्थान में दोनों चरण हैं, जो नृत्यावस्था में क्रमशः स्थिति और गतिशील रहते हैं। यह तांत्रिकों की गुरुपादुका है। मूर्ति नृत्य की द्विभंग-मुद्रा में खड़ी है। स्कन्धदेश से लम्बित ब्रह्मसूत्र ऊँकार है। नीचेवाले दोनों हाथ अभय और वरद-मुद्रा में हैं। ऊपरवाले एक हाथ में मृगरूप में वेद और दूसरे में अविद्या का नाश करनेवाला परशु है। दाहिने कान में पुरुष का और बायें में स्त्री का कुण्डल है। यह निष्क्रिय ब्रह्म की सक्रियावस्थावाला अर्धनारीश्वर रूप है। [illegible] तीन नेत्र हैं, जिनके तीन स्थूलरूप इन्द्वर्कवह्नि कहे जाते हैं। मुकुट प्रासाद-पुरुष अथवा शिवलिङ्ग की तरह भुवनाकार है और सारी सृष्टि का प्रतीक है। मुकुट में लगा हुआ चन्द्रमा और नरकपाल है। चन्द्रमा (सोम) अमृतस्रावी चिदानन्द का सोमरसागार है और सर्प के स्थान में नृकपाल काल का प्रतीक है। आनन्द में विभोर दोनों ओठ मन्द मुसकान में किञ्चित् खुले हुए हैं। यह सृष्टिप्रवर्तक रजोगुण और आनन्द अर्थात् इच्छा–क्रिया का संकेत है। मूर्ति का अपूर्व सौन्दर्य और अद्भुत कला देखते ही बनती है। नृत्य की तैयारीवाली मुद्रा नाद-बिन्दु के स्पन्दन के प्रवर्तन का संकेत है।

चित्र-संख्या २५—यह विश्वनृत्य में निरत महानट की मूर्ति है। यह मूर्ति मद्रास-म्यूजियम की है। इसका प्रभामण्डल टूट गया है। वर्तुलाकार आधार बिन्दुस्थान है। उसके ऊपर मोहपुरुष के ऊपर मूर्ति का दाहिना पैर है। यदि प्रभु मोह का शमन न कर दें, तो इनके चरणों तक जाना जीव के लिये सम्भव नहीं हो। कटि में दिक् अम्बर और काल-सर्प हैं। नीचेवाले दो हाथ अभय और वरद-मुद्रा में हैं। यह रक्षा का प्रतीक सत्त्वगुण है। ऊपरवाले दाहिने हाथ में डमरू है। यह सृष्टि का प्रवर्तक शब्दब्रह्म वाक् और रजोगुण है। और बायें हाथ में अग्नि है, जो संहार और तमोगुण का प्रतीक है। बायें कान में स्त्री का कुण्डल है, दाहिने का कुण्डल टूटा हुआ है। यह पुरुष-कुण्डल होना चाहिये। यह गति-स्थिति का प्रतीक अर्धनारीश्वरत्व का निदर्शन है।

माथे पर चन्द्रमा आनन्दामृत का घनीभूत रूप सोम है, जो महा आनन्द के महा उन्माद का प्रतीक है। मुकुट में नृकपाल संहारक काल का प्रतीक है। इस नृत्य को नादान्त नृत्य कहते हैं।

चित्र-संख्या २६—यह श्रीलंका के पोलोन्नारुव की तीन फुट ऊँची नटराज की मूर्ति है। इस समय कोलम्बो-म्यूजियम में है। मूर्ति चतुष्कोण आधार पर है। यह यंत्रों का भूपुर, अर्थात् स्थितितत्त्व है। उसके ऊपर भिन्ना प्रकृति के कमलदलवाला वृत्त है। उसके उपर प्रकृति और बिन्दुस्थान का वृत्त है। उसके उपर माया वा प्रकृतिचक्र है। इसमें पाँच-पाँच स्फुलिङ्गवाली ज्वालाएँ हैं। ये पञ्चतत्त्व के चिह्न हैं। प्रकृतिचक्र वा प्रभामण्डल से लगा हुआ नीचे मोह-पुरुष है, जिस पर नादान्त नृत्य में निरत शिव का दाहिना पैर है। कटिवस्त्र, सर्प, डमरू, अग्नि, अभय और वरद उपर्युक्तवत् हैं। कुण्डल भी स्त्री और पुरुष के हैं। जटाएं बिखर कर मायाचक्र को छू रही हैं। आत्मानन्द में विभोर आँखें मुंदी हुई हैं। शिवलिङ्ग में यह मायाचक्र वेदी बन जाता है और मध्यस्थ ब्रह्म त्रिगुणात्मक लिंग का रूप ग्रहण कर लेता है।

चित्र-संख्या २७—नटराज की मूर्ति का यह चित्र इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया की १ नवम्बर, १६५३ वाली संख्या में पृ० ३८ में प्रकाशित हुई थी। इसमें अष्टदल कमलवाली भिन्ना प्रकृति के ऊपर गोलाकार मूलप्रकृति-बिन्दु है। उसके ऊपर पड़ा हुआ मोहपुरुष है। महिषासुर की तरह इसकी दो सींगें हैं। यह घोरपशुत्व, अर्थात् अविद्या का लक्षण है। उसके ऊपर चतुरनृत्य में शिव के दोनों पैर हैं। और सभी लक्षण पूर्वोक्तवत् हैं। आँख आनन्द में विभोर और बन्द हैं। माथे पर जटा मुकुट में तीन लपेट हैं। ये त्रिगुणात्मक विश्व के प्रतीक हैं। प्रभामण्डल वा मायाचक्र में ज्वाला के स्थान में कमल लगे हुए हैं, जो सृष्टि के प्रतीक हैं। मस्तक पर तीन कमल का गुच्छा है। यह त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रयी, त्रिदेवादि का प्रतीक है। मुखमुद्रा कोमल प्रशान्त तथा आनन्द में विभोर है।

चित्र-संख्या २८—अर्धनारीश्वर नटराज की मूर्ति का यह चित्र इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया के ११ मार्च, १६५६ वाली संख्या के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हुआ था। यह एक अपूर्व मूर्ति है। इसमें भिन्ना प्रकृति के अष्टदल सामने ही दिखाई देते हैं। इसके ऊपर मूल प्रकृति का बिन्दु है, जिस पर मूर्ति नृत्य कर रही है। दाहिने पैर में पुरुष का वस्त्र और आभूषण तथा बायें में स्त्री का वस्त्र और आभूषण है। दाहिने हाथों के पास सर्प है। दोनों बायें हाथ स्त्री क हैं। एक वरदमुद्रा में है और दूसरे ऊपर उठे हुए हाथ में दो पत्रों के बीच पड़ी हुई कलिका के आकार का त्रिशूल है। दाहिने नीचे-वाले हाथ पर त्रिशूल अङ्कित है। मालूम होता है कि इसी त्रिशक्ति के रूप को ख्रिस्त धर्म में क्रॉस के रूप में ग्रहण कर लिया गया है। यह त्रिशूल-प्रतीक अत्यन्त प्राचीन है। आगे चलकर देखेंगे कि मोहनजोदड़ो की पशुपति-मूर्ति के मस्तक पर मुकुट की तरह त्रिशूल बना है। बायें कान में स्त्री का कुण्डल है और दाहिनी ओर शून्य

में जटा उड़ रही है। मुखमुद्रा प्रसन्न और प्रशान्त है, और आनन्द में विभोर नेत्र बन्द हैं। माथे पर जटा मुकुट के तीन कुण्डल त्रिशक्ति, त्रिगुणादि हैं। इस मूर्ति में मायाचक्र को स्त्री के अर्धाङ्ग के रूप में दिखाया गया है। यही शिवलिङ्ग की वेदी है। यंत्र के दोनों त्रिकोण नारी और ईश के रूप में अंकित हैं।

चित्र-संख्या ११—यह चित्र इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया की १ जुलाई, १९५६ वाली संख्या में मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हुआ था। नीचे कमलदलों के रूप में भिन्ना अष्ट-प्रकृति है। इसके ऊपर मूलप्रकृति का मण्डल है। उस पर सक्रिय और निष्क्रिय ब्रह्म खड़े हैं। गौरी का दाहिना पैर हर के बायें पैर को स्पर्श कर रहा है। पार्वती के बायें हाथ में शिव का बायाँ हाथ है, जिसमें पार्वती का हाथ दृढ़ता से संलग्न है। शिव के ऊपरवाले हाथ में मृग है। शिव के नीचेवाले दाहिने हाथ में कुछ चित्र बना हुआ मालूम होता है, जो चित्र में स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। ऊपरवाले दाहिने हाथ में अज्ञान का हन्ता परशु है। दोनों के मस्तक पर करण्ड-मुकुट हैं और आनन्द में विभोर दोनों की ही आँखें बन्द हैं।

> **सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।**
> **कोटिकल्प बीतत नहिं जानत बिहरत जुगल स्वरूप॥**
> **वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीडत सदा राधिकासंग।**
> **भोर निशा कबहूँ नहिं जानत सदा रहत यक रंग॥**

इसी भाव और रूप का आंशिक चित्रण मन्दिर की, मिथुनों की मूर्तियाँ हैं। इनकी संख्या आठ रहती है। यह अष्टप्रकृति के सक्रियनिष्क्रियात्मक रूप हैं। इनकी संख्या असंख्य हो सकती है। तन्त्रराज में इनकी संख्या पचास कही गई है। किन्तु मन्दिरों में अङ्कित अष्टमिथुन की ही पूजा होती है।

चित्र-संख्या १०—यह Elements of Hindu Iconography, Vol. 1,pt II के पट CVII का चित्र है। यह महाकाली की मूर्ति है और माडेयूर में प्राप्त हुई थी। इसमें विभु शक्ति की देवी रूप में कल्पना की गई है। यह शिवमूर्ति का ठीक उलटा है। शिवमूर्ति में पुरुषप्रधान रूप है और स्त्रियों के कुण्डलादि संकेत द्वारा शक्ति का निर्देश किया गया है। इसमें शक्तिप्रधान रूप है, जिसमें शिवत्व, पुरुष के कुण्डल और आयुधादि द्वारा निर्दिष्ट है।

आधार चतुष्कोण है। यह स्थितितत्त्व है। उस पर भिन्ना प्रकृति के कमलपत्र दिखलाये गये हैं। पद्म पर कोष है। यह मूलप्रकृतिबिन्दु है। इस पर ज्ञानासन पर दक्षिणामूर्ति शिव, विष्णु वा बुद्ध की तरह देवी बैठी हैं। दाहिने पैर में पुरुष का वस्त्र है और बायें में स्त्री का। दाहिने हाथों में डमरू, त्रिशूल, शिव के आयुध और बायें में देवी की शक्ति, पाश और अमृत-पात्र हैं। दाहिने कान में पुरुष का और बायें में शक्ति का कुण्डल है। मुख पर मन्द मुसकान है और तीनों नेत्र आनन्दातिरेक में खुले हैं। दो दाँत बाहर निकले हुए हैं। ये चन्द्रकला की तरह अमृतवर्षी महा-आनन्द

के प्रतीक हैं। ये सारी सृष्टि को जीवन प्रदान करते हैं। माथे पर किरीट-मुकुट है। यह शिव-शक्ति का विश्वरूप मुकुट है। यह पद्धति बौद्ध-प्रतीकों में और भी स्पष्ट होगी।

इसमें स्पष्ट किया गया है कि विभुसत्ता में स्त्री-पुरुष का भेद मानना असत्कल्पना और अज्ञता है। यथार्थ में ये एक ही सत्य के भिन्न नाम और रूप हैं। विश्व-रचना में जिनकी कहीं इयत्ता नहीं है। शिव की अर्धनारीश्वर मूर्ति की तरह इसे अर्धपुरुषेश्वरी मूर्ति कहा जा सकता है।

चित्र-संख्या ३१—यह देवी की मूर्ति मद्रास-म्यूजियम की है। यह ई० सन् की १२वीं से १६वीं शताब्दी तक की मानी जाती है। यह भी अर्धपुरुषेश्वरी की मूर्ति है। चतुष्कोण आधार पर कमल और कमल के वृत्ताकार पुष्करबीजकोष पर देवी ज्ञानासन पर बैठी है। इसी का नाम योगासन भी है। शिव के ध्यान में दिये हुए रूप में भगवती के चारों हाथ हैं—अर्थात् परशु, मृग, वर, अभय मुद्रा में। 'परशुमृगवराभीतिहस्तः।' मुखमुद्रा प्रशान्त गम्भीर और प्रसन्न है। दाहिने कान में पुरुष का कुण्डल और बायें में स्त्री का कुण्डल है। मस्तक पर एक शूल के फलक-जैसा ज्ञानेच्छाक्रियामय त्रिकोणाकार मुकुट है, जो एक रत्नखण्ड-जैसा दीखता है। यह कूटस्थ और वज्र का भी संकेत हो सकता है।

चित्र-संख्या ३२—यह चित्र श्रीगोपीनाथ राव के Elements of Hindu Iconography, Vol. I,Pt II. पृ० ३५७ से लिया गया है। यह तिरुप्पालत्तुराइ की भद्रकाली की प्रतिमा का चित्र है।

यह स्थाणुकमूर्ति, प्रासाद-पुरुष, स्तूप, स्तम्भ, इत्यादि की तरह दण्डायमान, अखिल विश्व की मूर्ति है। यह शिवमूर्ति (चित्र २४) का प्रतिरूप है। चतुष्कोण के ऊपर कमल और वृत्त के ऊपर यह मूर्ति खड़ी है। यंत्र के दो त्रिकोणों के स्थान में दो चरण हैं। दिक् अम्बर है। दाहिने हाथों में शिवत्व के प्रतीक डमरू और त्रिशूल हैं। बायें में शिवा के संकेत, पाश और अमृतपात्र हैं। प्रसन्न मुखमुद्रा है। माथे पर भौंहों के मिलन-स्थान के निकट (शक्ति) बिन्दु है। ललाट पर त्रिशक्ति, त्रिगुणादि के द्योतक त्रिपुण्ड्र हैं। मस्तक पर पञ्चतत्त्वात्मक सारी सृष्टि का प्रतीक जटा-मुकुट है। दोनों ओर से इसमें चार-चार स्फुलिंग हैं और मध्य में एक स्फुलिंग है। इसके मिलाने से दोनों ओर से इनकी संख्या पाँच हो जाती है। यह नटराज के प्रकृतिचक्र के स्फुलिंगों की तरह पञ्चतत्त्व का प्रतीक है। यह शैवों की नौ मूल प्रकृति भी हो सकती है।[1]

चित्र-संख्या ३३—यह तंजोर जिले के वैठिश्वरं कोयिल की ईंट और सुर्खी की बनी महासदाशिव मूर्ति है। (T.G.N. Rao. Elements of Hindu Iconography, Vol. II, Page 382, Plate CXIV, Fig 2). शिव चतुष्कोण आसन पर ज्ञानासन या योगासन पर बैठे हैं। असंख्य हाथों में असंख्य शक्तियाँ आयुध के रूप में हैं। अनेक मुख हैं, किन्तु इनके एकत्व (एक सत्) का प्रतीक ऊर्ध्वस्थ एक मुख है। आगे चलकर स्पष्ट होगा कि इसी सिद्धांत पर बुद्ध की प्रतिमाएँ भी बनती हैं।

१. देखिये सौन्दर्यलहरी, श्लोक ११।

चित्र-संख्या ३४—यह नटराज की अपूर्व मूर्ति है और दक्षिणापथ की, नटेश की कल्पना से सर्वथा भिन्न है। इस चित्र की मूलप्रतिमा ढाका-म्यूजियम में है। यह उत्तरापथ की कल्पना की कृति है। विभु को धारण करनेवाली अपनी शक्ति या अपने अंश का नाम धर्म है। यह वृष है। यह चिदानन्द का आनन्दस्वरूप है, इसलिये इसका नाम नन्दी है। नटराज नन्दी पर नृत्य कर रहे हैं। असंख्य भुजाएं और असंख्य अस्त्र हैं। मनोहर मुखमण्डल आनन्द के उल्लास से देदीप्यमान है। माथे पर भुवनप्रतीक करण्ड-मुकुट है और सोम है। सोम, सोमरस, अर्थात् चिदानन्द का आनन्द रस है। इस आनन्दामृत की बूंदें जो जटाओं से और अंग-प्रत्यंग से झर रही हैं उसे नन्दी मुख उठाकर पीता जाता है और पीछे गोमुख द्वारा गंगा के रूप में प्रवाहित करता जाता है तथा स्वयं उस आनन्दसागर में डूबता-उतराता रहता है (चित्र ३५ का निम्नभाग देखिये)। इस सोमरस द्वारा सारे विश्व को प्लावित करते रहने के कारण प्रभु सोमनाथ हैं। ऊपर और यत्र-तत्र देव-गन्धर्वादि सेवा में उपस्थित हैं। पार्श्वदेवता के रूप में दाहिनी ओर गङ्गा हैं। उनके पैर के नीचे उनका वाहन मकर है। बाईं ओर गौरी हैं। इनका वाहन सिंह इनके पैर के नीचे है। पौराणिक कथाओं के अनुसार हिमालय की दो पुत्रियाँ हैं। गङ्गा और गौरी और दोनों का विवाह शिव से हुआ है। गङ्गा ब्रह्मानन्दामृत का प्रवाह हैं और गौरी, अर्थात् उज्ज्वल वर्णवाली, ब्रह्मज्योति हैं। दोनों की उत्पत्ति 'अभीद्धतप', अर्थात् 'बृहत् सत्य' हिमालय से होती है और दोनों का ज्ञान हिमालय-जैसी महती तपश्चर्या और घोर साधना से होती है। दोनों का सीधा सम्बन्ध ब्रह्म से है। यही गङ्गा-गौरी और शिव का विवाह है।

दक्षिणापथ और उत्तरापथ, दोनों की ही महानट की कल्पना अपूर्व है और दोनों पर ध्यान देने से आनन्द से शरीर के रोएं खड़े हो जाते हैं।

चित्र-संख्या ३५—यह Moor's Hindu Pantheon का चित्र है। इसमें शिव-परिवार को अंकित किया गया है। कल्पवृक्ष के नीचे भगवान् बैठे हैं। ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, कार्तिकेय ऋषि, मुनि, देवगन्धर्वादि सेवा में उपस्थित हैं। सूर्य या चन्द्र भी इस अपूर्व दृश्य को झाँककर देख रहे हैं। देवगन्धर्व-कन्याएँ नाना प्रकार के वाद्ययन्त्रों के साथ भगवान् की स्तुति कर रही हैं। जगन्माता ब्रह्मज्योति गौरी संसार के शोक, दुःख, मोहादि के हलाहल-पात्र को प्रभु को अर्पित कर रही हैं और जगत् के कल्याणार्थ प्रभु नीलकण्ठ इसे ग्रहण कर रहे हैं। कालसर्प यत्र-तत्र गतिशील है। प्रभु की जटाओं से आनन्दामृत की गंगा बहकर गोमुख द्वारा निकलकर जगत् की रक्षा के लिये इसे प्लावित कर रही है। अन्यथा अपने पापादि के हलाहल से यह जलकर भस्म हो जाय। गोमुख से निकलती हुई गङ्गा की धारा देखते ही बनती है। नन्दी इस आनन्द-सागर में डूब और उतरा रहे हैं।

चित्र-संख्या ३६—यह नटराज की मूर्ति चतुर नृत्य की मुद्रा में है और सभी प्रतीक पूर्ववत् हैं। मस्तक पर करण्ड-मुकुट जगत् का भुवनमण्डल है। (देखिये श्रीगोपीनाथ राव—**Elements of Hindu Iconography, Vol. II. Pt. I, plate LXVI. fig 2.)** यह तिरुवरङ्गुडम् की पीतल की मूर्ति है।

चित्र-संख्या ३७—यह दक्षिणापथ के पेरूर के शिवमन्दिर की प्रतिमा है (देखिये विश्वकर्मा, पट ३२)। शिव गजासुर को मारकर उसका चर्म ओढ़े हुए हैं और गजमुण्ड के ऊपर नृत्य कर रहे हैं। यहाँ गजमुण्ड अविद्या का स्पष्ट प्रतीक है। आठ भुजाएँ हैं। मुण्डमाल लटका हुआ है। मुख प्रसन्न है। आनन्द में विभोर आँखें बंद हैं। जटाएं बिखरी हुई हैं। माथे पर किरीट-मुकुट है, जिसके ऊपर कदाचित् गङ्गा हैं। मुख का बनावट सं० ३४ वाली मूर्ति से बहुत मिलती है।

चित्र-संख्या ३८—यह उमामहेश्वर की पत्थर की मूर्ति है। प्राप्ति-स्थान अहोड़े है। (देखिये E. H. Iconography, Vol II, Pt I, Plate XXIV)। यह आसनमूर्ति है। शिव योगासन पर बैठे हैं। उनका लटकता हुआ पैर एक नग्न बालक की पीठ पर है, जिसके माथे पर जटामुकुट है। पार्वती का पैर एक नग्न स्त्री की पीठ पर है, जो आगे की ओर झुकी हुई है और इसकी ठुड्डी के नीचे भक्तिभाव से जुड़े हुए इसके दोनों हाथ हैं। ये दोनों सृष्टिप्रवर्तक इच्छा-क्रिया (आनन्द), अर्थात् रति-काम हैं। छिन्नमस्ता और अनेक बौद्ध देवताओं की मूर्तियाँ इसी सिद्धांत पर बनती हैं।

साष्टाङ्ग प्रणाम करना स्त्रियों के लिये मना है। शास्त्र का विधान है कि—

ब्राह्मणस्य गुदं शंखं शालग्रामं च पुस्तकम्।
सर्वंसहा न सहते स्त्रीणां च कुचमण्डलम् ॥

"ब्राह्मण के स्फिक्, शंख, शालग्राम, पुस्तक और स्त्रियों के स्तनभार को पृथ्वी नहीं सह सकती।"

इसलिये स्त्रियों की प्रणति इस रूप में अङ्कित की जाती है। भाव यह है कि जगत् की सब से प्रबल शक्ति रति-काम शिव-शिवा के वश में और इनके सेवक हैं। कामकला का यह स्वरूप, बौद्ध प्रतिमा और चित्रों में भी, अंकित किया जाता है।

चित्र-संख्या ३९—यह मूर्ति पोलोन्नारुव, श्रीलंका में प्राप्त हुई थी और इस समय कोलम्बो-म्यूजियम में है। यह मूर्ति ईस्वी सन् की १०वीं से लेकर १३वीं शताब्दी तक की मानी जाती है। डॉ० आनन्द कुमारस्वामी (विश्वकर्मा, पट ६३) और श्रीगोपीनाथ राव ने लिखा है कि यह एक संत सुन्दरमूर्ति की मूर्ति है। ये सामुद्रिक विद्या के जाननेवाले थे। मालूम होता है कि डॉ० आनन्द कुमारस्वामी ने लोकमुख से सुनकर यह विवरण लिखा और श्रीराव ने इसे ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया। बिहार में भगवान् बुद्ध की बहुत-सी प्रतिमाएँ हैं, जिन्हें लोग कहीं भीम की और कहीं भैरव की प्रतिमा कहते हैं और उनकी पूजा करते हैं। इस प्रतिमा के साथ भी यही बात मालूम होती है। ध्यानश्लोक में दिये हुए विवरण के अनुसार यह वटुकभैरव का सात्त्विक रूप होना चाहिये। ध्यान इस प्रकार है—

वन्दे बालं स्फटिकसदृशं कुन्तलोल्लासि वक्त्रं
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः किंकिणीनूपुराद्यैः।
दीप्ताकारं विशदवदनं सुप्रसन्नं महेशं
हस्ताब्जाभ्यां वटुकमनिशं शूलदण्डौ दधानम् ॥

"मैं बालरूप में वटुक का निरंतर ध्यान करता हूँ। स्फटिक-जैसा इनका वर्ण है। (सुंदर) बालों से मुखमण्डल दमक रहा है। नये मणि की बनी हुई किंकिणी, नूपुर आदि

के रूप में विद्याएं (इनके शरीर से लिपटा) हैं। उद्दीप्त रूप है, सुंदर मुख है, जिस पर प्रसन्नता विराजमान है। महेश के हाथों में शूल और दण्ड है।"

यह शङ्कर के बालरूप का ध्यान है। बालों की सजावट और प्रसन्न मुखमुद्रा स्पष्ट है। हाथों की स्थिति से अस्त्रों का बोध होता है। दाहिना हाथ शूल रखने की स्थिति में और बायाँ दण्डपाणि की स्थिति में है। किंकिणी नूपुर आदि ता हैं ही, मूर्ति भी सर्वथा नवीन अवस्था की बनाई गई है।

नीचे चतुष्कोण आधार है। उसपर कमल और कमल की मध्यकर्णिका, अर्थात् बिन्दुस्थान के वृत्त पर बालशङ्कर खड़े हैं। वटुक की इतनी सुंदर मूर्ति बहुत कम मिलती हैं। पोलुन्नारुव में जहाँ शङ्कर की, चित्र संख्या २४ जैसी, मनोहर मूर्तियाँ बनती थीं, वहाँ बालशङ्कर का ऐसी सुंदर मूर्तियों का बनना और उनकी उपासना का होना सर्वथा उचित था।

चित्र-संख्या ४०—शरभ का यह चित्र नेपाल का है। नेपाल महाराज प्रतापसिंह कृत पुरश्चर्यार्णव में यह पाया जाता है। शरभ आठ पैरोंवाला एक पशु है। कहा जाता है कि यह सिंह से भी बलवान् होता है। (नर) सिंह रूप में विष्णु को हिरण्यकशिपु की हत्या करते समय बड़ा क्रोध हुआ। भय हुआ कि इसमें संसार भस्म हो जायगा। तब संसार की रक्षा के लिये शिव ने शरभ-रूप धारण कर सिंह को दबोचा और उसका क्रोध शांत हो गया। सारांश कि बलवान् का महाक्रोध बल से ही शान्त होता है। इनके रूप का विवरण शरभ-प्रकरण में दिया जा चुका है।

शिवलिङ्ग

चित्र-संख्या ४१—यह काशीविश्वनाथ की प्रतिमा का चित्र है। इसके रुद्रांश और वेदी स्पष्ट हैं। अम्बुप्रणाली बाहर की ओर निकली है। इसे सोमसूत्र भी कहते हैं। वेदमंत्रों से पूत और शिवप्रतिमा को स्पर्श करता हुआ अमृतमय जल सोमरस है, जो सोमसूत्र से निकलकर सारे विश्व को प्लावित कर आनन्दमय कर देता है। यह अम्बुप्रणाली संसार का सोमरस (ब्रह्मानन्द) के साथ सम्बन्ध स्थापित कराने में सूत्र का काम करता है, इसलिये इसका नाम सोमसूत्र है। यह परम पावन अमृत है। इसलिये प्रदक्षिणा में इसका लाँघना मना है। 'सोमसूत्रं न लंघयेत्'।

चित्र-संख्या ४२—इस नटराज की मूर्ति में शिवलिङ्ग का रूप स्पष्ट हो गया है। इसे पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखने से मध्यस्थ शिव, शिवलिङ्ग का स्थान ग्रहण कर लेते हैं, प्रकृतिचक्र वेदी बन जाता है और मोहपुरुषवाला अंश सोमसूत्र बन जाता है। काशी में मणिकर्णिका घाट पर एक शिवलिङ्ग है, जिसकी वेदी पर मुण्ड बने हुए हैं। यह वाक्-शक्ति का मुण्डमाल है। इस मूर्ति में नटराज के प्रभामण्डल की ज्वालाओं की जगह मुण्ड बने हुए हैं। ये विष्णु के गले में वैजयन्ती माला और ब्रह्मा के हाथ के वेद बन जाते हैं, जो जगत् के कारण हैं—'यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् निर्ममे।'

चित्र-संख्या ४३—यह शिवलिङ्ग के एकमुखलिंग की प्रतिमा है। यह भूमारा के शिवमन्दिर की प्रतिमा है। (देखिये—Memoirs of the Archeological Survey of India, No. 16, plate 15, fig. C). इसमें ब्रह्मांश का चतुष्कोण नीचे अंकित है। मध्यस्थ विष्णवंश पर मुखमण्डल और वक्ष बना हुआ है। गले में पञ्चभूतात्मक या अष्ट-भिन्ना प्रकृति का कण्ठमाल है। दोनों कन्धों के पास बालों का त्रिशूल बना है, जो त्रिशक्त्यादि का संकेत है। तीन नेत्र हैं और मुखमुद्रा प्रशान्त है। बायें कान में स्त्री का और दाहिने में पुरुष का आभूषण है। रुद्रांश मुकुट पर मध्यमणि जगमगा रहा है। उसके ऊपर अर्धचन्द्र है, जो आनन्दामृत बरसाता रहता है। यही सोम और सोमरस है। अर्धचन्द्र के भीतर त्रिशूल है। इसकी तीन रेखाओं के साथ चन्द्र की दो रेखाएँ मिलकर पञ्चतत्त्व का संकेत करती हैं। दाहिनी ओर जटाएँ इस तरह बनी हैं, मानों आनन्दामृत की गंगधार उमड़ती हुई नीचे की ओर बह रही है। यहाँ बालों की लटों से ही कई एक त्रिशूल बन जाते हैं। ऊपर शिवलिङ्ग का वर्तुलांश स्पष्ट है।

चित्र-संख्या ४४—यह मूर्ति कम्बोडिया की है और Trocadero, Paris में है। अनुमान किया जाता है कि ई० की १३वीं या चौदहवा शताब्दी की है। (देखिये—विश्वकर्मा, पट ८) इसमें और सं० ४३ वाली मूर्ति में नाम मात्र का अन्तर है। यदि इस शिवलिङ्ग या स्तूप या स्तम्भ के रुद्रांश पर बुद्ध की मूर्ति न बनी होती, तो इसे शिवलिङ्ग नहीं मानने में कठिनता होती। आगे चलकर स्पष्ट होगा कि लिङ्ग, स्तूप, स्तम्भादि एक ही सिद्धान्त के भिन्न प्रतीक हैं।

चित्र-संख्या ४५—यह विन्ध्यप्रदेश के चौमुखी महादेव की प्रतिमा का चित्र है। लिंग का ब्रह्मांश संकेतित है और विष्णवंश पर वक्ष और मुखमण्डल बना है। सामने का मुख कुछ खुला है। यह रजोगुणात्मक रूप है। बाईं ओर का प्रशान्त मुखमण्डल सत्त्वगुणात्मक है। दाहिनी ओरवाला स्पष्ट नहीं दीखता। सामनेवाले मुख के मुकुट के ऊपर कारणचक्र है, जिसका पता लगाकर भगवान् बुद्ध ने धर्मचक्र के रूप में प्रवर्तन किया था। गोल रुद्रांश स्पष्ट है (देखिये—Illustrated Weekly of India, June 19, 1955, Page 48.)

चित्र-संख्या ४६—यह नासिक के मुखलिंग की प्रतिमा का चित्र है। लिंगमूर्ति मुखों के ऊपर संकेत-रूप में दिया हुआ है। वेदी और सोमसूत्र स्पष्ट हैं।

चित्र-संख्या ४७—यह राजस्थान के एक शिवमन्दिर की एक मूर्ति का चित्र है (देखिये—Hindu Temple, Stella Kramrisch. Plate LXVII)। इसमें शिवलिङ्ग के अन्तर्गत भावनाओं को अंकित किया गया है। त्रैलोक्यनगर के मूलस्तम्भ शम्भु हैं। बीच में मूलस्तम्भ है। इसके शीर्ष पर कुछ डालें निकली हैं, जिनमें फूलफलादि लगे हैं। यह संसारवृक्ष अथवा यजुर्वेद का 'परमे वृक्ष' है। इसके आसपास बहुत-से देव, गन्धर्व और पक्षी हैं। यह सृष्टि का प्रतीक है। मध्य में एक ओर ब्रह्मा इसके अन्त का पता लगाने के लिये ऊपर जा रहे हैं और विष्णु नीचे। अन्त में हारकर और थककर दोनों नीचे मूलस्तम्भ शिव के निकट भक्ति-भाव से खड़े हैं। यह शिवपुण्य की एक कथा का चित्रण है।

चित्र-संख्या ४८—यह हाथीगुम्फा (Elephanta) के प्रसिद्ध त्रिमूर्ति का चित्र है। बीच में रज-प्रधान बड़ा ही प्रभावशाली मुख बना है। यह रजोगुणात्मक है। गले में सृष्टि की माला है। बाईं ओर का मुखमण्डल प्रशान्त है। यह सत्त्वगुणात्मक रूप है। दाहिनी ओरवाला मुख भयप्रद है। यह खुला है और जीभ चंचल है। दाढ़ी-मूछों से मुख ढँका है। हाथ में सर्प है और माथे पर नरकपाल है। यह संहारक तमोगुणात्मक रूप है। मध्यमुख के मस्तक पर मुकुट है। इसका ऊर्ध्व भाग त्रपुषाकार (ककड़ी की तरह) बना है। यह शिवलिंग का रुद्रांश है। बड़ी प्रभावशाली और मनोहर मूर्ति है। इसी प्रकार की एक भग्न मूर्ति भागलपुर के बौंसी पहाड़ पर है। उसमें सभी संकेत स्पष्ट रूप से अंकित हैं। शिवमहिम्नस्तोत्र के निम्नलिखित श्लोक में त्रिमूर्ति का भाव स्पष्ट किया गया है—

बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥

"रजोगुण की अधिकता द्वारा विश्व की उत्पत्ति करनेवाले भव को अनेकानेक प्रणाम। तमोगुण की प्रबलता से विश्व के संहार करनेवाले हर को अनेकानेक प्रणाम। सत्त्व की अधिकता से लोगों को सुख देनेवाले मृड को अनेकानेक प्रणाम। त्रिगुणातीत महःपद के लिये शिव को अनेक प्रणाम।"

चित्र-संख्या ४९—यह महेश्वरमूर्ति दक्षिणापथ के एक मन्दिर के लिये बनाई गई है। इसके बनाने में दो चतुर कारीगरों ने प्रति दिन दश घण्टे काम करके ६० दिनों में इसे पूरा किया। इसके बनाने में २५० तोला चाँदी और २५०० रुपये लगे हैं। (देखिये—**Illustrated Weekly of India, March 25, 1956, Page 55).**

यह शिवलिंग महाकाल के रूप में अंकित हुआ है। ब्रह्मांश नीचे संकेतित है। वेदी की जगह विष्णवंश में त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीन वृत्त कालसर्प की तीन लपेट के रूप में हैं। यह ॐकार की लपेट है। मुखमण्डल तुरीय अर्धमात्रा की तरह बना हुआ है। मुखमुद्रा प्रसन्न है। आँखें खुली हैं। बायें कान में स्त्री का और दाहिने में पुरुष का कुण्डल है। ये यंत्र (चित्र २०) के दोनों त्रिकोणों के स्थान में हैं। माथे पर बिन्दु है। (यंत्र के और बुद्ध के मस्तक पर बिन्दु को स्मरण कीजिये) ऊपर गतिशक्ति काल है, जिसके पांच फण पञ्चतत्त्वों के भीतर की क्रियाशीलता के प्रतीक हैं। ऊपर धर्म सिंह के रूप में है और छत्र कारणचक्र का संकेत है। नीचे पार्श्व में दो सिंह बने है। इनके ऊपर दोनों ओर दो और जन्तु हैं। उन्हें वृष होना चाहिये। चित्र में स्पष्ट नहीं है।

चित्र-संख्या ५०—शिव की यह कालारि मूर्ति कैलासमन्दिर, एलूर की है। यह लगभग ७७५ ई० की मानी जाती है। मृकण्डु मुनि के पुत्र मार्कण्डेय अल्पायु थे। दीर्घायु के लिये उन्होंने मृत्युञ्जय शिव की आराधना की। मृत्यु का समय निकट आने पर काल उनका प्राण हरण करने आया। भय से विकल होकर मार्कण्डेय ने शिव की स्तुति की

और लिङ्ग-विग्रह से प्रकट होकर शिव ने मार्कण्डेय को चिरजीवन प्रदान किया। इस प्रतिमा में शिवलिङ्ग से शिव प्रकट हुए हैं। शिवलिङ्ग उनके दाहिने पैर के जानु तक है। इसमें शिश्न-भावना का लेशमात्र भी नहीं है। शिशु मार्कण्डेय दोनों चरणों की रक्षा में आ गये हैं और भक्तिभाव से हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं। वामपाद से भगवान् ने काल को रोका है। प्रभु के चरण का स्पर्श पाकर काल आनन्द से विभोर होकर आँखें बन्द कर और हाथ जोड़कर स्तुति कर रहा है। प्रभु की मुखमुद्रा प्रशान्त और गम्भीर है। जटामुकुट में ब्रह्मकपाल और त्रिशूल (त्रिशक्ति) है। चिदानन्द के आनन्द की अमृतधारा गंगा, जटा से लहराती हुई निकल रही है।

चित्र-संख्या ५१—यह दशावतार-मन्दिर, एलूर की एक प्रतिमा का चित्र है। इसका निर्माणकाल लगभग ७०० ई० माना जाता है। इसमें भी शिवलिङ्ग दाहिने पैर में जानु तक लगा है। काल पर शिव अस्त्र-प्रहार करने को भी उद्यत हैं। मस्तक पर ब्रह्मकपाल, चन्द्रकला और गङ्गा यथास्थान हैं।

चित्र-संख्या ५२—यह बर्दवान जिला (बंगाल) के इच्छाई घोषाल के मन्दिर का चित्र है। यह शिवलिङ्ग-जैसा है। प्रासादपुरुष-प्रकरण में इस पर विचार किया गया है कि शिवलिङ्ग मन्दिर, स्तूप, स्तम्भादि का निर्माण एक ही सिद्धान्त पर होता है।

चित्र-संख्या ५३—यह सुलेमानी मन्दिर (बंगाल) का चित्र है। यह भी शिवलिङ्ग के सिद्धान्त पर बना है। इसके ब्रह्म, विष्णु और रुद्रांश स्पष्ट हैं। ऊपर रुद्रभाग में शिवलिङ्ग का आकार स्पष्ट है।

चित्र-संख्या ५४—यह ढाका के राजबाड़ी मठ का चित्र है। इसका भी आकार शिवलिङ्ग की तरह है। इसमें बिन्दुस्थान, कलश, आमलक और नीचे चतुष्कोण भूपुर वा स्थिति-तत्त्व स्पष्ट हैं।

चित्र-संख्या ५५—यह वीरभूम जिला के भण्डीश्वर के मन्दिर का चित्र है। इसमें भी शिवलिङ्ग और प्रासादपुरुष के सभी प्रतीक स्पष्ट हैं। मन्दिर शिवलिङ्गाकार है।

चित्र-संख्या ५६— यह गुडिमल्लम् नामक मद्रास के एक ग्राम में पाई गई शिश्नमूर्त्ति है। श्री टी० गोपीनाथ राव ने इसका पता लगाया था (देखिये Elements of Hindu Iconography, Vol. II, Part I, plate II, Page 65). आपका कथन है कि यह शिवलिङ्ग का प्रारम्भिक रूप है और इसे परिमार्जित कर पीछे प्रचलित शिवलिङ्ग का रूप दिया गया। जितनी सामग्री के साथ और जिस वातावरण में राव महोदय ने यह ग्रन्थ लिखा था, उस समय ऐसी कल्पना स्वाभाविक थी। किन्तु यह सर्वथा भ्रान्त और अशुद्ध विचार है। यह शिवलिङ्ग और शिवमूर्ति हो नहीं सकती। इनमें शिव का कोई लक्षण नहीं है। यह मूर्ति एक तगड़े मनुष्य के कन्धे पर है। यह इस पुरुष का वाहन मालूम होता है। नटराज के अपस्मार-पुरुष से इसकी तुलना की गई है। अपस्मार-पुरुष का तुच्छ रूप है और वह विवश होकर नटराज के पैर के नीचे है, किन्तु इस पुरुष की बड़ी-बड़ी आँखें गठा हुआ शरीर, चौड़ी छाती और प्रसन्न मुखमुद्रा से विवश अपस्मार-पुरुष की तुलना नहीं हो सकती। इस मूर्ति का गोप्याङ्ग प्रकट है। नग्न शिव,

ब्रह्मा या विष्णु-मूर्ति की कहीं उपासना नहीं होती। शिव का कोई लक्षण इसमें नहीं है। न इसमें तीन नेत्र हैं, न सर्प है, न यज्ञोपवीत है और न डमरू, त्रिशूल। परशु, मृग आदि इनके प्रसिद्ध आयुध ही हैं। बायें हाथ में कोई लम्बा परिघ-जैसा अस्त्र है और दाहिने में क्या है यह स्पष्ट नहीं मालूम होता। पगड़ी भी विचित्र है, जो किसी भी देवता के शिरोवेष्टन या मुकुट से नहीं मिलती। मालूम होता है, किसी जंगली जाति का यह शिश्नदेवता है। कलि के रूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

पिशाचवदनः क्रूरः कलिश्च कलहप्रियः
वामहस्ते धृतः शिश्नो दक्षे जिह्वां च नृत्यति ॥

"कलि को कलह प्रिय है। यह निर्दय और पिशाच-जैसा मुखवाला है। यह बायें से शिश्न और दाहिने से जिह्वा पकड़कर उछल-कूद करता है।" हा सकता है कि यह ऐसे ही किसी भ्रष्ट देवता की मूर्ति हो। अनेक देशों में लोग शिश्न पूजते थे। हो सकता है कि उन्हीं में से कोई इसे अपने साथ ले आये हों। E. B. Havel का यह कथन सर्वथा सत्य है कि असभ्य जातियों की शिश्न-पूजा को भारत के शिवलिङ्ग से मिलाना अनुचित है। शिवलिंग के निर्माण का सिद्धान्त लिङ्ग-प्रकरण में दिया जा चुका है।

चित्र संख्या ५७—यह उपर्युक्त मूर्ति के ऊर्ध्वभाग का चित्र है। इसमें सभी लक्षण स्पष्ट हैं और शिव के किसी भी प्रतीक से नहीं मिलते।

चित्र-संख्या ५८—यह लखनऊ-म्यूजियम के एक शिवलिङ्ग का चित्र है। इसका ऊर्ध्वभाग ककड़ी की तरह (त्रपुषाकार) बनाने की चेष्टा की गई है और नीचे मुख बनाये गये हैं। इसकी बनावट बेडौल है, किन्तु शिवलिङ्ग के लक्षण इसमें हैं। इसे श्रीराखालदास वन्द्योपाध्याय और श्री टी० गोपीनाथ राव शिश्नमूर्ति कहते हैं। यह कल्पना भी अशुद्ध है।

चित्र-संख्या ५९—यह ५८ का दूसरी ओर से लिया गया चित्र है।

कृष्ण

चित्र-संख्या ६०—यह भगवान् कृष्ण की पीतल की एक मूर्ति का चित्र है। देखिये—(Illustrated Weekly of India, September 11, 1955) इसमें नीचे चतुष्कोण आधार है। उसके ऊपर पद्म है। यह सृष्टि है। उसके ऊपर वृत्त बिन्दुस्थान है। काल पर प्रभु नृत्य कर रहे हैं, यह नाद और स्पन्दन है। दाहिना हाथ अभय और बायाँ वरदमुद्रा में है, जिसमें कालसर्प की पूँछ है। माथे पर केश उलटा कमल, आमलक और बिन्दु के रूप में सजे हुए हैं। कमल सृष्टि का, आमलक प्रकृति का और बिन्दु अमृतत्व का प्रतीक है। प्रासादपुरुष और शिवलिङ्गादि इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार वनते हैं।

चित्र-संख्या ६१—मूर के संग्रह में भगवान् कृष्ण का यह चित्र है। इसमें पैरों के नीचे कमल और वृत्त क्रमशः सृष्टि और बिन्दु के प्रतीक हैं। यंत्र के दोनों त्रिकोणों के स्थान में दोनों पैर क्रमशः स्थिति-गति, अर्थात् शिव-शक्ति के प्रतीक हैं। इसके अधिक

विकसित रूप में उठा हुआ गत्यात्मक पैर विश्वनृत्य अथवा विश्वलीला में राधा का रूप ग्रहण करता है। विश्वनृत्य में अष्टभिन्ना प्रकृति रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती आदि अष्टनायिका के रूप में मिलकर इनके साथ नृत्य करती हैं। महारास में इन नायिकाओं की संख्या असंख्य हो जाती है। 'घट घट गोपी घट घट कान्ह'। पीताम्बर दिक् है। मुरली वाक्, अर्थात् शब्दब्रह्म है। माथे का ऊर्ध्वपुण्ड्र उलटा शिवलिङ्ग की तरह विश्व है। इसके भीतर तिलक, जीव अथवा बिन्दु है। माथे पर मोरमुकुट काल है। इसकी पाँच कलंगियाँ शेष के पाँच मुख की तरह हैं। ऊपर मयूरपंख का गुच्छा है। यह काल के भी काल महाकाल होने का संकेत है।

चित्र-संख्या ६२—भगवान् कृष्ण का यह चित्र नेपाल-महाराज श्रीप्रतापसिंहकृत पुरश्चर्यार्णव का है। इसमें स्थिति पर अष्टदल कमल है। उस पर भगवान् बैठे हैं। पीताम्बर, मुरली और मोरमुकुट यथावत् हैं। कदम्बवृक्ष विश्व है, जिसके गोल फूल और फल ब्रह्माण्ड हैं, जिसमें कृष्ण विहार करते हैं। विश्वलीला के पात्र नायिकाएँ, ऋषि, मुनि आदि सभी उपस्थित हैं। अध्यात्मविद्या और उसकी ज्योति अथवा किरणें गौवें हैं। सामने आनन्दामृत की यमुना बह रही है। उसमें एकशक्ति और त्रिशक्ति के प्रतीक, कलिकाकार और तीन दलोंवाले कमल खिले हैं।

शक्ति

दुर्गा

चित्र संख्या ६३- दुर्गा का यह चित्र नेपाल का है। यह पुरश्चर्यार्णव में प्रकाशित हुआ है। सिंह (धर्म) के पैर के नीचे महिष (अधर्म) का कटा हुआ मस्तक है। सिंह अगले दाहिने पैर से महिष के शरीर को दबोचे हुए है और मुख से उसने महिष के, तलवारवाले दाहिने हाथ को बेकार कर दिया है। महिष के शरीर से सर्प लिपटा है। यह काल का बन्धन है। कालपाश से अधर्म को विवश कर दिया गया है। दुर्गा का एक पैर धर्म, अर्थात् ज्ञान पर है और दूसरा अ-धर्म अर्थात् अ-ज्ञान पर है। धर्म-अधर्म और और ज्ञान-अज्ञान से ही सृष्टि चलती है। एक का भी अभाव होने से प्रपंच के संचालन में बाधा होने लगती है। दुर्गा के दाहिने हाथ में त्रिशूल है। इसके ऊर्ध्व अंश में त्रिशूल है और नीचे शूल है। त्रिशूल त्रिशक्ति है और इसका घनीभूत रूप शूल है। शूल महिषासुर के कण्ठ में है, जिससे वह निष्प्राण हो गया है। यह अद्वैतज्ञान, अर्थात् तत्त्वज्ञान द्वारा अज्ञान और अधर्म का नाश करना है। यह तत्त्वज्ञान भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है; क्योंकि यह उसी के हाथ की वस्तु है। त्रिशूल और शूल की तेजोमय चैतन्यशक्ति के रूप में उपासना होती है। जगदम्बा के दशों हाथों में दश दिक्पालों के शस्त्रास्त्र हैं।

चित्र-संख्या ६४ --यह महाबलिपुरम् के वराकस्वामिन् के मन्दिर की, चट्टान को काटकर बनाई हुई दुर्गा की प्रतिकृति है, (देखिये श्रीगोपीनाथ राव, Elements of Hindi Iconography, Vol. I, pt. II. Page 343, plate C 1)। जिस तरह नटराज अपस्मार-पुरुष की पीठ पर, एक पैर पर सारा भार देकर खड़े रहते हैं,

उसी तरह यहाँ दुर्गा एक पैर पर सारा भार देकर महिष के मस्तक पर खड़ी हैं। पैरों के बामपार्श्व में एक स्त्री और दाहिनी और एक पुरुष है। स्त्री के हाथ में सुधापात्र है, जो परमानन्द का प्रतीक है। दोनों की मुद्रा से मालूम होता है कि दोनों स्तुति-गान में निरत हैं। दाहिनी ओरवाली पार्श्वदेवी के हाथ में तलवार और बाईं ओरवाली के हाथ में धनुष है। दोनों के माथे पर सात लपेट के करण्ड-मुकुट हैं, जो सप्तभुवन हैं। दुर्गा के माथे पर भी सात लपेटों का करण्ड-मुकुट है। चित्र के दानों ऊर्ध्वकोण में धर्म के प्रतीक सिंह और वृषभ हैं। सिंह के निकटवाले गन्धर्व के हाथ में पूजाद्रव्य और वृषभ के निकटवाले किन्नर के हाथ में वाद्ययन्त्र है। दोनों के किञ्चित् खुले मुख से बोध होता है कि दोनों स्तुति-गान में निरत हैं।

ऊपर एक त्रिशूल है, जो शक्ति के ज्वालामय चैतन्य रूप-सा बना हुआ है। इसके तीनों शूल दीपशिखा की तरह लहरा रहे हैं।

चित्र-संख्या ६५—यह महिषमर्दिनी की एक प्रतिमा का चित्र है। (देखिये डॉ० आनन्द-कुमार स्वामी, विश्वकर्मा, चित्रपट ३६) इसमें दुर्गा अपस्मार-पुरुष पर नटराज की तरह महिष पर खड़ी हैं। महिष का आधा शरीर मनुष्य का और आधा शरीर पशु का है। देवी का बायाँ पैर पशुभाग पर और दाहिना मनुष्यांश पर है। देवी के एक हाथ में महिष की पूँछ है, जो उसकी विवशता का चिह्न है। देवी की आठों भुजाएं फैली हुई हैं, जो सर्वव्यापित्व के चिह्न हैं। मूर्ति स्थाणुक-मुद्रा में सीधी खड़ी है। यह सारी सृष्टि के रूप का प्रतीक है। मुकुटादि के प्रतीक-चित्र में स्पष्ट नहीं मालूम होते हैं।

चित्र-संख्या ६६—यह महिषमर्दिनी दुर्गा की प्रतिमा का चित्र है। (देखिये विश्वकर्मा, चित्रपट ३६)। यह इस समय लाइडेन (Leiden) जर्मनी के संग्रहालय में है। मूर्ति बड़ी ही भव्य और प्रभावशाली है। इस मूर्ति की विशेषता है कि यह केवल महिष-पीठ पर है। महिष को रुद्र का अवतार भी कहा गया है। इस दृष्टि से यह शव या शिवपीठ सिद्ध होगा।

काली

चित्र-संख्या ६७—यह काली का चित्र नैपाल का है। पुरश्चर्यार्णव में प्रकाशित हुआ था। (इसका कॉपी-राइट प्रकाशक के अधीन है। शिव श्मशान में पड़े हैं। सर्प-रूप में काल भी अङ्कित है। निष्क्रिय ब्रह्म (शिव) का सक्रिय त्रिगुणात्मकरूप काली के रूप में स्थाणुक-मुद्रा में खड़ा है। (चित्र २० के यंत्र स्थिति और गति के प्रतीक शिव और शक्ति के दोनों त्रिकोणों का स्मरण कीजिये।) काला रंग और खुले हुए केश वेद की महारात्रि वा तमोगुण का घोर अन्धकार, अर्थात् तमोगुण है। लोल जिह्वा से रक्त-विन्दु टपक रहे हैं। यह लाल रंग लोल जिह्वा और रक्तबिन्दु का स्राव रजोगुण का और प्रतिक्षण सृष्टि होते रहने का प्रतीक है। इन के मुख का दन्तुर होना अनिवार्य है। ये उजले दाँत सत्त्वगुण हैं और दो बड़े-बड़े दाँत अमृतस्रावी महा-आनन्द के प्रतीक हैं। इच्छा-ज्ञान-क्रिया और स्थूल रूप में चन्द्र, सूर्य और अग्नि इनके तीन नेत्र हैं। वाक्शक्ति पचास वर्णों के मुण्डमाल के रूप में गले

में पड़ी हुई है। हाथ में ज्ञान का खड्ग आर अज्ञान का सद्यश्छिन्न मस्तक है, जिससे रक्त टपकता रहता है। अज्ञान या अविद्या के शिरश्छेद की यह क्रिया सर्वदा चलती रहती है; क्योंकि अज्ञान का शिर जितना ही काटा जाता है, यह उतना ही बढ़ता है। अम्बा की विशेष कृपा नहीं होने से इसका समूल नाश नहीं होता। (रक्तबीज, रावण और ऋग्वेद के वृत्र की कथा का स्मरण कीजिये)। एक हाथ अभयमुद्रा में और दूसरा वरदमुद्रा में है। कटि में शवों के हाथों की माला है। ये शिवत्व प्राप्त किये हुए, अर्थात् सोऽहंभाव में स्थित भक्तजनों के कर्म हैं, जिन्हें स्वीकार कर देवी उन्हें मुक्ति देती है। शिवा मुक्ति है, जो इनकी कृपा के लिये चिल्लाती रहती है।

चित्र-संख्या ६८—यह काली का चित्र बंगाल का है। (इसके प्रकाशक एस्० दस्तीदार ऐण्ड कं० हैं। इसका प्रकाशनाधिकार प्रकाशक के अधीन है।) देवी श्मशान में अपने कूटस्थ रूप शव-शिव पर हैं। भावनाविहीन, अर्थात् निर्विकल्प निरुपाधि अवस्था ही श्मशान है। शिवा (मुक्ति) पार्श्व में है। पराशक्ति की लघुशक्तियाँ (योगिनियाँ) विघ्नों (असुरों) का दूर कर रही हैं। और सभी प्रतीक पूर्वोक्त चित्र की तरह हैं। इसमें धर्माधर्म दो शव कानों में आभूषण के स्थान में हैं। अन्धकारमय रूप के बाहर प्रकाश-पुंज फैला है। यह सृष्टि-सूक्त का 'ततो रात्र्यजायत, ततः समुद्रो अर्णवः' है। ऊपर ब्रह्मा और विष्णु पार्श्वदेवता की तरह स्तुति कर रहे हैं।

चित्र-संख्या ६९—यह बंगाल की एक प्रतिमा का चित्र है। मूर के Hindu Pantheon से इसका संग्रह किया गया है। मुण्डमाल में मुण्ड वर्णमाला के पचास अक्षरों के संकेत मात्र हैं। इसलिये साधारणतया पचास मुण्ड नहीं बनाये जाते। संकेत के लिए केवल कुछ मुण्ड बना दिये जाते हैं। इस प्रतिमा में पचास मुण्ड बनाने की चेष्टा की गई है।

चित्र-संख्या ७०—यह द्वितीया महाविद्या तारा का, बंगाल का चित्र है। (इसके प्रकाशक कलकत्ता के श्रीबन्धु सिंह हैं और इसका सर्वाधिकार उन्हीं के अधीन है।) शिव के हाथों में डमरू और शृङ्ग शब्द-ब्रह्म के प्रतीक हैं। शृङ्ग कभी-कभी सुधापात्र का भी काम करता है। (कालरात्रि-नृत्य का विवरण परिशिष्ट १० में देखिये।) इसलिये यह आनन्द का भी प्रतीक है। वाक्शक्ति यत्र-तत्र मालाओं के रूप में पड़ी है। काल-शक्ति (सर्प) शिव और शक्ति के हाथों और पैरों से लिपटे हैं। जगदम्बा के पैरों में और शिव के अंगों में ये गति के प्रतीक हैं। कटिवस्त्र (व्याघ्रचर्म) दिक् है। वर्णमाला (वाङमय सृष्टिशक्ति अर्थात् नाद-बिन्दु) गले में है। नीलवर्ण और फैले केश, रक्त और लोलजिह्वा तथा उजले दाँत, काली की तरह, क्रमशः तम, रज और सत्त्व के प्रतीक हैं। पुष्ट स्तन और चार सुदृढ़ भुजाएँ जगत्पालन की क्षमता के प्रतीक हैं। तीन नेत्र कालीवत् हैं। त्रिपुरा के सिंहासन के नीचे जो पञ्चशिव, पञ्चब्रह्म, पञ्चभूतादि हैं, वे यहाँ मस्तक पर पञ्चमुण्ड के रूप में दिखलाये गये हैं। ऊपर सर्पफण के रूप में महाकाल है, अर्थात् पैरों के नीचे महाकाल और मस्तक पर महाकाल। यह महाकाल का महाकाली रूप है। बायें हाथों में खड्ग और कर्तरी हैं, जो अज्ञान के नाश करने में निरत रहते हैं। घोर प्रहार के लिये खड्ग और लघुकार्यों के लिए कर्तरी (काती) है। कभी-कभी काती के स्थान

में कची भी दिखलाई जाती है। इसका अर्थ है कि बड़ी-से-बड़ी कठिनाई को यह कैंची द्वारा अनायास काट डालती है। दाहिने हाथों में सृष्टि का प्रतीक कमल और ब्रह्मानन्द का प्रतीक सुधापात्र है। यही सुधापात्र वैदिकों का सोमपात्र, ब्रह्मा का कमण्डल, मन्दिर का अमृतकलश और बुद्ध का कमण्डल तथा सुधाघट है। श्मशान कालीवत् है, जो चिताधूम से आच्छन्न है। देवी स्थाणुक रूप में खड़ी हैं। यह स्तम्भ, स्तूप अथवा प्रासाद-पुरुष की तरह त्रिगुणात्मक अखिल विश्व का प्रतीक है।

चित्र-संख्या ७१—यह बंगाल में प्रचलित त्रिपुरा का चित्र है। इसमें सिंहासन के नीचे पञ्चब्रह्म अंकित हैं। सिंहासन पर शयन-मुद्रा में परमशिव हैं। इनकी नाभि, विष्णु की नाभि की तरह, बिन्दुस्थान है, जहाँ से सृष्टि का आरम्भ होता है। वेद में इसे ही 'अमृतस्य नाभिः' कहा गया है। नाभि से सृष्टि का प्रतीक कमल निकला है, जिस पर विमर्श, अर्थात् साकार सृष्टिरूप त्रिपुराम्बिका बैठी हैं। विष्णुरूप में कमल पर ब्रह्मा, शाक्तरूप में कमल पर शक्ति, जैन रूप में कमल पर तीर्थंकर और बुद्ध रूप में कमल पर बुद्ध बैठे रहते हैं। सब का अन्तर्गत सिद्धान्त एक है। पाशाङ्कुशादि की व्याख्या त्रिपुराप्रकरण में हो चुकी है।

चित्र-संख्या ७२—यह कामरूप की कामाख्या की स्वर्णमूर्ति का चित्र है। (कामाख्या के दास ऐण्ड ब्रौस इसके प्रकाशक हैं और सर्वाधिकार उन्हीं के अधीन है।) इसमें गालाकार बिन्दुस्थान [1] दिखलाया गया है। इसका नाम योनिपीठ भी है। इसके भातर चतुष्कोण पीठ पर सिंह और शव-पीठ हैं। ये सब अविनाशी कूटस्थ तत्त्व की अचल स्थिरता के प्रतीक हैं। साधना-जगत् में ये वीर और दिव्य अवस्थाओं के संकेत हैं, जब शक्ति प्रकट होकर प्रत्यक्ष होती है। नाभिस्थान, कमल इत्यादि पूर्ववत् हैं। हाथों में जपवटी, अभय और वरद दिखाये गये हैं। ये सृष्टि, उन्नति और रक्षा के संकेत हैं और जगन्माता का यह मंगलमय रूप है। ऊपर अंकित ॐ से इन सभी भावों को व्यक्त करने की कोशिश की गई है।

चित्र-संख्या ७३—यह छिन्नमस्ता का चित्र नैपाल का है। पुरश्चर्यार्णव में प्रकाशित हुआ है। इसका वृत्त 'नाभिः', 'अमृतस्य नाभिः', अर्थात् बिन्दुस्थान है, जिसमें विवर्त का नाद इतने रूपों की सृष्टि करता रहता है। वृत्त के बाहर के अन्धकार और छिटकता हुई प्रकाश की रेखाएँ, महारात्रि के अन्धकार, अर्थात् अज्ञेयता (यहाँ सृष्टि-सूक्त को स्मरण कीजिये) और उसके संकुचित रूप साकार ज्ञेयता के प्रतीक हैं। बिन्दु अन्धकार और प्रकाश का और भी घनीभूत रूप, सूक्ष्म और स्थूल रूप है। चित्र २० के यंत्र के मध्य का एक त्रिकोण स्थिति और दूसरा गति का प्रतीक है। ये दोनों एक साथ अर्धनारा रूप में और अलग-अलग भिन्न-भिन्न नामों से स्त्री-पुरुष के रूप में दिखलाये जाते हैं। यहाँ वे ही ज्ञान इच्छा-क्रियावाले दो त्रिकोण कामकला, अर्थात् रतिकाम के रूप में दिखलाये गये हैं। इस

---

१. शाक्तदर्शन के अनुसार बिन्दु साकार सृष्टि का आरम्भ है। इसके भीतर नामरूपात्मक सारी क्रियाएँ होती रहती हैं।

भावना का मुख्य उपकरण बनाकर, अथवा इसी रूप में, महामाया अपनी लीला का विस्तार करती है। इसलिये छिन्नमस्ता इसके ऊपर स्थित हैं। त्रिमूर्ति की मध्यस्थ मूर्ति की तरह इस चित्र का मध्यस्थ प्रधानरूप रजोगुण है और तम और सत्त्व दो योगिनियों के रूप में दो पार्श्वदेवता की तरह हैं। जिस तरह हवा और बिजली का कोई मस्तक नहीं होता है, उसी तरह शक्ति के मस्तक या हस्तपादादि कल्पित वस्तु हैं। इसलिये ज्ञान-खड्ग से इस कल्पित अज्ञान का उच्छेद कर दिया गया है। रक्त की तीन धाराएं तीनों मुख को भर रही हैं। इस से यही कहा गया है कि एक ही मूलशक्ति त्रिगुण का आधार है और उसी से तीनों गुणों, त्रिशक्ति आदि की उत्पत्ति और स्थिति है। दुर्गासप्तशती में दुर्गा को 'गुणाश्रये' और 'गुणमये' कहकर इसी भाव को स्पष्ट किया गया है।

इनका नाम प्रचण्डचण्डिका और वज्रवैरोचनी भी है और बुद्धसम्प्रदाय में इस रूप और भाव को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया गया है।

चित्र-संख्या ७४—छिन्नमस्ता का यह रूप बंगाल में प्रचलित है। इसमें (सृष्टि) और काम-रति (स्थिति-गति) के प्रतीक स्पष्ट हैं। इसमें वर्णमाला (वाक्) तीनों रूपों में स्पष्ट कर दिखलाये गये हैं। दिक् देवी का वस्त्र है। इसलिये ये दिगम्बरी हैं। कालसर्प तीनों शक्तियों के साथ है, और तीनों के हाथ में ज्ञान का खड्ग है। दो योगिनियों के हाथ में सुधापात्र है और महादेवी का अपना मुख ही सुधापात्र है। इसमें नैपालवाले चित्र की तरह और संकेत नहीं आ सके हैं।

चित्र-संख्या ७५—यह नैपाल का, धूमावती का चित्र है। यहाँ विकराल रूप में शक्ति को अंकित किया है। ये काकध्वज और काकवाहिनी हैं। यह श्मशान की शून्यता का प्रतीक है। यहाँ धर्म, चक्र के रूप में रथ में लगा है, जो देवी को वहन करता है। हाथ का सूप अज्ञान की भूसी उड़ाकर भक्तों को ज्ञान का अन्न और पुष्टि प्रदान करता है। यह वृद्धा माता का रूप है। प्रेममय हृदय इसे प्रेममय रूप में देखता है।

चित्र-संख्या ७६—यह श्रीचक्र है। यह शाक्तों का परमाराध्य और परमप्रिय प्रतीक है। इसका सांकेतिक विवरण यथास्थान हो चुका है। सौन्दर्यलहरी की टीका में तथा श्रीविद्या के ग्रन्थों में इसका विस्तृत विवरण है। इसका मध्यस्थ बिन्दुस्थान ध्यान देने योग्य है। इसे ही शक्तिमहिमस्तात्र में कहा गया है—'मध्ये बैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे।' बोरोबुदूर (जावा) चि० १४० का स्तूप इसी यंत्र पर बना है।

नटेश्वरी

चित्र-संख्या ७७—यह नैपाल से प्राप्त तारा की मूर्ति है। यह इस समय विक्टोरिया अलबर्ट म्यूजियम, लण्डन में है। इसके प्रतीक ध्यान देने योग्य हैं। नीचे सृष्टि-कमल है। उसके बीच में बिन्दुस्थान कमल की कर्णिका है। उसके ऊपर नटराज के अपस्मार-पुरुष की तरह मोहपुरुष पड़ा है। यही इन्द्र का वृत्र और दुर्गा का महिष है। देवी

की मुद्राओं से ही मालूम होता है कि कोई प्रचण्ड नृत्य हो रहा है। नृत्य के वेग में उत्तरीय के दोनों छोर लटककर ऊपर की ओर मुड़ गये हैं। देवीमूर्ति के बीच में रहने से ऊपर और नीचे दोनों ही ओर त्रिशूल बन जाते हैं। यह त्रिशक्ति का चिह्न है। नैपाल की बौद्धमूर्तियों में यह शैली देखी जाती है। (देखिये—Buddhist Iconography. विनयतोष भट्टाचार्य।) गले में मुण्डमाल है। यह सृष्टि का प्रतीक है। नीचेवाले बायें हाथ में मातुलुङ्ग (अनार) है। यह विश्व का प्रतीक है। इसके बीज सृष्टि के जीव-जन्तु हैं। हाथ नृत्यमुद्रा में हैं। मुख विकराल है, जिससे उद्विग्नता और क्रोध प्रकट होता है। कानों के पास उड़ते हुए उत्तरीय नृत्य के वेग को प्रकट करते हैं और बाल भी अग्निज्वाला की तरह मालूम होते हैं। तीनों नेत्र काली, तारा इत्यादि की तरह त्रिशक्ति के प्रतीक हैं। परिशिष्ट १० में कालरात्रि-नृत्य को इस प्रसंग में स्मरण कीजिये।

चित्र-संख्या ७८—यह बौद्ध देवी नैरात्मा की प्रतिमा का चित्र है। इसमें और चित्र ७७ में कोई भेद नहीं है। यह वंगीय साहित्य-परिषद् के संग्रहों में है। (देखिये—Buddhist Iconography. विनयतोष भट्टाचार्य। plate XXXB.) निरात्मा का अर्थ है—जो आत्मा ही नहीं, आत्मा से भी परे है। यह अशेष-कारण का दूसरा नाम है।

मूर्ति चतुष्कोण पीठ पर है। यह स्थितितत्त्व है। (यहाँ शिवलिङ्ग के निम्नचतुष्कोण और यंत्र, चित्र २०, के चतुष्कोण को मिलाइये।) इसके ऊपर कमल पर वृत्त है। यह गतिमती प्रकृति है। इसको जगत् (पुन: पुन: गच्छति इति), अर्थात् जो बराबर चलता रहे, गति में रहे, और संसार (पुनः पुनः सरति इति), अर्थात् बराबर चलता रहनेवाला भी कहते हैं। (यहाँ शिवलिङ्ग के मध्यस्थ विष्णवंशवाले भाग के वृत्त तथा अष्टकोण और यंत्र के वृत्त और अष्टदल कमल को स्मरण कीजिये।) इसके ऊपर शव पर देवी नृत्य कर रही हैं। शव का मुकुट तीन लपेटों का है। यह त्रिशक्ति और त्रिगुणादि का चिह्न है। इसके ऊपर देवी वामपाद पर खड़ी हैं। नटराज-जैसे पुरुषरूप में मूर्ति दक्षिण पाद पर खड़ी रहती है और देवी मूर्ति में वाम पाद पर। (इसे शिवलिङ्ग के रुद्रांश और यंत्र के बिन्दु और दोनों त्रिकोण से मिलाइये। यंत्र का ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण मूर्ति का शिवरूप और अधः शीर्ष त्रिकोण देवीरूप ग्रहण करता है। एक त्रिकोण, अर्थात् अभिन्न त्रिशक्ति की कल्पना करने से केवल एक त्रिकोण (चित्र २० क) की कल्पना की जाती है और प्रतिमा में आयुधशक्ति-समेत केवल पुरुष या नारी-मूर्ति बनाई जाती है। यहाँ एक त्रिकोण स्थिति (शिव) और दूसरा गति (शक्ति) बनकर नृत्य कर रहा है। पैरों के दोनों पार्श्व में देवी के उड़ते हुए उत्तरीय के छोरों से तारा की मूर्ति (चित्र ७४) की तरह त्रिशूल बनता है। गले में सृष्टि की माला है, जिसके पञ्चतत्त्व पाँच मणि के रूप में नीचे दाहिने पैर के पास लटक रहे हैं। एक हाथ में मातुलुङ्ग और दूसरे में वज्र है। मातुलुङ्ग विश्व है और वज्र स्थिरता, अर्थात् कूटस्थ तत्त्व है। मुखमुद्रा प्रशान्त, गम्भीर और प्रसन्न हैं। मुकुट त्रिशक्ति के त्रिशूल के आकार का बना हुआ है। मूर्ति स्थाणुकमुद्रा में है जो सारे विश्व का प्रतीक है।

जैन

चित्र-संख्या ७९—यह आदिनाथ ऋषभनाथ की मूर्ति का चित्र है। यह महेत, जिला गोंडा की है। पद्मासन के नीचे दो सिंह और वृषभ हैं। ये दुर्गा और शिव के विग्रहों की तरह धर्म के प्रतीक हैं। वेद में परमात्मा को वृष और वृषभ[1] कहा गया है। यह ऋषभनाथ नाम ही वेद के भाव पर लिया हुआ मालूम होता है। आसन के नीचे सृष्टि का कमल है। इस पर ब्रह्मा, देवी या बुद्ध की तरह परमात्मा के प्रतीक ऋषभनाथ पद्मासन पर बैठे हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध स्थाणुक (खड़ी) मूर्तियों के पार्श्वदेवता की तरह इनके भी दोनों पार्श्व में दो अनुचर हैं। एक के हाथ में चंवर और दूसरे के हाथ में पूजा की कोई वस्तु है, जो चित्र में स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती। हृदय पर धर्मचक्र बना है। यह विष्णु के श्रीवत्सलांछन की तरह है और दोनों का अर्थ भी एक है। विष्णु की श्री का वत्स या स्वयं विष्णु ही धर्म हैं। उसी का प्रवर्तित रूप यह चक्र है। धर्मचक्र प्रभामण्डल के रूप में मस्तक के पीछे भी लगा है। यह वेद का कालचक्र है[2], जो काल और धर्मचक्र के रूप में विष्णु और शक्ति के हाथों में हैं और जिन तथा बुद्ध से सम्बद्ध है। मस्तक पर तीन छत्रोंवाला छत्र है। यह त्रिशक्ति का प्रतीक है। यह शिव और बुद्ध का त्रिशूल और दुर्गा का त्रिकोण है। धर्मचक्र और त्रिशक्ति के दोनों ओर दो गज हैं। ये आध्यात्मिक गौरव और वैभव के प्रतीक हैं। श्री की मूर्तियों में भी गज इसी भाव से अंकित किये जाते हैं। सभी ओर अनेक तीर्थंकर पर-तीर्थंकर के ध्यान में निमग्न हैं।

चित्र-संख्या ८०—यह तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति का चित्र है। यह ग्वालियर का है। आसन के नीचे विश्व को धारण करनेवाला धर्म दो सिंहों के रूप में अंकित है। प्रतिमा की दाहिनी ओरवाले सिंह के ऊपर धर्मचक्र अङ्कित है। मूर्ति आसन-मुद्रा में पद्मासन पर बैठी है। पार्श्व में दो पार्श्व-चर वा पार्श्वदेवता हैं। हृदय पर धर्मचक्र है। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल के रूप में धर्मचक्र है। मस्तक पर त्रिशक्ति का प्रतीक त्रिच्छत्र है, जिसके एक या दो छत्र चित्र में आये हैं। तीसरा दिखाई नहीं पड़ता।

चित्र-संख्या ८१—यह महेत, गोंडा में प्राप्त आदिनाथ अथवा ऋषभनाथ की मूर्ति है। इसके सभी लक्षण और प्रतीक चित्र सं० ७९ की तरह हैं।

चित्र-संख्या ८२—यह भगवान् महावीर की मूर्ति का चित्र है। मूर्ति के नीचे सृष्टि का पद्म है। पद्म के ऊपर त्रिशक्ति के प्रतीक तीन त्रिशूल हैं। ऊपर पद्मासन पर ध्यानस्थ है।

---

१. ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्याः।
तॉं आ तिष्ठ तेभिरायाहि अर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे॥
ऋग्वेद। १.२३.१७७.२।

२. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥
सायण-द्वादश प्रधयः परिधयः प्रहित वर्तन्ते। तत्स्थानीया द्वादश मासाः।
एकम् अद्वितीयं चक्रं क्रमणस्वभावं संवत्सराख्यं चक्रमाश्रिताः।
त्रीणि नाभ्यानि ग्रीष्मवर्षाहेमन्ताख्यानि त्रिशताः षष्टिः (३६०) शंकवः न इव अर्पिता निखाताः॥

एक ओर का पार्श्वदेव चित्र में दिखाई पड़ता है। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल के रूप में धर्मचक्र है। ऊपर त्रिशक्ति का त्रिच्छत्र है। आध्यात्मिक वैभव के प्रतीक दो गज इनकी सेवा में संलग्न हैं।

चित्र-संख्या ८३—यह जैन-चौमुखी अथवा सर्वतोभद्रप्रतिमा है। यह शिवलिङ्ग की तरह तीन स्तरों में बना हुआ है, जो भू: भुवः और स्व: के भी प्रतीक हैं। यह सब प्रकार से चौमुखी शिवलिङ्ग की तरह है। चित्र ४२ और ४३ देखिये।

चित्र-संख्या ८४—यह गण्डवाल, ग्वालियर राज्य की, चक्रेश्वरी और गोमुख यक्ष की प्रतिमा है। यह ऋषभनाथ अथवा वृषभनाथ का रूपान्तर है। यह शिवशक्ति का प्रतिरूप है। गोमुख चतुष्कोण पीठ पर बैठा है। इसके दाहिने हाथ में त्रिशूल के स्थान में तीन लपेटों की मूठवाला दण्ड है। बायें हाथ की वस्तु ठीक-ठीक दिखाई नहीं पड़ती। चक्रेश्वरी के दाहिने हाथ में भी इसी तरह का कोई अस्त्र है। चक्रेश्वरी शक्ति का एक नाम है। इसका अर्थ होता है—जगदीश्वरी। चक्र का अर्थ है, जो क्रमणशील रहे, अर्थात चलता रहे। जगत् और संसार का भी यही अर्थ है।

बुद्ध

चित्र संख्या ८५—ये आदिबुद्ध वज्रधर हैं। यह नेपाल के एक रंगीन चित्र (painting) की अनुकृति है। ये वेदान्त के ब्रह्म और वेद के सत् की तरह बौद्ध देवसमाज (Pantheon) के सर्वश्रेष्ठ देव हैं। (देखिये—Buddhist Iconography—विनय तोष भट्टाचार्य, चित्रपट ५)।

वज्र-शब्द की आगे व्याख्या हो चुकी है। वज्र का अर्थ है अचल, अटल और अविनाशी तत्त्व। यह वेदान्त का कूटस्थ है।

नीचे ब्रह्मा के पद्म की तरह सृष्टि का प्रतीक पद्म है। उसकी कर्णिका (बिन्दुस्थान) पर पद्मासन के ऊपर बुद्ध बैठे हैं। बीच में आसनमुद्रा में भगवान् का शरीर है। यह देहलिङ्ग की तरह बना हुआ है। दोनों जानु के पास से दो ज्वालाएँ निकल रही हैं और भगवान् का शरीर ही ज्योतिर्मय है। ये तीनों ज्योतियाँ त्रिशक्ति का त्रिशूल बनाती हैं। गले में विष्णु की वैजयन्ती और शैव तथा शाक्तों के मुण्डमाल की तरह वाक्, अर्थात् सृष्टि की माला है। दाहिने हाथ में वज्र और बायें में वज्रघण्टा है। वज्र 'ऋतं बृहत्' की निश्चल स्थिरता का प्रतीक है। वज्र के दोनों छोरों पर त्रिशक्ति के प्रतीक दो त्रिशूल बने हुए हैं। बायें हाथ में वज्रघण्टा शब्दब्रह्म है। यह विष्णु का शंख, शिव का डमरू, कृष्ण की वंशी और शक्ति का घण्टा है। इसके भी एक छोर पर त्रिशूल बना है, जिसे भगवान् अंगुष्ठा और तर्जनी के बीच पकड़े हुए हैं। वज्रवाले दोनों हाथ एक दूसरे के ऊपर हृदय पर पड़े हुए हैं। यह निश्चल एकाग्रता, अर्थात् आत्मतुष्टि (आत्मन्येवात्मना तुष्ट:) का प्रतीक है। यही त्रिशक्ति की शून्यता है। ख्रिस्तान लोग भी हृदय पर इसी प्रकार क्रौस (+) बनाया करते हैं। इससे स्पष्ट बोध होता है कि क्रॉस या क्रूस त्रिशूल की अनुकृति है। इस ग्रन्थ में मैंने अन्यत्र भी इसकी चर्चा की है। भगवान् के कन्धे से लटकते हुए और हवा में उड़ते हुए उत्तरीय के दोनों छोर शरीर के साथ त्रिशूल बनाते हैं।

भौंहों के बीच उज्ज्वल बिन्दु वा तिलक है। ग्रीनवेडेल ने इसे ऊर्णा कहा और पीछे के सभी लेखकों ने इसे इसी नाम और रूप में ग्रहण कर लिया। दोनों भौंहों के मिलने के स्थान में गोलाकार घूमे हुए बालों को ऊर्णा कहते हैं। यह महापुरुष का एक लक्षण है। किन्तु यह ऊर्णा हो नहीं सकता। यदि यह बिन्दु ऊर्णा होता, तो भौंहों के बालों की तरह इसका भी रंग काला होता। किन्तु इसका रंग उजला होने के कारण स्पष्ट है कि यह ऊर्णा नहीं है। यह आज्ञाचक्र का बिन्दु-स्थान है, जहाँ ध्यानस्थ होने पर प्रथम ज्योति प्रकट होती है[१]। बिन्दु के ऊपर रत्नमुकुट है। इसकी एक पंक्ति में पाँच और दूसरे में सात रत्न हैं। ये क्रमशः पञ्चतत्त्वादि, अर्थात् तारा के पञ्चब्रह्म और सप्तलोक हैं। शेष के भी पाँच और सात फण बनाने का विधान है। पीछे ज्योति बगराता हुआ प्रभामण्डल यह सूचित करता है कि भगवान् ज्योतिर्मय हैं।

चित्र-संख्या ८६—बुद्ध की यह मूर्ति बर्लिन म्यूजियम में है। यह नेपाल की, प्राचीन पत्थर की मूर्ति है। (देखिये—Gruenwedel. Buddhist Art in India. Page 178. Fig. 126.) इस पर अंकित लेख है—ये धर्माः हेतुप्रभवाः।

भगवान् के आसन के नीचे दो सिंह हैं। धर्म के ऊपर सृष्टि का प्रतीक कमल है। ब्रह्मा की तरह भगवान् कमल पर पद्मासन पर भूमिस्पर्श-मुद्रा में बैठे हैं ललाट पर बिन्दु चमक रहा है (यंत्र के बिन्दु को स्मरण कीजिये)। समूची प्रतिमा शिवलिङ्गाकृति की बनी है। मालूम होता है कि शिवलिङ्ग के भीतर शिव प्रकट हुए हैं। नीचे धारणशक्ति, मध्य में विष्णुशक्ति का कमल और ऊपर रुद्रांश है।

चित्र-संख्या ८७—यह बुद्ध का मस्तक गान्धारशिल्प की कृति है, और अनुमान किया जाता है कि ईसवी सन् की चौथी शताब्दी की है। इसमें ललाट-बिन्दु इतना स्पष्ट है कि यह ऊर्णा हो नहीं सकता। ईसवी सन् के पूर्व की मूर्तियों में भी ये बिन्दु पाये जाते हैं। यह दार्शनिकों और साधकों का बिन्दु है।

चित्र-संख्या ८८—यह बुद्धमूर्ति भी गान्धार-शिल्प की कृति है। इस समय बृटिश म्यूजियम लण्डन में है (देखिये विश्वकर्मा, प्लेट १८)। अनुमान किया जाता है कि यह ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी की मूर्ति है। इसमें ललाट-बिन्दु स्पष्ट है और यह ऊर्णा नहीं है। यह साधना और सिद्धि का प्रतीक है।

चित्र-संख्या ८९—इस शिलाखण्ड पर प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन का दृश्य अंकित है (देखिये Gruenwedel. Buddhist Art in India, page 144 fig. 96.)। इसमें बुद्ध के आसन के नीचे त्रिशूल पर धर्मचक्र अंकित है। ग्रीनवेडेल इसे बौद्धत्रिरत्न (बुद्ध धर्म और संघ) के रूप में ग्रहण करने में हिचकते हैं। किन्तु त्रिशूल का सूक्ष्मरूप त्रिशक्ति और स्थूलरूप बौद्धसम्प्रदाय में त्रिरत्न है।

चित्र-संख्या ९०—यह साँची-स्तूप का एक द्वार है। ईसवी सन् से दो सौ वर्ष पूर्व का माना जाता है। इसके शिखर पर चक्र के ऊपर त्रिशूल बना हुआ है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध

१. इसके विशेष विवरण के लिये 'षट्चक्रनिरूपण' में आज्ञाचक्र और सहस्रार का विवरण देखना चाहिये।

सम्प्रदाय में दोनों का समान रूप से आदरणीय और शीर्षस्थान है। हम देख आये हैं कि एकशूल ज्योतिर्मय एक चैतन्य शक्ति का प्रतीक है, जिसकी उपासना शूलप्रतीक के रूप में होती है और त्रिशक्ति त्रिशूल है, जिसकी उपासना त्रिकोण, शिवलिङ्ग, स्तूपादि के रूप में होती है। दुर्गा के चित्र (चित्र ६०) में महिष के कण्ठ में शूल है और ऊपर त्रिशूल। ये एक ही सिद्धान्त के समस्त और व्यस्त रूप हैं। जैन मूर्तियों की तरह चक्र और त्रिशूल के पार्श्व में एक गजराज खड़ा है। नीचे द्वार के वाम स्तम्भ पर चक्र अंकित है, जिसकी परिधि पर त्रिशूल बने हैं। द्वार की प्रथमभूमि के मध्य में स्तूप बना है, जिसके ऊपर स्तूपिका (देवप्रासादों का अमृत-कलश) बनी है। गजयूथ आराधना में निरत है। द्वार की तृतीयभूमि के दोनों पार्श्व में दो स्तूप बने हैं, जो शिवलिङ्ग-जैसे दिखाई पड़ते हैं। यथार्थ में शिवलिङ्ग का विस्तृत रूप स्तूप और स्तूप का लघुरूप शिवलिङ्ग है। लघुरूप में पूजन के लिये बनाये हुए सभी स्तूपों में और शिवलिङ्ग में कोई भेद नहीं मालूम होता। वे स्तूप-जैसे तब लगते हैं, जब उनके ऊपर स्तूपिका या छत्र लगा दिये जाते हैं।

चित्र संख्या ६१—त्रिशक्ति का सिद्धान्त कितना प्राचीन है, यह कहना कठिन है। ऋग्वेद की ऋचा है—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता महती महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरंतरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

ऋ० १.२२.१६४.३३।

द्वितीय पंक्ति का पदपाठ है—उत्तानयोः चम्वोः योनिः अन्तः अत्र पिता दुहितुर्गर्भ-माधात्। "द्यौ मेरे जन्मदाता पिता हैं, यहाँ नाभि मेरा बन्धु है और यह पृथ्वी मेरी माता है। चित पड़े हुए दो सोमपात्रों के भीतर योनि है। यहाँ पिता ने कन्या में गर्भाधान किया।" अक्षरार्थ लेने पर यह ऋचा निरर्थक ही नहीं, बीभत्स भी है। किन्तु मुझे इसके अर्थ का इस प्रकार बोध होता है कि नाभि शक्ति का ज्ञान-स्थान है और दो चित पड़े हुए सोम पीने के कटोरे क्रमशः इच्छा के बिन्दु और क्रिया के विन्दु हैं। इन तीनों बिन्दुओं से त्रिशक्ति का त्रिकोण या योनि बनती है। पिता, अर्थात् जगत् के निर्माता ने इस योनि का निर्माण किया और इसके भीतर सृष्टि का प्रवर्तन किया। इसलिये योनि, अर्थात् त्रिशक्ति का त्रिकोण जगत्पिता की बेटी है और इसमें सृष्टि का आरंभ, अर्थात् गर्भाधान हुआ, जिसे शाक्तदर्शन में चिचिनीक्रम कहा गया है। यंत्र के दो त्रिकोण इस ऋचा के द्यौ और मही हैं जो अभिन्न हैं और सृष्टि के विवर्तन और संवर्तन-क्रिया को चलाते रहते हैं।

अब चित्र ६१ को देखिये। यह मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में मिली हुई पशुपति की मूर्ति है। पशुपति शब्द में प्राणिमात्र का नाम पशु है। इसलिये सर्वेश पशुपति हैं। इस चित्र में पशुपति बीच में बैठे हैं। और चारों ओर मनुष्य से लेकर मत्स्य और कीटादि सभी जन्तुओं से घिरे हैं। चौकी-जैसी किसी वस्तु पर सिद्धासन के ऊपर बैठे हैं। नाभि के नीचे एक त्रिशूल बना है और दूसरा मस्तक के ऊपर बना है (इसे सांचीवाले त्रिशूल से मिलाइये)। सम्भवतः इसका संकेतितार्थ यह है कि पराशक्ति या परात्मा का साकार

रूप जगत् है और त्रिशक्ति में इसका आदि और अन्त है। यदि मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता को वेद से आगे की सभ्यता माना जाय, ता त्रिशक्ति का इतिहास मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता से भी आगे निकल जाता है और भूत के अन्धकार के गर्भ में विलीन हो जाता है।

त्रिशक्ति का ही दूसरा रूप चन्द्र और बिन्दु (ँ) है। मालूम होता है कि चाँद और सितारे के रूप में इसलाम ने भी इसे ग्रहण किया है। यह भावना इससे और भी दृढ़ हो जाती है कि गजनी में महमूद गजनवी की कब्र पर षट्कोण यन्त्र अंकित है। हम देख आये हैं कि षट्कोण विशुद्ध त्रिशक्ति के प्रतीक हैं।

चित्र-संख्या ४२—यह प्रतिकृति स्वात में मिली थी और इस समय कलकत्ता-म्यूजियम में है। यह बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश की प्रतिकृति है। देखिये Gruenwedel, Budhdist Art in India, page 144, Fig. 96.)।

इसमें बुद्ध के दाहिने हाथ के नीचे त्रिशूल पर चक्र बना है। इनसे बोध होता है कि यह कितना व्यापक और प्राचीन सिद्धान्त है।

चित्र-संख्या ४३—यह साँची-स्तूप के द्वार के एक भाग का चित्र है। इसमें नीचे चतुष्कोण वेदी पर चक्र के ऊपर त्रिशूल बना हुआ है। उसके ऊपर बोधिद्रुम है। इसके स्कन्ध से फूटती दो डालों के बीच त्रिशूल दिखाई पड़ता है। यह मेहराब का अंश भी हो सकता है। मानव, देव, गन्धर्वादि सभी इनकी आराधना में संलग्न हैं।

चित्र-संख्या ४४—यह भी साँची-स्तूप के द्वार के एक अंश का चित्र है। इसमें एक बलवान् पुरुष के माथे पर चक्र, चक्र पर त्रिशूल और त्रिशूल के तीनों शूलों पर तीन चक्र हैं। जो वहाँ उपस्थित हैं, वे सभी स्तुति-प्रार्थना में निमग्न हैं। सम्भव है कि यह बलवान् पुरुष बुद्ध हों, जो त्रिशक्ति और त्रिरत्न के आधार हैं।

चित्र-संख्या ४५—यह भारहुत के प्रसेनजित्-स्तम्भ के एक अंश का चित्र है (देखिये Gruenwedel, Buddhist Art in India. page 69. Fig. 38)। इस चित्र के नीचे का लेख है—राजा प्रसेनजी कोशलो। नीचे दो पुरुषों के बीच एक चतुष्कोण वेदी है जिस पर बहुत-से फूल पड़े हैं। वेदी चार स्तम्भों पर है। ये सम्भवतः बुद्ध की चार अवस्थाओं के द्योतक है—अविर्भाव, महाभिनिष्क्रमण, धर्मोपदेश और महानिर्वाण। वेदी के ऊपर बीच में बोधिद्रुम है और इसके दोनों ओर दो चक्र और उन पर त्रिशूल बने हुए हैं। चक्रों के एक ओर संघ स्त्रीरूप में और दूसरी ओर धर्म पुरुषरूप में खड़े हैं। ऊपर का लेख है—भागवत शाक मुनिनो बोधो।

चित्र-संख्या ४६—यह नैपाल का चित्र है। इसका नाम है त्रिलोकपाणि लोकेश्वर। यह बुद्ध का चित्र है। नीचे कमल है। ऊपर कर्णिका पर बुद्ध खड़े हैं। स्थाणुक मूर्ति है जो सारी सृष्टि का प्रतीक है। एक पैर में स्त्री का वस्त्र है और दूसरे में पुरुष का। यह अर्द्धनारीश्वर की तरह शिव-शक्ति की स्थिति और गति का प्रतीक है। यंत्र(चित्र २०) के दोनों त्रिकोणों को स्मरण कीजिये। जानु के पास उठे हुए उत्तरीय के छोरों से शरीर के साथ त्रिशूल बन जाता है। बायें हाथ में सृष्टि का प्रतीक कमल है और दाहिने में त्रिशूल के रूप में त्रिशक्ति है। माथे पर बिन्दु है और बिन्दु के ऊपर मुकुट में तीनों रत्नों

के रूप में त्रिरत्न, त्रिशक्ति इत्यादि हैं। ऊपर पञ्चब्रह्म के प्रतीक पञ्चरत्न हैं। प्रभामंडल दीपशिखा की तरह बनी है। इसका संकेत है कि भगवान् ज्योतिःस्वरूप हैं।

चित्र-संख्या ९७—यह नालन्दा में प्राप्त बुद्ध की मूर्ति है और नालन्दा-म्यूजियम का एक अनमोल रत्न है। बुद्ध की ऐसी मूर्ति अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आई। चतुष्कोण वेदी पर कमल है और इसकी कर्णिका पर भगवान् स्थाणुक-मुद्रा में खड़े हैं। यह सारी सृष्टि का प्रतीक है। बायें हाथ में धर्मचक्र और दाहिने हाथ में त्रिशक्ति का त्रिशूल है। यह इतना स्पष्ट है कि इसमें कोई सन्देह हो नहीं सकता। गले में पद्ममाल है। यह महाकाल और महाकाली का मुण्डमाल और विष्णु की वैजयन्ती माला है। ऊपर मस्तक के पीछे प्रभामण्डल है। इससे ज्योति की रेखाएँ फूट रही हैं और ऊपर शूल के अग्रभाग की तरह ज्योति की शिखा है। यह स्पष्ट संकेत है कि भगवान् ज्योतिःस्वरूप है। मुखमुद्रा प्रशान्त और गम्भीर है। ओठों पर ईषत् हास्य लक्षित होता है। मूर्ति समभंगमुद्रा में खड़ी है।

चित्र-संख्या ९८—यह कन्हेरी गुहा की एक प्रतिकृति का चित्र है। सृष्टि का मूलस्तम्भ पद्मनाल के रूप में निकला है (इसे चित्र ४४ से मिलाकर देखिये)। कहाँ से निकला है, यह कौन बतावे। इसलिये इसका उद्गम स्थान अज्ञेय शून्यता की ओर संकेतित करके छोड़ दिया गया है। इस सृष्टि के मूलस्तम्भ को नाग, अर्थात् काल दोनों ओर से अवलम्ब दे रहे हैं। विष्णु की मूर्ति में भी शेष सारी सृष्टि के प्रतिरूप पुरुष को धारण करते हैं और सृष्टि की स्थिति के प्रतीक धरा को धारण किये रहते हैं। ब्रह्मा की तरह बुद्ध कमल पर बैठे हैं। शाखाकमलों पर पार्श्वदेव-देवियाँ सेवा में संलग्न हैं। ऊपर गन्धर्व और किन्नर स्तुति में निरत हैं और अज्ञान के बादलों को चीरकर ऊपर ज्ञानलोक की ओर जा रहे हैं। भगवान् के पैरों के पास धर्म के प्रतीक दो सिंह हैं (चित्र के लिये देखिये Gruenwedel. Buddhist. Art ni India. Fig. 60.)।

चित्र-संख्या ९९—यह एक बोधिसत्त्व की भारत की बनी पीतल की मूर्ति है, जिसमें चाँदी और ताँबा जड़े हैं। इसकी ऊँचाई ७½ इंच है और मूल बर्लिन-म्यूजियम है (देखिये—Gruenwedel. Buddhist Art in India. Page 188. Fig. 135.)। मूर्ति स्थाणुक मुद्रा में है। पीठ का जितना-सा अंश दिखाई पड़ता है, वह गोल है। नीचे पद्म और चतुष्कोण होना चाहिये। गले से पद्ममाला लटक रही है, जो चित्र में देखने से मुण्डमाला-सी लगती है। नाभि त्रिशूलाकार बनी है। दाहिने अभयहस्त में गुणिका और बायें वरदहस्त में मातुलुंग-जैसी कोई वस्तु मालूम होती है। ललाट पर बिन्दु स्पष्ट है। आँखें ध्यानस्थ-सी हैं। मुकुट का अग्रभाग त्रिशक्ति का प्रतीक त्रिशूलाकार बना हुआ है। मूर्ति किञ्चित् दाहिनी ओर झुकी हुई द्विभंग-मुद्रा में है।

चित्र-संख्या १००—यह दीपंकर बुद्ध और मेघ की प्रतिकृति है। यह कन्हेरी की २५वीं गुहा की दीवाल में बनी हुई है (देखिये—Gruenwedel. Buddhist Art in India. Page 143. Fig. 95.)।

बुद्ध कहीं जा रहे थे। रास्ते में कीचड़ पड़ा। भगवान् के चरणों को कीचड़ से बचाने के लिये मेघ ने उस पर अपने बाल फैला दिये।

यह भगवान् की स्थाणुक द्विभंग प्रतिकृति है। पार्श्वदेवताओं में एक देव और एक देवा हैं। देव धर्म और देवी संघ हैं। भगवान् के दोनों कन्धों के निकट और मस्तक के दोनों ओर दो-दो त्रिशूल बने हुए हैं। मस्तक के निकट एक ओर गन्धर्व पुरुष और दूसरी ओर स्त्री दोनों अज्ञान के बादल (वृत्र) को चीरते हुए अज्ञात ज्ञानलोक की ओर बढ़े चले जा रहे हैं (प्रसाद-पुरुष-प्रतीक के ऐसे मिथुनों को स्मरण कीजिये)।

चित्र-संख्या १०१—यह पटना-म्यूजियम (६५६१) की एक मनोहर मूर्ति का चित्र है। यह मूर्ति कुर्किहार में मिली है। यह पीतल की है और २ फुट १० इंच है।

यह भगवान् की स्थाणुक समभंग मूर्ति है। मूर्ति का निम्नभाग भूपुर की तरह चौकोर बना हुआ है। उसके ऊपर दो बलवान् और तेजस्वी सिंह बने हुए हैं। ये धर्म हैं। दोनों सिंहों के बीच पद्मनाल-जैसा बना हुआ है। उसके ऊपर, नीचे शीर्षवाले दो त्रिशूल और दो चक्र बने हुए हैं। इनके ऊपर द्वितीय भूपुर की तरह दूसरा चतुष्कोण वेदी है। उसके ऊपर कमल है। उसकी कर्णिका (यंत्र के बिन्दु-स्थान) पर भगवान् के दोनों चरण हैं और दीर्घकाय तथा प्रभावशाली मूर्ति खड़ी है। दाहिने वरदहस्त पर चक्र बना हुआ है और बायें हाथ में कुछ है। मस्तक पर तृतीय नेत्र की तरह स्पष्ट बिन्दु है और जटामुकुट के ऊपर त्रिशूल बना हुआ है। ब्रह्मा के हाथ में चंवर और अमृतपात्र और इन्द्र के हाथ में अमृतत्व का चरु है। समूचे प्रभामण्डल से ज्योति छिटक रही है। यह विश्व का प्रतीक शिवलिङ्गाकार स्तूप है। इसके ऊपर अमृत-कलश का प्रतीक स्तूपिका बनी हुई है। जिस तरह प्रासादपुरुष के भीतर उसकी चेतना और प्राणस्वरूप देवता प्रतिष्ठित रहता है, उसी प्रकार अपनी ज्योति से विश्व को भरकर स्तूप के भीतर भगवद्विग्रह प्रतिष्ठित है। कहा जाता है कि त्रयस्त्रिंशत् स्वर्ग से भगवान् के भूमिष्ठ होने का यह दृश्य है।

चित्र-संख्या १०२—यह पटना-म्यूजियम (६७६३) की पीतल की मूर्ति है। कुर्किहार में मिली है। इसकी उचाई २ फुट २ इञ्च है। मूर्ति के नीचे सामने अधोमुख त्रिकोण बना हुआ है। यह त्रिशक्ति का शक्तिमय रूप है। पीठ तीन भूपुरों का बना हुआ है। पहिला चतुष्कोण सबसे नीचे है। दूसरा मध्य में और तीसरा सबसे ऊपर है। भूपुर के ऊपर पद्मपीठ के सामने तीन पद्मपत्र की तरह तीन रत्नों की त्रिशक्ति और त्रिरत्न बने हैं। ऊपर सृष्टि का पद्म है, जिसकी कर्णिका पर भगवान् की स्थाणुक समभंग मूर्ति खड़ी है। ज्वाला की लपटों को फेंकता हुआ स्तूपाकार प्रभामण्डल बना है। इसके ऊपर स्तूपिका के स्थान में उलटा त्रिशूल बना है। प्रभामण्डल चतुष्कोण वेदी पर स्थित शिवलिङ्ग की तरह मालूम होता है जिसमें शिव के स्थान पर बुद्ध प्रकट हुए हैं। ज्ञाननेत्र के स्थान में ललाट पर बिन्दु स्पष्ट है।

चित्र-संख्या १०३—यह कुर्किहार में प्राप्त पीतल की तारा की मूर्ति पटना-म्यूजियम (६६३०) में है। इसकी उंचाई एक फुट है।

मूर्ति दो चतुष्कोण पीठों पर है। पहिले चतुष्कोण पर तीन भूपुर-जैसी रेखाएँ हैं। उसके ऊपर दूसरी चतुरस्र वेदी है। उसके ऊपर सामने तीन कमलदल के रूप में त्रिशक्ति और त्रिरत्न का त्रिशूल बना हुआ है। दो वृत्तों के ऊपर कमल है। कमल की कर्णिका

पर स्थाणुकमूर्ति अतिभङ्ग मुद्रा में खड़ी है और कटि से ऊपर का अंग दाहिनी ओर झुका है। दाहिना वरदहस्त है और बायें में पद्म है। मुकुट के ऊर्ध्व भाग पर त्रिशूल बना है और कमल के तीन दलों से मस्तक की बाईं ओर त्रिशक्ति और त्रिरत्नादि का संकेत है। प्रभामण्डल शिवलिङ्गाकार स्तूप-जैसा है, जिससे ज्योति छिटक रही है। इसके शीर्ष पर तीन रत्न हैं और उनके ऊपर स्तूपिका के स्थान में त्रिशूल पर चक्र का शिखर बना हुआ है। सारी प्रक्रिया ज्योतिःस्वरूप शुद्ध चेतना के प्रतीक की ओर संकेत करती है।

चित्र-संख्या १०४—यह पीतल की बुद्धमूर्ति कुर्किहार में पाई गई है। यह पटना म्यूजियम में है (९६३३)।

यह तीन अंशों में ठीक शिवलिङ्ग की तरह बनी है। नीचे का चतुरस्र शिवलिङ्ग के ब्रह्मांश की तरह है। मध्य भाग अष्टदल कमल पर है। यह अष्टकोण विष्णवंश की तरह है। ऊपर वर्तुलाकार रुद्रांश की तरह है। ऊपर त्रिशूल पर धर्मचक्र है। इसके ऊपर मुकुलित पद्म सृष्टि की अनन्त सत्ता की ओर संकेत करता है।

चित्र-संख्या १०५—यह अमरावती में प्राप्त एक प्रस्तरखण्ड का चित्र है। इसमें चतुष्कोण आधार पर वृत्त के ऊपर वर्तुलाकार स्तूप है। यह सिद्धान्त और आकार में ठीक शिवलिङ्ग की तरह है। यदि इस पर स्तूपिका न बनी रहती, तो इसे शिवलिङ्ग नहीं कहना कठिन होता। नर, नाग, सुर, गन्धर्व, स्त्री-पुरुष, सभी मत्त होकर नृत्य, गान इत्यादि से इसकी आराधना में उन्मत्त-से हैं। बड़ी भव्य मूर्ति और दृश्य है। स्तम्भ और देवप्रासाद भी इन्हीं सिद्धान्तों पर बनते हैं, यह आगे विचारणीय है।

चित्र-संख्या १०६—यह मूर्ति कलकत्ता-म्यूज़ियम में है। यह लौरिया टंगाइ की इन्द्र-शैलगुहा में प्राप्त हुई थी। शक्र बुद्ध का दर्शन करने आये हैं, यही दृश्य इसमें दिखलाया गया है देखिये Gruenwedel, Buddhist Art in India. Page 142. Fig. 98) यंत्र के तीन भूपुर की तरह तीन चतुष्कोण वेदियों पर पद्मासन के ऊपर भगवान् हैं। बाहर का स्तूपाकार घेरा ठीक शिवलिङ्ग की तरह मालूम होता है। शक्र के साथ ध्यानावस्थित देव गन्धर्व, पशु आदि सभी श्रद्धापूर्ण भक्ति से खड़े हैं।

चित्र-संख्या १०७—यह नेपाल की मूर्ति का चित्र है। यह सिंहनाद नामक बोधिसत्त्व की मूर्ति है। जो भी नाम दिया जाय, यथार्थ में यह बुद्ध की मूर्ति है (चित्र के लिये देखिये—Buddhist Iconography. Vinaya Tosh Bhattacharya Plate 19d)। लगभग चतुष्कोण वेदी के दो स्तरों (भूपुर) पर कमल है। मूर्ति की सुविधा के लिये इसकी कर्णिका भी लगभग चतुष्कोण बनाई गई है। उस पर गरजता हुआ सिंह (धर्म) है; क्योंकि धर्म यदि दब्बू और चुप हो जाय, तो सृष्टि का नाश हो जायगा। उसके ऊपर कमल (सृष्टि) है। उसकी वृत्ताकार कर्णिका (बिन्दु) पर बोधिसत्त्व बैठे हैं। उनके सिंहासन का पीठ तीन अंशों में त्रिशूलाकार बना हुआ है।[१]

१. मिलाइये—'सिंह पर एक कमल राजित ताहि ऊपर भगवती

चित्र-संख्या १०८—यह नेपाल का चित्र है। श्रीविनयतोष भट्टाचार्य ने इसे प्रत्यंगिरा कहा है। किंतु यह विश्वरूप बुद्ध की प्रतिकृति है। (चित्र के लिये देखिये (Buddhist Iconography. विनयतोष भट्टाचार्य, Plate XXIXC)।

भगवान् के दोनों चरण दो कमलों पर हैं। ये स्थिति और गति हैं। इन्हें यंत्र के दोनों त्रिकोणों और छिन्नमस्ता के काम और रति से मिलाइये। 'कहियत भिन्न न भिन्न' देखने और सुनने में भिन्न होने पर भी ये दोनों अभिन्न हैं। इसलिये शिव-शक्ति, दिक्-काल, शेष-पृथ्वी आदि के रूप में ये युग्मरूप में दिखाये जाते हैं। ये ही मन्दिरों की मिथुन मूर्तियाँ हैं। इनकी संख्या एक से पचास तक ग्रन्थों में देखी जाती है। दुर्गासप्तशती के वैकृतिक रहस्य में एक मिथुन की और महानिर्वाणतन्त्र में पचास मिथुनों की पूजा का विधान है। ये पचास मिथुन वर्णमाला की पचास शक्तियों के भिन्नाभिन्न रूप-जैसे मालूम होते हैं। मंदिरों में प्रायः अष्टभिन्नाप्रकृति (पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) और चेतना के अष्ट मिथुन नाना मुद्राओं में अङ्कित किये जाते हैं।

भगवान् के दाहिने चरण में स्त्री का और बायें में पुरुष का पहिरावा है। यह स्थिति और गति के अर्धनारीश्वरत्व का प्रतीक है। बुद्ध की सहस्र, अर्थात् असंख्य भुजाएँ हैं। यह उनका सर्वव्यापित्व है। प्रधान बाईं भुजा में त्रिशूल के ऊपर धर्मचक्र है। दाहिनी भुजा अभयमुद्रा में दिखाई पड़ती है। त्रिमूर्ति की तरह भगवान् के त्रिगुण, त्रिरत्न त्रिशक्ति आदि के बोधक तीन मुख हैं। मस्तक पर चौदह भूमियों का मन्दिर करण्डमुकुट की तरह है। यह अखिल ब्रह्माण्ड के चौदह लोकों का प्रतीक है, जो विश्वात्मा बुद्ध का मुकुट है।

(सारनाथ के म्यूजियम में मैंने एक मूर्ति देखी। एक सुन्दर कमल पर चौदह भूमियों का मन्दिर है। यह चतुर्दशभुवनात्मक सृष्टि का प्रतीक है। मैं उसका चित्र न ले सका।)

भगवान् का लटकता हुआ और पैरों के पास ऊपर की ओर उठा हुआ उत्तरीय पैरों को बीच में रखकर त्रिशूल बनाता है।

चित्र-संख्या १०९—यह बौद्ध देवता जम्भल का चित्र कहा जाता है। (देखिये Buddhist Iconography विनयतोष भट्टाचार्य, plate XXVIC)।

जम्भल बौद्धधर्म का अत्यन्त प्राचीन देव माना जाता है। लोग इसे बुद्ध से भी प्राचीन मानते हैं। यथार्थ में, साधना के जो सिद्धान्त यंत्र में अंकित हैं, उन्हीं का यह मूर्तरूप है। तिब्बत में इसे ही यवयुम (पूज्य मातापिता) कहते हैं।

सृष्टि के कमल की कर्णिका पर देव बैठे हैं। स्थितिवाला त्रिकोण देव का शरीर है। त्रिकोण की तीन भुजाओं की त्रिशक्ति इत्यादि के प्रतीक तीन मुख और प्रत्येक मुख में दो नेत्र और ललाटबिन्दु हैं। माथे पर पञ्चरत्नों का मुकुट है। यह तारा के मस्तक के पञ्चमुण्ड और त्रिपुरा के सिंहासन के नीचे पञ्चब्रह्मादि हैं, जो साधारणतया पञ्चतत्त्व के प्रतीक माने जाते हैं। ऊपर जटा-मुकुट त्रिशूलाकार बना हुआ है। जिसके मध्य भाग में त्रिरत्नादि अमृतघट के रूप में बने हुए हैं। देव के मस्तक पर त्रिरत्न के ऊपर सप्तरत्न हैं। ये चित्र १०८ के मुकुट के १४ लोक की तरह सप्तलोक हैं। देवी के माथे पर पञ्चरत्न हैं।

ये भी पञ्चभूत हैं; क्योंकि गति-शक्ति पञ्चभूत के रूप में विश्वव्यापी है। यह देवीरूप यंत्र का दूसरा त्रिकोण हुआ। ये दोनों भिन्न हो नहीं सकते। एक ही शक्ति के दो नाम और रूप होने के कारण स्वभावतः अभिन्न हैं। इसलिये अभिन्न युग्म के रूप में अंकित किये जाते हैं। पाश, अंकुश, धनुर्बाणादि की व्याख्या त्रिपुरा और गणेश-प्रकरण में हो चुकी है।

चित्र-संख्या ११०—इसका नाम बुधकपाल है। (देखिये—**Buddhist Iconography.** विनयतोष भट्टाचार्य, **plate 25B.**) यह नेपाल से प्राप्त चित्र है। तिब्बत में इसे यवयुम कहते हैं।

बुद्ध के इस चित्र में उपासना के सभी सिद्धान्त आ जाते हैं। (यंत्र, चित्र २०, से मिलाइये)। नीचे भिन्नाप्रकृति का कमल है। इसकी संख्या कभी-कभी नौ भी कही जाती है। इसलिये यहाँ नौ दल हैं। उसके ऊपर समस्त प्रकृति का वृत्त है। वृत्त के भीतर दो त्रिकोण, अर्थात् स्थिति-गति, काम-रति हैं (छिन्नमस्ता के चित्र ७३, ७४ को देखिये)। इन पर भगवान् का बायाँ चरण है। शाक्त और शैवों के नियमानुसार इसे दाहिना होना चाहिये। यह चरण यन्त्र का बिन्दु है। बिन्दु, अर्थात् साकार सृष्टि में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ किस प्रकार काम करती हैं, यह आगे अंकित किया गया है।

बुद्ध के गले से मुण्डमाला लटक रही है। यह शाक्तों और शैवों की वाक् अथवा वर्णमाला है। जानुओं के निकट तीन-तीन सूत्र लटक रहे हैं। त्रिशक्त्यादि त्रिक के प्रतीक का यहीं से आरम्भ होता है। स्थिति और गति पुरुष और नारी के रूप में अङ्कित हैं। स्थिति के विना गति नहीं हो सकती और गति में स्थिति है। यदि गति में स्थिति नहीं रहे, तो गति किसकी और कैसे होगी। समुद्र में लहर उठती है। यदि समुद्र (स्थिति) न रहे, तो न लहर उठेगी और लौटती लहर कहाँ विलीन होगी, इसका कोई ठिकाना न रहेगा। इसलिये दोनों एकाकार और अभिन्न हैं। पुरुष की दो आँखें और तीसरी आँख जैसा ललाटबिन्दु है। ऊपर सात रत्नों का मुकुट है, यह सप्तलोक है। ऊपर बुद्ध की मूर्ति है। इसका अर्थ है कि सारी प्रतिकृति बुद्धभावना की है। देवी के मस्तक पर पाँच रत्न हैं। ये तारा और त्रिपुरा के पञ्चब्रह्म, पञ्चतत्त्वादि हैं। बुद्ध के ऊपरवाले बायें हाथ में खट्वांगवाला त्रिशूल है। (खट्वांग एक प्रकार का शस्त्र है, जिसके अग्रभाग में धातु का नरमुण्ड बना रहता है।) त्रिशूल और तीनों मुण्ड त्रिशक्ति और त्रिरत्नादि त्रिकों के प्रतीक हैं। नीचेवाले हाथ में सुधापात्र है। ऊपरवाले दाहिने हाथ में डमरू, अर्थात् शब्दब्रह्म और नीचेवाले हाथ में कूटस्थता का प्रतीक वज्र है।

चित्र-संख्या १११—यह लदाख के एक रंगीन चित्र की प्रतिकृति है। चित्र में भ्रम से लदाख की जगह ल्हासा छप गया है। इसका नाम है चिति। चिति शक्ति को कहते हैं—

> **चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।**
>
> **नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥ दुर्गासप्तशती। अध्याय ५**

"चिति (चेतना) रूप से जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होकर स्थित है उसे बारंबार नमः।"

इसमें नीचे सृष्टि का पद्म है। उसके ऊपर बिन्दुस्थान, अर्थात् वृत्त है। उसपर विवर्त के घोर नाद शब्दब्रह्म (वाक्) के प्रतीक दो शंख हैं। इन पर तन्त्रिकों की गुरुपादुका दोनों चरण हैं। ऊपर स्थिति और गति (योगवासिष्ठ के महाभैरव और कालरात्रि) का नृत्य हो रहा है। महाभैरव कूटस्थ है। गति (शक्ति) का नृत्य उसी पर होता है। इसलिये गति का सम्पूर्णरूप और दोनों पैर शून्य में निरवलम्ब हैं और इसकी सारी क्रियाएं चितिपति, अर्थात् शक्तिमान् पर होती हैं। (काली, तारा इत्यादि महाविद्याओं को स्मरण कीजिये। अध्यात्म में शिवशक्ति की तरह सीताराम, राधाकृष्णादि शक्ति और शक्तिमान् के नामरूप भी अभिन्न हैं)। चितिपति के बायें हाथ में नरमुण्ड और दाहिने में खट्वांग है। ये काली के नरमुण्ड और खड्ग अर्थात् अविद्या और ज्ञान हैं। चिति (शक्ति) के बायें हाथ में सुधापात्र और दाहिने में अग्नि है। ये सृष्टि और संहार की क्रियाएं हैं। नरमुण्ड की माला स्पष्ट है। यह वाक् (नाद) की वर्णमाला है। चिति और चितिपति, दोनों के ही तीन-तीन नेत्र हैं। ये त्रिशक्ति, त्रिगुणादि हैं। दोनों के ही माथे पर पाँच-पाँच नरमुण्ड हैं। ये त्रिपुरा अथवा तारा की तरह पंचब्रह्म, पंचप्रेत, पंचतत्त्वादि हैं। बाहर अग्नि की धधकती हुई लपटों का प्रभामण्डल बना है, जो लुढ़कते हुए (विवर्त) रूप में अंकित है, जिससे सृष्टि का निरन्तर निकलना और लुप्त होना दिखलाया गया है। नीचे चित्र के वाम पार्श्व में प्रभामण्डल के बाहर गति और स्थितिवाले साकार जगत् (विमर्श) के दो बिन्दु और वृत्त हैं। इनके ऊपर त्रिरत्न या त्रिशक्ति के तीन सुधापात्र हैं। उनके ऊपर आनन्दामृतपात्र है। ठीक इसके उल्टी ओर नाद का प्रतीक शंख है। उसके निकट ब्रह्मज्योति का दीप है। उसके ऊपर जगत् को पुष्टि और तुष्टि प्रदान करनेवाला फल-फूलों से भरा पात्र है (चित्र ३४ में नटराज की मूर्ति देखिये। एक ओर ज्योति (गौरी) और दूसरी ओर आनन्दामृत (गंगा) हैं)। प्रभामण्डल के ऊपर दाहिनी ओर कमल पर धर्म बैठे हैं। बड़ी प्रशान्त मुद्रा है। बायें हाथ में ज्ञान का प्रतीक पुस्तक है और दाहिने से उपदेश का संकेत कर रहे हैं। बाईं ओर दो सूअर के ऊपर कमल है। उस पर सारी सृष्टि का प्रतीक क्रियाशक्ति संघ, स्त्री के रूप में अंकित है। इनकी क्रियाशीलता सारे शरीर की चेष्टाओं और शस्त्रास्त्रसम्पन्न फैली हुई भुजाओं में अंकित है। संघ के तीनों मुख तीनों गुण हैं, दाहिना उजला मुख सत्त्वगुण, बायाँ काला सूकरमुख तमोगुण और बीचवाला तेजस्वी मुख रजोगुण है। धर्म और संघ के बीच में त्रिशक्ति के त्रिक और वस्त्र के त्रिशूल बने हुए हैं। संक्षेप में—स्थितिगतिमय बुद्ध, ज्ञान, धर्म, इच्छा और संघ क्रिया हैं। चित्र के कंकालरूप में रहने के कारण मांसचर्मवाले रूप की कामुक भावना यहाँ लुप्त हो जाती है और यथार्थ भाव प्रकट हो जाता है।

चित्र-संख्या ११२—इस प्रतिकृति का नाम परमाश्व है। यह चित्र नैपाल के मन्दिर से प्राप्त हुआ है। (देखिये—Buddhist Iconography. विनयतोष भट्टाचार्य, पृ० १४४, प्लेट ३९डी) नीचे सृष्टि का कमल है। बिन्दुस्थान पर चार-चार स्त्री और पुरुष हैं। स्त्रियों के नाम हैं—इन्द्राणी, श्री, रति और प्रीति। पुरुषों के नाम हैं इन्द्र, मधुकर, जयकर

और वसन्त। इन पर परमाश्व के दोनों पैर हैं। स्पष्ट है कि ये छिन्नमस्ता की मूर्ति के रति-काम के भिन्न रूप हैं। शिव की तरह कटि में व्याघ्रचर्म है। यह दिक् का अम्बर है। मुखों में ब्रह्मा और शिव स्पष्ट रूप से अंकित हैं। इसलिये तृतीय मुख विष्णु का है। कारण स्पष्ट है। विष्णु के दशावतार में बुद्ध की गणना है। इसलिये विष्णु-विग्रह से इसका एकत्व दिखाया गया है। विष्णुमुख के मस्तक पर पाँच-पाँच रत्नों की दो पंक्तियाँ हैं। ये पञ्चब्रह्मादि हैं। सभी मुखों पर दो नेत्रों के साथ तीसरे नेत्र का भी तिलक और बिन्दु के रूप में संकेत है। ये त्रिशक्त्यादि के त्रिक के स्थूल रूप हैं। बायें हाथों में सृष्टि का पद्म, त्रिशूल, खट्वांग और अविनाशी शब्दब्रह्म का वज्रघण्टा है। दाहिने हाथ में पाँच तत्त्वों का द्योतक पाँच अरोंवाला चक्र, त्रिशूलाकार वज्र, ज्ञान-खड्ग और बाण हैं। सबसे ऊपर अश्व और बुद्ध बने हुए हैं। बुद्ध का अर्थ है कि यह बौद्धसाधना के तत्त्वों का प्रतीक है।

परमात्मा के रूप में अश्व की भावना वेद से प्राप्त हुई मालूम होती है; क्योंकि यज्ञपुरुष को वहाँ यज्ञाश्व के रूप में देखा गया है। भगवान् बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का सहायक कन्थक यों भी श्रद्धा का पात्र है। इन कारणों से बोध होता है कि बुद्ध को परमाश्व कहा गया। शरभ, नृसिंहादि ऐसे रूपों की चर्चा हम कर चुके हैं।

चित्र-संख्या ११३—यह त्रैलोक्यविजय नामक बौद्धदेवता की मूर्ति का चित्र है (Buddhist Iconography. Page 144. Plate 39C.), इसका एक पैर एक पुरुष पर और दूसरा एक स्त्री पर है। यह छिन्नमस्ता की मूर्ति की तरह है और भाव भी एक है। इसके गले भी मातृकावर्णों की माला है और नाना प्रकार की शक्तियाँ अस्त्रों के रूप में हाथों में दिखलाई गई हैं। तीन मुख त्रिगुणात्मक त्रिमूर्ति महादेव की तरह हैं।

चित्र-संख्या ११४—यह अष्टधातु की मारीचि की प्रतिमा है। नालन्दा में मिली थी। इस समय पटना-म्यूजियम में है। (भ्रम से चित्र के नीचे त्रैलोक्यविजय छप गया है।) यह बौद्ध उषा की प्रतिमा है। मारीचि की मूर्तियों में उषा के सात घोड़ों के स्थान में सात सूअर बने रहते हैं। इस चित्र में प्रतिमा के वे सूअर नहीं आ सके हैं। सृष्टि के कमल पर मूर्ति है। देवी दो हाथों से वस्त्रों को सँभाल रही है, इससे और सारे शरीर की चेष्टा से प्रखर क्रियाशीलता प्रकट हो रही है। साभनेवाला मुस्कुराता हुआ सुन्दर मुख रजोगुण है। दाहिना सत्त्वगुण और बायाँ तमोगुण है। त्रिशक्ति या त्रिरत्न के मुकुट के ऊपर धर्मचक्र या तीन लपेटोंवाला त्रिकालचक्र है। पैरों के बीच में लटकता हुआ वस्त्रखण्ड त्रिशक्ति का त्रिशूल बनाता है।

चित्र-संख्या ११५—नैपाल से प्राप्त यह चित्र अवलोकितेश्वर का है (चित्र के लिये देखिये—Gruenwedel, Buddhist Art in India. Page 203. Fig. 148.) सृष्टिपद्म का बिन्दुस्थान कर्णिका का वृत्त है। यन्त्र (चि० २०) के दोनों त्रिकोणों के स्थान में दोनों चरण हैं। कमल पर दोनों ओर लटकता हुआ उत्तरीय दोनों पैरों के साथ त्रिशूल बनाता है। बायें हाथों में ऊपर से कमल, धनुष-बाण और अभय मुद्रा है। दाहिने में जपवटी, चक्र और वरद-मुद्रा है। दो हाथ हृदय के पास जुटे हुए हैं। इन सब अस्त्रों के रूप और सिद्धान्त का व्याख्यान हो चुका है। त्रिमूर्ति की तरह तीन मस्तक त्रिशक्ति और त्रिगुणादि

के प्रतीक हैं। ऊपर जाकर केवल एक मस्तक रह जाता है। यह व्यस्त शक्तियों का समस्त रूप है और इसका अर्थ है कि एक ही सत्ता से भिन्न-भिन्न शक्तियों और नामरूपादि का विकास होता है। एकं सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति। दो नेत्र और मस्तक पर बिन्दु त्रिशक्ति के प्रतीक हैं। मस्तकों के पास प्रभामण्डल तीन खण्डों में है। ये त्रिशक्त्यादि के प्रतीक हैं। बाहर प्रभामण्डल दीपशिखा के आकार का है। इससे स्पष्ट है कि यह रूप ज्योतिर्मय और ज्योति का घनीभूत रूप है। इस चित्र को महासदाशिवमूर्ति (चित्र ३३) से मिलाकर देखिये।

चित्र-संख्या ११६—सहस्रबाहु अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की यह मूर्ति ३० सितम्बर, १९५७ को वीतनाम सरकार द्वारा नईदिल्ली के राष्ट्रपति-भवन के नेशनल म्यूजियम को भेंट की गई थी। चतुष्कोण वेदी पर एक सिंह अपने दोनों हाथों और मस्तक पर सृष्टि का कमल उठाये हुए है। दोनों हाथ और मस्तक से त्रिशक्ति का प्रतीक बन जाता है। उस पर सहस्रबाहु और त्रिमुख बोधिसत्त्व बैठे हैं। गोदवाले हाथों में धर्मचक्र मालूम होता है। (यहाँ गीता के विश्वरूप को स्मरण कीजिये और इसे चित्र ३३ और ११५ से मिलाकर देखिये।)

चित्र-संख्या ११७—यह जावा की मंजुश्री बोधिसत्त्व की मूर्ति है। इसपर शकः १२६५ उत्कीर्ण है। इसके अनुसार यह ई० सन् १३४३ होता है। यह मूर्त्ति बर्लिन-म्यूजियम में है। मंजुश्री महात्रिपुरसुन्दरी के नाम का रूपान्तर है। पद्म पर बैठे हैं और दाहिने हाथ में ज्ञानखड्ग है, जो सर्वदा भक्तजनों के अज्ञान का नाश करने के लिये उद्यत रहता है।

चित्र-संख्या ११८—यह मैत्रेय बुद्ध की मूर्ति पटना-म्यूजियम (१६८२) में है। यह विष्णुपुर, गया में मिली थी। मूर्ति ज्ञानमुद्रा में बैठी है। वाम स्कन्ध के पास एक पुष्प है, जिसमें तीन कर्णिकाएं हैं और त्रिशूल बना है। तृतीय नेत्र के स्थान में नेत्राकार बिन्दु है और उसके ऊपर मुकुट में त्रिशूल बना है। मुकुट भी त्रिशूलाकार है। बायें कान के पास चक्र बना है। चक्र और त्रिशूल का विवरण बुद्धमूर्तियों के साथ दिया जा चुका है।

चित्र-संख्या ११९—यह अवलोकितेश्वर की मूर्ति है। यह पटना-म्यूजियम (१६८०) में है। यह भी विष्णुपुर गया में मिली थी। अवलोकितेश्वर अर्धपर्यंकासन पर बैठे हैं। अष्टदल का पद्म हाथ में है। ललाट पर तृतीयनेत्र के स्थान में नेत्राकार बिन्दु है। इसके ठीक ऊपर त्रिशूल बना है। मुकुट भी त्रिशूलाकार है, जिस पर बुद्ध की आकृति बनी है।

चित्र-संख्या १२०—यह प्रज्ञापारमिता नामक बौद्धदेवी की मूर्ति है। यह लाइडेन (जर्मनी) के म्यूजियम में है। यह मलंग (जावा) में मिली थी और १४वीं शताब्दी की मानी जाती (देखिये-विश्वकर्मा, प्लेट ५) है। प्रज्ञापारमिता का अर्थ है प्रज्ञा (बुद्धि) के पारम् (पार) इता (गता)—बुद्धि के पारंगत। यह महासरस्वती का दूसरा नाम है। देवी पद्म की कर्णिका पर पद्मासन के ऊपर बैठी हैं (सरस्वती के ध्यान को स्मरण कीजिये—

पद्मासने संस्थिताम्) । मूर्ति के हाथ धर्मचक्रमुद्रा में हैं। बायें कन्धे के निकट एक कमल है, जिस पर पुस्तक है। तृतीयनेत्र के स्थान में बुद्ध की तरह बिन्दु है। मूर्ति शिवलिङ्गाकार पत्थर पर शिवलिङ्ग की तरह तीन भागों में बनी है।

चित्र-संख्या १२१—यह बौद्धदेवी वसुधारा की मूर्ति कही जाती है। यह पटना-म्यूजियम (६७४१) की है। यह ६३५ ई० की है। चतुष्कोण पीठ पर कमल है। इसकी कर्णिका पर देवी ललितासन पर बैठी हैं। दाहिना पैर एक पद्म पर है। दाहिनी ओर अमृतघट लिये कोई मनुष्य बैठा है। देवी के बायें जानु पर एक दण्ड है, जिसमें तार-जैसी कोई वस्तु लिपटी है। यह बायें हाथ में है। दाहिने हाथ में कोई फल है। यह वरदमुद्रा में है। देवी की दाहिनी ओर एक सिंह है। बायें और दाहिने कन्धे के निकट दो हंस हैं, जिनके मुख में कमल की डंटी है। देवी के ललाट पर तृतीय नेत्र के स्थान में बिन्दु है। मुकुट के त्रिरत्न त्रिशूल की तरह दीखते हैं। प्रथम प्रभामण्डल के ऊपर त्रिरत्न हैं और द्वितीय के ऊपर त्रिशूल है। इन प्रतीकों की व्याख्या हो चुकी है।

चित्र-संख्या १२२—यह पटना-म्यूजियम की एक बौद्धदेवी की मूर्ति (६७५१) है। देवी सृष्टि के कमल की कर्णिका पर बैठी है। कमलनाल की जड़ या उत्पत्ति-स्थान का पता नहीं है। संकेत से बोध होता है कि यह शाक्तों की महारात्रि का अन्धकार और शाक्तों का श्मशान तथा बौद्धों की शून्यता है। नीचे त्रिशक्ति के तीन नाल निकले हुए हैं। ये त्रिगुणादि के त्रिक हैं। देवी का दाहिना पैर एक कमल पर है। इनके दाहिने हाथों में त्रिशूल, ढाल, तलवार और वरदमुद्रा हैं, जिसमें एक नोकीला फल है। बायें हाथों में पुस्तक, पाश अङ्कुश और वज्र हैं। प्रभामण्डल में दोनों ओर छह-छह स्फुलिंग हैं। बीच का त्रिशूल दोनों ओर से सातवाँ बनता है। ये सप्त ऊर्ध्व और सप्त अधोलोक हैं। इसके ऊपर त्रिशूल पर धर्मचक्र है, उसके ऊपर फिर त्रिशूलाकार एक रत्न है। देवी के तृतीय नेत्र के स्थान पर बिन्दु है। माथे का मुकुट करण्डमुकुट है, जो शिवलिङ्गकार है।

चित्र-संख्या १२३—यह तारा की मूर्ति है। पटना-म्यूजियम में इसकी संख्या ८०३५ है। शाक्तों और बौद्धों की तारा एक ही हैं। इनके मस्तक पर त्रिशक्ति का मुकुट है और आस-पास में ध्यानी बुद्ध बने हुए हैं। यह मूर्ति शून्यता अथवा अशेषकारण का प्रतीक है।

चित्र-संख्या १२४—यह तारा की मूर्ति पटना-म्यूजियम (३७४५) की है। पद्म की कर्णिका पर तारा बैठी हैं। पद्मनाल का उद्गमस्थान शून्यता की ओर संकेतित है। शाक्त तारा और त्रिपुरा की तरह बौद्धतारा-प्रतीक में शाक्ततारा और त्रिपुरा की तरह पञ्च ब्रह्म के स्थान में पद्म के नीचे पञ्चोपासक हैं। देवी का दाहिना पैर एक कमल पर है। बायाँ हाथ अभय-मुद्रा में है। बायें कन्धे के निकट एक फूल है। दोनों पुष्ट स्तन ज्ञान और कर्म के दो अमृतकलश हैं, जो जगत् को जीवन प्रदान और उसका भरण-पोषण करते हैं। मुकुट पर त्रिशक्ति का प्रतीक है। ऊपर प्रभामण्डल पर तीन छोटे बुद्धवाले

स्तूप त्रिशूलाकार में बने हुए हैं। देवी के वाम और दक्षिण स्कन्ध के पास दो सिंह हैं। सर्वत्र देव-गन्धर्व-कन्यादि आवरण देवता के रूप में सेवा में उपस्थित हैं।

चित्र-संख्या १२५—यह कुर्किहार में प्राप्त बौद्धदेवी श्यामतारा की मूर्ति है (पटना-म्यूजियम ६७९५, ६८११)। चतुष्कोण (भूपुर) पर दो तेजस्वी सिंह हैं। उनके बीच में लटकते हुए दो अधोमुख त्रिशूलों पर दो धर्मचक्र बने हैं। ये दोनों नाल की तरह हैं, जिन पर सृष्टि का कमल है। उसकी कर्णिका पर देवी बैठी हैं। दाहिना पैर एक पद्म पर है। बायाँ हाथ अभयमुद्रा में है, जिसमें कमलनाल है। दाहिने वरद हस्त में कोई फल या रत्न है। मातृका वर्ण की माला जनेऊ की तरह पड़ी है। ज्ञान और कर्म के दो पुष्ट स्तन जगत् को आनन्द का अमृत पिलाकर पुष्ट रखते हैं। प्रशान्त और प्रसन्न मुखमुद्रा देखते ही बनता है। दाहिने कान में पुरुष का और बायें में स्त्री का कुण्डल है। यह स्थिति-गति, अर्थात् अर्द्धनारीत्व और अर्धपुरुषत्व का संकेत है।

चित्र-संख्या १२६—यह बौद्धतारा की मूर्ति कुर्किहार में मिली है और पटना-म्यूजियम (६७७०/६७२१) में है। चतुष्कोण के दो भूपुर पर पद्मपीठ है (शाक्त तारा के यंत्र में भी भूपुर की दो रेखाएँ रहती हैं।) पद्मपीठ की कर्णिका पर समभंग मुद्रा में देवी की स्थाणुकमूर्ति विश्व का प्रतीक बन कर खड़ी है। बिन्दु को घेरनेवाले यंत्र के दोनों त्रिकोण (चित्र २०) दोनों चरण हैं। इन्हें शाक्त गुरुपादुका भी कहते हैं। सामने कटि से लटकते हुए तीन सूत्र त्रिशूल के तीनों शूल हैं। पार्श्वसूत्रों के अग्रभाग टूटे हुए मालूम होते हैं, किन्तु मध्यसूत्र का शूलाग्र अक्षुण्ण और स्पष्ट है। नाभि और स्तन के दो बिन्दु, त्रिशक्ति के त्रिबिन्दु के स्पष्ट प्रतीक हैं। यहाँ चित्र ८७ के सम्बन्ध में लिखित वेद की ऋचा को देखिये। वहाँ योनि, अर्थात् जगत् के उत्पत्ति-स्थान को नाभि और दो चित् सोम का कटोरा कहा गया है; क्योंकि इच्छा और क्रिया, आनन्द के विभक्त और परिवर्तित नाम हैं और आनन्द का ही प्रतीक सोम या सोमरस है। यहाँ देवी के दोनों पयोधर जगत् का जिलाने और पुष्ट रखनेवाले ज्ञान और कर्म के सोम, अर्थात् अमृत-पात्र या घट हैं, जो ब्रह्मा और बुद्ध के हाथ में कमण्डल और सोमनाथ के सोम या चन्द्रकला हैं। ये ही काली के दो बड़े चन्द्रकलावत् निकले हुए दाँत और विष्णु के चरण हैं, जहाँ से गंगा की अमृतधारा निकलकर जगत् को प्लावित करती है। यही तारा और काली के हाथ के खप्पर, अर्थात् सुधापात्र हैं। माँ के स्तन यदि सूख जायं या आवृत हो जायं, तो ये जीवों के लिये अगम्य हो जायंगे और जगत् की जीवनी शक्ति सूख जायगी तथा सृष्टि का नाश हो जायगा। इसलिये ये अमृतघट पिपासु जगत् के लिये सर्वदा पुष्ट, रसपूर्ण और अनावृत रहते हैं। बायाँ हाथ अभय मुद्रा में है, जिसमें सृष्टि का कमल है और दाहिने वरद हस्त में कोई रत्न है। बायें कान में स्त्री का और दाहिने में पुरुष का आभूषण है। तृतीय नेत्र के स्थान में बिन्दु है। माथे पर मनोहर मुकुट है, जिसका मध्यमणि शूलाकार है। प्रसन्न, गम्भीर और ईषत्-हास्य-युक्त मुखमुद्रा की शोभा अवर्णनीय है। पार्श्व में छिन्नमस्ता की तरह दो पार्श्वदेवियाँ हैं। छिन्नमस्ता की पार्श्वदेवियों के हाथ में दो खड्ग हैं, जिनसे वे अज्ञान के दैत्य का संहार करती रहती हैं और इन दोनों के हाथों में चंवर हैं, जिनसे ये

अज्ञान की मलिनता को झाड़ती और दूर करती रहती हैं। यह मूर्ति त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रिरत्नादि के प्रतीक हैं। इसे छिन्नमस्ता के प्रतीक (चित्र ७३, ७४) से मिलाकर देखना चाहिये।

चित्र-संख्या १२७—यह बौद्ध उषा की मूर्ति है। इसका नाम है मारीचि। मरीचि का अर्थ किरण होता है। पीठ पर सूर्य के सात घोड़ों के स्थान में सात सूअर बने हुए हैं। उसके ऊपर तीन देवियाँ हैं, दो पैरों के बाहर और एक दोनों पैरों के बीच में। ये त्रिशक्त्यादि त्रिक के प्रतीक हैं। देवी के गले में वर्णमाला की तरह माला है। ऊपरवाले बायें हाथ में धनुष और नीचेवाले में सर्प है। किञ्चित् झुका हुआ हाथ अभय-मुद्रा में है। ऊपरवाले दक्षिण हस्त में त्रिशूल है। सामने झुका हुआ हाथ वरद-मुद्रा में है और हाथ खण्डित हैं। त्रिमूर्ति के सिद्धान्त पर त्रिगुणात्मक तीनों मुख बने हुए हैं। इनमें बाईं ओरवाला तमोगुण का प्रतीक एक मुख सूअर का है। वराहमूर्ति का यह प्रभाव युग-प्रभाव या शिल्पी के ऊपर स्थानीय समाज का प्रभाव मालूम होता है। जटा-मुकुट पर बुद्ध की मूर्ति बनी है। दो देवियाँ मुकुट के पास शून्य की ओर जा रही हैं।

चित्र-संख्या १२८—बौद्ध त्रैलोक्यविजय की यह मूर्ति पटना-म्यूजियम में है। इसमें चतुष्कोण पीठ पर एक ओर गज और एक ओर सिंह हैं। दोनों के बीच दो त्रिशूलों पर दो धर्मचक्र बने हैं। इनके बीच में तीन रेखाओं द्वारा त्रिशूल की भावना को स्पष्ट कर दिया गया है। ऊपर कमल की कर्णिका पर एक पुरुष और एक स्त्री है। इन पर त्रैलोक्यविजय के दोनों पैर हैं। इसे चित्र २८, ७३, ७४, १०८, ११२ और ११३ से मिलाकर देखिये। मातृकावर्णों का मुण्डमाल गले में है। आठ भुजाएं हैं। त्रिगुणात्मक त्रिमूर्ति महादेव की तरह इनके तीन मुख हैं। माथे पर विश्व का प्रतीक करण्डमुकुट है।

चित्र-संख्या १२९—यह नैपाल में प्राप्त एक चित्र की अनुकृति है। इस देवी का नाम महासितवती कहा जाता है। (देखिये—विनयतोष भट्टाचार्य, Buddhist Iconography. plate XXXVIII C) इसमें विश्वात्मा के सभी प्रतीक अङ्कित हैं। कमलासन पर देवी बैठी हैं। उत्तरीय के दोनों छोर दोनों ओर उड़ रहे हैं। नाभि और कुच के बिन्दुत्रय स्पष्ट हैं। (विवरण के लिए १२६वाँ चित्र का परिचय देखिये। बायें हाथों में ऊपर से क्रमशः धनुष, पद्‌म और वरद-मुद्रा हैं। दाहिने में बाण, त्रिशूल और अभय हैं। मुख त्रिमूर्ति के सिद्धान्त पर बने हुए हैं। सामनेवाला मुख लाल (रजोगुण), दाहिनी ओरवाला श्वेत (सत्त्वगुण) और बाईं ओरवाला काला, अर्थात् तमोगुण है। मुखों पर तानों नेत्र स्पष्ट हैं। मुखों के प्रभामण्डल के बाहर दो हंस हैं, जिनके मुखों में शूलाकार फलों के गुच्छे हैं। ये चतुवर्ग-फल-प्राप्त जीव हैं। ऊपरवाले प्रभामण्डल में त्रिशक्ति के तीन बिन्दु तथा नाद अथवा आनन्दस्रावी अर्धचन्द्र है। यह मण्डल दो पंखों पर बना है, अर्थात् इसका संकेत है कि प्रत्यक्चित्त वा ऊर्ध्वगति से ही जीव वहाँ तक पहुँच सकता है। इसमें ब्रह्मविद्या के सभी प्रतीक पूर्णरूपेण अंकित हैं। यह मनोहर कल्पनाओं का मनोहर चित्रण है।

चित्र-संख्या १३०—यह उड़ीसा से प्राप्त वज्रतारा की मूर्ति है (देखिये विनयतोष भट्टाचार्य-लिखित Buddhist Iconography. Plate XXXVIJ) बिन्दुपीठ। (वृत्त) पर त्रिशूलाकार पद्म है, जिसकी कर्णिका पर देवी बैठी हैं। देवी के ठीक दाहिने पाँव के नीचे त्रिशूल बना है। इसके तीनों सूत्र कटिसूत्र से बंधे मालूम होते हैं। त्रिशूल का मध्यशूल अत्यन्त स्पष्ट है। मुख त्रिमूर्ति महादेव की तरह बने हुए हैं। अनेक लपेटोंवाले करण्ड-मुकुट अनेक लोकों के प्रतीक हैं। मध्यमुकुट में बुद्ध की मूर्ति बनी है। प्रभामण्डल में १४ कमल हैं, जो चौदह लोकों के प्रतीक हैं।

चित्र-संख्या १३१—यह प्रतिमा कलकत्ता के इण्डियन म्यूजियम में है। (देखिये उपर्युक्त Plate 18a) इसमें तीन कमल पर तीन मूर्तियाँ हैं। यह षडक्षरी की प्रतिमा कही जाती है। किन्तु यह बुद्ध धर्म और संघ की प्रतिमा है। बीच में बुद्ध हैं, दाहिनी ओर धर्म और बाईं ओर संघ हैं। संघ स्त्रीरूप में अंकित किया जाता है। इसे चित्र १११, १३६, १४१ और १४८ से मिलाकर देखिये। वहाँ संघ का स्त्रीरूप स्पष्ट है। यह शक्तिमान् और शक्ति के सिद्धान्तों पर बना हुआ है। संघ सृष्टि की प्रतीक-शक्ति है और बुद्ध शक्तिमान् हैं।

चित्र-संख्या १३२—यह षडक्षरी की दूसरी प्रतिमा कही जाती है। षडक्षरी का अर्थ है छह अक्षरों के मंत्रवाली विद्या। जैसे, त्रिपुरा या श्री का नाम है षोडशी, अर्थात् सोलह अक्षरों के मंत्रवाली महाविद्या (देखिये उपर्युक्त Plate 18b) इसमें ये मूर्तियाँ मणिधर, अवलोकितेश्वर और उनकी शक्ति षडक्षरी की कही जाती हैं, पर ये १३१ की तरह बुद्ध, धर्म और संघ की मूर्तियाँ हैं।

चित्र-संख्या १३३—यह मूर्ति पटना-म्यूजियम में है और इसकी संख्या ६६४२ है। म्यूजियम की परिचय-पुस्तिका में इसे अवलोकितेश्वर, तारा और बुद्ध की मूर्ति कहा गया है, पर यह निरा अटकल है। यथार्थ में यह त्रिशक्तिस्वरूप बुद्ध, धर्म और संघ की एक भावपूर्ण और सुन्दर प्रतिमा है। नीचे चतुष्कोण पीठ पर दो कमल हैं, जिनके तीन-तीन पत्र बाहर निकले हैं, ऊपर कर्णिका पर संघ (क्रिया) और धर्म (इच्छा) बैठे हैं। इन दोनों के बीच चेतना के नाल पर सृष्टि का कमल है। उसके तीन दल सामने दिखाई पड़ते हैं। कर्णिका पर बिन्दु के गोलाकार प्रभामण्डल के भीतर बुद्ध (ज्ञानं ब्रह्म) बैठे हैं। संघ और धर्म के मस्तक के पास दो स्तूप बने हैं और ऊपर धर्मचक्र पर बुद्ध का स्तूप है। प्रतीक से स्पष्ट है कि ये त्रिरत्न के प्रतीक हैं। धर्म और संघ के स्तूपों से दो लताएं निकलती हैं, जिनपर ऊपर धर्मचक्र पड़ा है। यही पुरी में जगन्नाथ की प्रतिमा है। शाक्त कहते हैं कि ये भैरव, भैरवी और चक्रेश की मूर्तियाँ हैं और तन्त्रशास्त्र से उद्धरण देते हैं कि 'विमला भैरवी यत्र जगन्नाथस्तु भैरवः'। वैष्णव इन्हें कृष्ण बलराम और सुभद्रा की मूर्ति कहते हैं। किन्तु इस प्रकार की कथा कहीं नहीं मिलती है कि किसी प्रसंग पर ये समुद्रतट पर नीलाचल पर जाकर रहने लगे थे। कथाओं के रूप में भिन्नता होने पर भी अन्तर्गत सिद्धान्त एक हैं। इसे १३१, १३२, १३६ और १४८ से मिलाकर देखना चाहिये।

चित्र-संख्या १३४—यह मूर्ति पटना-म्यूजियम (६७८७) में है। यह बौद्ध देवता हयग्रीव की मूर्ति कही जाती है। पर इसके सभी लक्षण भैरव और क्षेत्रपाल से मिलते हैं।

पैरों और हाथों में सर्पवलय, 'व्यालयज्ञोपवीत', सर्प का कंठा, गले में मातृका माला तीन नेत्र, भौंहें और तृतीय नेत्र त्रिशूलाकार, हाथ में दण्ड,—ये सब भैरव के लक्षण हैं। बायें हाथ में क्या है, यह स्पष्ट नहीं मालूम होता। यदि यह कपालपात्र हो, तो अवश्य यह भैरव की मूर्ति होनी चाहिये।

चित्र-संख्या १३५—यह जमालगिरि के एक प्रस्तरखण्ड पर उत्कीर्ण है। इस समय यह South Kensingten Museum में है, (देखिये Gruenwedel—Buddhist Art in India. Page. 133, Fig. 48)। यह स्तूप तीन अंशों में बना है। जिस प्रकार शिवलिङ्ग के तीन अंश होते हैं—ब्रह्म, विष्णु, रुद्रांश, उसी तरह इसके भी तीन अंश है। ऊपर त्रिलोक का प्रतीक तीन छत्रोंवाली स्तूपिका है। उस पर मन्दिर के कलश की तरह बिन्दुस्थान कमलकोरक है।

चित्र-संख्या १३६—यह छोटा स्तूप लौरिया टंगाई में प्राप्त हुआ था। अभी कलकत्ता-म्यूजियम में है, (देखिये Gruenwedel. Buddhist Art in India. Page 154. Fig. 106)। यह स्तूप शिवलिङ्ग के सिद्धान्त पर बना है। नीचे का आधार ब्रह्मांश की तरह चौकार है। मध्यभाग पर विष्णवंश की तरह त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीन वृत्त हैं और शिवलिङ्ग पर जिस प्रकार शिव की मूर्तियाँ बनी रहती हैं, उसी तरह इस पर बुद्ध की मूर्तियाँ बनी हैं। ऊपर का अंश रुद्रांश की तरह गोल है। ऊपर केवल एक छत्र है।[१] यह बुद्ध के विवर्त का चिह्न धर्मचक्र है। उसके ऊपर मन्दिर के कलश की तरह बिन्दु-स्थान है।

चित्र-संख्या १३७—यह स्तूप पटना-म्यूजियम में है। शिवलिङ्ग पर शिव की तरह इस पर बुद्ध की मूर्ति बनी है। ऊपर त्रिच्छत्र है। यह त्रिभुवन का प्रतीक है। इसके ऊपर कमलकलिका बिन्दुस्थान है।

स्तूप पर छत्रों की संख्या प्राय: ३, ७ और १४ होती है। ये क्रमश: त्रिभुवन, सप्तलोक और चतुर्दश भुवन के प्रतीक हैं। बुद्धमूर्ति में ये मुकुट की लपेट या स्तर के रूप में दिखाये जाते हैं। विष्णु, शिव और देवों की मूर्तियों में भी यह प्रतीक पाया जाता है और प्रासाद (देवमन्दिरों) पर ये भूमि (विमान, के रूप में बनाये जाते हैं।

चित्र-संख्या १३८—यह प्रसिद्ध साँची के स्तूप का चित्र है। नीचे वेष्टनी (घेरा) पर तीन-तीन पट्टे लगे हैं। ये त्रिशक्ति, त्रिरत्न, त्रिगुणादि हैं। द्वारों के ऊपर भी लगे हुए पट्टों की संख्या तीन है। स्तूप के ऊपर स्तूपिका बनी है। यह मन्दिरों का निधि-कलश है। इसके तीन विभाग पर वेष्टनी की तरह तीन-तीन पट्टे लगे हैं। ये सप्तलोक और त्रिशक्त्यादि के प्रतीक हैं। इनके भीतर धातु, अर्थात् संसार का सार है। इसी भावना पर धातुगर्भ (डागोबा) का निर्माण होता है। निधि-कलश मन्दिर के मूल स्थान में रखा जाता है। स्तूपिका का अर्थ जड़ है। धातुगर्भ स्तूपिका और निधि-कलश की भावना एक है। ऊपर त्रिच्छत्र त्रिभुवन हैं।

१. भुवनों या लोकों को छत्र के रूप में अंकित किया जाता है। स्तूपों और पैगोडा के ऊपर बने हुए छत्रों की संख्या भुवनों या लोकों की संख्या है। दण्डी ने भी दशकुमारचरित के मंगलश्लोक में ब्रह्माण्ड को छत्र और भगवान् को उसका दण्ड कहा है—'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः'।

चित्र-संख्या १३१—यह अजन्ता में पत्थर काट कर बनाये हुए एक स्तूप या स्तूपिका का चित्र है, (देखिये—History of Indian and Eastern Architecture. Fergusson, London 1910. Vol. I, Page 153.)। इसके मध्यभाग में विश्वरूप बुद्ध की स्थाणुक मूर्ति है। जगद्गुरु, मालूम होता है, वरद और अभय मुद्रा में हैं। चित्र में हाथ टूटा हुआ दिखाई पड़ने के कारण यह स्पष्ट नहीं है। मूर्ति के दोनों ओर दो स्तम्भों के अमृत-कलश और रुद्रकण्ठ स्पष्ट हैं। मस्तक के दाहिने धर्मचक्र और त्रिशूल हैं। ऊपर प्रभामण्डल पर दोनों ओर से छह-छह रत्न हैं। मध्य-मणि के मिला देने से दोनों ओर से ये सात-सात हो जाते हैं। ये सप्तलोक हैं। प्रभामण्डल के ऊपर ब्रह्माण्ड का गोलक है। ऊपर तीन मूर्तियाँ हैं। बीच में बुद्ध हैं और उनके दाहिने धर्म और बायें संघ स्त्रीरूप में है। अन्यत्र चित्रों और मूर्तियों में लोगों ने अनुमान से बुद्ध के साथ स्त्रीमूर्ति को बुद्ध की शक्ति कहा है। यथार्थ में यह संघ है।[१] इनके ऊपर चार-चार शिलाखण्डों की वेदियाँ हैं। ये बुद्ध की चार अवस्थाएँ हैं—आविर्भाव, महाभिनिष्क्रमण, बुद्धत्व की प्राप्ति या धर्मचक्रप्रवर्तन और महापरिनिर्वाण। इसके ऊपर तीन लोक बने हैं। यह इन लोकों पर बने हुए पद्मपत्रों से स्पष्ट है। नीचेवाले लोक के साथ बुद्ध की स्थाणुक मूर्ति है। उनके दोनों पार्श्वों में धर्म और संघ हैं। यह बुद्ध का जगद्गुरु रूप है। यहाँ वे उपदेष्टा के रूप में धर्मोपदेश कर रहे हैं। इसके ऊपर द्वितीय गोलक के साथ बुद्ध दोनों हाथ मस्तक पर रखकर खड़े हैं, मानों विश्वगोलक का भार अपने ऊपर उठाये हुए हैं। यह विश्व को धारण करनेवाला इनका धर्मप्रधान रूप है। इनके दक्षिण ओर संघ की स्त्रीमूर्ति है। वाम पार्श्ववाली, जो सम्भवतः धर्म की मूर्ति है, टूटी हुई है। ऊपरवाले गोलक के साथ बुद्धमूर्ति के दाहिने धर्म का सिंहमुख दिखाई पड़ता है और बायें संघ की स्त्रीमूर्ति दिखाई पड़ती है। बुद्ध दोनों हाथ उठाकर मानों व्यासदेव के शब्दों में कह रहे हैं—

ऊर्ध्वबाहु विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥[२]

"हाथों को उठा कर मैं पुकार रहा हूँ। कोई सुनता ही नहीं है। धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि होती है। उस धर्म को क्यों नहीं धारण करते।" ये तीनों गोलक वेद की भाषा में भूः (स्थूल) भुवः (सूक्ष्म) और स्वः (तेज) हैं और दर्शन के आध्यात्मिक अर्थ में स्थूल, सूक्ष्म और पर हैं। इन सब का परिणत रूप ऊपर सोमरस से भरा हुआ अमृतत्व का अमृतघट है।

चित्र-संख्या १४०—जावा में बोरोबुदूर नाम का एक द्वीप है। उसी पर श्रीचक्र पर निर्मित यह बौद्धस्तूप है। इसमें श्रीचक्र के त्रिकोणों के स्थान में छोटे-छोटे स्तूप बने हुए हैं, जो प्रधान स्तूप बुद्ध के चतुर्दिक् आवरण देवता की तरह हैं। इन छोटे स्तूपों के ऊपरवाले वर्तुलांश में चार-चार लम्बे छिद्र बने हुए हैं। ये बुद्ध के जीवन के चार भागों के प्रतीक हैं। जो बौद्ध और वैदिक धर्मों को परस्पर विरोधी कहते हैं, उन्हें इस पर विचार करना चाहिये। यह स्थापत्य-कला की एक अद्भुत कृति है।

---

१. इसका प्रतिरूप ख्रिस्तधर्म और इस्लाम में दिखाई पड़ता है—गौड, ख्रिस्त और चर्च तथा खुदा, पैगम्बर या मुहम्मद और इसलाम।

२. भारत-सावित्री।

चित्र-संख्या १४० (क)—यह अमरावती में दीवार पर अंकित स्तूप का चित्र है (देखिये Fergusson Vol. I. Page 49)। स्तूप के भीतरवाले स्तम्भ के ठीक नीचे चतुष्कोण वेदी के सामने बुद्ध के दोनों चरण हैं। ये आज्ञाचक्र के गुरुपादुका के दोनों कमल-दल हैं। यहां संकेत स्पष्ट है कि ऊपर बने हुए स्तम्भ और स्तूप बुद्ध की स्थाणुक मूर्ति के प्रतिरूप हैं। चरणों के पार्श्व में अष्ट प्रकृति के दो अष्टदल कमल हैं। स्तूप ठीक शिव-लिङ्गाकार है। इसके भीतर स्तम्भ से आग की लपट अथवा प्रकाश की रेखाएं निकल रही हैं। यह शिव के ज्योतिस्तम्भ का स्पष्ट प्रतीक है। इससे यह भी स्पष्ट है कि बुद्ध ही स्तम्भ-प्रतीक हैं। स्तम्भ के शिखर पर उलटा त्रिशूल है। इसका तीसरा शूल नीचे का स्तम्भ-प्रतीक है। इसके ऊपर तीन रत्न हैं। इनमें बीचवाला धर्मचक्र है। इसके ऊपर त्रिशूल है। नर, नाग, सुर गन्धर्व सभी आराधना के लिये एकत्र हुए हैं। इस चित्र से स्पष्ट है कि स्तूप, स्तम्भ और बुद्ध एक ही तत्त्व के तीन नाम हैं। शिवलिङ्ग और प्रासाद-पुरुष के निर्माण के भी ये ही सिद्धान्त और रूप हैं।

चित्र-संख्या १४१—यह चित्र भी अमरावती से लिया गया है और ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी का माना जाता है। भवसागर पर नौका है। उसके पतवार के पास बुद्ध बैठे हैं। यह उनके रत्नजटित मुकुट और कण्ठहार से स्पष्ट है। निकट में स्त्रीरूप में संघ बैठा है। धर्म के हाथ में डाँड़ है। सामने सिंहासन पर स्तम्भ है। इससे प्रकाश की रेखाएं निकल रही हैं, जो स्तूप की तरह दिखाई पड़ती हैं। स्तम्भ के ऊपर अधोमुख त्रिशूल है। मध्यशूल के ऊपर त्रिरत्न के तीन बिन्दु हैं। इन बिन्दुओं के ऊपर ऊर्ध्वमुख त्रिशूल है, जिसके शूलों से किरणें छिटक रही हैं। बुद्ध और धर्म के माथे के ऊपर जगत् का गृह बना हुआ है, जो त्रिरत्न अथवा त्रिशक्ति के तीन चक्रों पर चल रहा है। धर्म के पासवाले स्तम्भ पर, ऊपर धर्मचक्र बना है। संघ के निकटवाले स्तम्भ पर सृष्टि के असंख्य लोकों के असंख्य बिन्दु हैं। धर्म और संघ के बीच बुद्ध के चरणन्यास हैं। संघ क्रियारूप (सृष्टि अथवा जीव) हाथ जोड़कर बुद्ध के शरणापन्न है और धर्म (इच्छाशक्ति) इस नौका को चला रहा है।

चित्र-संख्या १४२—यह कार्ले का चैत्य-भवन है। इसमें स्तूप के ऊपर स्तूपिका और इसके ऊपर एक छत्र या धर्मचक्र स्पष्ट है।

चित्र-संख्या १४३—यह पूर्वोक्त कार्ले के चैत्य-भवन के एक भाग का चित्र है। इसके स्तम्भों में सभी प्रतीक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। स्तम्भों के नीचे चार शिलाखण्ड बुद्ध के जीवन की चार अवस्थाएं हैं। चौकोर होने के कारण ये ब्रह्मांश की तरह स्थिति-शक्ति के भी प्रतीक हैं। इनके ऊपर निधि-कलश है। उसके ऊपर अष्टकोण विष्णुस्तम्भ है। इसके ऊपर आमलक-जैसा अमृतकलश है। उसके ऊपर रुद्रकण्ठ है। उसपर पुनः चार शिलखण्ड बुद्ध की चार अवस्थाएं हैं। इनके ऊपर सृष्टि के प्रतीक नाना प्रकार की मूर्तियां बनी हुई हैं।

चित्र-संख्या १४४—यह वैशाली के स्तम्भ का शिखर है। इसके बुद्ध एक सिंह के रूप में हैं।

चित्र-संख्या १४५—यह संकिशा के स्तम्भ का शिखर है। इसपर बुद्ध एक गज के रूप में हैं।

चित्र संख्या १४६– यह रामपुरवा (बिहार) का वृषभ-स्तम्भशिखर है। इस पर बुद्ध एक वृषभ के रूप में हैं।

चित्र संख्या १४७—यह स्तम्भशिखर पटना-पुरातत्त्व के संग्रहालय में है। इस शिखर पर चार वृषभ बने हैं। ये बुद्ध की चार अवस्थाएँ हैं। ऊपर बोधिद्रुम बना है, जिसके अधोभाग में योनि (त्रिकोण) बनी है और ऊपर का मध्य भाग त्रिशूलाकार है।

चित्र-संख्या १४८—यह विदिशा गुहा के सामनेवाले स्तम्भ का शिखर है, (देखिये Fergusson Vol. I. Page 139)। इसमें रुद्रकण्ठ के ऊपर आमलक है। आमलक के बाहर एक चतुष्कोण आधार है। उस पर चार चतुष्कोण शिलाखण्ड-जैसे आधार हैं। उन पर चार अश्व हैं। ये दोनों ही बुद्ध की चार अवस्थाओं के प्रतीक हैं। उनके ऊपर एक स्त्री और एक पुरुष की मूर्ति है। ये शैवों और शाक्तों के शिव-शक्ति-जैसे मालूम होंगे, पर ये बुद्ध और संघ हैं। अश्व इन्हें धारण करनेवाली शक्ति धर्म है।

चित्र-संख्या १४९—यह प्रसिद्ध सारनाथ का स्तम्भशिखर है। इसमें स्तम्भ का कमलाकार रुद्रकण्ठ सृष्टि के ऊपर वृत्त (प्रकृति) है। इसके ऊपरवाले आधार में धर्मचक्र, वृषभ, गज और अश्व अङ्कित हैं। धर्मचक्र में कभी चार, कभी आठ, कभी बारह और कभी सोलह अर रहते हैं। इस चक्र में २४ अर हैं। ये विष्णु के चौबीस, अवतार, जैनों के, चौबीस तीर्थङ्कर, बौद्धों के २४ बोधिसत्त्व और सांख्य के चौबीस तत्त्व के प्रतीक हैं। गजाश्वादि धर्म के प्रतीक हैं। शिखरवाले चारों सिंह अपनी चारों अवस्थाओं में वर्तमान बुद्ध हैं। टूटी हुई अवस्था में ये त्रिमूर्ति की तरह मालूम होते हैं। सामनेवाला बड़ी-बड़ी मूछों और लोल जिह्वावाला मुख रजोगुण-जैसा, दाहिनी ओरवाला खुला मुख तमोगुण और बाईं ओरवाला प्रशान्तमुख सत्त्वगुण-जैसा दीखता है। यदि पीछेवाला मुख सामनेवाले-जैसा बना होगा, तो दोनों ओर से यह त्रिमूर्ति के प्रतीक-जैसा दीखता होगा, किन्तु अब तो यह केवल कल्पना का विषय बन गया है।

चित्र-संख्या १५०—यह खजुराहो के कन्दर्प महादेव के मन्दिर का चित्र है। प्रासाद-निर्माण के सभी सिद्धान्त इसमें बड़े स्पष्ट और सुन्दर रूप में दिखाई पड़ते हैं। नीचे चतुष्कोण से मन्दिर का आरम्भ होता है और धीरे-धीरे यह ऊपर की ओर उठता है। नाना प्रकार की मूर्तियों और निर्माण-क्रियाओं में सृष्टि का प्रतीक प्रकट होने लगता है। इनके ऊपर धीरे-धीरे बहुत-सी मंजरियाँ ऊपर की ओर उठने लगती हैं। सूर्य, चन्द्र और तारों के प्रकाश में चमकनेवाले इनके कलश असंख्य लाकों और ग्रह-नक्षत्रों के प्रतीक हैं। ये मंजरियाँ सात भूमियों में बनी हुई हैं। ये ब्रह्माण्ड के सप्तभुवन के प्रतीक हैं। इनके ऊपर प्रासाद का मस्तक धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठता है। इसकी ग्रीवा पर आमलक है। आमलक के ऊपर अमृतकलश है। यह अमृतकलश विष्णु के चरण और शिव की जटा से सम्बद्ध है। यह ब्रह्मा और बुद्ध का कमण्डल शिव और बुद्ध का भिक्षापात्र, और काली-तारा का खप्पर है। यही वेदों का सोमरस गंगा बनकर सारे विश्व को अमृतनिर्झर से प्लावित करता रहता है।

चित्र संख्या १५१—यह महाराजा जयाजी राव सिंधिया की माता का बनवाया हुआ ग्वालियर का एक मन्दिर है। यह लगभग सौ वर्ष पुराना है। सीधी रेखा में बनी हुई इसकी मंजरियाँ, प्रासाद और शिखर, खजुराहो-जैसे प्राचीन मन्दिरों की वक्ररेखाएं और शिल्पकला की तुलना में बड़े तुच्छ मालूम होते हैं। इसमें शिखर पर परमात्मा के अनन्त विस्तार का प्रतीक ध्वज भी लगा है।

चित्र-संख्या १५२—यह बौद्ध गया के मन्दिर का चित्र है। मन्दिर चौकोर आधार पर उठता है। इसकी दीवारों पर सृष्टि के प्रतीक नाना प्रकार की मूर्तियाँ हैं। प्रासाद के चारों ओर मण्डप या परिक्रमा पर मंजरियाँ बनी हुई हैं। प्रासाद में मण्डप और आमलक के बीच में चौदह विमान हैं। ये चतुर्दश भुवन के प्रतीक हैं। ये ही बुद्धमूर्ति में मुकुट के रूप में दिखलाये जाते हैं। यहाँ भी मन्दिर के भीतर बुद्धमूर्ति के माथे पर ये मुकुट की तरह ही पड़े हैं। ऊपर आमलक और कलश हैं।

चित्र-संख्या १५३—यह नैपाल के स्वयंभूनाथ मन्दिर का चित्र है। इसमें स्तूप और मन्दिर की एकता दिखलाई गई है। इससे स्पष्ट है कि स्तूप और मन्दिर दोनों एक ही वस्तु हैं। इसमें ग्रीवा के ऊपर प्रासादपुरुष के उत्कीर्ण नेत्र स्पष्ट हैं। ऊपर मुकुट की लोकों की छत्रावली है। छत्रावली के ऊपर कलश के स्थान में स्तूपिका है। उसके ऊपर त्रिकोण के भीतर स्तूप है और ऊपर त्रिशूल है। इन सब प्रतीकों का स्पष्टीकरण पूर्ववर्त्ती प्रसंगों में हो चुका है।

चित्र-संख्या १५४—यह भी नैपाल के एक मन्दिर का चित्र है। इसमें प्रासादपुरुष का मुकुट चौदह विमानों का है। ये चौदह लोक हैं। आध्यात्मिक अर्थ में ये साधना के चौदह धाम हैं। उसके ऊपर शून्यता वा अमृतत्व है।

चित्र-संख्या १५५—यह बंकौक के एक मन्दिर का चित्र है। इसमें प्रासाद-पुरुष के प्रतीक सांकेतिक होने के स्थान में स्पष्ट कर दिये गये हैं। ग्रीवा, नेत्र, मुकुट, हस्तपादादि सभी स्पष्ट हैं। इसे देखकर प्रासाद-पुरुष की भावना प्रत्यक्ष हो जाती है।

चित्र-संख्या १५६—श्री की यह आधुनिक मूर्ति इन्दौर की है। इसके निम्नभाग में चौकोर स्थित्यात्मक आधार है। उस पर त्रिशक्ति के तीन कमल आगे की ओर निकले हुए हैं। चतुर्थ कमल की कर्णिका, अर्थात् तुरीय बिन्दु पर विभुशक्ति श्री के रूप में प्रकट हुई है। नीचेवाले दोनों वरदहस्तों में सिद्धि के रत्न हैं। हाथों में पञ्चतत्त्व की पाँच चूड़ियाँ हैं। पैर पर बिन्दु और वृत्त हैं। गले में सृष्टि (वाक्) की मौक्तिक-माला है। कण्ठ में त्रितत्त्व के अधोमुख शक्ति-त्रिकोण के तीन बिन्दु हैं। ललाट पर त्रितत्त्व या त्रिशक्ति का त्रिपुण्ड्र और तुरीय का तिलक है। दो गजराज अमृतघट से सिंचन कर रहे हैं। घटयुक्त अमृत की धाराओं के साथ मिलकर छत्र द्वितीय त्रिशक्ति का प्रतीक बनाता है। दो पार्श्वदेवताओं के कमल और श्री के आसनवाले तीसरे कमल से तीसरा त्रिशक्ति-प्रतीक बनता है। मूर्ति बड़ी सुन्दर है।

चित्र-संख्या १५७—यह साँची के एक प्रतीक का चित्र है, (देखिये Fergusson Vol. I, Page 124)। नीचे आधार के चार स्तर बुद्ध के जीवन के चार विभाग हैं।

इसके ऊपर चक्र है। इसमें आठ अर हैं। मध्यबिन्दु के साथ बारह अर हैं। स्पष्ट मालूम होता है कि ये अष्टप्रकृति और अनाहतचक्र के संकेत हैं। ऊपर आज्ञाचक्र की तरह दो दल बाहर निकले हुए हैं। आज्ञा के ऊपर जिस प्रकार शून्यता का आधार त्रिशक्ति का त्रिकोण है, उसी तरह द्विदल पर त्रिशक्ति के प्रतीक त्रिशूल अनेक रूपों में बने हैं। त्रिशूल के भीतर दो अधोमुख कमल त्रिशूलाकार हैं और प्रधान त्रिशूल के प्रत्येक विभाग त्रिशूलाकार बने हुए है। यह प्रतीक त्रिशक्तिमय है।

चित्र-संख्या १५८—यह चक्र और त्रिशूल अमरावती के एक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण है। इस चक्र के मध्यबिन्दु के साथ अनन्त अर संलग्न हैं। त्रिशूल के नीचे चक्र के पार्श्व में दो दल त्रिकोण के रूप में अंकित हैं। ऊपर मोहन-जो-दड़ोवाले चित्र (९१) के त्रिशूल की शैली पर त्रिशूल अंकित है। ऊपर ऊर्ध्वमुख शिवत्रिकोण की तरह चार-चार रेखाओंवाले छोटे-छोटे स्तूप हैं। चार रेखाओं से स्पष्ट है कि यह बुद्ध की चार अवस्थाओं का प्रतीक है।

चित्र-संख्या १५९—यह अमरावती के एक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण बुद्ध का चरणचिह्न है। बायें पैर की एँड़ी में चक्र पर त्रिशूल बना है। उसके दोनों पार्श्व में दो स्वस्तिक हैं। फिर अनन्त अरों और तीन वृत्तवाला धर्मचक्र है। उसके ऊपर क्रॉस की तरह दीखनेवाला त्रिशूल, स्वस्तिक और उसी प्रकार का त्रिशूल है। कनिष्ठा अंगुलि के अग्रभाग में ठीक आज के क्रॉस-जैसा त्रिशूल बना है। तीन अंगुलियों पर स्वस्तिक चिह्न बने हैं। चौथी अंगुली टूटी हुई है। इससे स्पष्ट नहीं दीखता कि वहाँ क्या बना था।

दाहिने पैर की एँड़ी में चक्र और त्रिशूल हैं। पार्श्व में स्वस्तिक है। ऊपर तीन वृत्त और असंख्य अरोंवाला चक्र है। उसके ऊपर क्रॉस की तरह दीखनेवाला त्रिशूल और स्वस्तिक है। तीसरा टूटा रहने पर भी मालूम होता है क्रॉस की तरह बना हुआ त्रिशूल है। ऊपर दो अंगुलियों पर स्वस्तिक बने हैं। अवशिष्ट अंगुलियाँ टूटी हुई हैं। इससे यह स्पष्ट है कि स्वस्तिक त्रिशूल और क्रॉस के आकार के चिह्न एक ही भाव के प्रतीक हैं और ऐसी भावना होती है कि क्रिस्तानों के क्रॉस, भारतीय त्रिशूल और स्वस्तिक एक ही भाव के प्रतीक हैं और बौद्ध प्रचारकों द्वारा यह ख्रिस्तधर्म को मिला।

चित्र-संख्या १६०—यह एक प्राचीन भारतीय मुद्रा है। इस पर अमोघभूति लिखा है। अनुमान किया जाता है कि यह कुनिन्द अमोघभूति की मुद्रा है। यह नवनन्दवंश का अन्तिम नंद माना जाता है और श्रीफरगुस का अनुमानन है कि ई०पू० १०० से पहिले का यह हो नहीं सकता, (देखिये Fergusson, Vol I, Page 18)। इसमें लेख के ऊपर लम्बा वक्ररेखा से किसी जलाशय का बोध होता है। यह गंगा हो सकती है। इसके ऊपर एक त्रिकोण स्तूप है। यह त्रिशक्ति का विश्व या बुद्धरूप है। इसके भातर नीचे से क्रमश: तीन, दो और एक बिन्दु हैं। ये त्रिशक्ति, स्थिति, गति और शून्यता के बिन्दु-जैसे प्रतीत होते हैं। ये चित्रों में बुद्ध के मस्तक की तरह बने हैं। चित्र १११ और ११२ में बुद्ध के त्रिनेत्र को मिलाइये। पार्श्व में बोधिद्रुम है। स्तूप के ऊपर छत्र और उसके ऊपर धर्मचक्र है। बुद्ध और संघ के दो बिन्दु चक्र के दोनों ओर हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि त्रिशक्ति में जिस प्रकार त्रिबिन्दुओं की प्रधानता एक-सी है, उसी प्रकार त्रिरत्न में तीनों शक्ति समान हैं, कोई भी अधिक अथवा न्यून नहीं है। उसके ऊपर त्रिशूल और पार्श्व में स्वस्तिक है। सिक्के की

दूसरी ओर अश्व के पीछे धर्मचक्र और पीठ के ऊपर बोधिद्रुम है। सामने स्त्रीरूप में संघ और उसके पार्श्व में पुरुषमूर्ति बुद्ध हैं। अश्व के मस्तक पर तीन वक्ररेखाएं हैं। नीचेवाली अर्धचन्द्राकार और उसके ऊपर की दो रेखाएं आमने-सामने हैं। यह त्रिरत्नादि का रूपान्तर है। इससे सिद्ध होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से इन नाम और रूपों का व्यापक प्रचार था।

चित्र-संख्या १६१—महमूद गजनवी की कब्र पर ये यन्त्र बने हुए हैं, (देखिये Fergusson. A History of Indian Art and Architecture. London. 1910. Vol II. Page 193. Fig. 368.)। इसके भीतर बहुत से त्रिशूल नाना प्रकार से बने हुए हैं। ऊर्ध्वमुख और अधोमुख त्रिकोण की यथेष्ट चर्चा हो चुकी है। इसका क्या अर्थ हो सकता है, यह अनुसन्धान का विषय है कि इस्लाम से इसका कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं।

चित्र-संख्या १६२—यह गज़नी का एक स्तम्भ है। चित्र में ऐसे और भी स्तम्भ दिखाई पड़ते हैं, (देखिये उपर्युक्त ग्रन्थ। पृ० १९२, चित्र ३६७)। इसका भूमि के नीचे का अंश, पता नहीं, कैसा है। भूमि से ऊपर निम्नांश विष्णुस्तम्भ की तरह अष्टकोण और ऊपरवाला भाग रुद्रकण्ठ की तरह गोल है। जब तक पूरा अनुसन्धान न किया जाय, तब तक इसके विषय में भी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

चित्र-संख्या १६३—बीजापुर के मुहम्मद शाह की कब्र पर ऐसे यंत्र बने हुए हैं, (देखिये उपर्युक्त ग्रन्थ। पृ० २७४)। इसमें मध्य में बिन्दु है। इसके बाहर लघुवृत्त है उसके बाहर एक बृहद्वृत्त है। उसमें बन्धन के रूप में आठ बन्धन वा ग्रन्थिवाले शूलाष्टक लगे हैं। उनके बाहर अष्टयोनि अथवा त्रिकोण हैं और बाहर चतुष्कोण है। यंत्र (चि० २०) के सम्बन्ध में इन प्रतीकों की व्याख्या हो चुकी है। इसका भी यथार्थ रूप अनुसन्धान का विषय है कि एक मुसलमान की कब्र पर यह क्यों बना है।

चित्र-संख्या १६४—इन प्रतीकों की चर्चा यथास्थान और विशेष कर 'त्रिशक्ति का प्रतीक भारत' प्रकरण में यथेष्ट विस्तार के साथ हो चुका। तीनों बिन्दुओं के आकार और रूप को स्पष्ट रीति से प्रकट करने के लिये ये चित्र यहाँ लगाये गये है। इसका संक्षिप्त स्पष्टीकरण इस प्रकार है। सभी चक्रों या त्रिकोणों के बीच में एक मध्यबिन्दु रहता है, यह अशेषकारण का प्रतीक है। भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर इसी के नाम चित्, चिति, चेतना, सत्यम्, ऋतं बृहत्, परमे व्योमन्, तपः, शून्यता, केवलत्वम् आदि हैं। यह एक तत्त्व आत्मविस्तार के लिये अपने को अनेक शक्तियों के रूप में फैलाता है। इसी आत्मविस्तार की क्रिया का नाम विवर्त है। अब चित्र १६४ के १ को देखिये। यह आदिशक्ति अथवा अशेषकारण चेतना (मध्यबिन्दु) है इसलिये इसे ज्ञान कहा है। यहाँ + चिह्नवाला ज्ञानबिन्दु है। यह ज्ञान है, इसलिये इसे इच्छा होती है। यहाँ × चिह्नवाला इच्छाबिन्दु है। इसे इच्छा होती है, इसलिये क्रिया (सृष्टिसंहार-लीला) होती है। यहाँ ÷ चिह्नवाला क्रियाबिन्दु है। इन तीनों में किसी बिन्दु को इच्छा, क्रिया इत्यादि मान लिया जा सकता है। इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इन तीनों बिन्दुओं के मिलाने से त्रिकोण बनता है। इसकी पारिभाषिक संज्ञाएं कोण, त्रिकोण, योनि, महायोनि, पद्म इत्यादि हैं। योनि का अर्थ है उत्पत्ति-स्थान। (संस्कृत में योनि शब्द का

स्त्रीलिंग और पुल्लिंग—दोनों में ही व्यवहार होता है।)यहीं से सारे जगत् का विकास होता रहता है और इसी में सारी सृष्टि लीन होती रहती है, इसलिये यह महायोनि है। स्थिति और गति के रूप में इसमें स्पन्दन होता रहता है। ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण (१६४·२) स्थिति का प्रतीक है। शाक्त इसे शिव (कल्याणमय, बनाये रखनेवाला) तत्त्व कहते हैं। अन्यान्य सम्प्रदायों में इसकी भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। अधःशीर्ष त्रिकोण (१६४·३) गति का प्रतीक है। इसे शक्तितत्त्व कहते हैं। यह सभी सम्प्रदायों में समानरूप से मान्य है। स्थिति से गति होती है और गति की क्रियाएं स्थिति पर होती है। ये परस्पर सापेक्ष हैं और एक दूसरे के विना निरर्थक हैं। समुद्र पर लहर (गति) उठती है। समुद्र (स्थिति) के विना यह लहर उठ नहीं सकती और इसके लौटते समय यदि समुद्र (स्थिति) न रहे, तो यह कहाँ चली जायगी, यह कहा नहीं जा सकता और इसकी आगे की क्रिया बन्द हो जायगी। इसलिये ये स्वभावतः अभिन्न हैं। इन्हें ही यंत्रों (चित्र १६५) में बिन्दु के बाहर ऊर्ध्वशीर्ष और अधःशीर्ष, अभिन्न दो त्रिकोणों के रूप में दिखाया जाता है।

१६४.४ में इच्छा और क्रिया के बिन्दु एक वक्र रेखा द्वारा मिले हुए हैं। यह इच्छा और क्रिया का सम्मिलित रूप आनन्द है। यही सोम है। इसीका दूसरा नाम नाद है। इसके ऊपर का बिन्दु शक्ति अथवा अशेषकारण का बिन्दु है। इसलिये इन्हें आनन्द और शक्ति अथवा नादबिन्दु भी कहते हैं।[1]

समस्त प्रकृति अथवा हिरण्यगर्भ के लिये वृत्त का व्यवहार होता है और प्रकृति का विभक्त शक्तियों के लिये त्रिकोणों अथवा पद्म-पत्रों का प्रयोग होता। प्रतिमाओं में ये शक्तियाँ आयुध-शक्तियों के रूप में दिखलाई जाती हैं।
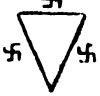
इन्हीं प्रतीकों के आधार पर यन्त्रादि बनते हैं। चित्र १६५ तथा १६६ देखिये।

चित्र-संख्या १६५, १६६—षट्चक्र की क्रियाओं के भी प्रतीक हैं। जैसे—मूलाधार चक्र में स्वयम्भूलिङ्ग का बिन्दु, त्रिकोण, वृत्त, शूलाष्टक और भूतत्त्व का चतुष्कोण है जो दिग्गजों पर है। यदि इसका अक्षरार्थ लिया जाय, तो बड़ा धोखा होगा। रीढ़ के भीतर न चौकोर वेदी है और न आठ हाथी हो सकते हैं। जन्तुओं में सबसे बड़े और भारी जन्तु की कल्पना दिग्गज के रूप में की जाती है। चतुरस्त्र और दिग्गज भार के संकेत होने के कारण भूतत्त्व की स्थिरता के द्योतक हैं। मूल आधार का स्थिर होना आवश्यक है। नहीं तो सारी सृष्टि डगमगाती रहेगा और रूप ग्रहण नहीं कर सकेगी। यही स्थिरता इन संकेतों से प्रकट की गई है। स्वाधिष्ठान में अर्धचन्द्र है। यह अप्तत्त्व का अमृतत्व है, जो सारी सृष्टि को आप्यायित कर बचाये रखता है। अन्यथा सृष्टि का नाश हो जाय। यहाँ अमृत-तत्त्व का संकेत अर्धचन्द्र है, जो शिव के माथे पर दिखलाया जाता है और वेद का सोम है। स्वाधिष्ठान में अर्धचन्द्र को ढूंढ़ना वृथा श्रम होगा। चक्रों में इन प्रतीकों से संकेतित भावनाएं और शक्तियाँ हैं, इनके स्थूल रूप नहीं। मणिपूर में न भेड़ा है और न अनाहत में मृग चौकड़ियाँ भर रहा है। जिस प्रकार दृश्यमान जगत् में वायु मृग पर

१. मालूम होता है कि इस्लाम ने इसे चाँद-सितारे के रूप में ग्रहण कर लिया है।

चढ़कर नहीं चलता, उसी प्रकार चक्रों में भी इन प्रतीकों के संकेतितार्थ का भाव समझना चाहिये।

षट्चक्र-निरूपण के अनुसार चक्रों के नाम, प्रतीक और भाव या फल नीचे दिये जाते हैं—

चक्र	प्रतीक	भाव या सिद्धि का फल
१. मूलाधार		नित्यानन्द-परम्परा, पीयूषधारा
२. स्वाधिष्ठान		अहंकार मोहादिनाश
३. मणिपूर	卐 卐 卐	शक्तिचेतना, ज्ञानसन्दोह
४. अनाहत		शक्तिचालन, परकायप्रवेश, काव्याम्बुधारा
५. विशुद्ध		वाग्मी, ज्ञानी, शान्तचेता, त्रिकालदर्शी
६. आज्ञा		विष्णु[illegible], वाक्सिद्धिः
७. सहस्रार	शून्य	सुधाधारासार, शिवस्थान, परमपुरुष, स्थान, हरिहरपद, देवीपद, अमल प्रकृति-पुरुष-स्थान, नित्यानन्द-पद, निर्वाणकला, हंसपद, शून्यपद, इत्यादि।

शुभं भूयात्।

शब्दानुक्रमणी

अ

अकत—२५५

अकाम—२७७

अकारमातृका—१८३

अकुल—२४४, २४५, २४६, २७६, २८०

अकुला—१८०

अक्रूर—५४

अक्षमाला—४७, ४६, ७७, ३६१

अक्षर—३३, ५५

अक्षसूत्र—४६, ७५, ७६, १६५

अक्षोभ्य—२६२

अगस्त्य—१०५, १२३

अग्नि—३२१ टि०

अग्निपुराण—२५२, २७४ टि०

अघमर्षणसूत्र—४०६ टि०

अघासुर—१५०

अघोर—७६, ११६, ३५३

अङ्कुश—७६

अङ्गद—१३७

अङ्गन्यास—२६५

अङ्गारार्पण—२८१

अङ्गिरा—३२४, ३२८, ३३४, ३३५

अङ्गिरागण—३३३

अच्युत—१६६

अज—३७, १४२

अजन्ता—६५

अजान—२२५

अञ्जनाद्रि—१८८

अञ्जनी—१४२

अण्डकटाह—५२, ६२

अथर्वण—३६२, ३६३, ३७३

अथर्व वेद—१२ टि०, ३१०, ३५३, ३६१, ३७३

अदिति—३३३

अध्यक्षा—३७७

अध्यात्म—१२३

अध्यात्मरामायण—६६ टि०, ६४ टि०, ६७ टि०, १०५, १०६ टि०, १२३ टि०, १२४ टि०, १२५ टि०

अनत्ता—२६७

अनन्त—१७

अनन्तशक्ति—१००

अनाहत—२६३, ४११, ४६६

अनाहतनाद—२८२

अनिरुद्ध—२१६, ३६१

अनुभाष्य—१५३ टि०

अनुराधापुर—२६४, २६५

अन्तरी—८

अन्तर्याग—१८२, २८२

अन्ध—८२

अन्धक—१३१
अन्धकासुर—८२
अन्यदुक्त—६०
अपराजिता—१०२, २१०, २११
अपस्मार पुरुष—८६, ११६, ३४७, ४३३,
४३५, ४३६, ४३६
अपस्मृति (अपस्मार)—८६, ८७
अपस्मृतिन्यस्तपाद—८७
अप्रतिचक्रा—२५२
अप्सरा—३७४
अभय—४०
अभय-मुद्रा—४६, २५६, ४१६, ४१७, ४२२
४३७, ४५५, ४५६
अभयहस्त—३५०
अभिचार—७५, १२६ टि०, १२७ टि०,
१२८
अभिचार-कर्म—८७
अभिज्ञा—२५६
अभिनवगुप्त—१५, १०६, १८२, १८४,
२६०
अभूत—२५५
अमतमहानिर्वाण—२५६
अमरकोष—१८, ६४ टि०, १६६ टि०,
२४७ टि०, ३१६ टि०
अमरावती—५३, ४६०
अमर्षण—३३६
अमिताभ—२६६, २८६
अमृतकलश—२६१, २७०
अमृतकुण्ड—३६२
अमृतघट—२७२
अमृतनाथ—३६७ टि०
अमृतमय समुद्र—३६३
अमृतरस—३६६
अमृतलाल शील—१४६
अमृताक्षर—१७१
अमोघमूर्त्ति—४६३
अम्बिका—२३८, २५०, ३२१ टि०
अयज्यु—३२६
अयना—३६८
अयस्थ—३२८
अर—२१०, २११
अरविन्द—१६२, १६२ टि०, १६३, १६६,
३३१, २७७, ३११, ३१६, ३२२,
३२८, ३२६, ३३०, ३३३, ३३६,
४१०
अरिष्ट—३६५
अरिस्टॉटल—७
अर्णव—३२१
अर्धनारीश्वर नटेश्वर स्तोत्र—८४ टि०
अर्धवृगल—२७६
अर्यमा—५५
अर्वण—३३५
अर्हन्—२४७
अलका—३२८
अलक्ष्य—१
अलङ्करणवृत्त—२२३
अवतार—२६१
अवदायरकोइल—४१८
अवरकुलाय—४८
अवलोकितेश्वर—२५, २६६, २६७, २५२,
४५३, ४५७
अविद्या—१७३, २५७
अविसावेल—१४१
अव्यक्त—२
अव्यया—६२
अव्याकृत—१२५
अव्याकृता प्रकृति—८
अशब्द—८
अशोकवन—३६२
अशोकस्तम्भ—६६, २४८

अशुद्धि—२५७
अश्वमती—३१६
अश्वी—१८, ३२८, ३३०, ३५३
अष्टत्रिकोण—२७४
अष्टदल—१७६
अष्टप्रकृति—१७६, २६०, २६४, २७१, २७४, २७६, ४२३, ४२६
अष्टभिन्नाप्रकृति—२७१,२७३,४२२, ४२४, ४३५
अष्टमिथुन—२७४
अष्टमूर्त्ति—८०
अष्टयोनि—२७३
अष्टाङ्गयोग—२४७
असमप्रदेश—३११
असंखत—२५५
अस्ति—१
अस्त्र—२६५
अहल्या—१३२

आ

आगम—३५३
आग्नेयलिङ्ग—१११
आचार दिनकर प्रतिष्ठा-विधि (कल्प)—२४६ टि०, २५० टि०, २५१ टि०
आचार्य नरेन्द्रदेव—१८
आज्ञा—४६६
आज्ञाचक्र—२६३, ४४३ टि०
आज्यपा—३७४
आत्मकाम—२७७
आत्मबोध—२४५ टि०
आत्मभू—३
आत्मलय—१८३
आत्मशक्ति—३३१
आदम—१४०
आदित्यपुराण—८०
आदित्यहृदय—१६३ टि०, १६४ टि०
आदिदेव—१६७
आदिनाथ—२५२, ४४१
आदि बुद्ध—४४२
आदिशक्ति—२८७
आद्य-आसन—१८६
आद्यविद्या—१८४
आद्याकाली—१८५, २३६
आद्याशक्ति—१८३, २७१
आनन्दकुमार स्वामी (डॉ)—२७७, ३०७, ३४५, ४१५, ४२४, ४२६, ४३६
आनन्दघट—२७१
आनन्दबाधेन्द्र सरस्वती—३८२ टि०
आनन्दवन—३६२
आनन्दस्तोत्र—२४४ टि०
आनन्दामृतपात्र—४५१
आनन्दाश्रम (पूना)—३२ टि०, ३३ टि०, ३४ टि०, ५१ टि०, ५६ टि०, ७२ टि० ७३ टि०, ६२ टि०, ६३, १०५ टि०, १०६ टि०, १६७ टि०
आनन्दाश्रम-संस्कृतग्रन्थावलि—६ टि०, ३०० टि०
आप्तकाम—२७७
आभिचारिक—४०
आभ्यान्तर स्थान—१८२
आमलक—२६६, २७१, २८०
आमलक वृत्त—२७१
आयति—१०
आर्गिव हेलेन—३३१
आर्थर आवलन—१६० टि०
आर्यसत्य—२५५
आर्षलिङ्ग—१११
आवरण देवता—२७०
आवलन—१६६ टि०
आष्ट्रिया—३०६
आसन—२५८, २६०

आसन-प्रतिमा—२५९
आसीन—९०, २४०

इ

इच्छाबाई घोषाल—४३३
इच्छाशक्ति—१९३, २२०, २३०
इडा—१९२, १९३
इण्डियन म्युजियम—४५७
इतरलिङ्ग—१०६, ११०
इन्द्र—१२१ टि०, १६१, ३२८, ३३३, ३३४, ३३५, ३४६, ४३९, ४५०
इन्द्रकोण—२२८
इन्द्रजित—१४१
इन्द्रनील—३९४
इन्द्रलिङ्ग—१११
इन्द्रशैलगुहा—४४८
इन्द्राणी—४५०
इन्द्रियात्मा—५५
इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया—४१६, ४१७, ४१८, ४२५
इला—३२६, ३३१
इला पर्वत—१४१

ई

ईथर—३
ई० बी० हैवेल—१२१, २६३ टि०
ईशान—७६, ११६, १७३, २३१
ईशान (जैन)—२५१, ३५३
ईसिस—११८

उ

उग्रतारा—२०२, २०३, २३३
उग्रतारिणी—२०२
उग्रसेन—१४३
उच्छिष्ट गणपति—२४०
उच्छिष्ट चाण्डालिनीकल्प—२३८
उज्जयिनी—११
उड़ीसा—४५७
उणमाइविलक्कम्—३४८, ३४९, ३५०
उत्कलखण्ड—२७८
उत्तमात्तम—९०
उत्तरचतुःशतीशास्त्र—२१८, २१९
उत्तरपुराण—२५२ टि०
उत्पला—४००
उत्सुकवन—३६२
उदयाकरपद्धति—२७९
उदान—२५५
उद्दण्डताण्डव—९०
उद्धूति—३३१
उन्मनी—२८०
उपरति—१५, २९०
उपवात—२९१, २९३
उपेन्द्र—१८
उमा ७०
उमामहेश्वर—४२९
उमास्वामी—१५ टि०
उरुवेल—१४०
उरोमंजरी—२७०
उशना—३३५
उषा—३९१, ४५२
उष्णीश—१७५

ऊ

ऊर्णा—२५९, ४४३
ऊर्ध्वकला—२४३ टि०
ऊर्ध्वताण्डव—९०
ऊर्ध्वपुण्ड्र—२९६, २९७
ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद्—२९६ टि०
ऊर्ध्वलोक—२५१, २६४

ऋ

ऋक्—२९०
ऋक्षज—१४४
ऋक्संहिता—२९३

ऋग्वेद—३३, ५८ टि०, ६४, ६६ टि०, ७३ टि०, ७६ टि०, ६१ टि०, १२०, १६२, २१२ टि०, २४७ टि०, २५२, २६० टि०, २७२, २७४, २८२ टि०, ३१४, ३१४ टि०, ३१८ टि०, ३१६ टि०, ३२० टि०, ३२१ टि०, ३२२, ३२३ टि०, ३२४, ३२६, ३३७ टि०, ३५३, ३६६ टि०, ४३७, ४४१ टि०, ४४४
ऋग्वेद-भाष्य—३११
ऋग्वेदसंहिता—३१२ टि०
ऋत—३१८
ऋतम्—१६२, १६३
ऋतंबृहत्—१६७ टि०, २१०
ऋद्धि-सिद्धि—४१७
ऋभु—२४ टि०
ऋभुगण—२४७ टि०
ऋषभ—३२६
ऋषभदेव—२५२
ऋषभनाथ—२५२, २५३, ३२६, ४४१, ४४२
ऋषि-ऋण—२६१
ऋष्यमूक-पर्वत—१४५

ए

एक—२४७
एकजटा—१८०, २०२, २०३
एकदन्त—३७
एकदन्तस्तोत्र—३६ टि०, ३७ टि०, ३६ टि०
एकरस—१८१
एका—२३३, २४२
एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका—१३३ टि०
एरोसप्रोटोगोनोस—३४५
एलिफैण्टा—३४६
एलीमेण्ट्स ऑफ हिन्दू एकोनोग्राफी—४७१, ४२६, ४२७
एलूर—४३२
एलोरा—३४६
एस० दस्तीदार एण्ड कं०—४३७
ए० सी० गिब्सन—२५६ टि०
ए स्टडी ऑफ इण्डो-आर्यन सिविलिजेशन—२६३ टि०

ऐ

एतरेय ब्राह्मण—८१, २८२ टि०

ओ

ओरिएण्टल कान्फ्रेंस—१४०
ओसिरिस—११८

औ

ऑन दि वेद (पाण्डिचेरी)—२५५ टि०

क

कठोपनिषद्—१०३ टि०, १७१ टि०, २७२ टि०
कण्ठकूप—२६३
कथासरित्सागर—३४६
कदम्बगालक—२१२
कदम्बगोलकाकार—२१२
कदम्बपुष्प—२११
कदम्बमञ्जरी—२११
कदम्बमाल—२१२
कदम्बवन—२१०, २११
कदम्बवनचारिणी—२१२
कदम्बवनमध्यगा—२१२
कदम्बवनवासिनी—२१२
कदम्बवृक्ष—२ २
कदम्बवनशालया—२१२
कन्थक—६६
कन्दर्प—१६६
कन्याकुमारी—१४४, २८८, २८६ ३११

कन्हेरी गुहा—४४६
कपाल—७६
कपिलवस्तु—२५३
कबीर—८८
कमला—२३८
कमलात्मिका—२३८
कमलामत्स्य—३००
कमलासन—२५०
कम्बोडिया—२६६, ४३१
कयरोगणस्वामी—४१८
करण्डमुकुट—२६५
करुणकुशला—३६१
कर्पूरतारिणीस्तोत्र—२०३
कर्पूरादिस्तात्र—१६० टि०,१६४, १६६ टि०
कर्मकाण्ड—२५४
कर्मकाण्ड-प्रदीप—२६१ टि०
कर्ममीमांसासूत्र—२०
कलकत्ता-म्युजियम—४४५, ४४८, ४५८
कला—१५, १८६
कलावती—६३
कल्कि—७१
कल्की—३२१
कल्पतरु—३६१
कल्याणी गंगा—१४१
कश्यप—५०
कंबूकगम—१४१
कंस—१३१, १४३, १५७, १७७
कंस-चाणूर—३२१
काकध्वजरथ—२३४
काकवाहन—२३४
काठक—६ टि०
कात्यायनोपषिद—२६६ टि०
कादिमत—२१८, २१६, २२५, २४२, २७६
कानड़ा—१४४
काम—१६६
कामकला—२६, १६६, १६७, १६८, १६६, २०१, २०२, २२७, २३२, २४३ टि०, २७१, २७४, २८७, २८६
कामकलाकाली—२४०
कामकलाक्षर—२४३ टि०
कामकला-तत्त्व—१६६
कामकलाविलास—४० टि०, १८० टि०, १८१ टि०, १६६ टि०, २२० टि०
कामदा—२२७
कामदेवता १६७, १६६
कामधेनु-तंत्र—१६४ टि०
कामरूप—४३८
कामाकर्षिणी—२२७
कामाख्या—४३, ८५, १६८, २६६, २८६, २८६, ४३८
कामारि—२०६
कामेश्वर—१६८, १६६, २२८, २३२
कामेश्वरी—२२७
काम्यवन—३६५
कारणचक्र—२५४, २६०
कारतन्तवी—३७३
कार्त्तिकेय—६६, ६६ टि०, १७५, १७७, २५१, ३६३, ४२८
कार्त्तवीर्य—७१
कार्ले—४६०
कालकाली—२४०
कालचक्र—२६०, २८८, २८६, ३२२,४२१, ४४१
कालरात्रि—२०१, ३ ८, ३३८, ४५१
कालरात्रि-नृत्य—१४३ टि०, ३१८
कालवृत्त—२१४
कालशक्ति—१७३
कालारि—४३२
कालिका—१८०, १८४, २३८
कालिकाकवच—४० टि०

कालिकापुराण—२००,२०७ टि, २०८,२१८,
कालिदास—६०, २४३, ४०२
कालिय—१५६, १६६
काली—१७, १६६,१७६, १८०,१८३, १८४,
१८६, १६१, २१०, २१२, २३२,
२३३, २४२, २४५, २५३, ३६८,
४५१
काली-तत्त्व—१८५
काली-तारा—४६१
कालीपटल—१७६
कालीमेघादीक्षितोपनिषद्—३६४ टि०
कालीविलासतन्त्र—४१ टि०, ५१ टि०,
१६६ टि०, १७४ टि०
१८६ टि०, १६८ टि०,
१६६ टि०, २१४ टि०,
२६७ टि०
कालीसहस्रनाम—१६० टि०
काव्यमाला—२२७ टि०, २८८ टि०
काशी—२५४
काशीविश्वनाथ—४३०
काश्मीर संस्कृतग्रन्थावलि—१५ टि०,
२०२ टि०, २८२ टि०
काष्ठजिह्वस्वामी—१५५ टि०
काष्ठा—१५
किनिंगलपोता—१४०
किशोरीव.,मा—३६१
किष्किन्धा—१४१, १४४
किंकिणी—३६१
कुञ्चितैकपदाम्बुज—८६
कुण्डल—२४३, २४६
कुण्डलिनी—४६, ४८,५० टि०,१८०,२००,
२४३, २४४, २४५, २४६,
२६३, २८२
कुण्डली—१६८, २४३, २४४
कुण्डली-शक्ति—१०७
कुनिन्दअमोघमूर्त्ति—४६३
कुबेर—१७३
कुबेरपुरी—३६२
कुमार—१००
कुमारसंभव—६४ टि०
कुमारी—१७२
कुमारास्तोत्र—२८५ टि०
कुमुदवन—३६५
कुम्भकर्ण—१४६, ३२१
कुर्किहार—४४७, ४४८, ४५५
कुर्ग—१४४
कुल—२४४, २४६, २७६, २८०, ३५६
कुलकुण्ड—१८० टि०
कुलकुण्डलिनी—२४४
कुलचूडामणि—१८० टि०, २८५ टि०
कुलपर्वत—३८१
कुलाचल—३६४
कुलाय—४८
कुलार्णवतन्त्र—२०६
कुलयापीड—१५०
कुवेरलिङ्ग—१११
कूट—१७०, ३०१ टि०
कूटत्रय—३०
कूटस्थ—१६१, २१४, २४७, २७६
कूटस्थ-तत्त्व—२०१
कूष्काण्डी—२५०
कृष्ण—१६६, ४५७
कृष्णप्रिया—३६१
कृष्णा—१६१
कृष्णानन्द—२०७ टि०
कृष्णोपनिषद्—१४६ टि०
केतकवन—३६२
केनेडी—११८
केनापनिषद्—१६० टि०
कैलास—३७४

केवल—१६८
केवलत्व—२०१, २०२, २७१, ३२६ टि०
केवल-तत्त्व—१६०, २४७, ३५६ टि०, ३७७ टि०
केवला—३७७
केवलावस्था—१६५
कैवल्य—३६२
कैवल्यज्ञान—१८१
कैवल्यपद (केवलज्ञान)—२५१
कोयिलपुराण—३४६
कोलम्बो-म्युजियम—४२४, ४२६
कोष्ठ—२७०
कौत्स—३३५
कौन्तेय—६२१
कौल एण्ड अदर उपनिषदाज—१८२ टि०
कौलिक—२८०
कौशल्या—११३, १४६
कौस्तुभाङ्क—१०८
क्यूपिड—१६८
क्रतु—६
क्रमाक्रमात्माकाल—१५
क्रियाशक्ति—१६३, १६५, १६७, २२०, ३६७
क्रीडावन—३६२
क्रूरभूतभयङ्करी—२३८
क्रौंकार—२२२
क्षर—५५
क्षीरभावनी—२८६
क्षुरित—२४०
क्षेत्रचन्द्र—२८८, २८६
क्षेत्रपाल—६६
क्षेप—१६

ख

खजुरोहा—१६६, ३४१, ४६१
खट्वाङ्ग—३६३
खण्डपरशु—२४२
खण्डावतार—७१
खदिर—३६२
खाण्डववन—३६१
खदिरवन—३६२

ग

गगनलिङ्ग—१०७, १६५, २२३
गजना—२६६, ४४५
गजयूथ—४४७
गजाननस्तोत्र—२६ टि०
गजासुर—८२, १३१, ३६६, ४२६
गणदेवता—७१
गणपति—१७७
गणपतिस्तव—३६ टि०
गणपत्युपनिषद्—३८ टि०
गणेश—१७५, ११२, १४०, ४१५, ४१६, ४१७, ४२७, ४५०
गणेशकवच—४१
गणेशचक्र—३००
गणेशपुरी—३६२
गणेशबाह्यपूजा—४१ टि०
ग[illegible]पूजा—४० टि०, ४२
गणेशसह[illegible]—२१२, २१२
गणेशस्तवराज—४० टि० टि०
गति—१६
गदाधर—७०
गन्धमादनवन—३६२
गन्धर्वतन्त्र—३७ टि०
गया—२५४
गरुडपुराण—२१५, २१६, २७२
गरुडवाहन—७६
गान्धार—२७६
गायत्री—१६५, १६३, २६४, ३०१, ४०१
गा[illegible]विंशतिस्तोत्र—४८ टि०
गायत्रीस्तवराज—४६ टि०, ५० टि०
गायत्रीस्तोत्र—५० टि०

गायत्रीहृदयस्तोत्र—५० टि०
गिरिजा—६६
गीतगोविन्द—३६६ टि०
गीता— २ टि०, ३५ टि०, ७१ टि०, १०१, १६१, १६६, २३४, २७१, २६०, ३०२, ३०२ टि०, ३०६, ३२०, ३२० टि०, ३२६ ४१०, ४५३
गुडकुम्भ—१६७
गुडीमल्ल —४३३
गुडिमल्ल—११६
गुणविजयगणि—२५० टि०
गुणसागर—३६
गुणातीत—३६
गुणेश—३६
गुप्तमण्डल—७५
गुरीच—३२६
गुह्यकाली—२४०, ३७६
गुह्यकाल्युपनिषद्—३६८, ३७३, ३७७
गुह्यषोढान्यासोपनिषद्—१८६टि०, १६३ टि०
गुह्योपनिषद्—३७३, ३७७
गृहस्थाश्रम—२६२
गेयपद—६०, २४०
गोकर्ण —१४४
गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्—५१ टि०, ६० टि० १४८ टि०
गोपीकृष्ण—१६७
गोपीनाथ—६६
गोमती—३१६
गोमुख—१७४, २५३
गोमुखयक्ष—४४२
गोललिङ्ग—१११
गोवर्द्धन—३६३
गोविन्दाष्टक—६८ टि०, ३५५, ३५७
गोष्ठ—३६५
गोंडा—४४१
गौडपादीयसूत्रभाष्य—२१२, २१३
गौरी—४२३
गौल —१४१
ग्रन्थि-भेद—२८२
ग्रीवा—२८०
ग्रेनवेडेल—२५६ टि०, २६७, ४४३, ४४८
ग्वालियर—४४१

घ

घटस्तव—२१२ टि०
घनद्वार—२७०
घना—२०३
घेरण्डसंहिता—१५८ टि०

च

चक्र—१७
चक्रेश्वरी—२४६, २५०, २५२ टि०, २५३, ४४२
चण्डकाली—२४०
चण्ड-मुण्ड—१३१, १७७ टि०, ३२१
चण्डा—३६८
चण्डिका—३६३, ३६८, ४०७
चण्डी —३६८
चतुरनृत्य—६०
चतुर्दशस्वप्न-लाञ्छन—२५२ टि०
चतुष्कोण-चक्र—२७
चतुष्कोण-भूपुर—१७६
चतुष्कोणस्थितितत्त्व—२४५ टि०
चन्द्रशेखर—७२
चन्द्रस्तम्भ—२६२
चन्द्रा—३६१
चद्रावली—३६२
चराचर—१८१
चर्चरी—६०
चर्मण्वती (चम्बल)—२५५ टि०
चाणूर—१५०

चापाक्षर—२२१
चामुण्डा-मन्दिर—२६६
चामुण्डी-पर्वत—२६६
चिञ्चिनी—७५
चिञ्चिनीक्रम—७४, ४४४
चिञ्चनी-शक्ति—७४, १६८, २०१
चिति—४००, ४०१
चित्रकरा—३६०
चित्रताण्डव—१५६
चित्ररेखा—३६०
चित्रिणी—२६५
चिदम्बर—८५, २४१, ३४६, ३४७, ३४८, ३५१
चिदम्बर-माहात्म्य—८६
चिदम्बरमुन्माणी कोवई—३४८
चिदम्बरेश—३५०
चिदाकाश—५, २०१, ३६८, ३६६, ४००
चिदानन्द—२५४
चिद्गगन—३६७
चिद्रूप—३७
चिन्तामणि—२१०, २१२, २६२, ३५६
चिन्तामणिगृह—२१०, २१२, २१३
चिन्तामणिमहामन्त्र—८८
चिन्तामणिमहामन्त्रध्यान—८७
चैत्य—२५६
चौमुखी-महादेव—४३१
चौर-गणेश—२४०

छ

छन्द—६
छान्दोग्योपनिषद्—१० टि०, ८१ टि०, २७८ टि०,
छिन्नमस्ता—१७३, १८०, २२८, २२६, २३१, २३३, २४०, २४६, २४८, ३००, ४१८, ४२६, ४३६, ४४६, ४५२, ४५५, ४५६
छिन्नमस्ताध्यानस्तव—२२६, २३१
छिन्ना—२३२, २४२

ज

जगदम्बा—४३७
जगदीश्वरी—४४२
जटायु—१४५
जमालगिरि—४५८
जम्भल—१०२, ४४६
जयकर—४५१
जयन्ती—२८१
जय-विजय—३११
जया—४००
जरासन्ध—१४३, ३२१
जाबाल्युपनिषद्—८१ टि०
जाम्बवती—३६२, ४३५
जावा—३११, ४१५, ४१६, ४५३, ४५६
जिनेन्द्र—२४७
जीमूतवाहन—१४४
जीवानन्द—३२ टि०, ६१ टि०, १८७ टि०, १८६ टि०, २७६ टि०
जे० बर्गस—२५६ टि०
जेम्स फर्गूसन हिष्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इष्टर्न आर्किटेक्चर—२६४ टि०
जैन इकोनोग्राफी—२४७ टि०, २४८ टि०, २५२ टि०, २५३ टि०
जैनदेवी—२४८
जैनमतावलम्बी—३०१
जैमिनि—२०
जौनबुल—१४२
ज्ञानकाण्ड—२५४
ज्ञानपञ्चमी—२४८
ज्ञानमुद्रा—४८, २५६, ४२१
ज्ञानलिङ्ग—१०३, २८३
ज्ञानवृक्ष—२५४
ज्ञानशक्ति—१६३, २२०

ज्ञानार्णव—२१४, २१८, २२०, २२५, २२६, २२७, २२८, २८८
ज्ञानार्णव-तन्त्र—४६ टि०
ज्ञानासन—४२७
ज्येष्ठ—१६६
ज्वालामुखी—२८६
ज्वालालिङ्ग—११२

ट

टी० गोपीनाथ राव ६६ टि०, ११६, ४१७, ४२१, ४२७, ४२८, ४२६, ४३२, ४३४, ४३५

ड

डाकिनी—२३०, २३१, २३२

ढ

ढक्का—७६
ढाका—४३३
ढाका-म्युजियम—४२८

ण

ण्य—२१०, २११

त

तक्षशिला—२५२ टि०
तत्पुरुष—७६, ११६
तत्त्वमुद्रा—२६५
तत्त्व[illegible]—१५
तथागत—२२, २५७ टि०
तन्त्रराज—२१८, २१६, २२०, २२० टि०, २२७, २४६ टि०, २८८, ४२६
तन्त्रराजतन्त्र—२७४
तन्त्रशास्त्र—१०८
तन्त्रसार—२०७ टि०
'तन्त्राभिलाषीर साधुसंग'—४०२
तन्त्रालोक—८ टि०, १५ टि०, ७४ टि०, १०६, १८२ टि०, १८४ टि०, २००टि०, २४५टि०, २८२टि०
तन्मात्रा—२१६
तप—३१८
तपस्—२१०
ताडका—१३२
ताण्डव—३४६, ३४६
तान्त्रिक टेक्स्ट्स—१६६ टि०
तामिस्र—८२
तारसारोपनिषद्—१२८ टि०, १२६ टि०
तारा—१६१, १६३, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २१०, २२७, २३२, २३६, २४०, २४२, २४५, २६६, २६५, २६६, ३००, ४३७, ४३६, ४४०, ४४३, ४४६, ४५१, ४५३ ४५७
तारारूप—२७१
ताराष्टक—२०४
तारोपनिषद्—२०३
तार्ण बैन्दवी—३७३
तालवन—३६५
तालसम्फोटित—६०
तिरस्करिणी-विद्या—१८५, १६१, ३१८
तिरुअरुलपयन—३५० टि०
तिरुकुट्टदर्शन—३४८
तिरुप्पालत्तुराइ—४२७
तिरुमन्त्रम्—३४८
तिरुमूलर—३४८, ३५७
तिरुवरङ्गुडम्—४२८
तिलक—१३७
तिल्लई—३४६
तिल्लई-तीर्थ—३४७
तीर्थङ्कर—२४, २३२, २४७, २४८, २५०, २५१, २६०, ३२६
तुरीय—३०, २५५
तुरीया—२५५, २८७
तुरीयातीत—३६१
तुरीयाम्बा—२१३

तुलसीदास—६६ टि०, ८५ टि०, ९८, १४७, २८१ टि०
तैत्तिरीय ब्राह्मण—१०
तैत्तिरीय संहिता—१०
तैत्तिरीयोपनिषद्—३१ टि०, ५५ टि०
तोतापोल्ला—१४०
तंजोर—४१८, ४२७
त्रपुषाकार—११९
त्रयस्त्रिंशश्लोक—२६६
त्रयी—३०, ३१, २३०
त्रावणकोर—१४४
त्रिक—२८७, ३२६
त्रिकोण—१९७, १९८, १९९, २०१, २०७, २१०, २११, २१२, २१३, २१५, २२७, २२८, २३०, २४५, २४५ टि०, २७४, २७९, २८७, २८८, २८९, ४३८
त्रिगुण—२, ३१, १५८, १९६, २३०, २६०
त्रिगुणा—१८६, १८९, २२३, ३६८
त्रिगुणात्मिक—१७५
त्रिगुणात्मिका प्रकृति—२४५ टि०
त्रिगुणात्मिका माया—१७०
त्रिगुणाधार—४०
त्रिगूढ—९०
त्रिगूढ उक्त-प्रयुक्त—२४०
त्रिगूढ उत्तमोत्तम—२४०
त्रिगूढसैन्धव—२४०
त्रिचनापल्ली—१४०
त्रिच्छत्र—२४८
त्रिज्योति—२३७
त्रितत्त्व—१९७
त्रिदेव—३१, २२३
त्रिनेत्र—१७२, २३७
त्रिपुण्ड्र—२९६, २९७
त्रिपुर—१३१, २०८, २०९, ३००, ३१६
त्रिपुरभैरवी—२३३
त्रिपुरमहासुन्दरी—२२७
त्रिपुरसुन्दरी (षोडशी)—१६५, १८६, १९१, २००, २०७, २३८, २६८
त्रिपुरसुन्दरीस्तोत्र—२११
त्रिपुरा—३१, ४७, ६२, १६५, १६९, १८०, १९५, २०७, २०८, २०९, २११, २१२ २१४, २१६, २१९, २२२, २३२, २३६, २३८, २३९, २४०, २४१, २४५, २४६, २९७, २९९, ३००, ४१६, ४४९, ४५०, ४५१, ४५४, ४५७
त्रिपुरातापिन्युपनिषद्—१६९ टि०, २२२
त्रिपुरा भैरवी—२४०
त्रिपुरामहिमस्तोत्र—१९४, टि०, २०९ टि०, २२२, २२४, २२५, २२७ टि०, २२८ टि०, ३०१ टि०
त्रिपुराविग्रह—२४२
त्रिपुरासारसमुच्चय—१९० टि०
त्रिपुरासिद्धान्त—२१४, २१५, २१६
त्रिपुरासुन्दरी—२४०
त्रिपुरोपनिषद्—२२२
त्रिमात्र—२९३
त्रिमूर्त्ति—१७९, २६१
त्रिरत्न—२२, २६०, २६७, २६८, २६९
त्रिलौह—३५३
त्रिवर्ग—२२
त्रिवर्ण—२७८
त्रिविध—२८७
त्रिवृत्त—२४५ टि०
त्रिवृत्तनयन—७३
त्रिव्याहृति—४११
त्रिशक्ति—७४, १७२, १९३, १९७, २१०, २२३, २३७, २४५ टि०, २४८, २६०, २६८, ३२६

त्रिशूल—१९७, २०१
त्रिषष्टिशलाका—२५२ टि०
त्रिस्थानस्थ—३१
त्र मन्त्र—२९४
त्रैलोक्यनगरारम्भ-मूलस्तम्भ—२६४
त्रैलोक्यविजय—४५२, ४५६
त्र्यम्बक—९९

थ

थेरवादी शाखा—२५५

द

दक्ष—१९२, १९३
दक्षिण—१९२, १९३
दक्षिणकालिका—१९२
दक्षिणकाली—१९२, २४०
दक्षिणा—१९१, १९२, १९३
दण्डकवन—१३२
दण्डी—४५८
दत्तात्रेय—७१
दधिमुख—१४५
दधिवन—३६२, ३६५
दयानन्द—२५८
दश अकुशल कर्मपथ—२५६
दशकुमारचरित—४५८
दशमहाविद्या—२९९, ३००
दशरथ—१२५, १२८ १४२, १४६
दशावतार—२९९
दस्यु—३४०
दारुका-वन—७५, ८७
दारुकूट—३५३
दारुण-सप्तक—१८१ टि०
दास एण्ड ग्रौस—४३८
दि एन्सियेण्ट एण्ड मेडियेवल आर्किटेक्चर ऑव इण्डिया—२६३ टि०
दिक्पाल—१७३
दिगम्बरी—१८८, २०५, २३१
दि हिन्दू-टेम्पुल—२२३ टि०
दीन—२६८
दीपदान—३६२
दुरोहण—२८२
दुरोहण-मन्त्र—२८२
दुर्गा—२८७, ३२६, ३५३, ३६८, ४००, ४३९
दुर्गा-सप्तशती—१५टि०, ६४टि०, ११८टि०, १२३ टि०, १६० टि०, १७० टि०, १७१ टि०, १७२ टि०, १७३ टि०, १७६, १७७ टि०, १७८, १७९ १९३, २०५ टि०, २३३, २८४ टि०, ३२० टि०, ३२१ टि०, ३३८, ४३९, ४४९, ४५०
दुर्वासा—२२१, २२८
'दूरेनिदान'—२५६
दृश्याभास—५
देव-ऋण—२९१
देवकी—१४७
देवप्रासाद—४४४
देवयोनि—२५०
देवलिङ्ग—१११
देवीभागवत—२ टि०, २४१
देव्युपनिषद्—१७१, १७१ टि०, १७२ टि०, २१२
देशचक्र—२२७, २८८ २८९
देहलिङ्ग—२८२
दैशिक—९०
द्रव्य—२४७
द्रुमवन—३६२
द्वारदेवता—२७०
द्विगूढ—९०

ध

धनतेरस—२५०
धम्मपद—२५७, २५७ टि०
धरणी—३५५
धरा—२७१
धरा-चक्र—२७१, ३३८
धर्मकीर्त्ति —१८
धर्मचक्र—२२३, २३२, २४८, २५२ टि०, २५३, २६०, ३२२, ३३७, ४२१, ४३१, ४४१, ४४२, ४४६, ४४८, ४६०, ४६१, ४६४
धर्मचक्र-प्रवर्त्तन—२२, २०१, २५४, २५८, २५६, २६१, २६४
धर्मचक्रमुद्रा—४५४
धर्मराज—२२, ६६
धातुगर्भस्तूपिका—४५८
धूमावती—२३३, २३४, २४०, २४२, ४३६
धृति—४७
ध्यानयोग-समाधि—१५७
ध्रुव—३७४

न

नटराज—२२३, ३२५, २४१, ३४५, ३४६, ३४७, ३४६, ३५२, ४१६, ४२८, ४३०, ४३३, ४३५, ४३६, ४५१
नटराजसहस्रनाम—७५, ७६ टि०, ८० टि०, ८४ टि०, ८६, ८७, १०३
नटेश—२४२
नटेश-गणेश—४३
नटेशमूर्त्ति—१०६
नटेशी—२४२
नटेश्वर—२४१
नटेश्वरी—२४१, २४३ टि०, २७२
नन्द—४६३
नन्दक—७०
नन्दन-वन—३६२
नन्दी—४२८
नन्दीश्वर-वन—३६२
नमनकूलपर्वत—१४१
नरनारायणपुरी—३६२
नरसिंहपुरी—३६२
नर्मदेश्वर—४१८
नल्लस्वामी पिल्लई—३५०
नवनन्दवंश—४६३
नवार्णमन्त्र—१७६
नाग—१७
नागपत्तनम्—४१८
नागासुर—४०२ टि०
नाट्य—६०
नातियुवती—१८६
नाथचरणागम—२४३
नाद—३७, १८३, १६७, २२३, ३५३
नादबिन्दु—५१, १६७, २७१, २८७
नादयोग-समाधि—१५७
नादरूपिणी—१६१
नादान्त—३४७
नाभि—२२६
नाम—१
नारद—१०६, ३२१
नारद-पञ्चरात्र—२०२ टि०, २६७ टि०
नारदोपनिषद्—२६६ टि०
नारायण—२१६
नारायणवर्मा—६५ टि०
नारायणहृदय—५६ टि०
नारायणी—१६१
नालन्दा—८५, २६६, ४४६, ४५२
नालन्दा-म्युजियम—४४६

नालन्दा-विश्वविद्यालय—२६६
नासिक—४३१
निघण्टु—३१५
नित्य इच्छा—२६
नित्यक्रिया—२६
नित्यज्ञान—२६
नित्या—१७१, १८७, १६८, ३६८
नित्यानन्द—२२२, २२७ टि०, २८८ टि०
निदान-कथा—२५६
निधि-कलश—२६१, २७०, ४५८, ४६०
नियति-नृत्य—२४३ टि०
निरञ्जन—२६०
निरामय—३६८
निरुक्त—११८, ३१३, ३१३ टि०, ३१५
निरुक्तकार—२५२ टि०, २८२ टि०
निरुत्तर-तन्त्र—१६४ टि०
निरुपाधि—१८१, १८६, १६०
निर्ऋति—१७३
निर्गुण—२
निर्गुणा—३७७
निर्घृणी—४८
निर्णयसागर—४ टि०
निर्णयसार—३०१ टि०
निर्वाणकलिका—२५० टि०, २५१ टि०
निर्विकल्प-तत्त्व—१६०
निर्विकल्प-समाधि—१८१, ४११
निर्विषय—८
निवृत्तिद्वार—२७०
निशुम्भ—१७३, १७८, १७६
निष्कल—३४८
निष्कल-ब्रह्म—१६७
निहार्ई—३०२ टि०
नीलकण्ठ—२, १२ टि०, ८१, ३०६
नीलपर्वत—२८६, ३६३
नीलमतपुराण—१०७
नीललोहित—१०४
नीलसरस्वती—२०४
नीला—२०३
नुति—४७
नृत्त—६०
नृसिंह—२८४, ४१८
नेत्रमोक्ष—२८०
नेमिनाथ—२५०, ४४१
नेमिनाथचरित—२५० टि०
नऋत—१७३
नैऋतलिङ्ग—१११
नैपाल—४३६, ४४६, ४५०, ४६२
नैरात्म—४४०
न्यायकारिका—२१२ टि०
न्यायमुक्तावली—१२ टि०
न्यासक्रिया—२६३, २६४
न्यूरेलिया—१४०, १४१

प

पञ्चतन्त्र—६५
पञ्चतन्मात्रा—२१६, २१७
पञ्चदशीस्तव—२४१, २४२
पञ्चप्रेत—२०६, २१४, २१५
पञ्चप्रेतासीना—२१४
पञ्चबाण—१६६, २१७, २२०
पञ्चबीजाकार—२२१
पञ्चब्रह्म—२०६, २१३, २१४, २१६
पञ्चब्रह्मस्वरूपिणी—२१४
पञ्चमहाशव—२२८
पञ्चरुद्र—२०६
पञ्चविंश ब्राह्मण—१०
पञ्चाक्षर—३५०
पञ्चाशत्पीठरूपिणी—२८८
पञ्चाशद्वर्णरूपधृक्—७७
पटना-म्युजियम—४१६, ४१७, ४१६, ४२३, ४४७, ४४८, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८

पटना-संग्रहालय—२६६
पणि—३२८, ३३३, ३३४, ३३५, ३४०
पथप्रदर्शक—२५७
पद्मनाभ—२६६
पद्मपाणि—२६६
पद्मपीठ—११५
पद्ममाल—६, ७७
पद्मा—३६०
पम्पिआई—१२०
पर (कारण)—८, ६३, १८३, २२०
परब्रह्म—१८१, २५२, २५८
परब्रह्मरूप—३६
परमतत्त्व—१८६, १६०, २५५, २५८
परमपुरुष—२७८, २८०, २८१, २६५
परममोक्षदा—१६०
परमशिव—८, २०६, २१०, २४७
परमशिव-सहस्रार—२७६
परमहंसी—३६३
परमा—३६१
परमाकाश—३, ३६८
परमात्मोपनिषद्—६१ टि०
परमात्मिकोपनिषद्—१० टि०, ५८ टि०, ७३ टि०, १२५ टि०
परमानन्द-ताण्डव—६०
परमार्थविद्या—२६७
परमाशक्ति—८
परमेशानी—१६०, २१३, २१५
परमेष्ठी—३
परशिव—८, २१४
परशु—७६
परा—४८, १८३, १८६, १६८, २२८, २३३, २४६, ३०३, ३६८
पराजिता—४००
परानन्दा—३६१
परापरत्व—१५
परा-पश्यन्ती—८
पराशक्ति—८, २६, ११७, ११८, १५२, १७२, १७४, १८४, १६०, २००, २०७, २२१ टि०, २२२, २३०, २३३, २३४, २४३, २४४, २४५, २४७, २६६, ३२ टि०, ४३७
परिणाम—२६०
परिणामप्रदायिनी—१५
परिभ्रमण-ताण्डव—६०
परेश—३६
पलाशवन—३६२
पवनजय—१४५
पशुपति—८०, ३२६
पशुपतिनाथ—२८६
पश्यन्ती—३३६
पाञ्चजन्य—७०
पाञ्चरात्रतन्त्र—१६
पाणि—३२०
पाताल-लङ्का—१४४, १४५
पार्थिवलिङ्ग—१११
पार्वती—२४०, २६६, ४०२ टि०, ४२४
पार्श्वदेव—४४२
पार्श्वदेवता—२५८, २६१, २७०
पार्ष्णि—१२६
पाश—७५, ७६
पिण्डवायु—२४४
पितृ-ऋण—२६१
पिशाच-विवाह—१४३
पीठललित—२२८
पुण्डरीकाक्ष—७१
पुण्ड्रेक्षु—१६८
पुर—२१०, २११
पुरश्चरण—२६५
पुरश्चर्यार्णव—१८०टि०, २०७टि०, २३८टि०, २३६टि०, २६५टि०, २६७टि०, ४३०, ४३५, ४३६, ४३८

पुरातत्त्व-संग्रहालय—४६१
पुरुषबोधिनी—३६३
पुरुषबोधिनी परमहंसी—३६१, ३६२
पुरुषसूक्त—१४६ टि०, १५८, २६०
पुलियनखा—१४१
पुलस्त्य—१४१, १४२
पुलस्त्यनगर—१४१
पुष्करतीर्थ—३२७
पुष्करबीजकोष—४२७
पुष्पगण्डिका—६०, २४०
पुष्पदन्त—८२, ८३, ६५
पुष्पपञ्चक—२२०
पूजाचक्र—२२७
पूर्वचतुःशतीशास्त्र—२१७
पूर्वमीमांसादर्शन—२० टि०
पेरियापस—११८
पेरूर—४२६
पैप्पलादि—३७३
पोलुन्नारुव—४३०
पोलोन्नारुव—६०, ४२४, ४२५, ४२६
पंजर—२७०
प्रकाश—१८०, १८१, २०६
प्रकृति-विकृति—१६
प्रचण्डचण्डिका—४३६
प्रचण्ड-ताण्डव—६०
प्रच्छेदक—६०, २४०
प्रजापति-विद्या—२७६
प्रज्ञा (पञ्ञा)—२५६, २५७
प्रज्ञात्मा—२७६
प्रज्ञापारमिता—२६६, ४५३
प्रणव—१६८, २२७, ३५३
प्रतापसिंह—१८०, ४३५
प्रतिमा (बौद्ध)—२५८
प्रतिमा लक्षण—८२ टि०
प्रतिष्ठाद्वार—२७०
प्रतिष्ठासार-संग्रह—२४६ टि०, २५२ टि०
प्रतिष्ठासारोद्धार—२५३ टि०
प्रतीक-बिन्दु—२७३
प्रतीत्यसमुत्पाद—२५६
प्रत्ययहीन—८
प्रत्यालीढ-मुद्रा—२०५
प्रत्युक्त—६०
प्रत्यंगिरा—४४६
प्रदोषस्तोत्र—८४ टि०
प्रद्युम्न—२१६
प्रधानात्मा—५५
प्रपञ्च—१८०, १६६, २०५
प्रपञ्चविद्या—२६७
प्रपञ्चसारतन्त्र—१६६ टि०, २०७ टि०
प्रमाता—१५
प्रमोदकुमार चट्टोपाध्याय—४०२
प्रवचनसारोद्धार—२५२ टि०
प्रसेनजित्-स्तम्भ—४४५
प्रह्लाद—७१
प्राइप—११८
प्राकृतिक रहस्य—४४ टि०
प्राज्ञ—८
प्राणतोष (षि) णी (बंगाक्षर, कलकत्ता)—१०८ टि०, १११ टि०, १८४ टि० १८५ टि०, २०२ टि०, २३७ टि०, २६७
प्राणशक्ति—२८२
प्रासाद—३६३
प्रासादपुरुष—२२२ टि०, २६६, २७१, २७४, २८०, २८१, २८२, २६५, ३३८, ४२७, ४३३, ४३४, ४३८, ४६२
प्रिय—१
प्रीति—१६८
प्रेमानन्दा—३६१

प्रेरणा—१६
प्लेक्सस—२४४
प्रौढनर्त्तनलम्पट—८३

फ

फट्—२६५
फरगुसन—४६३
फसाइनम—११८
फौन श्रोडर—३०६

ब

बगला—१८०, २३४, २३५, २४२
बगलामुखी—२३३, २३४, ३००
बगलाशतनाम—२३५
बगलास्तव—२३५
बटुक—१०१
बटुकनाथ—१०१
बन्दरवेला—१४०
बन्धुसिंह—४३७
बर्दमान—४३३
बर्लिन-म्युजियम—४४३, ४४६, ४५३
बल—३१६, ३२१, ३२४, ३२६
बलराम—१५०, ४२०, ४५७
बलूचिस्तान—३११
बहिर्याग—१८२
बहुरूपाष्टक-तन्त्र—११३
बह्वृचोपनिषद्—१
बाणभट्ट—११७
बाणलिङ्ग—१०६
बाणाक्षर—२२१
बालरूप—१००
बालशङ्कर—४३०
बालात्रिपुरा—२४०
बाली—१४४
बाह्यस्थान—१८२
बिन्दु—३७, १७६, १८३, २२२, २२३, २२८, २३२, २४३ टि०, २६६, २६७, ४२५
बिन्दुतीर्थ—३२६
बिन्दुत्रय—३०
बिन्दुत्रयात्मक—३०
बिन्दुपीठ—२८६, ४५७
बिन्दुस्थान—२६४
बीज—६ टि०, ४७, २२३, २४४, २६४
बीजपूर—२५०, २५३, २५३ टि०
बीजापुर—२६६, ४६४
बी० सी० भट्टाचार्य—२५२ टि०, २५३ टि०
बुद्ध—४७, ७१, ६६, १३१, २३२, २४७, २४८, २५३, २५४, २५५, २५७, २५८, २५६, २६५, ३२६, ३३७, ४१६, ४३१, ४३८, ४४१, ४४२, ४४६, ४५०, ४५२, ४५७, ४६०
बुद्धचरित—२५४ टि०
बुद्धिष्ट आर्ट इन इण्डिया—२५६ टि०, ४४८
बुद्धिष्ट इकोनोग्राफी—४४८
बुधकपाल—४५०
बृहत्—१६३ टि०
बृहत्पाराशरस्मृति—३५ टि०
बृहत्संहिता—२७४ टि०
बृहती—१०
बृहदारण्यक—६ टि०, २७५ टि०, २७६ टि०
बृहदारण्यकोपनिषद्—१ टि०, १० टि०, ४४ टि०, ४८ टि०, ७२ टि०, ८८ टि०, १६१ टि०, २७६ टि०
बृहद्देवता—३१३ टि०
बृहद्धर्मपुराण—८०
बृहन्नारदीय—३४ टि०
बृहन्नीलतन्त्र—१६१ टि०, १६३ टि०
बृहस्पति—१०, ३१६, ३२१ टि०, ३२४, ३३०, ३३४

बैन्दवबिन्दुचक्र—२२८
बैन्दवसिंह—२२८
बोधगया—२५३ टि०, २६६, ४२३, ४६२
बोधलिङ्ग—१०७, १११, २८२, २८३
बोधिद्रुम—२५४, ४४५
बोधिप्राप्ति—२५६
बोधिसत्त्व—२३२, २६०, २६६, ४२०, ४४६
४४८, ४५२
बोरोबुदुर—२६५, ४३६, ४५६
बोस्टन—३४५
बौद्धत्रिरत्न—४४३
बौद्ध धर्म के पच्चीस सौ वर्ष—२५५ टि०,
२५६ टि०,
२५७ टि०,
बौद्धधर्म-दर्शन—१८
बौद्धस्तम्भ—२६४
बौधायन गृह्यसूत्र—११८
बौंसी—४३२
ब्रह्म एण्ड बुद्ध—२५२ टि०
ब्रह्मगोविन्द—३५५ टि०
ब्रह्मणस्पति—१०, ३२४
ब्रह्मपद्म—२६१
ब्रह्मपुराण—३२ टि०, ३४ टि०, ४३ टि०,
५६ टि०, ५७ टि०, ६३ टि०,
६६ टि०, ७२ टि०, ६२ टि०,
१२०
ब्रह्मबिन्दु—२२७
ब्रह्मभूत—२५५
ब्रह्ममन्त्र—१८५
ब्रह्ममाया—१०६
ब्रह्मलिङ्ग—१६५, २३२
ब्रह्मविज्ञान—२५६
ब्रह्मविद्या—१८०, १८३, २१६, २२७,
२२८, २५४, २५५, २५८,
३११, ३१६,
ब्रह्मशक्ति—१७६, २८७
ब्रह्मशिव—३५५ टि०
ब्रह्मसंहिता—५६ टि०, ६७ टि०, ६७ टि०,
१५१ टि०, १५४ टि०
ब्रह्मसूत्र—१०३ टि०, १११ टि०, २६५
ब्रह्मस्तम्भ—२६१
ब्रह्मा—३४६,४२८
ब्रह्माण्डकालिका—४०१
ब्रह्मानन्द—३
ब्राह्मी—११, ४३, ४४, ३२७
ब्रिटिश म्युजियम (लन्दन)—४४३

भ

भक्तियोग-समाधि—१५७
भगवती—३६८
भगवती लक्ष्मी—३४६
भगवत्पत्नी—३६८
भगवान् कृष्ण—४३४
भगवान् बुद्ध—२२,२४
भङ्गिनाट्य—६०
भण्ड—१८६, ३६८
भण्डिका—१८६, ३६८
भण्डी—१८६, ३६८
भण्डीश्वर—४३३
भद्र—३६२
भद्रकाली—१८६, २४०, ३६८, ४२७
भद्रपीठ—११५
भद्रा—३६०, ३६८
भरद्वाज—१२३
भरहुत—५३, २६०, ४४५
भर्ग—१६६
भर्तृहरिशतक—३ टि०
भवा—४८
भव्य—६
भागलपुर—४३२

भागवतपुराण—२५२
भाण्डीर—१५०, ३६२
भाण्डीरवट—३६५, ३६६
भाण्डीरवन—३६२, ३६५
भाति—१
भानुजीदीक्षित—१८, ३१६ टि०
भारत-भारती—८६
भारत-सावित्री—४५६
भारती—३२६
भार्गवी—३६३
भावना-चक्र—२८८
भावनोपनिषद्—४० टि०, २२०, २२०टि०, २२२
भावोपनिषद्—२८२ टि०
भास्करभाष्य—१८१ टि०
भास्करराज-भाष्य—२२० टि०
भास्करराय—४६ टि०, १८१ १८१ टि०
भीटा—११६
भुज्यवन—३६२
भुवन-मण्डल—४२८
भुवनेश्वर—१२२, ३४६
भुवनेश्वरी—१३३, १८० २३५
भुवनेश्वरी-संहिता—१७ टि०
भुवनेश्वरी-स्तोत्र—२३६
भूत—६
भूतत्त्व—२४५
भूतपञ्चक—२१६
भूतमाला—६३
भूतविद्या—१७०
भूतात्मा—५५
भूपुर—२२४, २२५, २२८, ४२३, ४२५, ४३३, ४४७, ४४८, ४५५
भूबिम्ब—२२८
भूमारा—४३१
भूमिस्पर्श-मुद्रा—४४३
भृगु—३३३, ३३५
भृगुलता—२२३, १३२
भेदा—३६८
भैरव—२४२, २६६, ३४६, ३६६
भैरवतन्त्र—१८७
भैरवयामल—२०० टि०, २१०, २१३
भैरवी—१८०, १६१, २३६, २३७, २४२, ३००, ३६६
भैरवी-चक्र—२५३
भोगिनी—२३०, २३१, २३२
भ्रमरगीत—३६६ टि०
भ्रमरायितनाट्य—६०
भ्रामरीनाद—१५८

म

मकरध्वज—१६६
मञ्जरी—२७२, २७४
मञ्जुश्री—२६६, ४५३
मञ्जुश्रीबुद्ध—१६५
मणिद्वीप—२१०, २११
मणिपीठ—३६०
मणिपूर—२६३, ४११, ४६६
मणिमण्डप—२३४, ३६३
मणिघर—४५७
मतङ्ग—२२८
मति—४७
मत्स्यपुराण—५१, १०७, १६७ टि०,
मथुरावन—३६२
मदनसुन्दरी—३६०
मदशक्ति—१६८
मदुरा—४१८
मद्रास—४३३
मद्रास-म्युजियम—४२४, ४२७
मधुकर—४५१
मधु-कैटभ—१७३, १७८, ३२१, ३२६

मधुवन—३६२
मध्यकर्णिका—४३०
मध्यबिन्दु—२२५, २८८
मध्यबिन्दुस्थान—२८६
मनार—१३६
मनु—२०, १४३
मनु-शतरूपा—१२३
मनुस्मृति—२० टि०, १४३ टि०
मनोलयावस्था—२११
मनोहरा—३६१
मन्त्रचैतन्य—२४५ टि०
मन्त्रमहोदधि—६६
मन्त्रराज—१८२ टि०
मन्दोदरी—१३५
मन्मथ—१६६
मयूरवाहन—२४६
मयूरवाहिनी विद्यादेवी—२५१
मयूरेश—३६
मयूरेश्वरस्तोत्र—३६ टि०
मरीची—३७४
मर्द्दिनी देवी—१६८
महत्—१३
महत्तत्त्व—१०६
महाकल्प—२४२
महाकाल—४७, १०५, १८४, १८८, १८६, १६०, १६४, १६६ टि०, २३२, ३७३, ३७७, ४०२ टि०, ४४६
महाकालसंहिता—२६८, २६६, ३७७
महाकालस्तव—१८६
महाकाली—१७, १७७, १७७ टि०, १६०, १६७, ४२६, ४४६,
महाताण्डव—६०, २०१, २४२
म.ताण्डवसाक्षिणी—२४१
महाताल—३६२
महात्मागांधी—३२६
महात्रिपुरसुन्दरी—२१३, २६६, ४५३
महादेव—२६६, ४६१
महाधेनु—४४
महानटलम्पट—८३
महानिदेश—२५४ टि०
महानिर्वाणतन्त्र—१८४, १६३ टि०, २६१, २६३, ४४६
महापरिनिर्वाण—२५३ टि०, २६१, २६४
महापुरुष—२४७, २४८
महाप्रलय—६०
महाप्रेत—२१५
महाप्रेतपद्मासन—१८६
महाभारत—११० टि०, १६१, १६३
महाभैरव—४५१
महाभिनिष्क्रमण—६६, २६१, २६४
महमूद गजनवी—२६६, ४४५ ४६४
महामाया—१७४, १८६, १६०, २३५, २८६, ३४८
महामोह—८२, १७३
महायान—२६६
महायोनि—२८६
महायोनि-चक्र—२२६
महारम्भ—२३०
महारस—१५२
महाराजा जयाजीराव सिंधिया—४६२
महारात्रि—३१८
महारास—२०१, २४२
महारुद्रहनुमान—२८४
महालक्ष्मी—१७६, १७७, १८६, १६३
महावन—३६२, ३६५
महावलीपुरम्—४३५
महावाणी—४४
महावसिष्ठ—२४१, २४२
महाविद्या—४४, १८०, १८३, २०७, २३८, २४६, २६६, ३००

महाविष्णु—६७, १५२
महावीर—४४१
महावैष्णवी—२९९
महाशक्ति—१७३, १७७, १७७ टि०, १८९, १९१, १९३, २३०, २३३, २३५, २३६, २८४, २८९
महाशव—१८९
महाशून्य—२७७
महाश्यामा—३००
महाश्री—१८६
महासदाशिव—४२७
महासरस्वती—१७७, १९३, २६६ ३२० टि०, ३२१ टि०, ४५३
महासागर—१८६
महासितवती—४५६
महासुन्दरी—२९९
महास्वच्छन्दसंग्रह—२१८, २१९
महिम्नस्तोत्र—२९ टि०, ३०
महिष—१७३
महिषमर्दिनी—४३६
महिषासुर—१७२, १७३, १७४, १७८, ४३५
महिषासुरमर्दिनी—१७३
मही—३२६
महेल—४४१
महेन्द्र—१४५, २१३
महेश—४३०
महेशान—२१३, २१५
महेश्वर—६, ९, ७०, ७६, १५२, १६४, २०१, २०८, २४२, ३३७
महेश्वरी—१८६, २००, २९९, ३०६, ३६८
महोग्रताण्डव—९०
महोग्रा—२०३
माडेयूर—४२६
मातङ्गिनी—१८०, २६८
मातङ्गी—१८०, २३७, २३८, २४०, ३००
मातङ्गीशतनाम—२४०
मातुलुङ्ग—२५३ टि०
मातृका—८, ६२, ८२, १९४, २००
मातृकाकोष—२९० टि०
मातृकावर्ण—२४४
मातृकाविवेक—१८१ टि०
मात्रा—१९८
मात्रार्धतत्त्व—४७
मानसरामायण—१२९, १३० टि०, १३१ टि०, १३२, १६१ टि०
मानसार—२६१
माया—२३३
मायाचक्र—२२३, ४२५
मायादेवी—२५३, २६४, ४३९
मायाविनी—२३१
मायी—६
मार—१९५, ३२१
मारीच—१३२
मारीचि—४५२, ४५६
मारुतिमलाइ—१४१
मार्कण्डेय—४३२, ४३३
मार्कण्डेयपुराण—१५, ३२ टि०, १७६, २१६ टि०
माली—१४४
माल्यवान—१४४
मास्केल—३०७
माहिष्मती—३३९
मिथुनप्रतीक—२७३
मिथुनविद्या—२७६, २७९
मीनकेतु—१६९
मीनाक्षी—२८६

मीमांसक—१७२ ३०१
मीरा—३६६ टि०
मुखलिङ्ग—४३१
मुण्ड—१३१, १७७
मुण्डमाल—९, १९४, २०५, २०५ टि०
मुण्डमाला—२१२, २३६
मुण्डमाला-तन्त्र—२९९, ३००
मुद्रा—७५
मुद्राक्षर—२२१
मुद्राराक्षस—४३ टि०
मुद्राषष्ठ—२२१, २२२
मुयलक—३४६ ३४७, ३४८, ३५०
मुरतजीगंज—४२३
मुष्टिक—१५०
मुहम्मद—२६८
मुहम्मद आदिलशाह—२६९
मुहम्मदशाह—४६४
मूर—४१५, ४२०, ४३७
मूलकोश - २२५, २२७
मूलप्रकृति—१०६, १२५, ४२५, ४२६
मूलमंजरी—२७०
मूलविद्या—२२८, २८८
मूलशिखर—२७०
मूलशृंग—२७०
मूलस्तम्भ—५०, २६१, २६४, २७०, ३५६
मूलाधार—३९, १८० टि०, २४४, २४६, २६३, २६४, २९५, ३३८, ४११, ४६५, ४६६
मूलाधार-चक्र २४४
मूलावस्था—६
मृकण्डु—४३२
मृग—७५
मृगधर—७५
मृडानीपति—८४, ३४६
मृणालधवल—७८
मेखला—२८७, २८८
मेघदूत—३८२ टि०, ४०२ टि०
मेघनाद—१४६
मेदिनी—२४३ टि०, ३०७ टि०
मेदिनीकोषकार—१०३, १२२
मेधाऋषि—१७०
मेरीडियन—११
मेरुदण्ड—२४४
मेहन—१२२
मैक्समूलर—३०९, ३११
मैत्रेय—२६७
मैत्रेयबुद्ध—४५३
मैथिलीशरण गुप्त—८६
मैसूर—२६९
मोहनजोदड़ो—१२०, ३११, ३२६, ४२५, ४४४, ४४५
मोहपुरुष—११९
मोहरात्रि—३१८, ३३८
मौञ्जायनी—३७३
मौद्गल्यायन—२६६

य

यक्षगोमुख—२५२
यक्षिणी—२५०
यक्षिणी-चक्रेश्वरी—२५२
यजुर्वेद—७२ टि०, १२०, ३१०
यजुः—२९०
यज्ञपुरुष—२५२
यज्ञवैभवखण्ड—२१५
यज्ञसूत्र—२८९
यम—१७३
यमपुरी—३६२
यमुना—३६३
यवयुम—२७४ टि०, ४४९, ४५०
यशोदा—३५६, ३६१

यशोधरा—२५३
याज्ञवल्क्य—२७५
यामल—३०१, ३०५
यामिनी—४८
याम्यलिङ्ग—१११
यायी—३७४
यास्क—३१३, ३१५
यीसुख्रिस्त—१६१
युधिष्ठिर—१४७
योगचूडामण्युपनिषद्—१०८ टि०
योगनन्दा—३६१
योगपीठ—३६१
योगमुद्रा—२५६
योगवासिष्ठ—१५, १११ टि०, ११२ टि०, १६० टि०, १६३ टि०, १६४ टि० २१७, २१६, ३०१, ३०१ टि० ३१८, ३७८ टि०, ३८२ टि०
योगशास्त्र—५६ टि०, ६७ टि०, १६६ टि०
योगाचार—२५६
योगासन—४२७, ४२६
योगिनी—२३१, २३२
योगिनी-तन्त्र—१६५ टि०
योनिचक्र—२३०
योनिमुद्रा—२३०, २३१, २८०, २८२
यौवत—२४०

र

रक्तकाली—१६१
रक्तबीज—१७८, ३२१ टि०, ४३७
रक्तवर्ण—१६१
रघुवंश—३८१ टि०
रति—१६८, ४५१
रत्नदीप—२११
रत्नश्रवा—१४४
रससाक्षी—३६६
रसानन्द-समाधि—१५७, १५८
रसिकानन्द—३६६
राक्षस-विवाह—४३
राखालदास बन्द्योपाध्याय—११६, ४३४
राजगृह—२५३
राजदन्त—१६०
राजबाड़ी-मठ—४३३
राजमातङ्गिनी—२३८
राजयोग-समाधि—१५७
राधाकुण्ड—३६१
राधाकृष्ण—४५१
राधाकृष्णन्—७, २५५ टि०
राधातन्त्र—६२, २०५ टि०, २०६ टि०, २१४ टि०, २१६ टि०, २८८ टि०,
राधिका—३६२, ३६६
राधोपनिषद्—६७ टि०, ३५७, ३६०
रामचरितमानस—६६ टि०, ६८ टि०, ७१ टि०
रामपञ्चायतन—१२६
रामपुरवा ४६१
रामपुरी—३६२
रामपूर्वतापिन्युपनिषद्—१२८ टि०, १२६ टि०
रामरहस्योपनिषद्—१३०
रामराज—२६१, २६२ टि०
रामानुज—७
रामायण—१२३, ३२६
रामेश्वर—१३६
रामोपनिषद्—३००
रावण ११८, १२३, १२५, १३१, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १४०, १४३, १४५, १६१ टि०, १७७ टि०, ३२१, ४३७
रासवन—३६२
राहुल—२५३
रुक्मिणी—४३५

रुद्रकण्ठ—२६१, २६५, ४६१
रुद्रयामल—२९८, ३००
रुद्रशिवस्तम्भ – २६१
रुद्राक्षस्रङ्मयाकल्प—७७
रुद्राभिषेक—१२०
रूप—१
रूपबिन्दु – २८७
रेच्या—४८
रोहिणीकुण्ड –३६२
रौद्रलिङ्ग – १११
रौद्री—१९९

ल

लक्ष्मण—१२५
लक्ष्मी—१७५, १७९, २३२, ३५५
लक्ष्मीतन्त्र—३६७
लक्ष्मीधर—२११ टि०
लक्ष्मीविद्या—२३८
लक्ष्य – २
लखनऊ-म्युजियम—४३४
लखनऊ-संग्रहालय—४१९
लङ्का – १४०, १४२, १४४, २६४, २८८
लङ्काराम – २६४, २६५
लता—२७०
लदाख—४५०
लयसिद्धियोग-समाधि – १५७, १५८
ललिता—२१०, २१९, ३६०, ३६२
ललिताम्बा—२३९, २८८
ललितासहस्रनाम—३४ टि०, ४९ टि०, ५१ टि०, १०८ टि०, १०९ टि०, १६५ टि०, १७० टि०, १७२ टि०, १८१ टि०, १९५ टि०, १९६ टि०, २०६ टि०, २०७ टि०, २१०, २१० टि०, २११ टि०, २१३ टि०, २१५ टि०, २१६ टि०, २१७ टि०, २२२, २४१ टि०, २४३ टि०, २४६ टि०, २८८, २८८ टि०, २९० टि०, २९७ टि०
ललितास्तवरत्न—२१२, २१३
लवङ्ग—३६१
लाइडेन—४३६, ४५३
लाकरहित—३५६
लिङ्गपुराण—७९, १०७ टि०, १०९ टि०, १२०, ११५, २१६
लिङ्गवेदी—१०९
लिङ्गाष्टक (स्तोत्र)—११० टि०, ३५४
लियोपोल्ड फौन श्रोडर—३०९
लुसियन—३४५
लोक—३५६
लोपामुद्रा—२१३
लोहवन—३६५
लौरिया-टंगाई—४४८, ४५८
लोह—३६२

व

वकासुर—१५०
वकुलवन—३६५
वज्र—२४७
वज्रधारा – ४५७
वज्रपाणि—२६६
वज्रपीठ – ११६ टि०
वज्रवैरोचनी (छिन्नमस्ता)—२२७ टि०, २३२, ४३९
वटुक—२४०
वरदमुद्रा—४० ४९ टि०, १७३, २५०, २५३, २५९, ४१७, ४२५, ४३४, ४३७, ४५४, ४५६
वरदहस्त—२६६, ४४८

वर्णिनी—२३१, २३२
वशिनी—२२७
वषट्कार—४४, १६३, १७१ टि०
वसन्तपञ्चमी—२४८
वसिष्ठ—१२५, ३८१, ३९३, ३९८, ३९९, ४००, ४०१
वसु—३५३
वसुधारा—४५४
वसुनन्दी—२४९ टि०, २५३ टि०
वसुमती प्रेस (कलकत्ता)—५९ टि०, ९७ टि०, १५१ टि०, १५५ टि०, १६६ टि०,
वह्नि-बीज—२८७ टि०
वाक्—९, २४५, ३३०
वाग्देवी—१६५, १८९
वानप्रस्थाश्रम—२९१
वामकेश्वर-तन्त्र—१९९ टि०, २१७, २१९
वामदेव—७६, ११, १२४, ३२२, ३५३
वामा—१९९
वामाशक्ति—२२७
वायु—१४२
वायुपुराण—६ टि०, ३३ टि०, ३४ टि०, ४३ टि०, ५५ टि०, ५८ टि०, ६१ टि०, ७२ टि०, ७४ टि०, ९३ टि०, १०५ टि०, १०७, २६५, ३८१ टि०
वायुलिङ्ग—१११
वाराहपुराण—७७ टि०, ८२, २५२
वाराहविनायक—४१८
वाराहीतन्त्र—२०७ टि०
वारुणलिङ्ग—१११
वाल्मीकि—१२३, १४७
वाल्मीकि-रामायण—१३३, १३४, १३६ टि०, १३७ टि०, १३९ टि०, १४० टि०, १४२ टि०, १४३ टि०, १४४, १४६
वासुदेव—६३, २१६
वासुदेव-गोविन्द—१४६
वास्तुपुरुष—२८१
वास्तुपुरुष-मण्डल—२६९, २७०
वास्तोष्पति—२८१
वाहनरहस्य—१७४
विक्टोरिया-अलबर्ट-म्युजियम (लन्दन)—४३९
विजय—३२८
विदिशा—४६१
विद्याकूट—२४३ टि०
विद्याद्वार—२७०
विद्याधर—३७४
विद्याधर-देश—१४४
विद्यापति—८८, ९७, २७८, ३६६ टि०
विनयतोष भट्टाचार्य—४४०, ४४२, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५६, ४५७
विनयपत्रिका—२८२ टि०
विनायक—२६६
विन्टरनिट्त्स—३०९, ३२८
विन्सेंट स्मिथ—३०७
विभीषण—१३४, १३७, १४१, ३१८
विभु—१५०, १६९
विभुशक्ति—२६४, ३१९
विमर्श—१८०, १८१, २०९, २३६
विमला—३६२, ३६३
विरञ्चि-नारायण—१६४
विरूपाक्ष—२६६
विवर्त्तना—२६०
विवर्त्तित जगज्जाल—१५
विशाला—३६०
विशुद्ध—४११
विशुद्ध-चक्र—२६३
विश्वकर्मा—४१५, ४२४, ४२९, ४३१, ४३६, ४४३, ४५३

विश्वकोष—२१०
विश्वप्रपञ्च—२२५, २३१
विश्वरूप-परमपुरुष—२६६
विश्वा—४८
विष्णु—४२०, ४२१, ४२६, ४२८, ४३२, ४४६, ४५२
विष्णुचक्र—२५३
विष्णुधर्मोत्तर—१६८ टि०
विष्णुपुर—४५३
विष्णुपुराण—१३ टि०, १५, ५४ टि०, ५५ टि०, ५८ टि०, ६२ टि०, ६३ टि०, ६५ टि०, ६७ टि०, ७४ टि०, ८१ टि०, ८२, ६१ टि०, ६७ टि०, २८६, ३०४, ३०५ टि०
विष्णुभुजङ्ग-प्रयात-स्तोत्र—५४ टि०
विष्णुयोनि—२२८
विष्णुरहस्य—६३ टि०
विष्णुलिङ्ग—१६५
विष्णुस्तम्भ—२६१
विसूवियस—१२०
वीरभद्र—३४६
वीरभूमि—४३३
वृगलविद्या—२७६
वृत्त—३३३
वृत्र—३२०, ३२१, ३२६, ३३०, ३३३, ३४०, ४३६
वृत्रहन्ता—३१६
वृन्दा—३६१, ३६६
वृन्दादेवी
वृन्दावन—३६३, ३६५
वृषभध्वज—२३३
वृषभनाथ—२५२
वृषभानुवन—३६२
वेणुकोष—२७०, २७२
वेणुगात—१४४ टि०
वेणुरन्ध्र—२००
वेदमार्गी—४४
वेदमृग-कथा—७६
वेदव्यास—६, २१
वेदान्तसूत्र—३, १०२ टि०, १०३, २८३ टि०
वेदारण्य—४१७
वेलान्धपुर—१४५ १४६
वेस्ट्रौप—११८
वैकृतिरहस्य—१७४ टि०
वैखरी—१६६
वैजयन्ती—६२, ६३, ७०, २१२
वैजयन्तीमाला—७७
वैजयन्ती-तन्त्र—१५५ टि०, ३०२, ३०३ टि०
वैठिश्वरं कोयिल—४२७
वैद्यनाथधाम—११८
वैशाली—४६०
वैशेषिक—२४८
वैशेषिक-दर्शन २० टि०
वैशेषिक-सूत्र—११ टि०, १२ टि०, १८ टि०
वैष्णवलिङ्ग—१११
वैष्णवी—२६७
वौषट्—२६५
वंगीय साहित्य-परिषद्—४४०
वंशीवट—३६५, ३६६
व्याकृत—३०
व्याख्या-सुधा—१८
व्यासदेव—२८६, ४५६
व्याहृति—४
व्योमकेश—७२
व्रजेश्वरी—३६६
व्रत—६

श

शक्ति—३७, १६८
शक्तिबिन्दु—२८६
शक्तिमहिम्नःस्तोत्र—३० टि०, ४३६

शक्तियोनि—२८७
शक्तियंत्र—३६० टि०
शक्तिसंगम—१८० टि०, २६८
शक्रपुरी—३६२
शङ्कर—२४७, ४३०
शङ्कराचार्य—६८ टि०, २१२, २२२, ३४१, ३५५
शङ्खासुर—३५
शतपथ-ब्राह्मण—१०
शतमन्यु—२६६
शतरुद्रिय—१२०
शबरी—१३२
शम्भवनाथ—२५१
शयन—२५८
शरभ—१०१, ४३०, ४५२
शशिरेखा—३६१
शाक्तगुरुपादुका—४५५
शाक्तप्रमोद (बम्बई)—७६ टि०, १६० टि०, २०३ टि०
शाक्तानन्दतरङ्गिणी—३०६, ३०६ टि०
शाक्यमुनि—२६७
शाङ्करभाष्य—३ टि०
शान्तिद्वार—२७०
शारदातिलक—३१ टि०, १६७ टि०
शार्ङ्ग धनुष—७०
शालग्राम—४१८
शालग्रामस्तोत्र—५७ टि०
शिखामन्त्र—२६४
शिरोमन्त्र—२६४
शिल्परत्न—११३ टि०, १६८ टि०
शिव—२४२, २४४, २४८, २५३, ३२६, ४२६, ४२८
शिवकवचस्तोत्र—७६ टि०
शिवतत्त्व—२४७
शिवतीर्थ—३२७
शिवनन्दनसहाय—१४१
शिवनाभिलिङ्ग—१११
शिवधर्मोत्तर—१६५ टि०
शिवपञ्चाक्षरस्तोत्र—७३ टि०
शिवपुराण—१०७
शिवप्रदोषस्तोत्र—३४६
शिवमहिम्नःस्तोत्र—८२ टि०, ८३ टि०, ६५ टि०, ४३२
शिवमानसपूजा—३६
शिवयुवति—२२५
शिवयोनि—२८७
शिवरक्षास्तोत्र—७४ टि०
शिवलिङ्ग—१७६, २१०, २२२, २२३, २२४, २३२, २६४, २६५
शिवशक्ति—२७४
शिवसहस्रनाम—७६
शिवा—१८८, २३०, २४२
शिवात्मक-महामञ्च—२१३
शिवोपनिषद्—१०५ टि०, ११३ टि०
शिशुपाल—१३१, १४३, ३२१
शील—२५६, २५७
शुक्लयजुर्वेद—१ टि०, ६४ टि०, २७२, ३०६, ३०६ टि०
शुद्धविद्या—२१३
शुद्धा—३६१
शुद्धोदन—२५३
शुनी—३३१
शुम्भ—१७३, १७८, १७६, ३२१
शुम्भ-निशुम्भ—१३१, ३२१, ३२६
शुष्का—४००
शून्यता—१८१, १६०, १६१, २२७ टि०, २३४, २४७, २७१
शून्यवाहिनी—१६१
शून्यवाहिनीतारा—१६१
शूलाष्टक—२६६
शृङ्ग—२७०

शेषशायिवन—३६२
शौनकी—३७३
श्मशान—१९०, २३४
श्मशानकाली—२४०
श्याम—३११
श्यामतारा—४५५
श्यामला—३६०
श्यामा—३६६
श्यामाचरण लाहिरी—३२६
श्यामारहस्य—४० टि०, १८७ टि०, १८९ टि०,
श्यामारहस्यतन्त्र—२७९ टि०, २९५ टि०, ३२६ टि० ३२७ टि०
श्रद्धा—३६०
श्री—१८७, २२७ टि०, ३६२, ४५१ ४६२
श्रीकण्ठ—६३, २२५
श्रीकृष्ण—५४ टि०, ५५, १११, १५२
श्रीचक्र—२००, २११, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २३२, २४३, २५९, २६५, २७१, २८७, २८८, २८९, ४५९
श्रीतारा—२९९
श्रीदेवी—६५
श्रीधर—६३
श्रीनगर—८ टि०, २८२ टि०
श्रीमती—३६०
श्रीमदा—३६०
श्रीमद्भागवत—१३ टि०, १४ टि०, १८ टि०, ७८ टि०, १५३ टि०, १५६ टि०, १६० टि०, १६१
श्रीमाता—२०९
श्रीमाधव श्रीहरि अणे—१४०
श्रीयन्त्र—३६० टि०
श्रीलक्ष्मी—४२५, ४२९
श्रीवत्स—२४८, ४४१
श्रीविद्या—२०७, २११, २२२, २२४, २२५, २२८, २३९, २७१, ४३९
श्रीशासन—२६०
श्रीसुन्दरी—२२७, २२८
श्रीसूक्त—६४
श्रीहरिशरणाष्टक—५४ टि०, ३७०
श्रुतदेवी—२४८, २४८ टि०, २४९
श्रुतिमूल—२२७
श्रुतिमूलकोण—२२५
श्रौतमार्ग—२८४
श्वेतपुरी—३६२
श्वेताम्बर—२४९, २५०
श्वेताश्वतरोपनिषद्—६ टि०, १०४ टि०, १६१ टि०

ष

षट्चक्र—२८२, ३३७, ४१०
षट्चक्रनिरूपण—११०, २४३ टि०, २६३, २७१, २८७ टि०, ४४३ टि०
षडक्षरी—४५७
षडल—११५
षष्ठीपूजन—२४९
षोडशकला—२७१
षोडशकोणकण्ठ—२६१
षोडशदल—२६०
ष्ठीवन—२१३

स

सकल—३४८
सत्यधर्मा—१६६
सत्यभामा—१५०, ४३५
सत्यानन्दा—३६१
सदानन्दोपनिषद्—१०४ टि०
सदाशिव—१७४, १८९, २००, २१३, २१ २१६
सदाशुभ—३६५
सद्धर्मपुण्डरीक—२५७
सद्योजात—११७, २१६
सनातना—३६८
सनातनी—१८७
सनातनी तारा—२०७

सप्तपाताल—४११
सप्तर्षि—३७४
सप्तव्याहृति—४१०, ४११
सप्तसिन्धु—३२८
समभङ्ग-मुद्रा—४५५
समरस—१८१, ३६५ टि०
समरस-काल—२८०
समरस घट—२७१
समराङ्गणसूत्रधार—२७४ टि०
समाधि—२५६, २५७
समीकरण—२७८
सम्भवचरित्र—२५१ टि०
सर जॉर्ज बर्डवुड—३०७
सर जॉन उडरफ—७, १६, ५० टि०, २४३ टि०, ३१०
सर पी० रामनाथम्—१४१
सरमा—१९२, १९३, ३२८, ३३१, ३३४
सरविलियम जोन्स—११८
सरस्वती—१७५, १७९, १९२, १९३, २३२, २५३, ३१६, ३२०, ३२३, ३२६, ३३१, ३४६, ३५३, ३६२, ४०१
सरस्वती-पटल—१७९
सरस्वती-बीज—१७९
सरस्वतीरहस्योपनिषद्—१ टि०, ४५ टि०
सरस्वती-स्तव—३२१ टि०
सरस्वती-स्तोत्र—४६ टि०
सर्पेण्ट-पावर—२४३ टि०
सर्वतोभद्र-प्रतिमा—४४२
सर्वाकार—१८७
सर्वाकारा—३६८
सविता—३०१
सव्यताण्डव—९०
सहस्रार—४८, २४४, २४५, २६३, २६४, २६५, ३३७, ३३८, ४११, ४४३ टि०, ४६६
साक्षिणी—३७७
सात्त्विकी—३६१
साधन-वट—३६५
साधनसिद्धा—३६६
साधु-असाधु—१६
साम—२९०
सामरस्य—१८१, १६५, २०२, २१६, २८०
सामरस्योपनिषद्—३६५
सामरहस्योपनिषद्—३६३
सामवेद—३५३
सायण—१२०, २५२ टि०, २७४ टि०, ३११, ३१६
सायणाचार्य—३१५
सारनाथ—२४८, २६०
सारनाथ-म्युजियम—४४९
सारनाथ-शिखर—२६१, ४६१
सावित्री—२९३, ४०१
सावित्रीपञ्जरस्तोत्र—५० टि०
सिकन्दर—१२०
सिद्धपीठ—२८६
सिद्धमहाविद्या—१८०
सिद्धा—३६१, ४९०
सिद्धान्तदीपिका—३४५, ३४९ टि०
सिद्धान्तशिखोपनिषद्—२९६ टि०
सिद्धान्तसारोपनिषद्—३५२
सिद्धार्थ—२४४, २५८
सिद्धिकाली—२४०
सिलोन—१४४
सीताधार—१४१
सीतास्तोत्र—१९१ टि०
सुकुला—१८०
सुग्रीव—१४१, १४४, १४५
सुचीन्द्रम्—४१९
सुतारा—१४५
सुदामा—१५०, ३६१
सुधा—१८

सुधापात्र-कपाल—२०५
सुधासागर—२१०, २११, २३४
सुधासिन्धु—२११
सुन्दरी—९१, १९३
सुपक्षसूत्र—३४९ टि०
सुप्रभेदागम—११५ टि०, ११७ टि०
सुबाहु—१३२
सुभद्रा—४५७
सुमाली—१४४
सुमेधब्राह्मण—२५६
सुमेरु—३२८
सुरथ—१७०
सुरभि—३६१
सुलेमानी-मन्दिर—४३३
सुवासिनी—३८५
सुवेल—१४०
सुवेलाचल—१४५
सुषुम्णा—२९५
सूतसंहिता—८७
सूर—२८०, ३६६ टि०
सूरदास—१५२
सूरसागर—९८, १५२ टि०, १५३ टि०, १५४ टि०, १५५ टि०, १५७ टि० १६० टि०, १८१ टि०
सूरसारावली—१५२ टि०, १५७ टि०
सूर्यज—१४४
सूर्यतापिन्युपनिषद्—१६३ टि०
सूर्यपीठ—३००
सूर्यस्तोत्र—१६३ टि०, १६५ टि०
सूर्योपनिषद्—१६२ टि०
सृष्टिपद्म—२२३
सृष्टिसूक्त—३१८, ३३८, ३७६
सोनपुर—९८
सोमघट—२७१
सोमनाथ—३३६, ३६७ टि०
सोमपा—३७४
सोमवल्लरी—३२८
सोमसूत्र—४३०, ४३१
सौन्दर्यलहरी—३० टि०, ३१ टि०, १८३, २०९, २०९ टि०, २११, २१' टि०, २२२, २२४, २२४ टि०, २४५ टि०, ४२७ टि०, ४३९
सौभाग्य-भास्करभाष्य (बम्बई)— १०९ टि०, १७० टि०, १८० टि०, १८१ टि०, १९५ टि०, १९६ टि०, २०६ टि०, २०७ टि०, २१० टि०, २११ टि०, २१२ टि०, २१३ टि०, २१४ टि०, २१५ टि०, २१८ टि०, २२१ टि०, २२२, २४१, २४१ टि०, २४३ टि०, २४६ टि०, २९० टि०
सौभाग्या—२१३
सौमन्तवी—३७३
सौरपुरण—१०७, १०९ टि०, ३०० टि०
सौर-संहिता—५ टि०
संकर्षण—२१६
संकिशा—४६०
संकेतवट—३६५
संकेतवन—३६२
संक्षोभिणी—२२७
संख्यान—१६
संजीवी मलाइ—१४१
संयुत्तनिकाय—२५५ टि०
संसारचक्र—२२७
संसारमहीरुह—२१२
संसिद्धा ३६६
संसृति—१२५
साँची—५३, २६०, ४६२
साँची-स्तूप—४४३, ४४४, ४५८
सिंगसेरी—४१५
सिंहलद्वीप—३११

सिंहवाहन—७६

स्कन्द—६६

स्कन्दपुराण— ११ टि०, ५७ टि०, ६० टि०, ६१ टि०, ६३ टि०, ६६ टि०, ७२ टि०, ७३ टि०, ७५. ७६ टि०

स्टेला क्रामरिश - २२३

स्तम्भ—२६१, २६२

स्तम्भशिखर—२६०

स्तम्भाराम—२६४

स्थाणुक—२५८, २५६, २६०, २६५, ४२७, ४३८, ४४१, ४४७

स्थाणुक-मुद्रा—४२६, ४४०, ४४६

स्थाणुक-मूर्त्ति—२६१, २६४, ४४५, ४४८, ४५५, ४५६, ४६०

स्थितपाठ—२४०

स्थितपाठ्य—६०

स्थितप्रज्ञावस्था—२३४

स्थिति-तत्त्व—२६१

स्थिति-शक्ति—२७१

स्पन्द—५

स्मृतिप्रकाश—२६२ टि०

स्मृतिसार—२६१ टि०

स्वतन्त्र-तन्त्र—२१७, २१६

स्वधाकार—४४

स्वयम्भूनाथ-मन्दिर—४६२

स्वयम्भूलिङ्ग—१०६, ११०, २४५, २४५ टि०, २८२, ४६५

स्वात—४४५

स्वाधिष्ठान—२६३, ४११, ४६६

स्वामीदयानन्द—३१६

स्वाहाकार—४४

ह

हकारार्द्ध—२८७, २८८, २८६

हजरत ईसा—२६८

हजरतमूसा—२६८

हनुमान्—१३८, १३६, १४०, १४५

हनुमानकूल—१४१

हनुवरदेश—१४५

हन्तकार—१४४

हमवनतोता - १४१

हयग्रीव—२६६, ४५७

हयशीर्षपञ्चरात्र—२७४ टि०

हरगौरी—४२३, ४२४

हरिप्रिया—३६०

हरिद्रागणेश—२४०

हरिवंश—१६१

हरिहर—४३, ४७

हरिहरनाथ—६६

हरिहर-मूर्त्ति—६६

हरिहरस्तुति—३४ टि०

हर्मन याकोबी—१३३

हर्षचरित—११७

हाथीगुम्फा—२६७, ४३२

हादिमत—२२५, २७६

हिन्दू-पैन्थियोन—४१५, ४२०

हिमाद्रि—३७४

हिरण्यकशिपु—७१, १३१, ३११, ४३०

हिरण्यगर्भ—५२, २२३, ४२२, ४२३

हिरण्याक्ष—७१, १३१, १६५, ३२१

हीनयान—२६६

हृन्मन्त्र—२६३, २६४

हृषीकेश—७०

हेगेल गार्डन—१४०

हेम—३६१

हेमचन्द्र—२५१ टि०

हेमसभानाथ-माहात्म्य—८८

हेरम्ब—४०

हेरम्बोपनिषद्—३७ टि०

हेलमुथ—२५२ टि०

हैवेल—५२, ५३, २६१, २६४, २६७, २६८

होमग्राम—१४१

होलीगोष्ट—२६८

हंस—४८, ५१, ७०, २६८, २७१, २७२

हंसद्वीप—१४५

हंसवती ऋचा—२७२

हंसोपनिषद्—११२

हिंगुला—२८६

ह्रींकार—४६

ह्वी० ग्लासनैप (बर्लिन)—२५२ टि०

ॐकारस्वरूप ब्रह्म-गणेश

चित्र-सं० १
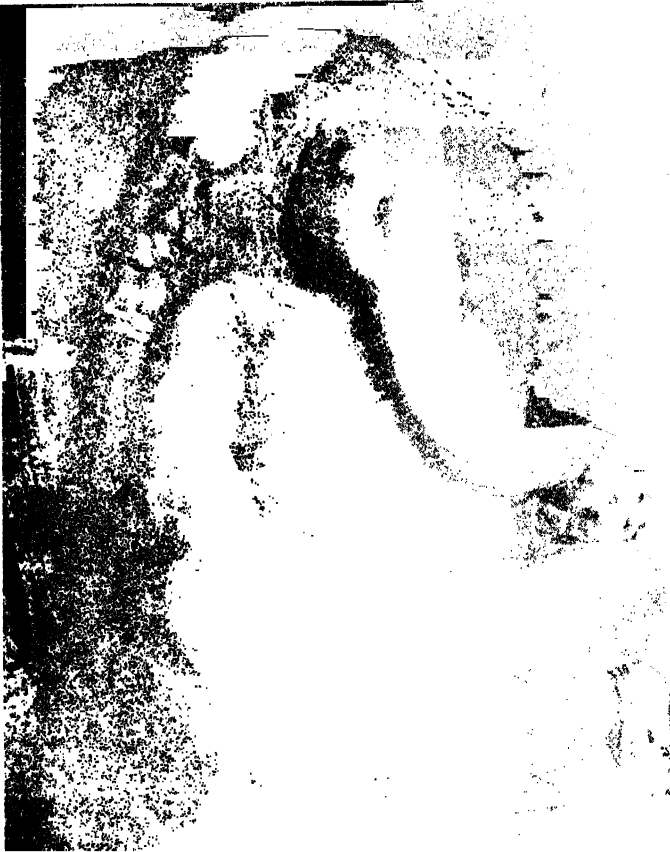
गणेश (जावा)
चित्र-सं० २

गणेश (जावा)
चित्र-सं० ३
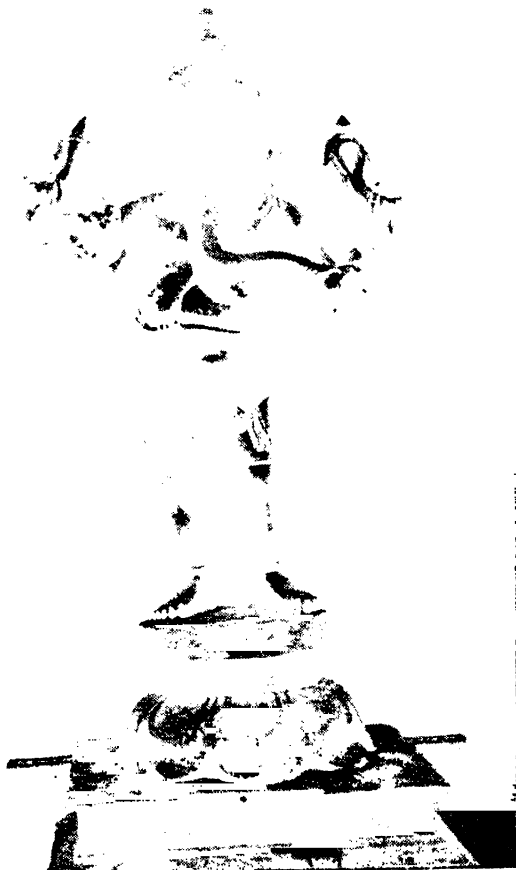
ॐकार गणेश (नृत्य मुद्रा में)
चित्र-सं० ४

ॐकार गणेश
चित्र-सं० ५

सिंहवाहन गणेश
चित्र-सं० ६
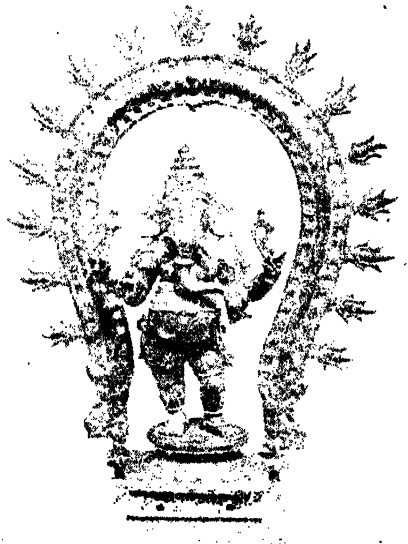
नटराज गणेश
चित्र-सं० ७

नटेश गणेश
चित्र-सं० ८

नटेश गणेश
चित्र ६

नटेश गणेश
चित्र १ (क)

गणेश
चित्र ६ (ग)

गणेश
चित्र ७ (ख)

गणेश
चित्र : ९ (घ)

गणेशी
चित्र ६ (च)

गणेशी
चित्र ६ (छ)

विष्णु की शयनमूर्ति
चित्र १०

Siva. Brahma. Vishnu.

शिवः ब्रह्मा विष्णुः

Mahā pralaya.
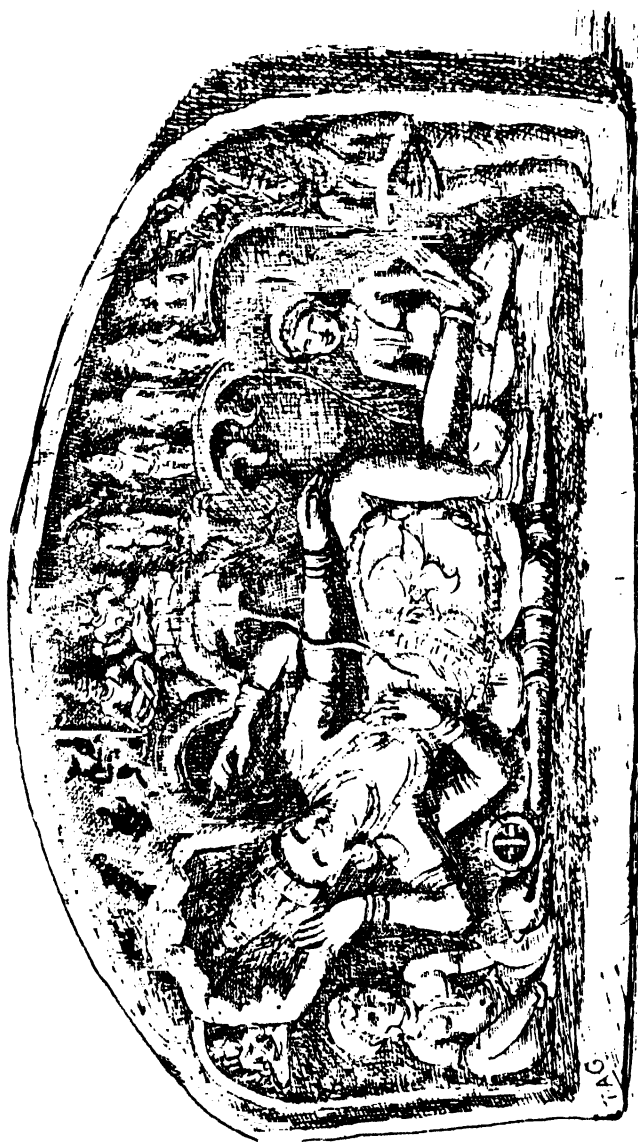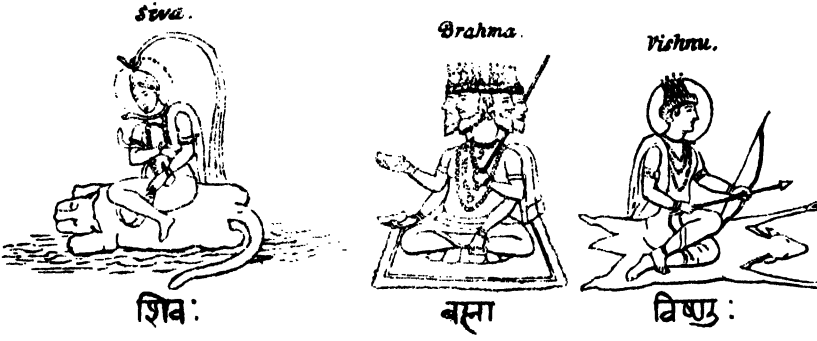
महाप्रलयः

महाकाल वा महाप्रलय

चित्र ११

यज्ञपुरुष विष्णु
चित्र-सं० १२

विष्णु
चित्र-सं० १३

विष्णु
चित्र-सं० १४

विष्णु
चित्र-सं० १५
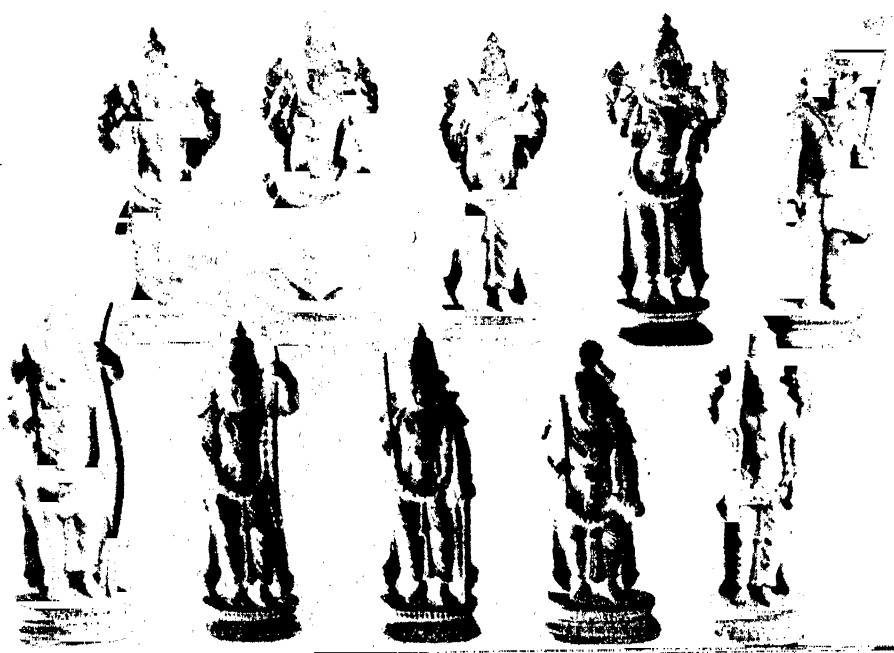
दशावतार
चित्र-सं० १६

सुदर्शन चक्र
चित्र-सं० १७

सुदर्शन चक्र
चित्र-सं० १८

सुदर्शन चक्र
चित्र-सं० १८ (क)
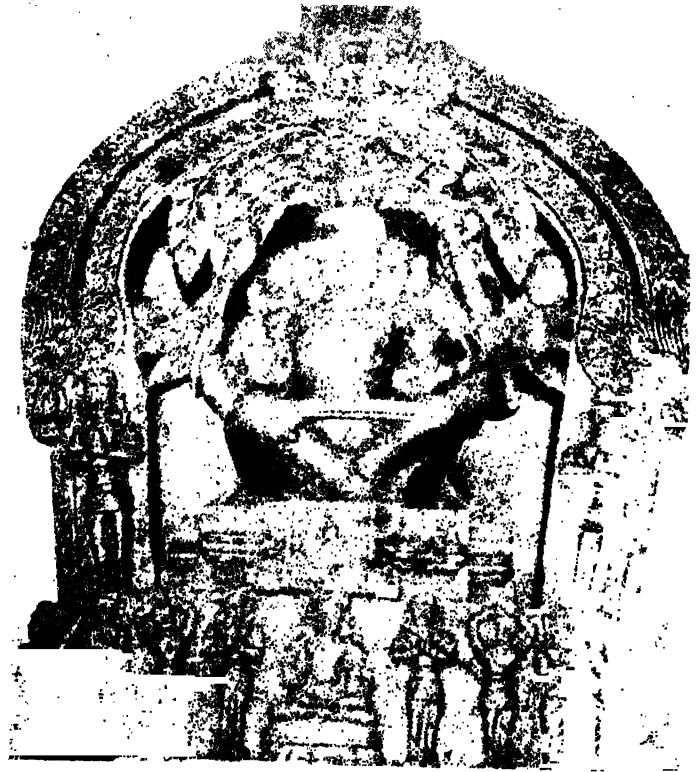
विष्णु
चित्र-सं० १९
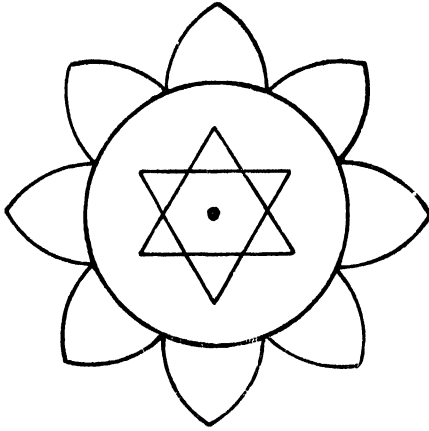
पूजन-यंत्र वा चक्र
चित्र-सं २०

पूजन-यंत्र वा चक्र
चित्र-सं० २० (क)
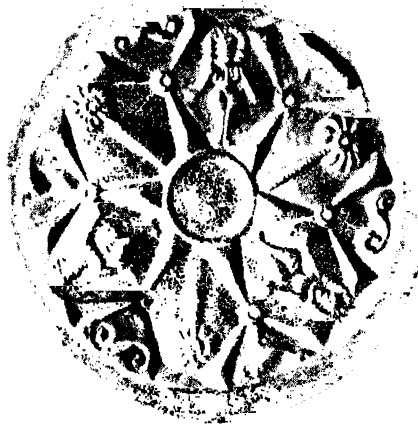
मुरतजोगंज की पत्थर की थाली
चित्र-सं० २१

(डा० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह—चित्र-सं० ४३)
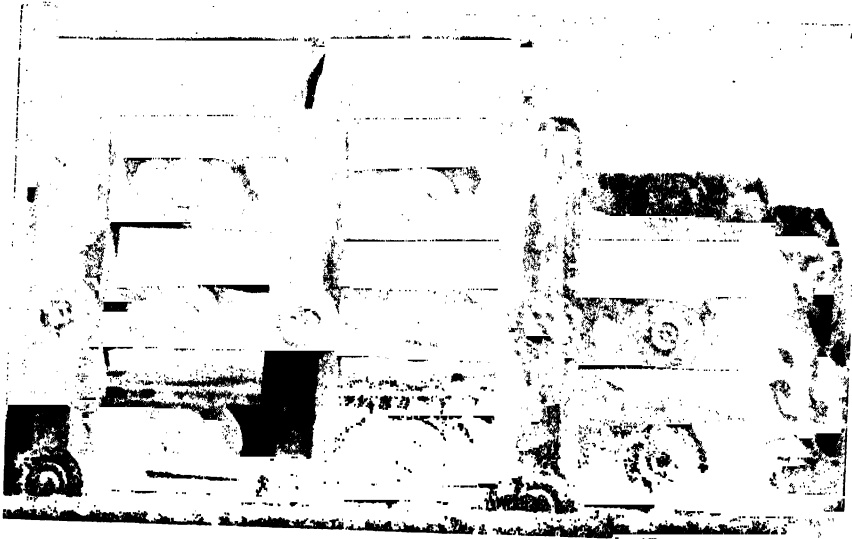
बोधगया की वेष्टनी
चित्र-सं० २२

शिवशक्ति
चित्र-सं० २३

शिव पोलोन्नारुव (लंका)
चित्र-संख्या २४

नटराज (दक्षिणापथ)
चित्र-सं० २५

नटराज (दक्षिणापथ)
चित्र-सं० २६

नटराज
चित्र-सं० २७
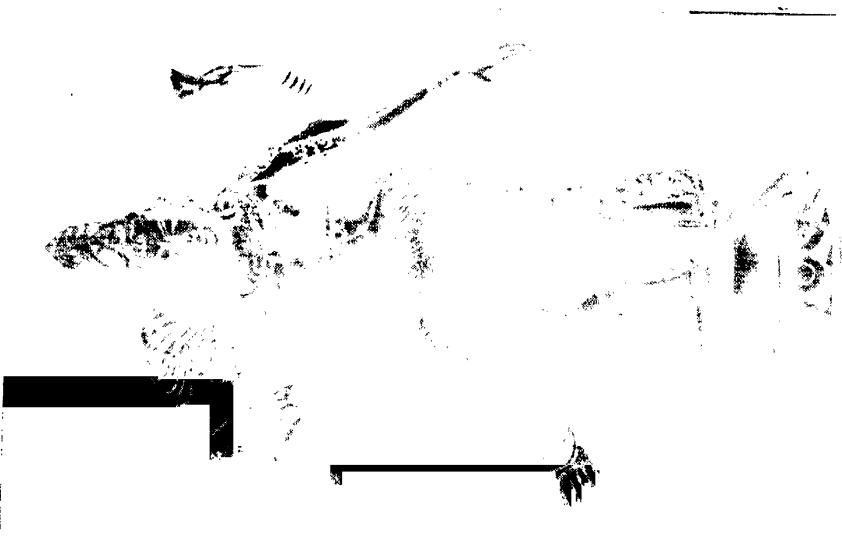
अर्धनारीश्वर
(नटेश-नटेशी—चित्र-सं० २८)

हर-पार्वती
(नटेश-नटेशी—चित्र-सं० २९)

देवी—शिवा
चित्र-सं० ३०

बोदे—शिवा
चित्र-सं० ३२

देवी—शिवा

चित्र-सं० २१

महासदाशिव
चित्र-सं० ३३

नटराज (उत्तरापथ, ढाका)
चित्र-स० ३४
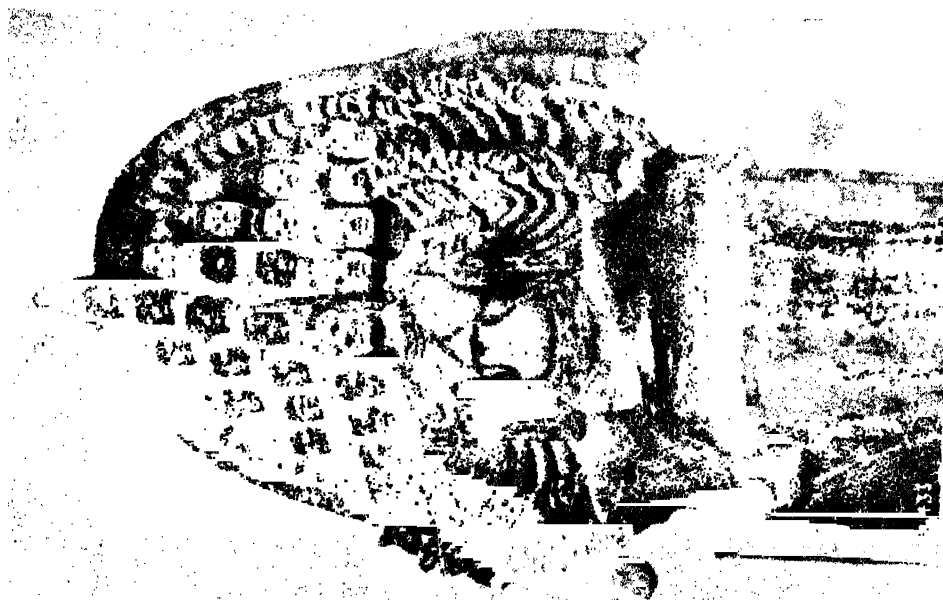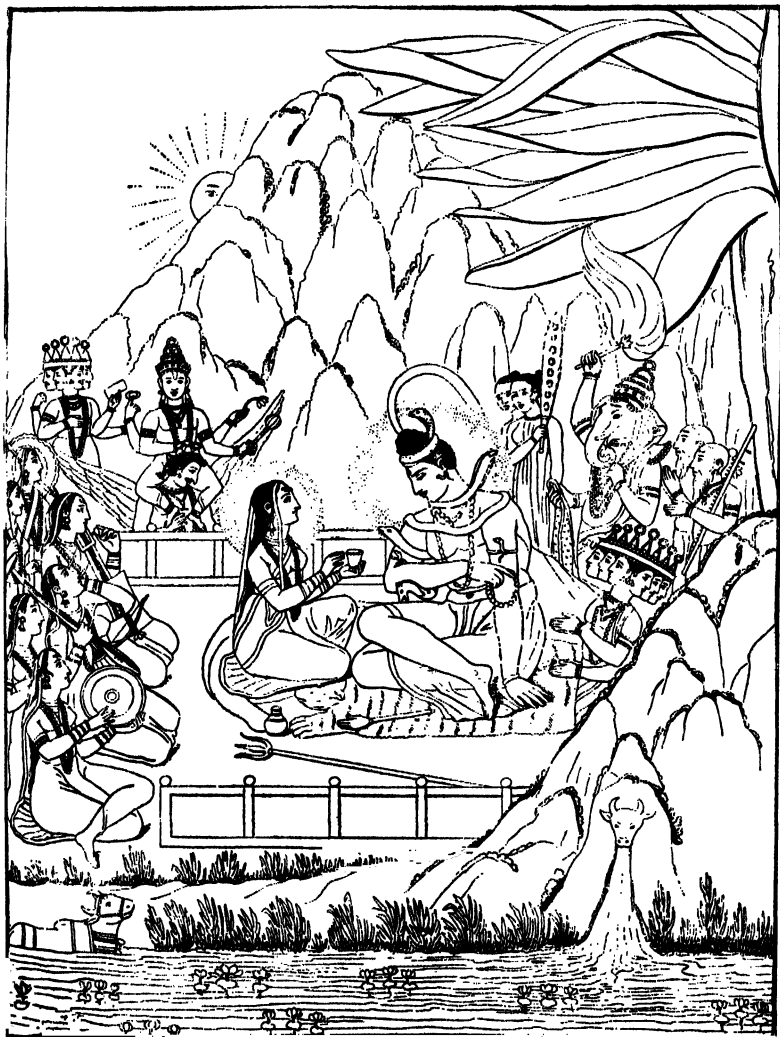
शिव-परिवार

चित्र-सं० ३५

नटेश, चतुर नृत्य में
चित्र-सं० ३६

गजासुर वध
चित्र-सं० ३७

हरगौरी (दक्षिणापथ)
चित्र-सं० ३८

बटुक (लंका)
चित्र-सं० ३९

शरभ (नेपाल)
चित्र-सं० ४०

नटेश शिवलिङ्ग
चित्र-सं० ५२

काशी-विश्वनाथ
चित्र-सं० ५१
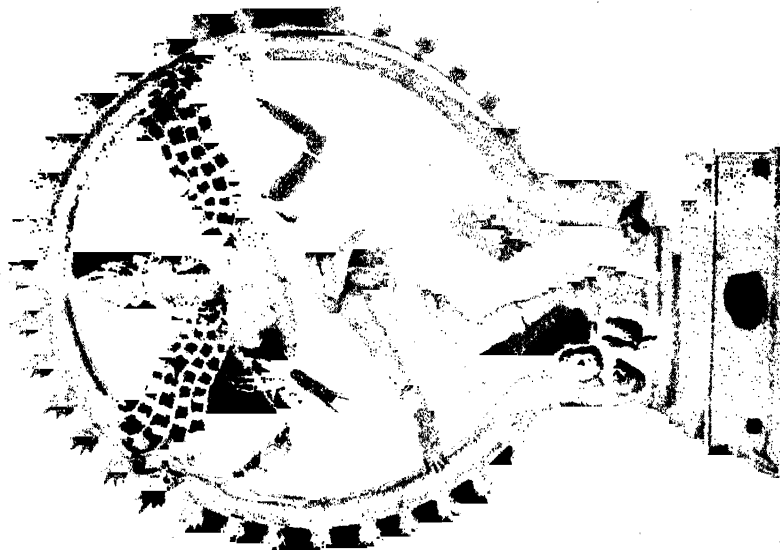
एकमुख लिङ्ग
चित्र-सं० ४२
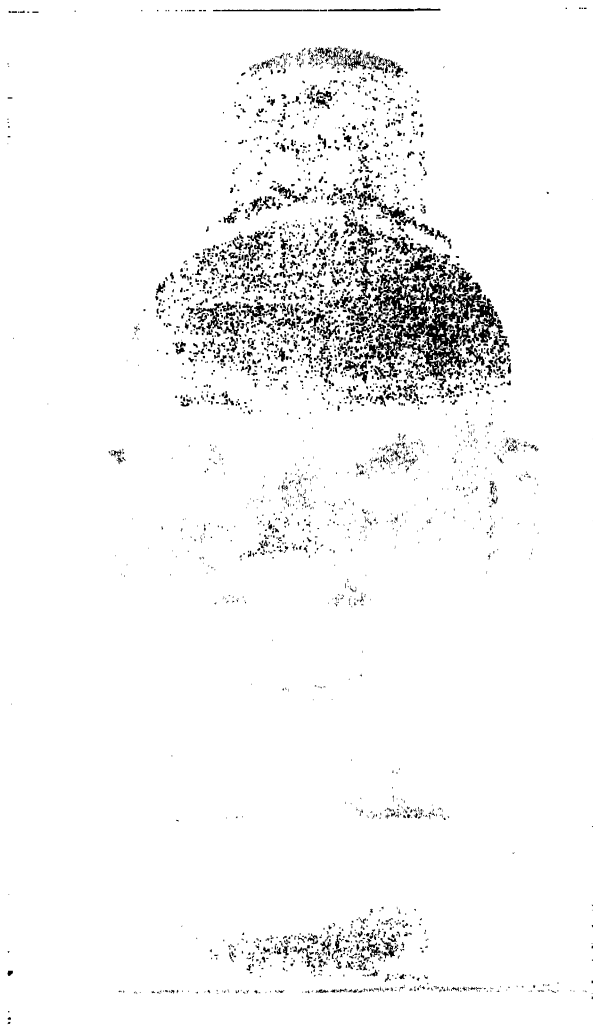
बुद्ध
चित्र-सं० ४४
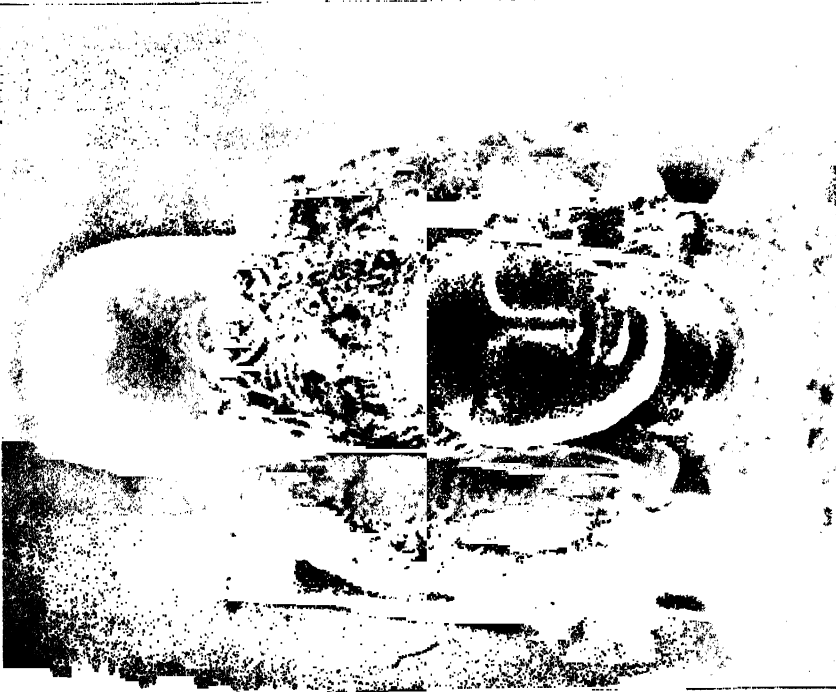
त्रिमूर्ति या चौमुखी महादेव।
चित्र सं० ४५

चौमुखी महादेव।
चित्र सं० ४६

शिवज्योतिस्तम्भ । मूलस्तम्भ । राजस्थान ।
चित्र सं० ४७

त्रिमूर्ति । हाथीगुम्फा ।
चित्र सं० ४८
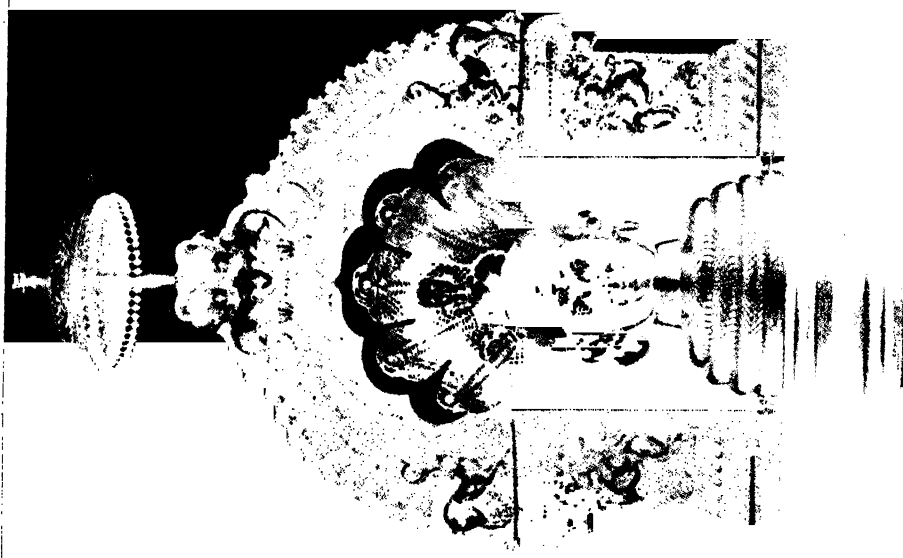
महाकाल ।
चित्र सं० ४९

मृत्युञ्जय शिव ।
चित्र सं० ५०

मृत्युञ्जय शिव।
चित्र सं० ५१
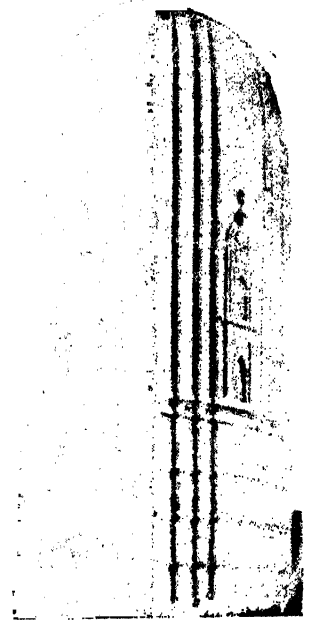
मूलस्तम्भ या शिवलिंगाकार मन्दिर।
उत्तरापथ। बंगाल।
चित्र सं० ५२

शिवलिंगाकार मन्दिर। बंगाल।
चित्र सं० ५३

शिवलिङ्गाकार मन्दिर।
बंगाल।।
चित्र सं० ५४

शिवलिंगाकार मन्दिर।
बंगाल।
चित्र सं० ५५

शिश्नमूर्ति। गुडी मल्लम्। मद्रास!।
चित्र सं० ५६

शिशनमूर्ति का ऊर्ध्वभाग।
चित्र सं० ५७

एक प्राचीन शिवलिंग।
उत्तरापथ। उत्तरप्रदेश।
चित्र सं० ५८

चित्र ५८ का दूसरा दृश्य।
चित्र सं० ५९

बालकृष्ण। कालियमर्दन
चित्र सं० ६०

श्रीकृष्ण। उत्तरापथ। बंगाल।
चित्र सं० ६१

श्रीकृष्ण। नेपाल।
चित्र सं० ६२
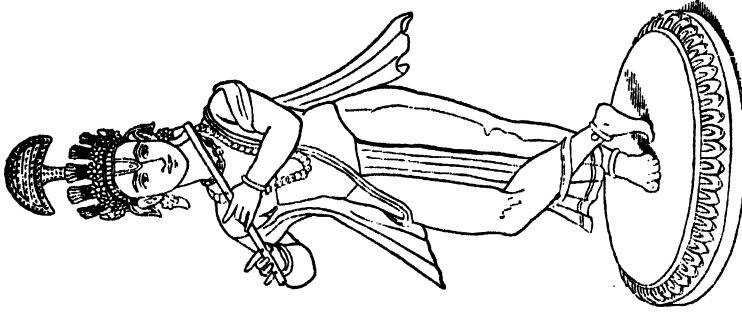
दुर्गा। नेपाल।
चित्र सं० ६२

दुर्गा । महिषमर्दिनी ।
चित्र सं० ६४

दुर्गा । महिषमर्दिनी ।
चित्र सं० ६५

काली । नेपाल ।
चित्र सं० ६७
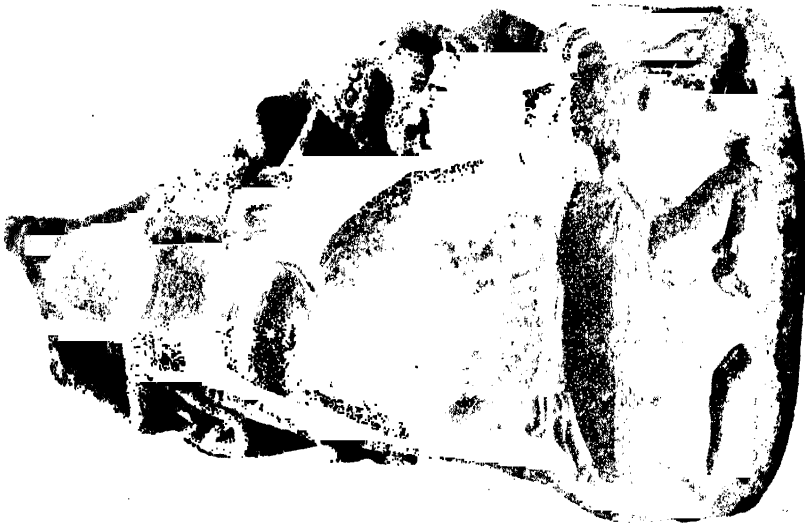
दुर्गा । महिषमर्दिनी ।
चित्र सं० ६६

काली। बंगाल।
चित्र सं० ६८

काली। बंगाल।
चित्र सं० ६९

तारा।

देवी। कामाख्या। असमदेश।
चित्र सं० ७२

षोडशी या त्रिपुरा। बंगाल।
चित्र सं० ७१
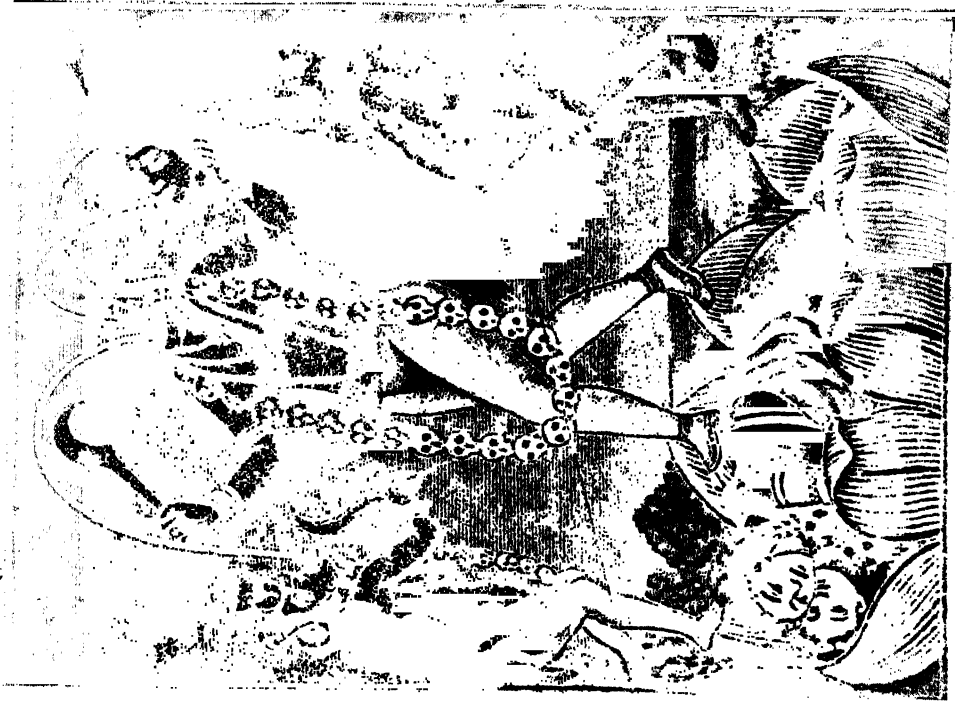
छिन्नमस्ता । बंगाल ।
चित्र सं० ७४
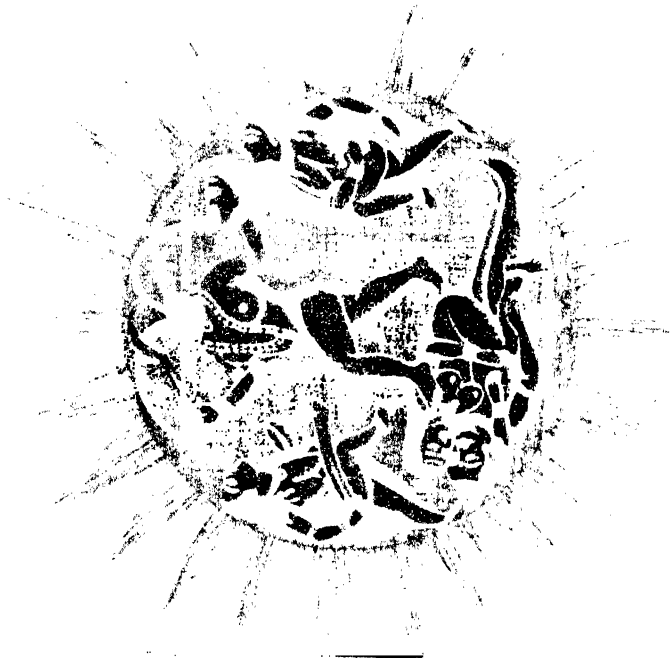
छिन्नमस्ता । नेपाल ।
चित्र सं० ७३
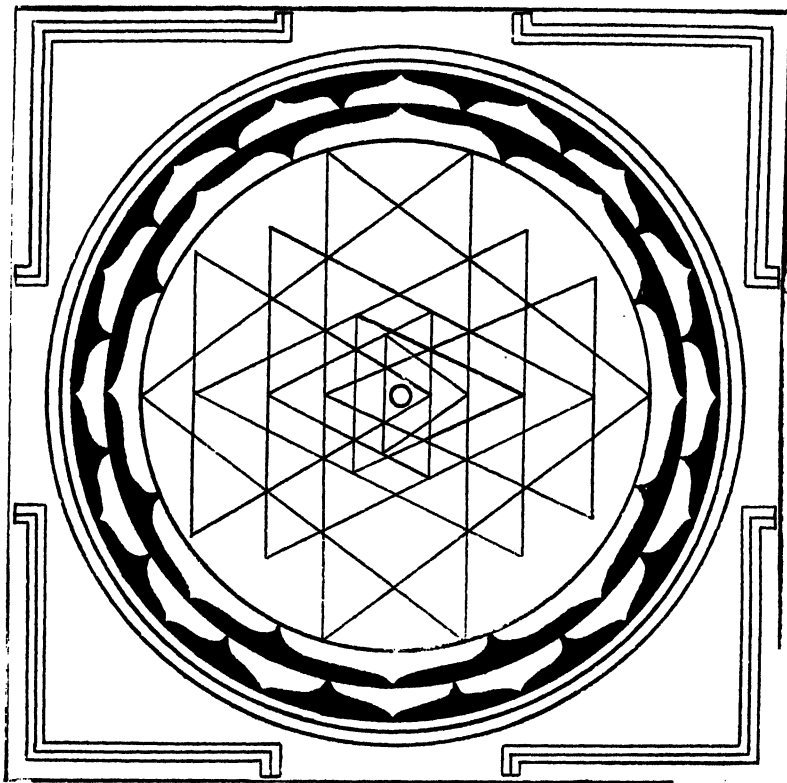
श्रीचक्र।
चित्र सं० ७६
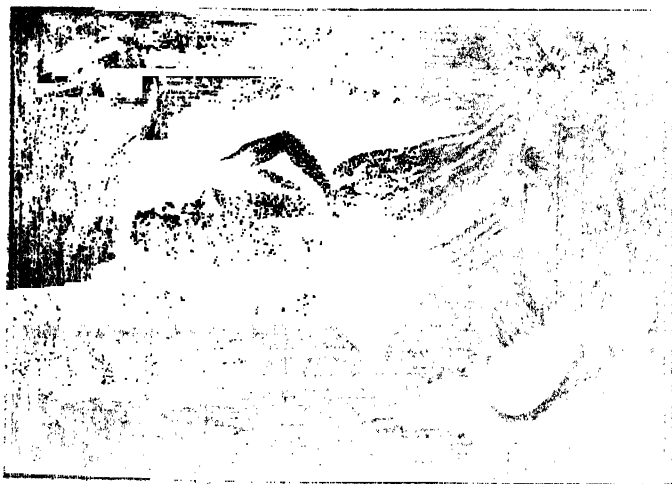
धूमावती। नेपाल।
चित्र सं० ७५

नटेश्वरी। तारा। नेपाल।
चित्र सं० ७७

नटेशी। नैरात्मा। नेपाल।
चित्र सं० ७८

आदिनाथ ऋषभनाथ।
चित्र सं० ७९

नेमिनाथ, ग्वालियर
चित्र सं० ८०
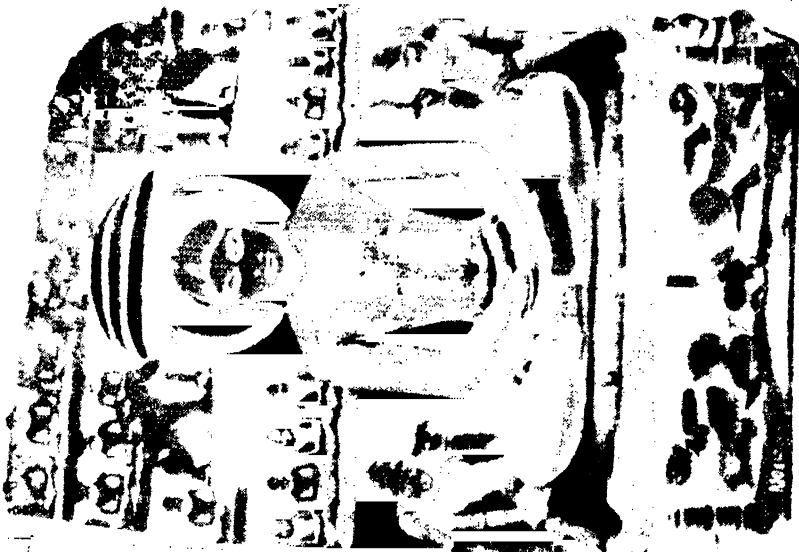
आदिनाथ वा ऋषभनाथ । महेत, जिला गोंडा
चित्र सं० ८१

महावीर
चित्र सं० ८२

जैन चौमुखी अथवा सर्वतोभद्रप्रतिमा ।
चित्र सं० ८३

चक्रेश्वरी और यक्ष गोमुख । गयडवाल, ग्वालियर राज्य

चित्र सं० ८४

आदि बुद्ध । नेपाल ।

चित्र सं० ८५

बुद्ध ।
चित्र सं० ८६

बुद्ध । गान्धारशिल्प । ई० की दूसरी या तीसरी शताब्दी ।
चित्र सं० ८७
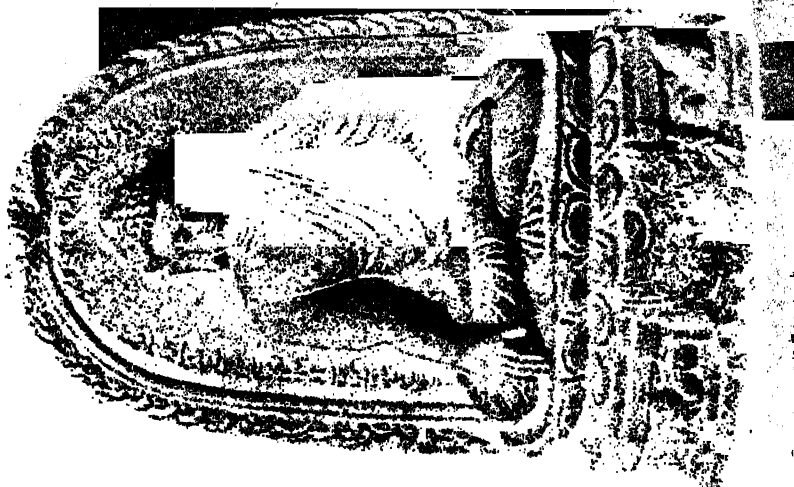
धर्मचक्र प्रवर्तन
चित्र सं० ८९

चित्र सं० ८८

साँची का पूर्व द्वार।
चित्र सं० ६०

मोहन-जो दड़ों की पशुपति मूर्ति
चित्र सं० ६१
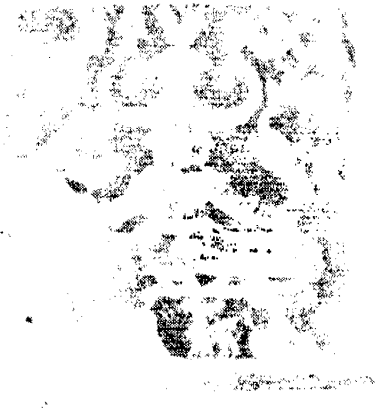
बुद्ध
चित्र सं० ६२

साँची के द्वार का एक भाग
चित्र सं० ६३
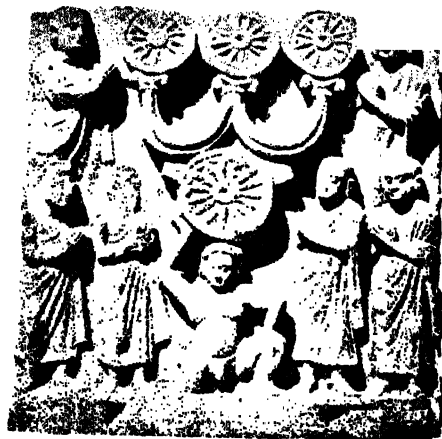
साँचीद्वार का एक भाग चक्र और त्रिशूल
चित्र सं० ९४
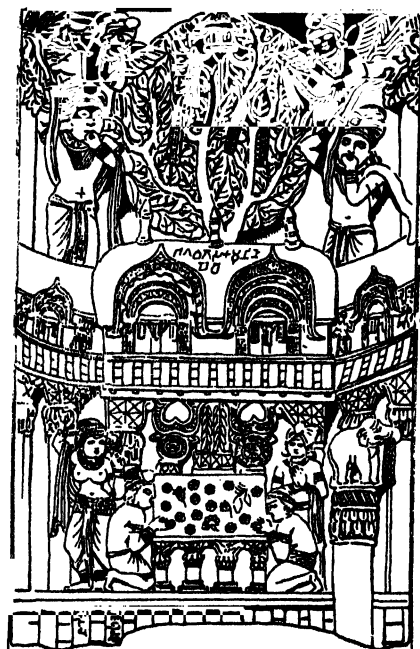
भरहूत । चक्र-त्रिशूल ।
चित्र सं० ९५

बुद्ध । नेपाल ।
चित्र सं० ९६

बुद्ध । नालन्दा
चित्र सं० ९७

चित्र सं० ९८

बुद्ध
चित्र सं० ९९
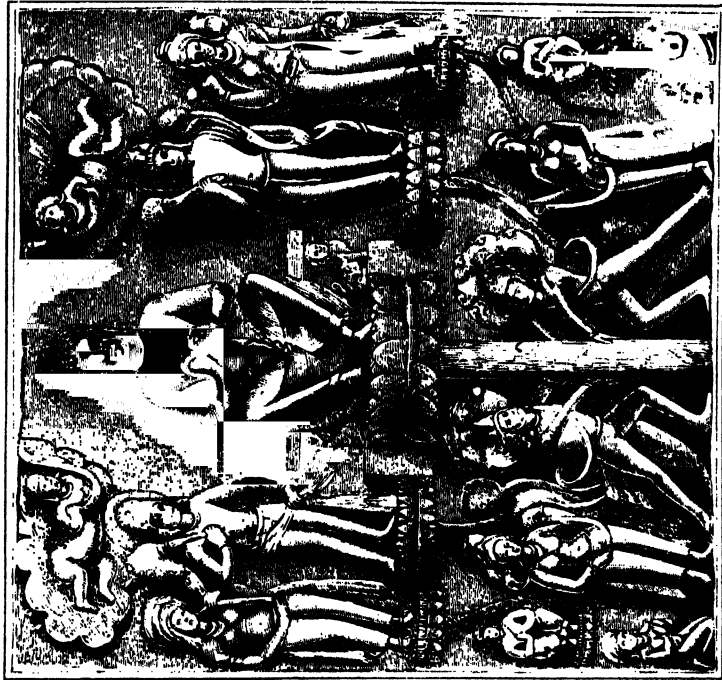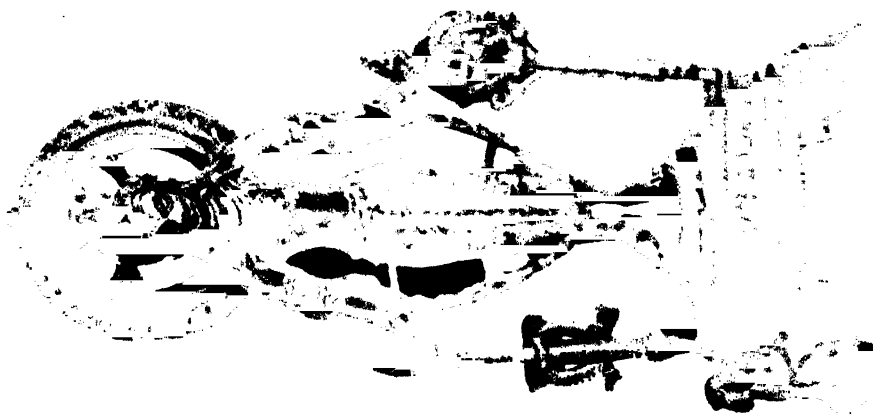
बुद्ध
चित्र सं० १००

बुद्ध। पटना।
चित्र सं० १०१
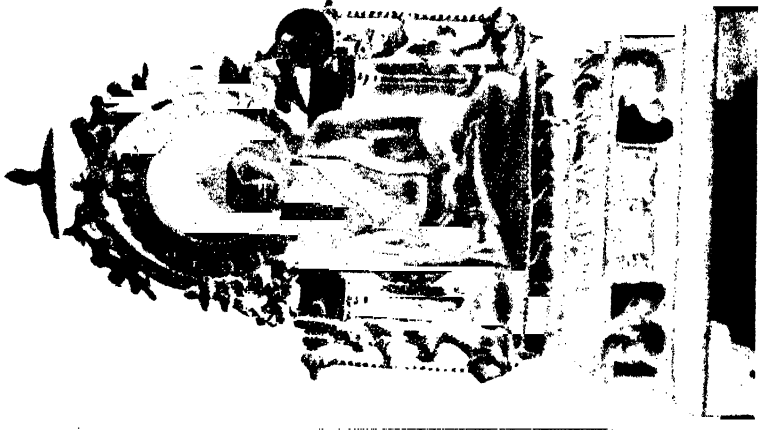
। पटना ।
चित्र सं० १०२

तारा । पटना ।
चित्र सं० १०३

बुद्ध । पटना ।
चित्र सं० १०४

शिवलिंगाकार स्तूप की अर्चना।
चित्र सं० १०५

बुद्ध
चित्र सं० १०६
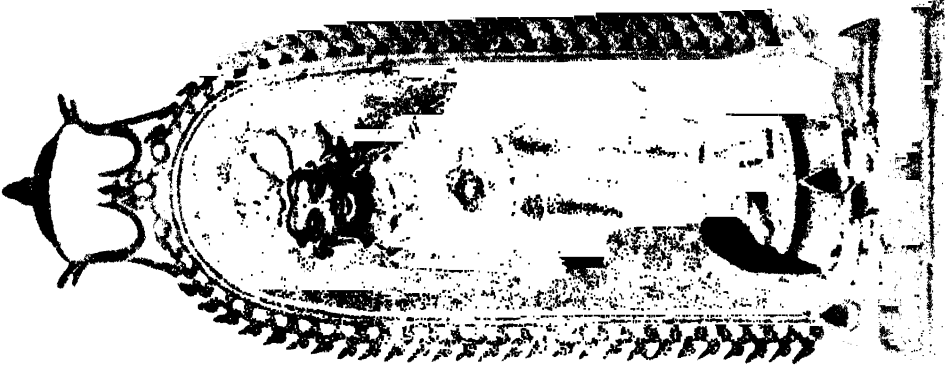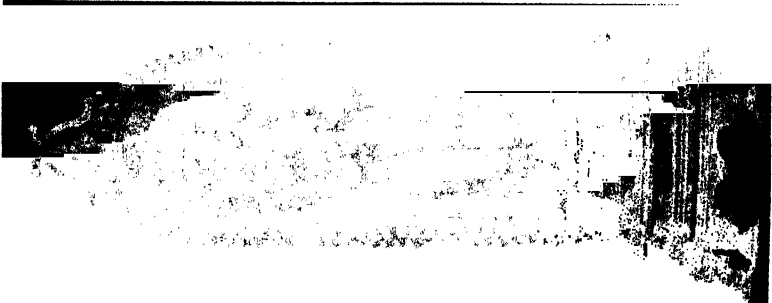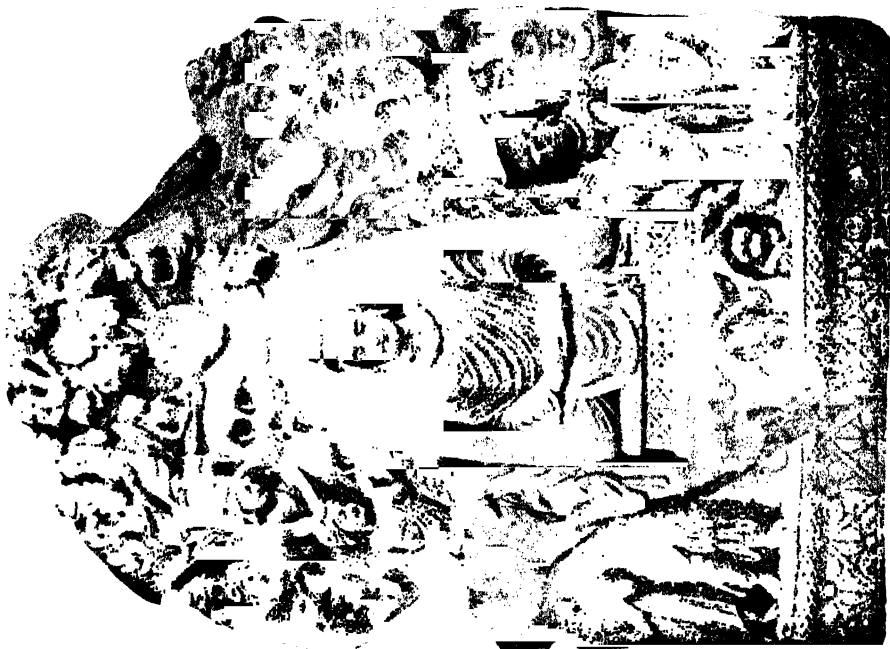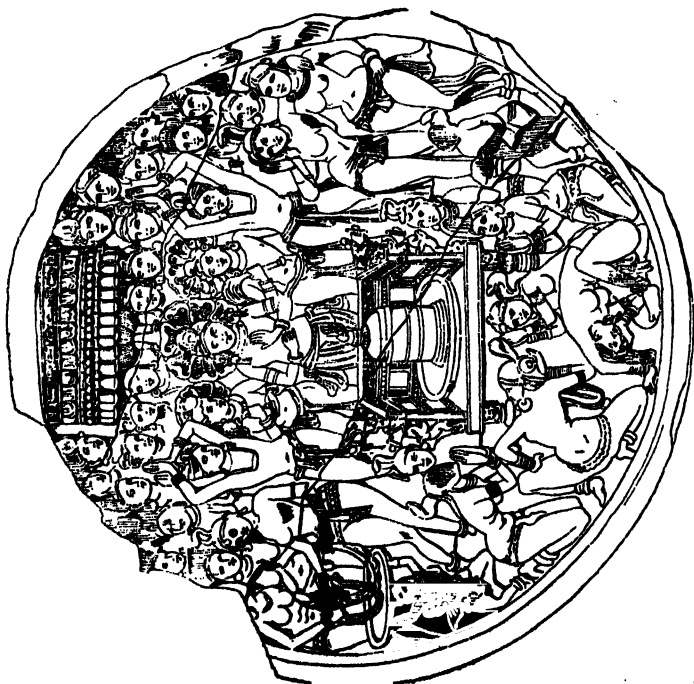
सिंहारूढ़ बुद्ध
चित्र सं० १०७

बुद्ध । नेपाल ।
चित्र सं० १०८

यब-युम अथवा जगन्माता-पिता । नेपाल ।
चित्र सं० १०९

यब-युम (जगन्माता-पिता) । नेपाल ।
चित्र सं० ११०

चितिपति । ल्हासा
चित्र सं० १११

बुद्ध । परमाश्व मूर्ति । नेपाल ।
चित्र सं० ११२

त्रैलोक्य विजय । ढाका ।
चित्र सं० ११३

त्रैलोक्य विजय। पटना।
चित्र सं० ११४
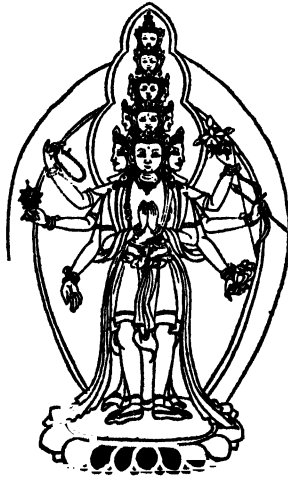
अवलोकितेश्वर
चित्र सं० ११५

बुद्ध । श्यामदेश ।
चित्र सं० ११६

मञ्जुश्री । जावा ।
चित्र सं० ११७

मैत्रेय बुद्ध । पटना ।
चित्र सं० ११८

अवलोकितेश्वर । पटना ।
चित्र सं० ११६
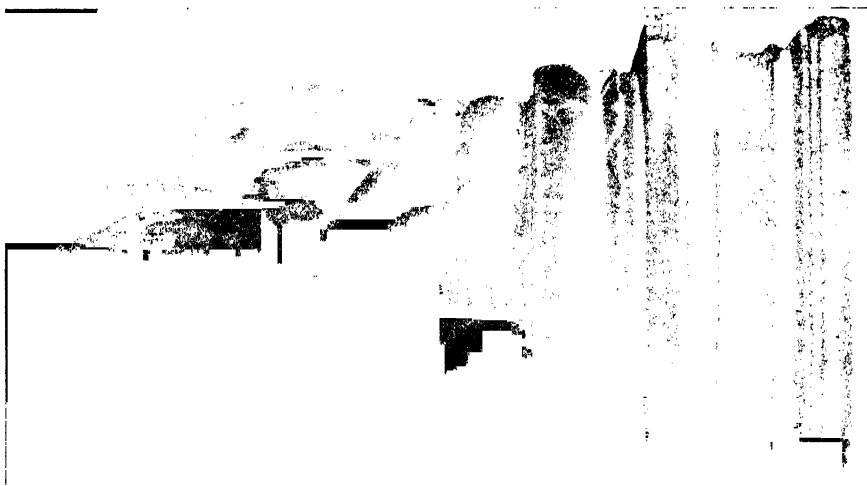
प्रज्ञापारमिता
चित्र सं० १२०
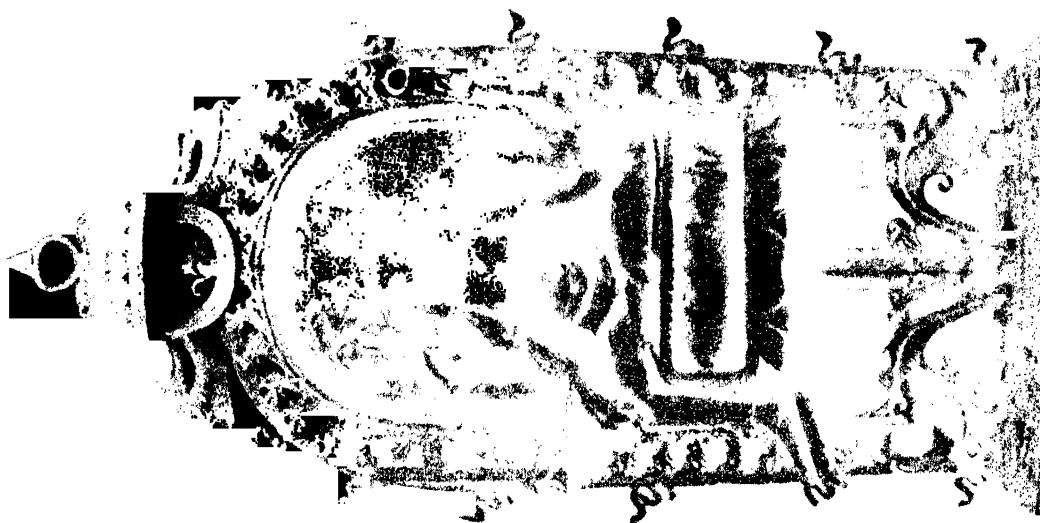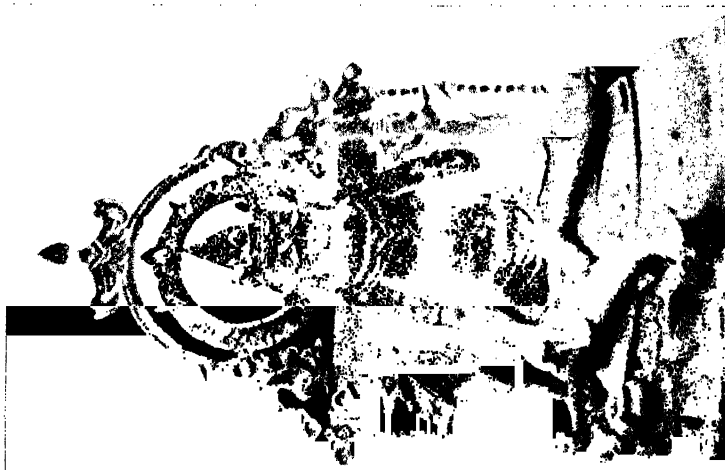
तारा। पटना।
चित्र सं० १२२

तारा। पटना।
चित्र सं० १२१

तारा । पटना ।
चित्र सं० १२३

तारा । पटना ।
चित्र सं० १२४

श्यामा । कुर्किहार, पटना ।
चित्र सं० १२५

मारीचि।
चित्र सं० १२७

तारा। कुर्किहार, पटना।
चित्र सं० १२६
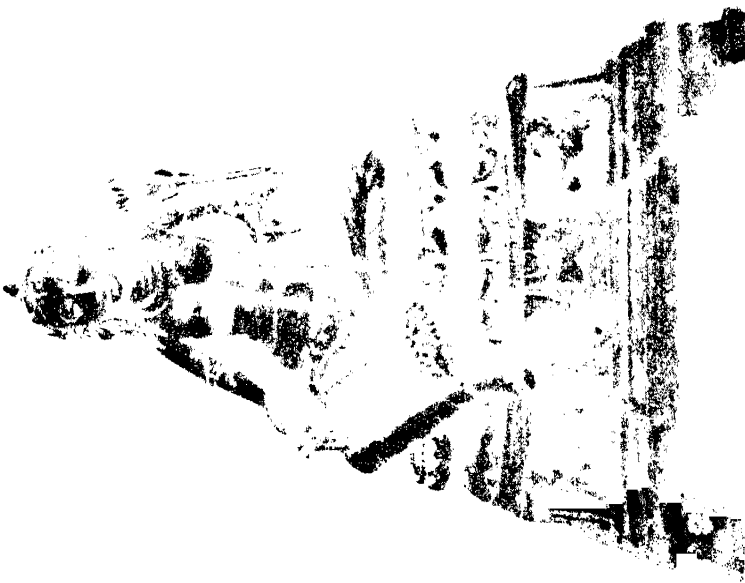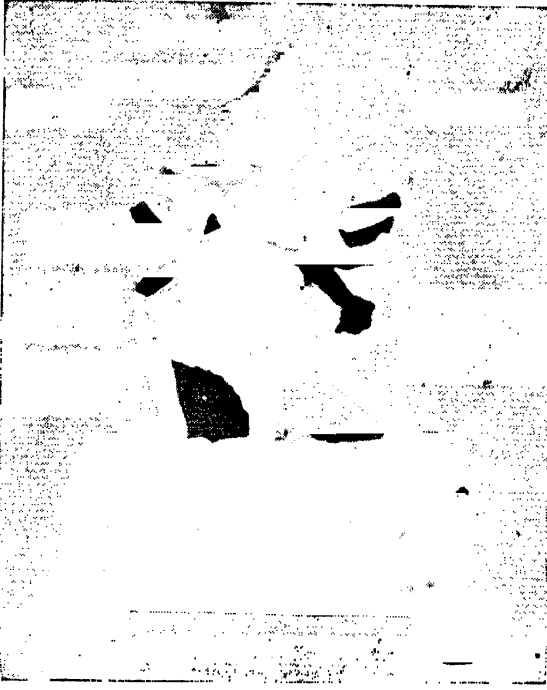
[illegible] त्रैलोक्य विजय । पटना ।
चित्र सं० १२८

महासितवती । नेपाल ।
चित्र सं० १२९

वज्रतारा । उड़ीसा ।
चित्र सं० १३०

त्रिरत्न ।
चित्र सं० १३१

त्रिरत्न।
चित्र सं० १३२

त्रिरत्न अर्थात् बुद्ध, धर्म, संघ।
चित्र सं० १३३
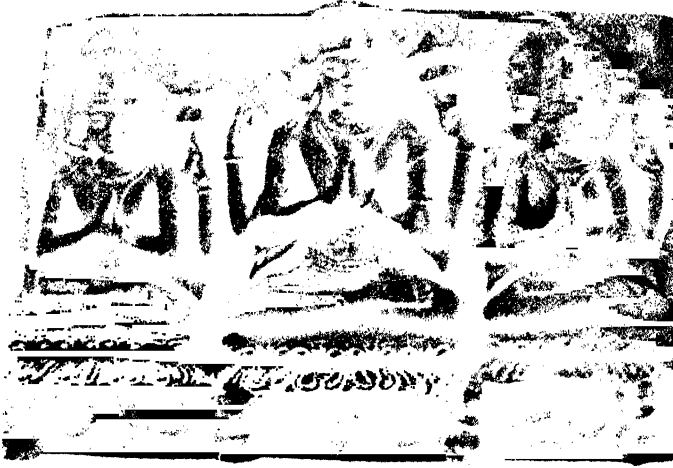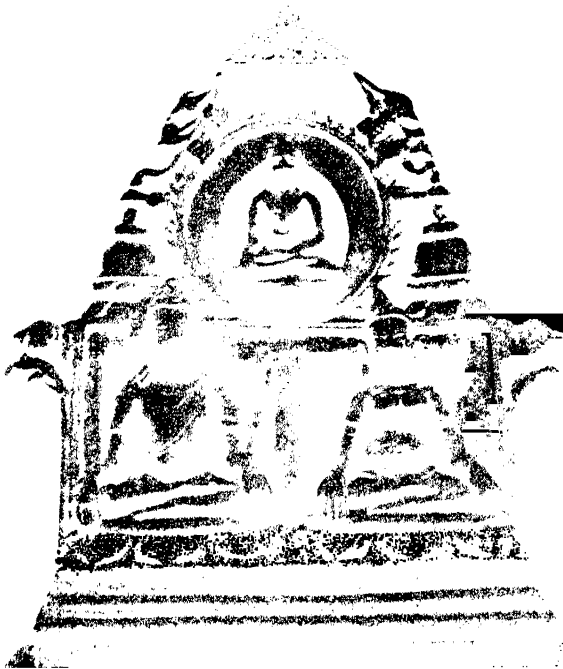
(हयग्रीव ?) भैरव । पटना
चित्र सं० १३४
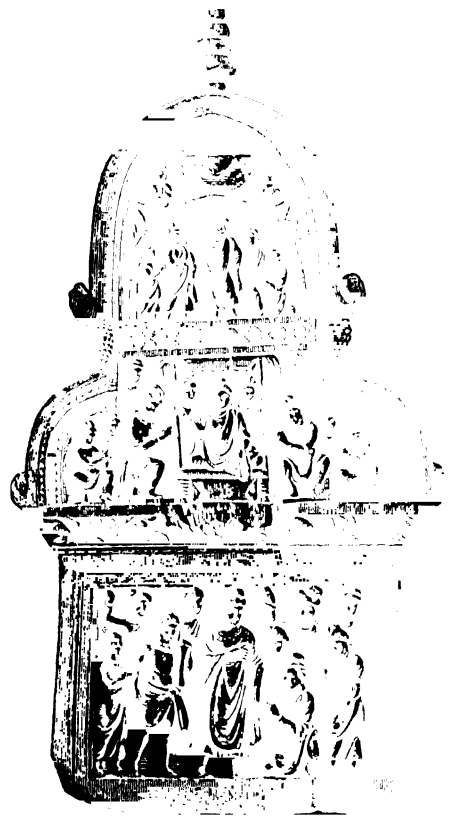
स्तूप
चित्र सं० १३५
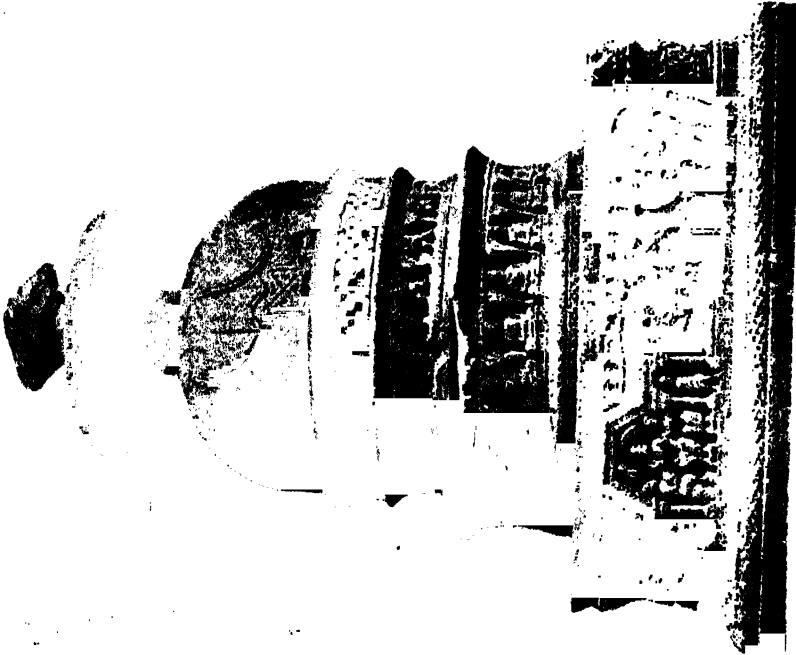
स्तूप ।
चित्र सं० १३६
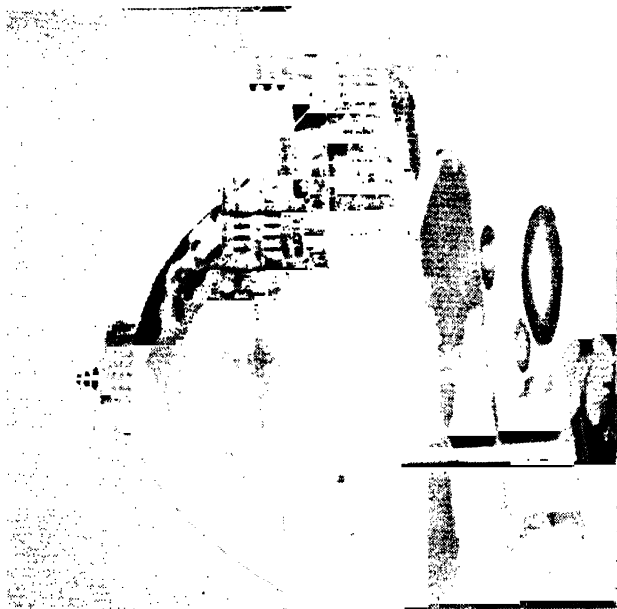
सांची का स्तूप।
चित्र सं० १३८
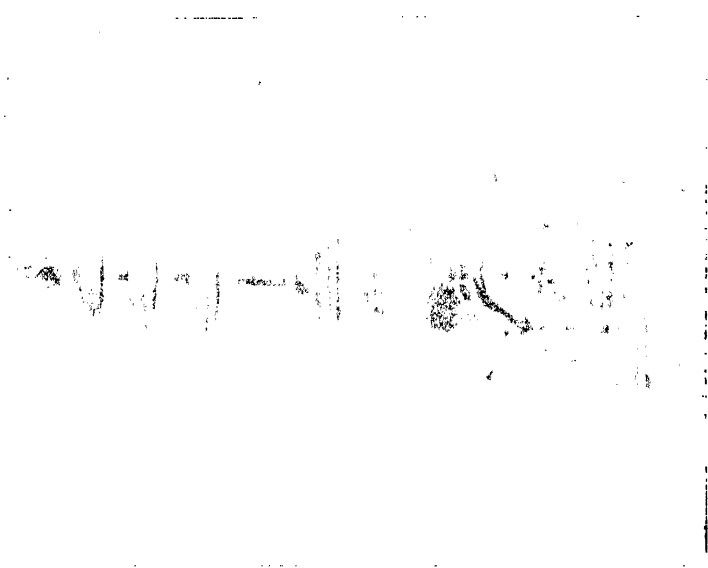
स्तूप। नालन्दा। पटना।
चित्र सं० १३७
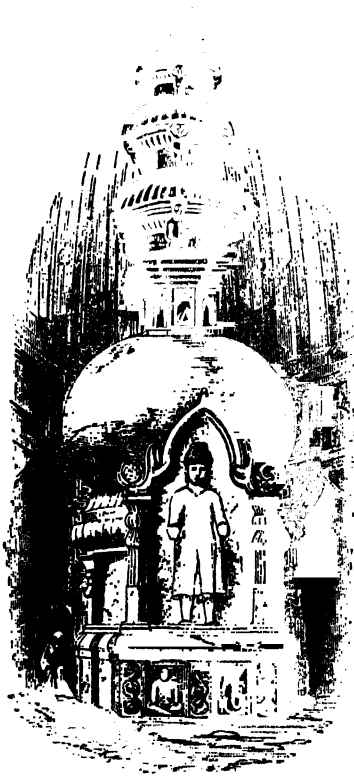
स्तूप । अमरावती ।

चित्र संख्या १३९
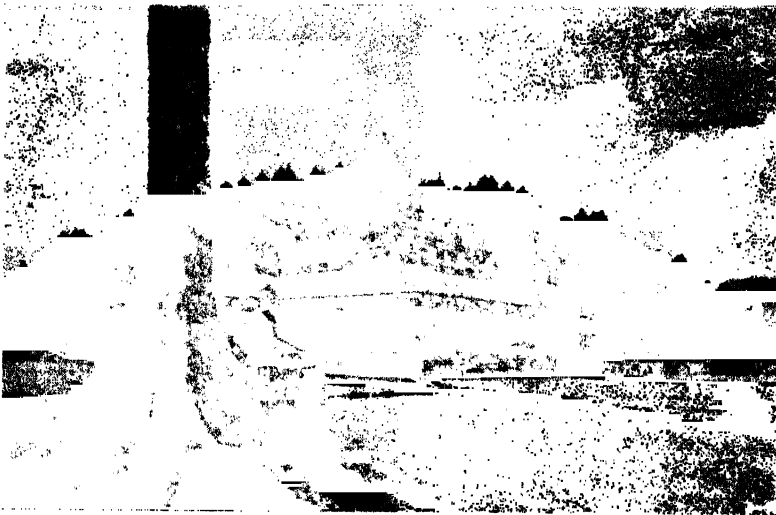
श्रीचक्र पर निर्मित बोरोबुदुर का स्तूप
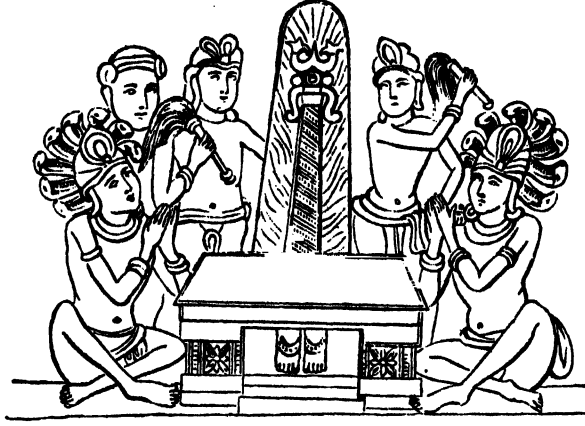
चित्र संख्या १४०

स्तूप-स्तम्भ, अमरावती ।
चित्र संख्या १४०(क)

स्तूप-स्तम्भ । अमरावती ।
चित्र संख्या १४१
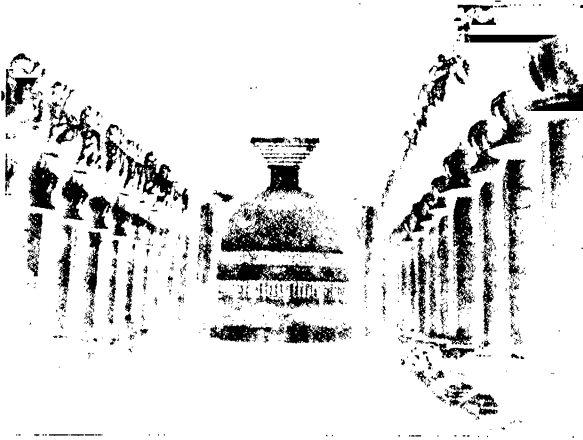
चैत्यभवन । कार्ले ।
चित्र संख्या १४२
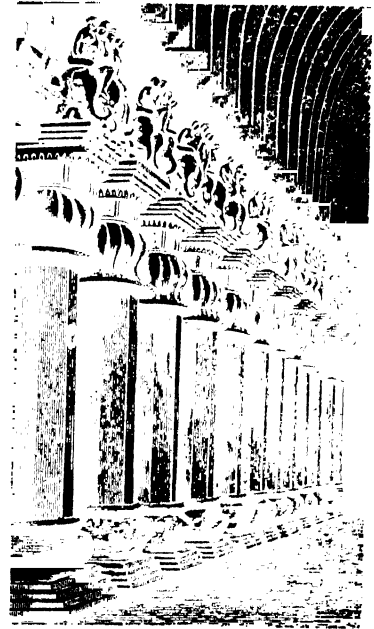
चैत्यभवन के स्तम्भ । कार्ले ।
चित्र संख्या १४३

एकसिंह शिखर
बिहार ।
चित्र संख्या १४४

एकगज शिखर । बिहार
चित्र संख्या १४५

एकवृष शिखर। रामपुरवा, बिहार।
चित्र संख्या १४६

चारवृष शिखर। बिहार।
चित्र संख्या १४७
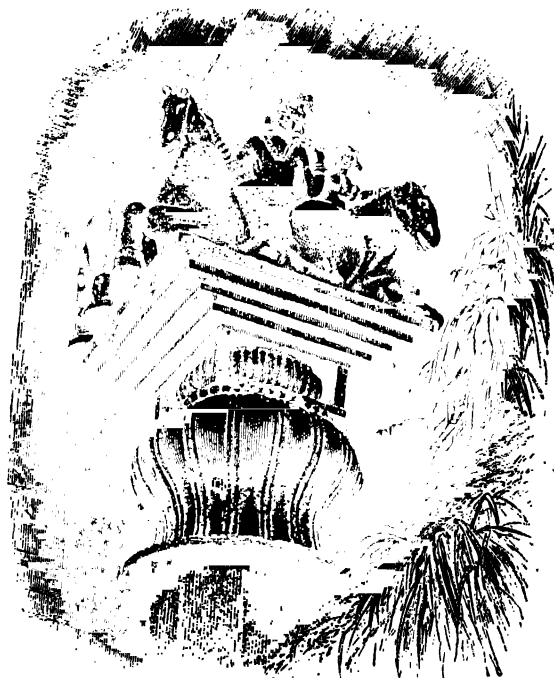
चारअश्व शिखर ।
चित्र संख्या १४८
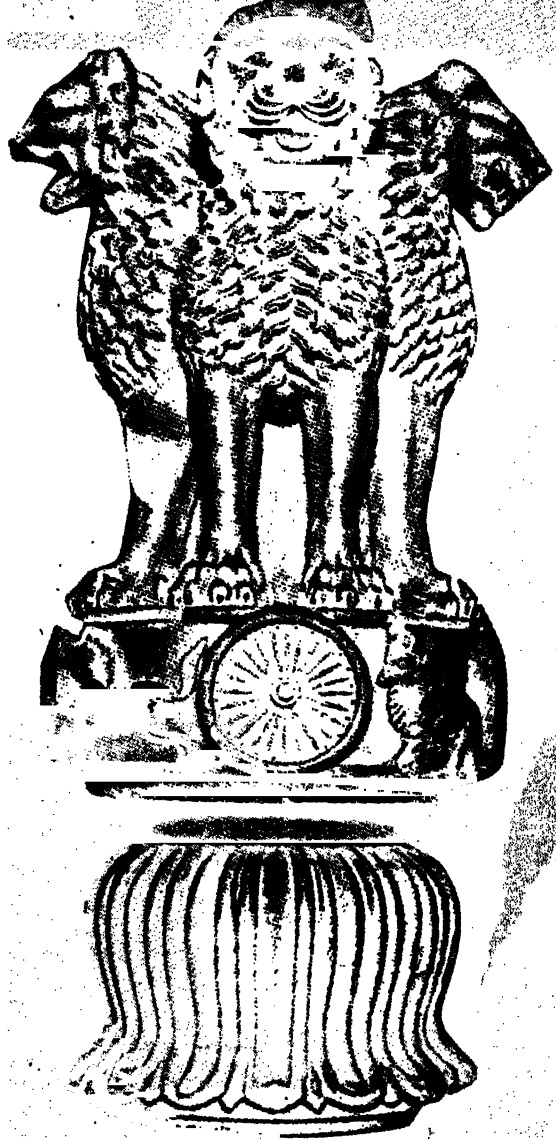
चारसिंह शिखर।
चित्र संख्या १४६
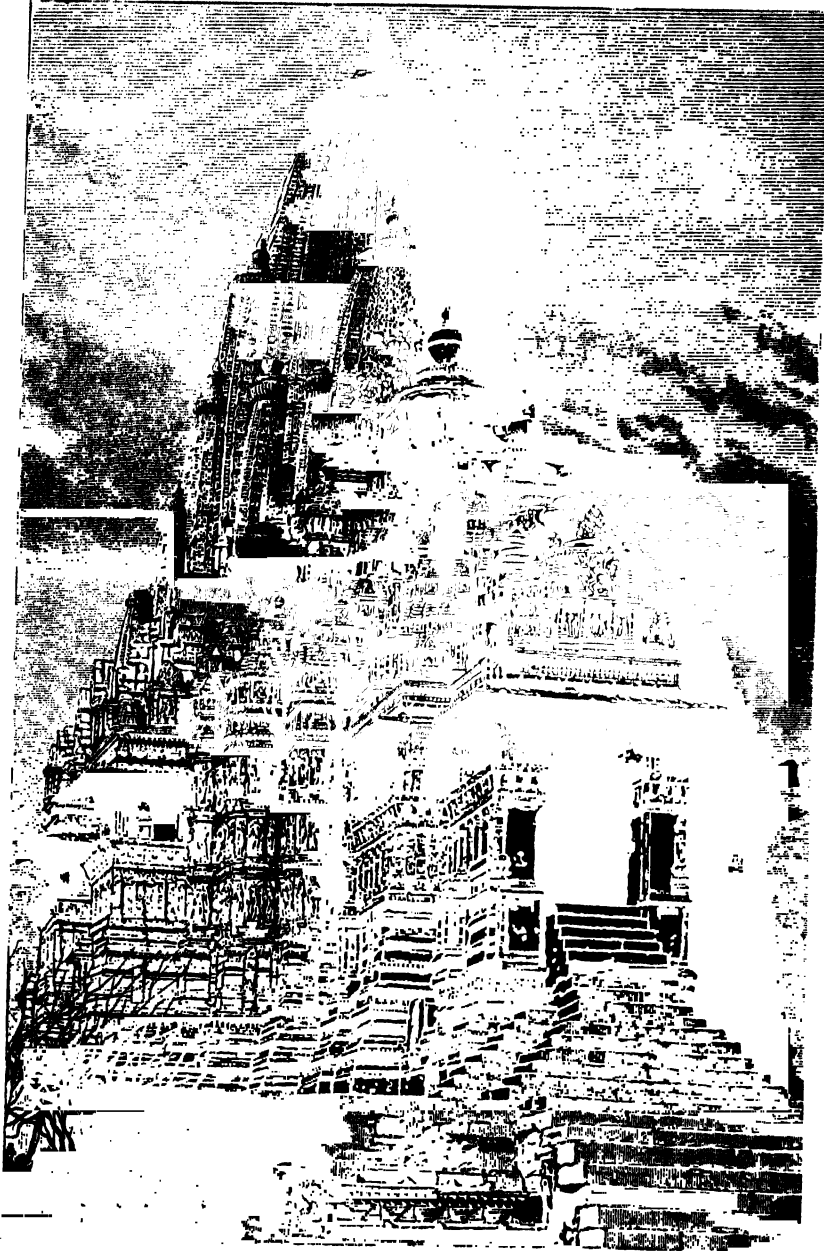
कन्दर्प महादेव का प्रासाद। खजुराहो।

चित्र संख्या १५०

बोधगया का मन्दिर।
चित्र संख्या १५२
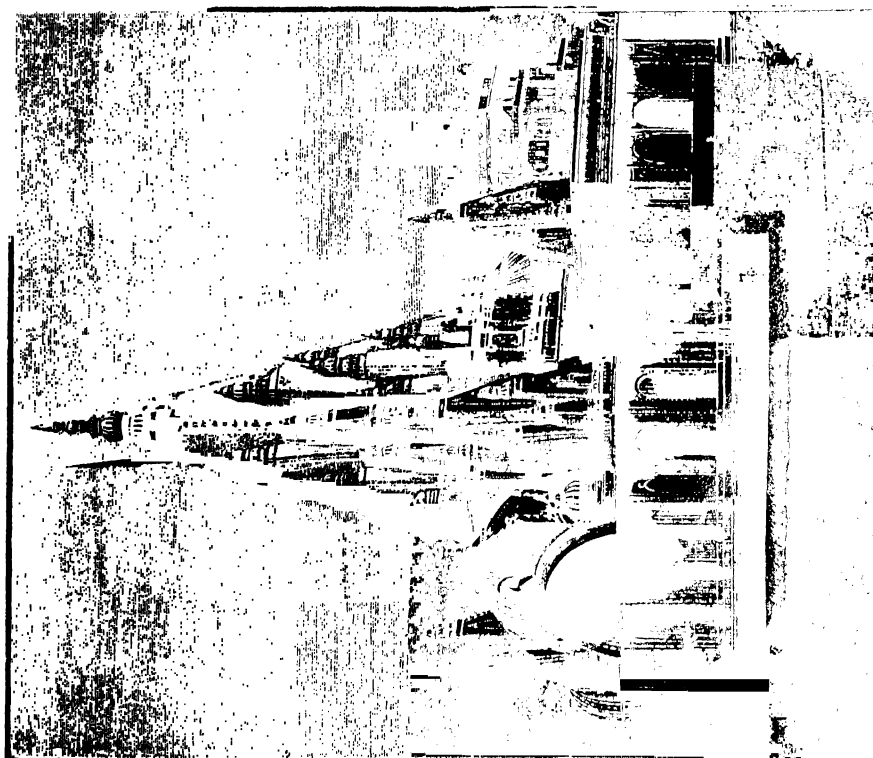
मन्दिर। ग्वालियर
चित्र संख्या १५१

स्वयंभूनाथ। नेपाल।
चित्र संख्या १५३

स्तूप-मंदिर। नेपाल।
चित्र संख्या १५४

प्रासाद-पुरुष । बैंकोक ।
चित्र संख्या १५५

श्री । राजस्थान ।
चित्र संख्या १५६
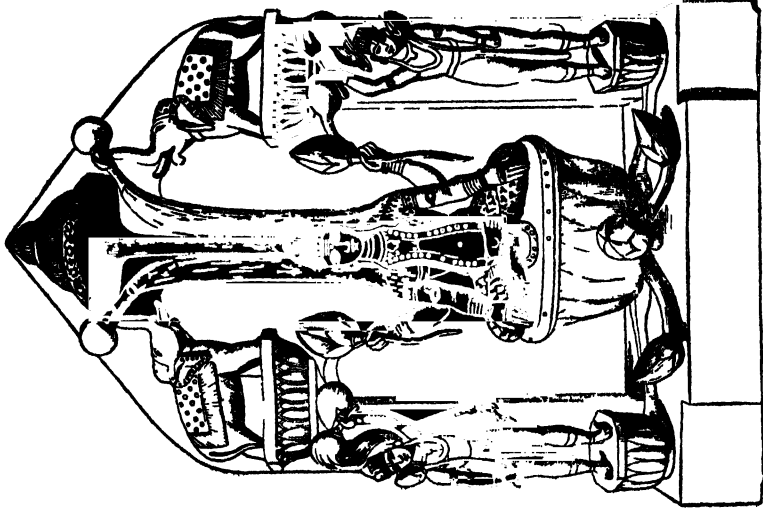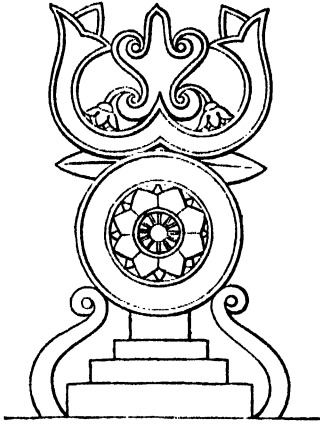
चक्र-त्रिशूल ।
चित्र संख्या १५७

चक्र-त्रिशूल ।
चित्र संख्या १५८

बुद्ध का चरणन्यास
चित्र संख्या १५९
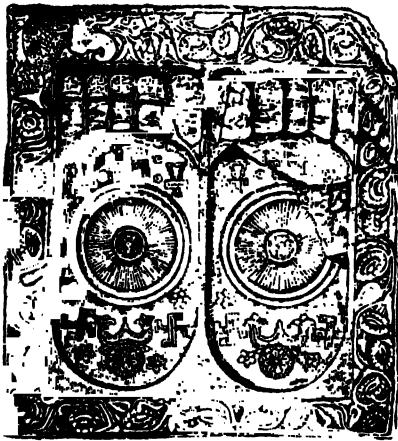
अमोघभूति का सिक्का।
चित्र संख्या १६०
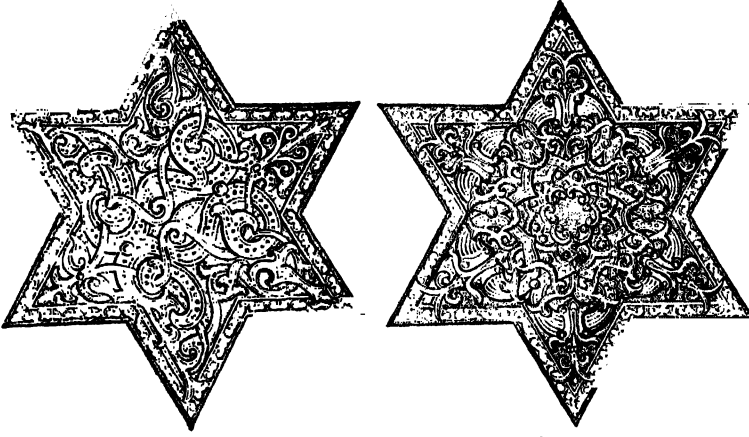
महमूद गजनवी की कब्र पर यन्त्र। गजनी।
चित्र संख्या १६१
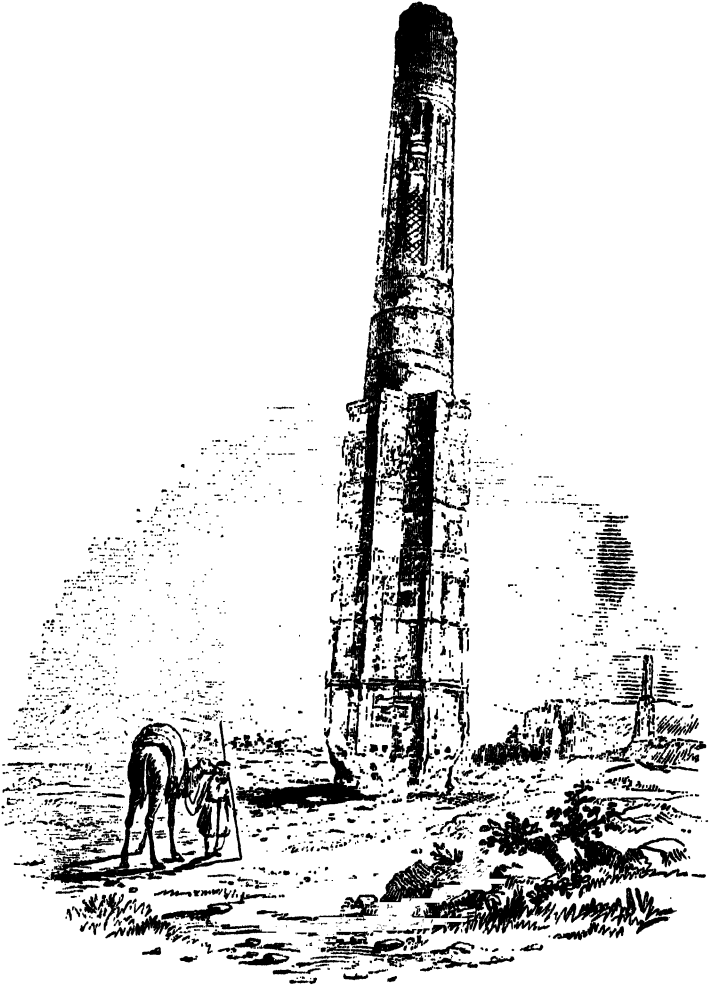
गजनी के स्तम्भ।
चित्र संख्या १६२
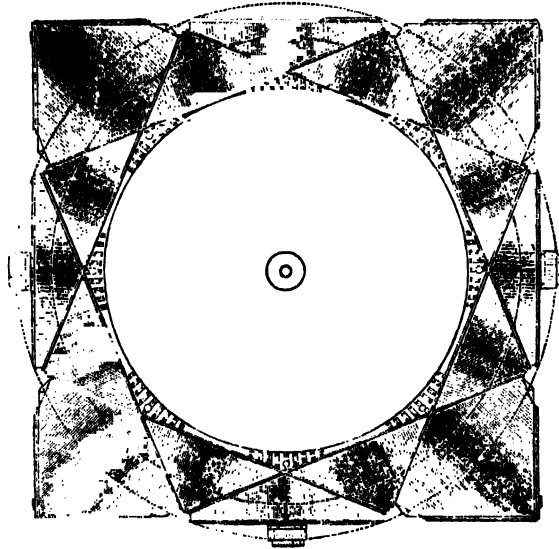
बीजापुर के मुहम्मद शाह की कब्र पर यन्त्र।
चित्र संख्या १६३
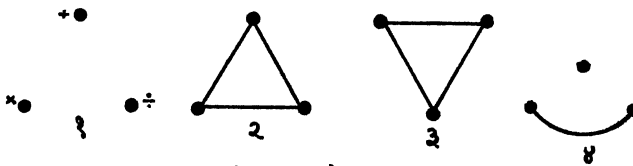
प्रतीकात्मक संकेत वा यन्त्र।
चित्र संख्या १६४

चक्रों के प्रतीक।
चित्र संख्या १६५

षट्चक्र के प्रतीक
चित्र संख्या १६६